आवरण छाया चित्र ज्योतिष दत्तगुप्त के सौजन्य से

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। उनके नीचे बैठा है मुंशी जो व्याख्या का दस्तावेज लिख रहा है। भारत में लेखन-कला का यह संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई०

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

रवीन्द्र रचना संचयन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की १२५वीं जन्म-जयन्ती
पर प्रकाशित

संकलन

असित कुमार बन्द्योपाध्याय

साहित्य अकादेमी

Ravindra Rachna Sanchayan : An anthology of Rabindranath Tagore's select writings, compiled by Asit Kumar Bandyopadhyaya and translated in Hindi by several writers. Sahitya Akademi, New Delhi.

Rabindranath Tagore 125th birth-anniversary publication

प्रथम संस्करण : 1957

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110001

क्षेत्रीय कार्यालय

ब्लाक V-बी, रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम, कलकत्ता 700029
29, एलडाम्स रोड (द्वितीय मंजिल), तेनामपेट, मद्रास 600018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई 400014

मूल्य
एक सौ पचीस रुपये

मुद्रक
विमल ऑफ़सेट ,
1/11804 (ए-26), पंचशील गार्डन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

अनुक्रम

खण्ड एक : काव्य

खण्ड दो : कहानी

खण्ड तीन : नाटक

खण्ड चार : निबंध

खण्ड पाँच : विविधा

अनुवादक

कवि-कथा

युगजीत नवलपुरी

खण्ड एक : काव्य

भवानी प्रसाद मिश्र (क्रमांक ११, १४-१६, १९, २१, २४, २७-३२)

युगजीत नवलपुरी (क्रमांक १, ३-९, २२)

रामधारी सिंह दिनकर (क्रमांक २, १०, १२, १३, १७, १८, २०, २५, २६, ३७, ३९, ४४, ४५, ५०, ५१)

हंसकुमार तिवारी (क्रमांक ३४-३६, ४६-४९)

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी (क्रमांक २३, ३३, ३८, ४०-४३)

खण्ड दो : कहानी

युगजीत नवलपुरी (क्रमांक १, २)

रामसिंह तोमर (क्रमांक ३ से १२)

खण्ड तीन : नाटक

प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' : डाकघर, विसर्जन

युगजीत नवलपुरी : मुकुट

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन : राजा

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : लाल कनेर

खण्ड चार : निबंध

अमृत राय (क्रमांक १, ७-१२, १४, २२-२४)

युगजीत नवलपुरी (क्रमांक २)

विश्वनाथ नरवणे (क्रमांक ३-६, १३, १५-२१)

खण्ड पाँच : विविधा

अमृत राय (क्रमांक १, २)

विश्वनाथ नरवणे (क्रमांक ३)
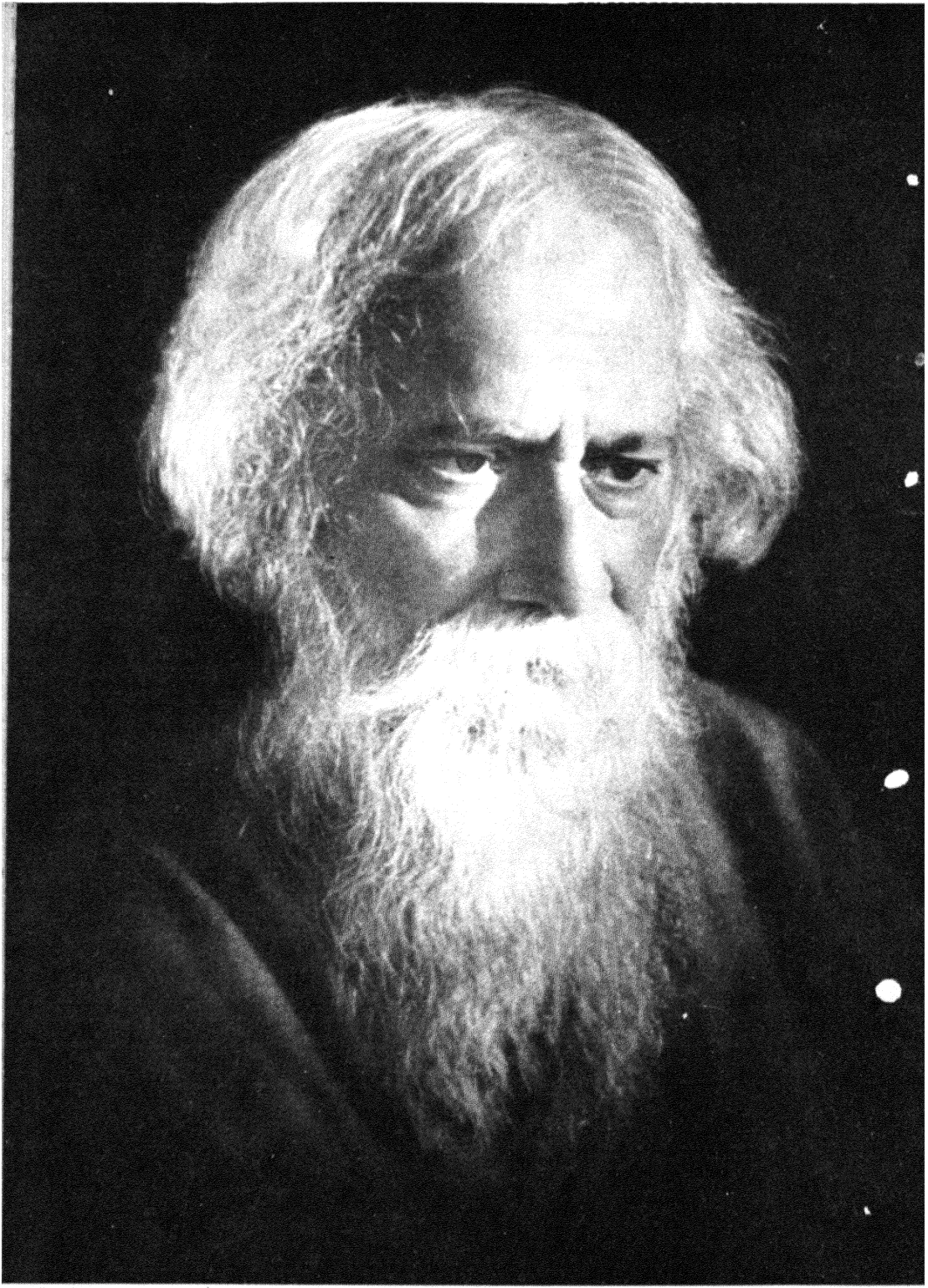
सौजन्य : शम्भु साहा

कवि-कथा

उत्तरी कलकत्ता में एक पुरानी सड़क है। उस पर बड़ी भीड़-भाड़ रहती है। ट्रामों, बसों, मोटरगाड़ियों, भैंसागाड़ियों, हाथ-ठेलों आदि का ताँता बँधा रहता है। लोग इतने कि गिनती नहीं हो सकती। दोनों ओर मकान हैं, जो आपस में सटे हुए हैं। तिल-भर खुली जगह नहीं। इसी सड़क से एक छोटी-सी गली निकली है। गली में पैदल चलने वालों के लिए पटरियाँ तक नहीं हैं। कुछ घरों के बाद छोटा-सा पुराना शिवाला आता है। उसके बाद दो-तीन घर और है। फिर एक बहुत बड़े फाटक पर पहुँचकर गली खतम हो जाती है।

फाटक के भीतर विशाल तिमंजिला महल है। उसकी झिलमिलीदार खिड़कियाँ और लम्बे-लम्बे झरोखे फाटक से ही दिखायी पड़ने लगते हैं। इसी महल में एक गोरा छरहरा बालक रहता था। बरसात के दिनों में वह यहीं कहीं गली की ओर टकटकी बाँधे खड़ा दिखायी देता, इस आशा में कि शायद ऐसी बरसात में मास्टर साहब नागा कर दें। पर मास्टर साहब कभी न चूकते। ठीक समय पर गली के मोड़ पर उनकी छतरी दिखाई पड़ जाती।

बालक का नाम था रवींद्रनाथ ठाकुर। घर पर लोग उसे रवि कहते थे। गली का नाम है द्वारकानाथ ठाकुर की गली और सड़क का नाम चितपुर रोड।

महल जोड़ासाँको के ठाकुर-परिवार का पुश्तैनी मकान है।

पर उस बालक ने अपने इस महल के सभी खण्ड देखे तक न थे, हालांकि वह सदा यहीं रहता था। उसकी पहुँच महल के कुछ ही भागों तक थी— इधर किसी आँगन तक, तो उधर किसी कोठरी तक। महल की सँकरी चक्करदार सीढ़ियाँ ऊपर न जाने किस अनजानी दुनिया को जाती थीं। शायद ऊपर कोई सजा-सजाया बड़ा जगमगाता हुआ दालान हो। रात में वहाँ बड़ी देर तक कहीं गाने-बजाने का रंग जमा रहता, कहीं नाटकों के अभ्यास चलते, तो कहीं विशिष्ट अतिथियों का जमाव होता।

इसी हलचल के बीच वह बालक बड़ा हुआ। भाई-बहनों में तेरह उससे बड़े थे। एक छोटा भाई भी हुआ था, पर वह साल-भर बाद ही दुनिया से चला गया।

ठाकुर-परिवार के लोग समाज के अगुआ थे। जाति के ब्राह्मण और शिक्षा-संस्कृति में काफ़ी आगे बढ़े हुए। पर कट्टरपंथी लोग उन्हे 'पिराली' कहकर

नाक-भौं सिकोड़ते थे। पिराली ब्राह्मण मुसलमानों के साथ उठने-बैठने के कारण जाति-भ्रष्ट माने जाते थे। रवीन्द्रनाथ के दादा द्वारकानाथ ठाकुर 'प्रिंस' यानी राजा कहलाते थे। उनके वैभव की धाक देश में ही नहीं विलायत में भी थी। रवीन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और भी प्रसिद्ध हुए। सन्तों जैसे आचार-विचार के कारण वह 'महर्षि' कहलाते थे।

एक समय इस परिवार में धन भी अपार था। बहुत बड़ी जमींदारी थी। जोड़ासाँको वाला महल द्वारकानाथ के दादा ने बनवाया था। हालत गिर जाने पर भी उनके पास जो दौलत बची रह गयी थी वह कोई कम न थी। फिर भी कवि का बचपन, परिवार के और बच्चों की ही तरह, बड़ी सादगी में बीता। जाड़ों में भी वह सूती कपड़े ही पहनते। जूते-मोजे भी काफ़ी बड़े हो जाने पर ही पहने। खान-पान में विलास का नाम तक न था।

पर इस सादगी के चारों ओर भरपूर विलास का वातावरण छाया हुआ था। विलास की उस दुनिया में बड़े तो बेरोक-टोक विचरा करते, पर छोटों के लिए ताक-झाँक तक की मनाही थी। किसी गीत की एकाध कड़ी या नाटक का एकाध वाक्य इन बच्चों के कानों में आ पड़ता तो ये कौतूहल और आनन्द के मारे बेसुध हो उठते। संयम सिखलाने का यह बड़ा अच्छा ढंग था।

शैशवावस्था पार करते ही रवि हवेली से बाहर कर दिये गये। उन्हें महिलाओं की देख-भाल से छुट्टी दिलाकर नौकरों के हवाले कर दिया गया। उन दिनों धनी घरों की यही रीति थी। रवि को खिलाने-पिलाने तक का भार नौकरों पर ही था। रात को सिर्फ़ सोने के लिए वह माँ के पास जा पाते। सोते समय एक बूढ़ी दादी उन्हें परियों की कहानियाँ सुनाया करती। नौकरों के हाथों उन्हें बहुत कष्ट भी मिलता रहा। बचपन के संस्मरणों में उन्होंने इस ज़माने को 'सेवकशाही तन्त्र' के रूप में याद किया है।

संगी दो थे—एक भाई, एक भानजा। दोनों उम्र में बड़े थे। उनके स्कूल में भर्ती होने के समय रवि ने भी स्कूल जाने की हठ ठानी। इस पर मास्टर साहब ने एक तमाचा जड़ दिया। बोले : 'आज तू स्कूल जाने के लिए जितना रो-धो रहा है, कल स्कूल छोड़ने के लिए तू इससे भी अधिक सिर धुनेगा !' हुआ भी यही।

स्कूल उन्हें जेल के समान लगता था। श्री-हीन बन्द कमरे की कटी-बँधी पढ़ाई सहन नहीं होती थी। हमेशा निकल भागने की धुन सवार रहती। तीन-तीन स्कूल आज़मा लेने के बाद उन्होंने स्कूली पढ़ाई को तिलांजलि दे दी। घरवालों ने बहुत खीझकर कहा : 'यह लड़का दुनिया में कुछ नहीं कर पायगा।'

रवि को स्कूल नहीं भाते थे, पर पढ़ाई-लिखाई में जी खूब लगता था। दिन-भर पढ़ना-लिखना चलता रहता। सुबह घण्टे-भर अखाड़े में ज़ोर करने के बाद बाङ्ला, संस्कृत, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, संगीत, चित्र-कला आदि की पढ़ाई होती। पीछे अंग्रेज़ी साहित्य भी इस सूची में आ गया। कुशाग्र बुद्धि तो वह थे ही। जो

भी सिखाया जाता, चट से सीख लेते और भूलकर भी न भूलते। हाँ, स्कूल के कमरे में बन्द रहकर ज़बरदस्ती की पढ़ाई उन्हें बिलकुल नापसन्द थी। तिस पर स्कूल में समय भी काफ़ी नष्ट होता था।

जब वह साढ़े ग्यारह साल के हुए तो उनका जनेऊ हुआ। न चाहते हुए भी उन्हें घुटे हुए सिर पर टोपी पहननी पड़ी। इसी वेश में वह पिताजी के साथ खुशी-खुशी हिमालय गये। पहले वह पश्चिम बंगाल के बोलपुर नामक स्थान में पहुँचे। महर्षि ने मनन-चिन्तन के लिए बोलपुर के पास ही एक आश्रम बनाया था, जिसका नाम था 'शान्तिनिकेतन'। उस यात्रा में पिताजी ने रवि को संस्कृत, अंग्रेज़ी और गणित-ज्योतिष सिखाने के साथ-साथ जवाबदेही सँभालना भी सिखाया। उसी यात्रा में रवीन्द्रनाथ ने राजा पृथ्वीराज की ऐतिहासिक पराजय के बारे मे एक पद्य-नाटक लिखा। इससे पता चलता है कि नवोदित कवि ने कितनी शीघ्र देश के भाग्य की चिन्ता करनी शुरू कर दी थी।

कुछ महीने बाद जब रवीन्द्रनाथ हिमालय से लौटे तो मानो बिलकुल बदल गये थे। अब वह बालक नहीं लगते थे। लेकिन स्कूल जाने में उन्हें अब भी उतनी ही आपत्ति थी।

अगले साल उनकी माँ चल बसीं। लेकिन माँ का बिछोह होने पर भी उन्हें प्यार का अभाव नहीं खल पाया। पिता थे, एक-से-एक सनेही बड़े भाई थे, भाभियाँ थीं, जीजियाँ थीं। रवि को सब पहले से भी ज्यादा प्यार करने लगे। रवि की प्रतिभा लगातार विकसित होती गयी, पंखुड़ी-पंखुड़ी खुलते फूल की तरह।

पन्द्रह साल की उम्र में उन्होंने पहले-पहल जनता के सामने कविता-पाठ किया। अवसर था 'हिन्दू मेले' का। इस राष्ट्रीय मेले का संगठन उनके बड़े भाइयों की मित्र-मण्डलो ने किया था। कविता उनकी अपनी ही रची हुई और राष्ट्रीय भावों से भरी थी। सुनने वाले मुग्ध हो उठे। उसके बाद उन्होंने 'वनफूल' नाम की एक लम्बी कविता लिखी, जो पद्यबद्ध कहानी थी। साथ ही 'वैष्णव पदावली' के अनुकरण पर उन्होंने बड़े ही अच्छे पद लिखे। उनका संग्रह 'भानुसिंहेर पदावली' नाम से छपा। बहुत-से लोगों की यह धारणा हो गयी कि 'ब्रजबुलि' में लिखे गये ये पद सैकड़ों वर्ष पहले के किसी अन्य कवि के हैं। पर वास्तव में भानुसिंह तो रवीन्द्रनाथ ही थे। यह बात प्रकट हो जाने पर भी लोग आश्चर्य करते रहते थे कि सोलह-सत्रह साल के बालक ने इतने सुन्दर पद कैसे रचे होंगे।

रवीन्द्रनाथ कुशल अभिनेता भी थे। उन्होंने अपने भाइयों और मित्रों के लिखे हुए और शौक़िया ढंग से खेले हुए नाटकों में भी काम किया। रंगमंच पर वे कई बरस बाद उतरे।

मन तो उनका संगीत में सराबोर था ही, गला उनका बड़ा मधुर था। बचपन से ही वे गीत लिखते, उनकी धुनें बाँधते, और अत्यन्त ललित कण्ठ से गाया करते।

गीतों की रचना वे जीवन-भर करते रहे। अनगिनत गीत लिखे हैं उन्होंने। भक्ति के गीत, प्रकृति की वंदना, देश-प्रेम के गाने, अनेकानेक अवसरों के गीत। आज भी उनके गीत बेजोड़ हैं। ऐसे और इतने गीत कभी किसी और ने नहीं लिखे।

छुपटन में ही उन्होंने यह विख्यात ब्रह्म-संगीत लिखा था :

'नयन तोमारे, पाय ना देखिते रयेछ नयने-नयने।'

(आँखें तुमको देख न पातीं; बसे हुए आँखों-आँखों में)

इसे सुनकर उनके पिता इतने पुलकित हुए कि उनकी आँखे छलछला आयीं। बोले : 'अगर देश का शासक अपनी भाषा जानता होता तो शायद कवि को उचित पुरस्कार दे सकता। मैं तो बस यही तुच्छ उपहार दे सकता हूँ।' यह कहकर उन्होंने कवि को पाँच सौ रुपये भेंट किये।

इस तरह रवीन्द्रनाथ धीरे-धीरे लोकप्रिय कवि का आसन ग्रहण करने की तैयारी करते रहे। पर बड़े-बूढ़े फिर भी कुछ-कुछ निराशा महसूस करते। कहते : 'इससे क्या होना-जाना है? इसे तो कोई ऊँची परीक्षा पास-वास करके किसी बड़े सरकारी पद पर जमना चाहिए।' इस आशा से उन्हें विलायत भेज दिया गया कि पढ़-लिखकर बड़े अफसर या बैरिस्टर बन जायें। इस समय रवि सत्रह साल के थे।

विलायत पहुँचकर रवीन्द्रनाथ वहाँ के सामाजिक जीवन में आँखें मूँदकर कूद पड़े और उसी में मगन हो गये। वह वहाँ के नाच-गान, साहित्य आदि हरेक विषय की तह तक गये। बहुत-से लोगों से मिले-जुले। उन्होंने वहाँ से जो चिट्ठियाँ भेजीं, वे 'योरोप प्रवासीर पत्र' नाम के संग्रह में छपी हैं। इन चिट्ठियों से प्रकट होता है कि कच्ची उम्र होने पर भी वह वहाँ के जीवन और रीति-नीति को कितनी सावधानी और सूझ-बूझ के साथ देख-परख रहे थे। लेकिन पढ़ाई पूरी होने के पहले ही वह 1880 में वापस बुला लिये गये।

देश लौटते ही उन्होंने 'वाल्मीकि प्रतिभा' की रचना की। इस सुन्दर गीति-नाट्य में यह दिखाया गया है कि 'रामायण' के रचयिता महर्षि वाल्मीकि डाकू से महाकवि कैसे हुए। गीति-नाट्य में शब्द बोले नहीं जाते, गाये जाते हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपने जीवन में अनेक गीति-नाट्य लिखे। साथ ही ऐसे नृत्य-नाट्य भी लिखे, जिनमें गीत ही नहीं नृत्य भी कथा के भावों को प्रकट करते हैं।

अगले साल उन्हें विलायत भेजने की एक और कोशिश हुई। मगर वह कोशिश बेकार गयी। इधर युवक कवि ने कुछ नाम कमाना भी शुरू कर दिया था। उनके गीतों के दो संग्रह निकले—'सान्ध्य संगीत' और 'प्रभात संगीत'। इनकी बड़ी प्रशंसा हुई। इन्हीं में एक कविता वह भी थी जिसका नाम था 'निर्झरेर स्वप्नभंग'। सूरज की गरमी से बर्फ़ के पिघलने पर झरने का पानी जिस उद्दाम आनन्द से उमग उठता है उसी का वर्णन इस कविता में है। इसे पढ़कर दुनिया ने समझ लिया कि कवि ने अपने जीवन का मर्म

पा लिया है, उसके भीतर का झरना अब उमड़ पड़ा है और आजीवन बहता रहेगा।

बच्चों के लिए लिखी गयी उनकी पहली कविता 'बिष्टि पड़े टापुर-टापुर' भी इन्हीं दिनों की है। बाद में तो उन्होंने बच्चों के लिए 'शिशु', 'शिशु भोलानाथ' आदि अनेक कविता-पुस्तकें लिखीं।

इसके बाद कई बरस तक उन्होंने भारत के अनेक भागों को घूम-घूमकर देखा। बाईस बरस की उम्र में मृणालिनी देवी के साथ उनका ब्याह हुआ। ब्याह के थोड़े ही दिन बाद वह फिर विलायत हो आये। उन दिनों उन्होंने कई बड़ी अच्छी-अच्छी किताबें लिखीं। बच्चों का उपन्यास 'राजर्षि' भी उन्हीं दिनों का है। बाद मे उन्होंने इसी उपन्यास को 'विसर्जन' नाम से नाटक का रूप दिया। इसमे दिखाया गया है कि पुश-बलि की बात कितनी क्रूर और मूर्खतापूर्ण है। एक-पर-एक कविता-कहानी उनके मानस में कमल की कलियों की तरह खिलने लगी।

धीरे-धीरे लोगों ने महसूस किया कि रवीन्द्रनाथ महान् कवि ही नहीं, विचारक और सुधारक भी हैं। इस बीच उनके बहुत-से दुश्मन भी बन गये थे। वे अनेक पत्रिकाओं मे उनके ख़िलाफ़ बड़ी निर्मम आलोचनाएँ लिखने लगे। वे लोग यह नहीं सह पाते थे कि कोई पुरानी लीक छोड़कर चले और सहज सरल, मधुर और नये ढंग की बाङ्ला में नये भाव प्रकट करे। लेकिन युवा-कवि की चिन्ताधारा बड़ी बलवती थी। वह गालियों की तनिक भी परवाह नहीं करती थी। निडर होकर अपने-आपको प्रकट करती थी।

क्या नया और क्या पुराना, जहाँ भी जो कुछ उत्तम होता, उन्हे सदा उसी की तलाश रहती थी। वह शायद ही कभी कुछ भूलते हों। बरसों बाद भी उन्हे भूत-प्रेतों, बाघों और घड़ियालों की वे कहानियाँ याद रहीं जो कभी मछुए या महरी से सुनी थीं। ये ही चीज़ें साहित्य का उपकरण बनती हैं। देश की रक्त-मज्जा में बहने वाली इन कहानियों ने उनके साहित्य में बड़ी ही प्यारी महक भर दी है।

अपने देश से उन्हे बड़ा गहरा और उत्कट प्रेम था। वह देश के आदर्शों का, उसकी भाषा का और उसकी जनता की विद्या का आदर करते थे। पर साथ ही, वह बाहरी ज्ञान का भी स्वागत करते थे, चाहे वह कहीं से भी क्यों न मिले। विज्ञान के क्षेत्र में और विचार की स्वतंत्रता के क्षेत्र में हमे पश्चिम से जो देन मिली है, उसके लिए वह पश्चिम के प्रति भी कृतज्ञ थे।

उनके पाँच सन्ताने हुई। यह जिम्मेदारी कोई कम न थी। सबके पढ़ने-लिखने की व्यवस्था उन्होंने घर पर ही की, क्योंकि वह अपने बचपन के दिन भूले नहीं थे। उन्हें अच्छी तरह याद था कि स्कूल जाने में कितना दुःख होता है।

जमींदारी के काम से रवीन्द्रनाथ को उत्तरी और पूर्वी बंगाल तथा उड़ीसा के देहातों के चक्कर लगाने पड़ते थे। वह अक्सर महीनों तक पद्मा की धार पर तिरते अपने नाव-घर

में रहा करते। वहीं से उन्होंने नदी-तट के जीवन का रंग-बिरंगा दृश्य देखा। उन्होंने देखा कि धरती के लाल कैसे जीते हैं और उनके सीधे-सादे सुख-दुःख क्या हैं।

इस तरह बंगाल के देहात और देहातियों के जीवन से उनका बड़ा ही गहरा और गाढ़ा परिचय हो गया। उन दिनों उन्होंने जो मनोहर कहानियाँ लिखीं, वे इसी परिचय का फल है। ग्रामीण भारत की समस्याओं के बारे में उनकी समझदारी और किसानों, देहाती दस्तकारों आदि की भलाई की आकुल चिन्ता भी इसी प्रत्यक्ष सम्पर्क से पैदा हुई थी। शिक्षा के मामले में भी उनका यह विचार धीरे-धीरे स्पष्ट होता गया कि बच्चों का लालन-पालन सीधे-सादे देहाती वातावरण में प्रकृति की गोद में होना चाहिए, पुराने ज़माने के आश्रमों के आदर्श पर।

आखिर उन्होंने शान्तिनिकेतन में अपने मन के अनुरूप विद्यालय बना लिया। इसके लिए उन्हें अनेक कुरबानियाँ देनी पड़ीं। पुरी वाला मकान बेचना पड़ा। मृणालिनी देवी ने अपने गहने उतारकर दे दिये। १९०१ से विद्यालय चालू हो गया। वह विद्यालय अब बढ़ते-बढ़ते विशाल 'विश्वभारती विश्वविद्यालय' बन गया है।

उन दिनों कवि तो पढ़ाते थे और कवि-पत्नी विद्यालय की गृहस्थी सँभालती थीं। विद्यालय में दो-तीन कोठियाँ थीं और कुछ कच्चे झोंपड़े। पढ़ाई पेड़ों की छाया में होती थी। अब भी वहाँ कक्षाएँ पेड़ों के नीचे ही लगती हैं।

धीरे-धीरे कई गुणी सहकर्मी आ जुटे। वे भी आदर्श के लिए सांसारिक सुख की आशा छोड़कर आये थे। छात्र-संख्या बढ़ी। शिक्षण के विविध नियमों के परीक्षण होने लगे। विद्यालय चल निकला।

फ़ीस मामूली-सी ली जाती थी। शिक्षक भी बहुत मामूली वेतन लेते। खान-पान और पहनावा निहायत सादा था। सभी नंगे पाँव रहते। पर आनन्द की मात्रा प्रचुर थी। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध प्यार-भरे थे, मानस के विकास के लिए अनन्त अवकाश था।

विद्या किताबी पढ़ाई तक ही सीमित नहीं थी। बाग़वानी, शरीर-साधन, खेल-कूद, समाज-सेवा, प्रकृति का अध्ययन और उसके आनन्दों का उपभोग आदि भी पढ़ाई में ही शामिल थे।

विद्यालय के जीवन में संघर्ष की कठोरता होने पर भी आनन्द-ही-आनन्द था। रुपये-पैसे का अभाव बना ही रहता है। कवि तो अपना सर्वस्व दे ही डालते थे, दूसरे बंधु-बान्धव भी कुछ-न-कुछ जुटाते रहते थे। जैसे-तैसे काम चल जाता था।

आश्रम बने साल-भर भी नहीं हुआ था कि मृणालिनी देवी का देहान्त हो गया। माँ के बिछोह से मर्माहत सन्तानों को कवि ने भुजाओं में समेट लिया और अब वह केवल उनके पिता ही नहीं, उनकी माँ भी बन गये। तभी तो उन्होंने बच्चों के लिए इतनी सुन्दर कविताएँ लिखीं।

१९०३ से १९०७ तक बड़े दुःख के दिन रहे। उनकी दूसरी बेटी रेणुका, उनके पूज्य पिताजी और उनका सबसे छोटा बेटा शमी, तीनों एक-एक करके चल बसे और कवि को गहरा शोक दे गये। पर पारिवारिक शोक से उन्होंने न तो अपना जी छोटा किया, और न मन में कोई कड़वाहट आने दी। इन वर्षों में भी उन्होंने एक-से-एक उत्कृष्ट पुस्तकें लिखीं।

कवि पारिवारिक कर्तव्य तो पालते रहे, पर परिवार में बँधे नहीं रहे। देश-प्रेम उन्हें परिवार से बाहर भी ले गया। स्वदेशी-आन्दोलन, बंग-भंग-विरोधी-आन्दोलन और राष्ट्रीय शिक्षा के आन्दोलन में उन्होंने नेता का काम सँभाला।

देश को बड़प्पन देने वाले कामों में उनके उत्साह का ठिकाना न रहता था। लेकिन दलगत राजनीति की उखाड़-पछाड़ उन्हें असह्य थी। किसी भी तरह के कठमुल्लेपन या सामाजिक संकीर्णता को वह पास भी न फटकने देते। इसीलिए वह राजनीति को छोड़कर रचनात्मक देश-सेवा मे जी-जान से जुट पड़े।

पर शैक्षणिक-सामाजिक कामों के कारण उन्होंने अपने साहित्यिक यश में कभी कोई रुकावट नहीं आने दी। उनकी कलम ने कभी रुकने का नाम न लिया। कविताओं, गीतों, उपन्यासों और नाटकों की रचना बराबर चलती रही। 'गीतांजलि' के गीतों और आज के हमारे राष्ट्रीय गीत 'जन-गण-मन' की रचना उन्हीं दिनों हुई। कवि के जीवन के प्रथम पचास वर्षों ने ही साहित्य के भंडार को भरपूर भर दिया था, लेकिन उनकी वास्तविक ख्याति बाद में हुई।

कवि ने कुल ग्यारह बार विदेश-यात्राएँ कीं। १९१२ की यात्रा में कई नामी अंग्रेज लेखकों, कलाकारों और विचारकों से उनकी गाढ़ी मित्रता हो गयी। प्रसिद्ध कवि येट्स और कलाकार विलियम रोथेन्स्टाइन उनके सबसे श्रद्धावान् प्रशंसक बने। उन्हीं के प्रोत्साहन से कवि ने अपने कुछ गीतों और कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किये। ये रचनाएँ 'गीतांजलि' नाम से प्रकाशित हुईं (इस नाम से एक बाङ्ला-गीत-संग्रह पहले ही प्रकाशित हो चुका था)। अंग्रेज़ी 'गीतांजलि' का विदेशी पाठकों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इस पर कवि को 'नोबेल पुरस्कार' मिला, जो संसार का सबसे ऊँचा और सबसे दुर्लभ पुरस्कार है।

पुरस्कार में प्राप्त एक लाख बीस हज़ार रुपये की पूरी रक़म कवि ने शान्तिनिकेतन आश्रम के कामों में लगा दी। शान्तिनिकेतन के नाम पर इस धन से एक ग्राम-सहकारी बैंक खोल दिया गया, ताकि देहातियों का उपकार हो और उन्हें सस्ते ब्याज पर ऋण मिल सके। इस तरह उन्होंने एक ही साथ अपने आश्रम और देहातियों दोनों की सहायता की। दोनों से उन्हें अगाध प्रेम था।

बंगाल के गाँवों में नवजीवन लाने की योजना कवि के मन में बहुत दिनों से थी। आखिर शान्तिनिकेतन के पास सुरुल गाँव में इसे असली रूप दिया जा सका।

'श्रीनिकेतन' नाम से ग्रामीण पुनर्निर्माण का प्रतिष्ठान खोला गया। विज्ञान की सहायता से उपज बढ़ाने और कुटीर उद्योगों को उन्नत करने के लिए प्रयोग-परीक्षण शुरू किये गये। यह काम आज भी अबाध गति से चालू है। शान्तिनिकेतन और श्रीनिकेतन परस्पर सहयोगी संस्थान हैं। उनमें कवि के शिक्षण-संबंधी और सामुदायिक विकास-सम्बन्धी विचारों को क्रियान्वित किया जाता है।

कवि के दिन बड़ी व्यस्तता में बीतते थे। विश्व-विख्यात हो जाने पर भी वह शान्तिनिकेतन में ही रहते और बच्चों को पढ़ाते। उनके साहित्यिक काम में भी एक नया ज्वार आ गया। उन्होंने गद्य-पद्य में ऐसी सुन्दर कृतियाँ भेंट कीं, जिनसे बाङ्ला-साहित्य के लिए नयी दिशाओं के द्वार खुल गये। उन्हीं दिनों गाँधीजी से कवि का व्यक्तिगत परिचय हुआ। १९१५ के शुरू में गाँधीजी शान्तिनिकेतन आये। उस समय गाँधीजी के दक्षिण अफ्रीका वाले फीनीक्स आश्रम के छात्र शान्तिनिकेतन में ही थे। उस समय दोनों महापुरुषों में जो मित्रता हुई, वह दिनों-दिन बढ़ती गयी।

१९१५ में अंग्रेज़ी सरकार ने कवि को 'सर' की उपाधि दी थी। पर १९१९ में जलियाँवाला बाग का गोली-कांड हुआ, जिसमें अनेक निर्दोष और निहत्थे भारतीयों को गोलियों से भून दिया गया। शोक, लज्जा और रोष से आकुल कवि ने 'सर' की उपाधि लौटा दी। उपाधि लौटाते हुए उन्होंने बड़े लाट साहब को जो पत्र लिखा था उसमें जनता पर किये गये अत्याचारों का बड़ा ही प्रबल और वीरतापूर्ण प्रतिरोध किया था। वह पत्र अविस्मरणीय रचना है।

अपनी ग्यारह विदेश-यात्राओं में कवि ने लगभग सारी दुनिया घूम ली थी। रूस समेत पूरा यूरोप, अमरीका के दोनों महाद्वीप और एशिया के चीन, जापान, मलाया, जावा, ईरान, पश्चिमी एशिया आदि अनेक देशों में वह हो आये थे। ज्यों-ज्यों उन्होंने दुनिया देखी, त्यों-त्यों उनका यह विचार पक्का होता गया कि सभी देशों की जनता में मित्रता और प्रेम-भावना में आदान-प्रदान के बिना संसार से सुख-शान्ति की आशा करना व्यर्थ है।

इसी आदर्श पर उन्होंने १९२१ में शान्तिनिकेतन के विश्वभारती विश्वविद्यालय की स्थापना की। कवि की यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि विश्वभारती में संसार के सभी देशों की शिक्षा-संस्कृति के प्रतिनिधि एकत्र हों। विश्वभारती के आदर्श वाक्य के रूप में उन्होंने संस्कृत का यह सुभाषित चुना : 'यत्र विश्वम्भवत्येकनीडम्' अर्थात् 'जहाँ सारा संसार एक ही घोंसला बन जाय!'

वह कर्म का मंत्र लेकर पैदा हुए थे, जीवन-भर कर्म में ही लगे रहे। कौन कहता है कि कवि आलसी होते हैं या सपनों में डूबे रहते हैं। लगभग सत्तर साल की उम्र में, जब अधिकतर लोग अपने जीवन का काम समाप्त करके विश्राम लेते हैं, कवि ने नयी कर्म-यात्रा शुरू की। वह चित्र-कला में जुट गये और एक-से-एक विलक्षण हज़ारों चित्र बना डाले, जिन्हें देखकर सारी दुनिया चकित रह गयी।

चित्र-कला के लिए उनका मन इतना अधीर हो उठता था कि चित्रकारी का सामान जुटाना भी दूभर हो जाता। जो भी कुछ मिल जाता, उसी से चित्र बनाने लगते। काग़ज़ न मिलने पर पुरानी पत्रिका की जिल्द पर या रंग न रहने पर कलम-स्याही से ही चित्रकारी करते। इस तरह उन्होंने भाँति-भाँति के दो हज़ार से भी ज्यादा चित्र बनाये, जो एक-से-एक सुन्दर और मनोहारी हैं।

अब तक दुनिया ने कवि की प्रतिभा का लोहा मान लिया था। बंगाल की जनता तो उन पर जी-जान से निछावर थी। उसने बड़ी धूम-धाम से उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ मनायी। बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं, नाटक खेले गये, उनके चित्रों की प्रदर्शनी लगी, विशेष प्रकाशन हुए, व्याख्यान हुए, और न जाने क्या-क्या हुआ। दूर-दूर के देशों से अतिथि आये और शुभ-कामनाओं के संदेश भी।

ठीक इन समारोहों के बीच ही खबर आयी कि गाँधीजी आदि राष्ट्र-नेता गिरफ्तार हो गये हैं। कवि को बड़ा गहरा सदमा पहुँचा। उन्होंने समारोह के सभी आनन्द-उत्सव बन्द करा दिये।

यह बात १९३१ की है। उस समय दुनिया में गाँधीजी के सिवा कोई भी ऐसा तीसरा व्यक्ति नहीं था, जो रवीन्द्रनाथ की तरह लोकप्रिय हो।

इस तरह दिन बीतते रहे बड़े कठिन दिन थे वे भी। देश स्वाधीनता के कठिन संग्राम में लगा हुआ था। जिसके नेता महात्मा गाँधी थे। पशु-शक्ति के दानव, फासिस्टवाद और नात्सीवाद ने सारी दुनिया में सिर उठाना शुरू कर दिया था। वे मानव-अधिकारों को निगल जाने पर तुले थे। कवि के आदर्शों और मान्यताओं को पैरों-तले रौंदा जा रहा था। यह उनकी आत्मा के लिए बड़ी कठिन यातना का कारण था। तिस पर बुढ़ापे और गिरते हुए स्वास्थ्य के कष्ट तो थे ही। लेकिन अन्य समय तक मानव के भविष्य में कवि का विश्वास अडिग रहा। उनके अन्तिम उद्‌गारों में से अनेक ऐसे हैं, जो इस अडिग विश्वास के ज्वलन्त प्रमाण हैं और जो देशवासियों के प्रति उनके विदाकालीन उपहार के रूप में अमर रहेंगे।

७ अगस्त १९४१ को राखी-पूर्णिमा के दिन कवि ने अपनी आँखें मूँद लीं; वे ही आँखें, जिनसे अस्सी बरस तक उन्होंने दुनिया का न जाने कितना सौन्दर्य देखा था! जोड़ासाँको के जिस पुराने महल में वे आँखें दुनिया के प्रथम दर्शन के लिए खुली थीं. उसी में अन्तिम बार बन्द भी हुई। बाङ्ला पंचांग के अनुसार कवि की जन्म-तिथि पच्चीस बैसाख और निधन-तिथि बाईस श्रावण को पड़ती है। उस 'बाईस श्रावण' को सारा देश शोक से मुरझा गया था। तब तक दूसरा विश्व युद्ध समाप्त नहीं हुआ था। कवि को यह दिन देखना नसीब न हुआ, जब उनके विश्वास की विजय हुई और देश स्वाधीन हुआ। इन्हीं दो चीज़ों के लिए कवि ने आजीवन संघर्ष किया था।

उनका जीवन उदात्त रहा और उन्होंने निर्भय होकर मृत्यु का स्वागत किया। मृत्यु का आभास पाकर उन्होंने एक गीत लिखा और इच्छा प्रकट की कि यही गीत मेरी मृत्यु पर गाया जाय। उस गीत का आरम्भ है:

'सम्मुखे शान्ति-पारावार
भासाओ तरणी हे कर्णधार!'

(सामने शान्ति-पारावार।
खोल दो नैया हे कर्णधार!)

जिसे कवि ने आजीवन प्यार किया था, जिसे वह अपना प्रेम-पात्र, मित्र और मार्ग-दर्शक मानते रहे थे, उसी ईश्वर को 'कर्णधार' बनाकर हमारे कवि इस 'तरणी' पर सवार हुए और 'शान्ति-पारावार' में उतरकर अनजान लोक में चले गये।

किसी व्यक्ति के जीवन की घटनाएँ सुनाने से ही उसका सच्चा परिचय नहीं मिल जाता। रवीन्द्रनाथ कैसे आदमी थे? सुन्दर और क़द्दावर सुडौल गठन और काठी के बलिष्ठ, आँखों में स्निग्धता और दमक भी, स्वर गम्भीर और मधुर था। उनका रस-बोध बड़ा ही उज्ज्वल था। हँसी की बात करते तो सारा मुख-मण्डल दमक उठता था। आँखें दिप उठती थीं। हाज़िरजवाबी में उनका जोड नहीं था।

लेकिन जब तन्मय होकर वह कुछ लिखने बैठते तो ऐसा लगता मानो किसी और ही दुनिया में पहुँच गये हैं। नहाना-धोना, खाना-पीना यहाँ तक कि सोना भी भूल जाते। उस समय उनके पुराने वफ़ादार नौकर के सिवा किसी को भी पास जाने का साहस न होता।

लेकिन यह साधना सिर्फ़ अध्ययन, लेखन, संगीत या चित्रकारी तक ही सीमित नहीं थी। वह तो समस्त जीवन को ही एक कलाकृति बना डालने की धुन में थे। और कला उनके लिए 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की आन्तरिक झाँकी थी।

उन्हें जनता के प्रति जो अगाध प्रेम था उसके दर्शन उनकी रचनाओं में ही नहीं बल्कि उनके जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप में होते थे—नये क्षितिजों के द्वार तो उन्होंने खोले ही, अपने देश के प्राचीन और मनोरम अनुष्ठान, अलंकार, वेश-भूषा, साहित्य, शिल्पकला, संगीत, पर्व-त्योहार आदि के पुनरुद्धार के काम में भी वह बड़ी लगन और श्रद्धा से जुटे रहे।

दिखावे से उनका कोई सरोकार न था। वह सिर्फ़ वही बात करते या कहते, जिसमें उनका आन्तरिक विश्वास होता। विधाता के मंगल-विधान में उनकी आस्था अटल थी। लिखते भी वही थे, जिसे सर्वथा सत्य मानते थे—जब कभी उन्हें लगता कि मेरा मत ठीक नहीं है, तभी वे निःसंकोच अपनी भूल सुधार लेते। यह भी उनकी सत्यनिष्ठा का ही प्रमाण है।

बच्चों से उन्हें अपार प्रेम था। बच्चों को वह प्यार ही नहीं करते थे,उनमें विश्वास भी करते थे, और उनका आदर भी करते थे। उन्हें नादान, अबोध और मूर्ख नहीं, बल्कि

समझदार मानते थे। उनका विश्वास था कि यदि सरल बनाकर समझाया जाय तो बच्चे कठिन-से-कठिन विषय को हृदयंगम कर सकते हैं—बच्चों को डाँटने-फटकारने के बजाय अगर उनके साथ खेला जाय और बातचीत की जाय तो उनके गुण उभरकर विकास पा सकते हैं। शान्तिनिकेतन के आश्रम में वे इसी सिद्धान्त पर चलते थे।

अपनी सुख-सुविधा की उन्हें कोई परवाह न रहती थी। सादगी की सुन्दरता में उनका विश्वास अडिग था। साथ ही, वह जीवन के सुख-विलास को ठुकराते नहीं थे, वरन् उस जीवन की देन मानकर ग्रहण करते थे। लेकिन विलास के बीच भी वह निर्लिप्त रहकर सुखों का उपभोग करते थे और जब भी अवसर आता सहज भाव से उसे त्याग भी देते थे।

नक़ली और बनावटी चीज़ों से वह बचते थे। इसी से उनका देश-प्रेम इतना गहरा हो गया था। विदेशियों के गुणों के प्रति वह श्रद्धावान् रहे, पर विदेशियों की नक़ल करना उनके लिए घृणा का विषय था। अपने साहित्य और जीवन से उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि हमें न तो अपने अतीत की नक़ल करनी चाहिए और न ग़ैरों के तौर-तरीकों की। हम जैसे हैं, सचाई से वैसे ही बने रहें, तभी हम स्वस्थ और दृढ़ राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। ऐसी संस्कृति का जिसकी जड़ें तो देश की प्राचीन ज्ञान-भूमि में जमी रहें, पर जिसकी हरी डालियाँ आज के युग-सूर्य की रश्मियाँ ग्रहण करने के लिए चारों ओर फैली हुई हों।

उनके गीत इसी बात के प्रमाण हैं। उनकी भाषा आधुनिक है, स्वर नये हैं, पर उनके माध्यम से हमारे प्राचीन पुरखे भी अपनी बात कह जाते हैं। भाव, विचार, शब्द और संगीत का इतना सर्वांग-पूर्ण समन्वय सचमुच दुर्लभ है।

उन्होंने अपनी मातृभूमि के प्रति सारे संसार का सम्मान और श्रद्धा अर्जित की थी। सो भी ऐसे समय में जब भारत स्वाधीन भी न होने पाया था। यह काम वह इसलिए कर सके कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व में भारतीय चिन्ताधारा और संस्कृति के उत्तम-से-उत्तम और उदात्त-से-उदात्त गुणों को समा लिया था।

-लाला मजुमदार

नौका 'पद्मा'—रवीन्द्रनाथ की यात्रा-सहचरी
सौजन्य : रवीन्द्र भारती, कलकत्ता

चित्रकार गगनेन्द्रनाथ ठाकुर

खण्ड एक

काव्य

१

जहाँ चित्त भय-शून्य

जहाँ चित्त भय शून्य, जहाँ सिर उन्नत
ज्ञान मुक्त ; प्राचीर गृहों के, अक्षत
वसुधा का जहाँ न करके खंड-विभाजन
दिन-रात बनाते छोटे-छोटे आँगन ;
प्रति हृदय-उत्स से वाक्य उच्छ्वसित होते
हों जहाँ, जहाँ कि अजस्र कर्म के सोते
अव्याहत दिशा-दिशा, देश-देश बहते
चरितार्थ सहस्रों-विध होते रहते ;
धारापथ को न विचारों के, ग्रस लेती हो-
जहाँ तुच्छ आचारों की मरु-रेती ;
शतधा न जहाँ पुरुषार्थ ; जहाँ पर सतत्
सब कर्म-भाव आनन्द, तुम्हारे अनुगत;
हे पिता, उसी स्वर्लोक में करो जाग्रत,
निज-कर निर्दय ठोकरें देकर, यह भारत!

प्रथम प्रकाशन, मई १९०१ (आनु० १२ आश्विन १८९७ श०)

२

निर्झर का स्वप्न-भंग

आज के इस प्रभात-काल में सूर्य की किरणें
प्राणों के भीतर कैसे प्रवेश कर गयीं ?
गुहा के अंधकार में प्रभात-पक्षी का गान कैसे समा गया ?
न जाने, इतने दिनों बाद प्राण क्योंकर जाग उठे हैं ?

प्राण जाग उठे हैं,
अरे, पानी उछल कर उमड़ पड़ा है।
अरे ! प्राणों की वेदना, प्राणों के आवेग को रोक रखना संभव नहीं अब।

पहाड़ थर-थर काँप रहे हैं,
राशि-राशि शिलाएँ टूटकर गिर रही हैं।
फेनिल जल फूल-फूलकर दारुण रोष में गरज उठता है।

प्रमत्त जल पागल के समान घूमकर
इधर-उधर चक्कर खाता है ;
बाहर निकलना चाहता है पर, देख नहीं पाता, कारा का द्वार कहाँ है ?
क्यों रे विधाता ! यह पाषाण क्यों ?
चारों ओर पत्थरों का यह बन्धन कैसा,
हृदय ! तोड़ो इस बन्धन को तोड़ो,
आज प्राणों के साधन का उपयोग करो।
लहरों पर लहरें उठाकर
आघातों पर आघात करो।
जब प्राण प्रमत्त हो उठे हों,
तब किसका अंधेरा और किसका पाषाण ?
जब वासना उमड़ पड़ी हो,
तब जगत् में भय किसका ?

मैं करुणा की धारा ढालूँगा,
मैं पाषाण-कारा को तोड़ डालूँगा।
मैं संसार को प्लावन में डुबोकर
व्याकुल पागल के समान नृत्य करूँगा।

मैं कुन्तल खोलकर, कुसुम बटोरकर
इन्द्र-धनु-अंकित पंखों पर उड़ता हुआ
सूर्य की किरणों में हँसी बिखेरूँगा,
सर्वत्र प्राणों का संचार करूँगा।

मैं शिखर-शिखर पर दौड़ लगाऊँगा,
पर्वत-पर्वत पर लौट जाऊँगा,
ठठाकर हँसूँगा, कल-कल स्वरों में गाऊँगा गान
प्रत्येक ताल पर ताली बजाऊँगा।

मेरे पास इतनी कथाएँ हैं, इतने गान हैं, इतने प्राण हैं,
इतने सुख हैं, इतनी साधें हैं कि प्राण विभोर हो उठे हैं।

न जाने, आज क्या हुआ कि जाग उठे हैं प्राण
मानो, कानों में पड़ा हो दूरस्थ महासागर का गान

अरे, मेरे चारों ओर
यह कठिन कारागार क्या है ?
तोड़ो तोड़ो, इस कारा को भंग करो
आघातों पर आघात देते चलो।
अरे, आज पक्षी ने कौन-सा गाना गाया है ?
सूर्य की किरणें आयी हुई हैं।

१८८२

'निर्झर स्वप्रभग'
(प्रभात सगीत)

सार्थक जन्म हुआ

सार्थक जन्म हुआ, इसी देश मे जन्मा।
सार्थक जन्म, तुझे प्यार करे, तन-मन माँ !
तेरे रत्न है कैसे,
पता नहीं, रानी जैसे !
केवल यही पता कि तेरी छाँह में जुड़ा जाता तन, माँ !
पता नहीं, किस चमन के गुल
करते हैं यों गंधाकुल,
ऐसे हँस-हँस के उगे चाँद कहाँ के गगन, माँ !
आँख खुली पहले पहल
तेरी जोत से शीतल,
उसी जोत में अंतिम बार मूँदूँगा नयन, माँ !

(आनु० १८ फाल्गुन १८८२ शक)

४

ओ मेरे देश की माटी

ओ मेरे देश की माटी, तुझ पर सिर टेकता मैं ।
तुझी पर विश्वमयी का,
तुझी पर विश्व माँ का आँचल बिछा देखता मैं ।
तू घुली है मेरे तन-बदन मे,
तू मिली है मुझे प्राण-मन में,
तेरी वही साँवली सुकुमार मूर्ति मर्म गुँथी, एकता में।।
जन्म तेरी कोख और मरण तेरी गोद में,
तुझी पर खेल दुख या कि सुख भरा आमोद !
तुझी ने मेरे मुँह में कौर दिया,
तुझी ने दिया शीतल जल, जुड़ाया, तृप्त किया,
तुझी में पा रहा सर्वसहा सर्ववहा माँ की जननी का पता मैं ।
बहुत-बहुत भोगा तेरा दिया माँ, तुझसे बहुत लिया —
फिर भी यह न पता कौन-सा प्रतिदान किया।
मेरे तो दिन गये सब व्यर्थ काम में,
मेरे तो दिन गये सब बंद धाम में —
ओ मेरे शक्ति-दाता, शक्ति मुझे व्यर्थ मिली, लेखता मैं।

(आनु॰ १८ फाल्गुन, १८८२ शक)

मेरे मन हे, पुण्य तीर्थ में जगो

मेरे मन हे, पुण्य तीर्थ में
जागो धीर —
इस भारत के महा-मनुज के
सागर तीर।
यहाँ खड़ा मैं बाहु बढ़ाकर
नमन करूँ नर-देव
परमानन्द उदार छन्द में
वन्दन करूँ सदैव —
ध्यान-धीर गंभीर महीधर,
नदी-सुमिरनी जपते पाँतर,
दिखता मित्र, पवित्र धरा का
श्यामल चीर
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर।

कोटि-धार दुर्वार स्रोत में
आये मनुज-समुच्चय
कहाँ-कहाँ से, किस पुकार पर ?
आकर हुए यहीं लय।
आये आर्य, द्रविड़, अनार्य, शक,
या चीनी प्राचीन,
हूण, मुग़ल, अफ़गान — हुए सब
एक देह में लीन।
अब पश्चिम ने खोल दिये हैं द्वार,

सभी वहाँ से लाते हैं उपहार,
देंगे लेंगे, मिले मिलायेंगे
ज्यों नीर - क्षीर,
इस भारत में महा-मनुज के
सागर-तीर।

अभियानों में, जयगानों में,
उन्मद कोलाहल में,
मरु-पथ वन-पर्वत उलाँघ जो
आये थे इस थल में,
वे सब मुझमें आज विराजें
कोई दूर नहीं है;
मेरे लोहू में विचित्र लय
सबकी गूँज रही है।
बजो, बजो तुम रुद्र-बीन हे,
घृणावश अब तक दूर रहे,
वे आयेंगे — ढह जायेंगें
भेदभाव - प्राचीर,
इस भारत के महा-मनुज के
सागर तीर।

तनिक थमे बिन, यहीं किसी दिन
गूँजा प्रणव महान् ;
हृदय-तंत्र एकत्व-मंत्र में
रणित हुई थी तान।
तप-बल से 'एकत्व'-अनल में
कर 'बहुत्व' का होम,
भेद मिटा 'एक ही' हृदयतल
जागा अन्तर्व्योम।
उस साधन उस आराधन का यज्ञागार
आज सभी को बुला रहा है खो ़ते द्वार--
सब फिर यहीं मिलेंगे नत-शिर
मिलन अधीर,

इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर।

आज बले उस होम-अनल में
दुख की रक्त-शिखा।
मर्म-मर्म मे दहना होगा!
सहना भाग्य-लिखा!
यह दुख वहन करो मेरे मन,
सुनो 'एक' — आह्वान;
सकल लाज-भय करो करो जय,
दूर करो अपमान।
असह व्यथा का होते ही अवसान
जन्मेगा अतुलित विशाल नवप्राण !
महा-नीड़ मे जाग पड़ी माँ, चलता
प्रात-समीर,
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर।

आओ आर्य-अनार्य सभी,
हिन्दू-मुस्लिम-संतान ,
आओ आओ अंग्रेजों तुम,
आओ हे क्रिस्तान;
आओ ब्राह्मण, शुचि करके मन,
सबके हाथ गहो;
आओ पतित, न हो अपमानित,
सादर साथ रहो।
माँ का है अभिषेक, जुटो कर त्वरा
मंगल-कलसी में न अभी तक भरा
सबके छूने से पवित्र हो ढरा
तीर्थ-तर्थ का नीर,
इस भारत के महा-मनुज के
सागर-तीर।

१८ आषाढ़ १३१७ बंगाब्द (आनु० २२ फाल्गुन १८८२ शक)

कितने अनजानों से....

कितने अनजानों से परिचय करवाया तुमने
कितने घरों में जगह दिलवाई !
दूर-दूर को कितना निकट बनाया तुमने,
बंधु रे, निपट परायों को बनवाया भाई !

छोड़ पुराना वास कभी जो चलता हूँ,
'अब क्या होगा' इसी सोच में घुलता हूँ ;
हर नये में तुम पुराने तो हो ही पर मै
भूल-भूल जाता हूँ यह सचाई।
दूर-दूर को कितना निकट बनाया तुमने,
निपट परायों को बनवाया भाई !

जीवन में कि मरण मे, निखिल भुवन में
जहाँ कहीं हो आलय,
जनम-जनम के परिचयवाले हे परिचित तुम
करवा ही दोगे जन-जन से परिचय।

तुम्हे जान लेने पर ग़ैर न कोई,
मना नहीं कुछ, डर या वैर न कोई,
'सबको मिला जगे हो' यह बानक सदैव ही,
मुझे, बन्धु रे, पड़ती रहे दिखाई।
दूर-दूर को कितना निकट बनाया तुमने,
निपट पगयों को बनवाया भाई।

१३१३ बंगाब्द (आनु० २० फाल्गुन १८८२ शक)

७

मेंह बरसता टापर-टुपुर

बुझा उजाला दिन का, सूरज
अब-डूबा तब-डूबा।
घिरा चाँद-लोभी मेघों से
आसमान का सूबा।
बादल पर बादल रंगों पर
रंग चढ़ाकर सज उठे,
मन्दिर में काँसे के घण्टे
ठन-ठनाठन बज उठे।
झड़ी लगी उस पार, झाड़-
झुरमुट धुँधले-धुँधले हुए।
सौ-सौ रतन मेघ के सिर पर
हैं इस पार बले हुए।
जलब्यारी में मन जाता है
बचपन के इस गान पर :
मेंह बरसता टापर-टुपुर
नदिया का पूर उठान पर !

सारे आसमान में खेलें
मेघ, न सीमा है कहीं।
देश-देश खेलते डोलते,
कोई मना करे नहीं।
कितने नये फूल-वन इनसे
पाते हैं जल-दान मधुर !
नये-नये खेलों को पल-पल

सोच निकालें ये चतुर
खेल देख मेघों के, कितने
खेल उमड़ते याद में —
दुबकी कितनी लुका-छिपी
कितने कोनों की माँद में !
और उन्हीं के संग मन जाता
बचपन के इस गान पर :
मेंह बरसता टापर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर !

आती याद हँसी माँ की,
घर भर उजियाली छा जाती ;
आती याद मेघ-गर्जन से
थर-थर कँप उठती छाती।
माँ के ही बिस्तर के कोने
में लल्ला सोया होता ;
माँ पर उसके उत्पातों का
लेखा-जोखा क्या होता !
घर में उत्पाती बालक की
धमा-चौकड़ी और ऊधम,
बाहर मेघ गरज उठते,
कँप उठती सारी सृष्टि सहम।
मन जाता माँ के मुँह से
पुने हुए इस गान पर :
मेंह बरसते टापर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर।

आती याद सुहागो रानी और
दुहागो - रानी की ;
आती याद कहानी कंकावती
सती अभिमानी की ;
आती याद दिये की टिमटिम
लौ की मोहन-माय को;

एक ओर की भीत पर पड़ी
काली-काली छाया की।
बाहर शब्द एकरस केवल
वर्षाजल का झुप-झुप-झुप्प्।
हुआ कहानी सुनकर माँ की
नटखट लड़का बिल्कुल चुप्प्।
चुप-चुप उसका मन जाता है
बादल-दिन के गान पर :
मेंह बरसता टापर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर।

कब बरसा था मेंह,
कहाँ नदिया में आया पूर था !
शिवजी का कब ब्याह हुआ,
यह सब किस युग की है कथा !
उस दिन भी क्या इसी तरह
घनघोर घटा-आटोप था?
उस दिन भी क्या ठनका-बिजली
का ऐसा ही कोप था
आखिर फिर क्या हुआ भला
तीनों कन्याएँ ब्याह कर ?
पता नहीं किस देश, न जाने
किस नदिया के तीर पर
किस लड़के की निंदिया आती
किस माँ के इस गान पर :
मेंह बरसता टापर-टुपुर,
नदिया का पूर उठान पर।

(आनु० १६ फाल्गुन १८८२ श०)

पुराना नौकर

भूत सरीखा मुँह है फीका; अक्लि में अवधूत है
कुछ भी खो ले, घरनी बोले: 'किसुना की करतूत है।
सोता-जगता गाली बकता, सुनी-अनसुनी ठानता
खाता बेंत, न पाता वेतन, फिर भी चेत न मानता!
बड़ी ज़रूरत; हुई बुरी गत, 'किसुना-किसुना' चीखकर;
मिले न उत्तर, क़समें खाकर, खोज मरो यदि देश भर।
रखने को दो तीन अगर तो दो ग़ायब हों खड़े-खड़े;
एक दो अगर, गये न पल भर, कर लाता अनेक टुकड़े।
ठौर न सूझे और न बूझे पहर-बस भरे खर्राटे;
'पाजी सूअर' गाली देकर थका; थके घूँमे-चाँटे!
जलता है जी जब वह 'ही-ही' करता खडा दुआर पर —
फिर भी माया छोड़ न पाया — बड़ा पुराना यह नौकर!

वदन अति मलिन कहें मालकिन: 'अब न सहूँ रे बाप!
यह घर अपना, अपना किसुना लेकर रहिये आप!
चले न शासन; बरतन-बासन, कपड़े, आसन औ' पैसे
सब कहाँ गये, बस केवल रुपये बहते हैं पानी-जैसे
जाय कहीं पर, फिर तो दिन भर, दर्शन हो जाते दूभर
किसने सुना कि केवल किसुना है दुनिया भर में नौकर?'
ताने सुन-सुन, जाता जल-भुन, लाता उसे पकड़ चोटी;
कहता, 'निकल यहाँ से पागल; तेरी क़िस्मत ही खोटी'
धीरे से वह नौ-दो-ग्यारह हो जाया करता; लेकिन
मिलता हाजिर हुक्का ले फिर सुबह-सुबह अगले ही दिन
अति प्रसन्नमुख, तनिक नहीं दुखः, मन से तनिक नहीं कातर!
पीठ न मोड़े, छोड़े न छोड़े — बड़ा पुराना यह नौकर!

मिली दलाली दौलत पा ली मुफ़्त बहुत उस साल जब,
श्री वृन्दावन का तीर्थाटन फिर तो सका न टाल तब
ज़िद चलने की पत्नी ने की; मैंने झाड़ दिया उपदेश
'पति का पुन्न सती का सबरस, वरना होता खर्च विशेष!'
गठरी-पुटली बँध ली, कस ली, ठँस ली जब झोला-झोली;
कंगन बजाकर बकस सजाकर घरनी रो-रोकर बोली:
'दूर देश, संग किसुना औढंग होगा दुख का कारण ही!'
मैं बोला, 'हुम्, राम कहो तुम, संग जायगा निवारण ही।'
रेल चली, पर ज्यों ही आकर वर्धमान मे उतरे हम —
मिले शांत, थिर कृष्णकान्त फिर लेकर सुलगी हुई चिलम!
होड़-हठी झक इसकी कब तक सहा करूँ मन मारकर
हैं सौ दूषण, फिर भी खुश मन, देख पुराना यह नौकर।

उतरे आखिर; तुरन्त गये घिर पण्डों से श्रीधाम के।
पंडे भागे पीछे आगे; प्राण बच रहे नाम के।
छै कि सात जन मिले एक-मन, संग-संग डाल दिया डेरा;
हुआ दिलासा: सुखमय खासा होगा तीर्थाटन मेरा!
ब्रजबालाएँ, नज़र न आयें, दीखें कहीं न बनवारी!
उलटे चेचक फैला घातक, मुझे भी लगी बीमारी!
तीर्थबन्धुवर मुझे छोड़कर स्वप्न की तरह भाग लिये।
पड़ा अकेला; चेचक-मेला अंग-अंग पर क्या कहिये
क्षीण करुण स्वर जपे निरन्तर: 'किसुना, तेरा आसरा!
कभी 'नहीं घर, छोड़ा था, पर हाय, कहाँ पर आ मरा!'
मान परम-धन किसुन का वदन तकता, भर आता अन्तर!
हर लमहे में सिरहाने में खड़ा पुराना यह नौकर!

मुँह में दे जल पूछता कुशल, हाथ फेरता माथ पर।
थक कर, चुककर नींद न पल भर, खान-पान से बेख़बर!
वाणी मधुमय: 'मालिक, क्या भय, लौटोगे तुम कुशल-कुशल;
तुम्हें मालकिन अचल सुहागिन पा लेंगी सिंदूर के बल!'
स्वस्थ हुआ, पर पस्त देखकर किसुना को हो आया ज्वर —
मुझ पर थी जो कालव्याधि, सो उसने ली अपने ऊपर।

दो ही दिन वह जिया बिसुध रह, आखिर छोड़े प्राण !
— मेरा मतलब सधना था अब ? यों पाना था त्राण ?
बहुत दिनों पर तीर्थाटन कर जब लौटा अपने घर,
साथ न था चिरसाथी, वह बन्धु पुराना नौकर !

१२ फाल्गुन १३०१ ब॰ (आनु॰ २८ फाल्गुन १८८२ शक)

९

पुजारिन

(अवदान शतक)

मगध-राज बिम्बिसार
बुद्धदेव का प्रसाद मुँह-माँगा लाये थे
पग - नख - कणिका उतार।
राज भवन के निभृत उपवन में प्रतिष्ठित कर
बड़े प्रेम से, बड़े जतन से, उसके ऊपर
रचवाया शिला-स्तूप, जिसका अपरूप रूप
वास्तु-कला - कांति - सार!

संझा को शुचि तन-मन, शुचि सुरुचिर वसन पहन,
राज-वधू-गण, नृप-कुल-बालाएँ
सोने के थालों में सजा गंध-फूल
भक्ति-पूर्वक लातीं, स्तूप-पाद-मूल
सज देतीं, धर अपने हाथों घृत-तूल
बाल जाती कनक-दीप-मालाएँ।

पुत्रक अजातशत्रु ने, पाकर सिंहासन
त्याजा पितृ-धर्म-पंथ।
पोंछ दिया धर्मांकित राजपुरी-भाल को,
प्रजा-रक्त-धारा में सिक्त किया काल को,
सौंप दिये यज्ञों के होमानल-ज्वाल को
सकल बौद्ध शास्त्र-ग्रंथ।

राजनगर - नागरिकों को बुलवाकर बोला
यों अजातशत्रु, चूर मद में :
'प्रजा के हैं केवल तीन पात्र —
वेद, विप्र और लोकपाल मात्र;
सीधी-सी बात, इसे जो कुपात्र
भूलेगा, पड़ेगा विपद् में !'

उस दिन था शादर-दिवसावसान —
दासी श्रीमती - नाम
करके शीतल - पुनीत - जल - मज्जन,
सजा थाल पुष्प-दीप-नीराजन,
पटरानी-चरणों में विनत-नयन
खड़ी हुई कर प्रणाम।

डर से सिहरीं पटरानी, बोली :
'भूल गयीं भूप-वचन ?
है अजातशत्रु का कठिन शासन :
करेगा जो दुष्ट स्तूप का पूजन,
शूल-बिद्ध होगा निश्चय सो जन
या निर्वासन-भाजन!'

लौटी दासी चुप-चुप, गयी वधू-
जन अमिता के घर को।
बैठी थी वधू लिये कनक-मुकुर,
बाँध रही थी प्रलम्ब सघन चिकुर,
मगन-मन सिंदूर से रही थी पुर
सींथ-रेख के स्तर को।

देख श्रीमती को रेख वक्र हुई,
काँप गये डर से कर; —
बोली : 'री भोली, क्या दुस्साहस ?
लायी पुजापा तू या अपजस ?

भाग, कहीं देख ली गयी तो बस,
हो विषम विपद् सब पर !'

अस्ताचल-सूर्य-किरण आभा में
खुले वातायान के तट
कुमारिका शुक्ला बैठी एकाकिनी
काव्य-कथा पढ़ रही थी मन-भावनी ;
चौंकी, देखा द्वार, ज्यों ही किंकिणी-
क्वणन की मिली आहट ।

श्रीमती को देख, पुस्तक को पटका,
लपककर गयी समीप ।
कानो मे कहा बहुत हो सावधान :
'कौन है राजा की आज्ञा से अजान,
यों कहीं बुझा देते हैं ज्ञानवान्
अपनी फूँकों जीवन-दीप !'

श्रीमती इसी प्रकार फिर आयी द्वार-द्वार
लिये अर्घ्य की थाली ।
घर-घर जा सबसे बोली सविनय,
'ओ नगर जन, पूजा का हुआ समय !'
सुन कर के कई दुबक गयीं सभय,
कई दे उठीं गाली ।

दिन की अंतिम किरण अदृश्य हुई
नगर-सौध के ऊपर ।
पथ जन-विहीन अंधकार-लीन,
क्रम-क्रम से कोलाहल हुआ क्षीण,
आरात्रिक घंट बजा पुराचीन
राज-देवल के भीतर ।

शरद्-निशारंभ, स्वच्छ अँधियारा ; —
जलते अगणित तारे ।

सिंहद्वार पर सिंघा छेड़े तान,
वंदीजन गाते संझा के गान;
'राज-मंत्रणा - सभा हुई अवसान' —
द्वारी - स्वर ललकारे!

चौंक उठे महल के पहरुए सब
देख अचंभा औचक:
राजा के विजन भवन-उपवन मे
स्तूप-पीठिका के तम-गहन में
सहसा शत-सहस कहाॅ से जनमे
दीवाली के दीपक!

पुर - रक्षक लेकर नंगी कटार
चमचम - चम चपला-सी
छुटता आया, पूछा: 'आरती
मरने को कौन तू यहाँ करती?'
सुना मधुर वाणी: 'मैं श्रीमती,
बुद्धदेव की दास!'

उस दिन पड़ी रक्त की लेखा
उज्ज्वल शिला-फलक पर।
उस दिन शरद्-निशा भी नीरव,
निर्मर्मर उपवन के पल्लव; —
स्तूप-मूल का कर शेष - स्तव
बूझे आरतो के स्वर!

१८ आश्विन १३०६ बंगाब्द

(आनु० २५ फाल्गुन १८८२ शक)

१०

प्राण

सुन्दर संसार में मैं मरना नहीं चाहता,
मनुष्यों के बीच मैं बचना चाहता हूँ.
जीवन्त हृदय के बीच यदि स्थान पा सकूँ.
तो इन सूर्य-किरणों मे. इस पुष्पित कानन मे
मैं अभी जीना चाहता हूँ।

पृथ्वी पर प्राणों की क्रीड़ा सदैव तरंगित रहती है.
यहाँ कितना मिलन. कितना विरह. कितनी हँसी. कितने आँसू.
मनुष्य के सुख-दु:ख मे संगीत पिरोकर
यदि अमर आलय की रचना कर सकूँ
तो यहाँ मैं जीना चाहता हूँ।

वह यदि न हो सके तो जब तक बचूँ
तुम लोगों के बीच सुलभ रहे
और इस आशा मे संगीत के नये-नये फूल खिलाता रहूँ
कि देश-सबेर तुम इनका चयन करोगे।
हँसते हुए फुल तुम ले लेना.
उसके बाद यदि वे फूल सूख जायें
तो उन्हें फेंक देना।

नवम्बर १८८२ 'प्राण'

(कड़ि ओ कोमल)

११

वधू

'बेला हो गयी है, चल पानी भर लायें।'
मानों कोई दूर पर पहचाने स्वर में
पुकार रहा है—
कहाँ है वह जल,
कहाँ है वह पक्का घाट,
कहाँ है वह अश्वत्थ-तल !
घर के एक कोने में
मैं अकेली और अनमनी बैठी थी,
मानो तभी किसी ने पुकारा : 'चल पानी भर लायें'

वह टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता,
जहाँ कटि पर गगरी लेकर चलती थी —
बाइं ओर केवल मैदान है
सदा धू-धू करता हुआ,
दाहिनी ओर बाँस का जंगल डालियाँ हिलाता है।
तालाब के काले पानी मे
संध्या का आकाश झिलमिल करता है,
दोनों तरफ़
छाया से ढका हुआ घना वन है।
गहरे अचंचल जल में
धीरे-से अपने को छोड़ देती हूँ,
किनारे पर कोकिल अमृत-भरी बोली बोलता है।
लौटते समय पथ पर देखती हूँ,
तरु-शिखाओं पर अंधकार है

सहसा देखती हूँ
चन्द्रमा आकाश में आ गया है।

प्राचीर फोड़कर
अश्वत्थ के ऊपर उठ रहा है,
वहीं तो दौड़ी जाती थी मैं रोज़ सवेरे उठकर।
शरद मे ओस-कनों से झिलमिलाती हुई सारी धरती;
फूलों से लदा हुआ कनेर;
प्राचीर के सहारे-सहारे उसे छाकर
बैंगनी फूलों से भरी हुई हरी-भरी दो लताएँ;
उनके बीच की छूटी जगह में आँख गड़ाये
उसीकी ओट में बैठी रहती थी,
और आँचल पाँव पर गिर पड़ता था।

मैदान के बाद मैदान,
मैदान के छोर पर दूर बसे हुए गाँव
आकाश मे विलीन लगते हैं।
उस ओर खड़ी हुई है
पुराने श्यामल ताल वन की सघन राजि।
कभी झलक जाती है बाँध की जल-रेखा,
उसके किनारे आकर कोलाहल करते हैं चरवाहे।
असंख्य रास्ते फूटे हुए हैं
कौन जाने किन सैंकड़ो नूतन देशों की दिशा में।

हाय री पाषाण-काया राजधानी!
तूने व्याकुल बालिका को
ज़ोर से अपनी विराट् मुट्ठी में जकड़ लिया है
तुझे दया नहीं आती।
वे खुले हुए मैदान, उदार पथ,
प्रशस्त घाट, पंछियों के गीत;
अरण्य की छाया कहाँ है।

मानो चारों तरफ़ लोग खड़े हैं,
कोई कुछ सुन न ले, मन इसीलिए नहीं खुलता।
यहाँ रोना व्यर्थ है,
वह भीत से टकराकर अपने ही पास लौट आयेगा।

मेरे आँसुओं को कोई नहीं समझता।
सब हैरान होकर कारण ढूँढ़ते हैं।
'इसे कुछ अच्छा नहीं लगता,
यह तो बड़ी बुरी बात है,
देहात की लड़की का ऐसा ही स्वभाव होता है।
कितने अड़ोसी-पड़ोसी सगे-सहोदर हैं
कितने लोग मिलने-जुलने आते हैं
किन्तु यह बेचारी आँखें फेरे हुए
कोने में ही बैठी रहती है।'
कोई मुख देखता है, कोई हाथ-पाँव,
कोई अच्छा कहता है, कोई नहीं।
मैं फूलमाला, बिकने आयीं हूँ
सब परखना चाहते हैं
स्नेह कोई नहीं करता।

सबके बीच मे अकेली घूमती हूँ।
किस तरह सारा समय काटूँ।
ईंट के ऊपर ईंट जमी है,
उनके बीच में है मनुष्य-कीट —
न प्यार है न खेल-कूद।

कहाँ हो तुम, माँ कहाँ हो तुम,
मुझे तू कैसे भूल गयी !
जब नया चाँद उगेगा
तब छत के ऊपर बैठकर
क्या तू मुझे कहानी सुनायगी ?
मुझे लगता है

सूने बिछौने पर
मन के दुःख से रो-रोकर तू
रातें काटती है !
सवेरे शिवालय में फूल चढ़ाकर
अपनी परदेशी बिटिया की कुशल माँगना ।

चाँद यहाँ की छत के उस तरफ़ निकलता है माँ
कमरे के द्वार पर आकर प्रकाश
प्रवेश की आज्ञा माँगता है ।
मानो मुझे खोजता हुआ देश-देश में भटका है,
मानो वह मुझे प्यार करता है, चाहता है ।

इसीलिए एक क्षण के लिए अपने को भूलकर
विकल होकर दौड़ती हूँ द्वार खोलकर ।
और तभी चारों तरफ़ आँखें सतर्क हो जाती हैं,
शासन की झाड़ू उठ जाती है ।
न प्यार देते हैं न देते हैं प्रकाश!
जी कहता है, अँधेरे, छाया से ढके हुए
तालाब के उसी ठंडे काले पानी की
गोद में जाकर मर जाना अच्छा है ।
लो मुझे पुकारो, तुम सब मुझे पुकारो —
कहो, समय हो गया, चल पानी भर लायें ।
समय कब होगा
कब समाप्त होगा यह खेल,
यदि कोई जानता है तो मुझे बताये,
शीतल जल कब इस ज्वाला को बुझायेगा ।

२३ मई १८८८ वधू

('मानसी')

१२

मेघदूत

कविवर !
कब, कौन वह, विस्मृत वर्ष था,
आषाढ़ का कौन-सा प्रथम पवित्र दिन,
जब तुमने मेघदूत लिखा था ?
विश्व में जितने भी विरही हैं, उन सबके शोक को
तुम्हारे मेघमन्द्र श्लोक ने
सघन संगीत में पुंजीभूत करके
अपनी अँधेरी तहों में छिपा रखा है।

उस दिन उज्जयिनी के प्रासाद- शिखर पर,
न जाने, कितनी सघन घटा, कितना विद्युत्-उत्सव,
वायु का कितना उद्दाम वेग,
मेघों का कितना गुरु-गुरु नाद था।
बादलों के संघर्ष के उसी निर्घोष ने
एक दिन सहस्र वर्षों के अन्तर्गूढ़
वाष्पाकुल विरह-क्रन्दन को जगा दिया।
उसी दिन काल के बन्धन को तोड़कर
मानो, बहुत दिनों का अवरुद्ध अश्रुजल
तुम्हारे उदार श्लोकों को सिक्त करके
अविरल रूप से झर पड़ा।

संसार के जितने भी प्रवासी थे,
उस दिन क्या उन्होंने करबद्ध होकर
आकाश में मेघों की ओर मस्तक उठा,

प्रियतमा के गृह की ओर मुँह करके
एक ही स्वर में विरह का गान गया था ?
क्या उन्होंने अपनी अश्रुवाष्पयुक्त प्रेमवार्ता को
नये, निर्बन्ध मेघों के पंखों पर बिठाकर
उन सुदूर वातायनों में भेजना चाहा था
जहाँ मुक्तकेशिनी, म्लानवेशिनी,
सजलनयना विरहिनियाँ ज़मीन पर सोयी हुई थीं?

कवि ! अपने संगीत द्वारा
उन सबके गान
क्या तुमने देश-देशान्तर में खोजकर
विरहिणी प्रियाओं को भेज दिये,
जैसे श्रावण की जाह्नवी बहती हुई
महासमुद्र में लय होने के लिए
दिग्दिगन्तर की वारिधाराओं को अपने में खींच लेती है,
जैसे पाषाण-शृङ्खलाओं में बँधा हुआ हिमालय
आषाढ़ मास में, अनन्त आकाश में,
निर्मुक्त, व्योमचारी बादलों को देखकर नि:श्वास छोड़ता है
और सहस्रों कन्दराओं से राशि-राशि वाष्प-समूह को
व्योम की ओर भेजता है,
जैसे वे वाष्प
निरुद्देश्य दौड़नेवाली कामना के समान
शिखरों से ऊपर उठकर
अन्त में सब मिलकर एकाकार हो जाते हैं
और सारे व्योम पर अधिकार जमा लेते हैं।

उस दिन के बाद से
स्निग्ध, नवीन वर्षा का प्रथम दिवस
सैकड़ों बार आकर चला गया है।
प्रत्येक वर्षा
तुम्हारे काव्य पर नई वृष्टि-धारा बरसाकर
उसे नया जीवन दे गयी है,
उसके भीतर नयी-नयी

जलद-मन्द्र प्रतिध्वनियाँ संचरित कर गयी है,
तुम्हारे छन्द के स्रोत-वेग को
वर्षा की नदी के समान स्फीत बना पायी है।
कितने काल से, कितने विरही लोगों ने
प्रियतमा से विहीन गृहों में
आषाढ़ की ऐसी संध्या के समय
जो वृष्टिक्लान्त और अत्यन्त दीर्घ है,
जिसके तारे और चन्द्रमा लुप्त हो गये हैं,
दीपों के क्षीण प्रकाश में बैठकर
उस छन्द को मन्द-मन्द पढ़कर
अपनी विरह-वेदना को विलीन किया है।
उन सबका कण्ठ-स्वर
तुम्हारे काव्य के भीतर से
सागर-तरंग की कलध्वनि के समान
मेरी श्रुतियों में प्रवेश करता है।

मैं भारत की पूर्वी सीमा पर
उसी हरियाले बंग-देश में बैठा हूँ
जहाँ कवि जयदेव ने किसी वर्षा के दिन
दिगन्त के तमाल-वन में श्यामल छाया देखी थी,
मेघों से मेदुर, पूर्ण आकाश देखा था।

आज दिन अन्धकारमय है,
वृष्टि झर-झर झर रही है,
पवन अत्यन्त दुरन्त है,
उसके आक्रमण से अरण्य बाँहें उठाकर हाहाकार कर रहा है।
शून्य वर्षा में प्रखर वक्र हँसी हँसकर
मेघमण्डल को वेध
विद्युत कौंध भरती है।

अँधेरे बन्द गृह में अकेला बैठकर
मैं मेघदूत पढ़ रहा हूँ।

मेरे-गृह-त्यागी मन ने
मुक्तगामी मेघों की पीठ पर आसन जमा लिया है।
वह देश-देशान्तर में उड़ रहा है।

सानुमान आम्रकूट कहाँ है?
शिलाओं से बाधित गति वाली
वह निर्मल, कृशकाय रेवा नदी
विंध्य के चरणों पर कहाँ बहती है ?
वेत्रवती के तीर पर
पके फलों से श्याम दीखने वाला दशार्ण ग्राम
जम्बू-वन की छाया मे कहाँ छिपा हुआ है ?

कहाँ है
खिली हुई केतकी के बाड़े मे वेष्टित वह स्थान
जहाँ ग्रामपक्षियों ने वन को कलरव से पूर्ण कर
रास्ते की बगल के पेड़ों पर
अपने वर्षाकालीन नीड़ बाँधे हैं ?

न जाने, जुही के वन मे विहार करनेवाली वनांगना
किस नदी के तीर पर घूम रही है!
तपे हुए कपोल की गर्मी से
उसके कर्णोत्पल मुरझा रहे हैं,
मेघ की छाया के लिए वह विकल हो रही है।

वे कौन नारियाँ हैं,
जिन्होंने भ्रू-संचालन नहीं सीखा है ?
जन-पद की वे वधूटियाँ
आकाश में सघन घटा को देखकर
आँखें ऊपर कर जब बादलों की ओर देखती हैं
तब मेघों की नील छाया
उनके सुनील नयनों में पड़ जाती है।
मेघों से श्याम वह कौन-सा शैल है

जिसकी शिला पर मुग्ध सिद्धांगनाएँ
स्निग्ध, नवीन जलदों को देखती हुईं
अनमनी होकर बैठी थीं ?
सहसा भयानक झंझा के कारण
वे भय से थर-थर काँपने लगीं।
वस्त्र सँभाले वे कन्दराओं में
आश्रय खोजती फिरती हैं
और कहती जाती हैं, 'मैया री !
लगता है, झंझा गिरि-श्रृंग को ही उड़ा ले जायेगी।'

अवन्तीपुरी कहाँ है ?
विंध्य से अलग बहनेवाली शिप्रा नदी कहाँ है,
जिसके जल में
उज्जयिनी अपनी महिमा का प्रतिबिम्ब देखती है ?
वहाँ दोपहर रात मे,
प्रासादों के शिखरों पर
प्रणय की चंचलता भूलकर
कबूतर सोये रहते हैं।
और मात्र विरह के आवेश मे
विरहणियाँ प्रेमाभिसार करने को
सूचीभेद्य अंधकार में घर से बाहर निकलती हैं।
जब राजपथ पर कभी-कभी बिजली कौंध उठती है।

ब्रह्मावर्त में वह कुरुक्षेत्र कहाँ है?
वह कनखल कहाँ है,
जहाँ यौवन-चंचला जह्नुसुता
पार्वती की भृकुटि-भंगिमा की उपेक्षा कर
धूर्जटी की जटाओं में बसनेवाले
चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणें लेकर
फेन के रूप में परिहास करती हुई
क्रीड़ा कर रही है ?

इसी प्रकार,
मेरा हृदय मेघ रूप से देश-देश में घूमकर,
बहता-बहता, अन्त में
कामनाओं के मोक्ष-धाम अलका में आ उतरता है
जहाँ सौन्दर्य की आदि-सृष्टि
विरहिणी प्रियतमा का निवास है।
लक्ष्मी की उस विलासपुरी में,
अमरों के उस लोक में,
तुम्हें छोड़कर
निर्बाध गति से और कौन ले जा सकता था ?

वह लोक
जहाँ शाश्वत रूप से अनन्त वसन्त निवास करता है,
जहाँ चन्द्रिका नित्य विराजती है,
जहाँ इन्द्रनील पर्वत के मूल में स्थित
सरोवर के किनारे में स्वर्ण कमल खिले रहते हैं,
जहाँ मणियों से विरचित प्रासाद में
असीम संपदाओं से घिरी
विरह-वेदना एकाकिनी क्रन्दन करती रहती हैं।
खुले गवाक्ष से उसे देखा जा सकता है।
शय्या-भाग से लगा उसका शरीर
ऐसा दीखता है,
मानो, क्षीण चन्द्रमा की किरण
पूर्वी आकाश में डूब रही हो।

कवि ! तुम्हारे मंत्र के प्रभाव से
इस अवरुद्ध हृदय की बन्धन-व्यथाएँ मुक्त हो रही हैं।
मैंने विरह का स्वर्ग-लोक प्राप्त कर लिया है,
जहाँ विरहिणी प्रियतमा
निस्सीम सौन्दर्य के बीच अकेली जगकर
दीर्घ निशा का यापन कर रही है।

किन्तु, वह फिर खो जाता है।
देखता हूँ,
चारों और अविश्रान्त गति से वृष्टि पड़ रही है।
निर्जन रात्रि अंधकार को सघन बनाती आ रही है।
वायु, असीम की खोज में, क्रन्दन करती हुई
खुले, विस्तृत मैदान के अन्तिम छोर से
होकर चल रही है।
अनिद्रित-नयन
आधी रात को सोच रहा हूँ,
ऐसा शाप किसने दिया ?
यह कैसा व्यवधान है ?
बाधित कामनाएँ
ऊपर की ओर देखती हुई क्यों रो रही हैं ?
प्रेम अपना रास्ता क्यों नहीं पा सकता ?
कौन मनुष्य सशरीर उस स्थान तक पहुँचा है
जो संसार की नदी और पर्वत, सबके परे है,
जहाँ सूर्य नहीं उगता;
जो मणियों से दीपित गोधूलि का देश है,
जहाँ मानस-सरसी के तीर पर
विरह की शय्या बिछी हुई है ?

१-२१ मई, १८९०

'मेघदूत'
(मानसी)

१३

अहल्या के प्रति

किस सपने मे तुमने लंबी दिवा-रात्रि काट दी ?
अहल्ये ! शिला रूप से मिट्टी में मिली हुई
तुम तापस-विहीन उस शून्य तपोवन की छाया में कैसे रही,
जिसकी हवन-शिखाएँ निर्वापित हो चुकी थीं ?

बृहत् पृथ्वी के साथ तुम एकदेह होकर विलीन थीं।
उस समय उसके महास्नेह को तुमने समझा था क्या ?
पाषाण के नीचे
क्या कोई अस्फुट चेतना भी शेष थी ?

जीवधात्री माता की जो बड़ी वेदना है,
मातृधैर्य में जो नीरव सुख और दुःख है,
सोयी हुई आत्मा के भीतर
क्या स्वप्न के समान उनका अनुभव किया था ?

दिन-रात लाखों-करोड़ों प्राणियों के मिलन और कलह —
आनन्द और विषाद से व्यग्र क्रन्दन और गर्जन,
असंख्य पथिकों की क्षण-क्षण उठनेवाली पद-चाप,
क्या ये शाप-निद्रा को भेदकर
तुम्हारी श्रुतियों में प्रवेश करते थे,
नेत्रहीन, मूढ़ एवं जड़ अर्धचेतना की स्थिति में
तुम्हें जगाये रहते थे ?
महाजननी की नित्य निद्राहीन व्यथा को
अपने मन से तुम क्या जान सकी थीं ?

नवीन वासन्ती वायु के बहने पर
पृथ्वी के सर्वांग में उठनेवाला पुलक-प्रवाह
क्या तुम्हारा भी स्पर्श करता था ?

मरु पर दिग्विजय के हेतु जब जीवनोत्साह
सहस्र मार्गों से, सहस्र रूपों में, वेग से छूटता होगा
तब वह अनुर्वर अभिशाप को मेटने के लिए
क्षुब्ध होकर तुम्हारे पाषाण को घेर लेता होगा।
तो क्या उस आघात से
तुम्हारी देह में जीवन का कंप जगता था ?

मानव-गृह में जब रात्रि का आगमन होता,
पृथ्वी श्रान्त देहों को अपने हृदय से लगा लेती ;
दुःख और क्लान्ति भूलकर असंख्य जीव निद्रित हो जाते;
केवल आकाश जगता रहता ;
उनके शिथिल अंग और सुषुप्ति के निःश्वास
पृथ्वी के हृदय को विभोर कर देते,
मातृ-अंग में निहित
करोड़ों जीवों के उस स्पर्श-सुख में से कुछ को
क्या तुमने अपने भीतर पाया था ?
जिस गोपन अन्तःपुर में माता विराजती हैं —
वह अन्तःपुर जो विविध रंगों की लेखा से युक्त,
पत्र-पुष्प-जाल की चित्र-विचित्र यवनिका से आवृत है,
जिसके अन्तराल में असूर्यंपश्या-रूप से
माता चुप-चुप अपने सन्तानगृह को
धन-धान्य तथा जीवन-यौवन से भरती रहती हैं —
उसी गूढ़ मातृ-कक्ष में
तुम इतने दिन पृथ्वी के वक्ष में
दीर्घ रजनी की शीतलता से युक्त
विस्मृति-भवन में सोयी हुई थीं।
वह विस्मृति-भवन,
जहाँ लाखों जीवनों की क्लान्ति अनन्त काल तक
धूलि-शय्या पर निर्भय सोती रहती है,

जहाँ क्षण-क्षण दिवा-निदाघ से सूखे फूल,
दग्ध उल्का तारा, जीर्ण कीर्ति, श्रान्त सुख
और दाह से पराजित दुःख झरते रहते हैं;
माता ने वहाँ पाप-ताप की रेखा को
अपने स्निग्ध हाथों से पोंछ दिया है।
तभी आज तुम
पृथ्वी की सद्यःजात, सुन्दर, सरल, शुभ्र कुमारी के समान
दिखाई पड़ीं।

निर्वाक् होकर
तुम प्रभातकालीन जगत् की ओर देख रही हो।
रात के समय जो ओस तुम्हारे पाषाण पर पड़ी थी
अभी वह आजानु-चुम्बित कृष्ण केश-पाश में
उल्लास से कँप रही है।
जिस शैवाल ने
पृथ्वी के श्यामशोभी अंचल के समान
तुम्हें ढक रखा था,
अनेक वर्षों तक प्रचुर वृष्टि-धार पाकर
वह और भी सरस, सघन और सतेज हो गया।
माता के द्वारा सुकोमल स्नेह से दिये गए वस्त्र के समान
वह अभी भी तुम्हारी नग्न-गौर देह से लगा हुआ है।

संसार सुपरिचित हँसी हँसता है।
तुम निर्निमेष देख रही हो।
अपनी धूलिलिप्त पद-चिह्न-रेखाओं को
पद-पद पर पहचानता हुआ
तुम्हारा हृदय अकेला ही
किसी कालक्षेत्र में दूर चला गया है।

जगत् का जितना भी पूर्व परिचय था,
देखते-देखते वह चारों ओर से आ जुटा।
वह देखो, दल बाँध-बाँधकर
समस्त संसार तुम्हारे सामने आ पहुँचा।

पास आते ही वह चौंककर ठहर गया।
विस्मय के मारे उसके नेत्र खुले रह गये।

अपूर्व रहस्यमयी निर्वसन प्रतिमे !
तुम नवीन शैशव में स्नात पूर्ण यौवन-सी लगती हो,
मानो, पूर्ण-स्फुट , पवित्र श्याम-पत्र के पुट में
एक ही वृन्त पर शैशव और यौवन मिलकर खिल उठे हों।
विस्मृति-समुद्र के नीले जल में
तुम प्रथम उषा के समान धीरे-से उग आयी हो।
तुम विश्व की ओर देखकर विस्मय करती हो।
विश्व तुम्हारी ओर देखकर कुछ नहीं बोलता।
और दोनों आमने-सामने हैं।
अपार रहस्य के तट पर
चिर-परिचय में यह नवीन परिचय है।

२४-२५ मई १८८६

'अहल्यार प्रति'
(मानसी)

१४

सोने की नाव

आकाश मे मेघ गरज रहे है।
घनघोर वर्षा हो रही है.
किनारे पर अकेला बैठा हूं,
मन में धीरज नहीं है।
राशि-राशि धान कट चुका है
बाढ़ से भरी हुई प्रखर नदी बह रही है।
धान काटते-काटते ही पानी आ गया।

एक तनिक-सा खेत
उसमे अकेला मैं,
चारों तरफ़ खिलवाड़ कर रहा है
टेढ़ा मेढ़ा बहता हुआ पानी।
दूर उस पार देखता हूं
पेड़ अंधेरे की स्याही से चित्रित हैं
बादलों से ढका हुआ सवेरा हो रहा है गाँव में
और मैं अकेला हूं इस तरफ़ एक छोटे-से खेत में
गीत गाते हुए नाव चलाते हुए
कौन किनारे की तरफ़ आ रहा है।
देखकर ऐसा लगता है
जैसे उसे पहचानता हूँ।
वह पाल फैलाये चला आ रहा है,
इधर-उधर नहीं देखता,
लहरें लाचार होकर कट जाती हैं —
देखकर लगता है उसे मैं पहचानता हूं।

बोलो तो भला तुम कहाँ जा रहे हो, किस देश में ?
एकाध बार इस किनारे पर
अपनी नाव लगा दो।
फिर जहाँ-जहाँ जाना चाहते हो, चले जाना
जिसे देना चाहते हो उसे ही देना,
किन्तु तनिक हँसकर किनारे पर आकर
मेरा सोने का धान लेते जाओ।

अपनी नाव में जितना चाहो उतना भर लो।
और भी है क्या ?
नहीं अब नहीं है, मैंने सब भर दिया है।
नदी के किनारे भूल से
अब तक जो कुछ रख लिया था
वह सब मैंने थर पर थर लगाकर
नाव पर चढ़ा दिया।
अब कृपा करके मुझे भी नाव में ले लो।

जगह नहीं है, जगह नहीं है
मेरी छोटी-सी नाव
स्वर्णिम धान से भर गयी है।
सावन के गगन को ढाँककर
घने बादल घुमड़ रहे हैं,
मैं रह गया हूँ
सूनी नदी के किनारे पड़ा हुआ —
जो था उसे सोने की नाव ले गयी।

फरवरी-मार्च १८९२

'सोनार तरी'
(सोनार तरी)

१५

हिं टिं छट्

राजा हबूचन्द्र ने रात को एक स्वप्न देखा —
अब हबूचन्द्र उसका मतलब सोच-सोच हैरान है।
हबूचन्द्र ने स्वप्न मे देखा कि उनके सिरहाने
मानों तीन बन्दर बैठे हैं
और उनके जूँ बीन रहे हैं,
तनिक भी हिलो-डुलो तो गाल पर थप्पड़ लगाते हैं,
आँख-नाक पर बन जाते हैं उनके नाखूनों के निशान।
एकाएक वे ग़ायब हो जाते गये और आ गया एक बंजारा,
वह कह रहा था धाड़ मारकर रोते-रोते
'पंछी उड़ गया, पंछी उड़ गया।'
राजा को सामने देखते ही उसने
उन्हे अपनी गरदन पर उठा लिया,
और बैठा दिया हाथों में झुलाकर
पालतू पक्षियों के बैठने के डंडे पर।
नीचे एक पोपली बुढ़िया खड़ी होकर
उनके पाँव के तलवे गुदगुदाने लगी हँस-हँसकर।
राजा कहते हैं, 'यह कैसी आफ़त है'
किन्तु दोनों में से कोई भी उन्हें नहीं छोड़ता —
वे अपने पाँव ऊपर उठाना चाहते हैं
किन्तु उठा नहीं पाते।
राजा पक्षी की तरह छटपटाता है,
बंजारा कान में कहता है 'हिं टिं छट्'।
यह स्वप्न मंगल कथा अमृत के समान है,
गौड़ानन्द कवि कहते हैं, पुण्यवान सुनते हैं।

हबूपुर राज्य में आज छः-सात दिनों से
न किसी की आँख में नींद है, न पेट में अन्न का दाना।
मुरझाया हुआ चेहरा हाथ पर टिकाकर
सिर नीचा करके राज्य-भर के बूढ़े और बच्चे
सोच-सोचकर हैरान हैं।
बच्चे खेल भूल गये और पण्डित शास्त्र-पाठ,
लड़कियाँ एकदम चुप हो गयी हैं
क्योंकि इतनी बड़ी घटना जो घट गयी है।
झुंड-के-झुंड बैठे हुए हैं, मुँह से शब्द नहीं फूटते,
चिन्ता जितनी घनी होती जाती है
सिर उतना नीचे झुकता जाता है।
जैसे भूगर्भ शास्त्री पृथ्वी-तल पर कुछ खोजता हे,
जैसे बैठे हुए हों सब किसी निराकार भोज में।
बीच-बीच में एकाएक लम्बी साँस छोड़कर
ज़ोर से चिल्ला उठते — हिं टिं छट्।
यह स्वप्न मंगल कथा अमृत के समान है,
गौड़ानन्द कवि कहते हैं, पुण्यवान सुनते हैं।
बहुत दिनों के बाद आज चिन्ता दूर हुई
हबू राज्य जो अब तक डूबूँ-डूबूँ कर रहा था
हाथ पाँव हिलाने लगा
लगे खेलने बच्चे, बूढ़े हुक्का पीने लगे
स्त्रियों का मुख क्षण-भर में ही खुला गया
सारे देश का सिरदर्द चला गया।
सब समझ गये हिं टिं छट्
यह स्वप्न मंगल कथा अमृ. के समान है
गौड़ानन्द कवि कहते हैं, पुण्यवान सुनते हैं,

जो यह स्वप्न मंगल कथा सुनेगा
उसके सारे भ्रम नष्ट हो जायेंगे
अन्यथा कभी नहीं होगा
संसार में संसार की कल्पना का धोखा कभी नहीं होगा
जो सत्य है, उसे मिथ्या कहकर आसानी से समझा जा सकेगा
जो है वह नहीं है और जो नहीं है वह है

यह बात उसके निकट स्पष्ट हो जायेगी
लोग जिसे सहज भाव से देखेंगे
स्वप्न मंगल कथा सुननेवाला उसमें पूँछ जोड़ देगा
इसलिए आओ भाई लेकर जुमहाई
सो जाओ चित्त होकर
इस अनिश्चित संसार में है इतनी बात निश्चित
कि जगत् का सब-कुछ मिथ्या है सब-कुछ माया है
सत्य है केवल स्वप्न और कोई बात सत्य नहीं है
यह स्वप्न मंगल कथा अमृत के समान है
गौड़ानन्द कवि कहते हैं, पुण्यवान सुनते हैं।

३० मई १८९३

'हिं टिं छट्'
(सोनार तरी)

१६

दो पंछी

सोने के पिंजरे में था पिंजरे का पंछी,
और वन का पंछी था वन में!
जाने कैसे एक बार दोनों का मिलन हो गया,
कौन जाने विधाता के मन में क्या था!
वन के पंछी ने कहा, 'भाई पिंजरे के पंछी
हम दोनों मिलकर वन में चलें।'
पिंजरे का पंछी बोला, 'भाई वनपाखी,
आओ हम आराम से पिंजरे में रहें।'
वन के पंछी ने कहा,
'नहीं मैं अपने-आपको बँधने नहीं दूँगा।'
पिंजरे के पंछी ने पूछा,
'मगर मैं बाहर कैसे निकलूँ!'

बाहर बैठा-बैठा वन का पंछी वन के तमाम गीत गा रहा है,
और पिंजरे का पंछी अपनी रटी-रटायी बातें दोहरा रहा है,
एक की भाषा का दूसरे की भाषा से मेल नहीं।
वन का पंछी कहता है,
'भाई पिंजरे के पंछी, तनिक वन का गान तो गाओ।'
पिंजरे का पंछी कहता है,
'तुम पिंजरे का संगीत सीख लो।'
वन का पंछी कहता है,
'ना, मैं सिखाये-पढ़ाये गीत नहीं गाना चाहता।'
पिंजरे का पंछी कहता है,
'भला मैं जंगली गीत कैसे गा सकता हूँ!''

वन का पंछी कहता है,
'आकाश गहरा नीला है,
उसमें कोई बाधा नहीं है।'
पिंजरे का पंछी कहता है,
'पिंजरे की परिपाटी
कैसी घिरी हुई है चारों तरफ़ से !'
वन का पंछी कहता है,
'अपने-आपको
कर दो बादलों के हवाले।'
पिंजरे का पंछी कहता है,
'सीमित करो, अपने को सुख से भरे एकांत में।'
वन का पंछी कहता है,
'नहीं, मैं वहाँ उड़ूँगा कैसे !'
पिंजरे का पंछी कहता है,
'हाय, बादलों में बैठने का ठौर कहाँ है !'

इस तरह दोनों एक-दूसरे को चाहते हैं,
किंतु पास-पास नहीं आ पाते।
पिंजरे की तीलियों मे से
एक-दूसरे की चोंच छू-छूकर रह जाते हैं,
चुपचाप एक-दूसरे को टुकुर-टुकुर देखते हैं।
एक-दूसरे को समझते नहीं हैं
न अपने मन की बात समझा पाते हैं
दोनों अलग-अलग डैने फड़फड़ाते हैं
कातर होकर कहते हैं, 'पास आओ।'
वन का पंछी कहता है,
'नहीं कौन जाने कब
पिंजरे की खिड़की बन्द कर दी जाए।'
पिंजरे का पंछी कहता है,
'हाय मुझमे उड़ने की शक्ति नहीं है।'

२ जुलाई १८९२

'दुई पाखी'
(सोनार तरी)

१७

जाने नहीं दूँगी

दरवाज़े पर गाड़ी खड़ी है, समय दोपहर का है।
शरतप की धूप, क्रमशः तेज़ होती जा रही है।
निर्जन ग्राम-पथ पर
दोपहर की हवा में धूल उड़ रही है।
स्निग्ध अश्वत्थ की छाया में
क्लान्त, वृद्धा भिखारिनी जीर्ण वस्त्र विछाकर
सो गयी है।
शान्ति ऐसी है,
मानो, धूप से भरी हुई नीरव-निस्तब्ध रात्रि
चारों ओर ज्वाला फेंक रही हो।
केवल मेरे घर में आराम की नींद नहीं है।

बीत गया आसिन।
पूजा की छुट्टी के हो जाने पर समाप्त
आज मुझे उस दूर देश को लौटना होगा
जो मेरा कर्मस्थान है।
नौकर व्यस्त होकर
रस्सा-रस्सी से सामग्रियों को बाँध रहे हैं।
हर कमरे में शोर-गुल और पुकार मची हुई है।
गृहिणी की आँखें छलछला रही हैं।
हृदय के पास उसे पाषाण-भार-सी व्यथा है।
तब भी उसे क्षण-भर रोने को समय नहीं मिलता।
विदा के आयोजन में वह व्यस्त होकर घूम रही है।
बोझ चाहे जितना बड़ा हो जाय,

उसके मन को वह यथेष्ट नहीं लगता।
मैं कहता हूँ, 'अरी, यह क्या काण्ड है ?
इतने घड़े, इतने कपड़े इतनी हाँडियाँ,
इतने ढक्कन, इतने बरतन,
इतनी बोतलें, इतने बिछावन और बक्से !
यह राज्य-भर का पूरा बोझ लेकर मै क्या करूँगा ?
इनमें से कुछ को यहीं छोड़ जाऊँगा,
कुछ को साथ ले जाऊँगा।'

किन्तु, इस बात पर कोई कान नहीं देता।
'क्या जाने, अन्त मे
यदि इसकी या उसकी आवश्यकता ही पड़ जाय।
तब दूर विदेश में उसे कहाँ पाओगे ?
इन बरतनों मे
सुनहरी मूँग, महीन चावल, सुपारी और पान हैं।
उस हाँडी में गुड़ की दो-चार डलियाँ ढकी हैं,
कुछ नारियल हैं।
दो बरतनों में राई-सरसों का खाँटी तेल हैं।
कुछ मे आचार और खटाई है।
दो सेर दूध है।
इन शीशियों और डब्बों मे दवाइयाँ हैं।
उस हाँडी के भीतर पड़ी है कुछ मिठाई।
तुम्हें मेरे सिर की सौगन्ध।
भूलना मत, इन्हें याद करके खाना।'
युक्ति की बात मैंने समझ ली।
और कुछ कहना व्यर्थ है।
बोझा ऊँचे पर्वत के समान हो गया।
मैंने घड़ी की ओर देखा ;
उसके बाद घूमकर प्रिया के मुख की ओर
और धीरे-से कहा, 'तब मैं आता हूँ।'[१]
पत्नी ने मुँह फेर, सिर झुका, आँखों पर आँचल खींचकर
अमंगल-सूचक आँसुओं को छिपाया।

---

१. बंगाल में यात्रा के समय जाने को 'आना' कहते हैं। यह मांगलिक प्रथा है।

बाहर के दरवाज़े के पास
मेरी चार वर्ष की कन्या अनमनी-सी बैठी है।
किसी दूसरे दिन इतने समय तक
उसका स्नान समाप्त हो जाता।
दो कौर खाते-न-खाते
आँखों की पलकें मूँद वह सो जाती।
किन्तु, आज उसकी माता उसे नहीं देखती।
इतना समय हो गया,
किन्तु, उसका स्नान और भोजन नहीं हुआ।
अब तक वह छाया के समान
मेरे पीछे-पीछे लगी फिरती थी,
मौन, निर्निमेष दृष्टि से वह
विदाई के आयोजन को आँखें फाड़कर देख रही थी।
अब थककर बाहर के दरवाज़े पर
न जाने क्या सोच चुपचाप बैठी थी।

जब मैंने कहा, 'मैं आता हूँ,'
उसने कातर आँखों और म्लान मुख से कहा,
'मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी।'
जहाँ बैठी थी, वहीं वह बैठी रही।
न तो उसने मेरी बाँह पकड़ी,
न द्वार का ही अवरोध किया।
केवल अपने हृदय के स्नेहाधिकार को जताते हुए
उसने कहा, 'मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी।'
तब भी समय हो गया :
हाय, तब भी जाने देना पड़ा।

ओ री मेरी अबोध बच्ची! तू कौन है ?
कहाँ से, कौन-सी शक्ति प्राप्त कर
तूने इतनी दर्पयुक्त, ऐसी बात कही,
'मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी।'
गर्विणी !
चराचर में किन-किन को छोटे हाथों से पकड़कर रोक रखेगी ?

केवल इतने-से हृदय में भरे स्नेह को लेकर
घर के दरवाज़े पर बैठी
श्रान्त, नन्हीं देह से किसके साथ युद्ध करेगी ?
व्यथित हृदय से, अत्यन्त भय और संकोच के साथ
अन्तःकरण की प्रार्थना को
केवल व्यक्त कर देना ही इस जगत् मे उचित है।
केवल इतना कहना ही ठीक है,
'जाने देने की इच्छा नहीं होती।'
'जाने नहीं दूँगी,' ऐसी बात कौन बोल सकता है ?
तुम्हारे शिशु-मुख से स्नेह की प्रबल गर्ववाणी सुन
संसार कौतुक से हँसकर मुझे खींचकर ले गया।
तू केवल पराजित आँखों में जल भरे
चित्र के समान दरवाज़े पर बैठी रही।
मैं तुम्हे देख, आँखे पोछ चला आया।

चलते-चलते देख रहा हूँ,
रास्ते के दोनों ओर शस्य-भार से नत शरत् के खेत
धूप का सेवन कर रहे हैं।
राजपथ के किनारे उदासी से भरे हुए वृक्ष
दिन-भर अपनी छाया की ओर देख रहे हैं।
शरत् की भरी गंगा तीव्र वेग से बह रही है।
माँ का दूध पीकर तृप्त,
मुखनिद्रित, सद्यःजात, सुकुमार गोवत्स के समान
उजले-जलद-खण्ड नीले आकाश मे सोये हुए हैं।
क्षितिज तक विस्तृत, युग-युगान्तर से क्लांत,
प्रखर धूप मे अनावृत पड़ी पृथ्वी की ओर
देखकर मैंने गहरी उसाँस भरी

सारा आकाश, सारी पृथ्वी
कितने गम्भीर दुःख मे डूबी हुई है।
जितनी भी दूर चलता हूँ,
केवल वही मर्मान्त सुर सुनाई दे रहा है,
'मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी।'

पृथ्वी से लेकर नील मेघों के समग्र लोक तक
वही अनाद्यन्त, चिरन्तन ध्वनि गूँज रही है,
'जाने नहीं दूँगी।'

तृण तो अत्यन्त क्षुद्र है।
उसे भी वक्ष से लगाकर माता वसुन्धरा
प्राणपण से कहती हैं,
'जाने नहीं दूँगी।'
क्षीणायु दीपक की शिखा
अब बूझी, तब बुझी हो रही है।
तब भी अन्धकार के ग्रास से
उसे कौन खींच रहा है?
कौन कह रहा है,
'अरी! जाने नहीं दूँगी।'

जाने नहीं दूँगी का गम्भीर क्रन्दन
इस अनन्त चराचरम जगत्,
स्वर्ग और मर्त्य को व्याप रहा है।
हाय, तब भी जाने देना होता है!
तब भी लोग चले जाते हैं!
अनादि काल से इसी प्रकार होता रहा है।

सृष्टि के प्रलय-समुद्र-वाही स्रोत में
व्यग्र बाँहों को प्रसारित किये हुए
सभी ज्वलन्त आँखों से पुकारते हैं,
'जाने नहीं दूँगा, जाने नहीं दूँगा।'
किन्तु, विश्व-तट को आर्त स्वर से पूर्ण कर
सभी हाहाकार करते हुए
तीव्र वेग से चले जाते हैं।
सामने की ऊर्मि को
पीछे वाली ऊर्मि पुकारकर कहती है,
'जाने नहीं दूँगी, नहीं दूँगी।'
किन्तु कोई सुनता नहीं;

कोई ध्यान नहीं देता।
आज चारों ओर से
विश्व-मर्म-भेदी वह करुण क्रन्दन,
शिशु के समान अबोध गति से,
मेरी श्रुतियों में गूँज रहा है।
बहुत दिनों पर संसार जिसे पाता है,
उसे ही वह खो देता है।
तब भी तो मुट्ठी ढीली नहीं पड़ी।
तब भी उसी चार वर्ष की कन्या के समान,
अक्षुण्ण प्रेम के गर्व से
वह निरन्तर पुकारकर कहती जाती है,
'जाने नहीं दूँगी।'

है मुख मलीन, आँखे सजल
घड़ी-घड़ी, पल-पल, अहंकार रहा है पिघल
तब भी प्रेम किंचित् भी पराभव नहीं मानता।
तब भी विद्रोह भाव से, अवरुद्ध कंठ से
वह कहता है, 'जाने नहीं दूँगा।'
जितनी ही बार वह हारता है,
उतनी ही बार वह कहता है,
'जिससे मै प्रेम करता हूँ,
वह क्या कभी मुझसे दूर जा सकेगा ?
मेरी आकांक्षा जितनी बेचैन, जितनी श्रेष्ठ,
जितनी निष्कूल, जितनी प्रबल है,
उतना बेचैन, उतना श्रेष्ठ,
उतना निष्कूल, उतना प्रबल
विश्व में क्या और भी कुछ है ?'
इतना कहकर वह दर्पपूर्ण प्रचार करता है,
'जाने नहीं दूँगा।'
उसी समय वह देखता है,
सूखी, तुच्छ धूल के समान, एक ही निश्वास में
उसके आदर का धन उड़कर विदा हो जाता है।
आँखें अश्रुजल में डूब जाती हैं।

छिन्नमूल वृक्ष के समान गर्व खोकर
वह सिर नीचा किये, पृथ्वी पर गिर पड़ता है।
तब भी प्रेम कहता है,
'ब्रह्मा का सत्य खंडित नहीं होगा।
चिरन्तन अधिकार दिलानेवाली लिपि में,
मैंने ब्रह्मा द्वारा हस्ताक्षरित
महा अंगीकार-पत्र प्राप्त कर लिया है।'
इसीसे, छाती तानकर
मरण के मुख के समक्ष खड़ी होकर
क्षीण, सुकुमार जीवन-वल्लरी कहती है,
'मृत्यु ! तुम्हारा अस्तित्व नहीं है।'

ऐसी गर्वोक्ति।
मृत्यु ठठा कर हँसती है।

मृत्यु से पीड़ित होनेवाला वही व्याकुल,
शंकाग्रस्त, सतत् कंपायमान, चिरजीवी प्रेम
अनन्त विश्व को आच्छन्न किये हुए है
जैसे आँसुओं का वाष्प
विवर्ण नयनों को आच्छन्न कर लेता है।
आशाहीन श्रान्त आशा ने निखिल विश्व पर
विषाद का कोहरा-सा फैला रखा है।
मानों, आँखों के आगे आ रहे है,
जो विफल बंधन के प्रयास मे
सारी सृष्टि को घेरकर
उसे कातर, निस्पन्द होकर जकड़े हुए है।
चंचल स्रोत के जल में
एक अचंचल छाया पड़ी हुई है।
यह अश्रुवृष्टि से युक्त किस मेघ की माया है ?
इसीलिए, आज वृक्षों के मर्मर में
इतनी व्याकुलता सुन रहा हूँ।
आलस्य और उदासी से भी दोपहर की तप्त वायु
सूखे पत्तों के लेकर व्यर्थ ही खेल रही है।

पीपल के नीचे की छाया को और भी लंबी बनाकर
दिन धीरे-धीरे हो जाता है विदा।
विश्व मे अनन्त की वंशी
मानों, मैदान के मीठे सुर में क्रन्दन कर रही है।
उसे सुनते हुए
अस्त-व्यस्त केशों वाली उदासिनी वसुन्धरा
जाह्नवी-तट पर दूर तक फैले शस्य-क्षेत्र में
हृदय पर धूप के पीला स्वर्णांचल खींचकर
बैठी हैं;
उनकी स्थिर आँखे दूर नीलाकाश मे मग्न हैं।
उनके मुख मे वाणी नहीं है।
मैंने उनके म्लान मुख को देखा,
वह द्वार पर स्तब्ध, मर्माहत बैठी हुई
मेरी चार वर्ष की बिटिया समान थी।

अक्तूबर १८९२

'जेते नाहि दिब'
(सोनार तरी)

१८

कच-देवयानी

कच — *सेवक देवलोक को करेगा प्रयाण*
आज्ञा दो देवयानी !
आज मेरा गुरु-गृह का वास समाप्त है।
आशीर्वाद दो कि जो विद्या मैंने सीखी है,
वह मेरे चिर काल तक,
सुमेरु-श्रृंग पर अक्षय किरण के समान,
उज्ज्वल रत्न बनकर हृदय में टिकी रहे।

देवयानी — *मनोरथ तुम्हारा पूर्ण हो गया।*
आचार्य के पास रहकर
तुमने दुर्लभ विद्या प्राप्त कर ली।
किन्तु, क्या और कोई कामना नहीं है ?
मन-ही-मन सोचकर देखो तो।

कच — *अब कोई कामना नहीं।*

देवयानी — *कोई नहीं ?*
तब भी एक बार और ध्यान देकर देखो ;
हृदय के सीमान्त तक डूबकर पता लगाओ।
अन्तर में, कदाचित्, कोई चाह हो
कुशांकुर के समान छोटी, दृष्टि के लिए अगोचर,
फिर भी अत्यंत तीक्ष्ण।

कच — आज जीवन कृतार्थ है, पूर्ण है।
मेरे भीतर कोई दैन्य नहीं है सुलक्षणे !
कहीं भी कोई रिक्तता नहीं।

देवयानी — त्रिलोक में आज तुम सुखी हो।
तब उन्नत मस्तक पर गौरव लिये
इन्द्रलोक को प्रस्थान करो।
स्वर्ग-लोक मे हर्षध्वनि उठेगी,
मनोहर सुर मे मंगल-शंख बजेगा ;
नन्दन-वन की सद्यःछिन्न मन्दार-मंजरी लेकर
सुर-सुन्दरियाँ तुम्हारे सिर पर पुष्प-वर्षण करेंगी,
स्वर्ग-मार्ग पर कलकंठ से
अप्सरियाँ और किन्नरियाँ आनन्दोच्चार करेंगी,
विजन विदेश मे कठोर अध्ययन करते हुए,
ब्राह्मण ! तुम्हारे दिन बड़े क्लेश से बीते हैं।
ऐसा कोई तो नहीं था
जो तुम्हारी प्रवास-व्यथा को दूर करने के लिए
तुम्हे सुखमय गृह का स्मरण करा देता।
इस दीन कुटीर मे जो कुछ था
वही देकर मैंने अतिथि का यथासाध्य पूजन किया है।
तब भी, स्वर्ग का सुख मैं कहाँ से लाता ?
देवांगना का अनिन्दित मुख यहाँ कहाँ है ?
बड़ी आशा है मन मे
कि देव-लोक लौट जाने पर
आतिथ्य की त्रुटियाँ तुम्हें याद नहीं रहेंगी।

कच — मंगलमयी मुसकान के साथ
आज प्रसन्न होकर ही
दास को विदा देनी होगी।

देवयानी — मुस्कान ?
हाय, सखे, यह तो स्वर्ग-लोक नहीं है।
पुष्प में कीट के समान यहाँ तृष्णा जगी रहती है।

हृदय के भीतर यहाँ वांछित को घेरकर
वांछा घूमती रहती है
जैसे लांछित भ्रमर
मुदित कमल के पास बार-बार चक्कर लगाता है।
प्रिय के चले जाने पर एकाकिनी स्मृति
यहाँ दीर्घ निःश्वास फेंकती है।
मुस्कान यहाँ सुलभ नहीं।
जाओ मित्र !
व्यर्थ ही समय नष्ट करके क्या होगा ?
जाओ, देवता तुम्हारी राह देख रहे होंगे।
तो चले ही जा रहे हो ?
दो बातें बोल लेने से ही सब-कुछ समाप्त हो गया ?
दस सौ वर्षों के बाद क्या इसी तरह विदाई लेते हैं ?

कच — देवयानी ! मेरा अपराध क्या है ?

देवयानी — हाय, इस सुन्दर वनभूमि ने
सहस्त्र वर्षों तक तुम्हे अपनी प्यारी छाँह दी है,
पल्लवों का मर्मर-नाद
और पक्षियों का कूजन सुनाया है।
उसे आज इतनी आसानी से छोड़ जाओगे ?
देखो, वृक्षों की पंक्तियाँ, मानो म्लान हो आयी हैं,
वन की छाया, प्रगाढ़ शोक से, अंधकार से भर गयी।
वायु रो-रो उठती है,
सूखे पत्ते झरे पड़ रहे हैं।
तुम होंठों पर लिए मुस्कान
निशान्त के प्रिय स्वप्न के समान
केवल चले जाओगे ?

कच — देवयानी !
इस वनभूमि को मैं मातृभूमि मानता हूँ।
यहाँ मैंने नया जन्म प्राप्त किया है।

इसके प्रति मेरा अनादर नहीं है।
चिर काल तक प्रेमपूर्वक मैं इसका स्मरण करूँगा।

देवयानी — यह वही वट-वृक्ष है
जिसके नीचे तुम, गाय चराने को आने पर,
हर रोज़ दोपहर की धूप में सो जाते थे।
यह अतिथि-वत्सल वृक्ष
तुम्हारी थकी देह पर लंबी छाया डाल कर
मर्मर-स्वर वाले पल्लव-दलों से,
हल्की आवाज़ के साथ,
व्यजन डुलाकर तुम्हे सुख की नींद सुला देता था।
सखे ! जाना है तो चले जाना।
तब भी, आखिरी बार,
इस परिचित वृक्ष के तले कुछ देर बैठ लो।
इस स्नेहमयी छाया का संभाषण
अपने साथ लिये जाओ।
दो घड़ी और ठहर जाओ।
इस विलंब से
तुम्हारे स्वर्ग की कोई क्षति नहीं होगी।

कच — विदाई के समय
ये सभी चिरपरिचित मित्र नये से समान लगते हैं।
भागनेवाले प्रियतम को बाँधने के लिए
सब-के-सब स्नेह के व्यग्र होकर
नवीन बन्धन का जाल फैलाते हैं,
अपूर्व सौन्दर्य-राशि
और अंतिम विनती का विस्तार करते हैं।
आश्रित जनों के मित्र, ओ वनस्पति !
मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।
तुम्हारी छाया में
आगे भी, जाने, कितने बटोही बैठेंगे,
मेरे समान, कितने दिन, जाने, कितने छात्र
नीरव, निर्जन, सघन छाँह के नीचे

तृणासन पर बैठकर
पक्षियों के मधुर गुंजन के स्वर में अध्ययन करेंगे।
ऋषियों के बालक प्रातः स्नान के बाद आकर
अपने भीगे वल्कलों को तुम्हारी डालों पर सुखायेंगे।
दोपहर को चरवाहों का दल क्रीड़ा करेगा।
वनस्पतियों! उन्हीं के बीच
तुम्हारी स्मृति में, मानो, विराजमान रहेगा।

देवयानी — याद रखना हमारी होमधेनु को;
स्वर्ग-सुधा पीकर
गर्व में कहीं उस पवित्र गौ को भूल मत जाना।

कच — उसका दूध तो
अमृत से भी अधिक अमृत-पूर्ण है।
मातृरूपा, शान्तिस्वरूपिणी, शुभ्र कान्तिमयी
उस पयस्विनी के दर्शन मात्र से
पाप का नाश होता है।
भूख, प्यास और क्लान्ति की अनदेखी करके
मैंने उसकी सेवा की है।
घूमता रहा हूँ बहुत दिनों तक मैं उसके साथ
सघन वनों में
और हरी घास वाले नदी-तीर पर।
निचले तट पर की विरल, चिकनी, कोमल घास को
स्वेच्छानुसार खाकर, तृप्ति से पूर्ण,
वह अपने अलसाये, मन्थर शरीर को
पेड़ के नीचे ले जाती
और तृणासन पर सोये-सोये सारा दिन
धीरे-धीरे रोमन्थन करती थी।
बीच-बीच में, विशाल नयनों में
कृतज्ञतामयी, शान्त दृष्टि भरकर
वह गाढ़ स्नेह से पूर्ण अपनी आँखों से
मेरे शरीर का लेहन करती थी।
स्मरण रहेगी उसकी वह स्निग्ध, अचंचल दृष्टि,

स्मरण रहेगा
उसका पुष्ट, चिकना, पिच्छल, शुभ्र शरीर।

देवयानी — और हमारी कलस्वना नदी
वेणुमती को भी याद रखना।

कच — उसे नहीं भूलूँगा।
मेरी प्रवास-संगिनी, शुभ्रवता, वह वेणुमती
ग्राम वधू के समान सेवा का भार उठाये
मधुर कंठ से आनन्दपूर्ण कल गान गाती हुई
क्षिप्रवाहिनी
कितने कुसुम-कुंजों में से होकर आती है?

देवयानी — हाय सखे! इस प्रवास मे
कोई एक और सहचरी भी तुम्हारी साथ थी
जो रात-दिन
तुम्हारी पर-गृह-वस-जनित व्यथा को
भुलाने का उपाय सोचती थी।
परन्तु, हाय री दुराशा!

कच — उसका नाम तो
चिर जीवन के साथ ग्रथित हो चुका है।

देवयानी — याद है क्या,
दीप्ति के साँचे में ढला हुआ,
स्निग्ध, गौरवपूर्ण शरीर धारण किये,
ललाट पर चंदन लगाये,
रेशमी वस्त्र और गले में पुष्पहार पहने,
अधरों और नयनों में प्रसन्न मुस्कान लिये,
ठीक बाल सूर्य के समान,
किशोर ब्राह्मण के रूप में
जब तुम पहले-पहल यहाँ आये थे,
तब आकर वहाँ, उस पुष्पवन में खड़े हुए थे?

कच — तुम तुरन्त स्नान करके आयी थीं,
तुम्हारे लंबे केश भीगे हुए थे;
नये शुक्ल वसनों में सजी,
ज्योतिःस्नाता मूर्तिमती ऊषा के समान,
तुम अकेली ही
हाथ में फूलों की डाली लिये
पूजा के निमित्त नये फूल चुन रही थीं।
विनती के साथ, मैंने कहा,
'श्रम तुम्हें शोभा नहीं देता,
आज्ञा दो,
देवि ! मैं चुन दूँगा फूल।'

देवयानी — मैंने विस्मित होकर
तत्क्षण तुम्हारा परिचय पूछा।
विनयपूर्वक तुमने कहा,
'मै बृहस्पति का पुत्र हूँ ;
तुम्हारे पिता का शिष्य होने को
तुम्हारे द्वार पर आया हूँ।'

कच — तुम्हारे मन मे शंका थी,
कहीं, दैत्य-गुरु स्वर्ग के ब्राह्मण को लौटा न दें।

देवयानी — मै उनके पास गयी ;
हँसकर मैंने कहा,
'पिता,
आपके चरणों में एक भीख माँगती हूँ।'
स्नेहपूर्वक मुझे अपने पार्श्व में बिठाकर
मेरे सिर पर हाथ रखते हुए
उन्होंने शान्त, मीठे शब्दों में कहा,
'तुम्हारे लिए तो कुछ भी अदेय नहीं है।'
मैंने कहा,
'आपके दरवाज़े पर
बृहस्पति के पुत्र आये हुए हैं।

आप उन्हें शिष्य बना ले,
यही प्रार्थना है।'

कितना समय हो गया
आज उस बात को ?
तब भी लगता है, मानो,
यह अभी उस दिन भोर की ही बात हो।

कच — ईर्ष्यावश दैत्यों ने
तीन बार मेरा वध किया।
तुम देवी ने तीनों बार
दया करके मेरे प्राण लौटा दिये।
यह बात
हृदय में चिर-कृतज्ञता जगाये रहेगी।

देवयानी — कृतज्ञता ?
उसे भूल जाना, मुझे दुःख नहीं होगा।
जो उपकार मैंने किया है, क्षार हो जाय।
दान का मैं प्रतिदान नहीं चाहती।
मन में क्या कोई प्रिय स्मृति नहीं है ?
भीतर और बाहर किसी दिन यदि आनन्द-गीत बज उठे,
यदि किसी शाम को वेणुमती नदी के तट पर
अध्ययन-काल में पुष्प-वन में बैठने का पुलक
मन में जाग उठे,
और हृदय का उच्छ्‌वास, सौरभ के समान,
सायंकालीन आकाश
और खिलते हुए निकुंज को व्याप्त कर दे,
तो उस प्रिय बात को याद रखना
दूर हो जाय कृतज्ञता।
सखे !
यदि यहाँ किसी ने ऐसा गान गाया हो
जिससे तुम्हारे हृदय को सुख मिला था,
ऐसा वस्त्र धारण किया हो
जिसे देखकर तुम्हारे मन में प्रशंसा की वाणी जगी थी,

और प्रसन्न मन एवं तृप्त आँखों से
तुमने यह सोचा था,
'आज यह सुन्दर लगती है'
अवकाश के क्षणों में,
सुखद स्वर्ग-धाम में
उसी बात का ध्यान करना।
इस वन में कितनी ही बार
आषाढ़ की नीली घटा के समान
पावस के श्याम, स्निग्ध, नवीन मेघ
क्षितिजों को व्याप्त करके झुक आये थे
तब अविरल जलवृष्टि के कारण
दिन के काम बन्द हो जाते,
और कल्पना के सघन भार के नीचे
हृदय पीड़ित होने लगता।
अचानक यहाँ कितनी ही बार
बाधा-बन्धन-विहीन, उल्लसित हिल्लोल से आकुल
वसन्त-ऋतु का यौवनोत्साह आया था।
संगीत के स्वर मे कलकल करते हुए
उसके आवेग-प्रवाह ने
वन-वनान्तर की लता-पत्र-पुष्प की सिहरन मे
आनन्द का प्लावन भर दिया था।
एक बार सोचकर देखो,
कितनी उषाएँ, कितनी चाँदनी, कितना अंधकार,
पुष्प-सौरभ से सघन कितनी अमा-निशाएँ
इस वन में, सुख-दुःख की राह से,
तुम्हारे जीवन में घुल-मिल गयी है।
उन सबके बीच
क्या ऐसा कोई प्रात, कोई संध्या, कोई मुग्ध रात्रि,
हृदय की ऐसी कोई क्रीड़ा, कोई सुख,
ऐसा कोई मुख दिखायी नहीं देता
जो अमिट चित्ररेखा के रूप में
तुम्हारे मन में अंकित हो जाय?

कच — इसके बाद और जो कुछ है,
वह खोलकर कहने की बात नहीं है सखी !
जो हृदय के रक्त में बह रहा है,
उसे किस तरह दिखाऊँगा ?

देवयानी — जानती हूँ सखे !
तुम्हारे हृदय को अपने हृदय के आलोक में
अचानक, क्षण-मात्र को,
मानो, आँखों के पलक-पात भर को,
कितनी ही बार देखा है।
इसीसे तो रमणी का आज यह दर्प है।
तब तुम ठहरो, तब तुम ठहरो,
जाओ नहीं।
यश के गौरव में सुख नहीं है।
यहाँ वेणुमती के तीर पर
हम दोनों नये स्वर्ग-लोक की सृष्टि करेगे।
इस निर्जन वनच्छाया के साथ
दो निभृत, विश्वासी हृदयों को मिश्रित करके
हम बाक़ी सब-कुछ भूल जायेंगे।
सखे ! मैं तुम्हारे मर्म को जानती हूँ।

कच — नहीं देवयानी ! नहीं !
देवयानी — नहीं ?
मिथ्या प्रवंचना !
क्या मैं तुम्हारे मन के देख नहीं रही हूँ ?''
जानते नहीं, प्रेम अन्तर्यामी होता है ?
विकसित पुष्प पल्लव में छिपा रहता है,
किन्तु, उसकी गन्ध कहाँ छिपेगी ?
कितनी ही बार
जैसे ही तुमने मुख ऊपर को उठाया,
जैसे ही मुझे देखा, जैसे ही, मेरी आवाज़ सुनी,
तुम्हारे सारे शरीर में तुम्हारा हृदय सिहर उठा,
हीरे के हिलने से जैसे

उसका आलोक छिटक पड़ता है।
उसे क्या मैंने देखा नहीं ?
सखे ! तुम पकड़े गये,
इसी से मेरे पास तुम क़ैद हो।
इस बन्धन को काट नहीं सकोगे।
इन्द्र अब तुम्हारा इन्द्र नहीं है।

कच — इस दैत्यपुरी में, सहस्र वर्षों तक
क्या इसीके लिए मैंने साधना की है
शुचिस्मिते ?

देवयानी — क्यों नहीं ?
इस जगत् में लोग
क्या केवल विद्या के लिए ही साधना करते रहे हैं ?
क्या रमणी के लिए
किसी पुरुष ने कठोर तप नहीं किया ?
क्या पत्नीवर की इच्छा से,
तपती की आशा में,
आकाश में प्रखर सूर्य को देखते हुए
संवरण ने निराहार रहकर
अत्यन्त कठोर तपस्या नहीं की थी ?
हाय, दुर्लभ केवल विद्या ही है ?
प्रेम यहाँ क्या इतना सुलभ है ?
सहस्र वर्षों तक
तुमने किस धन के लिए साधना की है,
यह तुम स्वयं नहीं जानते।
एक ओर विद्या थी, एक ओर मैं।
तुमने उत्सुक होकर
कभी मेरी ओर, कभी उसकी ओर देखा है।
तुम्हारे अनिश्चित मन ने
यत्नपूर्वक, अत्यन्त गोपन भाव से,
दोनों की आराधना की है।
आज हम दोनों एक साथ

पकड़ाई देने आई हैं।
मित्र ! जिसे चाहते हो, पहचान लो।
यदि निश्छल साहस से कह उठो,
'विद्या में सुख नहीं, यश में सुख नहीं,
देवयानी ! मूर्तिमती सिद्धि केवल तुम हो,
इसलिए, तुम्हारा ही वरण करता हूँ,'
तो इसमें कोई क्षति नहीं, कोई लज्जा नहीं है।
सखे ! नारी का मन
सहस्र वर्षों की साधना का धन है

देवयानी — देवताओं के सान्निध्य में
मैंने प्रतिज्ञा की थे शुभे !
कि महासंजीवनी विद्या अर्जित करके
मैं देवलोक को लौट जाऊँगा।
इसी से आया था।
वह प्रण मेरे हृदय में हमेशा वर्तमान रहा है।
मेरी वह प्रतिज्ञा पूरी हो गयी।
इतने दिनों बाद, यह जीवन कृतार्थ हो गया।
आज मैं किसी भी स्वार्थ की कामना नहीं करता।

देवयानी — धिक्कार है तुम्हें मिथ्याभाषी !
तुमने क्या केवल विद्या की ही कामना की थी ?
गुरु-गृह मे आकर
तुम क्या छात्र रूप में दिन-रात
एकान्त मे शास्त्र-ग्रंथों में आँखें लगाये
केवल अध्ययन में लीन रहते थे ?
अन्य सबसे क्या तुम उदासीन थे ?
तुम अध्ययन-शाला छोड़कर
फूलों के लिए वन-वनान्तर में घूमते फिरते थे :
माला गूँथकर, प्रसन्न-मुख से हँसते हुए
क्यों तुम उसे इस विद्याहीना के देते थे ?
कठोर साधना क्या यही है ?
यही क्या तुम्हारा विद्यार्थीवत् आचरण था ?

प्रातःकाल जब तुम पढ़ते होते,
मैं रिक्त डाली लिये
आकर हँसती हुई खड़ी हो जाती
तब तुम ग्रंथ रखकर उठकर क्यों चले आते थे ?
ओस-सिक्त प्रफुल्ल कुसुमों से मेरी पूजा क्यों करते थे ?
अपराह्न के समय जब
मैं पौधों की क्यारियों में पानी देती,
तब तुम मुझे श्रान्त देखकर
दयापूर्वक क्यों जल का घड़ा उठाकर मेरे हाथ में देते थे ?

अध्ययन छोड़
क्यों तुम मेरे मृग-शिशु का पालन करते थे ?
शाम को नदी-तट की निस्तब्धता मे
नमित नयनों के दीर्घ, स्निग्ध, छायामय पलकों के समान
जब अंधकार उतरता,
जब वह संगीत मुझे क्यों सुनाते थे,
जिसे तुम स्वर्ग से सीखकर आये थे ?
विद्या लेने को आकर
तुमने, स्वर्ग की चतुराई से,
मेरा हृदय क्यों हर लिया ?
अब समझती हूँ, मुझे वश में करके
तुमने पिताजी के हृदय में प्रवेश करना चाहा था।
आज तुम कृतार्थ हो
मुझे किंचित् कृतज्ञता देकर जाना चाहते हो,
जैसे लब्ध मनोरथ प्रार्थी
मन के संतुष्ट होने पर द्वारपाल के हाथ में
दो-चार मुद्राएँ देकर चला जाता है।

कच — हाय, अभिमानिनी नारी !
सत्य सुनकर संतोष होगा क्या ?
धर्म जानता है, मैंने प्रवंचना नहीं की है।
निश्छल मन में, हार्दिक आनन्द के साथ
तुम्हें संतुष्ट कर, तुम्हारी सेवा करता हुआ

यदि मैं अपराध कर बैठा हूँ
तो विधाता उसीका दण्ड दे रहे हैं।
मन में था, यह बात मैं नहीं कहूँगा।
जो नितान्त, एकमात्र मेरी है,
जिससे त्रिभुवन में किसी का कोई उपकार नहीं,
उसे जानकर कोई क्या पायगा ?
प्यार करता हूँ या नहीं,
इस तर्क से आज क्या लाभ ?
मेरा जो काम है, वह मैं करूँगा।
स्वर्ग यदि मन को स्वर्ग के समान न लगे,
हृदय यदि बिद्ध मृग के समान
दूर कानन में भटकता-मरता फिरे,
सभी कामों के बीच
यदि चिरायु तृष्णा दग्ध प्राणों से लिपटी रहे,
तब भी उसी सुख-शून्य स्वर्ग-लोक को
मुझे चला जाना होगा।
देवताओं को यह संजीवनी विद्या प्रदान कर
उन्हे नया देवत्व दे लूँ,
तभी मेरा जीवन सार्थक होगा।
उससे पूर्व मैं अपना सुख नहीं मानता।
देवयानी !
मेरा अपराध क्षमा करो, क्षमा करो।

देवयानी — क्षमा कहाँ है मेरे मन में ?
तुमने इस नारी के हृदय को कुलिश - कठोर बना दिया।
ब्राह्मण ! तुम तो गौरव के साथ स्वर्ग चले जाओगे;
कर्म के आनन्द मे सारे दुःख शोक को पराजित कर दोगे।
किन्तु, मेरा कर्तव्य क्या है ?
मेरा व्रत क्या है ?
मेरे इस बाधापूर्ण विफल जीवन में क्या रह गया ?
किस बात का गौरव बचा शेष ?
इसी वन में सिर झुकाकर मैं
लक्ष्यहीन, एकाकिनी, निःसंग बैठी रहूँगी।

जिस तरफ़ भी आँखें फिराऊँगी,
स्मृति के हज़ारों निष्ठुर काँटे चुभेंगे।
निर्दय लज्जा हृदय के नीचे छिपकर
बारंबार दंश मारेगी।
धिक्कार है, धिक्कार है,
ओ निर्मोही पथिक !
तुम कहाँ से आये थे ?
समय काटने के बहाने
मेरे जीवन की वनच्छाया के नीचे
तुमने जीवन के सारे सुखों को
फूलों के समान तोड़कर
उन्हें एक सूत्र में माला के समान पिरो दिया।
जाते समय उस माला को गले में न लेकर
तुमने अत्यन्त अनादरपूर्वक,
उस महीन धागे को दो खंड़ों में तोड़ दिया।
इस जीवन की सारी महिमा
धूलि-लुंठित हो गयी।
तुम्हारे लिए मेरा यह अभिशाप है,
जिस विद्या के निमित्त तुमने मेरी अवहेलना की है,
वह विद्या
पूरी-की-पूरी, तुम्हारे वश में नहीं होगी।
तुम उसके मात्र भारवाही होकर रहोगे,
भोग उसका नहीं कर पाओगे
दूसरों को सिखा तो दोगे,
स्वयं उसका प्रयोग नहीं कर सकोगे।

कच — *और मैंने वर दिया देवि !*
तुम सुखी होगी।
प्रभूत गौरव पाकर
सारी ग्लानि भूल जाओगी।

१० अगस्त १८९३

'बिदाय अभिशाप
(बिदाय अभिशाप)

१९

वसुन्धरा

हे वसुन्धरे, मुझे लौटा लो,
अपनी गोद की सन्तान को अपनी गोद में
विपुल अंचल की छाया में।
है मृण्मयी जननि,
मैं तुम्हारी धूल में व्याप्त हो जाऊँ,
दिशा-विदिशाओं में अपने-आपको
वसन्त के आनन्द की तरह बिखेर दूँ।
वक्ष के इस पींजरे, संकीर्ण प्राचीर के पाषाण बन्धन को तोड़कर
अपने निरानंद अंध-कारागार को हिलाकर,
गुँजाकर, कंपित करके, तोड़-फोड़कर,
विकीर्ण करके, सिहरते हुए,
बहता हुआ चला जाऊँ
चकित भाव से आलोक और आनंद में
समस्त भूलोक में, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में
उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम ;
शाद्वल, शैवाल और तृण, शाखा, वल्कल और पत्र
निगूढ़ जीवन के रस से सरस हो उठें ;
खेतों में झुकी हुई स्वर्ण मंजरियों को
अपनी अंगुलियों से जाकर छू लूँ ;
नव पुष्प-दल रंगीनियों के बीच
चुपचाप सुधा-गंध और मधु-बिन्दु-भार से पूर्ण हो जायँ ;
स्तब्ध धरिणी के अनन्त कलोल गीत पर नृत्य करते हुए
नीलिमा के परिव्याप्त कर दूँ महा-सागर के जल को।
उल्लसित भाव से लहर-लहर पर

दिग-दिगन्त में अपनी वाणी विस्तृत कर दूँ;
बिछा दूँ अपने आपको उत्तरीय की भाँति
शुभ्र शैल-श्रृंग पर, निष्कलंक हिम की
एकान्त, निर्जन, निःशब्द ऊँचाइयों पर।

मेरे मन में बहुत भीतर
किसी उत्स की तरह जो इच्छा
उठती रही है वह
आज हृदय को धीरे-धीरे चारों तरफ़ से
लबालब भरकर उद्दाम दुर्निवार
मुक्त और महत् प्रवाह का रूप लेकर
तुम्हें सींचने के लिए उबल पड़ना चाहती है;
उस व्यथित वासना को बंधन-मुक्त करके
शत-सहस्र धाराओं के अंतर को भेदकर
मैं किस प्रकार प्रवाहित कर सकूँगा।
केवल घर के कोने में बैठकर
लुब्ध चित्त से कौतूहलवश
सदा पढ़ता-भर रहता हूँ,
किन्होंने देश-देशान्तर में भ्रमण किया है;
उनके साथ-साथ मैं मन-ही-मन
तुम्हें कल्पना के जाल में लपेटता हूँ।
सुदुर्गम सुदूर देश —
पथ शून्य तरु-शून्य अशेष प्रान्त,
महापिपासा की रंगभूमि;
रौद्र आलोक की तप्त बालुका राशि
सुई की तरह आँख में गड़ती है;
मानों दिगंत विस्तृत धूलि-शय्या पर
पड़ी हुई हो तप्त-देह ज्वरातुरा वसुन्धरा
वह्नि ज्वालामय, उष्ण श्वास,
शुष्क-कंठ, निःसंग, निःशब्द निर्दय।
कितनी बार घर की खिड़की पर बैठे-बैठे
सामने तकते हुए दूर-दूरान्तर के दृश्य

मन पर अंकित किये हैं —
चार दिशाओं में शैलमाला,
बीच में निस्तब्ध निर्जन
स्फटिक, निर्मल, स्वच्छ नीला सरोवर ;
मातृ-स्तन-पान-रत शिशु की भाँति
शिखर से चिपके हुए पड़े हैं बादलों के टुकड़े ;
दृष्टि अवरोध करती हुई नीलगिरि श्रेणी के ऊपर
दूर हिम-रेखा दिखाई पड़ती है,
जान पड़ता है कि योग-मग्न धूर्जटि के
तपोवन-द्वार पर स्वर्ग भेदते हुए
दल-के-दल निषेध निश्चल होकर
ऊपर उठ गये हों।
मन-ही-मन घूमा हूँ दूर सिंधु के पार महा मरु देश में,
सर्व-आभरणहीन निःसंग निस्पृह हिमवस्त्राच्छादित धरा ने
अनंत कौमार्य व्रत ले रखा है जहाँ ;
जहाँ शब्द-शून्य संगीत-विहीन दिन
लौटकर आ जाता है दीर्घ रात्रि के अंत में;
रात आती है किंतु सोनेवाला कोई नहीं है,
अनंत आकाश को तकती हुई
पुत्र-शोक से पीड़ित माता की तरह
धरती निद्रा और तंद्रा से विहीन
शून्य-शय्या पर पड़ी रहती है।

जितने नये देशों के नाम पढ़ता हूँ
उनके विचित्र वर्णन सुनता हूँ
चित्त आगे बढ़कर
उन सबको छूना चाहता है।
समुद्र के तट पर छोटी-छोटी
नीली पहाड़ियों से घिरा हुआ एक गाँव है ;
तट पर जाल सूख रहा है
जल में तिर रही है नौका, उड़ रहा है पाल,
मछुआ मछली पकड़ रहा है ;
पर्वत के बीच से पथ बनाकर सँकरी नदी

आड़ी-टेढ़ी जैसे-तैसे बहती चली आ रही है।
मन होता है, उस निर्जन पर्वत की गोद में
सुख से बैठकर लहरों से मुखरित नीड़ जैसे
उस प्रीत को आलिंगन में भरकर
छाती से लगा लूँ;
इच्छा होती है जहाँ भी जो कुछ है,
उसे अपना लूँ;
नदी की जल-धारा में अपने को घुला-मिलाकर
दोनों किनारों पर नये-नये लोकालयों को
तृप्त करनेवाला जल पिलाता चलूँ,
कल गीत गाता चलूँ दिवस में और निशीथ में;
उदय-सिन्धु से अस्त सिन्धु तक
अपने को पृथ्वी भर में प्रसारित करके
अपने सुदुर्गम रहस्य को
ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियों में जा रखूँ;
चुपचाप कठिन पाषाण की गोद में
लिखी बर्फ़ीली हवा में
नयी-नयी जातियों को मानवता से भर दूँ।
मन-ही-मन सोचता हूँ
देश-देशान्तरों में सब लोगों के साथ
उन्हीं की जाति का होकर रह सकूँ,
मरुस्थल में जन्म लेकर
ऊँट का दूध पीते हुए
दुर्दम स्वच्छन्द अरब बनूँ;
तिब्बत की पहाड़ी घाटियों में
निर्लिप्त प्रस्तरपुरी के बीच
बौद्ध-मठ में विचरण करूँ।
गुलाब के वनों में रहनेवाले
अंगूरी पीनेवाले ईरानी;
निर्भीक घोड़े पर सवार तातार,
शिष्ट आचारवान सतेज जापानी,
रात-दिन कर्म में अनुरत
प्रवीण और प्राचीन चीनी —

ऐसी इच्छा होती है
इन सबके घरों में जन्म-लाभ करूँ।
स्वस्थ बलिष्ठ हिंस्त्र नग्न बर्बरता —
जिसके न कोई धर्म है, न अधर्म,
न कोई प्रथा है, न विधि-निषेध;
जिसे चिन्ता तप्त नहीं करती
जिसे द्विधा-द्वन्द्व नहीं, जिसका घर-द्वार नहीं,
रात-दिन बहता है उन्मुक्त जिसका जीवन-स्रोत,
जो सामने खड़े होकर आघात करता है
और अकातर भाव से आघात सहता है,
परिताप से जर्जर प्राण लिये
व्यर्थ दुःख में भरकर अतीत की ओर नहीं देखता,
मिथ्या दुराशा से भविष्य को नहीं ताकता,
जो वर्तमान की तरंगों के एक-एक फन पर
आवेग और उल्लास से नाचता हुआ चला जाता है
वह उच्छृङ्खल जीवन है
किंतु मैं उसे भी प्यार करता हूँ,
कितनी बार जी में आता है
किसी प्राणवन्त आँधी के साथ
उस छोटी नौका के समान तेज़ी से तिरता जाऊँ
जिसके पाल हवा से भर गए हों।

वन का हिंस्त्र व्याघ्र अपने प्रचंड बल से
विशाल शरीर को उछालकर
सहज ही चाहे जहाँ ले जाता है;
अरण्य मेघ में छुपी हुई विद्युत् ज्वाला की तरह
रुद्र मेघमन्द्र स्वर में गर्जन करती हुई
उसकी दीप्त उज्ज्वल देह
असावधान शिकार के ऊपर
बिजली की गति से टूट पड़ती है;
इच्छा होती है कि एक बार
उस अनायास महिमा उस हिंसा-तीव्र आनंद
उस दृप्त गरिमा का स्वाद पा सकूँ।

इच्छा होती है कि विश्व के नये-नये स्रोतों से
सकल पात्रों में आनंदमदिराधारा
पीने की साध मिटा सकूँ।

हे सुन्दरी वसुन्धरे,
तुम्हारी ओर देखते हुए
कितनी बार मेरे प्राण अमित उल्लास में
भरकर गा उठे हैं।
इच्छा हुई है समुद्र मेखला वेष्टित
तुम्हारे कटि देश को बलपूर्वक
अपनी छाती से लगा रखूँ
प्रभात की धूप के समान दिशा-दिशा में —
सब जगह व्याप्त हो जाऊँ
अरण्य में पर्वत पर
काँपते हुए पल्लवों की हिल्लोलों पर
आठों पहर नाचता रहूँ,
प्रत्येक कुसुस कलिका को चूमते हुए
सघन कोमल हरे घास के मैदानों को
बाहु-पाश में भरकर
दिन-भर आनंद के झूले पर झूलता रहूँ।
रात में चुपचाप निःशब्द चरण
विश्व-व्यापी नींद बनकर
तुम्हारे समस्त पशु-पक्षियों की आँखों को
अँगुली से सहला दूँ,
प्रत्येक शय्या पर, घोंसले में
घर में, गुफा में, प्रवेश करके
अपने को विस्तृत आँचल के समान फैलाकर
सारे संसार को सुस्निग्ध अंधकार से ढँक दूँ।

तुम बहुत वर्षों की मेरी पृथ्वी हो।
तुमने मुझे मृत्तिका आसन पर बैठाकर
अश्रांत चरण असंख्य रात्रि-दिवस अनंत गगन में
सौर मंडल की प्रदक्षिणा की है युग-युगान्तर तक;

मुझ पर पर तुम्हारे तृण जगे हैं,
राशि-राशि फूल खिले हैं,
वृक्षावलियों ने मुझपर
तुम्हारे फल-फूल-पत्र-गंध
और पराग की वर्षा की है।
इसीलिए आज पद्मा नदी के किनारे
अनमना और एकाकी बैठा हुआ
मुग्ध दृष्टि मैं, संपूर्ण देह और मन से
अनुभव कर रहा हूँ —
किस तरह तुम्हारी मिट्टी से
तृषांकुर सिहरकर निकलते हैं,
किस प्रकार तुम्हारे अंतर में रात-दिन
जीवन रस घटा संचरित होती है,
कुसुम-कलियाँ सुहावने वृन्तों पर
कैसे मुग्ध आनंद से भरकर
खिलने को आकुल हो उठती हैं,
किस रहस्यमयी पुलक में भरकर
किस मुग्ध प्रमोद के रस से तरु-लता-तृण-गुल्म
मातृस्तनपान से श्रांत, परितृप्त प्राण सुखस्वप्रहास्यमुख
शिशु के समान हर्षित हो उठते हैं।
इसीलिए आज जब सुनहले खेतों की पकी हुई बालियों पर
शरद की किरण पड़ रही है,
नारियल के दल प्रकाश में
झिलमिलाकर हवा से काँप रहे हैं,
तब मन में बड़ी व्याकुलता होती है —
भीतर मानो उस दिन की बात जगती है
जब मेरा मन सर्वव्यापी होकर
जल-स्थल-अरण्य-पल्लव-निलय
आकाश की नीलिमा में ओत-प्रोत था।
जान पड़ता है जैसे मुझे बार-बार समस्त भुवन
अव्यक्त स्वर में पुकारकर
बुला रहा है।
उस विचित्र और बृहत् क्रीड़ा-भवन से

जो मिश्रित मर्मर ध्वनि सुन पाता हूँ,
उसे सुनकर ऐसा लगता है मानो वह
सदा के साथियों की नानाविध
आनंद क्रीड़ा का परिचित स्वर हो।
फिर मुझे वहीं बुला लो।
रह-रहकर मन में जो
विरह उठता है, उसे मिटा दो,
जब सामने सांध्य-किरणों से सज्जित
विशाल मैदान देखता हूँ,
जब दूर गोचारण भूमि से गायें
रास्ते में धूलि उड़ाती हुई लौटती हैं,
जब संध्या-काल में
वृक्षों से घिरे हुए ग्रामों की
धूम्र-रेखा उठती हैं,
जब श्रांत पथिक के समान
बहुत धीरे-धीरे नदी के किनारे
निर्जन बालुका-तीर पर
दूर चन्द्रोदय दिखाई पड़ता है;
तब लगता है मानो मैं
कोई निर्वासित एकाकी प्रवासी हूँ
हाथ बढ़ाये हुए सारे बाहर को
अन्तर में समा लेने के लिए
दौड़ा चला जाता हूँ —
यह आकाश, यह धरा
इस नदी पर फैली हुई
शुभ्र-शांत सुप्त ज्योत्स्ना-राशि।
कुछ भी छू नहीं पाता,
केवल शून्य में विवाद से व्याकुल होकर
ताकता रह जाता हूँ।
मुझे उसी सब-कुछ में लौटा लो
जहाँ से दिवस-रजनी-प्राण
शत सहस्र रूपों में
अंकुरित हो रहे ह,

मुकुलित हो रहे हैं
सैकड़ों-लाखों स्वरों में,
गान गुंजरित होता है
असंख्य भंगिमाओं में,
नृत्य उच्छ्वसित हो रहा है,
भाव के स्रोत में चित्त बहा चला जा रहा है,
प्रत्येक छिद्र में बाँसुरी बज रही है;
श्याम कामधेनु के समान तुम खड़ी हो;
और अनगिनत तरु-लता-पशु-पक्षी तृषित जीव-जन्तु
तुम्हें सहस्र दिशाओं से दुह रहे हैं;
कितने रूपों में
आनंद रस की वर्षा हो रही है
दसों दिशाओं में कल्लोल-गीत
ध्वनित हो रहा है।
निखिल के उसी विचित्रानंद को
एक जगह करके सबके साथ एक होकर
एक क्षण में आस्वादन करूँगा।
क्या मेरे आनंद से
तुम्हारे अरण्य श्यामल नहीं होंगे —
क्या प्रभात के आलोक में
किसी नवीन किरण के कंप का संचार नहीं होगा?
मेरे मुग्ध भाव से आकाश और पृथ्वी तल पर
वह हृदय का रंग चढ़ जायगा — जिसे देखकर
कवि के मन में कविता जागेगी;
प्रेमी की आँख प्रणय-मद से भर जायेंगी
और पंछी सहसा गा उठेंगे।
हे वसुधे, सहस्रों प्राणियों के आनंद से
तुम्हारा संपूर्ण शरीर रँगा हुआ है।
कितनी बार अपने जीवन से
प्राण स्रोत तुम्हें सज्जित करके
आया-गया है,
कितने बार तुम्हारी मिट्टी में
अन्तर के प्रेम को मिलाया है,

कितना कुछ अंकित किया है ;
दिशा-दिशा में अपने व्याकुल प्राण का
आलिंगन बिछा दिया है ;
अपने समस्त प्रेम को बड़े यत्न से
उसी प्राण-स्रोत में घोलकर
तुम्हारे अंचल को यत्नपूर्वक जीवित रंगों से रँग दूँगा ;
अपना सब-कुछ देकर तुम्हें सजाऊँगा।
क्या कोई कान मुग्ध नदी के जल से फूटनेवाले मेरे गीत
नहीं सुन पायगा नदी के तीर से !
ऊषा के आलोक में
क्या किसी पृथ्वीवासी को
आँख खोलते ही मेरी हँसी सुनाई नहीं पड़ेगी ?
क्या आज से सौ वर्षों के बाद
उस सुन्दर अरण्य के पल्लवों के भीतर
मेरे प्राण नहीं काँपेंगे ?
घर-घर में अनंत काल तक
सैकड़ों नर-नारी सांसारिक लीलाओं में पड़ेंगे,
क्या उनके प्रेम में मेरा कुछ भी न होगा ?
क्या मैं उनके मुख पर नहीं उतरूँगा हँसी बनकर
क्या प्रकट नहीं होऊँगा
उनकी देह पर सरस यौवन की तरह,
उनके किसी वसंत-दिन में अकस्मात् सुख की तरह,
और क्या उनके मन के कोने में
किसी नवीन उन्मुख प्रेम के अंकुर के रूप में ?
हे मातृभूमि क्या तुम मुझे एकबारगी छोड़ दोगी ?
क्या युग-युगान्तर का महा मृत्तिका बंधन
सहसा ही छिन्न हो जायगा ?
क्या लाखों वर्ष के स्निग्ध उत्संग को छोड़कर
मैं चला जाऊँगा ?
क्या ये सब मुझे चारों ओर से खींच नहीं लेंगे
ये तरु-लता-गिरि-नदी-वन,
यह सदा का सुनील गगन,
यह जीवन से भरा हुआ उदार समीर,

जागृतिपूर्ण आलोक;
समस्त प्राणियों के अंतरतम में
गुँथा हुआ जीवन-समाज ?
मैं तुम्हें घेरकर विचरूँगा
तुम्हारे आत्मीयों के बीच निवास करूँगा;
कीट पशु-पक्षी तक गुल्म लता बनकर
बार-बार तुम्हें पुकारूँगा,
तुम मुझे अपने वक्ष से लगाकर
प्राणमय ऊष्मा का वरदान दोगी;
तुम युगों-युगों तक जन्म-जन्म में
निःशेष करोगी जीवन की शत लक्ष क्षुधा
शत लक्ष गंभीर स्नेह के साथ
आनंद के स्तन्य-रस-सुधा पान से।
उसके बाद मैं धरिणी की युवक सन्तान के रूप में
शिशुवन के अति दूरान्तर महादेश के
सुदुर्गम पथ पर ज्योतित एक समाज की ओर चल पड़ूँगा।
अभी आशा समाप्त नहीं हुई है;
स्तन्य सुधा की प्यास होठों पर है,
अभी तक तुम्हारा मुखड़ा
आँखों में सुन्दर स्वप्न जगा देता है
मैंने अभी तक तुम्हारा पार नहीं पाया है।
सब-कुछ रहस्य से भरा हुआ लगता है;
आश्चर्य-चकित आँखें थाह नहीं पातीं;
मैं अभी तक तुम्हारी छाती से लगे हुए शिशु के समान
तुम्हारा मुख तक रहा हूँ।
हे माता, मुझे अपनी छाती से चिपका लो कसकर —
मुझे अपने अंक में भर रखो;
तुम्हारे विपुल प्राण के विचित्र सुख का निर्झर
जहाँ झर रहा है,
मुझे उसी रहस्यमयी नगरी में ले चलो —
मुझे अपने से दूर मत करो।

'वसुंधरा'

२१ नवम्बर १८९३

(सोनार तरी)

२०

ब्राह्मण

सरस्वती के तीर पर,
वन की अंधकारपूर्ण छाया में
संध्या का सूर्य अस्त हो गया।
वन-वनान्तर से चुनकर
समिध के बोझों को सिरों पर लिये
ऋषि-पुत्रगण निस्तब्ध आश्रम में लौट आये हैं।
स्निग्ध, शान्त आँखोंवाली
थकी होम-धेनुओं को पुकार-पुकारकर
ऋषिकुमारों ने तपोवन के गोहाल में लौटा लिया है।
सन्ध्या-स्नान समाप्त कर
सब-के-सब, होमाग्नि से दीपित कुटीर-प्रांगण में,
गुरु गौतम को घेरकर बैठ गये हैं।
सूने, अनन्त आकाश में
महा शान्ति ध्यानमग्न है।
पंक्ति-की-पंक्ति नक्षत्र-मण्डली,
उत्सुकता से पूर्ण निःशब्द शिष्यों के समान,
बैठी हुई है।

सहसा निभृत आश्रम चौंक उठा।
महर्षि गौतम बोले,
'बालकों! ब्रह्म-विद्या के बारे में बताता हूँ
ध्यान से सुनो।'

उसी समय, अंजलि में अर्घ्य लिये,
तरुण बालक प्रांगण में प्रविष्ट हुआ।

फल, फूल और पत्र से
ऋषि के चरण-कमलों की वन्दना करके,
भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम कर,
सुधा-स्निग्ध स्वर में,
उसने कोकिल-कंठ से कहा,
'मेरा नाम सत्यकाम है,
मैं कुश-क्षेत्र का निवासी हूँ;
ब्रह्म-विद्या सीखने की अभिलाषा से
दीक्षा लेने आया हूँ।'

सुनकर ईषत् मुस्कान के साथ
स्नेह-शान्त वाणी में ब्रह्मर्षि ने कहा,
'कल्याण हो सौम्य!
तुम्हारा गोत्र क्या है?
हे वत्स!
ब्रह्मविद्या पाने के अधिकार केवल ब्राह्मण को है।'

बालक धीरे के बोला,
'भगवन्! गोत्र मैं नहीं जानता।
आज्ञा दे,
माँ से पूछकर कल आऊँगा।'

इतना कहकर ऋषि के चरणों में प्रणाम कर
सत्यकाम गहरी अँधियारी मे
वन-वीथी होकर चला गया।
पैदल ही उसने
स्वच्छ, शान्त, तन्वी सरस्वती को पार कर
सिकता-तट पर
निद्रा से मौन ग्राम के किनारे
अपनी माता की कुटी में प्रवेश किया।

घर में साँझ का दिया जल रहा है
बेटे की राह देखती हुई माता जाबाला

दरवाज़ा पकड़कर खड़ी है।
देखते ही
उसने बेटे को सीने से लगा लिया;
उसका माथा सूँघा, कल्याण-कामना की।
सत्यकाम ने पूछा,
'माँ, बताओ,
मेरे पिता का क्या नाम है?
मेरा जन्म किस कुल में हुआ है?
गौतम के पास मैं दीक्षा लेने गया था।
गुरु ने मुझसे कहा, 'वत्स!
ब्रह्मविद्या पाने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है।'
माँ, मेरा गोत्र क्या है?'

बात सुनकर सिर झुकाये
मीठे स्वर में माता ने कहा,
युवावस्था में, निर्धनता के क्लेश में पड़कर
मैंने कई जगहों पर परिचारिका का काम किया था।
उसी समय मैंने तुमको प्राप्त किया।
तुम्हारा जन्म
पतिविहीना जाबाला की गोद में हुआ था।
बेटा! मैं तुम्हारा गोत्र नहीं जानती।'

दूसरे दिन, तपोवन के तरु-शिखरों पर
नवीन, प्रसन्न प्रभात का उदय हुआ।
जितने भी ऋषि-पुत्र हैं,
पुरातन वट-वृक्ष की छाया में,
गुरु गौतम को घेरकर बैठे हुए हैं।
वे ऐसे दीखते हैं,
मानो, ओस से भींगे, तरुण आलोक हों;
मानो, भक्त के आँसुओ से धुले हुए
नूतन, पुण्यमय सौन्दर्य हों।
प्रातः स्नान से
उनकी सुन्दरता स्निग्ध हो उठी है।

उनकी जटाएँ सिक्त हैं।
उनका सौन्दर्य पवित्र, मूर्ति सौम्य
और शरीर उज्ज्वल है।
वहाँ पक्षियों का काकली-गान,
भ्रमरों की गुंजन-गीति
और जल का कल-कल नाद सुनायी देता है।
उसी के साथ सम्मिलित सुर में,
तरुण कंठों से
शान्त, मधुर, गंभीर साम-गान रहा है गूँज।
इसी समय सत्यकाम ने पास आकर
गुरु के चरणों में प्रणाम किया।
निश्छल आँखों को खोले
वह नीरव खड़ा रहा।
तब आशीष देकर आचार्य ने पूछा,
'हे सौम्य ! हे प्रियदर्शन !
तुम्हारा गोत्र क्या है ?'
बालक ने सिर उठाकर कहा,
'भगवन् !
नहीं जानता कि मेरा गोत्र क्या है।
माँ से मैंने पूछा था ;
कहा उन्होंने 'सत्यकाम !
बहुत घरों में दासी का काम करके
मैंने तुम्हें प्राप्त किया था।
तुम पतिविहीना जाबाला की गोद में जनमे थे।
तुम्हारा गोत्र मैं नहीं जानती।'

यह बात सुनकर
विद्यार्थीगण मन्द स्वर में लगे भुनभुनाने,
मानो, मधु के छत्ते में ढेला मारा हो
और मधुमक्खियाँ विक्षिप्त, चंचल हो उठी हों।
सब विस्मय से व्यग्र हो उठे।
निर्लज्ज अनार्य का अहंकार देख
कोई तो हँसा, किसी ने धिक्कार किया।

तो गौतम ऋषि आसन से उठे;
बाँहें खोल उन्होंने बालक का आलिंगन किया
और कहा,
'बेटा, तुम अब्राह्मण नहीं हो।
तुम सत्य के वंश में जनमे हो;
तुम द्विजोत्तम हो।'

१८ फरवरी, १८९५

'ब्राह्मण'
(चित्रा)

जीवन देवता

हे अन्तरतम,
क्या मेरे अन्तर में आकर तुम्हारी सारी प्यास मिट गयी है?
अपने वक्ष को दलित द्राक्षा के समान निठुरता से निचोड़कर
सुख-दुःख को लक्ष-लक्ष धाराओं से
तुम्हें पात्र भरकर दिया है मैंने।
कितने वर्णों, गन्धों, रागों और छन्दों को
गूँथ-गूँथकर तुम्हारी वासर शय्या रची है —
तुम्हारे क्षणिक खेल के लिए प्रतिदिन
वासना का सोना गलाकर नित्य नयी मूर्ति बनायी है।

तुमने न जाने क्या सोचकर
स्वयं मुझे वरण कर लिया था।
अन्तरतम के निर्जन में निवास करते हुए
हे जीवन नाथ, क्या तुम्हें मेरी रात, मेरा प्रभात,
मेरे क्रीड़ा कौतुक, मेरे काम-धाम अच्छे लगे हैं?
क्या तुमने सुना है अपने सिंहासन पर अकेले बैठकर
वर्षा शरद वसंत और शीत में
वह संगीत जिससे ध्वनित हुआ है मेरा हृदय?
क्या तुमने अपने अंचल में मानस-कुसुम को चुनकर
माला गूँथी है, उसे गले में धारण किया है —
क्या तुमने मेरे यौवन के वन में इच्छापूर्वक भ्रमण किया है?

क्या तुमने ध्यान से देखा है मेरे मर्म को?
हे बन्धु, क्या तुमने मेरी भूल-चूक

और पतन को माफ़ किया है ?

पूजाहीन दिन, सेवाहीन रात
हे नाथ कितनी बार आ आकर लौट गये हैं —
खिलकर झर गये हैं अर्घ्य-कुसुम विजन वन में
वीणा के तार को जिस सुर में चढ़ाया था
वह बार-बार उतर गया है —
हे कवि, क्या मैं
तुम्हारी रची हुई रागिनी गा सकता हूँ।
मैं तुम्हारे उपवन को सींचने को गया
और छाया में लेटकर सो गया,
और अब शाम होने पर
भर लाया हूँ आँखों में अश्रुजल।

हे प्राणेश, जो कुछ मेरा था —
जितना सौन्दर्य, जितना संगीत
जितना प्राण, जागरण और घोर निद्रा
क्या वह सब कुछ चुक गया है ?
क्या बाहु-बंधन शिथिल पड़ गया है
क्या मेरा चुम्बन हो गया मदिराविहीन,
क्या जीवन कुंज में अभिसार रात्रि का हो गया विहान ?
तो फिर आज की सभा भंग कर दो,
नया रूप, नयी शोभा लेकर आओ,
फिर से नूतन बनाकर ग्रहण करो मुझ चिर पुरातन को।
नूतन परिणय-बंधन से मुझे बाँधो नवीन जीवन डोर में।।

११ फरवरी १८९६

'जीवन देवता'
('चित्रा')

२२

दीदी

नदी-कछार, मजूर पछाँही, लौंदे माटी काटकर
ईंट-पजावा लगवाता है। उसकी छोटी-सी बिटिया
करती रहती आवाजाही दौड़-दौड़कर घाट पर,
लिये हाथ मे कितनी मॅजी-घिसी थलिया, बटिया, लुटिया।
दिन में सौ-सौ बार दौड़ती आती। पीतल के कंगन
पीतल की थाली से टकराकर, बजते रहते हैं ठन्-ठन्!
दिन-भर बड़ी जुटी रहती है। छोटा भाई नंग-धड़ंग,
घुटा हुआ सिर, कीचड़ में लिपटे-लिथड़े-से सारे अंग,
किसी पालतू पंछी-सा पीछे-पीछे आया करता।
दीदी के कहने से ऊँचे तट पर सुस्ताया करता
बैठा-बैठा स्थिर धीरज से। माथे लेकर भरा घड़ा,
बाईं काँख तले दबाकर थाली, दायें कर से पकड़ा
शिशु भाई का हाथ, बलिका लौट चली। सीधी-सादी
यह माँ की प्रतिनिधि, कर्म-भार-नत इतनी छोटी दीदी।

२ अप्रैल १८९६ [illegible]
आनु॰ १३ आश्विन १८७९ शक (चित्रा)

२३
दुःसमय

यद्यपि संध्या मंद-मंथर गति से, उतरती आ रही है।
सारा संगीत उसके इशारों से ठमक गया है,
यद्यपि अनंत आकाश में कोई साथी नहीं है,
यद्यपि अंग-अंग में क्लान्ति उतर आयी है,
महा आशंका जप कर रही है मौन मंत्र का,
दिग्‌दिगंत अवगुण्ठन से ढँका हुआ है,
तो भी ऐ विहंग, अरे, ओ मेरे विहंग,
अंधे मेरे, अभी पंख बन्द मत कर।

यह (जो सामने दिख रहा है वह)
मर्मर-गुंजन द्वारा मुखरित वन नहीं है,
अजगर की तरह फुफकारता यह समुद्र उफन रहा है।
यह (जो सामने दिखाई दे रहा है वह) कुंदकुसुम-रंजित कुंज नहीं है,
(यह तो) फेन का हिल्लोल कल कल्लोल करता काँप रहा है।
अरे फूल-पल्लवों से पुञ्जित यह तीर कहाँ है ?
कहाँ है वह नीड़, कहाँ है आश्रय देनेवाली शाखा ?
तो भी ऐ विहंग, अरे, ओ मेरे विहंग,
अंधे मेरे, अभी पंख बन्द मत कर।

अभी भी सामने लम्बी रात पड़ी हुई है,
अरुण सुदूर अस्ताचल में सोया हुआ है,
सारा विश्व साँस रोककर
एकान्त में स्तब्ध आसन मारकर घड़ी-पहर गिन रहा है।
अभी ही तो दिखाई दिया है अकूल अंधकार को पार कर

दूर दिगंत में (निकला हुआ) क्षीण बाँका चन्द्रमा
ऐ विहंग, अरे, ओ मेरे विहंग,
अंधे मेरे, अभी पंख बन्द मत कर!

ऊपर आकाश में तारागण अंगुलि उठाकर,
करते इशारे तुम्हारी ओर देख रहे हैं।
नीचे अभी अधीर मरण उछलता हुआ
सौ-सौ तरंगों में (उद्वेलित हो) तुम्हारा ओर दौड़ रहा है।
बहुत दूर तीर पर कुछ लोग हाथ जोड़ पुकार रहे हैं —
'आओ आओ' (कहकर) करुण विनती-भरी आवाज़ में।
ऐ विहंग, अरे, ओ मेरे विहंग,
अंधे मेरे, अभी पंख बंद मत कर!

अरे भय नहीं है, स्नेह मोह का बंधन नहीं है,
अरे आशा भी नहीं है, आशा तो सिर्फ़ धोखा है।
अरे भाषा नहीं है, वृथा बैठकर रोना भी नहीं है,
अरे घर नहीं है, फूलों की सेज की रचना भी नहीं है।
है केवल पंख, है महा आकाश का यह प्रांगण,
जिसमें ऊषा खो गयी है और निविड़ अंधकार अंकित है।
ऐ विहंग, अरे, ओ मेरे विहंग,
अंधे मेरे, अभी पंख बंद मत कर!

२७ अप्रैल, १८९७

'दुःसमय'
(कल्पना)

२४

देवता का ग्रास

गाँव-गाँव में यही एक बात गूँज उठी —
मैत्र महाशय जायेंगे गंगा सागर, तीरथ करने।
संगी-साथी जमा हो गये, बालक-वृद्ध नर-नारी न जाने कितने;
दो नावें तैयार होकर आ लगीं घाट पर
पुण्य-लोभातुर मोक्षदा ने आकर कहा,
'दादा ठाकुर मैं भी आपके साथ चलूँगी।'
विधवा युवती, उसकी दो करुण आँखें युक्ति नहीं मानतीं,
केवल विनती करतीं है —
उसके अनुरोध को टालना बहुत कठिन है।
'अब जगह कहाँ है ?'
मैत्र महाशय उससे बोले।
विधवा ने रोकर कहा, 'जगह बना लूँगी
किसी तरह से एक कोने में।'
मन भींग गया, फिर भी दुविधा-भरे स्वर में
ब्राह्मण ने उससे पूछा,
'और इस छोटे-से लड़के का क्या करेगी ?'
नारी ने उत्तर दिया, 'राखाल ?
वह रहेगा अपनी मौसी के पास।
उसके जन्म के बाद बहुत दिनों तक
मैं सूतिका-ज्वर से पीड़ित रही,
बचने के आशा नहीं थी;
तभी अन्नदा ने अपने बच्चे के साथ-साथ
उसे भी दूध पिलाकर पाला-पोसा —

तभी से लड़का मौसी की छाया में है
माँ की गोदी को छोड़कर।
बड़ा ही शरारती है, किसी की नहीं सुनता
अगर डाँटो तो मौसी आँखों में आँसू भरे आ जाती है
और इसे गोद में खींच लेती है।
वह सुख से रहेगा
मेरे बदले अपनी मौसी के पास।'

ब्राह्मण ने बात मान ली
मोक्षदा तुरत आ गयी बाँधकर बोरे-बस्ते
प्रणाम करके गुरुजनों को,
सखियों के दल में बहाकर विदाई के दुख-भरे आँसू।
घाट पर आकर देखती है
उसके पहले ही भागकर राखाल आ बैठा है
नाव के ऊपर निश्चित और नीरव।
'तू यहाँ क्यों आया रे?' माँ ने पूछा
उसने कहा, 'गंगा-सागर जाऊँगा।'
'बड़ा आया गंगा-सागर जानेवाला।
चल, नीचे उतरकर आ दुष्ट।'
फिर आँखों में आँखे मिलाकर
वे ही दो शब्द कहे, 'जाऊँगा गंगा सागर।'
उसका हाथ पकड़कर बहुत खींचा-तानी की,
लेकिन वह नौका को जकड़े ही रहा।
अंत में ब्राह्मण ने करुणा और स्नेह के साथ
हँसकर कहा, 'रहने दो, रहने दो; साथ चलेगा।'
माँ ने गुस्से में भरकर कहा,
'चल तुझे समुद्र में डुबाकर चली आऊँगी।'
जैसे ही यह बात खुद उसके कान में गयी
वैसे ही माँ की छाती
पश्चात्ताप के तीर से भिदकर रो उठी।
आँखें मूँदकर स्मरण किया, 'नारायण-नारायण'
बेटे को गोद में खींच लिया
उसके सारे शरीर पर प्यार के साथ

करुण-कल्याण हस्त फेरने लगी।
मैत्र महाशय ने उसका नाम लेकर धीरे से कहा,
'छिः छिः ऐसा नहीं कहते।'
तय हो गया, राखाल साथ जायगा।
अन्नदा ने लोगों के मुँह से बात सुनी।
दौड़ती हुई आयी और बोली,
'तू कहाँ जायेगा बेटा!'
राखाल ने हँसकर कहा,
'जा रहा हूँ सागर, फिर आऊँगा मौसी।'
अन्नदा ने पागलों की तरह चिल्लाकर कहा
'ठाकुर दा' बड़ा शरारती है मेरा राखाल,
कौन सँभालेगा उसे?
जनम से ही अपनी मौसी को छोड़कर
देर तक कहीं और नहीं रहा :
इसे कहाँ ले जाओगे!
वापस मुझे दे दो!'
राखाल ने कहा,
'मौसी के संग जाऊँगा सागर, लौटकर आऊँगा मैं।'
ब्राह्मण ने स्नेह से कहा,
'जब तक मैं हूँ तुम्हारे राखाल को कोई भय नहीं है,
सर्दी के दिन हैं, नदी-नद शांत हैं,
हज़ारों यात्री आ-जा रहे हैं,
रास्ते में डर की कोई बात नहीं है,
आने-जाने में दो-एक महीने लगेंगे —
उसके बाद तुम्हारा राखाल लाकर तुम्हें लौटा दूँगा।'
शुभ-मुहूर्त में दुर्गा का नाम लेकर नौका खोल दी गयी।
घाट पर खड़ी रह गयीं
कुल-नारियाँ आँखों में आँसू भरे
चूर्णी नदी के किनारे हेमन्त के प्रभात-शिशिर में
गाँव झिलमिला रहा था।

मेला समाप्त हो गया, यात्रीगण लौटने लगे।
ज्वार की आशा में दोपहर को

तीर पर बँधी हुई थी नौका।
बच्चे की उत्सुकता पूरी हो चुकी थी,
मौसी की गोद के लिए राखाल का मन
घरमुँहा होकर रो रहा था।
पानी, केवल पानी-ही-पानी देखते-देखते
उसका मन विकल हो चला था।
चिकना, काला, कुटिल, निष्ठुर,
सर्प की तरह लोलुप और लपलपाती हुई जीभ-जैसा
क्रूर, लोलुप, छल से भरा हुआ जल
लाखों फन उठाकर फुंकारता है
गरजता है और कामना करता है
नित्य लालायित मुख से माटी के बेटों को निगलने की।
हे स्नेहमयी, मौन-मुग्ध माटी,
हे स्थिर, हे ध्रुव, हे पुरातन,
हे सर्वंसहा, आनन्द-भवन, श्यामल-कोमल,
कोई कहीं भी क्यों न हो
तुम उसे दोनों हाथ बढ़ाकर
रात-दिन खींचती रहती हो, हे मुग्धे
न जाने किस विपुल आकर्षण से भरकर
अपने दिगत विस्तृत वक्ष की ओर।

चंचल बालक पल-पल में आकर
पूछता है अधीर और उत्सुक होकर,
'ठाकुर दा, आज भला कब आयगा ज्वार ?'

सहसा शांत जल में आवेग संचार हुआ :
दोनों किनारे आशा के संवाद से चत उठे।
नाव का मुख घूम गया
हल्के आर्त्तनाद के साथ रस्सी खिंच गयी,
सिंधु का विजय-रथ,
कल-शब्द-संगीत के साथ नदी में प्रविष्ट हुआ —
ज्वार आ गया !
माँझियों ने भगवान् का नाम लेकर

नाव को उत्तर दिशा की ओर छोड़ दिया।
राखाल ने ब्राह्मण के पास आकर पूछा,
'कितने दिनों में देश पहुँच जायँगे हम ?'

सूर्य के अस्त होते-न-होते
दो-एक कोस के बाद उत्तर वायु की गति बढ़ चली।
रूपनारायण नदी के मुख पर बालूचर है
वहाँ सकीर्ण नदी पथ में
उत्तर समीर और ज्वार की धारा में
भयंकर युद्ध छिड़ गया।
यात्री-दल बार-बार चिल्लाकर कहने लगा,
'नाव को किनारे पर ले चलो।'
कहाँ है किनारा ! चारों ओर विक्षिप्त और पागल लहरें
अपने लाखों हाथों से ताली बजा-बजाकर
कर रही हैं भयकर नृत्य
फेनिल आक्रोश में भरकर
दे रही हैं आकाश को गालियाँ
एक ओर बहुत दूरी पर दिखाई देती है
नील वन रेखा किनारे के उस पार —
दूसरी ओर लोलुप, क्षुब्ध, हिंस्र, जलराशि
शांत सूर्यास्त की ओर उछलती हुई उद्धत विद्रोह से भरकर।
नौका डगमग डोलती है,
अशांत मूर्ख पागल की तरह;
किसी प्रकार वश में नहीं आती !
तेज़ और ठण्डी हवा का झोंका और तेज़ ठण्डी कसक
मिलकर नर-नारियों को थर-थर कँपा रहे हैं।
कोई चुपचाप है, कोई आत्मीयों के नाम ले-लेकर
चिल्ला-चिल्लाकर रो रहा है।
मैत्र महाशय का मुख सूखकर पीला पड़ गया है,
वे आँखें बंद करके जाप किये जा रहे हैं।
राखाल माँ की छाती में मुँह छुपाकर

चुपके-चुपके सिसक रहा है।
तभी परेशान माँझियों ने सबसे पुकारकर कहा,
भाइयो तुममे से किसी ने कोई मन्नत माँगी थी;
उसे पूरा नहीं किया इसीलिए असमय ही
इतनी लहरे उठ रही हैं,
ऐसा तूफ़ान आया है।
अब सुनो. मन्नत पूरी करो
क्रुद्ध देवता से खिलवाड़ मत करना।'
जिसके पास जो कुछ था
रुपया-पैसा, कपड़े-लत्ते
बिना कुछ सोचे-विचारे. सब-का-सब
लोगों ने जल मे विसर्जित कर दिया।
तो भी उसी समय एक भयंकर तरंग के साथ
देखते-ही-देखते नाव में पानी भर गया
माँझियों ने फिर से कहा,
'कौन लिये आ रहा है वापस, देवता का धन!
बोलो, अभी बोलो!'
तभी एकाएक ब्राह्मण कह उठा, मोक्षदा की ओर इशारा करके
'यह औरत वापस लिये जा रही है
देवता को सौंप देने के बाद अपना बेटा'
सारे-के-सारे निष्ठुर यात्री
एक साथ चिल्ला पड़े, 'फेंक दो उसे।'
स्त्री ने कहा, 'हे दादा ठाकुर,
रक्षा करो, रक्षा करो।'
और उसने राखाल को दोनों हाथों से
पूरी शक्ति के साथ छाती से चिपका लिया!
भर्त्सना करते हुए गरजकर ब्राह्मण ने कहा,
'मैं करूँगा तेरी रक्षा!
क्रोध सब-कुछ भूलकर देवता को दे डाला,
माँ होते हुए भी अपना बच्चा!
अब मैं उसकी रक्षा करूँगा!
देवता का ऋण देवता को चुका!

वचन-भंग करके डुबा देगा क्या
इतने तमाम यात्रियों को सागर जल में!'
मोक्षदा ने कहा, 'मैं महामूरख नारी हूँ;
हे अन्तर्यामी, जो कुछ मैंने गुस्से में आकर कहा
क्या वही सच हो गया!
हे भगवान्, क्या सुनते ही उसी समय
तुम समझ नहीं गये थे उस बहुत बड़े मिथ्या को!
हे देवता, क्या तुमने केवल मुँह की बात सुनी।
माँ के मन की बात नहीं सुनी।'

तब सारे माँझियों और केवटों ने
मिलकर और बलपूर्वक
राखाल को छीन लिया माँ की छाती से।
मैत्र ने आँखे बन्द कर लीं, मुँह फेर लिया
कानों पर हाथ धर लिये, और दाँत भींच लिये।
जैसे किसी ने सहसा उसके मर्म-मर्म पर
बिजली के चाबुक लगाये हों:
बिच्छुओं ने डंक मारे हों।
'मौसी! मौसी! मौसी!'
निरुपाय अनाथ की अंतिम पुकार
कानों में अग्नि-शलाका बनकर धँस गयी
कर उठा चीत्कार ब्राह्मण, 'रुको! रुको! रुको!'
स्तब्ध होकर देखा
मोक्षदा उसके पाँवों में मूर्छित पड़ी है।
एक क्षण बिखरती हुई लहरों मे
घबरायी हुई आँखें खोलकर
'मौसी' कहकर पुकारकर विलीन हो गया
अनन्त तिमिर जल मे बालक!
केवल छोटी-सी मुट्ठी एक बार
व्याकुल-बल लगाकर ऊपर की ओर उठी,
शून्य में सहारा खोजकर

हताश होकर डूब गयी
'तुझे वापस लाऊँगा' — चिल्लाकर
तत्काल ब्राह्मण पानी में कूद पड़ा
और फिर नहीं दिखा !
सूर्य डूब गया अस्ताचल पर।

२९ अक्तूबर १८९७

'देवतार ग्रास'
(कथा ओ काहिनी)

२५

अभिसार

(बोधिसत्वावदान कल्पलता)

उपगुप्त संन्यासी
एक बार मथुरापुरी के प्राचीर-तले सोये हुए थे।
हवा से नगर के दीप बुझ गये हैं।
पुरी के भवनों के द्वार बन्द हैं।
निशीथ-नक्षत्र-श्रावण-गगन के सघन मेघों में लुप्त हैं।

सहसा किसका नूपुर-शिंजित पद छाती पर बज उठा ?
श्रेष्ठ संन्यासी चौंककर जाग उठे,
पलकों से स्वप्न की जड़ता भाग गयी।
दीपक का प्रखर आलोक क्षमा-सुन्दर आँखों पर पड़ा।

यौवन-मद-मत्ता नगर-नर्तकी अभिसार को जा रही है।
अंग पर नीले रंग का आँचल है,
रुन-झुन स्वर में उसके आभरण बजते हैं
संन्यासी के शरीर पर पाँव पड़ते ही वासवदत्ता रुक गयी।

दीपक लेकर उसने उनकी नवीन, गौर कान्ति को देखा,
सौम्य सस्मित तरुण मुख को देखा,
करुणा की किरण से प्रफुल्ल नयनों को देखा।
उनके शुभ्र ललाट पर इन्दु के समान स्निग्ध शान्ति चमक रही है।

आँखों में लज्जा भरकर रमणी ने ललित कंठ से कहा —
'हे किशोर ! हे कुमार ! मुझे क्षमा करो,

यदि मेरे घर चलो तो मुझ पर कृपा होगी,
यह धरणी कठोर है, यह तुम्हारी शय्या के योग्य नहीं।'

करुण स्वर में संन्यासी ने कहा 'अरी ओ लावण्यमयी!
अभी तो मेरा समय नहीं हुआ,
धनी! जहाँ जा रही हो, जाओ।
जब समय आयगा, मैं स्वयं तुम्हारे कुंज पहुँच जाऊँगा।''

सहसा झंझा ने तड़ित्-शिखा में विशाल मुँह खोला;
वायु में प्रलय-शंख बज उठा,
रमणी भय से काँप उठी,
आकाश मे बिजली घोर परिहास मे अट्टहास कर उठी।

वर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ, चैत की सन्ध्या आ गयी है।
वायु आकुल-व्याकुल हो उठी है
पथ-वृक्षों की शाखाओं में कलियाँ लग गयी हैं,
राज-वाटिका में बकुल, पाटल और रजनीगंधा फूल रही हैं।

बहुत दूर से वायु में बाँसुरी की मदिर-मंद्र ध्वनि आ रही है।
पुरी जनहीन है; सभी पुरवासी
पुष्पोत्सव के लिए मधुवन गये हैं।
नगरी को निर्जन देख पूर्णेन्दु नीरवता में हँस रहा है।

चाँदनी में निर्जन मार्ग पर संन्यासी अकेले जा रहे हैं।
तरु-वीथिका में बैठा कोकिल
सिर के ऊपर बार-बार कूक उठता है,
इतने दिनों बाद क्या आज उनकी अभिसार-रात्रि आयी है?

नगर छोड़कर दण्डी बाहर प्राचीर के पास गये।
परिखा पार कर वे खड़े हो गये।
आम्रवन की छाया के अंधकार में,
एक ओर उनेक चरणों के पास वह कौन रमणी पड़ी है?

निर्दय रोग के दानों से उसकी देह भर गयी है।
रोग कालिमा से उसका शरीर काला पड़ा है,
उसके विषाक्त संग से बचने के लिए
लोगों ने उसे उठाकर परिखा के पार फेंक दिया है।

संन्यासी ने बैठकर उसके अवश मस्तक को अपनी गोद में लिया,
उसके सूखे अधरों में जल डाला,
मस्तक के ऊपर मंत्र का पाठ किया,
और अपने हाथों से शरीर पर शीतल चंदन का लेप चढ़ा दिया।

मंजरी झर रही है, कोकिल कूकते हैं, यामिनी ज्योत्स्ना से प्रमत्त है।
'तुम कौन आ गये है दयामय ?'
नारी ने पूछा। संन्यासी ने कहा,
'आज रात देर हो गयी, वासवदत्ते ? यह मैं आया हूँ।'

अक्तूबर १८९९

अभिसार
(कथा ओ काहिनी)

२६

गान्धारी का आवेदन

दुर्योधन — तात, चरणों में प्रणाम करता हूँ।

धृतराष्ट्र — अरे दुराशय
हो गया अभीष्ट प्राप्त ?

दुर्योधन — विजय प्राप्त की है।

धृतराष्ट्र — अब तो सुखी हुए ?

दुर्योधन — विजयी हुआ हूँ।

धृतराष्ट्र — ओ दुर्बुद्धि! अखण्ड राज्य जीतकर भी
तुम्हारा सुख कहाँ है ?

दुर्योधन — सुख नहीं चाहता महाराज !
विजय चाहता हूँ। विजय की मैंने इच्छा की थी
और आज मैं जयी हूँ।
हे कुरुपति !
क्षुद्र सुख से क्षत्रिय की क्षुधा नहीं मिटती।
दीप्त ज्वाला के समान, तरल अग्नि के समान
जय-रस का अमृत, जो ईर्ष्या-सिन्धु के मंथन से उत्पन्न होता है,
मैंने अभी-अभी उसका पान किया है।
तात, सुखी नहीं, आज मैं विजयी हूँ।
हे पिता ! जब कौरव-पाण्डव एकत्र बँधे थे,

जैसे शशांक के हृदय में कालिमा,
तब मैं सुख में था, (एक ऐसे) सुख में
जो निष्क्रिय, गर्वरहित और दीप्तिहीन होता है।
सुख में था, जब पाण्डव की गाण्डीव-टंकार के
शंकित शत्रु द्वार पर नहीं आते थे।
सुख में था, जब पाण्डवगण जयदृप्त करों से
पृथ्वी का दोहन कर, भ्रातृ-प्रेम में भरकर,
मुझे उसका भाग देते थे; जब नित्य नये सुख भोगों
और अनन्त क्रीड़ाओं में मेरा मन चिंता-मुक्त रहता था।
सुख में था, जब पाण्डवों की जयध्वनि प्रतिध्वनित होकर
कौरवों की श्रुतियों पर आघात करती थी;
जब पाण्डवों के यशोबिम्ब-प्रतिबिम्ब आकर
अपनी उज्ज्वल उँगली से कौरवों के
मलिन कक्ष को इंगित करते थे।
हे पिता, मैं सुख में था, जब अपने समग्र तेज को
शमित करके, पाण्डवों के गौरव के नीचे
स्निग्ध, शान्त रूप मे जीता था,
जैसे हेमन्त के मेंढक जड़ता के कूप में जीते हैं।
आज पाण्डु के पुत्र पराभव वहन करके
वन को जा रहे हैं; आज मैं सुखी नहीं,
आज में जयी हूँ।

धृतराष्ट्र तुम्हारे भ्रातृ-द्रोह को धिक्कार है।
पाण्डवों और कौरवों के पितामह एक हैं,
क्या यह भूल गया?

दुर्योधन उसे नहीं भूल सकता।
किन्तु एक पितामह के होने पर भी धन, मान और तेज में
सब एक नहीं होते। यदि (नाते में) दूर का कोई और होता
तो क्षोभ की बात नहीं थी। शर्वरी का चाँद
दोपहर दिन के सूर्य से द्वेष नहीं करता,
किन्तु, प्रातःकाल प्राची के उदयशिखर पर;

भाई के बने हुए, दो सूर्यलोक तो
किसी प्रकार भी अमा नहीं कर सकते।
आज द्वन्द्व समाप्त हो गया, आज मैं जयी हूँ,
आज मैं (प्रतिद्वन्द्वियों से मुक्त) अकेला हूँ।

धृतराष्ट्र — ईर्ष्या क्षुद्र है।
वह विषैली नागिन है।

दुर्योधन — ईर्ष्या क्षुद्र नहीं, महान् है।
ईर्ष्या बड़ों का धर्म है। लाखों तृण घुल-मिलकर
एक साथ रहते हैं, किन्तु, दो विशाल वृक्षों के बीच
अवकाश रखा जाता है।
भ्रातृत्व के बन्धन में असंख्य नक्षत्र एक साथ रहते हैं,
किन्तु, सूर्य अकेला है, चंद्रमा अकेला है,
मलिन किरणों के साथ पाण्डु चंद्र-लेखा
आज दूर वनान्तराल में डूब गयी।
आज कुरु-सूर्य मात्र एक है।
आज मैं विजयी हूँ।

धृतराष्ट्र — आज धर्म हार गया।

दुर्योधन — पिता, लोक-धर्म और राज-धर्म एक नहीं है।
लोक-समाज में जो समकक्ष व्यक्ति हैं,
वे परस्पर सहायक और निर्भर करने योग्य मित्र होते है।
किन्तु, राजा एकेश्वर होता है। जो उसका समकक्ष है,
वह उसका महाशत्रु है, विघ्न है, दुश्चिंता का स्थान है;
सामने हो तो अवरोध है, पीछे हो तो भय है।
(वह उसके ऐश्वर्य के अंश का हरण करनेवाला है;
रात हो या दिन (उसके) यश, शक्ति और
गौरव का क्षय (करनेवाला) है।
साधारण लोग अपने बान्धवों के साथ
बल का बँटवारा कर लेते हैं (और उससे वे)
शक्तिशाली बने रहते हैं।

(किन्तु) राजदण्ड के जितने ही खंड होते हैं,
उतनी ही उसमें दुर्बलता आती है,
उतना ही उसका क्षय होता है।
राजा यदि अपने मस्तक को सबसे ऊपर अकेला
(प्रतिद्वन्द्वी से मुक्त) न रखे, यदि जन साधारण
बहुत दूर से उसके समुद्धत सिर को
बराबर अप्रतिहत और स्थिर न देख सके,
तो दूर-दूर तक जनता पर
उसकी शासन-दृष्टि कैसे रहेगी ?
राजधर्म में भ्रातृधर्म और बन्धुधर्म नहीं,
केवल जय-धर्म है महाराज ! कैसे इसी से,
इसीसे आज मैं कृतार्थ हूं, आज मैं जयी हूं
पंचशिखरमय पाण्डवरूपी गौरव-शैल
मेरे सामने का व्यवधान था जो
वह आज डूब गया है।

धृतराष्ट्र — जिसे तूने कपटद्यूत से जीता,
अरे ओ लज्जाहीन अहंकारी !
उसे जय कहता है ?

दुर्योधन — जिसका जिसमें बल है, वही उसका युद्ध-साधन,
वही उसका अस्त्र है पिता ! नख और दन्त में
हम व्याघ्र के समान नहीं है। तो क्या धनुष-बाण से
उसका वध करके कोई मनुष्य लज्जा का अनुभव करता है ?
मूढ़ के समान मृत्यु के बीच कूदकर
आत्म-समर्पण (प्राण-विसर्जन) करना युद्ध नहीं है।
युद्ध का एकमात्र लक्ष्य है वरण विजय का।
पिता ! आज मैं जयी हूँ, इसीसे अहंकार है।

धृतराष्ट्र — आज तुम विजयी हो, इसीसे तुम्हारी निन्दा-ध्वनि ने,
संपूर्ण धिक्कार से, आकाश और अवनी को
परिपूर्ण कर दिया है।

दुर्योधन — निन्दा ? निन्दा से अब और नहीं डरता।
(लोगों) का कंठ रुद्ध करके निन्दा को ध्वस्त कर दूँगा।
उसकी दर्पपूर्ण जिह्वा को दृढ़ बल से पाँवों-तले दबाकर
मुखरा नगरी कर दूँगा निस्तब्ध।
— दुर्योधन पापी है, दुर्योधन क्रूरमना है, दुर्योधन हीन है
यह सब इतने दिनों से निरुत्तर ही सुनता आया हूँ।
महाराज ! राजदण्ड का स्पर्श करके कहता हूँ,
जितने भी पामर लोग हैं, उनसे आज मैं कहवाऊँगा
कि दुर्योधन राजा है,
दुर्योधन राजनिन्दा
और आलोचना नहीं सह सकता।
दुर्योधन अपनी कीर्ति का वहन
अपनी ही बाँहों पर करता है।

धृतराष्ट्र — हे वत्स.. सुनो !
निन्दा को जिह्वा से निर्वासित करने पर
वह निम्नमुखी हो जाती है और अपने जटिल मूल को
हृदय के गहनगूढ़ अंधकार में दूर-दूर तक फैला देती है
तथा चित्त को सतत् विषतिक्त किये रहती है।
रसना पर चंचल-चपल नृत्य करते-करते
निन्दा स्वयं श्रान्त हो जाती है।
उसे हृदय-दुर्ग में गुप्त और निःशब्द होकर
अपनी शक्ति-वृद्धि करने मत देना।
निन्दा-रूपी सर्पो को प्रेम के मंत्र-बल से शान्त करो,
हँसते-हँसते वंशी की ध्वनि से बन्दी बना लो !

दुर्योधन — अव्यक्त निन्दा राज-गौरव को कोई क्षति नहीं पहुँचाती।
उस ओर मैं भ्रू-क्षेप भी करता नहीं।
प्रीति न पाऊँ तो मुझे कोई खेद नहीं। किन्तु महाराज !
मैं स्पर्धा नहीं चाहता।
प्रीतिदान तो अपनी इच्छा के अधीन है।
दरिद्र-से-दरिद्र व्यक्ति भी प्रीति की भीख दे सकता है।

वह प्रीति लोग पालतू बिल्लियों के दे दें,
दरवाज़े के कुत्तों और पाण्डव-बन्धुओं को दे दें।
उससे मुझे कोई मतलब नहीं। मैं भय माँगता हूँ,
वही मेरा राजप्राप्य है। अहंकारी का अहंकार मिटाकर
मैं चाहता हूँ विजय। पितृदेव! मेरा निवेदन सुनिये,
इतने दिनों तक, कँटीले वृक्षों के समान कठोर प्राचीर द्वारा
आपके और मेरे बीच व्यवधान रचकर,
मेरे निन्दकों का दल आपके सिंहासन को बराबर घेरे हुए था
उसने आपको सदैव पाण्डवों का गुण-गान
और हमारी निन्दा गायी है। इस प्रकार, हे पिता!
हम लोग पितृ-स्नेह से, बहुत दिनों से, निर्वासित रहे हैं
इसी तरह, हे पिता! बचपन से ही,
हम लोग हीनबल (हतोत्साह) रहे हैं।
पितृ-स्नेह-स्रोत के उद्गम पर पाषाण की बाधा पड़ गयी।
इसीलिए, हम उस शीर्ण नदी के समान
नष्टप्राण, क्षीण और गति एवं शक्ति से हीन हो गये
जो पद-पद पर बाधित हैं।
किन्तु, पाण्डव, अखण्ड रूप से, उत्साह से फूले रहे;
उनकी गति अबाध रही। पिता, आज से हम निन्दक-दल
(अर्थात् संजय, विदुर और भीष्म पितामह) को
सिंहासन के पास से, यदि दूर नहीं करेंगे,
यदि वे लोग पंडित के वेश में
हित-कथा, धर्म-कथा और साधु-उपदेश के क्रम में
पल-पल युक्ति-पूर्वक मेरी निन्दा करेंगे और धिक्कारेंगे
तो राजकर्म की डोर छिन्न-भिन्न हो जायगी
मेरे राजदण्ड को वे भाराक्रान्त बना देंगे;
राज-शक्ति में पद-पद पर बाधा पड़ेगी,
अपमान और ग्लानि से मुकुट मलिन और निस्तेज होगा।
(यदि आप निन्दकों को नहीं हटाते) तो पितृदेव!
क्षमा करें, सिंहासन की शूल-शय्या पर
सोने से मुझे कोई काम नहीं।
पाण्डवों के साथ, राज्य देकर, वनवास का विनिमय
कर लूँ और मैं ही निर्वासन में चला जाऊँ।

धृतराष्ट्र — हाय अभिमानी पुत्र ! सुहृदयों का कठोर निन्दा-वाक्य सुनकर
यदि मेरे पितृ-स्नेह में कुछ ह्रास होता,
तो कल्याण ही होता।
स्नेह तो इतना है कि मैंने अधर्म में योग दिया है,
ज्ञान खो दिया है। और स्नेह इतना है कि
मैंने तुम्हारा सर्वनाश कर दिया।
पुरातन कुरुवंश के महारण्य में
घोर कालाग्नि जला रहा हूँ। तब भी पुत्र !
तुम यह कहकर दोष देते हो कि मुझमें स्नेह नहीं है ?
मणि के लोभ से तुमने काल-सर्प की कामना की ;
मुझ अंधे ने उसका फण अपने हाथ में पकड़कर
उसे तुम्हें दे दिया बाहर-भीतर से नेत्र-विहीन,
मैं तुम्हें लेकर प्रलय के अन्धकार में चलता रहा हूँ।
मित्रगण हाहाकार के स्वर में
मेरे इस आचरण का निषेध करते हैं।
निशाचर गृध्र अशुभ चीत्कार कर रहे हैं।
पग-पग पर पथ संकीर्ण होता जा रहा है।
विपद् को आसन्न देखकर शरीर कंटकित हो रहा है।
तब भी, भयानक स्नेह से दृढ़ बाँहों में बाँधकर
तुम्हे हृदय से लगाये हुए मैं वायु-बल से, अंधे वेग से,
उल्का के आलोक में मूढ़, मत्त अट्टहास के साथ,
विनाश के ग्रास की ओर बेतहाशा चलता रहा हूँ।
इस यात्रा में केवल तुम हो और मैं हूँ ;
अन्य संगी हाथों मे वज्र धारण करनेवाले,
तेजोविधान अन्तर्यामी है। सामने दृष्टि नहीं,
न पीछे मे कोई मना करता है; केवल नीचे के ओर
विनाश का घोर निदारुण आकर्षण है।
अचानक एक दिन चेतना चकित होगी,
विधाता की गदा क्षण-मात्र में सिर पर आन गिरेगी।
वह समय आयगा। तब तक के लिए
पितृ-स्नेह में संशय मत करो ; आलिंगन को शिथिल बनाओ ;
तब तक जल्दी-जल्दी, हाथ बढ़ाकर सारा स्वार्थ-धन लूट लो !
विजयी होओ, सुखी होओ, तुम एकेश्वर राजा होओ।

अरे, तुम विजय की भेरी बजाओ;
जय-ध्वजा को शून्य में ऊँचा करो।
आज के जयोत्सव में न्याय, धर्म, बन्धु, भाई,
होगा कोई नहीं, न विदुर रहेगा, न भीष्म रहेगा,
न संजय रहेगा; लोक निन्दा, लोक-लज्जा
और लोक-भय भी नहीं रहेगा।
अब और कुरु-वंश की राजलक्ष्मी भी नहीं रहेगी।
रहेगा केवल अंधा पिता, रहेगा केवल उसका अंधा पुत्र;
और रहेगा कालान्तक यमराज; रह जायेगा केवल पिता का स्नेह
और विधाता का अभिशाप, और कोई नहीं, कुछ भी नहीं।

(चर का प्रवेश)

चर — महाराज! अग्निहोत्र और देवोपासना को त्याग
एवं सांध्य-पूजन को छोड़कर विप्रगण
पाण्डवों की प्रतीक्षा करते हुए चौराहे पर खड़े हैं।
कोई पुरवासी घर में नहीं है; बाज़ार सारे बन्द हैं;
प्रभो! संध्या हो गयी,
तब भी, भैरव-मन्दिर मे शंख, घंटा
और सांध्य-भेरी नहीं बज रही है,
न वहाँ दीप जल रहा है। दल-के-दल, सजल-नयन,
शोकातुर सभी नर-नारी, दीन वेश में,
नगर के सिंहद्वार की ओर जा रहे हैं।

दुर्योधन — तुम जानते नहीं कि दुर्योधन जग गया है?
मूढ! अभागे!
तुम लोगों का दुर्दिन आज सघन होकर आ गया।
आज राजा और प्रजा का कठोर, घनिष्ठ परिचय होगा।
देखता हूँ,
प्रजा की यह परम स्पर्धा
कब तक चलती है, निर्विष सर्प का
यह मिथ्या फणास्फालन, निरस्त्र दर्प का
यह हुंकार कब तक टिकता है!

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी — महाराज ! महारानी गान्धारी
चरणों में दर्शन की प्रार्थिनी हैं।

धृतराष्ट्र — उनकी तो
मैं प्रतीक्षा में हूँ।

दुर्योधन — तात !, तब मैं चला।

(प्रस्थान)

धृतराष्ट्र — तो फिर जा।
हाय, साध्वी माता की दृष्टि में
जो वज्र विद्यमान है, उसे कैसे सहेगा रे पुण्यभीत !
मुझसे तुझे लज्जा नहीं लगती।

(गान्धारी का प्रवेश)

गान्धारी — श्रीचरणों में निवेदन है।
नाथ ! मेरे अनुनय की रक्षा करो !

धृतराष्ट्र — प्रिया की प्रार्थना
क्या कभी अपूर्ण रहती है ?

गान्धारी — इस बार त्याग करो —

धृतराष्ट्र — किसका हे महारानी !

गान्धारी — उसी मूढ़ का,
जिसके पाप के संघर्ष से धर्म की तलवार पर
भीषण शान चढ़ी है।

धृतराष्ट्र — वह कौन मनुष्य है? वह है कहाँ?
केवल उसका नाम बता दो!

गान्धारी — पुत्र दुर्योधन।

धृतराष्ट्र — उसका त्याग करूँ?

गान्धारी — आपके चरणों में
यही निवेदन है।

धृतराष्ट्र — दारुण प्रार्थना है,
हे राजमाता गान्धारी?

गान्धारी — हे कौरव! यह प्रार्थना क्या केवल मेरी है?
नरनाथ! कुरुवंश के पिता-पितामह
दिन-रात स्वर्ग में यही प्रार्थना कर रहे हैं।
त्याग कीजिए, उसका त्याग कीजिए; जिसके अत्याचार से
अश्रुमुखी कुरुवंश की कल्याण-लक्ष्मी रात-दिन
विदाई के क्षण की प्रतीक्षा कर रही है।

धृतराष्ट्र — जिसने धर्म का उल्लंघन किया है,
उसका शासन धर्म करेगा।
मैं पिता हूँ।

गान्धारी — क्या मैं माता नहीं हूँ? गर्भ-भार से जर्जर होकर,
जाग्रत हृत्पिंड के नीचे,
क्या मैंने उसका वहन नहीं किया है?

उसके उस अकलंक मुख को देखकर
क्या मेरा स्नेह-विगलित अंतर उज्ज्वल दूध के रूप में
दोनों स्तनों से नहीं बहा है उफनकर ?
शाखा में जैसे फल लगा होता है,
उसी प्रकार, उसी प्रकार अनेक वर्षों तक
मेरी हँसी से हँसी, वाणी से वाणी और प्राण से प्राण
ग्रहण करता हुआ क्या वह अपने दो छोटे हाथों से
मुझे, अनेक वर्षों तक जकड़े हुए नहीं था ?
महाराज, तब भी कहती हूँ, उसी दुर्योधन का
आज त्याग कीजिये।

धृतराष्ट्र — उसे त्यागकर रखूँगा क्या ?

गान्धारी — अपना धर्म।

धृतराष्ट्र — धर्म तुम्हें देगा क्या ?

गान्धारी - नये-नये दुःख।
(किन्तु) दो काँटों को हृदय से आलिंगित करके
अधर्म की बाज़ी से जीते हुए पुत्र-सुख
और राज्य-सुख को सतत् काल तक कैसे झेलूँगी ?

धृतराष्ट्र — हाय प्रिये !
द्यूत से बँधे हुए पाण्डवों का हारा हुआ राज्य-धन
एक बार तो मैंने धर्मवश होकर लौटा दिया।
(किन्तु) दूसरे ही क्षण मेरी श्रुतियों में पितृ-स्नेह
बार-बार गूँज उठा, 'अरे, तूने यह क्या किया ?
एक ही समय में धर्म और अधर्म की दो नावों पर
पाँव रखकर कोई नहीं बचता। जब एक बार
कुरुपुत्रगण पाप के स्रोत में उतर गये हैं
तब धर्म के साथ सन्धि करना है व्यर्थ।
पाप के दरवाज़े पर पाप सहायता की याचना करता है
अभागे, निर्बुद्धि वृद्ध ! दुर्बल दुविधा में पड़कर

यह तूने क्या किया ? अपमान के घाव से पीड़ित
पाण्डव का मन, राज्य लौटा देने पर भी,
अब और नहीं मिलेगा।
(यह तो) अग्नि में नयी लकड़ियों का दान है।
अपमानित के हाथ में
क्षमता का अस्त्र देना मरने के लिए होता है।
क्षमताशाली को थोड़ी-सी पीड़ा देकर
छोड़ो मत, उसका दलन करो ! मत करो पाप के साथ
व्यर्थ का खिलवाड़ ! यदि उसे बुलाकर लाते हो
तो, संपूर्ण रूप से, उसका वरण करो।'
इस प्रकार, पितृ-स्नेह के रूप में पाप-बुद्धि,
चुप-चुप, मेरे कानों को सुई के समान
तीक्ष्ण कितनी ही बातों से बेधने लगी।
फिर मैंने पाण्डवों को लौटाया और द्यूत के छल से
लंबे वनवास में भेज दिया। हाय रे धर्म !
हाय रे प्रवृत्ति के वेग !
संसार का मर्म कौन समझेगा ?

गान्धारी — धर्म संपद् का कारण नहीं है।
महाराज ! वह क्षुद्र सुख का सेतु नहीं है।
धर्म ही धर्म का शेष है। मैं तो मूर्खा नारी हूँ।
स्वामी, धर्म की बात मैं आपको क्या समझाऊँगी ?
आप सब जानते हैं। पाण्डव तो वन जायेंगे।
लौटाने से वे लौटेंगे नहीं। अपने प्रण से बँधे हुए हैं।
हे महीपति ! अभी यह महासाम्राज्य अकेले आपका है।
अपने बेटे का अब पाप त्याग करें।
निष्पाप को दुःख देकर अपना पूर्ण सुख आप न लें।
पौरव प्रासाद से न्यायधर्म को विमुख न बनायें।
धर्मराज ! आज से दुःसह दुःख उठा लें
और उसे मेरे सिर पर भी रख दें।

धृतराष्ट्र — हाय महारानी !
तुम्हारा उपदेश सत्य, तुम्हारी वाणी कठोर है।

गान्धारी — अधर्म के मधु से सने हुए विषफल को उठाकर
पुत्र आनन्द में नाच रहा है। स्नेह के मोह में भूलकर
उस फल का उसे भोग न करने दीजिये।
वह फल उसके हाथ से छीनकर फेंक दीजिये
और उसे रोने दीजिये। छल से प्राप्त पापस्फीत
राज्यधन को फेंककर वह भी निर्वासन में चला जाय
और वंचित पाण्डव जिस दुःख-भार को वहन कर रहे हैं,
वैसा ही दुःख वह भी वहन करे।

धृतराष्ट्र — धर्म के नियम तो विधाता के हैं।
विधाता जगे हुए हैं। उनका धर्मदण्ड
सदा उद्यत रहता है। हे मनस्विनी !
अपने राज्य में अपना कार्य वे ही करेंगे।
मैं पिता हूँ।

गान्धारी — आप राजा हैं,
विधाता के बायें हाथ, राजाधिराज हैं। धर्म-रक्षा का कार्य
आपके हवाले है। आपसे पूछती हूँ,
यदि आपकी कोई प्रजा सती अबला को
दूसरे के घर से खींचकर, बिना अपराध,
करे उसका अपमान, तो उसका आप क्या करेंगे विधान ?

धृतराष्ट्र — निर्वासन।

गान्धारी — तब आज राजचरणों में,
सभी नारियों की ओर से, आँखों में अश्रु भरकर,
न्याय के लिए प्रार्थना करती हूँ।
प्रभो, बेटा दुर्योधन अपराधी है।
हे राजन् !
आप तो अपना प्रमाण आप ही हैं।
पुरुष पुरुष के बीच का संघर्ष सदा स्वार्थ को लेकर
आरंभ होता है। उसका अच्छा-बुरा मैं नहीं जानती।

दण्डनीति, भेदनीति, कूटनीति — पुरुषों की
कितनी ही अनन्त रीतियाँ हैं। उन्हें पुरुष ही जानते हैं।
बल के विरोध में बल, और छल के विरोध में छल
जग उठते हैं और चतुराई चतुराई पर प्रहार करती है।
हम लोग तो शान्त अन्तःपुर में अपने गृह-कर्म में डूबी
इन बातों से दूर ही रहती हैं।
जो बाहर के संघर्ष की द्वेषाग्नि उस अन्तःपुर में
खींच लाता है, पुरुषों को छोड़, घर में प्रवेश करके,
पापपूर्ण, पुरुष स्पर्शपूर्वक, अपमान के साथ,
गृहधर्म में लगी हुई निरुपाय नारी की पवित्र देह पर
हाथ लगाता है, पति के साथ विरोध आरंभ करके
जो पुरुष पत्नी पर प्रहार करके प्रतिशोध लेता है,
वह केवल पाखण्डी नहीं, कापुरुष है।
महाराज ! उसका दण्ड क्या है ?
निष्कलंक पुरुवंश में यदि पापी जन्म ले तो
वह भी सहा जा सकता है।
किन्तु, प्रभो ! मातृगर्व में भरकर
मैंने समझा था कि मेरी कोख से वीर पुत्र उत्पन्न हुए हैं।
किन्तु हाय, नाथ !
उस दिन जब अनाथिनी द्रौपदी के आर्त्त कण्ठ-रव ने,
लज्जा, घृणा और करुणा के ताप से राजभवन की
पत्थर की दीवारों को पिघला दिया, मैंने दौड़कर
खिड़की से देखा, गान्धारी के पिशाच-पुत्र द्रौपदी का
वस्त्र खीचकर सभा के बीच ठठाकर हँस रहे थे।
धर्म जानता है, उस दिन जीवन-भर के लिए माता का
रहा-सहा गर्व चूर्ण हो गया। हे कुरुराज !
पौरुष भारत को छोड़कर कहाँ चला गया ?
हे महारथी ! आप लोग वहाँ जड़ प्रतिमा के समान
एक-दूसरे का मुँह देखते हुए बैठे रहे।
कोई तो हँसा और किसी ने कौतुक में आकर
कानाफूसी की। म्यानों में तलवारें निस्पन्द रही सोयी
जैसी उनकी करालता खत्म हो गयी हो,

जैसे उनकी विद्युत् लुप्त हो गयी हो।
महाराज! सुनिये, महाराज! यह विनती सुनिये।
माता की ग्लानि को दूर कीजिये;
वीरधर्म का उद्धार कीजिये;
पद-दलित सतीत्व का क्रन्दन मिटाइये,
अवनत न्यायधर्म का सम्मान कीजिये;
दुर्योधन का परित्याग कीजिये।

धृतराष्ट्र परिताप की ज्वाला से जर्जर
हृदय पर तुम केवल निष्फल आघात कर रही हो,
महारानी!

गान्धारी — नाथ! यह सौगुनी व्यथा
क्या मुझे अनुभूत नहीं होती? प्रभो! दण्डित के समान
जब दण्डदाता भी, समान आघात से रोये,
तब वह न्याय सर्वश्रेष्ठ होता है। जिसके लिए प्राणों मे
कोई व्यथा नहीं हो, उसे दण्ड देना
शक्तिशाली का अत्याचार है।
जिस दण्ड की पीड़ा पुत्र को न दे सके,
उसे किसी को भी न दीजिये। जो आपका पुत्र नहीं है,
पिता उसके भी है। हे विचारक! आप उसके सामने
महा अपराधी होंगे। सुनती हूँ, हम सब विश्व-विधाता की
सन्तान है। पुत्र-विषयक न्याय वे नारायण अपने ही
हाथों निश्चित करते है। वे व्यथा देते है
और साथ ही व्यथा पाते भी है।
नहीं तो न्याय करने का उनका अधिकार न रहे।
मुझ मूढ़ स्त्री ने अपने हृदय मे यही शास्त्र प्राप्त किया है।
पापी पुत्र को यदि अविचार से क्षमा करेंगे तो महाराज!
अपराधी लोगों को आज तक आपने जितने दण्ड दिये है,
वे सब, लौटकर दण्डदाता राजा को लगेंगे;
आपका न्याय-विचार, निर्दयता के साथ, पाप बनकर
आपको ही दग्ध करेगा।
पापी दुर्योधन का
त्याग कीजिये।

धृतराष्ट्र — प्रिये ! अपनी बातों का संवरण करो, संवरण करो !
मोह का धागा मैं तोड़ नहीं सकता।
धर्म की बात आकर, अत्यन्त कठोर,
किन्तु, व्यर्थ की व्यथा दे जाती है। पापी पुत्र
विधाता के लिए त्याज्य है, इसीसे, मैं उसे छोड़ नहीं सकता।
मैं उसका एकमात्र अवलम्ब हूँ। जिस पुत्र ने अपने
अस्तित्व को उन्मत्त तरंगों में डाल दिया है,
उसे किस हृदय से छोड़ूँगा ? उसके उद्धार की
आशा का त्याग करता हूँ, तब भी,
प्राणपण से, उसे छाती से लगाये हुए हूँ।
मेरी सान्त्वना इसमें हैं कि उसके साथ
एक ही पाप में कूद पड़ूँ, अकातर भाव से —
एक ही विनाश के तल में डूबकर मर जाऊँ,
उसकी दुर्गति के आधे अंश का उसकी दुर्मति के आधे फल
का भोग कर लूँ। अभी तो और सोच-विचार का समय नहीं है,
न प्रतिकार है, न राह। जो कुछ होना था हो चुका,
जो फलनेवाला है, फलेगा।

(प्रस्थान)

गान्धारी — ओ मेरे अशान्त हृदय !
स्थिर होओ। सिर झुकाये,
धीरज धरकर विधि के विधान की प्रतीक्षा करो !
लंबी निशा के बाद जिस दिन काल अपने-आपको
संशोधित करने को त्वरित वेग से जग उठता है,
उसे घोर दुर्दिन कहते हैं। दुःसह उत्ताप मे
वायु स्थिर, गतिहीन होकर सो जाती है।
जगती है वह अकस्मात् झंझा-वृष्टि में ;
और अपनी जड़ता पर आप आक्रमण करने लगती है,
जैसे अन्धा बिच्छू अपनी भयानक पूँछ से अपने ही सिर पर
निरन्तर प्रखर वज्रशूल का प्रहार करता है।
उसी प्रकार, काल जब जगता है, सब लोग भय के मारे
उसे दुष्काल कहते हैं।
मस्तक को भूमि से लगाओ, भूमि से लगाओ,

हे रमणी, उस महाकाल को प्रणाम करो!
वह सुनो, दूर रुद्र-लोक से, वज्र-घर्घरित
उसके रथचक्र की ध्वनि सुनाई पड़ रही है।
तुम अपने आर्त्त, जर्जर हृदय को उसकी राह में बिछा रखो।
टूटे और भीगे हुए हृत्पिंड के रक्त से
शतदल अंजलि बनाकर, निर्निमेष देखती हुई,
नीरव जागती रहो। उसके बाद, जब आकाश में
धूल उड़ने लगे, पृथ्वी काँपने लगे, अचानक शून्य में
'हाँ रमणी, हा अनाथे, हा वीरवधू, हाय वीर माता!'
की हाहाकारमयी क्रन्दन-ध्वनि उड़ने लगे,
तब तुम आँखे मूँदकर, सिर झुकाकर, धीरे से
धूल में लोट जाना। उसके बाद नमस्कार करना
सुनिश्चित परिणाम को, वाणी-विहीन, निर्मम, निदारुण
करुण शान्ति को; नमस्कार करना कान्त-कठोर
कल्याण को, स्निग्धतम क्षमा को; नमस्कार करना
भीषण विरक्ति को, श्मशान-भस्म से सनी हुई
परमा निष्कृति को।

(दुर्योधन की रानी भानुमती का प्रवेश)

(दासियों के प्रति)

भानुमती — इन्दुमुखी! परभृते! माल्यवस्त्र और
अलंकार को माथे पर उठाओ।

गान्धारी — बेटी, धीरे बोलो, धीरे।
पौरव-भवन में आज कौन उत्सव है?
मेरी बहू! नूतन वस्त्रालंकार से सज-धजकर
कहाँ जा रही है?

भानुमती — शत्रुओं के पराभव की शुभ घड़ी
आ गयी।

गान्धारी — आत्मीय और स्वजन जिसके शत्रु है,

उसका शत्रु आत्मा है, उसका शत्रु धर्म है,
उसके शत्रु ऐसे हैं जिन्हें जीता नहीं जा सकता।
हे कल्याणी ! ये नये आभूषण कहाँ से आये ?

भानुमती — पांचाली के पाँच पतियों ने बाहु-बल से, संसार को
जीतकर उसे रत्न और मणि के जो आभूषण दिये थे,
जिन्हें पहनने से यज्ञ के दिन, द्रौपदी की देह से माणिक्य के
असंख्य सूचीमुखों (पहलों) से
उसके भाग्य का अहंकार विकीर्ण होता था,
और जो कुरुवंश की कामिनियों के हृदय में चुभते थे,
उन रत्न-भूषणों से मुझे सजाकर
द्रौपदी को वन जाना पड़ा।

गान्धारी — हा मूर्खे ! तब भी तुम्हें शिक्षा नहीं मिली ?
उन्हीं रत्नों को लेकर इतना अहंकार है ?
यह कैसी भयानक शोभा है ! यह कैसी प्रलय की सज्जा है
प्रलयकालीन उल्का के समान ये मणि-मंजीर
आज तुम्हें दग्ध नहीं करते ? ललाट पर लगा यह रत्न
तेरे सौभाग्य की वज्रानल-शिखा है। तुम्हें देखकर
मेरी देह मे भय का स्पन्दन संचरित होता है।
मेरे हृदय में क्रन्दन उठ रहा है। मेरे शंकित श्रवणों में
तेरा अलंकार उन्मादिनी शंकरी के ताण्डव की
झंकार भर रहा है।

भानुमती — माँ ! हम क्षत्राणी हैं, दुर्भाग्य का भय हम नहीं मानतीं।
कभी विजय होती है कभी पराजय।
क्षात्र महिमा का सूर्य कभी मध्याह्न आकाश में
ऊपर उठता है, कभी अस्ताचल पर डूब जाता है।
माँ, यही सोचकर क्षत्रियों की वीरांगनाएँ
भय के हृदय में निवास करती हैं और
एक क्षण भी संकट का त्रास नहीं मानतीं।
दुर्दिन-दुर्योग यदि आ भी जाय तो
प्रतिकूल भाग्य पर हम उपहास से आघात करती हैं।

देवि ! मरना कैसे होता है, यह हम जानती हैं।
श्रीचरणों की सेवा करते हुए जीना कैसे
होता है, वह शिक्षा भी हमें प्राप्त है।

गान्धारी — बेटी ! अमंगल अकेला तुम्हारा नहीं है।
जब वह दल-बल लेकर अपनी क्षुधा मिटाने लगता है,
तब हाहाकार उठता है, कितने ही वीरों के रक्त-स्रोत में
कितनी ही विधवाओं की अश्रु-धारा आ गिरती है,
सुहागिनियों के हाथ से रत्न-अलंकार खिस पड़ते हैं,
जैसे आम्र-लता के कुंजवन में मंजरियाँ
झंझावात से गिर जाती हैं। बँधे हुए सेतु को मत तोड़ना
बेटी ! खेल-खेल में घर के भीतर विप्लव का झंडा
न उठाना ! आज आनन्द का दिन नहीं है।
स्वजनों के दुर्भाग्य से अपने अंग सजाकर गर्व न करना माँ !
सुसंयत होकर आज से, शुद्ध-चित्त से,
उपवास-व्रत का आचरण करो। बेटी !
वेणी खोलकर, शान्त मन से, देवता की पूजा करो !
इस पापपूर्ण सौभाग्य के समय, गर्व और अहंकार से,
क्षण-क्षण विधाता को लज्जित नहीं करना
अलंकार और नये लाल वस्त्र खोलकर फेंक दो।
उत्सव के वाद्यों को, इस राज-आडम्बर को रोक दो।
बेटी ! हवनगृह में जाओ, पुरोहित को बुलवा लो।
शुद्ध प्राण और हृदय से काल की प्रतीक्षा करो।

[illegible]

([illegible] के साथ [illegible] का प्रवेश)

युधिष्ठिर — माँ विदा के समय आशीर्वाद माँगने
आया हूँ।

गान्धारी — बच्चों ! दुःस्वप्निशा का अन्त होने पर
सौभाग्य का सूर्य दुगुना उज्ज्वल होकर उगेगा।
मेरे दुःखव्रती पुत्र ! तुम वायु से बल, सूर्य से तेज
और पृथ्वी से धैर्य एवं क्षमा प्राप्त करो।

तुम्हारी दीनता के बीच छिपी रहकर लक्ष्मी
दीन-छद्म रूप में तुम्हारे पीछे-पीछे फिरें,
वे चुपचाप दुःखों के भीतर से तुम्हारे लिए अक्षय
संपत्ति का संचय करती रहें। निर्वासिन का निवास
सदैव निर्भय रहे। अग्नि-शिखा में तपे हुए
सोने के समान, तुम्हारा निष्पाप दुःख-भोग तुम्हारे हृदय में
ज्वलन्त तेज का संचय करे। यही महादुःख तुम लोगों का
बहुत बड़ा सहायक होगा। धर्मराज विधाता उसी
दुःख के कारण तुम लोगों के ऋणी रहेंगे
जब वे अपने हाथों उस ऋण को चुकाने लगेंगे,
तब देवता और मनुष्य, कौन है, जो तुम्हारी राह में
खड़ा होगा ? हे मेरे पुत्रों से बढ़कर पुत्रों !
मेरे पुत्रों ने जितना भी अपराध किया है,
वह सब मेरे आशीर्वाद से छिन्न-भिन्न हो जाये।
अन्याय और पीड़न गंभीर कल्याण-सिन्धु का मंथन करे।

(द्रौपदी को आलिंगन में बाँधकर)

ओ मेरी बिटिया ! ओ मेरी भूलुंठित कंचनलता !
ओ मेरे राहुग्रस्त चन्द्र ! एक बार अपना मस्तक उठाओ,
मेरी बातों को ध्यान से सुनो।
जिसने तुम्हारी अवमानना की है,
उसी का अपमान, उसी का अक्षय कलंक
संसार मे सदैव बना रहेगा।
तुम्हारी अपमान-राशि को, कायरता के हाथों
सती की लांछना को, विश्व-भर की कुलांगनाओं ने
बाँटकर अपने-अपने हिस्से ले लिया।
बेटी ! मुख को मलिन बनाये बिना पति के साथ जाओ,
अरण्य को स्वर्ग करो, दुःख को सुख बना दो।
बहू मेरी ! पति के अत्यन्त दुस्सह दुःख और व्यथा को
हृदय मे धारण करके सतीत्व की सार्थकता प्राप्त करो।
राजमहल में दिन-रात हज़ारों सुखों का प्रबन्ध रहता है।
वन मे तुम अकेली ही अपने पतियों का सारा सुख,
सारा संग, सारा ऐश्वर्य, सारी सान्त्वना, समस्त आश्रय,

क्लान्ति में विश्राम और शान्ति, व्याधि में शुश्रूषा,
विपत्ति में शुभ लक्ष्मी,
अमावस्या की रात्रि में आलोक-भूषण
और मूर्तिमती उषा होगी।
तुम अकेली ही जननी और गृहिणी होगी,
संपूर्ण प्रीति और सारी सेवा होगी;
सतीत्व के श्वेत पद्म के समान, सारे सौरभ से युक्त,
सौ दलों मे खिलकर तुम गौरव के साथ जियोगी।

मार्च १९००

'गान्धारीर आवेदन'
(काहिनी)

२७

वैशाख

हे भैरव हे रुद्र वैशाख,
धूल धूसरित सूखा और उड़ता हुआ पिंगल जटाजाल,
तप! छिष्ट और तप्त तन
भयानक विषाण मुँह से लगाकर
किसे पुकारते हो हे भैरव, हे रुद्र वैशाख?
तुम्हारे समस्त छाया-मूर्त्ति अनुचर
न जाने दग्ध-ताप दिगंत के किन छिद्रों में
दौड़े चले आ रहे हैं
पागल होकर कितने भयंकर अदृश्य नृत्य
कर रहे हैं मध्याह्न आकाश में
तुम्हारे छाया-मूर्ति निःशब्द अनुचर

मत्त नृत्य के श्रम के कारण
उनकी साँस में से चिनगारियाँ निकल रही हैं
रह-रहकर, दह-दहकर
वे लोग तीव्र आवेग से चक्कर काटने लगते हैं
घास-पात और धूल की राशि
आकाश में घूर्णित और आवर्त्तित करते हुए

हे दीप्तचक्षु शीर्ष संन्यासी
अपने रक्त नेत्रों को ललाट की ओर चढ़ाकर
सूखी हुई नदी के किनारे क्षम्य-शून्य तृषा दीर्ण मैदान में
तुम पद्मासन लगाकर बैठे हो
हे उदासी, हे प्रवासी
हे दीप्तचक्षु शीर्ण संन्यासी

हे वैरागी शांतिपाठ करो
तुम्हारा उदार उदात्त स्वर
दाएँ-बाएँ छा जाए
नदी को पार करके मैदान को भरता हुआ
गाँव-गाँव तक पहुँच जाय
हे वैरागी शांति-पाठ करो

तुम्हारे करुण मंत्र के साथ-साथ
सारे मर्मभेदी दुःख विश्व मे भर जाये
क्लांत कपोल के कंठ मे
क्षीण जाह्नवी के श्रांत स्वर मे
अश्वत्थ की छाया मे

सुख, दुःख, आशा और निराशा
तुम्हारी फूँक मे उडती हुई धूल के समान
आकाश मे उड़े
निकुंजों के स्खलित फूलों की गंध के साथ-साथ
व्याकुल आकाश मे भर जाय

अपना गेरुआ बाना
फैला दो गगन-तल मे
विपुल वैराग्य मे ढाँक-दो
चिन्ता विकल लक्ष-लक्ष कोटि स्त्री-पुरुषों की
जरा, मृत्यु, भूख और प्यास

हे रुद्र वैशाख उद्घोष करो
दिन दोपहर की मेरी नींद टूट जाय
मैं जागकर घर बाहर निकल पड़ूँ
और देखता रह जाऊँ
निस्तब्ध और निर्वाक्
शून्य जल और सूने दिगत के पार

मई [illegible]

२८

कृष्ण-कली

मैं उसे ही कृष्ण-कली कहता हूँ
कलूटी कहते है जिसे गाँव के लोग
इस काली लड़की की हिरनी-जैसी काली आँखे देखी है
मैंने खेत मे देखी थी
वह बादलों से भरा दिन था
उसके मुँह पर कोई घूँघट नहीं था
उसकी पीठ पर पड़ी थी खुली चोटी
वह काली कलूटी
चाहे जितनी भी काली हो वह
मैंने उसकी काली हिरनी-जैसी आँखे देखी हैं।

घने बादलों के कारण एकाएक अंधकार हो गया
यह देखकर दो कपिला गाये रँभाने लगीं
इसीलिए वह श्यामा व्यस्त भाव से जल्दी-जल्दी
कुटी के बाहर घबरायी हुई आयी
उसने आकाश की ओर अपनी दोनों भौंहें चढ़ाकर
एकाध बार मेघ का गरजना सुना
वह कलूटी है चाहे जितनी कलूटी क्यों न हो वह
मैंने उसकी हिरनी जैसी आँखे देखी है।

एकाएक पुरवैया का झोंका आया
धान के खेतों पर लहर दौड़ गयी
मैं मेड़ पर अकेला खड़ा था
मैदान मे और कोई नहीं था

उसने मेरी ओर देखा या नहीं देखा
यह केवल मैं जानता हूँ या वह लड़की
वह कलूटी है
चाहे जितनी कलूटी हो वह
मैंने उसकी काली हिरनीली आँखे देखी हैं

काजल जैसे काले बादल इसी तरफ़ आते हैं
जेठ के महीने में ईशान कोण से
इसी तरह आषाढ़ मास में तमाल वन पर
काली स्निग्ध छाया उतरकर आती है
इसी तरह एकाएक सावन की रात मे
आनंद मन में घना हो उठता है
वह काली है
चाहे जितनी काली क्यों न हो वह
मैंने उसकी काली हिरनीली आँखे देखी है

दूसरे लोग उसे चाहे जो कहे
मैं उसे कृष्ण-कली ही कहता हूँ
मयनापाड़ा के मैदान मे देखे था मैंने
उस काली लड़की के हिरनी-जैसे काले नयन
उसने आँचल से अपना सिर नहीं ढँका था
लजाने का उसे कभी समय ही नहीं मिला
वह काली है
चाहे जितनी काली क्यों न हो वह
मैंने उसकी हिरनी-जैसी आँखे देखी हैं।

१८ जून १९००

'कृष्णकलि
(क्षणिका)

२९

न्याय-दण्ड

हे राजाधिराज, तुमने अपना न्याय-दण्ड
प्रत्येक व्यक्ति के हाथ मे स्वयं अर्पित कर दिया है
प्रत्येक व्यक्ति को शासन-भार सौंपा है
शक्ति दो कि वह गौरवपूर्ण सम्मान
वह कठिन कर्त्तव्य तुम्हे प्रणाम करके
विनयपूर्वक शिरोधार्य कर सकूँ
तूम्हारा कार्य करते हुए
कभी किसी से भय न मानूँ ।

हे रुद्र, जहाॅ क्षमा का अर्थ
कोई क्षीण दुर्बलता हो वहाॅ तुम्हारे आदेश से
निष्ठुर बन सकूँ
तुम्हारे इंगित पर मेरी रसना मे सत्य वाक्य
खर तलवार के समान झनझना उठे
तुम्हारे विचारासन पर बैठकर
मैं तुम्हारा मान रख सकूँ
जो अन्याय करता है
और जो अन्याय सहता है
ऐसा करो जिससे तुम्हारी घृणा
उसे तृण के समान जला डाले ।

जून-जुलाइं १९०१

'न्याय-दण्ड'
(नैवेद्य)

३०

मुक्ति

वैराग्य-साधन के द्वारा मुक्ति मेरे लिए नहीं है

मैं असंख्य बन्धनों मे
महा आनन्दमय मुक्ति का स्वाद लूँगा
इस वसुधा के मिट्टी के पात्र मे बार-बार
तुम्हारा नाना वर्ण गंधमय अमृत निरंतर ढालता रहूँगा
सारा संसार दीपक के समान मेरी लक्ष-लक्ष वर्तिकाओं को
तुम्हारी ही शिखा से छूकर तुम्हारे मंदिर मे प्रज्ज्वलित कर देगा

इंद्रियों के द्वार रुद्ध करके
योगासन मेरे लिए नहीं है
जो कुछ भी आनन्द है दृश्य, गंध और आहार मे
तुम्हारा आनंद उसी मे निवास करेगा

मेरा मोह जल उठेगा मुक्ति बनकर
मेरा प्रेम फलेगा भक्ति बनकर

जून-जुलाई १९०१

प्रान्त.
(नैवेद्य)

३१

त्राण

हे मंगलमय इस अभागे देश से
सर्व तुच्छ भय दूर कर दो
लोक-भय, राज-भय और मृत्यु-भय
प्राण से दीन और बल से हीन का यह असभ्य भार
यह नित्य पिसते रहने की यन्तरणा
नित्य धूलि-तल में पतन
पल-पल पर आत्मा का अपमान
भीतर-बाहर दासत्व के बंधन
हज़ारों के पैरों के नीचे बार-बार त्रस्त और नतशिर होकर
मनुष्य की मर्यादा, गौरव का अपहरण परिहरण
मंगलमय अपने चरण के आघात से
इस विपुल लज्जा-राशि को
चूर्ण करके दूर कर दो
अनंत आकाश उदार आलोक
उन्मुक्त वातास से भरे हुए मंगल प्रभात में
सिर ऊँचा करने दो ।

जून-जुलाई १९०१

'त्राण'
(नैवेद्य)

३२

वीर-पुरुष

मान लो मैं विदेश में घूमता-घामता
माँ को कहीं बड़ी दूर ले जा रहा हूँ
माँ, तुम पालकी में बैठकर जा रही हो
पालकी के दोनों दरवाज़े थोड़े-से खुले हैं
मैं लाल घोड़े पर सवार
टपाटप पालकी के साथ-साथ चल रहा हूँ
घोड़ों के खुरों से रास्ते पर
लाल-लाल धूल के बादल उड़ते जा रहे हैं
शाम हो जाती है
सूरज अस्ताचल की ओर जाने लगता है
तभी हम मानों जोड़ादीघी के मैदान मे पहुँच जाते हैं
जिस ओर आँख दौड़ाओ
सन्नाटा छाया हुआ है
कहीं जन-जानवर का नाम नहीं
यह देखकर तुम मानो मन मे
डरती हो डरो मत मन में
डरती हो और सोचती हो कहाँ आ गये
मैं कहता हूँ डरो मत माँ,
देखो सामने नदी पतली धार दिखा रही है

मैदान गोखरू से ढका हुआ है
बीच से टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता गया है
कहीं ढोर-डंगर भी नहीं दीखते
साँझ होते ही गाँव की ओर चले गये हैं

हम किधर जा रहे हैं कौन जाने
अँधेरे में ठीक से दिखाई भी नहीं देता
तुम मानो मुझे बुलाकर कहती हो
तालाब के किनारे वह उजाला काहे का है
उसी समय हो-हो करते शोर मचाते हुए न जाने कौन आ गये
तुम डर के मारे पालकी के कोने मे दुबककर
मन-ही-मन ठाकुर जी का स्मरण करने लगीं
पालकी उठानेवाले कहार किनारे की कटीली झाड़ियों में
पालकी रखकर थर-थर काँपने लगे
मैं तो हूँ माँ डरती क्यों हो
उन लोगों के हाथ में लाठियाँ सिर पर लम्बे झबरे बाल हैं
कानों में खुसे हुए हैं
मैं कहता हूँ वहीं ख़बरदार
जो एक भी क़दम आगे बढ़ाया
तो देखते हो मेरी यह तलवार
तुम लोगों के टुकड़े कर डालूँगा
सुनते ही वे उछलने-कूदने लगते हैं
हो-हो करके आसमान सिर पर उठा लेते हैं
तुम कहती हो बेटा, तू उधर मत जा

और मैं घोड़ा दौड़ाता हुआ उनके बीच में पहुँच जाता हूँ
ढाल-तलवार झनझना उठती हैं
बड़ी ही भयानक लड़ाई होती है माँ
अगर तुम सुनो तो तुम्हारे रोंगटे खड़े हो जायें
कितने लोग डरकर भाग गये हैं
कितने के सिर कटकर गिर पड़े

तुम सोचने लगती हो
इतने लोगों से लड़ते-लड़ते
मेरा लाल कहीं मारा न जाए
तभी मैं खून-पसीने से लथ-पथ आ धमकता हूँ
कहता हूँ, लड़ाई खत्म हो गयी माँ!

सुनते ही तुम पालकी से उतरकर
मुझे चूमकर अपनी गोद में लेती हो
और कहती हो भाग्य से मेरे साथ था आज मेरा लाल
नहीं तो आज जाने क्या दुर्दशा होती
तरह-तरह की न जाने कितनी घटनाएँ
रोज़ होती हैं
कभी कोई ऐसी बात क्यों नहीं होती
अगर ऐसा हो सकता तो सचमुच एक कहानी बन जाती
लोग सुनते तो अवाक् रह जाते
बड़े भाई कहते, यह कैसे हो सकता है
हमारे बबुआ में क्या इतना दम है
और मुहल्ले के सुनकर यह कहते,
सौभाग्य से बबुआ साथ था।

सितम्बर १९०३

वीर-पुरुष
(शिशु)

३३

शुभ क्षण

माँ, आज राजा का दुलारा
मेरे घर के सामनेवाले रास्ते से है जानेवाला
आज सुबह-ही-सुबह घर का काम-काज लिये
कैसे पड़ी रहूँ, बता तो भला ?
बता दे मुझे कौन सा सिंगार करूँ,
कैसा जूड़ा बाँधूँ,
किस भंगिमा से, किस रंग की साड़ी पहनूँ ?
अरी माँ, तुझे हो क्या गया ?
अवाक् नयनों से मेरे मुँह की ओर तक क्यों रही हो ?
मैं जहाँ खिड़की के कोने मे खड़ी हूँगी
उधर वह तकेगा भी नहीं, खूब जानती हूँ,
पलक मारते झाँकी समाप्त हो जायेगी,
चला जायेगा वह सुदूर नगर की ओर।
केवल साथ की वंशी किसी मैदान से
व्याकुल सुर में बजती रहेगी।
तो भी राजा का दुलारा आज
मेरे घर के सामनेवाले रास्ते से जानेवाला है,
केवल उस एक क्षण के लिए
सिंगार किये बिना रहूँ कैसे, बता तो भला ?

माँ, राजा का दुलारा
मेरे घर के सामनेवाले रास्ते से निकल गया,
प्रभात का आलोक उसके स्वर्ण-शिखर रथ पर
झिलमिला रहा था।

घूँघट हटाकर, खिड़की से
क्षण-भर के लिए, माँ मैंने देख लिया —
मणियों की माला खींचकर फेक दी उसके रास्ते की धूल पर।

अरी माँ, तुझे हो क्या गया ?
अवाक् नयनों से मेरे नयनों से मेरे मुख की ओर क्यों तक रही हो ?
हार से छिटकी हुई मेरी मणियों को उसने बटोर नहीं लिया,
वे तो रथ के पहिये के नीचे चूर-चूर हो गयीं
केवल पहिए की लीक ही मेरे घर के सामने पड़ी हुई है।
मैंने किसे क्या दिया, यह बात कोई नहीं जानता,
वह तो धूल से ढँकी रह गयी।
तो भी राजा का दुलारा मेरे घर के
सामनेवाले रास्ते से निकल गया,
अपने वक्षस्थल की मणियों को
न्योछावर किये बिना मैं कैसे रहती बता तो भला ?

आषाढ़ [illegible]

शुभक्षण
(खेया)

३४

भारत तीर्थ

हे मेरे चित्त, पुण्य तीर्थ में —
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर धीरे जगो!
दोनों बाँहें फैला यहाँ खड़े हो नर-देवता का नमन कर
उदार छंदों में परम आनंद से बार-बार उनका वंदन कर
ध्यान-गंभीर यह जो भूधर है
नदीरूपी जयमाला लिये यह जो प्रांतर है
यहाँ नित्य पवित्र धरती को निरखो —
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर

कोई नही जानता, किसके आह्वान पर
कितने लोगों की दुर्वार धारा कहाँ से आयी,
और इस सागर मे खो गयी।
आर्य, अनार्य, द्रविड़, चीनी, शक, हूण, पठान, मुग़ल
सब यहाँ एक देह मे लीन हो गये।
आज पश्चिम ने द्वार खोला है, वहाँ से सब भेंट ला रहे हैं
ये देंगे और लेंगे, मिलायेंगे और मिलेंगे, लौटकर नहीं जायेंगे —
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

लड़ाई के स्रोत में विजय के उन्मत्त गीत गाते हुए
मरुभूमि और पहाड़-पर्वतों को पार करके जो लोग आये थे
वे सब-के-सब मुझमें विराज रहे हैं, कोई भी दूर नहीं है
मेरे लहू में उनका विचित्र सुर ध्वनित है
आर्य रुद्रवीणा, बजो बजो, बजो
घृणा से आज भी दूर खड़े हैं जो

बंधन तोड़ेंगे — वे भी आयेंगे, घेरकर खड़े होंगे
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

किसी दिन यहाँ महा ओंकार की अविराम ध्वनि
हृदय के तार में ऐक्य के मंत्र से झंकृत हुई थी।
तप के बल से 'एक' के अनल में 'बहु' की आहुति दे
भेद-भाव भुलाकर एक विराट् हृदय को जगाया था।
उसी साधना, उस आराधना की
यज्ञशाला का द्वार आज खुला है
सबको यहाँ सिर झुकाकर मिलना होगा —
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

उसी होमाग्नि में, देखो, आज लाल लपट उठ रही है
इसे सहना होगा, मर्म में दहना होगा, यही भाग्य मे लिखा है।
हे मेरे मन, इस दुःख को वहन करो,
सुनो, 'एक' की पुकार सुनो !
जो भी लाज है, जो भी भय है, सबको जीतो, अपमान दूर हो
यह दुःसह व्यथा जाती रहेगी,
फिर कैसा विशाल प्राण जन्म लेगा
रात बीत रही है, विशाल नीड़ मे जननी जाग रही है —
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

हे आर्य, हे अनार्य आओ, आओ हिन्दू-मुसलमान
आज आओ तुम अंगरेज, ख्रीष्टान आओ
मन को पवित्र कर आओ ब्राह्मण, सबके हाथ पकड़ो —
हे पतित, आओ, अपमान का सब भार उतार दो।
माँ के अभिषेक के लिए शीघ्र आओ
सबके स्पर्श से पवित्र किये हुए तीर्थ-जल से
मंगल-घट तो अरी भरा ही नहीं गया है —
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

२ जुलाई १९१० | **'भारततीर्थ'**
(गीतांजलि)

३५

धूलि-मंदिर

भजन-पूजन साधना-आराधना, सब-कुछ पड़ा रहे
अरे, देवालय का द्वार बंद किये क्यों पड़ा है !
अँधेरे में छिपकर अपने आप
चुपचाप तू किसे पूजता है ?
आँख खोलकर ध्यान से देख तो सही — देवता घर में नहीं हैं।

देवता तो वहाँ गये है, जहाँ माटी गोड़कर खेतिहर खेती करते है —
पत्थर काटकर रहा बना रहे हैं, बारहों महीने खट रहे है।
क्या धूप, क्या वर्षा, हर हालत में सबके साथ है
उनके दोनों हाथों में धूल लगी हुई है
अरे, तू भी उन्हीं के समान स्वच्छ कपड़े बदलकर धूल पर जा।

मुक्ति ? मुक्ति कहाँ पायेगा भला, मुक्ति है कहाँ ?
स्वयं प्रभु ही तो सृष्टि के बंधन में सबके निकट बँधे हुए हैं।
अरे, छोड़ो भी यह ध्यान, रहने भी दो फूलों की डलिया
कपड़े फट जाने दो, धूल-बालू लगे
कर्मयोग में उनसे कंधा मिलाकर पसीना बहने दो।

११ जुलाई १९१०

धूलि मंदिर
(गीतांजलि)

३६

शंख

तुम्हारा शंख धूल मे पड़ा है, यह कैसे सहूँ मैं!
हवा, धूप — सब मर गयी, यह कैसा दुर्दैव!
लोहा कौन लोगे, पताका लिये आओ
जिसके कंठ मे गीत है, गा उठो
जिसे चलना है, दौड़ते चलो,
आओ न, निःशंक होकर आओ।
वह देखो, अभय-शंख धूल मे पड़ा देख रहा है।
पूजा-घर मे फूलों का अर्घ्य सजाकर चला था
दिन-भर के बाद ढूँढ़ूँ कि शांति का स्वर्ग कहाँ है,
सोचा था, अब की अपने हृदय का क्षत जाता रहेगा
सारे मैल धब्बों को धोकर मैं निष्कलंक होऊँगा
पर राह मे देखता हूँ, तुम्हारा महाशंख धूल मे पड़ा है।
यही क्या आरती का दीप जलाना है, यही मेरी संध्या है?
अड़हुल के फूलों की माला गूँथूँ? हाय रजनीगंधा!
सोचा था, इस तरह जूझने-खपने के बाद विराम मिलेगा
क़र्ज़ की पूँजी चुकाकर तुम्हारी गोद में स्थान लूँगा।
रोते समय तुम्हारे मौन शंख ने मानो पुकारा।

तो फिर यौवन के पारस-पत्थर का ही स्पर्श कराओ।
उद्दीप्त प्राणों का हर्ष दीपक राग की तानों मे गूँज उठे।
रात की छाती को चीर, उद्बोधन से गगन को गुँजाते हुए
अंधकार-भरे दिक्-दिगंतर में आतंक जगाओ ना।
आज मैं दोनों हाथों तुम्हारे जय-शंख को उठाऊँगा।

जानता हूँ, मेरी आँखों में नींद की खुमारी अब न रहेगी।
जानता हूँ, वक्ष में सावन-धारा से बाण बिंधा करेंगे
कोई दौड़ा-दौड़ा पास आयगा, तो कोई उसाँसें भर रोयगा
दुःस्वप्न में शयन-पर्यंक भय से कंपित होगा।
क्योंकि आज तो तुम्हारा महाशंख महा उल्लास से बजेगा।

तुमसे आराम की चाहना करके बस लाज ही पायी।
अब मेरे अंग-अंग को आच्छादित कर रण के साज पहनाओ।
नयी-नयी बाधाएँ आयें — चोटें खाकर अडिग रहूँगा
मेरे कलेजे में दुःख से तुम्हारी विजय का डंका बजेगा
दूँगा सारी शक्ति, और लूँगा अभय-शंख तुम्हारा।

२६ मइ १९१४

'शख'
(बलाका)

३७

शाहजहाँ

हे भारतेश्वर शाहजहाँ ?
यह बात तुम्हें मालूम थी कि काल के प्रवाह में
जीवन, यौवन, प्रतिष्ठा और धन,
सभी बह जाते हैं!
केवल तुम्हारी अन्तर्व्यथा चिरायु होकर रहे,
क्या तुम्हारी यही साध थी सम्राट ?

वज्र-कठोर राजशक्ति
यदि संध्या की लाली के समान,
तन्द्रा में विलीन होती है तो हो जाय,
केवल एक लंबी आह
नित्य उच्छ्वसित होकर
आकाश को करुणा से युक्त करती रहे,
तुम्हारे मन में यही आशा थी।

मुक्ता, माणिक्य और हीरों का ढेर
मानो, शून्य क्षितिज पर
इन्द्रधनुषी छटा है जैसे
वह यदि लुप्त होता है तो होने दो;
केवल यह ताजमहल
अश्रु-जल का शुभ्र, समुज्ज्वल एक बिन्दु बनकर
काल के कपोल पर ठहरा रहे।

हाय रे मानव-हृदय !
तुझे किसी की ओर
बार-बार पलटकर देखने का समय नहीं मिलता ;
नहीं मिलता, नहीं मिलता।
जीवन के प्रखर प्रवाह में तू सदा ही
जगत् के घाट-घाट पर बहता रहता है।
एक हाट में भार लादता है,
दूसरी हाट में उसे खाली कर देता है।

दक्षिणी पवन के मंत्र-गुंजन (से युक्त)
तेरे कुंज-वन में
ज्यों ही वसन्त की माधवी-मंजरी
वाटिका के चंचल अंचल को पूर्ण करती है,
त्यों ही, विदा की गोधूलि आकर
उसे छिन्न-भिन्न कर मिट्टी मे मिला देती है।
समय नहीं
इसीलिए, हेमन्त की अश्रुपूर्ण डाली सजाने के लिए
ओस-भरी रात में
फिर से निकुंज में नयी कुंद की पंक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं।
हाय रे हृदय ?
तुझे सुबह-शाम अपने संचय को
रास्ते के एक किनारे फेंककर चला जाना पड़ता है।
हे सम्राट ?
इसीलिए, तुम्हारे सशंकित हृदय ने,
सौन्दर्य का भुलावा देकर,
काल का मन हर लेना चाहा था।
रूपहीन मृत्यु को मृत्युहीन अपरूप सौन्दर्य से सजाकर,
उसके गले में कौन-सी माला-डालकर
तुमने उसका वरण किया था ?
बारहों महीने रोने का अवकाश नहीं रहता ;
इसीलिए
अपने अशान्त क्रन्दन को

चिर मूकता के जाल से
तुमने कठिन बंधन में बाँध दिया।
चाँदनी रात के समय, एकान्त भवन में
प्रेयसी को जिस नाम से तुम पुकारते थे, अस्फुट स्वरों में
कान-कान में पड़ी उसी पुकार को
यहाँ तुम अनन्त की श्रुतियों में रख गये।
प्रेम की वही करुण कोमलता
निःशब्द पाषाण में
सौन्दर्य के पुष्प-समूह के रूप में प्रस्फुटित हो गयी।

हे सम्राट कवि !
यही तुम्हारे हृदय का चित्र है,
यही तुम्हारा नूतन, अद्‌भुत अपूर्व मेघदूत है
जो छन्द और गान के भीतर से
उस अलक्ष्य की ओर उठ रहा है
जहाँ तुम्हारी विरहिणी प्रेयसी
उषा के तरुण आभास में विलीन है,
श्रान्त संध्या में
दिगन्त की करुण आहों मे विलीन है ;
पूर्णिमा में
निराकार चमेली के लावण्य-विलास मे विलीन ;
उस तट पर विलीन है जो भाषातीत है ;
भिक्षुक नेत्र बार-बार जिसके द्वार पर लौट आते हैं।
तुम्हारा सौन्दर्य-दूत
काल-प्रहरी की आँख बचाकर
युग-युग से
यह निःशब्द संदेश लेकर चल रहा है —
'प्रिये, मैं भूला नहीं, भूला नहीं, भूला नहीं।'

महाराज !
तुम तो आज जा चुके हो,
तुम्हारा राज्य स्वप्न के समान छूट गया है,

तुम्हारा सिंहासन टूट गया है;
तुम्हारा सैन्य-समूह;
जिसके चरण-भार से पृथ्वी डगमग करती थी,
आज उसकी स्मृति
दिल्ली के रास्ते की धूल पर हवा में उड़ रही है।
बन्दीगण अब गीत नहीं गाते;
यमुना की लहरों के साथ नौबत की तान नहीं मिलती।
तुम्हारी पुर-सुन्दरियों के नूपुरों का स्वर
टूटे हुए प्रासाद के कोने में भरकर
झींगुर के स्वर में
निशा के आकाश को रुलाती है।
तब भी तुम्हारा दूत मलिन नहीं हुआ,
यह श्रान्ति-क्लांति से हीन है,
राज्यों के बनाव और बिगाड़ को तुच्छ करके,
जीवन और मृत्यु के चढ़ाव-उतार की अनदेखी कर
युग-युगान्तर से
वह एक ही स्वर में
चिरन्तन विरही की वाणी लेकर कहता जा रहा है,
'प्रिये, मैं भूला नहीं, भूला नहीं, भूला नहीं।'

झूठी बात! कौन कहता है कि भूला नहीं!
कौन कहता है
कि स्मृति-पिंजर का द्वार नहीं खुला?
अतीत के अन्धकार को
क्या आज भी तुम्हारा हृदय बाँधकर रखे हुए है?
विस्मरण के मुक्ति-पथ से होकर
क्या आज भी वह बाहर नहीं निकला?
मक़बरा तो एक ही जगह निश्चल खड़ा है।
उसने धूल में रहकर
स्मृति के आवरण में मृत्यु को यत्न से ढँक रखा है।
जीवन को कौन रोक सकता है?
आकाश का प्रत्येक नक्षत्र उसे पुकार रहा है।
नये-नये लोकों से,

नये-नये उदय-शिखरों से,
नये-नये प्रकाश से
उसे आमंत्रण मिल रहा है।
स्मृति की गाँठ तोड़कर
वह बन्धन-विहीन, विश्व-मार्ग पर दौड़ पड़ता है।
महाराज ?
किसी भी समय कोई भी महाराज्य तुम्हें पा नहीं सका।
हे विराट् ?
समुद्र-गर्जन से ध्वनित पृथ्वी तुम्हे तृप्त नहीं कर सकती थी।
इसीलिए,
जीवन-उत्सव के शेष होने पर
तुम इस पृथ्वी को
मिट्टी के बरतन के समान
ठुकराकर चले गये।
तुम अपनी कीर्ति से भी महान् हो,
इसीलिए, तुम्हारा जीवन-रथ,
तुम्हारी कीर्ति को भी बार-बार पीछे छोड़कर
आगे निकल जाता है।
इसीलिए,
तुम यहाँ नहीं हो, तब भी तुम्हारी निशानी मौजूद है।
जो प्रेम आगे की ओर चलना-चलाना नहीं जानता,
जिस प्रेम ने
बीच रास्ते में ही सिंहासन डाल दिया,
उसका विलास-संभाषण,
रास्ते की धूल के समान,
तुम्हारे पाँवों से लिपटा था।
तुमने उसे फिर धूल में ही लौटा दिया।
पीछे की उस पद-धूलि के ऊपर,
किसी समय, अचानक ही,
वायु के झोंके से तुम्हारे हृदय से
जीवन-मालाका बीज उड़कर आ गिरा?
तुम तो दूर चले गये;

किन्तु, वह बीज अमर अंकुर के रूप में बढ़कर
आकाश की ओर उड़ गया है
और वह गंभीर गान में कह रहा है,
'जितनी भी दूर देखता हूँ,
वह पथिक नहीं दिखाई देता, नहीं दिखाई देता।
प्रेयसी उसे रोककर नहीं रख सकी,
राज्य ने उसकी राह छोड़ दी,
समुद्र और पर्वत ने डाला नहीं अवरोध
आज उसका रथ
रात्रि के आह्वान पर
नक्षत्रों के गीत से होकर
प्रभात के सिंह-द्वार की ओर कर रहा है प्रस्थान।
इसीलिए,
स्मृति का भार लेकर मैं यहाँ पड़ा हूँ।
भार-मुक्त वह पथिक यहाँ नहीं है।'

३१ अक्तूबर १९१४

'शाहजहाँ'
('बलाका')

३८

चंचला

हे विराट् नदी,
अदृश्य अशब्द तेरी वारि धारा
बह रही निरवधि विराम-विहीन
अविरल-अविच्छिन्न अजस्त्र।
स्पन्दन से सिहरता शून्य तेरी रुद्र कायाहीन गति के वेग से फिर
वस्तुहीन प्रवाह के खा-खा प्रचण्डाघात
उठते वस्तुरूपी फेन के बहुपुंज,
नव आलोक की तीव्रच्छटा विच्छुरित हो उठती
चित्र-विचित्र वर्णस्रोत में
उठ-उठ निरन्तर धावमान विशाल तिमिर व्यूह से,
इस चण्ड गति से उठ घूर्ण चक्र से
प्रत्येक स्तर में — पतित घूर्णित
भटकते-मरते अनेकों सूर्य-शशि-नक्षत्र
बुद्‌बुद की तरह दिन-रात।

हे भैरवी, हे वैरागिणी,
तुम जो चलीं उद्देश्य-हीन, अबाध यह गति ही तुम्हारी रागिणी
निःशब्द मोहन गान।
क्या आज तुम को पुकार रहा अनन्त सुदूर निरवधि ?
उसकी ही निगोड़ी प्रीति से तुम हाय घर छोड़ निकलीं
उन्मत्त यह अभिसार जिससे तरल
वक्षोहार बारंबार टकराता, बिखरते जा रहे
नक्षत्र मुक्ताकार।
घन मेचक चिकुर -संभार उड़-उड़

व्योमतत्त्व को कर रहा है अन्ध तिमिराकार ;
हिल उठते कि विद्युत् कर्णफूल ;
विलोल अंचल
लोटता कम्पित तृणों पर
(और) वन-वन में तरुण, पल्लव-समूहों पर
झर-झर पड़ें बारम्बार,
चंपा-बकुल-जूही और पाटल
मार्ग में,
गिर-गिर तुम्हारे थाल से ऋतु के।

कि, केवल दौड़ती हो, दौड़ती
उद्दाम उद्भावित,
फिरकर नहीं तकतीं
लुटाती जा रही सर्वस्व अपना खींच-खींच उलीच दोनों हाथ से।
न रखती रंच-मात्र बटोर, कुछ भी नहीं सँचती या सँजोती
(और मन में कहीं) शोक न भीति, —
इस आनंद में पथ के लुटाती जा रही निर्बाध निज पाथेय।
जिस क्षण पूर्ण हो जाती उसी क्षण कुछ नहीं रहता तुम्हारा,
तुम इसी कारण,
पवित्र सदैव।

तुम्हारे चरणतल के स्पर्श से संसार की यह धूलि
जाती भूल निज मालिन्य
पल-पल में —
निखरती मृत्यु बनकर प्राण प्रति उल्लास में
(केवल) एक क्षण भी अगर
थककर
तुम ठमक जाओ
(अचानक) चौंककर उस क्षण
समुच्छ्रित हो उठे यह विश्व-पुंजीभूत पर्वत-सदृश वस्तु-समूह से
अति पंगु-मूक-कबंध-बधिर-निरंध
बाधा स्थूलतनु मोटी-मुचंडी

रोककर सबको खड़ी हो जाय पथ में;
क्षुद्र से भी क्षुद्रतर परमाणु अपने भार से
संचय-जनित निश्चल (विरूप) विकार से
हो उठे विद्ध असीम नभ के मूल में ही
कलुष पीड़ा के भयंकर शूल से।
हे नटी, हे चपलाप्सरे,
सुन्दरी अलक-विहारिणी,
तेरे मनोहर नृत्य की मन्दाकिनी अहरह स्रवित हो
कर रही पावन (निरन्तर)
विश्व जीवन को मरण के स्नान से।
निःशेष निर्मल नील में विकसा रही है निखिल गगन (महान् को)।

रे कवि, आज तुझको उत्तरल-चंचल बना डाला
नवल झंकार-मुखरा भुवन की इस मेखला ने,
अलक्षित पद-संचरण की अहैतुक-निर्बाध गति ने,
नाड़ियों में (आज) तेरे सुन रहा हूँ किसी चंचल की पगध्वनि,
वक्ष में रणरणित निःस्वन।
है न कोई जानता यह —
नाचती है रक्त मे तेरे उदधि की लोल लहरें,
काँपती है आज व्याकुलता वनों की,
याद आती वह (पुरानी) बात —
युग-युग से चला हूँ,
स्खलित हो-हो
सदा चुप-चुप
रूप से आ रूप मे ढलता हुआ,
प्राण से आ प्राण मे;
हो प्रात या कि निशीथ
जब जो-कुछ मिला है हाथ मे
देता गया हूँ,
दान से नवदान को
इस गान से उस गान को।

तू देख, स्रोत मुखर हुआ है
कँपती थर-थर तरणि है।
तीर का संचय पड़ा रह जाय तेरा तीर पर ही
उलटकर उस ओर तू मत तक।
(ऐसा हो कि) वाणी सामने की
खींच ले तुझको
महा (गति-) स्रोत में,
गया जो छूट कोलाहल उधर पीछे, वहाँ से
अतल तम में — कूल-हीन प्रकाश मे !

१८ दिसम्बर १९१४ 'चचला'
(बलाका)

दो नारियाँ

कौन था वह क्षण
जब सृजन के समुद्र-मंथन से,
पाताल का शय्यातल छोड़कर,
दो नारियाँ ऊपर आयीं ?
एक थी उर्वशी, सौन्दर्यमयी,
विश्व के कामना-राज्य की रानी,
स्वर्ग-लोक की अप्सरा।
और दूसरी थी लक्ष्मी, कल्याणमयी,
विश्व की जननी के रूप मे परिचिता,
स्वर्ग की ईश्वरी।

एक नारी तपस्या भंग कर,
प्रखर हास्य के अग्नि-रस से
फागुन का सुरा-पात्र भरकर
प्राण-मन को हर ले जाती है।
और उन्हें
वसन्त के पुष्पित प्रलाप में,
लाल रंग के किंशुक और गुलाब में,
निद्राहीन यौवन के गान में
दोनों हाथों से बिखेर देती है।

और दूसरी
हमें आँसुओं की ओस में नहलाकर
स्नेह-सिक्त वासना में फिरा लाती है,

हेमन्त के स्वर्ण-कान्तिमय शस्यों से भरी
शांति की पूर्णता में लौटा लाती है।
लौटा लाती है
संपूर्ण सृष्टि के वरदान की ओर,
धीर-गंभीर, सस्मित लावण्य की
माधुर्यमयी सुधा की ओर।
धीरे से लौटा लाती है
जीवन-मृत्यु के पवित्र संगम तीर्थ पर
जहाँ अनन्त उपासना का मन्दिर है।

३ फरवरी १९१४

'दुइ नारी'
(बलाका)

४०

बलाका

सन्ध्या की लालिमा में झिलमिलाता हुआ झेलम का यह बाँका स्रोत
अन्धकार में मलिन हो गया, मानो म्यान में रखी हुई
बाँकी तलवार।

दिन के भाटे की समाप्ति के बाद आया रात का ज्वार
अपने काले जल में बहकर आते हुए नक्षत्र-पुष्पों को लिये हुए;
अँधेरे गिरि-तट की तलहटी में
कतार-के-कतार देवदार वृक्ष खड़े हैं;
ऐसा लगता कि सृष्टि मानो स्वप्न मे कुछ कहना चाहती है,
किन्तु स्पष्ट कह नहीं पा रही है,
और उस अव्यक्त ध्वनि का पुंज घुमड़ रहा है (उसके हृदय मे)।

अचानक सुनाई पड़ी उसी समय
संध्या के आकाश मे
शब्द की विद्युत-छटा, शून्य के प्रान्तर मे,
क्षण-भर मे फैल गयी दूर से और भी दूर।
हे हंस-बलाका,
मत्त हैं तुम्हारी पाँखें झंझा-मद के रस से
पुंजीभूत आनन्द के अट्टहास से
विस्मय का जागरण तरंगित करके चल पड़ी हैं आकाश में।
पाँखों की वह ध्वनि —
शब्दमयी अप्सरा है
जो स्तब्धता का तपोभंग करके चली गयी।
सिहर उठी अन्धकारमग्न गिरिश्रेणी
सिहर उठा देवदारु वन।

जान पड़ा (तुम्हारे) पंखों की यह वाणी
ले आयी
केवल एक क्षण के लिए
पुलकित निश्चल (विश्व) के अन्तरतर में
वेग का आवेग।
पर्वत होना चाहता है निरुद्देश्य मेघ,
वृक्ष-श्रेणी चाहती है पंख पसारकर
मिट्टी का बन्धन तोड़कर
उसी शब्द-रेखा को पकड़कर, अचानक दिशाहारा होना,
आकाश का किनारा ढूँढ़ना।
इस संध्या का स्वप्न टूट रहा है, वेदना की तरंगें जाग उठी हैं
सुदुर (की यात्रा) के लिए
हे पंखों के वैरागी !
बज उठी है (यह) व्याकुल वाणी निखिल (विश्व) के प्राणों में,
'यहाँ नहीं, वहाँ नहीं, और कहीं।'

हे हंस-बलाका
आज की रात तुमने खोल दिया, मेरे निकट, स्तब्धता का ढक्कन।
सुन रहा हूँ मैं इस निस्तब्धता के तल में,
शून्य में, जल में, स्थल में,
पंखों के ऐसे ही उद्दाम-चंचल शब्द।
तृणदल
मिट्टी के आसमान मे पंख फड़फड़ा रहे हैं।
और मिट्टी के अन्धकार के नीचे किसे क्या पता है
कि अंकुरों के पंख फैला रही हैं
लाख-लाख बीजों की बलाकाएँ
आज मैं देख रहा हूँ
यह पर्वत-श्रेणी, यह वन,
चल पड़े हैं उन्मुक्त पंख फैलाए हुए
द्वीप से द्वीपान्तर को, अज्ञात से और भी अज्ञात की ओर;
नक्षत्रों के पंख के स्पन्दन से
चमक उठता है अंधकार आलोक के क्रन्दन से।

(मैंने) सुना है, मानव के न जाने कितने सन्देश दल बाँध कर
अलक्षित मार्ग से उड़े चले जा रहे हैं
स्पष्ट अतीत से अस्फुट सुदूर युगान्तर की ओर,
(मैंने) सुना अपने अन्तर ने
असंख्य पक्षियों के साथ
दिन-रात
यह घर छोड़ पंछी दौड़ रहा है आलोक और अन्धकार में
(न जाने) किस पार से किस पार की ओर।
ध्वनित हो उठा है शून्य, निखिल (विश्व) के पंखों के इस गान से —
'यहाँ नहीं, और कहीं, और कहीं, कहीं और।'

अक्तूबर-नवम्बर, १९१५

'बलाका'
(बलाका)

४१

तपोभंग

यौवन के वेदना-रस से उफनते हुए वे दिन
हे काल के अधीश्वर, अन्यमनस्क होकर तुम क्या भूल गये ?
हे बमभोले संन्यासी ?
चैत्र की चंचल रात्रि में किंशुक की मंजरियों के साथ,
क्या वे शून्य के अकूल पारावार में लापरवाही के कारण बह गये ?
आश्विन की वृष्टि-रहित झीने सफ़ेद बदलों की नैया में (बहते हुए)।
क्या स्वेच्छाचारी हवा की खिलवाड़ से विस्मृति के घाट जा लगे,
निठुर लापरवाही के कारण ?

एक दिन तुम उन दिनों को अपनी पिंगल जटा के जाल में
सफ़ेद-लाल-नीले-पीले नाना रंग के फूलों के रूप में सजाया करते थे,
भूल गये यह बात ?
वे दस्यु हैं, हे भिक्षुक, जिन्होंने हँस-हँसकर ले लिया अंत में
तुम्हारा डमरू और सिंगा, हाथ में दे दिया मंजीर और बाँसुरी,
गन्धभार तुम्हारा कमंडल, डुबा दिया निविड़ आलस में
माधुर्य के रभस-वेग से।

उस दिन तुम्हारी तपस्या अचानक शून्य में बह गयी
शुष्कपत्र, गीतरिक्त, हिम-मरु देश में,
उत्तर की ओर
तुम्हारे ध्यान-मंत्र को ले आयी बाहरी किनारे
पुष्पगंध से लक्ष्यच्युत दक्षिणी पवन के कौतुक-रूप में।
उस मंत्र से मत्त हो उठे सेवती, कचनार, करवीर ;
उस मंत्र से नवीन पत्रों के रूप में जला दिया
अरण्य-वीथिका ने श्यामल वह्निशिखा को।

वसन्त की बाढ़ के बहाव में तपस्या की समाप्ति हुई;
जटिल जटाओं के बन्धन में सुनी (तुमने)
जाह्नवी के अश्रुओं की मनोहर तान,
तन्मय भाव से।
उस दिन तुम्हारा ऐश्वर्य नव-नव रूपों में फूट पड़ा
अन्तर में उद्वेल हो उठा अपने में अपना ही विस्मय।
आनन्द के साथ धारण किया अपने हाथ में तुमने
अमृत का ज्योतिर्मय पात्र —
वह विश्व क्षुधा का शामक है।

उस दिन तुम जिस नृत्य से उत्पन्न हुए वन-वन में घूमे
उसी नृत्य के छन्द और लय से मैं प्रतिक्षण संगीत रचा करता
तुम्हारा संग पकड़कर संगत में
तुम्हारे ललाट के चन्द्रालोक में नन्दन वन के
स्वप्नों से भरी आँखों द्वारा
मैंने नित्य नूतन की लीला देखी है मन भरकर।
देखी है सुन्दर अन्तर्लीन रंगीन मुस्कानें,
रख ली है सुन्दर की (वह) पुलक-कम्पित भंगिमा
रूप की तरंगों से लहराती हुई!
उस दिन का वह पान-पात्र!
क्या आज तुमने उसकी पूर्णता दूर कर दी?
पोंछ दिया चुम्बन रेखा से चिह्नित बंकिमरेख-लता को,
किसी रक्तिम अंकन से?
अनगाये संगीत की धारा अश्रु का संचय-भार
क्या तुम्हारी अवहेलना के कारण ढरक पड़े
उस टूटे बर्तन में से तुम्हारे आँगन में?
तुम्हारे ताण्डव नृत्य से चूर्ण-विचूर्ण होकर
क्या वे धूल में मिल गये?
निर्मल वैशाखी अन्धड़ के निःश्वास से व्याकुल होकर
लुप्त हो गये क्या वे दिन?

नहीं नहीं, बने हुए हैं वे दिन; सिर्फ़ तुमने उन्हें समेट भर लिया है
निगूढ़ ध्यान रात्रि में निःशब्दता के बीच संवरण करके

रखा करते हो तुम उन्हें छिपाकर।
तुम्हारी जटा में कोई हुई गंगा की धारा आज शान्त हो गयी है,
तुम्हारे ललाट का चन्द्रमा आज लुप्त हो गया है
सुप्ति के बन्धन में जकड़ा हुआ।
अब फिर किस लीला का बहाना बनाकर बाहर से तुमने
अकिंचन का बाना धारण किया है।
अन्धकार में जितनी दूर तक दिगन्त में देख रहा हूँ।
एक ही ध्वनि निःश्वसित हो रही है —
'नहीं हैं, वे नहीं हैं ।'
तुम काल के चरवाहे हो, संझा समय तुम्हारा सिंगा बजा करता है
दिन रूपी गायें लौट आती हैं स्तब्ध — चुपचाप — तुम्हारी गोठ में
उत्कंठा-कातर वेग से।
(फिर तो) जिस मैदान में उल्कामुखी आलोक जलता रहता है,
विद्युत्-वह्नि का सर्प फण की चोट मारता है
युगान्तरकालीन मेघ पर।
और फिर जितने चंचल मुहूर्त है वे दुःसह नैराश्यवश
तपस्या के निरुद्ध निःश्वास से बुरी तरह जकड़े जाकर
शान्त हो आते हैं।

जानता हूँ, अच्छी तरह जानता हूँ,
यह तपस्या रूपी दीर्घरात्रि खोज रही है
चंचल के नित्य-प्रवाह में अपना उन्मत्त अवसान
दुरन्त उल्लास के साथ।
बन्दी यौवन के दिन फिर श्रृंखलाहीन होकर
बार-बार बाहर निकलेंगे व्यग्र वेग से उच्च कलोच्छ्वास के साथ।
विद्रोही नवीन वीर जो संन्यासी के शासन को नष्ट करनेवाला होगा
बार-बार देगें दिखायी।
मैं रच रहा हूँ उसी का सिंहासन — उसी का संवाद (संभाषण)।
मैं महेन्द्र का वह दूत हूँ जो तपोभंग किया करता है। ओ रुद्र संन्यासी,
मैं स्वर्ग का षड्यंत्र हूँ। मैं कवि हूँ, हर युग में आता हूँ —

तुम्हारे तपोवन में।
दुर्जय की जयमाला पूर्ण करती है मेरी डलिया को,

उद्दाम की उत्तरल-चंचल-ध्वनि बजा करती है मेरे छन्द के क्रन्दन में।
व्यथा के मेरे प्रलाप से हर गुलाब में जाग उठती है मेरी वाणी,
हर किसलय में कौतूहल का कोलाहल उत्पन्न कर
अपने गानों से आघात लगाया करता हूँ।

हे शुष्क वल्कलधारी वैरागी, तुम्हारी अब धोखाधड़ी मैं जानता हूँ —
सुन्दर के हाथ आनन्दपूर्वक पूरी पराजय चाहते हो
युद्ध का नक़ली भेस बनाकर।
तुम बार-बार पंचशर को अग्नि तेज से जलाकर
दुगुना उज्ज्वल करके बार-बार जलाया करोगे उसे आख़िरकार।
बार-बार उसी के शरासन को सम्मोहन से
भर दिया करूँगा, यही सोचकर
मैं कवि संगीत का इन्द्रजाल लेकर चला आता हूँ
मिट्टी की गोद में।

जानता हूँ, खूब जानता हूँ, बार-बार प्रेयसी की दर्दभरी प्रार्थना
सुनकर अकचकाकर जगाना चाहते हो,
हे मेरे अन्यमनस्क नवीन उत्साह में
यही कारण है कि ध्यान का बहाना बनाकर विरह में विलीन तुम
उमा को रुलाना चाहते हो विच्छेद के जलते हुए दुःख की जलन से।
भंग हुई तपस्या के बाद मिलन की यह निराली शोभा
भंग हो गयी तपस्या के बाद मिलन की वह विचित्र शोभा
मैं हर युग में देखा करता हूँ, वीणा के तारों पर बजाया करता हूँ
भैरवी रागिनी, मैं वही कवि हूँ।

मुझे नहीं पहचान पाता तुम्हारे श्मशान का वैराग्यविलासी —
दरिद्र्य के उग्र दर्प से खिलखिलाकर अट्टहास कर उठता है
देखकर मेरी साज-सज्जा।
ऐसी ही समय, वसन्त मास में, मिलन का लग्न आता है
उमा के कपोलों पर आ लगती है स्मितहास्य से विकसित लज्जा।
उस दिन तुम कवि को बुलाती हो विवाह की बारात में
पुष्प-माल्य मांगल्य की पिटारी लिये सप्तर्षि-दल के साथ-साथ
कवि चलता है।

भैरव मेरे, उस दिन तुम्हारे प्रेत संगियों का दल लाल-लाल आँखों से देखता है कि तुम्हारा शुभ्र शरीर ऐसे लाल वस्त्र से आच्छादित है जिसकी कान्ति प्रातःकालीन सूर्य की है।
अस्थिमाला खुल गयी है, फेंक दी गयी है, माधवी लता के मूल में ललाट पर अंकित है पुष्परेणु — भस्म न जाने कहाँ पुँछ गयी है कौतुक से हँसती है उमा कटाक्ष से देखकर कवि की ओर —
उस हास्य से सुन्दर की जय-ध्वनि के गान से
वंशी मन्द्रित हो उठी है कवि के प्राण में।

अक्तूबर-नवम्बर १९२३

'तपो भंग'
(पूरबी)

४२
प्रश्न

भगवान तुमने युग-युग में बार-बार इस दयाहीन संसार में
अपने दूत भेजे हैं।
वे कह गये हैं — क्षमा करो,
कह गये हैं — प्रेम करो, अंतर से विद्वेष का विष
नष्ट कर दो।
वरणीय हैं वे, स्मरणीय हैं वे,
तो भी आज दुर्दिन के समय उन्हें निरर्थक
नमस्कार के साथ बाहर के द्वार से ही
लौटा रहा हूँ।
मैंने देखा है — गोपन हिंसा ने
कपट-रात्रि की छाया में निस्सहाय को
चोट पहुँचायी है।
मैंने देखा है — प्रतिकारविहीन ज़बर्दस्त के
अत्याचार से, विचार की वाणी चुपचाप
सिसक रही है,
मैंने देखा है — तरुण बालक उन्मत्त होकर
दौड़ पड़ा है,
बेकार ही पत्थर पर सिर पटक-पटककर मर गया है;
कैसी घोर यंत्रणा है उसकी?
अमावस की कारा ने मेरे संसार को
दुःस्वप्नों के नीचे लुप्त कर दिया है,
इसीलिए तो आँसू-भरी आँखों से तुमसे पूछ रहा हूँ —

जो लोग तुम्हारी हवा को विषाक्त बना रहे हैं,
उन्हें क्या तुमने क्षमा कर दिया है ?
उन्हें क्या तुमने प्यार किया है ?

३१ दिसम्बर, १९३२

'**प्रश्न**'
(परिशेष)

४३

मृत्युञ्जय

दूर से मन में सोचा था —
दुर्जय हो तुम, निर्जय हो तुम,
पृथ्वी काँपती है तुम्हारे शासन से।
तुम विभीषिका हो,
दुःख के विदीर्ण वक्षस्थल में जला करती है
तुम्हारी लपलपाती जिह्वा।
तुम्हारे दाहिने हाथ का त्रिशूल उठा हुआ है
तूफ़ानी बादलों की ओर,
वहाँ से वज्र खींच लाता है।

डरता-डरता आया तुम्हारे सम्मुख, काँपते हृदय से
तुम्हारे भ्रूकुटि-तर्जन में निकटवर्ती उत्पात तरंगित हो उठा
(और) आघात आ टूटा।
मेरा पंजर काँप उठा, छाती पर हाथ रखकर,
पूछा मैंने 'और कुछ बाक़ी रह गया है क्या ?
क्या और कुछ रह गया है ?
आखिरी वज्रपात ?'
और वह आखिरी आघात भी आ टूटा।
बस, इतना ही ? और कुछ भी नहीं ?
भय दूर हुआ।

जब तुम्हारा वज्र ऊपर उठा था
उस समय मैंने तुम्हें अपने से बड़ा मान लिया था।

अपने आघात के साथ तुम नीचे उतर आये,
वहाँ, जहाँ मेरा अपना स्तर है।
आज तुम छोटे हो गये।
तेरी सारी लाज टूट गयी।
तुम चाहे जितने बड़े हो,
तुम मृत्यु से बड़े तो नहीं हो।
'मैं मृत्यु से बड़ा हूँ, ' सिर्फ़ यही आखिरी बात कहकर —
चला जाऊँगा मैं।

१ जुलाई १९३२

'मृत्युञ्जय'
('परिशेष')

४४

विहंग के जाने का समय हो गया

विहंग के जाने का समय हो गया।
घोंसला अभी खाली हो जाएगा।
अरण्य-आन्दोलन से टूटा हुआ नीड़
गान बन्द कर धूल में आ गिरेगा।
सूखे पत्तों और जीर्ण फूलों के साथ
रात-दिन उस शून्य में उड़ता हुआ,
जहाँ राहों के कोई निशान नहीं हैं,
मैं अस्तोदधि के उस पार चला जाऊँगा।

इस पृथ्वी ने कितने समय तक आतिथ्य दिया ?
कभी मैंने फाल्गुन की औदार्य-मधुर पुकार सुनी,
जिसमें आम्र-मंजरियों की गन्ध-भरी थी।
कभी अशोक की मंजरी ने, इशारों से,
मेरे स्वर की कामना की।
और मैंने प्रीति-रस में भरकर
उसे अपना स्वर दिया।

कभी बैसाख के झंझाघात में
तप्त धूलि के मारे मेरा कंठ रुद्ध हो गया;
मेरे डैने असमर्थ हो गये।
किन्तु हृदय के सम्मान के कारण
मैं अपने को धन्य मानता हूँ।

इस पार की श्रान्त यात्रा के रुक जाने पर
मैं क्षण-भर पीछे की ओर मुड़कर
नम्र नमस्कार के साथ इस जीवन के
अधिदेवता की वन्दना कर जाऊँगा।

२८ अप्रैल, १९३४

'जाबार समय फल विहंगेर'
(प्रान्तिक)

४५

जन्म-दिन

आज मेरा जन्म-दिन है।
यह अभी-अभी
जीवन की सीमा की ओर जानेवाली राह में
डुबकी लगाकर,
आगे चलने का अनुमति-पत्र मृत्यु से प्राप्त कर
विलुप्ति के अंधकार से बाहर निकला है।
लगता है, पुरातन वर्ष की ग्रन्थि में बँधी जीर्ण माला,
जैसे, वहाँ टूट गयी हो।

आज नया जन्म-दिन
नये सूत्र मे गूँथा जा रहा है।
जन्मोत्सव के लिए यह जो आसन बिछाया गया है,
यहाँ मैं केवल यात्री मात्र हूँ।
यहाँ मैं मृत्यु के दाहिने हाथ से तिलक वरण करूँगा।
यहाँ मैं तब तक प्रतीक्षा करूँगा
जब तक नूतन अरुणिमा
यात्रा पर जाने का संकेत नहीं देती।

जन्म-दिन और मृत्यु-दिन आज परस्पर समीप हैं।
दोनों एक ही आसन पर बैठे हैं।
मेरे जीवन की सीमा में दोनों आलोक,
रात्रि के चन्द्रमा और ऊषा के शुक्र तारे के समान,
आमने-सामने होकर मिल रहे हैं।

एक ही मंत्र से
दोनों की अभ्यर्थना हो रही है।
हे पुरातन अतीत !
तुम अपना अर्घ्य नीचे करो।
मेरे प्राणों की जन्म-भूमि अरूप है।
उदय-श्रृङ्ग पर उसकी आदि ज्योति को निहारो।
मुझे आशीर्वाद दो,
मायाविनी मरीचिका
प्यास के जलते हुए दिगन्त में विलीन हो जाय।
मैंने कंगाल के समान भरी थी आसक्ति की डाली;
इस अपवित्र संचय-पात्र को कर दो खाली।
मुट्ठी की भीख धूल में वापस ले लो।
आशीर्वाद दो,
यात्रा की नौका पर चलते समय
पीछे मुड़कर
जीवन-भोज के उच्छिष्ट की ओर
मैं आँखें फाड़-फाड़कर न देखूँ।

हे पृथ्वी !
तुम नित्य-प्रति उस तृष्णा,
उस क्षुधा की बात समझाती रही हो
जो तुम्हारे संसार-रथ में संलग्न हज़ारों लोगों के साथ
मुझे स्थूल और सूक्ष्म, नाना धागों से बाँधकर
नाना दिशाओं में, नाना मार्गों पर खींच रही है।
आज छुट्टी की गोधूलि-वेला के तंद्रिल आलोक में
उसका अर्थ कम हो गया।

हे कृपणे ! उसी क्रम में
तुम मुझसे मेरी शक्ति वापस ले रही हो।
आड़ देकर, स्वच्छ प्रकाश को
आँखों और कानों से छिपा रही हो।

दिन-दिन निष्प्रभ नेपथ्य की ओर
वह कौन खींच रहा है?
तुम्हारे लिए मेरा उपयोग शिथिल हो गया।
क्या इसीलिए, तुम मेरी कीमत घटा रही हो;
मेरे ललाट-पट पर निषेध की छाप लगा रही हो।

किन्तु, जानता हूँ तुम्हारी अवज्ञा
मुझे खींचकर दूर नहीं फेंक सकती।
तुम्हारे प्रयोजन से जो मनुष्य बाहर है,
उसे, अन्त में नमस्कारपूर्वक
सर्वोच्च स्थान देना होगा।
यदि मुझे पंगु करोगी, यदि मुझे अन्धा बनाओगी,
यदि निःशक्ति की प्रदोषच्छाया में
मुझे प्रच्छन्न करोगी,
अथवा यदि वार्धक्य-जाल में मुझे बाँध दोगी,
तो भी भग्न मन्दिर की वेदी पर
प्रतिमा अक्षुण्ण और गौरवपूर्ण ही रहेगी।
वहाँ से उसे हटा देने की शक्ति
तुममें नहीं है।

तोड़ो, तोड़ो, भग्न स्तूप को ऊँचा करो।
जानता हूँ, इस जीर्णता के अन्तराल में
मेरा आनन्दमय स्वरूप उज्ज्वल होकर वर्तमान है।
चतुर्दिक् व्याप्त आकाश की रसपूर्ण वाणी ने
प्रतिदिन उसे अमृत लाकर दिया था।
और प्रत्युत्तर में नाना छन्दों मे
उसने यह गान गाया था,
'मैंने प्यार किया है।'
उसी प्रेम ने तुम्हारे अधिकार से मुक्त होकर
मुझे स्वर्ग की ऊँचाई तक पहुँचा दिया।
सारे विनाश, सारी क्षति के बाद भी
मेरा वह प्रेम शेष रहेगा।

हो सकता है,
उसकी भाषा, अभ्यास के म्लान स्पर्श से
अपनी दीप्ति खो दे।
तब भी,
यदि मृत्यु के उस पार पहुँचकर मैं जग उठूँ
तो मेरा वह अमृत-रूप मेरे साथ रहेगा।

उसी के अंग पर
आम्र-मंजरी ने पराग से
और कोमल शेफालिका ने सुरभित शिशिर-कणों से
पत्र-रचना की थी।
उसी के झीने उत्तरीय को शिल्पकार ने
दोयेल पक्षी के गीतों भरे कलरव के ताने-बाने से
जल्दी-जल्दी बुना था।
प्रिया के विह्वल स्पर्श ने
उसकी सारी देह पर
रोमांचित वाणी की सृष्टि की है।
वह नित्य संचित है।
जहाँ तुम्हारी रंगशाला है,
वहाँ क्षणिक अवकाश के समय खिड़की से होकर
न जाने, कौन मुझे अचानक घेरकर
ललाट पर माला पहना देता है।
यह नौकरी का इनाम नहीं।
वह दूत,
जिसे न तो पकड़ सकते हैं, न देख सकते हैं,
न जाने, किस इंगित में, किस आभास में
असीम की आत्मीयता जताकर चला जाता है;
भाषातीत वार्त्ता उस मनुष्य को कह जाता है
जिसका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है!

हे धरणी!
वह मनुष्य जब तुम्हारा आश्रय छोड़कर जाने लगे,
तब, तुमने जो कुछ उसे दे रखा है,

उसे गिनकर वापस ले लेना
तुम्हारे कर्मों की जो पोशाक है,
तुम्हारे पथ का जो पाथेय है,
उसे तुम लौटा लेना।
इससे वह लज्जित नहीं होता।
रिक्तता में दैन्य नहीं होता।
तब भी जान लो,
तुम्हारी मिट्टी के दान की
मैं अवज्ञा नहीं करता।
मैं उस मिट्टी के सामने ऋणी हूँ।
बारंबार बता चुका हूँ,
उसी मिट्टी की सीमा के घेरे मे
मैंने अमूर्त्त का पता पाया है।
जड़ता की यवनिका जब प्रकाश में विलीन होती,
तब पुष्प-पुष्प मे. तृण-तृण मे,
रूप-रूप और रस-रस मे
जो गूढ़ रहस्य प्रतिदिन गहरी साँसे भरता था
लगता है,
आज मर्त्य-लोक के उस पार जाते समय,
उसी चरम अर्थ को खोजने के लिए
मैंने अपना मुख पीछे की ओर फेरा है।

तुम्हारे नियंत्रण पर
जब भी मैं शान्त. निरासक्त भाव से गया हूँ,
उस शुभ क्षण में तुम्हारी अमरावती को
मैंने सुप्रसन्न और मुक्तद्वार पाया है।
बुभुक्षु की लालसा को वह पूर्ण नहीं करती।
उसके मिट्टी के पात्र में जो अमृत संचित है,
वह उनके लिए नहीं है
जो दीन भिखारी हैं,
जो लोलुप और लालसानुरक्त हैं।

हे धरित्री ?
इन्द्र का ऐश्वर्य लिये हुए
तुम त्यागी की प्रतीक्षा में जाग रही हो।
तुम्हारा सम्मान उसके लिए है जो निर्लोभी है।
वैराग्य के शुभ्र सिंहासन पर बिठा कर
आतिथ्य तुम उसे देती हो
जो दुर्गम पथ का पथिक है।
जो क्षुब्ध है,
जो लुब्ध है,
जो मांस-गन्ध पर मुग्ध हैं,
जिनकी आत्मा की दृष्टि खो गयी है,
जो मरघट में भटकने वाले हैं,
वे दिन-रात तुम्हारे निषेध-कुण्ड को घेरकर
बीभत्स चीत्कार करते हुए चक्कर काटते हैं,
निर्लज्ज हिंसा में पड़कर मार-काट करते हैं।
इसीसे आज मानव-जन्तु का हुंकार सुनता हूँ
जो दिशा-दिशा में ध्वनित हो रहा है।
तब भी चाहता हूँ,
पंडितों की मूर्खता पर,
दरिद्रों पर धनियों के अत्याचार पर,
श्रृंगार-सज्जितों की विरूपता पर
जैसे बार-बार हँसता आया हूँ,
वैसे ही, आगे भी हँसता जाऊँ।
मनुष्य के भीतर बसनेवाले देवता पर
जो दुष्ट, बर्बर मनुष्य
मुँह बनाकर व्यंग्य करता है,
उसे मैं हँसी की मार मार जाऊँगा
कह जाऊँगा,
'इस प्रहसन के मध्यांक में ही
दुःस्वप्न का अकस्मात् लोप हो जायगा।
अभिनय की क़ब्र के रूप में बाक़ी रहेगी
केवल बुझी हुई मशाल की भस्म-राशि

और अदृश्य का अट्टहास।''
कह जाऊँगा,
'दानव का मूढ़ अपव्यय, द्यूत के छल से,
कभी भी
इतिहास में शाश्वत अध्याय नहीं जोड़ सकता।'

व्यर्थ की बातें अब यहीं रहें।
सुन रहा हूँ,
तुम्हारी देहरी पर घंटा बज रहा है।
यह अन्तिम प्रहर का घंटा है।
उसी के साथ अपने क्लान्त हृदय के भीतर
विदाई का द्वार खुलने की आवाज़ सुन रहा हूँ
जो पास ही, सूर्यास्त के रंग से रंजित
पूरबी राग के सुर मे बज रही है।
जीवन के स्मृति-दीप में
जो आज भी ज्योति दे रही है,
उन कई बत्तियों को लेकर
सप्तर्षि की दृष्टि के सामने
मैं तुम्हारी सांध्य आरती रचाऊँगा।
दिनान्त के अन्तिम क्षण में
मेरी मूक वीणा
तुम्हारे चरणों पर मूर्च्छित हो जायगी।
और
मेरे पीछे रहेगा नागकेशर का नया पौधा
जिसमें अभी फूल नहीं लगे हैं;
और पार जानेवाली नौका को न पा सकनेवाला
इस पार का प्रेम।
विरह-स्मृति की मनोवेदना से क्लान्त होकर,
रात्रि के अन्त में,
वह प्रेम पीछे की ओर फिरकर देखेगा।

८ मई, १९३८

'जन्म-दिन'
(सेंजुति)

४६

जप की माला

आने-जाने वाली राह के किनारे यहाँ अकेला बैठा हूँ।
गीतों की नाव को जो सवेरे प्राणों के घाट पर
धूप-छाँह के नित्य रंगमंच पर ले आये
साँझ की छाया में वे धीरे-धीरे खो गये।

आज वे सब मेरे स्वप्न्-लोक के द्वार पर आ जुटे हैं
जिनका सुर खो गया, वे व्यथाएँ अपना इकतारा खोज रही हैं
एक-एक कर प्रहर जो बीतते हैं, बैठा-बैठा गिनता हूँ केवल
अंधकार की शिरा-शिरा में जप की नीरव भाषा की ध्वनि।

३० अक्तूबर, १९४०

'जपेर माला'
(रोगशय्याय)

४७

सुन्दर का पाया है मधुर आशीर्वाद

इस जीवन में सुन्दर का पाया है मधुर आर्शीवाद
मनुष्य के प्रीति-पात्र में पाता हूँ उन्हीं की सुधा का आस्वाद ।
दुस्सह दुःख के दिनों में
अक्षत अपराजित आत्मा को पहचान लिया है मैंने।
आसन्न मृत्यु की छाया का जिस दिन अनुभव किया
भय के हाथों उस दिन दुर्बल पराजय नहीं हुई।
महत्तम मनुष्यों के स्पर्श से वंचित नहीं हुआ
उनकी अमृत वाणी को अपने हृदय में सँजोया है।
जीवन में जीवन के विधाता का जो दाक्षिण्य पाया —
कृतज्ञ मन में उसी की स्मरण-लिपि रख ली।

२८ जनवरी १९४१

'ए जीवने सुन्दरेर पेयेछि मधुर आर्शीवाद'
(आरोग्य)

४८

मधुमय धरा की धूल

मधुमय है यह द्युलोक, मधुमय इस धरती की धूल —
हृदय में धारण कर लिया है मैंने
यह महामंत्र
चरितार्थ जीवन की वाणी।
दिन-दिन सत्य का जो उपहार पाया था
उसके मधुरस का क्षय नहीं।
इसीलिए मृत्यु के अन्तिम छोर पर गूँजती है वह मंत्र वाणी —
सभी क्षतियों को मिथ्या करके अनंत का आनंद विराजता है।
धरणी का अंतिम स्पर्श लेकर जब जाऊँगा
कह जाऊँगा ललाट पर मैंने तुम्हारी धूल का तिलक लगाया है,
दुर्दिन की माया की आड़ में मैंने नित्य की जोत देखी है
सत्य के आनंद रूप ने इस धूल में आकार लिया है
यही जानकर इस धूल में अपना प्रणाम रख जाता है।

१४ फरवरी १९४१

'मधुमय पृथिवीर धूलि'
(आरोग्य)

४९

रूप-नारान के तट पर

रूप-नारान के तट पर
जाग उठा मैं।
जाना, यह जगत्
सपना नहीं है।
लहू के अक्षरों में लिखा
अपना रूप देखा;
प्रत्येक आघात
प्रत्येक वेदना में
अपने को पहचाना।
सत्य कठिन है
कठिन को मैंने प्यार किया —
वह कभी छलता नहीं।
मरने तक के दुःख का तप है यह जीवन —
सत्य के दारुण मूल्य को पाने के लिए
मृत्यु में सारा ऋण चुका देना।

६ मई १९४१

'रूप नारानेर कूले'
(शेष लेखा)

५०

प्रथम दिन का सूर्य

प्रथम दिन के सूर्य ने
अस्तित्व के नूतन आविर्भाव से पूछा,
'तुम कौन हो ?'
उत्तर नहीं मिला।

वर्ष पर वर्ष बीतते चले गये।
दिन के अन्तिम सूर्य ने,
पश्चिमी समुद्र के तट पर निस्तब्ध खड़ी
संध्या से अन्तिम प्रश्न पूछा,
'तुम कौन हो ?'
उत्तर नहीं मिला।

२७ जुलाई, १९४१

'प्रथमदिनेर सूर्य'
(शेष लेखा)

५१

तुम्हारी सृष्टि का पथ

हे छलनामयी !
विचित्र माया-जाल से
तुमने अपनी दृष्टि के पथ को आकीर्ण कर रखा है।
सरल जीवन पर
तुमने, निपुण हाथों से,
मिथ्या विश्वासों का जाल बिछा रखा है।
इसी प्रवंचना से तुमने अपने महत्त्व की मुहर लगायी है।

अन्वेषी के लिए तुमने रहस्य की रात नहीं रखी।
तुम्हारे ज्योतिर्मय नक्षत्र
उसे जो राह दिखाते हैं,
वह तो उसी के हृदय की राह है।
यह राह सदा ही स्वच्छ है।
अपने सहज विश्वास के द्वारा
वह उसे और भी उज्ज्वल बना लेता है।
बाहर से देखने पर
यह राह भले ही कुटिल हो,
भीतर से वह सीधी और सुगम है
और यही इसकी महिमा है।

लोग समझते हैं, वह छला गया है।
सत्य तो उसे
अपने ही आलोक से धुले अन्तःकरण में मिल जाता है।

धोखा उसे किसी भी चीज़ से नहीं हो सकता।
जीवन का अन्तिम पुरस्कार
वह अपने भण्डार में ले जाता है।
सहज भाव से
जो तुम्हारी माया को झेल लेता है,
तुम्हारे हाथों उसे
शान्ति का अक्षय अधिकार प्राप्त हो जाता है।

३० जुलाई, १९४१

'तोमार सृष्टिर पथ'
(शेष लेखा)

रेखांकन : म्यूरहेड बोन
सौजन्य : रवीन्द्र भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

खण्ड दो

कहानी

१

तोता-कहानी

एक

एक तोता था। वह बड़ा मूर्ख था। गाता तो था, पर शास्त्र नहीं पढ़ता था। उछलता था, फुदकता था, उड़ता था, पर यह नहीं जानता था कि क़ायदा-क़ानून किसे कहते है।

राजा बोले, 'ऐसा तोता किस काम का? इससे लाभ तो कोई नहीं, हानि ज़रूर है। जंगल के फल खा जाता है, जिससे राजा-मण्डी के फल बाज़ार मे टोटा पड़ जाता है।'

मंत्री को बुलाकर कहा, 'इस तोते को शिक्षा दो!'

दो

तोते को शिक्षा देने का काम राजा के भानजे को मिला।

पण्डितों की बैठक हुई। विषय था, 'उक्त जीव की अविद्या का कारण क्या है?' बड़ा गहरा विचार हुआ।

तर्य पाया गया : तोता अपना घोंसला साधारण खर-पात से बनाता है। ऐसे आवास मे विद्या नहीं आती। इसलिए सबसे पहले तो यह आवश्यक है कि इसके लिए कोई बढ़िया-सा पिंजरा बना दिया जाए।

राज-पण्डितों को दक्षिणा मिली और वे प्रसन्न होकर अपने-अपने घर गये।

तीन

सुनार बुलाया गया। वह सोने का पिंजरा तैयार करने में जुट पड़ा। पिंजरा ऐसा अनोखा बना कि उसे देखने के लिए देश-विदेश के लोग टूट पड़े। कोई कहता, 'शिक्षा की तो इति हो गयी!' कोई कहता, 'शिक्षा न भी हो तो क्या, पिंजरा तो बना। इस तोते का भी क्या नसीब है!'

सुनार को थैलियाँ भर-भरकर इनाम मिला। वह उसी घड़ी अपने घर की ओर रवाना हो गया।

पण्डितजी तोते को विद्या पढ़ाने बैठे। नस लेकर बोले, 'यह काम इन थोड़ी-सी पोथियों का नहीं है।'

राजा के भानजे ने सुना। उन्होंने उसी समय पोथी लिखनेवालों को बुलवाया। पोथियों की नक़ल होने लगी। नक़लों के और नक़लों की नक़लों के पहाड़ लग गये। जिसने भी देखा, उसने यही कहा कि, 'शाबास! इतनी विद्या के धरने को जगह भी नहीं रहेगी!'

नक़लनवीसों को लद्दू बैलों पर लाद-लादकर इनाम दिये गये। वे अपने-अपने घर की ओर दौड़ पड़े। उनकी दुनिया में तंगी का नाम-निशान भी बाक़ी न रहा।

दामी पिंजरे की देख-रेख में राजा के भानजे बहुत व्यस्त रहने लगे। इतने व्यस्त कि व्यस्तता की कोई सीमा न रही। मरम्मत के काम भी लगे ही रहेते। फिर झाड़-पोंछ और पालिश की धूम भी मची ही रहती थी। जो भी देखता, यही कहता, उन्नति हो रही है।'

इन कामों पर अनेक-अनेक लोग लगाये गये और उनके कामों की देख-रेख करने पर और भी अनेक-अनेक लोग लगे। सब महीने-महीने मोटे-मोटे वेतन ले-लेकर बड़े-बड़े सन्दूक़ भरने लगे।

वे और उनके चचेरे-ममेरे-मौसेरे भाई-बंद बड़े प्रसन्न हुए और बड़े-बड़े कोठों-बालाख़ानों में मोटे-मोटे गद्दे बिछाकर बैठ गये।

चार

संसार में और-और अभाव तो अनेक हैं, पर निन्दकों की कोई कमी नहीं है। एक ढूँढ़ो हज़ार मिलते हैं। वे बोले, 'पिंजरे की तो उन्नति हो रही है, पर तोते की खोज-ख़बर लेने वाला कोई नहीं है!'

बात राजा के कानों में पड़ी। उन्होंने भानजे को बुलाया और कहा, 'क्यों भानजे साहब, यह कैसी बात सुनाई पड़ रही है?'

भानजे ने कहा, 'महाराज, अगर सच-सच बात सुनना चाहते हों तो सुनारों को बुलाइये, पण्डितों को बुलाइये, नक़लनवीसों को बुलाइये, मरम्मत करनेवालों को और मरम्मत की देख-भाल करने वालों को बुलाइये। निन्दकों को हलवे-माँड़े में हिस्सा नहीं मिलता, इसीलिए वे ऐसी बातें करते हैं।''

जवाब सुनकर राजा ने पूरे मामले को भली-भाँति और साफ़-साफ़ तौर से समझ लिया। भानजे के गले में तत्काल सोने के हार पहनाये गये।

पाँच

राजा का मन हुआ कि एक बार चलकर अपने आँखों से यह देखें कि शिक्षा कैसे धूमधड़ाके से और कैसी बगटुट तेज़ी के साथ चल रही है। सो, एक दिन वह अपने मुसाहबों मुँहलगों, मित्रों और मंत्रियों के साथ आप ही शिक्षा-शाला में आ धमके।

उनके पहुँचते ही ड्योढ़ी के पास शंख, घड़ियाल, ढोल, तासे, खुदरक, नगाड़े, तुरहियाँ, भेरियाँ, दमामे, काँसे, बाँसुरिया, झाल, करताल, मृदंग, जगझम्प आदि-आदि आप ही आप बज उठे। पण्डित गले फाड़-फाड़कर और चुटिया फड़का-फड़काकर मंत्र-पाठ करने लगे। मिस्त्री,

मज़दूर, सुनार, नक़लनवीस, देख-भाल करनेवाले और उन सभी के ममेरे, चचेरे, मौसेरे भाई जय-जयकार करने लगे।

भानजा बोला, 'महाराज, देख रहे हैं न?'

महाराज ने कहा, 'आश्चर्य ! शब्द तो कोई कम नहीं हो रहा!'

भानजा बोला, 'शब्द ही क्यों, इसके पीछे अर्थ भी कोई कम नहीं!'

राजा प्रसन्न होकर लौट पड़े। ड्योढ़ी को पार करके हाथी पर सवार होने ही वाले थे कि पास के झुरमुट में छिपा बैठा निन्दक बोल उठा, 'महाराज आपने तोते को देखा भी है?'

राजा चौंके। बोले, 'अरे हाँ! यह तो मैं भूल ही गया था! तोते को तो देखा ही नहीं!''

लौटकर पण्डित से बोले, 'मुझे यह देखना है कि तोते को तुम पढ़ाते किस ढंग से हो।'

पढ़ाने का ढंग उन्हें दिखाया गया। देखकर उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। पढ़ाने का ढंग तोते की तुलना में इतना बड़ा था कि तोता दिखाई ही नहीं पड़ता था। राजा ने सोचा : अब तोते को देखने की ज़रूरत ही क्या है? उसे देखे बिना भी काम चल सकता है! राजा ने इतना तो अच्छी तरह समझ लिया कि बंदोबस्त में कहीं कोई भूल-चूक नहीं है। पिंजरे में दाना-पानी तो नहीं था, थी सिर्फ़ शिक्षा। यानी ढेर की ढेर पोथियों के ढेर के पन्ने फाड़-फाड़कर क़लम की नोंक से तोते के मुँह मे घुसेड़े जाते थे। गाना तो बन्द हो ही गया था, चीख़ने-चिल्लाने के लिए भी कोई गुंजायश नहीं छोड़ी गयी थी। तोते का मुँह ठसाठस भरकर बिल्कुल बन्द हो गया था। देखने वाले के रोंगटे खड़े हो जाते।

अब दुबारा जब राजा हाथी पर चढ़ने लगे तो उन्होंने कानउमेठू सरदार को ताकीद कर दी कि 'निन्दक के कान अच्छी तरह उमेठ देना!'

छह

तोता दिन पर दिन इस भद्र रीति के अनुसार अधमरा होता गया। अभिभावकों ने समझा कि प्रगति काफ़ी आशाजनक हो रही है। फ़िर भी पक्षी-स्वभाव के एक स्वाभाविक दोष से तोते का पिंड अब भी छूट नहीं पाया था। सुबह होते ही वह उजाले की ओर टुकुर-टुकुर निहारने लगता था और बड़ी ही अन्याय-भरी रीति से अपने डैने फड़फड़ाने लगता था। इतना ही नहीं, किसी-किसी दिन तो ऐसा भी देखा गया कि वह अपनी बीमार चोंचों से पिंजरे की सलाखें काटने में जुटा हुआ है।

कोतवाल गरजा, 'वह कैसी बेअदबी है!'

फ़ौरन लुहार हाज़िर हुआ। आग, भाथी और हथौड़ा लेकर। वह धम्माधम्म लोहा-पिटाई हुई कि कुछ न पूछिये! लोहे की साँकल तैयार की गयी और तोते के डैने भी काट दिये गये।

राजा के सम्बन्धियों ने हाँड़ी-जैसे मुँह लटका कर और सिर हिलाकर कहा, 'इस राज्य के पक्षी सिर्फ़ बेवकूफ़ ही नहीं, नमकहराम भी हैं।'

और तब, पण्डितों ने एक हाथ में क़लम और दूसरे हाथ में बरछा ले-लेकर वह कांड रचाया, जिसे शिक्षा कहते हैं।

लुहार की लुहसार बेहद फैल गयी और लुहारिन के अंगों पर सोने के गहने शोभने लगे और कोतवाल की चतुराई देखकर राजा ने उसे सिरोपा अता किया।

सात

तोता मर गया। कब मरा, इसका निश्चय कोई भी नहीं कर सकता।

कमबख़्त निन्दक ने अफ़वाह फैलायी कि 'तोता मर गया!'

राजा ने भानजे को बुलवाया और कहा, 'भानजे साहब यह कैसी बात सुनी जा रही है?'

भानजे ने कहा, 'महाराज, तोते की शिक्षा पूरी हो गयी है!'

राजा ने पूछा, 'अब भी वह उछलता-फुदकता है?''

भानजा बोला, 'अजी, राम कहिये!'

'अब भी उड़ता है?'

'नाः, क़तई नहीं!'

'अब भी गाता है?'

'नहीं तो!'

'दाना न मिलने पर अब भी चिल्लाता है?।'

'ना!'

राजा ने कहा, 'एक बार तोते को लाना तो सही, देखूँगा ज़रा!'

तोता लाया गया। साथ में कोतवाल आये, प्यादे आये, घुड़सवार आये!

राजा ने तोते को चुटकी से दबाया। तोते ने न हाँ की, न हूँ की। हाँ, उसके पेट में पोथियों के सूखे पत्ते खड़खड़ाने ज़रूर लगे।

बाहर नव-वसन्त की दक्षिणी बयार में नव-पल्लवों ने अपनी गहरी उसाँसों से मुकुलित वन के आकाश को आकुल कर दिया।

माघ १३२४ बंगाब्द आनु ११ चैत्र १८८३ श

२

अनधिकार प्रवेश

एक दिन प्रातःकाल की बात है कि दो बालक राह-किनारे खड़े तर्क कर रहे थे। एक बालक ने दूसरे बालक से विषम-साहस के एक काम के बारे में बाज़ी बदी थी। विवाद का विषय यह था कि ठाकुरबाड़ी के माधवी-लता-कुञ्ज से फूल तोड़ लाना संभव है कि नहीं। एक बालक ने कहा, 'मैं तो ज़रूर ला सकता हूँ' और दूसरे बालक का कहना था कि, 'तुम हरगिज़ नहीं ला सकते!'

सुनने मे तो यह काम बड़ा ही सरल-सहज जान पड़ता है। फिर क्या बात थी कि करने में यह काम उतना सरल नहीं था? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आवश्यक है कि इससे सम्बन्धित वृत्तान्त का विवरण कुछ और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जाय।

मन्दिर राधानाथ जी का था और उसकी अधिकारिणी स्वर्गीय माधवचन्द्र तर्कवाचस्पति की विधवा पत्नी जयकाली देवी थीं।

जयकाली का आकार दीर्घ, शरीर दृढ़, नासिका तीक्ष्ण और बुद्धि प्रखर थी। उनके पतिदेव के जीवन-काल मे एक बार परिस्थिति ऐसी हो गयी थी कि इस देवोत्तर सम्पत्ति के नष्ट हो जाने की आशंका उत्पन्न हो गयी थी। उस समय जयकाली ने सारा बाक़ी-बक़ाया देना अदा करके, हद-चौहद्दी पक्की करके और लम्बे अरसे से बेदख़ल जायदाद को दख़ल या क़ब्जे मे लाकर सारा मामला साफ़-सूफ़ कर दिया था। किसी की यह मजाल नहीं थी कि जयकाली को उनके प्राप्य धन की एक कानी कौड़ी से भी वंचित कर सके।

स्त्री होने पर भी उनकी प्रकृति में पौरुष का अंश इतने प्रचुर परिमाण मे था कि उनका यथार्थ संगी कोई भी नहीं हो सका था। स्त्रियाँ उनसे भय खाती थीं। पर-निन्दा, ओछी बात, रोना-धोना या नाक बजाना उन्हे तनिक भी सहन नहीं होता था। पुरुष भी उनसे डरे-डरे रहते थे। कारण यह था कि चण्डी-मण्डप की बैठक बाज़ी मे ग्रामवासी भद्र-पुरुषों को जो अगाध आलस्य व्यक्त होता था, उसे वह एक प्रकार की नीरव घृणापूर्ण तीक्ष्ण कटाक्ष से कुछ इतना धिक्कार सकती थीं कि उनका धिक्कार आलसियों की स्थूल जड़ता को भेदकर सीधे अन्तर मे उतर पड़ता था।

प्रबल घृणा करने एवं उस घृणा को प्रबलता-पूर्वक प्रगट करने की असाधारण क्षमता इस प्रौढ़ा विधवा मे थी। विचार-निर्णय से जिसे अपराधी मान लेतीं, उसे वाणी और मौन से, भाव और भंगिमा से बिल्कुल ही जलाकर भस्म कर डालना ही उनका स्वभाव था।

उनके हाथ गाँव के समस्त हर्ष-विषाद में, आपद्-सम्पद् में और क्रिया-कर्म में निरलस रूप से व्यस्त रहते थे। हर कहीं अति-सहज भाव से और अनायास ही अपने गौरव का स्थान अधिकार कर लिया करती थी। जहाँ कहीं भी उपस्थित होतीं वहाँ उनके अपने अथवा किसी अन्य उपस्थित व्यक्ति के मन में इस सम्बन्ध में रत्ती भर भी सन्देह नहीं रहता था कि सबके प्रधान के पद पर तो वही हैं।

रोगी की सेवा में वह सिद्धहस्त थीं, पर रोगी उनसे इतना भय खाता कि कोई यम से भी क्या डरेगा! पथ्य या नियम का लेश-मात्र भी उल्लंघन होने पर उनका क्रोधानल रोगी को रोग के ताप की अपेक्षा भी कहीं अधिक उत्तप्त कर डालता था।

यह दीर्घाकृति कठिन-स्वभाव विधवा गाँव के मस्तक पर विधाता के कठोर नियम-दण्ड की भाँति सदा उद्यत रहती थीं। किसी को यह भी साहस नहीं हो सकता था कि वह उनका आदर करे अथवा उनकी अवहेलना करे।

विधवा निस्संतान थीं। उनके घर में कोई उनके दो मातृ-पितृहीन भतीजे पाले-पोसे जा रहे थे। यह तो कोई नहीं कह सकता था कि पुरुष अभिभावक के अभाव मे इन बालकों पर किसी प्रकार का शासन नहीं था अथवा स्नेहान्ध फूफी-माँ के लाड़-दुलार के कारण वे बिगड़े जा रहे थे। बड़ा भतीजा अठारह वर्ष का हो गया था। जब-तब उसके विवाह के प्रस्ताव भी आने लगे थे। परिणय-बन्धन के सम्बन्ध मे उस बालक की अपना चित्त भी उदासीन नहीं था। परन्तु फूफी-माँ ने उसकी इस प्रिय-वासना को एक दिन के लिए भी कोई प्रश्रय नहीं दिया। वह कठिन हृदयतापूर्वक कहतीं थीं कि नलिन पहले उपार्जन करना आरम्भ कर ले तो पीछे घर में बहू लायेगा। फूफी-माँ के मुख से निकले इस कठोर वाक्य से पड़ोसिनों के हृदय विदीर्ण हो जाते।

ठाकुरबाड़ी जयकाली का सबसे अधिक प्यारा धन था। उसके लिए उनके यत्नों का कोई अन्त न था। ठाकुरजी के सेवन, मज्जन-अशन-वसन-शयन आदि मे तिल भर त्रुटि भी कदापि नहीं हो सकती थी। पूजा-कार्य मे नियुक्त दोनों ब्राह्मण देवता की अपेक्षा इस एक मानवी-ठकुरानी से कहीं अधिक भयभीत रहते थे। पहले एक समय ऐसा भी था कि देवता के नाम पर उत्सर्ग किया हुआ पूरा नैवेद्य देवता को मिल नही पाता था। परन्तु जयकाली के शासन-काल मे पुजापे के शत-प्रतिशत अंश ठाकुरजी के भोग मे ही लगते थे।

विधवा के यत्न से ठाकुरबाड़ी का प्राङ्गण स्वच्छता के कारण चमचमाता रहता था। कहीं एक तिनका तक भी पड़ा नहीं पाया जा सकता था। एक पार्श्व मे मंच का अवलम्बन करके माधवी-लता का वितान फैला था। उसके किसी शुष्क पत्र के झरते ही जयकाली उसे उठाकर बाहर डाल आती थीं। ठाकुरबाड़ी की परम्परागत परिपाटी से परखी जानेवाली परिच्छन्नता एवं पवित्रता मे रंच मात्र का व्याघात भी विधवा के लिए नितान्त असहनीय था। पहले तो टोले के लड़के लुका-छुपी खेलने के उपलक्ष मे इस प्राङ्गण मे प्रवेश करके इसके किसी प्रान्त-भाग मे आश्रय ग्रहण किया करते थे और कभी-कभी टोले की बकरियों के पठरू भी पैठ कर माधवी लता के वल्कलांश का थोड़ा-बहुत भक्षण कर जाया करते थे। परन्तु जयकाली के काल मे न तो लड़कों को यह सुयोग मिला पाता था न छागल-शिशुओं को ही। पर्व-दिवसों के अतिरिक्त कभी भी बालकों को मन्दिर के प्राङ्गण में प्रवेश का अवसर नहीं मिला पाता था और छागल-शिशु भी

दण्ड-प्रहार का आघात मात्र खाकर सिंहद्वार के पास से ही तीव्र स्वरों में अपनी अजा-जननी का आह्वान करते हुए लौट जाने को विवश हो जाते थे।

परम-आत्मीय व्यक्ति भी यदि अनाचारी हो तो उसे देवालय के प्राङ्गण में प्रवेश करने के अधिकार से सर्वथा वंचित रहना पड़ता था। जयकाली के एक बावरची-कर-पक्व-कुक्कुट-मांस-लोलुप भगिनी-पति महोदय आत्मीय-सन्दर्शन के उपलक्ष में, ग्राम में उपस्थित होकर मन्दिर के प्राङ्गण में प्रवेश का उपक्रम कर रहे थे कि जयकाली ने शीघ्रता-पूर्वक तीव्र आपत्ति प्रकट की थी, जिसके कारण उनके लिए अपनी सहोदरा भगिनी तक से सम्बन्ध-विच्छेद की सम्भावना उपस्थित हो गयी थी। इस देवालय के सम्बन्ध में विधवा की इतनी अतिरिक्त एवं अनावश्यक सतर्कता थी कि सर्वसाधारण के निकट तो वह बहुत-कुछ आडम्बर-सी प्रतीत होती थी।

अन्यत्र तो जयकाली सर्वत्र ही कठिन-कठोर थीं, उन्नत-मस्तक थीं, स्वतंत्र-निर्बन्ध थीं, परन्तु केवल इस मन्दिर के सम्मुख उन्होंने सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर दिया था। मन्दिर में प्रतिष्ठित विग्रह के प्रति वह एकान्त-भाव से जननी, पत्नी, दासी आदि सब-कुछ थीं, उसके सम्बन्ध में वे सदैव सतर्क, सुकोमल, सुन्दर एवं सम्पूर्णतः अवनम्र थीं। प्रस्तर-निर्मित यह मन्दिर तथा इसमें प्रतिष्ठित प्रस्तर-प्रतिमा ये दो वस्तुएँ ही ऐसी थीं जो उनके निगूढ़ नारी-स्वभाव की एकमात्र चरितार्थता के विषय थीं। यही दो वस्तुएँ उनके स्वामी और संतान के स्थान पर थीं और यही दो उनका समस्त ससार थीं।

इसीसे पाठक समझ लेंगे कि जिस बालक ने मन्दिर-प्राङ्गण से माधवी-मंजरी का आहरण करने की प्रतिज्ञा की थी, उसका साहस भी भीम रहा होगा। वह बालक और कोई नहीं, जयकाली का कनिष्ठ भ्रातुष्पुत्र नलिन था। वह अपनी फूफी-माँ को बड़ी अच्छी तरह जानता था, तथापि उसकी दुर्दान्त प्रकृति किसी प्रकार के भी शासन के वशवर्ती नहीं होती थी। जहाँ कहीं भी विपद् की सम्भावना होती, वहाँ उसे एक विचित्र आकर्षण महसूस होता और जहाँ कहीं भी शासन या प्रतिबन्ध होता, वहाँ उल्लंघन करने के लिए उसका चित्त चंचल हो उठता। जनश्रुति है कि अपने बालकाल मे उसकी फूफी-माँ का स्वभाव भी ठीक ऐसा ही था।

उस समय जयकाली मातृ-स्नेह-मिश्रित भक्ति-पूर्वक ठाकुरजी पर अपनी दृष्टि निबद्ध किये दालान मे बैठी अनन्य-अभिनिविष्ट मन से माला जप रही थीं।

बालक पीछे से अशब्द-पदसंचार-पूर्वक आकर माधवी-लता-वितान तले खड़ा हो गया। उसने देखा कि निम्नतर शाखाओं के फूल तो पूजा के निमित्त तोड़े जाकर निश्शेष हो चुके है। गत्यन्तर न देख उसने अत्यन्त धीरे-धीरे और बहुत ही सावधानी-पूर्वक लतामंच पर आरोहण किया। उच्चतर प्रशाखाओं पर विकचोन्मुख कलिकाएँ देखकर उन्हे तोड़ने के लिए ज्यों ही उसने अपने शरीर एवं बाहु को प्रसारित किया, त्यों ही उस प्रबल प्रयास के भार से माधवी-लता का जीर्ण मंच चरमराता हुआ टूट पड़ा। मंचाश्रित लता एवं बालक दोनों एक साथ भूमिसात् हुए।

जयकाली हड़बड़ाकर दौड़ी आयीं। उन्होंने अपने भ्रातुष्पुत्र की कीर्ति का अवलोकन किया। बलपूर्वक उसकी भुजा पकड़ के उसे ज़मीन से उठाया। आघात तो उसे यथेष्ट लगा था, किन्तु उस आघात को दण्ड नहीं माना जा सकता था, क्योंकि वह तो ज्ञान-संज्ञा-हीन जड़ का आघात था। अतएव मंच-पतित बालक की व्यथित देह पर जयकाली का ज्ञान-संज्ञा-युक्त

शासन-दण्ड मुहुर्मुहुः बलपूर्वक वर्षित होने लगा। बालक ने विन्दु-मात्र भी अश्रु-पात किये बिना ही उनके दण्ड को नीरवता-पूर्वक सहन किया। इस पर उसकी फूफी-माँ ने उसे घसीट कर घर में अवरुद्ध कर दिया। उसके उस दिन के सायंकालिक आहार का निषेध कर दिया गया।

आहार-निषेध का समाचार सुनकर दासी मोक्षदा ने कातर कण्ठ एवं जल-छल नेत्र से बालक को क्षमा-दान करने का अनुरोध किया। परन्तु जयकाली का हृदय विगलित नहीं हुआ। उस घर में ऐसा दुस्साहसी व्यक्ति कोई नहीं था, जो ठकुरानी को सूचना-वंचित रखकर गुप्त रूप से उस क्षुधित बालक के लिए खाद्य की व्यवस्था कर देता।

विधवा माधवी-मंच के पुनः संस्कार के लिए श्रमिक बुलाने का आदेश देकर पुनर्वार माला लेकर दालान में आ बैठीं। कुछ समय बीत जाने के बाद मोक्षदा अत्यन्त भयभीत हो उनके निकट गयी और बोली, 'ठकुरानी-माँ, छोटे बाबू भूख के मारे बिलख रहे हैं, उन्हें थोड़ा-सा दूध ला दूँ ?'

जयकाली ने अविचलित मुख-मुद्रा से कहा, 'नहीं !' मोक्षदा लौट गयी। अदूरवर्ती कुटीर-गृह से नलिन का करुण क्रन्दन क्रम-क्रम से बढ़ता हुआ क्रोध के गर्जन के रूप में परिणत हो उठा — पर गर्जन-पर्व भी समाप्त हुआ और अन्त में, बहुत देर के पश्चात्, उसकी कातरता का परिश्रान्त उच्छ्वास रह-रहकर जप-निरता फूफी माँ के कर्ण-कुहरों में पहुँच-पहुँचकर ध्वनित होने लगा।

नलिन का आर्त्त कण्ठ परिश्रान्त एवं मौन-प्राय हो चला था कि किसी और निकटवर्ती जीव की भीत एवं कातर ध्वनि कर्ण-गोचर होने लगी तथा उसके संग-संग ही धावमान मनुष्यों का दूरवर्ती चीत्कार-शब्द उसके साथ मिश्रित होकर मन्दिर के सम्मुखवर्ती मार्ग पर एक तुमुल कोलाहल के रूप में उत्थित हो उठा।

सहसा मन्दिर-प्रांगण में कोई पद-शब्द सुनाई पड़ा। पीछे मुड़कर जयकाली ने देखा कि भू-पर्यस्त माधवी-लता आन्दोलित हो रही है।

उसने रोष-पूर्ण कण्ठ से पुकारा, 'नलिन !'

कोई उत्तर नहीं मिला। जयकाली ने समझा कि दुर्दम नलिन किसी उपाय से बन्दीशाला से पलायन करके मुझे चिढ़ाने आया है।

यही सोचकर वह अत्यन्त कठिन मुद्रा बनाकर एवं अधर के ऊपर ओष्ठ को अत्यन्त कठिन रूप से दाबकर प्रांगण में उतर आयीं।

लता-कुंज के निकट आकर पुनर्वार पुकारा, 'नलिन !'

उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने माधवी की शाखा को उठाकर देखा कि एक अत्यन्त ही मलिन शूकर ने प्राण-भय से भीत होकर घन-पल्लव के अन्तराल में आश्रय लिया है।

लता-विमान इष्टक-निर्मित प्राचीर से परिवेष्ठित वह प्रांगण जो वृन्दा-विपिन का संक्षिप्त प्रतिरूप हो, जिसकी विकसित कुसुम मंजरी का सौरभ गोपिका-वृन्द के सुरभित निश्वास का स्मरण कराता रहता हो एंव कलिन्दी-तीरवर्ती सुख-विहार के सौन्दर्य-स्वप्न को जाग्रत करता रहता हो, विधवा जयकाली की उस प्राणाधिक प्रयत्नों से ललित सुपवित्र नन्दन-भूमी में अकस्मात् यह कैसा वीभत्स काण्ड घटित हो गया!

पुजारी ब्राह्मण लाठी लेकर उस मल-मलिन पशु को भगाने दौड़ा।

जयकाली तत्क्षण नीचे उतर आयीं, पुजारी के शूकर-ताड़न कर्म का निषेध किया एवं भीतर से मन्दिर-प्रांगण का द्वार अवरुद्ध कर दिया।

लेकिन कुछ ही देर बाद, सुरा-पान-मत्त डोमदल मन्दिर के द्वार पर उपस्थित होकर अपने बलि-पशु के लिए चीत्कार करने लगा।

रुद्ध द्वार के पीछे खड़ी होकर जयकाली वे कहा : 'लौट जाओ बेटो, लौट जाओ। मेरे मन्दिर को अपवित्र मत कर बैठना।'

डोमों का दल लौट गया। वे लोग प्रायः प्रत्यक्ष देखकर भी इस बात पर विश्वास नहीं कर सके कि जयकाली ठकुरानी अपने राधानाथ जी के मन्दिर मे उस अशुचि जन्तु को आश्रम दे सकती हैं।

आनु० : २८ चैत्र १८८३ श०

३

पोस्टमास्टर

पहले-पहल काम शुरू करते ही पोस्टमास्टर को उलापुर गाँव में आना पड़ा। गाँव बहुत साधारण था। पास ही एक नीली-कोठी थी। इसीलिए कोठी के स्वामी ने बहुत कोशिश करके यह नया पोस्टऑफ़िस खुलवाया था।

हमारे पोस्टमास्टर कलकत्ता के थे। पानी से निकालकर सूखे मे डाल देने से मछली की जो दशा होती है वही दशा इस बड़े गाँव में आकर उन पोस्टमास्टर की हुई। एक अँधेरी आठचाला[१] में उनका ऑफ़िस था। पास ही काई से घिरा एक तालाब था, जिसके चारों ओर जंगल था। कोठी मे गुमाश्ते वगैरह जितने भी कर्मचारी थे उन्हे अक्सर फ़ुरसत नहीं रहती थी, न वे भले आदमियों से मिलने-जुलने योग्य ही थे।

खास तौर से कलकत्ता के बाबू ठीक तरह से मिलना-जुलना नहीं जानते। नयी जगह पहुँचकर वे या तो उद्धत हो जाते हैं या अप्रतिम। इसलिए स्थानीय लोगों से उनका मेल-जोल नहीं हो पाता। इधर काम भी ज्यादा नहीं था। कभी-कभी एकाध कविता लिखने की कोशिश करते। उनमें इस प्रकार के भाव व्यक्त करते — दिन-भर तरु-पल्लवों का कम्पन और आकाश के बादल देखते-देखते जीवन बड़े सुख से कट जाता है, लेकिन अन्तर्यामी जानते है कि अगर अरबी उपन्यास का कोई दैत्य आकर एक ही रात मे तरु-पल्लव-समेत इन सारे पेड़-पौधों को काटकर पक्का रास्ता तैयार कर देता और पंक्तिबद्ध अट्टालिकाओ द्वारा बादलो को दृष्टि से ओझल कर देता तो वह मृतप्राय भद्र वंशधर नवीन जीवन-लाभ कर लेता।

पोस्टमास्टर को बहुत कम तनख्वाह मिलती थी। अपने हाथो बनाकर खाना पड़ता और गाँव की एक मातृ-पितृ-हीन अनाथ बालिका उनका कामकाज कर देती थी। उसको थोड़ा-बहुत खाना मिला जाता। लड़की का नाम था रतन। उम्र बारह-तेरह। उसके विवाह की कोई विशेष सम्भावना नहीं दिखाई देती थी।

शाम को जब गाँव की गोशाला से कुंडलाकार धुआँ उठता, झाड़ियो मे झींगुर बोलते, दूर के गाँव में नशेबाज़ बाउलों का दल ढोल-करताल बजाकर ऊँचे स्वर में गाना छेड़ देता — जब अन्दर बरामदे में अकेले बैठे-बैठे वृक्षों का कम्पन देखकर कवि-हृदय मे भी ईषत् हृत्कप होने लगता तब कमरे के कोने मे एक टिमटिमाता हुआ दिया जलाकर पोस्टमास्टर आवाज़ लगाते — 'रतन'।

१. फूस के अठपहलू छप्पर से ढका बड़ा घर

रतन दरवाज़े पर बैठी इस आवाज़ की प्रतीक्षा करती रहती। लेकिन पहली आवाज़ पर ही अन्दर नहीं आती। वहीं से कहती, 'क्या है बाबू, किसलिए बुला रहे हो?'

पोस्टमास्टर — तू क्या कर रही है ?

रतन — बस चूल्हा जलाने ही जा रही हूँ रसोईघर में।

पोस्टमास्टर — रसोई का काम बाद में होगा। पहले तम्बाकू भर ला।

थोड़ी देर में अपने गाल फुलाये चिलम में फूँक मारते-मारते रतन भीतर आती। उसके हाथ से हुक्का लेकर पोस्टमास्टर चट से पूछ बैठते, 'अच्छा रतन, तुझे अपनी माँ की याद है ?'

बड़ी लम्बी बाते हैं, बहुत-सी याद हैं, बहुत-सी याद भी नहीं। माँ की अपेक्षा पिता उसको अधिक प्यार करते थे। पिता की उसे थोड़ी-थोड़ी याद है। दिन-भर मेहनत करके उसके पिता शाम को घर लौटकर आते। भाग्य से उन्हीं मे से दो-एक शामों की याद उसके मन में चित्र के समान अंकित है। उन्हीं की बात करते-करते धीरे-धीरे रतन पोस्टमास्टर के पैरों के पास ही ज़मीन पर बैठ जाती। उसे ध्यान आता, उसका एक भाई था। बहुत दिन पहले बरसात में एक दिन तालाब के किनारे दोनों ने मिलकर पेड़ की टूटी टहनी की बंसी बनाकर झूठ-मूठ मछली पकड़ने का खेल खेला था। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं की अपेक्षा इसी बात की याद उसे अधिक आती। इस तरह बातें करते-करते कभी-कभी काफ़ी रात हो जाती। तब आलस के मारे पोस्टमास्टर को खाना बनाने की इच्छा न होती। सबेरे की बासी तरकारी रहती और रतन झटपट चूल्हा जलाकर कुछ रोटियाँ सेक लेती। उन्हीं से दोनों के रात्रि-भोजन का काम चल जाता। कभी-कभी शाम को उस बृहत् आठचाला के एक कोने में ऑफ़िस की काठ की चौकी पर बैठे-बैठे पोस्टमास्टर भी अपने घर की बात चलाते — छोटे भाई की बात, माँ और दीदी की बात। प्रवास में एकान्त कमरे में बैठकर जिन लोगों के लिए हृदय कातर हो उठता, उनकी बात। जो बातें उनके मन में बार-बार उदय होती रहती, पर जो नील-कोठी के गुमाश्तों के सामने किसी भी तरह नहीं उठाई जा सकती थीं, उन्हीं बातों को उस अपढ़ नन्हीं बालिका से कहते उन्हें बिल्कुल संकोच न होता। अन्त में ऐसा हुआ कि बालिका बातचीत करते समय उनके घर वालों को चिरपरिचितों के समान खुद भी माँ, दादा, दीदी कहने लगी। यहाँ तक कि अपने नन्हे-से हृदय-पट पर उसने उनकी काल्पनिक मूर्त्ति भी चित्रित कर ली थी।

एक दिन बरसात की दोपहर में बादल छँट गये थे और हल्का-सा ताप लिये सुकोमल हवा चल रही थी। धूप मे नहायी घास से पेड़-पौधों से एक प्रकार की गन्ध निकल रही थी; ऐसा लगता था मानो क्लान्त धरती का उष्ण निःश्वास अंगों को छू रहा हो और न जाने कहाँ का एक हठी पक्षी दोपहर-भर प्रकृति के दरबार में लगातार एक लय से अत्यन्त करुण स्वर में अपनी नालिश दुहरा रहा था। उस दिन पोस्टमास्टर के हाथ खाली थे। वर्षा से धुले लहलहाते चिकने मृदुल तरु-पल्लव और धूप मे चमकते—पराजित वर्षा के भग्नावशिष्ट स्तूपाकार बादल सचमुच देखने योग्य थे।

पोस्टमास्टर उन्हें देखते जाते और सोचते जाते कि इस समय यदि कोई आत्मीय अपने पास होता, हृदय के साथ एकान्त संलग्न कोई स्नेह की प्रतिमा मानव-मूर्त्ति। धीरे-धीरे उन्हें ऐसा लगने लगा मानो वह पक्षी भी बार-बार यही कह रहा हो, और मानो उस निर्जन में तरु-छाया में डूबी दोपहर के पल्लव-मर्मर का भी ऐसा ही अर्थ हो। न तो कोई विश्वास कर सकता, न जान पाता,

लेकिन उस छोटे-से गाँव के सामान्य वेतन-भोगी उस सब-पोस्टमास्टर के मन में छुट्टी के लम्बे दिनों में,गम्भीर सुनसान दोपहर में, इसी प्रकार के भाव उदय होते रहते।

पोस्टमास्टर ने एक गहरी उसाँस भरी और फिर पुकारा 'रतन !'

रतन उस समय अमरूद के पेड़ की नीचे पैर फैलाये कच्चा अमरूद खा रही थी। वह मालिक की आवाज़ सुनते ही तुरन्त दौड़ी हुई आई और हाँफती-हाँफती बोली, 'भैयाजी, आप बुला रहे थे ?'

पोस्टमास्टर ने कहा, 'मैं तुझे थोड़ा-थोड़ा करके पढ़ना सिखाऊँगा।' और फिर दोपहर-भर उसके साथ 'छोटा अ', 'बड़ा आ' करते रहे। इस तरह कुछ दिनों में संयुक्त अक्षर भी पार कर लिये।

सावन का महीना था। लगातार वर्षा हो रही थी। गड्ढे, नाले, तालाब सब पानी से भर गये थे। रात-दिन मेढक की टर्र-टर्र और वर्षा को आवाज़। गाँव के रास्तों मे चलना-फिरना लगभग बन्द हो गया था। हाट के लिए नाव में चढ़कर जाना पड़ता।

एक दिन सवेरे से ही बादल खूब घिरे हुए थे। पोस्टमास्टर की शिष्या बड़ी देर से दरवाज़े के पास बैठी प्रतीक्षा कर रही थी, लेकिन और दिनों की तरह जब यथासमय उसकी बुलाहट न हुई तो वह खुद किताबों का थैला लिये धीरे-धीरे भीतर आयी। देखा, पोस्टमास्टर अपनी खटिया पर लेटे हुए हैं। यह सोचकर कि वे आराम कर रहे हैं, वह चुपचाप फिर बाहर जाने लगी। तभी अचानक अचानक सुनाई पड़ा, 'रतन !' झटपट लौटकर भीतर जाकर उसने कहा, ''भैयाजी, सो रहे थे?'

पोस्टमास्टर ने कातर स्वर में कहा, 'तबीयत ठीक नहीं मालूम होती। जरा मेरे माथे पर हाथ रखकर तो देख !'

घोर वर्षा के समय प्रवास में इस तरह बिलकुल अकेले रहने पर रोग से पीड़ित शरीर को कुछ सेवा पाने की इच्छा होती है। तप्त ललाट पर शंख की चूड़ियाँ पहने कोमल हाथ याद आने लगते हैं। ऐसे कठिन प्रवास मे रोग की पीड़ा में यह सोचने की इच्छा होती है कि पास ही स्नेहमयी नारी के रूप में माता और दीदी बैठी हैं। और प्रवासी के मन की यह अभिलाषा व्यर्थ नहीं गयी। बालिका रतन बालिका न रही। उसने फौरन माता का पद ग्रहण कर लिया। वह जाकर वैद्य को बुला लायी, यथासमय गोली खिलायी, सारी रात सिरहाने बैठी रही, अपने हाथों पथ्य तैयार किया और सैकड़ों बार पूछती रही, 'भैयाजी,अब तो कुछ आराम है न !'

बहुत दिनों बाद पोस्टमास्टर जब रोग-शय्या छोड़कर उठे तो उनका शरीर दुर्बल हो गया था। उन्होंने मन में तय किया, अब और नहीं। जैसे भी हो अब यहाँ से बदली करानी चाहिए। अपनी अस्वस्थता का उल्लेख करते हुए उन्होंने उसी समय अधिकारियों के पास बदली के लिए कलकत्ता दरख्वास्त भेज दी।

रोगी की सेवा से छुट्टी पाकर रतन ने दरवाज़े के बाहर फिर अपने स्थान पर अधिकार जमा लिया। लेकिन अब पहले की तरह उसकी बुलाहट नहीं होती थी। वह बीच-बीच में झाँककर देखती — पोस्टमास्टर बड़े ही अनमने भाव से या तो चौकी पर बैठे रहते या खाट पर लेटे रहते। जिस समय इधर रतन बुलाहट की प्रतीक्षा में रहती, वे अधीर होकर अपनी दरख्वास्त के उत्तर की

प्रतीक्षा करते रहते। दरवाज़े के बाहर बैठी रतन ने हज़ारों बार अपना पुराना पाठ दुहराया। बाद में यदि किसी दिन सहसा उसकी बुलाहट हुई तो उस दिन कहीं उसका संयुक्त अक्षरों का ज्ञान गड़बड़ न हो जाये इसकी उसे आशंका थी। आखिर लगभग एक सप्ताह के बाद एक दिन शाम को उसकी पुकार हुई। काँपते हृदय से उसने भीतर प्रवेश किया और पूछा, मुझे बुलाया था 'भैया ?'

पोस्टमास्टर ने कहा — रतन, मैं कल ही चला जाऊँगा।

रतन — कहा चले जाओगे, भैया!

पोस्टमास्टर — घर जाऊँगा।

रतन — फिर कब लौटोगे ?

पोस्टमास्टर — अब नहीं लौटूँगा।

रतन ने कोई बात नहीं पूछी। पोस्टमास्टर ने स्वयं ही उसे बताया कि उन्होंने बदली के लिए दरख्वास्त दी थी, पर दरख्वास्त नामंज़ूर हो गयी, इसीलिए वे काम छोड़कर घर वापस जा रहे हैं। बहुत देर तक दोनों में से किसी ने और कोई बात नहीं की। दीया टिमटिमाता रहा और घर के जीर्ण छप्पर को भेदकर वर्षा का पानी मिट्टी के सकोरे में टप-टप करता टपकता रहा।

बड़ी देर के बाद रतन धीरे-धीरे उठकर रसोईघर में रोटियाँ बनाने चली गयी। पर आज और दिनों की तरह उसके हाथ जल्दी-जल्दी नहीं चल रहे थे। शायद उसके मन में रह-रहकर तरह-तरह की आशंकाएँ उठ रही थीं। जब पोस्टमास्टर भजन कर चुके तब उसने पूछा,
घर ले चलोगे?'

पोस्टमास्टर ने हँसकर कहा, भला यह कैसे हो सकता है!' किन कारणों से यह बात सम्भव न थी, बालिका को यह समझाना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

रात-भर जागते और स्वप्न देखते हुए बालिका के कानों में पोस्टमास्टर के हँसी-मिश्रित स्वर गूँजते रहे : 'भला यह कैसे हो सकता है !'

सवेरे उठकर पोस्टमास्टर ने देखा कि उनके नहाने के लिए पानी पहले ही रख दिया गया है। कलकत्ता की अपनी आदत के अनुसार वे ताज़े पानी से ही स्नान करते थे। न जाने क्यों बालिका यह नहीं पूछ सकी थी कि वे सवेरे किस समय यात्रा करेंगे। बाद में कहीं तड़के ही ज़रूरत पड़ जाय, यह सोचकर रतन रात में ही नदी से उनके नहाने के लिए पानी भरकर ले आयी थी। स्नान समाप्त होती ही रतन की पुकार हुई। रतन ने चुपचाप भीतर प्रवेश किया और आदेश की प्रतीक्षा में मौन भाव से एक बार अपने मालिक की ओर देखा।

मालिक ने कहा, 'रतन, मेरी जगह जो सज्जन आयेंगे उन्हें कह जाऊँगा। वे मेरी ही तरह तेरी देख-भाल करेंगे। मेरे चले जाने के तुझे कोई चिंता करने की ज़रूरत नहीं।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये बातें अत्यन्त स्नेहपूर्ण और दयार्द्र हृदय से निकली थीं, किन्तु नारी के हृदय को कौन समझ सकता है! रतन इसके पहले बहुत बार अपने मालिक के हाथों अपना तिरस्कार चुपचाप सहन कर चुकी थी, लेकिन इस कोमल बात को सहन न कर पायी। उसका हृदय एकाएक उमड़ आया और उसने रोते-रोते कहा, 'नहीं, नहीं। तुम्हें किसी से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है, मैं रहना नहीं चाहती।'

पोस्टमास्टर ने रतन का ऐसा व्यवहार पहले कभी नहीं देखा था, इसलिए वे अवाक् रह गये।

नया पोस्टमास्टर आया। उसको सारा चार्ज सौंप देने के बाद पुराने पोस्टमास्टर चलने को तैयार हुए। चलते-चलते रतन को बुलाकर बोले, 'रतन, तुझे मैं कभी भी कुछ नहीं दे सका, आज जाते समय कुछ दिये जा रहा हूँ, इससे कुछ दिन तेरा काम चल जाएगा।'

तनख्वाह में जो रुपये मिले थे उनमें से राह-खर्च के लिए कुछ बचा लेने के बाद उन्होंने बाक़ी रुपये जेब से निकाले। यह देखकर रतन धूल में लोटकर उनके पैरों से लिपटकर बोली, भैया, मैं तुम्हारे पैरों में पड़ती हूँ, मेरे लिए किसी को कोई चिंता करने की ज़रूरत नहीं।' और यह कहते-कहते वह तुरन्त वहाँ से भाग गयी।

भूतपूर्व पोस्टमास्टर दीर्घ निःश्वास लेकर हाथ मे कारपेट का बैग लटकाये, कन्धे पर छाता रखे, कुली के सिर पर नीली-सफ़ेद धारियों से चित्रित टीन की पेटी रखवाकर धीरे-धीरे नाव की ओर चल पड़े।

जब वे नौका पर सवार हो गये और नाव चल पड़ी, वर्षा से उमड़ी नदी धरती की छलछलाती अश्रु-धारा के समान चारों और छलछल करने लगी, तब वे अपने हृदय में एक तीव्र व्यथा अनुभव करने लगे। एक साधारण ग्रामीण बालिका के करुण मुख का चित्र मानो विश्व-व्यापी बृहत् अव्यक्त मर्म-व्यथा प्रकट करने लग गया।

एक बार बड़े ज़ोर से उनकी इच्छा हुई कि लौट जायँ और जगत् की गोद से वंचित उस अनाथिनी को साथ ले चलें। लेकिन तब तक पाल में हवा भर गयी थी, वर्षा का प्रवाह और भी तेज़ हो गया था। गाँव को पार करने पर नदी किनारे का श्मशान दिखाई दे रहा था और नदी की धारा के साथ बढ़ते हुए पथिक के उदास हृदय मे यह उदित हो रहा था — 'जीवन में न जाने कितना वियोग है, कितना मरण है, लौटने से क्या लाभ! संसार में कौन किसका है ?'

लेकिन रतन के हृदय मे किसी भी सत्य का उदय नहीं हुआ। वह उस पोस्ट ऑफिस के चारों और चुपचाप आँसू बहाती चक्कर काटती रही। शायद उसके मन में हल्की-सी आशा जीवित थी कि हो सकता है, भैया लौट आयें। आशा के इसी बन्धन मे बँधी वह किसी भी तरह दूर नहीं जा पा रही थी।

हाय रे बुद्धिहीन मानव-हृदय! तेरी भ्रान्ति किसी भी तरह नहीं मिटती। युक्ति-शास्त्र का तर्क बड़ी देर बाद मस्तिष्क में प्रवेश करता है। प्रबल-से-प्रबल प्रमाण पर भी अविश्वास करके, मिथ्या आशा को अपनी दोनों बाँहों से जकड़कर तू भरसक छाती से चिपकाये रहता है। अन्त में एक दिन सारी नाड़ियाँ काटकर, हृदय का सारा रक्त सोखकर वह निकल भागती है। तब होश आते ही मन किसी दूसरी भ्रान्ति के जाल में बँध जाने के लिए व्याकुल हो उठता है।

४

जीवित और मृत

एक

रानीहाट के ज़मींदार बाबू शारदाशंकर के परिवार की विधवा बहू के पितृ-कुल में कोई नहीं था; एक-एक करके सब मर गये। पति-कुल में भी सचमुच अपना कहने योग्य कोई नहीं था, पति भी नहीं, पुत्र भी नहीं। जेठ का लड़का था, शारदाशंकर का छोटा पुत्र, वही उसकी आँखों का तारा था। उसके जन्म के बाद उसकी माता बहुत दिनों तक कठिन रोग से पीड़ित रहीं, इसलिए उसकी विधवा काकी कादम्बिनी ने ही उसका पालन-पोषण किया। पराये लड़के का पालन-पोषण करने पर उसके प्रति स्नेह का आकर्षण मानो और भी अधिक हो जाता है, क्योंकि उस पर कोई अधिकार नहीं होता, न उस पर कोई सामाजिक दावा रहता है, बस केवल स्नेह का अधिकार रहता है। किन्तु अकेला स्नेह समाज के सामने अपने अधिकार को तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं कर पाता, और वह करना भी नहीं चाहता, केवल अनिश्चित प्राण-धन को दुगुनी व्याकुलता से प्यार करने लगता है। विधवा की सारी रुद्ध प्रीति से इस बालक को सींचकर श्रावण की एक रात में अकस्मात् कादम्बिनी की मृत्यु हो गयी। न जाने किस कारण सहसा उसका हृत्स्पंदन स्तब्ध हो गया — बाक़ी सारे संसार में समय की गति चलती रही, केवल उस स्नेह-कातर छोटे कोमल वृक्ष के भीतर समय की घड़ी की कल चिरकाल के लिए बन्द हो गयी।

कहीं पुलिस बखेड़ा न खड़ा कर दे इस डर से बिना विशेष आडम्बर के ज़मींदार के चार ब्राह्मण कर्मचारी मृत देह को तुरन्त दाह-संस्कार के लिए ले गये।

रानीहाट का श्मशान बस्ती से बहुत दूर था। पोखर के किनारे एक झोंपड़ी थी और उसके निकट ही एक विशाल वट वृक्ष था, विस्तृत मैदान में और कहीं कुछ नहीं था। पहले यहाँ से होकर नदी बहती थी, इस समय नदी बिलकुल सूख गयी थी। उसी शुष्क जल-धारा के एक अंश को खोदकर श्मशान के पोखर का निर्माण कर लिया गया था। वर्तमान निवासी उस पोखर को ही पुण्य-स्रोतस्विनी का प्रतिनिधि स्वरूप मानते थे।

मृत देह को झोंपड़ी में रखकर चिता के लिए लकड़ी आने की प्रतीक्षा में चारों जने बैठे रहे। समय इतना लम्बा मालूम होने लगा कि अधीर होकर उनमें से निताई और गुरुचरण तो यह देखने के लिए चल दिये कि लकड़ी आने में इतनी देर क्यों हो रही है और विधु तथा वनमाली मृत देह की रक्षा करते बैठे रहे।

सावन की अँधेरी रात थी। सघन बादल छाये हुए थे, आकाश में एक भी तारा नहीं दिखता था। अँधेरी झोंपड़ी में दोनों चुपचाप बैठे रहे। एक ही चादर में दियासलाई और बत्ती बँधी हुई थी। वर्षा ऋतु की दियासलाई बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं जली — जो लालटेन साथ थी, वह भी बुझ गयी।

बहुत देर चुप बैठे रहने के बाद एक ने कहा, 'भाई, एक चिलम तम्बाकू का प्रबन्ध होता तो बड़ी सुविधा होती। जल्दी-जल्दी में कुछ भी नहीं ला सके।'

दूसरे ने कहा, 'मैं झट से एक सपाटे में सब-कुछ इकट्ठा करके ला सकता हूँ।'

वनमाली के भागने के अभिप्राय को ताड़कर विधु ने कहा, 'अरे बाप! और मैं क्या यहाँ अकेला बैठा रहूँगा?'

फिर बातचीत भी बन्द हो गयी। पाँच मिनट एक घंटे के समान लगने लगे। जो जने लकड़ी लेने गये थे उनको ये लोग मन-ही-मन गाली देने लगे—'वे कहीं खूब आराम से बैठे बातें करते हुए तम्बाकू पी रहे होंगे।' धीरे-धीरे यह सन्देह उनके मन में दृढ़ होने लगा।

कहीं कोई आहट नहीं — पोखर के किनारे से झिल्लियों और मेढ़कों की अविरल पुकार सुनाई पड़ रही थी। इतने में प्रतीत हुआ जैसे खाट थोड़ी-सी हिली, और मृत देह ने करवट बदली।

विधु और वनमाली राम नाम जपते-जपते काँपने लगे। हठात् झोंपड़ी में दीर्घ निःश्वास लेने की आवाज़ सुनाई पड़ी। विधु और वनमाली पलक मारते झोंपड़ी से झपटकर बाहर निकले और गाँव की ओर दौड़े।

लगभग डेढ़ कोस रास्ता पार करने पर उन्होंने देखा, उनके बाक़ी दो साथी हाथ में लालटेन लिये चले आ रहे हैं। वे वास्तव में तम्बाकू पीने ही गये थे, लकड़ी का उन्हें कोई पता नहीं था, तो भी उन्होंने समाचार दिया की पेड़ काटकर लकड़ी चीरी जा रही है — जल्दी ही पहुँच जायगी। तब विधु और वनमाली ने झोंपड़ी की सारी घटना का वर्णन किया। निताइ और गुरचरण ने अविश्वास करते हुए उसे उड़ा दिया, और कर्तव्य त्यागकर भाग आने के लिए उन दोनों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और डाँटने-फटकारने लगे।

अविलम्ब चारों व्यक्ति उस झोंपड़ी उपस्थित हुए। भीतर घुसकर देखा — मृत देह नहीं है, खाट सूनी पड़ी है।

वे परस्पर एक-दूसरे का मुँह देखते रह गये। शायद श्रृंगाल ले गये हों? किन्तु आच्छादन वस्त्र तक नहीं था। खोजते-खोजते बाहर जाकर देखा, झोंपड़ी के द्वार के पास थोड़ी कीचड़ जमी थी, उस पर किसी स्त्री के छोटे पैरों के ताज़े चिह्न थे।

शारदाशंकर सहज आदमी नहीं थे, उनसे भूत की यह कहानी कहने पर सहसा कोई शुभ फल मिलेगा, ऐसी सम्भावना नहीं थी। इसलिए चारों व्यक्तियों ने खूब सलाह करके निश्चय किया कि यही ख़बर देना ठीक होगा कि दाह-कार्य पूरा कर दिया है।

भोर में जो लोग लकड़ी लेकर आये उन्हें ख़बर मिली कि देर होती देखकर पहले ही कार्य सम्पन्न कर दिया गया, झोंपड़ी में लकड़ी मौजूद थीं। इस विषय में किसी को भी सहज ही सन्देह उत्पन्न नहीं हो सकता — क्योंकि मृत देह ऐसी कोई बहुमूल्य सम्पत्ति नहीं है, जिसे धोखा देकर कोई चुरा ले जायगा।

दो

सभी जानते है, जीवन का जब कोई लक्षण नहीं मिलता तक भी कई बार जीवन प्रच्छन्न रूप में बना रहता है, और समयानुकूल फिर मृतवत् देह में उसका कार्य आरम्भ होता है। कादम्बिनी भी मरी नहीं थी — सहसा न जाने किस कारण से उसके जीवन की गति बन्द हो गयी थी।

जब उसकी चेतना लौटी तो देखा, चारों ओर निविड़ अन्धकार था। हमेशा की आदत के अनुसार जहाँ होती थी, उसे लगा यह वह जगह नहीं है। एक बार पुकारा 'दीदी' ! — अँधेरी झोंपड़ी में किसी ने उत्तर नहीं दिया। भयभीत होकर उठ बैठी, उसे उस मृत्युशय्या की बात याद आयी ! एकाएक छाती में हुई पीड़ा — साँस रुकने की बात। उसकी बड़ी जिठानी कमरे के कोने में बैठी चूल्हे पर बच्चे के लिए दूध गरम कर रही थी — कादम्बिनी खड़ी न रह सकी और पछाड़ खाकर बिछौने पर गिर पड़ी — रुँधे गले से पुकारा, 'दीदी, एक बार बच्चे को ले आओ, मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है।' उसके बाद सब-कुछ काला पड़ गया — जैसे किसी लिखी हुई पुस्तिका पर दवात की पूरी स्याही उलट गयी हो। कादम्बिनी की सारी स्मृति एवं चेतना, विश्व-ग्रन्थ के समस्त अक्षर एक मुहूर्त में एकाकार हो गये । बच्चे ने उसको अन्तिम बार अपने उस मोटे प्यार-भरे स्वर में 'काकी' कहकर पुकारा था या नहीं, उसकी अनन्त मरण-यात्रा के पथ के लिए चिरपरिचित पृथ्वी से यह अंतिम स्नेह पाथेय-मात्र इकट्ठा करके लाया था या नहीं, विधवा को यह भी याद नहीं आ रहा था।

पहले तो लगा, यम-लोक कदाचित्.इसी प्रकार चिर-निर्जन और चिरान्धकारपूर्ण है। वहाँ कुछ भी देखने को नहीं है, सुनने को नहीं है, काम करने को नहीं है। केवल सदा इसी प्रकार जागते हुए बैठे रहना पड़ेगा।

उसके पश्चात् जब मुक्त द्वार से एकाएक वर्षा-काल की ठंडी हवा का झोंका आया और बरसाती मेंढकों की पुकार कानों में पड़ी, तब क्षण-भर में इस लघु जीवन की आशैशव समस्त वर्षा की स्मृति घनीभूत होकर उसके मन में उदित हुई और वह पृथ्वी के निकट स्पर्श का अनुभव कर सकी। एक बार बिजली चमकी; सामने के पोखर, वट वृक्ष, विस्तृत मैदान, और सुदूर की तरु- श्रेणी पर अचानक उसकी दृष्टि पड़ी। उसे याद आया कि पुण्य तिथियों के अवसर पर बीच-बीच में आकर उसने इस पोखर में स्नान किया था और यह भी याद आया कि उस समय श्मशान में मृत देह को देखकर मृत्यु कैसी भयानक प्रतीत होती थी।

पहले तो मन में आया कि घर लौटना चाहिए! किन्तु साथ ही सोचा, 'मैं तो जीवित नहीं हूँ, मुझे वे घर में क्यों घुसने देंगे? वहाँ तो अमंगल माना जायगा। मैं जीव-जगत् से निर्वासित होकर आयी हूँ — मैं अपनी ही प्रेतात्मा हूँ।'

यदि यह सही नहीं है तो इस अर्धरात्रि में शारदाशंकर के सुरक्षित अन्तःपुर से इस दुर्गम श्मशान में आयी कैसे? यदि उसकी अन्त्येष्टि क्रिया अभी समाप्त नहीं हुई है तो दाह-क्रिया करने वाले आदमी गये कहाँ? शारदाशंकर के आलोकित घर में मृत्यु के अन्तिम क्षण उसे याद आये और उसके बाद ही इस बहुदूरवर्ती जन-शून्य अँधेरे श्मशान में अपने को अकेली देखकर उसने अनुभव किया, 'मैं इस पृथ्वी के जन-समाज की अब कोई नहीं — मैं अति भीषण, अकल्याणकारिणी; मैं अपनी ही प्रेतात्मा हूँ।'

मन में यह बात आते ही लगा, जैसे उसके चारों ओर से विश्व-नियमों के समस्त बन्धन टूट गये हैं। जैसे उसमें अद्भुत शक्ति हो, उसे असीम स्वाधीनता हो — वह जहाँ चाहे जा सकती है। इस अभूतपूर्व नूतन विचार के आविर्भाव से वह उन्मत्त की भाँति प्रबलु वायु के झोंके के समान झोंपड़ी से बाहर निकलकर अन्धकारपूर्ण श्मशान को रौंदती हुई चल पड़ी — मन में लज्जा, भय, चिन्ता का लेश-मात्र न रहा।

चलते-चलते पैर थकने लग गये, देह दुर्बल लगने लगी; एक मैदान पार करते न करते दूसरा आ जाता था। बीच-बीच के धान के खेत पार करने पड़ते या फिर कहीं-कहीं घुटनों तक पानी भरा मिलता। जब भोर का प्रकाश कुछ-कुछ दिखाई देने लगा तब जाकर थोड़ी दूर पर बस्ती के बाँस के झाड़ों से दो-एक पक्षियों की चहचहाहट सुनाई दी।

तब उसे न जाने कैसा भय लगने लगा! जगत् और जीते-जागते लोगों के साथ इस समय उसका कैसा नया सम्पर्क स्थापित हो गया था, यह वह तनिक भी नहीं जानती थी। जब तक मैदान में थी, श्मशान में थी, श्रावण-रजनी के अँधेरे में थी, तब तक वह जैसे निर्भय थी, जैसे अपने राज्य मे थी। दिन के प्रकाश मे लोगों की बस्ती उसे अत्यन्त भयंकर स्थान लगने लगी थी। मनुष्य भूत से डरता है, भूत भी मनुष्य से डरता है; मृत्यु-नदी के अलग-अलग किनारे पर उनका वास है।

तीन

कपड़ों में कीचड़ लपेटे, अद्भुत भावों मे डूबी और रात्रि-जागरण के कारण पागल के समान कादम्बिनी के चेहरे की जो दशा हो गयी थी उसे देखकर यह सम्भव था कि लोग डर जाते और लड़के शायद दूर भागकर उस पर ढेले फेकने लगते। सौभाग्य से उसे सबसे पहले इस अवस्था में एक सज्जन पथिक ने देखा।

उसने आकर कहा, 'बेटी, तुम भले परिवार की बहू लगती हो, तुम भला इस अवस्था में अकेली कहाँ जा रही हो?'

पहले तो कादम्बिनी कोई उत्तर न देकर ताकती रह गयी। सहसा कुछ भी नहीं सोच पायी। वह संसार में है, वह भद्र कुलवधू-जैसी दीखती है, गाँव के रास्ते में पथिक उससे प्रश्न पूछ रहा है, ये सारी बाते उसे कल्पनातीत लगीं।

पथिक ने उससे फिर कहा, 'चलो बेटी, मैं तुम्हें घर पहुँचा दूँ — तुम्हारा घर कहाँ है, मुझे बताओ!'

कादम्बिनी सोचने लगी। ससुराल लौटने के बात वह मन में ला भी नहीं सकती थी, पिता का घर था नहीं — तभी उसे बचपन की सहेली याद आयी।

यद्यपि सहेली योगमाया का साथ बचपन में ही छूट गया था, फिर भी कभी-कभी चिट्ठी-पत्री आती-जाती रहती थी कभी-कभी बाक़ायदा प्रेम-कलह छिड़ जाता। कादम्बिनी जताना चाहती थी कि उसी का स्नेह प्रबल है, योगमाया जताना चाहती कि कादम्बिनी उसके स्नेह का यथोचित प्रतिदान नहीं देती। यदि किसी सुयोग से वे एक बार मिल सकें तो फिर वे क्षण-भर के लिए एक-दूसरे को आँख की ओट नहीं करेंगी, इस विषय में उन दोनों में से उन दोनों में से किसी को भी कोई सन्देह नहीं था।

कादम्बिनी ने उन सज्जन से कहा, 'निशिन्दापुर में श्रीपति बाबू के घर जाना है।' पथिक कलकत्ता जा रहे थे; निशिन्दापुर पास नहीं था, पर फिर भी उनके मार्ग में पड़ता था। उन्होंने स्वयं बन्दोबस्त करके कादम्बिनी को श्रीपतिचरण बाबू के घर पहुँचा दिया।

दोनों सखियों का मिलन हुआ। पहले पहचानने में कुछ देर हुई, फिर दोनों के नेत्रों के समाने बचपन का चित्र धीरे-धीरे परिपुष्ट हो उठा।

योगमाया ने कहा, 'वाह-वाह, मेरा भाग्य कितना अच्छा है! फिर से तुम्हारे दर्शन कर सकूँगी, इसकी तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी। लेकिन बहन, तुम आयी कैसे? तुम्हारी ससुराल के लोगों ने क्या तुम्हें छोड़ दिया?'

कादम्बिनी चुप लगा गयी। अंत में बोली, 'बहन ससुराल की बात मुझसे मत पूछो! मुझे दासी की भाँति घर के कोने में जगह दे दो, मैं तुम लोगों का काम-काज कर दिया करूँगी।'

योगमाया बोली, 'वाह री, यह खूब कही; दासी की तरह क्यों रहोगी? तुम मेरी सहेली हो, तुम मेरी......' इत्यादि।

इसी समय श्रीपति ने कमरे में प्रवेश किया। कादम्बिनी कुछ देर उनके मुँह की ओर तकती रही, फिर धीरे-धीरे कमरे से बाहर निकल गयी — सिर पर पल्ला ठीक कर लेने का, या किसी प्रकार के संकोच या संभ्रम का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ा।

बाद में श्रीपति कहीं उसी की सहेली के विरुद्ध कुछ सोच न बैठें, इसी संभावना से विकल होकर योगमाया ने अनेक प्रकार से उनको समझाना शुरू किया। किन्तु समझाना इतना कम पड़ा और श्रीपति ने योगमाया से सारे प्रस्तावों का इतनी आसानी से अनुमोदन किया कि योगमाया मन-ही-मन विशेष संतुष्ट न हो सकी।

कादम्बिनी सहेली के घर आ तो गयी, पर सहेली के साथ हिल-मिल नहीं सकी — बीच में मृत्यु की दीवार थी। अपने बारे में निरन्तर कोई सन्देश एवं चेतना बनी रहने पर दूसरे के साथ घुला-मिला नहीं जा सकता। कादम्बिनी योगमाया के मुँह की ओर देखती और न जाने क्या सोचती। सोचती, 'अपने पति और अपनी घर-गृहस्थी लिये वह मानो बहुत दूर किसी दूसरे लोक में हो। स्नेह-ममता और समस्त कर्तव्य लिये हुए वह मानों धरती की निवासिनी हो, और मैं मानो कोई शून्य छाया। यह जैसे अस्तित्व के देश में हो, और मैं जैसे किसी अनन्त में।'

योगमाया को भी न जाने कैसा-कैसा लगा, कुछ भी नहीं समझ पायी। स्त्री की जाति रहस्य नहीं सह सकती; क्योंकि अनिश्चित को लेकर कवित्व किया जा सकता है, वीरत्व प्रदर्शित किया जा सकता है, पाण्डित्य दिखाया जा सकता है, किन्तु घर-गृहस्थी नहीं चलाई जा सकती। इसी कारण स्त्री जाति जिसको समझ नहीं सकती, या तो वह उसके अस्तित्व का विलोप करके उसके साथ कोई संपर्क ही नहीं रखती या फिर उसको अपने हाथ से नया रूप देकर उसे अपने व्यवहार के योग्य वस्तु गढ़ लेती है—यदि दोनों में से एक भी नहीं कर पाती, फिर उसके ऊपर वह भीषण क्रोध करती रहती है।

कादम्बिनी जितनी ही दुर्बोध होने लगी, योगमाया उसके ऊपर उतनी ही क्रोधित होने लगी। उसने सोचा, 'सिर पर यह क्या मुसीबत आ पड़ी !'

तिस पर एक और भी आफ़त थी। कादम्बिनी स्वयं अपने से डरती थी। वह अपने सामीप्य

से स्वयं किसी प्रकार भी नहीं भाग पाती थी। जो भूत से डरते हैं उन्हें अपने अतीत का डर सताया करता है — जहाँ दृष्टि नहीं जा पाती वहीं का भय लगता है। लेकिन कादम्बिनी को अपने से ही सबसे अधिक डर लगता था, बाहर का उसे कोई भय नहीं था।

इसीलिए निर्जन दोपहरी में वह कभी-कभी कमरे में अकेली चीख उठती और संध्या समय दिये के उजाले में अपनी छाया देखकर उसका शरीर थर-थर काँपने लग जाता।

उसका यह डर देखकर घर के सभी जनों के मन में न जाने कैसा एक भय समा गया। नौकर-चाकर, दास-दासियाँ यहाँ तक कि योगमाया को भी जब-तब जहाँ-तहाँ भूत दिखाई पड़ने लगा।

एक दिन ऐसा हुआ कि अचानक आधी रात को कादम्बिनी रोती हुई सोने के कमरे में से बाहर निकली और योगमाया के कमरे के द्वार पर आकर बोली, 'दीदी, दीदी, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ! तुम मुझे अकेली मत छोड़ा करो'!'

योगमाया को एक ओर डर लगा, तो दूसरी ओर क्रोध भी आया। उसकी इच्छा हुई कादम्बिनी को उसी क्षण निकाल दें। श्रीपति ने दयापूर्वक जैसे-तैसे उसको शांत करके पास के कमरे में स्थान दिया।

दूसरे दिन असमय श्रीपति को अंतःपुर में तलब किया गया। योगमाया ने उनको अचानक डाँटना-फटकारना आरंभ किया, 'क्यों जी तुम कैसे आदमी हो! एक औरत अपनी ससुराल छोड़कर तुम्हारे घर में आकर डट गयी है, महीना होने को आया, फिर भी टलने का नाम नहीं लेती और तुम्हारे मुँह से विरोध का एक शब्द भी नहीं सुनाई पड़ा। तुम्हारे मन में क्या है साफ़-साफ़ कहो न! पुरुषों की तो जात ही ऐसी होती है।

वास्तव मे, साधारणतः स्त्री पर पुरुषों का एक तर्कहीन पक्षपात रहता है और इसके लिए स्त्रियाँ ही उनको अधिक अपराधी ठहराती हैं। निःसहाय किन्तु सुन्दर कादम्बिनी के प्रति उनकी करुणा यथोचित मात्रा से कुछ अधिक थी, इस बात के विरोध मे श्रीपति योगमाया की देह छूकर सौगंध खाने को भी तैयार थे। फिर भी,. उनके व्यवहार से उसका प्रमाण मिल ही जाता।

वे सोचते, 'इसकी ससुराल के लोग ज़रूर इस पुत्रहीना विधवा के प्रति अन्याय अत्याचार करते होंगे, तभी तो किसी भी प्रकार सहन कर सकने पर ही वहाँ से भागकर कादम्बिनी ने मेरा आश्रय लिया है। जब इसके माँ या बाप कोई है ही नहीं तब इसे मैं कैसे त्याग दूँ!' इसी कारण वे किसी प्रकार की खोज-खबर लेने की ओर से उदासीन थे और इस अप्रीतिकर विषय पर प्रश्न करके कादम्बिनी को व्यथित करने की भी उनकी इच्छा नहीं होती थी।

हारकर उनकी पत्नी उनकी निष्क्रिय कर्तव्य-बुद्धि पर नाना प्रकार से आघात करने लगी। कादम्बिनी की ससुराल में समाचार भिजवाना उनके घर की शांतिरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है, यह वे अच्छी तरह समझ गये। अंत में उन्होंने निश्चय किया, अचानक चिट्ठी लिख भेजने का परिणाम शायद अच्छा न भी हो, अतएव स्वयं रानीहाट जाकर पता लगाने के बाद अपना कर्तव्य तय करेंगे।

श्रीपति तो चले गये, इधर योगमाया ने आकर कादम्बिनी से कहा, 'बहन, तुम्हारा यहाँ पर अब और टिके रहना अच्छा नहीं दिखता। लोग क्या कहेंगे ?'

गंभीरता से योगमाया के मुँह की ओर देखकर कादम्बिनी बोली, लोगों से मुझे क्या लेना-देना है?'

योगमाया सुनकर अवाक् रह गयी। ज़रा झल्लाकर बोली, 'तुम्हें भली न हो, हमें तो लेना-देना है। हम पराये घर की बहू को क्या कहकर टिकाये रहें ?'

कादम्बिनी ने कहा, 'मेरी ससुराल है ही कहाँ ?'

योगमाया ने सोचा, 'मर गये, न जाने क्या कह रही है मुँहजली!'

कादम्बिनी धीरे-धीरे बोली, 'मैं क्या कोई तुम लोगों की हूँ ? मैं क्या इस जगत् की हूँ ? तुम लोग हँसते हो, रोते हो, प्यार करते हो, सब अपने में मगन हो, मैं.... तो बस देखती रहती हूँ। तुम लोग मनुष्य हो, और मैं हूँ छाया। समझ नहीं आता भगवान् ने मुझे तुम लोगों के इस जगत् में क्यों ला रखा है? तुम लोगों को भी डर लगा रहता है कि कहीं मैं तुम लोगों के हँसी-खेल में अमंगल न ले आऊँ — मैं भी नहीं समझ पाती कि तुम लोगों के साथ मेरा क्या संबंध है। किन्तु ईश्वर ने जब हमारे लिए कोई दूसरा स्थान बनाया ही नहीं, तब चाहे बात-बात में बंधन टूटता रहे फिर भी तुम्हीं लोगों के आस-पास चक्कर काटती रहती हूँ।'

उसने ये बातें कुछ इस ढंग से देखते हुए कहीं कि योगमाया जैसे-तैसे मोटे तौर पर कुछ तो समझ पायी किन्तु असल बात वह भी नहीं समझ नहीं पायी और कोई जवाब भी नहीं दे सकी। दुबारा प्रश्न भी नहीं कर सकी। वह अत्यंत भारग्रस्त होकर गंभीर भाव से चली गयी।

४

जब रात के लगभग दस बज रहे थे तब श्रीपति रानीहाट होकर लौटे। मूसलाधार वर्षा में धरती डूबी जा रही थी। उसकी निरंतर झर-झर ध्वनि से ऐसा प्रतीत होता था कि वह वर्षा समाप्त नहीं होगी, आज रात-भर चलती रहेगी।

योगमाया ने पूछा, 'क्या हुआ ?'

श्रीपति ने कहा, 'ढेरों बाते हैं, फिर होंगी।' कहकर उन्होंने कपड़े बदलकर भोजन किया और हुक्का पीकर सोने चले गये। मुद्रा अत्यन्त चिन्तित थी।

योगमाया बहुत देर मे कौतूहल दबाये हुए थी। बिस्तर पर पहुँचते ही उसने पूछा, 'क्या सुन आये, बताओ!'

श्रीपति ने कहा, 'तुमने ज़रूर एक भूल की है।'

सुनते ही योगमाया मन-ही-मन कुछ नाराज़ हुई। औरतें कभी भूल नहीं करतीं; यदि करें भी तो किसी बुद्धिमान पुरुष के लिए उसका उल्लेख करना उचित नहीं है। उसे अपने ही सिर पर ले लेना बुद्धिमानी है। योगमाया ने थोड़ा गर्म होकर कहा, 'कैसी, सुनूँ तो !'

श्रीपति ने कहा, 'तुमने जिस स्त्री को अपने घर में स्थान दिया है वह तुम्हारी सखी कादम्बिनी नहीं है।'

ऐसी बात सुनकर सहज ही क्रोध आ सकता है — विशेष रूप से अपने पति के मुँह से सुनने पर तो कहना ही क्या। योगमाया ने कहा, 'अपनी सहेली को मैं नहीं पहचानती, तुमसे पहचान करवा लेनी होगी — खूब कही !'

श्रीपति ने समझाया, 'यहाँ बात की खूबी को लेकर किसी प्रकार का तर्क नहीं हो रहा है, प्रमाण देखना होगा। योगमाया की सहेली कादम्बिनी मर गयी है इसमें कोई सन्देह नहीं।'

योगमाया ने कहा, 'लो, और सुनो! तुम ज़रूर कोई बखेड़ा खड़ा कर आये हो। न जाने कहाँ-के-कहाँ पहुँचे और क्या-का-क्या सुन आये, भला कोई ठिकाना है ! तुम्हें खुद वहाँ जाने के लिए किसने कहा था, एक चिट्ठी लिख देते, सब बात साफ़ हो जाती।'

अपनी कर्म-कुशलता के प्रति स्त्री के ऐसे विश्वासाभाव से श्रीपति अत्यन्त खिन्न होकर विस्तारपूर्वक सब प्रमाणों का उल्लेख करने लगे, किन्तु कोई फल नहीं हुआ। उभय पक्ष के हाँ-ना करते-करते आधी रात हो गयी।

यद्यपि कादम्बिनी को उसी क्षण घर से बाहर निकाल देने के विषय में पति-पत्नी किसी में मतभेद नहीं था — क्योंकि, श्रीपति का विश्वास था कि उनके अतिथि ने छद्म परिचय देकर उनकी स्त्री को इतने दिन का धोखे में रखा है, और योगमाया का विश्वास था कि वह कुल-त्यागिनी है — तथापि प्रस्तुत तर्क के सम्बन्ध में दोनों में से कोई भी हार मानने को तैयार न था।

धीरे-धीरे दोनों की आवाज़ चढ़ने लगी। वे भूल गये कि बग़ल के ही कमरे में कादम्बिनी सो रही है।

एक ने कहा, 'अच्छी आफ़त में पड़ गये! मैं अपने कानों से सुन आया हूँ।'

दूसरे से दृढ़ स्वर में कहा, 'तो क्या तुम्हारे कहने से मान लूँ, मै अपनी आँखों देख रही हूँ।'

अन्त मे योगमाया ने पूछा, 'कादम्बिनी कब मरी थी, बताओ तो!'

उसने सोचा कि कादम्बिनी की किसी चिट्ठी की तारीख़ से इस बात का विरोध दिखाकर श्रीपति के भ्रम को प्रमाणित कर देगी।

श्रीपति ने जिस तारीख़ की बात कही, दोनों ने हिसाब करके देखा कि वह तारीख़ जिस दिन संध्या-समय कादम्बिनी उनके घर आयी थी, ठीक उसके पहले दिन पड़ती थी। सुनते ही योगमाया का हृदय सहसा काँप उठा, श्रीपति को भी न जाने कैसा लगने लगा!

इतने में उनके कमरे का द्वार खुला गया, चौमासे की हवा के एक झोंके से दिया भक् से बुझ गया। पलक मारते ही बाहर का अँधेरा सारे कमरे में ऊपर से नीचे तक भर गया। कादम्बिनी एकाएक कमरे के भीतर आ खड़ी हुई। उस समय ढाई पहर रात बीत चुकी थी, बाहर लगातार वर्षा हो रही थी।

कादम्बिनी ने कहा, 'बहन, मैं तुम्हारी वही कादम्बिनी हूँ, किन्तु अब मैं जीवित नहीं हूँ। मैं मर चुकी हूँ।'

योगमाया भय से चीख पड़ी। श्रीपति की बोलती बन्द हो गयी।

'लेकिन मैंने मरने के अलावा तुम लोगों की दृष्टि मे और क्या अपराध किया है। मेरे लिए न तो इस लोक में स्थान है, न परलोक में — हाय! तो फिर मैं कहाँ जाऊँ ?'

ज़ोर से चीख़कर वह मानो उस घोर वर्षा की रात मे सोते हुए विधता को जगाकर पूछ उठी, 'हाय! तो फिर मैं कहाँ जाऊँ ?'

यह कहकर मूर्छित दम्पति को अँधेरे कमरे में छोड़कर कादम्बिनी विश्व में अपना स्थान खोजने निकल पड़ी।

पाँच

कादम्बिनी किस प्रकार वापस रानीहाट पहुँची, यह कहना कठिन है। किन्तु पहले किसी को भी दिखाई नहीं पड़ी। उसने सारा दिन बिना खाये-पिये एक टूटे मन्दिर के खण्डहर में बिताया।

वर्षा ऋतु की अकाल संध्या जब अत्यन्त सघन हो गयी और आसन्न दुर्योग की आशंका से गाँव के लोगों ने घबराकर अपने-अपने घरों की शरण ली, तब कादम्बिनी बाहर निकली। ससुराल के दरवाज़े पर पहुँचकर एक बार तो उसका हृदय काँप उठा, लेकिन जब वह लम्बा घूँघट निकालकर भीतर जाने लगी तो उसको दासी समझकर दरबानों ने कोई रोक-टोक नहीं की। तभी बड़े ज़ोर की वर्षा होने लगी, और हवा भी तेज़ी से चलने लगी।

उस समय घर की मालकिन शारदाशंकर की स्त्री अपनी विधवा ननद के साथ ताश खेल रही थी। नौकरानी रसोईघर में थी और बीमार मुन्ना ज्वर उतर जाने पर सोने के कमरे में बिछौने पर सो रहा था। कादम्बिनी सबकी आँख बचाकर उसी कमरे में प्रविष्ट हुई। वह क्या सोचकर ससुराल आयी थी पता नहीं, वह स्वयं भी नहीं जानती थी, बस इतना जानती थी कि एक बार आकर मुन्ने को एक नज़र देख लेने की इच्छा थी। उसके बाद कहाँ जायगी, क्या होगा, यह तो उसने सोचा भी नहीं था।

दिन के उजाले में उसने देखा, रुग्ण, क्षीणकाय मुन्ना मुट्ठी बाँधे सोया हुआ है। देखते ही उसका उत्तप्त हृदय मानो तृषातुर हो उठा — उसकी सारी बलाएँ लेकर उसको एक बार छाती से लगाये बिना क्या रहा जा सकता है! और, फिर उसे याद आया, 'मैं रही नहीं, अब इसको देखने वाला कौन है। इसकी माँ को संगत अच्छी लगती है, गप-शप अच्छी लगती है, खेल-तमाशा अच्छा लगता है, इतने दिन तक इसका भार मुझे सौंपकर वे निश्चिन्त थीं, लड़के के पालन-पोषण का कोई झंझट उन्हें नहीं उठाना पड़ा। अब इसकी उस प्रकार देख-भाल कौन करेगा!'

तभी मुन्ना अचानक करवट बदलकर अर्धनिद्रित अवस्था में बोल पड़ा, 'काकी, पानी दो।' हाय! मैं वारी! मेरे लाल, तू अपनी काकी को तू अब भी नहीं भूला! झट पट सुराही से पानी लेकर मुन्ने को छाती से चिपटाकर कादम्बिनी ने उसे पानी पिलाया।

जब तक वह नींद के झोंके में रहा, अपनी आदत के अनुसार काकी के हाथ से पानी पीने मे मुन्ने को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। अन्त में कादम्बिनी ने जब अपनी बहुत दिनों की आकांक्षा पूरी करने के लिए उसका मुँह चूमकर उसे फिर लिटा दिया, तो उसकी नींद खुल गयी और उसने काकी के लिपटकर पूछा, 'काकी, तू मर गयी थी न ?'

काकी बोली, 'हाँ, बेटा!'

'तू फिर मुन्ने के पास लौट आयी है ? अब तो नहीं मरेगी ?'

उसका उत्तर देने के पहले ही हल्ला मच गया — नौकरानी कटोरी में साबूदाना लिए कमरे में घुसी थी, अकस्मात् कटोरी फेंककर 'मैया री!' पुकारती हुई वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

यह सब देखकर मुन्ने के मन में भय का संचार होने लगा—वह रोते-रोते बोला, 'काकी, तू जा!'

बहुत दिनों बाद आज कादम्बिनी को अनुभव हुआ कि वह मरी नहीं है — वही पुराना घर-द्वार, वही सब-कुछ, वही मुन्ना, वही स्नेह, उसके लिए ज्यों-के-त्यों जीवित हैं, बीच में कोई विच्छेद, कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं हुआ। सहेली के घर जाकर उसे अनुभव हुआ था कि

बाल्य-काल की वह सखी मर चुकी है, पर मुन्ने के कमरे में आकर उसने अनुभव किया कि मुन्ने की काकी तनिक भी नहीं मरी है।

उसने विकल होकर कहा, 'दीदी, मुझे देखकर तुम लोग डर क्यों रही हो ? ये देखो, मैं तो आज भी उसी तरह तुम्हारी हूँ।'

मालकिन ज्यादा देर खड़ी नहीं रह सकीं, मूर्छित होकर गिर पड़ीं। बहन से समाचार पाकर शारदाशंकर बाबू स्वयं अन्तःपुर में आकर उपस्थित हुए ; हाथ जोड़कर उन्होंने कादम्बिनी से कहा, 'छोटी बहू, यह क्या तुम्हारे लिए उचित है? सतीश मेरे कुल का इकलौता लड़का है, उसको तुम नज़र क्यों लगा रही हो ? हम क्या कोई पराये हैं ? तुम्हारे जाने के बाद से वह दिनों-दिन सूखता जा रहा है, बीमारी जाने का नाम नहीं लेती, बस रात-दिन 'काकी काकी' रटता रहता है। तुमने जब संसार से विदा ले ली है तो अब यह माया-बन्धन भी तोड़ डालो — हम तुम्हारा यथोचित संस्कार करेंगे।'

कादम्बिनी अब और अधिक नहीं सह सकी, ज़ोर से बोल उठी, 'अरे, मैं मरी नहीं हूँ, मरी नहीं हूँ। मैं तुम लोगों को कैसे समझाऊँ कि मैं मरी नहीं। ये देखो, मैं जीवित हूँ।'

यह कहकर वह धरती पर पड़ी काँसे की कटोरी उठाकर माथे पर मारने लगी, माथे से रक्त फूटकर बहने लगा।

वह फिर बोली, 'ये देखो, मैं जीवित हूँ।'

शारदाशंकर मूर्तिवत् खड़े रहे; मुन्ना डर के मारे पिता को पुकारने लगा; दोनों मूर्छित स्त्रियाँ ज़मीन पर पड़ी रहीं।

तब कादम्बिनी 'अरे! मैं मरी नहीं हूँ रे, नहीं मरी रे, नहीं मरी —' चीखती हुई कमरे से बाहर निकल कर सीढ़ियों से उतरती हुई अन्तःपुरी की पुष्करिणी में कूद पड़ी। ऊपर से कमरे से शारदाशंकर ने छपाक् की आवाज़ सुनी।

सारी रात वर्षा होती रही, अगले दिन सवेरे भी वर्षा होती रही, दोपहर को भी वर्षा रुकने के कोई आसार दिखाई नहीं दिये। कादम्बिनी ने मरकर प्रमाणित कर दिया कि वह मरी नहीं थी।

५

काबुलीवाला

मेरी पाँच बरस की छोटी बेटी मिनी बिना बोले पल-भर भी नहीं रह सकती। संसार में जन्म लेने के बाद भाषा सीखने में उसने केवल एक वर्ष का समय खर्च किया था, उसके बाद से जब तक वह जगती रहती है एक पल भी मौन रहकर नष्ट नहीं करती। उसकी माँ बहुत बार डॉटकर उसका मुँह बन्द कर देती है, किन्तु मैं यह नहीं कर पाता। चुपचाप बैठी मिनी देखने में ऐसी अस्वाभाविक लगती है कि मुझे बहुत देर तक सहन नहीं होता। इसलिए मेरे साथ उसका वार्तालाप कुछ उत्साह के साथ चलता है।

सुबह मैंने अपने उपन्यास के सत्रहवे परिच्छेद में हाथ लगाया था कि मिनी ने आते ही बात छेड़ दी, 'पिताजी, रामदयाल दरबान काक को कौआ कहता था, वह कुछ नहीं जानता। है न ?'

संसार की भाषाओं की विभिन्नता के सम्बन्ध में उसे ज्ञानदान करने के लिए मेरे प्रवृत्त होने के पहले ही वह दूसरे प्रसंग पर चली गई। 'देखो पिताजी, भोला कह रहा था कि आकाश में हाथी सूँड से पानी डालता है, उसी से वर्षा होती है। ओ माँ ! भोला कैसी बेकार की बातें करता है ! खाली बकबक करता रहता है ! दिन-रात बकबक लगाये रहता है।'

इस बारे में मेरी हाँ-ना की तनिक भी प्रतीक्षा किये बिना वह अचानक प्रश्न कर बैठी, 'पिताजी, माँ तुम्हारी कौन होती हैं ?'

मन-ही-न कहा, 'साली'; ऊपर से कहा, 'मिनी, जा तू भोला के साथ खेल ! मुझे इस समय काम है।'

तब वह मेरे लिखने की मेज़ के किनारे मेरे पैरों के पास बैठकर अपने दोनों घुटनों पर हाथ रखकर बड़ी तेज़ी से 'आगड़ूम वागड़ूम' कहते हुए खेलने लगी। मेरे सत्रहवें परिच्छेद में उस समय प्रतापसिंह काञ्चनमाला को लेकर अँधेरी रात मे कारागार के उच्च वातायन से नीचे बहती नदी के जल में कूद रहे थे।

मेरा कमरा सड़क के किनारे पर था। सहसा मिनी 'आगड़ूम वागड़ूम' का खेल छोड़कर जंगले की तरफ़ भागी और ज़ोर-ज़ोर से पुकारने लगी, 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले !'

मैले-से ढीले-ढाले कपड़े पहने, सिर पर पगड़ी बाँधे, पीठ पर झोली लिये, हाथों में अंगूरों के दो-चार बक्स लिए एक लम्बा काबुलीवाला सड़क पर धीरे-धीरे जा रहा था — उसे देखकर मेरी कन्या-रतन के मन में कैसे भाव उठे, कहना कठिन है। उसने उसको ऊँची आवाज़ मे बुलाना

शुरू कर दिया। मैंने सोचा, 'बस अब पीठ पर झोली लिए एक आफ़त आ खड़ी होगी, मेरा सत्रहवाँ परिच्छेद अब पूरा नहीं हो सकता।'

किन्तु मिनी की चीख पर ज्यों ही काबुलीवाले ने हँसकर मुँह फेरा और मेरे घर की ओर आने लगा, त्यों ही वह झटपटकर अन्तःपुर में भाग गयी — उसका नामो-निशान भी दिखाई नहीं पड़ा। उसके मन में एक तरह का अन्धविश्वास था कि उस झोली के भीतर खोज करने पर उसके समान दो-चार जीवित मानव-सन्तान मिल सकती हैं।

इधर काबुलीवाला आकर मुस्कराता हुआ मुझे सलाम करके खड़ा हो गया। मैंने सोचा, 'यद्यपि प्रतापसिंह और काञ्चनमाला की अवस्था अत्यन्त संकटापन्न है तथापि आदमी को घर पर बुला लेने के बाद उससे कुछ न खरीदना शोभा नहीं देता।'

कुछ खरीदा। उसके बाद दो-चार बातें भी हुईं। अब्दुर्रहमान से रूस, अंग्रेज़ों आदि से लेकर सीमान्तप्रदेश की रक्षा-नीति के बारे में बातचीत होने लगी।

अन्त में उठकर चलते समय उसने पूछा, 'बाबू, तुम्हारी लड़की कहाँ गयी ?'

मैंने मिनी के भय को समूल नष्ट कर देने के अभिप्राय के उसे भीतर से बुलवा लिया — वह मेरी देह से सटकर काबुली के चेहरे और झोली की ओर संदिग्ध दृष्टि से देखती खड़ी रही। काबुली उसे झोली से किशमिश, खुबानी निकालकर देने लगा, पर वह लेने को किसी तरह राज़ी नहीं हुई। दुगुने सन्देह से मेरे घुटने से सटकर रह गयी। प्रथम परिचय इस प्रकार पूरा हुआ।

कुछ दिन बाद एक दिन सवेरे किसी काम से घर से बाहर जाते समय देखा, मेरी दुहिता द्वार के पास बेंच पर के ऊपर बैठकर अनर्गल बातें कर रही हैं और काबुलीवाला उसके पैरों के पास बैठा मुस्कराता हुआ सुन रहा है और बीच-बीच में प्रसंगानुसार अपना मतामत भी मिश्रित बाङला में व्यक्त कर रहा है। मिनी को अपने पंचवर्षीय जीवन की अभिज्ञता मे पिता के अतिरिक्त ऐसा धैर्यवान श्रोता कभी नहीं मिला था। मैंने यह भी देखा कि उसका छोटा आँचल बादाम-किशमिश से भरा था। मैंने काबुलीवाले से कहा, 'उसे यह सब क्यों दिया ? अब फिर मत देना !' और मैंने जेब से एक अठन्नी निकालकर उसको दे दी। बिना संकोच के अठन्नी लेकर उसने झोली में रख ली।

घर लौटकर देखा, उस अठन्नी को लेकर पूरा झगड़ा मचा हुआ है।

मिनी की माँ सफ़ेद चमचमाते हुए गोलाकार पदार्थ को लेकर कड़े स्वर में मिनी से पूछ रही थी, 'तुझे यह अठन्नी कहाँ से मिली ?'

मिनी कह रही थी, 'काबुलीवाले ने दी है।'

उसकी माँ कह रही थी, 'काबुलीवाले से अठन्नी लेने तू क्यों गयी ?'

मिनी ने रोने की तैयारी करते हुए कहा, 'मैंने माँगी थोड़ी ही थी, उसने स्वयं दी।'

मैंने आकर आसन्न विपद् से मिनी का उद्धार किया और उसे बाहर ले गया।

पता चला, काबुलीवाले से मिनी की यह दूसरी मुलाकात हो, ऐसा नहीं था। इस बीच में उसने प्रायः प्रतिदिन आकर पिस्ता-बादाम, घूस में देकर मिनी के नन्हें लुब्ध हृदय पर बहुत-कुछ अधिकार कर लिया है।

मालूम हुआ, उन दो मित्रों में कुछ बँधी हुई बातें और परिहास प्रचलित हैं — जैसे रहमत को देखते ही मेरी कन्या हँसते-हँसते पूछती, 'काबुलीवाले ! ओ काबुलीवाले ! तुम्हारी झोली में क्या है ?'

रहमत अनावश्यक चन्द्रबिन्दु जोड़कर हँसते हुए उत्तर देता, 'हाँति।'

अर्थात् उसकी झोली में एक हाथी है। उसकी हँसी का यही गूढ़ रहस्य था। यह रहस्य बहुत ज्यादा गूढ़ था यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इस परिहास से दोनों ही काफ़ी विनोद का अनुभव करते रहते — और शरत्काल के प्रभात में एक वयस्क और एक अप्राप्तवयस्क शिशु का सरल हास्य देखकर मुझे भी अच्छा लगता।

इनमें एक और बात भी प्रचलित थी। रहमत मिनी से कहता, 'मुन्नी, तुम क्या ससुराल कभी नहीं जाओगी !'

बंगाली परिवार की लड़की जन्म-काल से ही 'ससुराल' शब्द से परिचित रहती है, किन्तु हम लोगों के कुछ आधुनिक ढंग के लोग होने के कारण शिशु बालिका को ससुराल के सम्बन्ध में परिचित नहीं कराया गया था। इसीलिए वह रहमत के अनुरोध को ठीक से नहीं समझ पाती थी, फिर भी प्रश्न का कुछ-न-कुछ उत्तर दिये बिना चुप रह जाना उसके स्वभाव के बिलकुल विपरीत था — वह उलटकर पूछती, 'तुम ससुराल जाओगे ?'

रहमत काल्पनिक ससुर के प्रति खूब मोटा घूँसा तानकर कहता, 'मैं ससुर को मारूँगा।'

सुनकर मिनी 'ससुर' नामक किसी एक अपरिचित जीव की दुरवस्था की कल्पना करके खूब हँसती।

शुभ्र शरत्काल था। प्राचीन काल में, राजे-महाराजे दिग्विजय के लिए इसी ऋतु में निकलते थे। मैं कलकना छोड़कर कभी कहीं नहीं गया, शायद इसी से मेरा मन पृथ्वी-भर मे चक्कर काटता फिरता है। मैं मानो अपने घर के कोने में चिरप्रवासी होऊँ, बाहर के जगत् के लिए मेरा मन सदा विकल रहता है। विदेश का कोई नाम सुनते ही मेरा मन दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार विदेशी व्यक्ति को देखते ही नदी-पर्वत-अरण्य के बीच कुटी का दृश्य मन में उदित होता है और एक उल्लासपूर्ण स्वाधीन जीवन-यात्रा की बात कल्पना में साकार हो उठती है।

दूसरी ओर मैं ऐसा उद्भिजप्रकृति का व्यक्ति हूँ कि अपना कोना छोड़कर बाहर निकलते ही सिर पर वज्राघात हो जाता है इसीलिए सुबह अपने छोटे-से कमरे मे मेज़ के सामने बैठकर इस काबुली के साथ बातचीत करने से भ्रमण का मेरा काफ़ी काम हो जाता। दोनों ओर बन्धुर दुर्गम दग्ध रक्तवर्ण उच्च गिरि-श्रेणी, बीच में संकीर्ण मरुपथ, भार से लदे ऊँटों की चलती हुई पंक्ति ; साफ़ा बाँधे वणिक, पथिकों में से कोई ऊँट के ऊपर, कोई पैदल, किसी के हाथ में बल्लम, किसी के हाथ में पुरानी चाल की चकमक जड़ी बन्दूक़ — काबुली मेघ-मन्द्र स्वर में टूटी-फूटी बाङ्ला में अपने देश की बातें कहता और उसकी तसवीर मेरी आँखों के सामने आ जाती।

मिनी की माँ बहुत शंकालु स्वभाव की महिला थीं। रास्ते में कोई आवाज़ सुनते ही उन्हें लगता, धरती के सारे शराबी उन्हीं के घर की ओर लक्ष्य बनाकर दौड़े चले आ रहे हैं। यह पृथ्वी सर्वत्र चोर, डकैत, शराबी, साँप, बाघ, मलेरिया, शूककीट, तिलचट्टों और गोरों से परिपूर्ण है, इतने

दिन (बहुत अधिक नहीं नहीं) धरती पर वास करने पर भी यह विभीषिका उनके मन से दूर नहीं हुई थी।

रहमत काबुलीवाले के सम्बन्ध में वे पूर्ण रूप से निःसंशय नहीं थी। उस पर विशेष दृष्टि रखने के लिए उन्होंने मुझसे बार-बार अनुरोध किया था। मुझसे एक-एक करके कई प्रश्न पूछे, 'क्या कभी किसी के बच्चे चोरी नहीं हो जाते ? काबुल देश में क्या दास-व्यवसाय प्रचलित नहीं है ? एक भीमकाय काबुली के लिए एक छोटे-से बच्चे को चुरा ले जाना क्या नितान्त असम्भव है ?'

मुझे स्वीकार करना पड़ा, बात असम्भव हो, ऐसा तो नहीं, किन्तु अविश्वास्य है। पर विश्वास करने की शक्ति सबमें समान नहीं होती, इसीलिए मेरी पत्नी के मन मे भय बना रहा। किन्तु, मैं इस कारण निर्दोष रहमत को अपने घर आने से मना नहीं कर सका।

प्रतिवर्ष माघ के महीने के बीचों-बीच रहमत अपने देश चला जाता। इस समय वह अपना सारा रुपया वसूल करने में बड़ा व्यस्त रहता। दूर-दूर घूमना पड़ता, पर फिर भी वह मिनी को एक बार दर्शन दे जाता। देखने पर सचमुच ऐसा लगता मानो दोनों में कोई षड्यंत्र चल रहा हो। जिस दिन वह सवेरे नहीं आ पाता, उस दिन देखता कि वह संध्या को आ पहुँचा है। अँधेरे में कमरे के कोने में उसे ढीले-ढाले कुरता-पायजामा पहने, झोला-झोली वाले उस लम्बे आदमी को देखने पर मन में सचमुच ही अचानक एक आशंका उठती। किन्तु, जब देखता कि मिनी 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले' कहती हँसती हुई दौड़ी चली आती एव उन दो असमान वय वाले मित्रों मे पुराना सरल परिहास चलता रहता तो मेरा हृदय प्रसन्नता से भर उठता।

एक दिन सवेरे मैं अपने छोटे कमरे मे बैठा प्रूफ़-संशोधन कर रहा था। विदा होने से पहले आज दो-तीन दिन से जाड़ा खूब कँप-कँपा रहा था, चारों ओर एकाएक सीत्कार मच गयी थी। जंगले को पार करके सुबह की धूप टेबिल के नीचे आकर मेरे पैरों पर पड़ रही थी। उसकी गरमाहट बड़ी मीठी लग रही थी। यही कोई आठ बजे का समय रहा होगा, सिर पर गुलूबन्द लपेटे तड़के टहलने वाले प्रायः सभी सवेरे की सैर पूरी करके घर लौट आये थे। तभी सड़क पर बड़े ज़ोर का हल्ला सुनाई पड़ा। आँख उठायी तो देखा दो पहरे वाले अपने रहमत को बाँधे लिये जा रहे हैं — उसके पीछे तमाशबीन लड़कों की टोली चली आ रही है। रहमत के शरीर तथा कपड़ों पर खून के दाग़ हैं और एक पहरे वाले के हाथ में खून से सना छुरा है। मैंने दरवाज़े के बाहर जाकर पहरे वालों को रोककर पूछा, 'मामला क्या है ?'

कुछ उससे, कुछ रहमत से सुनकर मालूम हुआ कि हमारे एक पड़ोसी ने रामपुरी चादर के लिए रहमत से कुछ रुपया उधार लिया था — उसने झूठ बोलकर रुपया देने से इंकार कर दिया, और इसी बात को लेकर कहा-सुनी करते-करते रहमत ने उसे छुरा भोंक दिया।

रहमत उस झूठे को लक्ष्य करके तरह-तरह की बेहूदी गालियाँ दे रहा था, तभी 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले' पुकारती हुई मिनी घर से निकल आयी।

पलक मारते रहमत का चेहरा कौतुकपूर्ण हँसी से प्रफुल्लित हो उठा। उसके कन्धे पर आज झोली नहीं थी, इसीलिए झोली के सम्बन्ध मे उनकी नियमित आलोचना नहीं हो सकी। मिनी ने छूटते ही उससे पूछा, 'तुम ससुराल जाओगे ?'

रहमत ने हँसकर कहा, 'वहीं जा रहा हूँ।'

देखा, उत्तर मिनी को विनोदपूर्ण नहीं लगा, तब वह हाथ दिखाकर बोला, 'ससुर को मारता, पर क्या करूँ — हाथ बँधे हैं।'

घातक प्रहार करने के अपराध मे रहमत को कई वर्ष की जेल हो गयी।

उसकी बात क़रीब-क़रीब भूल गया। हम जिस समय घर में बैठकर सदा के समान नित्य नियमित काम में एक के बाद एक दिन काट रहे थे, उस समय एक स्वाधीन पर्वतचारी पुरुष कारा-प्राचीर में किस प्रकार वर्ष बिता रहा था, यह बात हमारे मन में उठी भी नहीं।

और चंचलहृदया मिनी का आचरण तो अत्यन्त लज्जाजनक था, यह उसके पिता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। उसने स्वच्छंदतापूर्वक अपने पुराने मित्र को भुलाकर पहले तो नबी सईस के साथ सख्य स्थापित किया। बाद मे धीरे-धीरे और ज्यों-ज्यों उसकी उम्र बढ़ने लगी त्यों-त्यों सखा के बदले एक-एक करके सखियाँ जुटने लगीं। यही नहीं, अब वह अपने पिता के लिखने-पढ़ने के कमरे में भी नहीं दिखाई पड़ती थी। मैंने तो उसके साथ एक प्रकार से कुट्टी कर ली थी।

न जाने कितने वर्ष बीत गये! एक और शरत्काल आया। मेरी मिनी का विवाह-सम्बन्ध निश्चित हो गया। पूजा की छुट्टियों में उसका विवाह होगा, कैलाशवासिनी के साथ मेरे घर की आनन्दमयी भी पितृ-भवन में अँधेरा करके पतिगृह चली जायगी।

अत्यन्त सुहावना प्रभात था। वर्षा के बाद शरत् की नयी धुली धूप ने जैसे सुहागे में गलाये हुए निर्मल सोने का-सा रंग धार लिया हो। यही नहीं, कलकत्ता की गलियों के भीतर के घुटनदार जर्जर ईंटों वाले सटे हुए मकानों पर भी इस धूप की आभा ने एक अपूर्व लावण्य बिखेर दिया था।

आज मेरे घर में रात बीतते-न-बीतते ही शहनाई बज उठी थी। वह बाँसुरी मानो मेरे हृदय के अस्थि-पिंजर में क्रन्दन करती बज रही थी। करुण भैरवी रागिनी में मेरी आसन्न वियोग-व्यथा को शरद् की धूप के साथ समस्त संसार भर में व्याप्त कर रही थी। आज मेरी मिनी का विवाह था।

सवेरे से ही बड़ी भीड़-भाड़ थी, लोग आ जा-जा रहे थे। आँगन में बाँस बाँधकर मण्डप ताना जा रहा था, घर के कमरों और बरामदों में झाड़ टाँगने की ठक्-ठक् आवाज़ हो रही थी; शोर-गुल की हद नहीं थी।

मैं अपने लिखने के कमरे में बैठा हिसाब देख रहा था, तभी रहमत आकर सलाम करके खड़ा हो गया।

मैं पहले उसे पहचान नहीं सका। उसके पास न वह झोली थी, न उसके वे लम्बे बाल थे; और न उसकी देह मे पहिले जैसा तेज था। आख़िर उसकी हँसी सुनकर ही उसे पहचाना।

मैंने कहा, 'क्यों रे रहमत, कब आया?

उसने कहा, 'कल शाम को जेल से छूटा।'

बात सुनकर कानों में जैसे खटका हुआ। कभी किसी खूनी को प्रत्यक्ष नहीं देखा, इसे देखकर सारा अन्तःकरण जैसे संकुचित हो गया। मन मे हुआ, आज इस शुभ दिन पर यह आदमी यहाँ से चला जाता तो अच्छा होता।

मैंने उससे कहा, 'आज हमारे घर में एक काम है, मैं कुछ व्यस्त हूँ, आज तुम जाओ!'

बात सुनते ही वह तत्क्षण चले जाने को उद्यत हुआ, अन्त में दरवाज़े के पास पहुँचकर थोड़ा इधर-उधर करके बोला, 'क्या एक बार मुन्नी को नहीं देख सकूँगा?'

कदाचित् उसे विश्वास था मिनी अब भी वैसी ही होगी। मानो उसने सोचा हो, मिनी अब भी पहले की भाँति 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले' करती दौड़ी आयेगी। उनके उस अत्यन्त उत्सुकतापूर्ण पुरानी हँसी-विनोद की बातों में किसी प्रकार का अन्तर नही नहीं होगा। यही नहीं, पुरानी मित्रता का स्मरण करके शायद अपने किसी स्वदेशीय मित्र से माँग-जाँचकर वह एक डिब्बा अंगूर और काग़ज़ के ठोंगे में थोड़े-से किशमिश और बादाम, जुटा लाया था। उसकी वह अपनी झोली अब नहीं थी।

मैंने कहा, 'आज घर मे काम है, आज और किसी से भेंट नहीं हो सकेगी।'

वह मानो कुछ दुखी हुआ। चुपचाप खड़े-खड़े एक बार स्थिर दृष्टि से उसने मेरे मुख की ओर देखा, फिर 'सलाम बाबू' कहकर दरवाज़े से बाहर चला गया। मुझे अपने मन में न जाने कैसी व्यथा का अनुभव हुआ। सोच रहा था कि उसको वापस बुलवा लूँ, तभी देखा कि वह स्वयं लौटा चला आ रहा है।

पास आकर बोला, 'ये अंगूर और थोड़े-से किशमिश-बादाम मुन्नी के लिए लाया था। उसे दे दीजिएगा।'

उन्हें लेकर दाम देने के लिए मेरे तैयार होते ही उसने तुरंत मेरा हाथ कस कर पकड़ लिया। बोला, 'आपकी बड़ी कृपा है, मुझे सदा याद रहेगी — मुझे पैसा मत दीजिए। बाबू , जिस तरह तुम्हारे एक लड़की है उसी तरह देश में मेरे भी एक लड़की है। मैं उसी का चेहरा याद करके तुम्हारी मुन्नी के लिए हाथ मे थोड़ा-बहुत मेवा लेकर आया हूँ, सौदा करने नहीं।'

यह कहते ही उसने अपने ढीले-ढाले कुर्ते में हाथ डालकर कहीं छाती के पास से मैले काग़ज़ का एक टुकड़ा निकाला और बड़े यत्न से उसकी तह खोलकर दोनों हाथों से मेरी मेज़ पर बिछा दिया।

देखा, काग़ज़ पर किसी नन्हे हाथ की छाप थी। फोटोग्राफ़ नहीं, तैलचित्र नहीं, हाथ में थोड़ी-सी कालिख लगाकर काग़ज़ के ऊपर उसकी छाप ले ली गयी थी ; कन्या के स्मरण-चिह्न को छाती से लगाये रहमत हर साल कलकत्ता की सड़कों पर मेवा बेचने आता — मानो उस सुकोमल नन्हे शिशुहस्त का स्पर्श-मात्र उसके विराट् विरही वक्ष में सुधा-संचार करता रहता हो।

देखकर मेरी आँखे छलछला आयीं। वह एक काबुली मेवा वाला है और मैं एक संभ्रांतवंशीय बंगाली — उस समय मैं भूल गया — उस समय मैंने समझा कि जो वह है, वही मैं हूँ। वह भी पिता है, मैं भी पिता हूँ। उसकी पर्वत-गृहवासिनी नन्हीं पार्वती की उस हस्तछाप ने मुझे भी अपनी मिनी का स्मरण दिला दिया। तैंने तत्क्षण उसे भीतर से बुलवाया। अन्तःपुर में इस बात पर बहुत-सी आपत्तियाँ की गयीं। मैंने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया। लाल चेली[१] पहने, माथे पर चन्दन लगाये, वधूवेशिनी मिनी सलज्ज भाव से मेरे पास आकर खड़ी हो गयी।

उसको देखकर पहले तो काबुलीवाला सकपका गया, अपना पुरानी बातचीत नहीं जमा पाया। अन्त में हँसकर बोला, 'मुन्नी, तू सुसराल जाएगी ?'

मिनी अब सुसराल का अर्थ समझती थी, इस समय वह पहले के समान उत्तर नहीं दे सकी — रहमत का प्रश्न सुनकर लज्जा से लाल होकर मुँह फेरकर खड़ी हो गयी। काबुलीवाले से मिनी

---

१. बंगालियों में पुराने समय में विवाह के अवसर पर वधू को लाल रेशमी वस्त्र पहनाया जाता था, जिसे चेली कहते थे।

की जिस दिन पहले भेंट हुई थी, मुझे उस दिन का बात याद हो आयी। मन न जाने कैस व्यथित हो उठा !

मिनी के चले जाने पर गहरी साँस लेकर रहमत ज़मीन पर बैठ गया। अचानक उसकी समझ में साफ़ आ गया, इस बीच उसकी पुत्री भी इसी तरह बड़ी हो गयी होगी। उसके साथ भी अब नया परिचय करना होगा। वह उसे बिलकुल पहले जैसी नहीं मिलेगी। इन आठ वर्षों में उस पर क्या बीती होगी, यह भी भला कौन जानता है ! सवेरे के समय शरत्कालीन स्निग्ध सूर्य की किरणों में शहनाई बजने लगी, रहमत कलकत्ता की किसी गली में बैठकर अफ़गानिस्तान के किसी मरु-पर्वत का दृश्य देखने लगा।

मैंने एक नोट निकालकर उसे दिया। कहा, 'रहमत, तुम अपनी लड़की के पास अपने देश लौट जाओ ; तुम्हारा मिलन-सुख मेरी मिनी का कल्याण करे।'

इन रुपयों का दान करने के कारण हिसाब में से उत्सव-समारोह की तैयारियों में से दो-एक चीज़ की कटौती देनी पड़ी। जैसा सोचा था, बिजली की वैसी रोशनी नहीं की जा सकी। फ़ौजी बैंड भी नहीं आ सका। अन्तःपुर में स्त्रियाँ बड़ा असन्तोष प्रकट करने लगीं, किन्तु मंगल-आलोक से मेरा शुभ-उत्सव उज्ज्वल हो उठा।

६

आधी रात में

एक

'डॉक्टर ! डॉक्टर !'

'परेशान कर डाला ! इतनी रात गये —'

आँखें खोलकर देखा, अपने दक्षिणाचरण बाबू थे। हड़बड़ाकर उठकर टूटी पीठ की चौकी घसीटकर उन्हें बैठने को दी और उद्विग्न भाव से मुँह की ओर देखा। घड़ी देखी, रात के ढाई बजे थे।

दक्षिणाचरण बाबू ने विवर्ण मुख विस्फारित नेत्रों से कहा, 'आज रात को फिर वही उपद्रव मच गया है — तुम्हारी औषधि कुछ काम नहीं आयी।'

मैंने कुछ संकोच के साथ कहा, 'मालूम होता है, आपने शराब की मात्रा फिर बढ़ा दी है।

दक्षिणाचरण बाबू ने अत्यन्त खीझकर कहा, 'यह तुम्हारा भारी भ्रम है। शराब की बात नहीं ; अद्योपान्त विवरण सुने बिना तुम असली कारण का अनुमान नहीं कर पाओगे।'

आले में मिट्टी के तेल की छोटी-सी ढिबरी मंद-मंद जल रही थी, मैंने उसे उकसा दिया ; प्रकाश थोड़ा जगमगा उठा और बहुत-सा धुआँ निकलने लगा। धोती का छोर देह के ऊपर खींचकर अखबार बिछे चीड़ के खोखे पर बैठ गया। दक्षिणाचरण बाबू कहने लगे —

'मेरी पत्नी स्त्री जैसी गृहिणी मिलना बड़ा कठिन है। किन्तु तब मेरी अवस्था ज़्यादा नहीं थी, सहज ही रसाधिक्य हो गया था, तिस पर काव्य-शास्त्र का अच्छी तरह अध्ययन किया था, इससे निरे गृहिणीपन से मन नहीं भर पाता था। कालिदास का यह श्लोक प्रायः मन में उभर आता —

'गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।'

किन्तु मेरी पत्नी पर ललित कलाविधि का कोई उपदेश नहीं चल पाता था और यदि सखीभाव से प्रथम-सम्भाषण करता तो वे हँसकर उड़ा देतीं। गंगा के प्रवाह से जिस प्रकार इन्द्र का ऐरावत परास्त हो गया था वैसे ही उनकी हँसी के सामने बड़े-बड़े काव्यों के टुकड़े और प्यार के अच्छे-अच्छे सम्भाषण क्षण-भर में ही खिसककर बह जाते। हँसने की उनमें अपूर्व क्षमता थी।

उसके बाद, आज लगभग चार बरस हुए मुझे भयंकर रोग ने धर दबाया। होठों पर दाने निकल आये। ज्वर-विकार हुआ, मरने की-सी हालत हो गयी। बचने की कोई की कोई आशा नहीं था। एक दिन ऐसा हुआ कि डॉक्टर भी जवाब दे गया। तभी मेरे एक आत्मीय ने कहीं से एक ब्रह्मचारी को ला उपस्थित किया ; उसने गाय के घी के साथ एक जड़ी पीसकर मुझे खिला दी। चाहे औषधि के गुण से हो या भाग्य के फेर से, उस बार मैं बच गया।

बीमारी के समय मेरी स्त्री ने दिन-रात एक क्षण भी विश्राम नहीं किया। उन कई-एक दिनों में एक अबला स्त्री ने, मनुष्य की सामान्य शक्ति के सहारे प्राणपण से व्याकुलता के साथ द्वार पर आये हुए यमदूतों से अनवरत युद्ध किया। अपने सम्पूर्ण प्रेम, समस्त हृदय, सारी सेवा से उसने मेरे इस अयोग्य प्राण को स्वयं मानो दुधमुँहे शिशु समान दोनों हाथों से छिपाकर ढक लिया था। आहार नहीं, नींद नहीं, संसार में और किसी का कोई ध्यान न रहा।

यम तो पराजित बाघ के समान मुझे अपने चंगुल से छोड़कर चले गये, किन्तु जाते-जाते मेरी स्त्री पर एक प्रबल पंजा मार गये।

मेरी स्त्री उस समय गर्भवती थीं, कुछ समय बाद उन्होंने एक मृत संतान को जन्म दिया। उसके बाद से ही उसके नाना प्रकार के जटिल रोगों का सूत्रपात हुआ। तब मैंनें उनकी सेवा आरम्भ कर दी। उससे वे बहुत व्याकुल हो उठीं। कहने लगीं, 'अरे ! क्या करते हो ! लोग क्या कहेंगे ! इस प्रकार दिन-रात तुम मेरे कमरे में मत आया-जाया करो।'

स्वयं पंखे की हवा खाने के बहाने यदि रात को ज्वर के समय मैं पंखा झलने चला जाता तो भारी छीना-झपटी मच जाती। किसी दिन उनकी शुश्रूषा के कारण यदि मेरे नियमित भोजन के समय में दस मिनट की देर हो जाती, वह भी नाना प्रकार के अनुनय, अनुरोध, अनुयोग का कारण बन जाती। थोड़ी-सी भी सेवा करने पर लाभ के बदले हानि होने लगती। वे कहतीं, 'पुरुषों का इतना अति करना अच्छा नहीं है।'

हमारे बरानगर के उस घर को, मेरा ख़याल है तुमने देखा है। घर के सामने ही बगीचा है और बगीचे के सामने गंगा बहती है। हमारे सोने के कमरे के नीचे ही दक्षिण की ओर मेंहदी की बाड़ लगाकर कुछ ज़मीन घेरकर मेरी पत्नी ने अपने मनपसन्द बगीचे का एक टुकड़ा तैयार किया था। सम्पूर्ण बगीचे में वही भाग अत्यन्त सीधा-सादा और एकदम देशी था। अर्थात् उसमें गन्ध की अपेक्षा वर्ण की बहार, फूल की तुलना में पत्तों का वैचित्र्य नहीं था. और गमलों में लगाये छोटे पौधों के समीप कमची के सहारे काग़ज़ की बनी लैटिन में लिखे नाम की जय-ध्वजा नहीं उड़ती थी। बेला, जुही, गुलाब, गन्धराज, कनेर और रजनीगंधा का ही प्रादुर्भाव कुछ अधिक था। एक विशाल मौलश्री वृक्ष के नीचे सफ़ेद संगमर्मर पत्थर का एक चबूतरा बना था। स्वस्थ रहने पर वे स्वयं खड़ी होकर दोनों समय उसको धोकर साफ़ करवाती थीं। ग्रीष्मकाल में काम से छुट्टी पाने पर सन्ध्या समय वही उनके बैठने का स्थान था। वहाँ से गंगा दिखती थीं, किन्त गंगा से कोठी की छोटी नौका में बैठे बाबू लोग उनको नहीं देख पाते थे।

बहुत दिन तक चारपाई पर पड़े-पड़े एक दिन चैत्र में शुक्लपक्ष की सन्ध्या को उन्होंने कहा, 'घर में बन्द रहने से मेरा प्राण न जाने कैसा हो रहा है, आज एक बार अपने उस बगीचे में जाकर बैठूँगी।'

मैंने उनको बहुत सँभालकर पकड़े हुए धीरे-धीरे ले जाकर उसी मौलश्री वृक्ष के नीचे बनी पत्थर की वेदी पर लिटा दिया। यों तो मैं अपनी जाँघ पर ही उनका सिर रख सकता था, किन्तु मैं जानता था कि वे उसे विचित्र-सा आचरण समझेंगी, इसलिए एक तकिया लाकर उनके सिर के नीचे रख दिया।

मौलश्री के दो-एक खिले हुए फूल झर रहे थे और शाखाओं के बीच से छायांकित ज्योत्स्ना उनके शीर्ण मुख के ऊपर आ पड़ी। चारों ओर शान्ति और निस्तब्धता थी; उस सघन गन्धपूर्ण छायान्धकार में एक ओर चुपचाप बैठकर उनके मुख की ओर देखकर मेरी आँखों में पानी भर आया।

मैंने धीरे-धीरे बहुत समीप पहुँचकर अपने हाथों से उनका एक उत्तप्त जीर्ण हाथ ले लिया। इस पर उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। कुछ देर तक इसी प्रकार चुप बैठे-बैठे मेरा हृदय न जाने कैसा उद्वेलित हो उठा ! मैं बोल उठा, 'तुम्हारे प्रेम को मैं कभी नहीं भूलूँगा।'

तभी समझा, इस बात के कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। मेरी पत्नी हँस पड़ी। उस हँसी में लज्जा थी, सुख था और थोड़ा-सा अविश्वास था; और उसमें काफी मात्रा में परिहास की तीव्रता भी थी। प्रतिवादस्वरूप कोई बात न कहकर उन्होंने केवल अपनी उसी हँसी से ही व्यक्त किया, 'किसी दिन भूलोगे नहीं, यह कभी संभव नहीं और मैं इसकी प्रत्याशा भी नहीं करती।'

इस सुमिष्ट सुतीक्ष्ण हँसी के भय से ही मैंने कभी अपनी पत्नी के साथ अच्छी तरह प्रेमालाप करने का साहस नहीं किया। उनके सामने न रहने पर जो अनेक बातें मन में आतीं उनके सामने जाते ही वे अत्यन्त व्यर्थ की लगने लगतीं। छपे अक्षरों में जो बातें पढ़ने पर नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगती है उनको मुँह से कहते हुए क्यों हँसी आती है, यह मैं आज तक नहीं समझ सका।

बातचीत मे तो वाद-प्रतिवाद चल जाता है, किन्तु हँसी के ऊपर तर्क नहीं चलता, इसलिए चुप होकर रह जाना पड़ा। ज्योत्स्ना उज्ज्वलतर हो उठी, एक कोयल बार-बार कुहू-कुहू करती हुई चंचल हो गयी। मै बैठा-बैठा सोचने लगा, ऐसी ज्योत्स्ना-रात्रि मे भी क्या पिकवधू बधिर हो गयी है ?

बहुत चिकित्सा करने पर भी मेरी पत्नी का रोग शान्त होने के कोई लक्षण नहीं दिखे। डॉक्टर ने कहा, 'एक बार जलवायु परिवर्तन करके देखना अच्छा होगा।' मैं पत्नी को लेकर इलाहाबाद चला गया।

इतना कहकर दक्षिणा बाबू सहसा चौंककर चुप हो गये। सन्देहपूर्ण भाव से मेरे मुख की ओर देखा, उसके बाद दोनों हाथों से सिर थामकर सोचने लगे। मैं भी चुप बैठा रहा। ताक में केरोसीन की ढिबरी टिमटिमाकर जलने लगी और निस्तब्ध कमरे में मच्छरों की भिनभिनाहट स्पष्ट रूप से सुनायी दे रही थी। हठात् मौन तोड़कर दक्षिणा बाबू ने कहना शुरू किया —

वहाँ हारान डॉक्टर पत्नी की चिकित्सा करने लगे।

अन्त में बहुत दिन तक स्थिति में कोई अन्तर होते न देखकर डॉक्टर ने भी कह दिया, मैं भी समझ गया और मेरी पत्नी भी समझ गयी कि उनका रोग अच्छा होनेवाला नहीं है। उनको सदा रुग्ण रहकर ही जीवन काटना पड़ेगा।

तब एक दिन मेरी पत्नी ने मुझसे कहा, 'जब न तो व्याधि ही दूर होती है और न मेरे मरने की ही कोई आशा है तब और कितने दिन इस जीवन्-मृत को लिये काटोगे ! तुम दूसरा विवाह करो।'

यह मानो केवल एक युक्तिपूर्ण और समझदारी की बात थी — इसमे कोई भारी महत्त्व, वीरत्व या कुछ असामान्य था, ऐसा लेश-मात्र भी उनका भाव नहीं था।

अब मेरे हँसने की बारी थी। किन्तु, मुझमे क्या उस प्रकार हँसने की क्षमता है ! मैं उपन्यास के प्रधान नायक के समान गम्भीर और सगर्व भाव से कहने लगा, 'जितने दिन इस शरीर में प्राण हैं...'

वे टोककर बोलीं, 'बस ! बस और अधिक मत बोलो ! तुम्हारी बात सुनकर तो मैं दंग रह जाती हूँ।'

पराजय स्वीकार न करते हुए मैं बोला, 'इस जीवन में और किसी से प्रेम नहीं कर सकूँगा।'

सुनकर मेरी पत्नी ज़ोर से हँस पड़ी। तब मुझे परास्त होना पड़ा।

मैं नहीं जानता कि उस समय कभी अपने-आपसे भी स्पष्ट स्वीकर किया था या नहीं; किन्तु इस समय मै समझ रहा हूँ कि उस आरोग्य-आशाहीन सेवा-कार्य से मैं मन-हो-मन थक गया था। उस काम में चूक करूँगा, ऐसी कल्पना भी मेरे मन में नहीं थी; अतएव, चिर जीवन इस चिररुग्ण को लेकर बिताना होगा, यह कल्पना भी मुझे पीड़ाजनक प्रतीत हुई। हाय ! यौवन की प्रथम बेला में जब सामने देखा था तब प्रेम की कुहक में, सुख के आश्वासन में, सौंदर्य की मरीचिका में मुझे अपना समस्त भावी जीवन खिलता हुआ दिखाई दिया था, अब आज से लेकर अन्त तक केवल आशाहीन सुदीर्घ प्यासी मरुभूमि।

मेरी सेवा मे वह आन्तरिक थकान उन्होंने अवश्य ही देख ली थी। उस समय मै नहीं जानता था, किन्तु अब ज़रा भी संदेह नहीं है कि वे मुझे संयुक्ताक्षरहीन 'शिशु शिक्षा' के प्रथम भाग के समान बहुत ही आसानी से समझ लेती थीं। इसीलिए जब उपन्यास का नायक बनकर मैं गम्भीर मुद्रा में उनके पास कवित्व प्रदर्शित करने जाता तो वे बड़े अकृत्रिम स्नेह, किन्तु अनिवार्य कौतुक के साथ हँस उठतीं। मेरे अपने अगोचर अन्तर की सब बातों को भी वे अन्तर्यामी के समान जानती थीं, इस बात को सोचकर आज भी लज्जा से मर जाने की इच्छा होती है।

डॉक्टर हारान हमारे स्वजातीय थे। उनके घर प्रायः मेरा निमंत्रण रहता। कुछ दिनों के आने-जाने के बाद डॉक्टर ने अपनी कन्या के साथ मेरा परिचय करा दिया। कन्या अविवाहित थी, उसकी उम्र पन्द्रह की रही होगी। डॉक्टर ने कहा कि उनको मन के अनुकूल पात्र नहीं मिला इसलिए उन्होंने उसका विवाह नहीं किया। किन्तु, बाहर के लोगों से अफ़वाह सुनता — कन्या के कुल में दोष था।

किन्तु, और कोई दोष नहीं था। जैसी सुन्दर थी वैसी ही सुशिक्षिता। इस कारण कभी-कभी एकाध दिन उनके साथ नाना विषयों पर आलोचना करते-करते घर लौटते मुझे रात हो जाती, पत्नी की औषधि देने का समय निकल जाता। वे जानती थीं कि मै डॉक्टर के घर गया हूँ, किन्तु उन्होंने एक भी दिन विलम्ब के कारण के विषय में प्रश्न तक नहीं किया।

मरुभूमि में फिर एक बार मरीचिका दिखायी देने लगी। तृष्णा जब गले तक आ गयी थी तभी आँखों के सामने लबालब स्वच्छ जल कलकल, छलछल करने लगा। इस स्थिति में मन को प्राणपण से रोकने पर भी मोड़ नहीं सका।

रोगी का कमरा मुझे पहले से दुगुना निरानंद लगने लगा। तब सेवा करने और औषधि खिलाने का नियम, सब प्रायः भंग होने लगा।

डॉक्टर हारान बीच-बीच में मुझसे प्रायः कहते रहते, जिनका रोग अच्छा होने की कोई सम्भावना नहीं है, उनका मरना ही भला है, क्योंकि जीवित रहने से उनको स्वयं भी सुख नहीं मिलता, और दूसरों को भी दुःख होता है। साधारण रूप से ऐसी बात कहने में कोई दोष नहीं तथापि मेरी स्त्री को लक्ष्य करके इस प्रकार के प्रसंग का उठाना उनके लिए उचित न था। किन्तु, मनुष्य के जीवन मरण के विषय में डॉक्टरों के मन ऐसे अनुभूति-शून्य होते है कि वे ठीक प्रकार से हमारे मन की हालत नहीं समझ सकते।

सहसा एक दिन बग़ल के कमरे से सुना मेरी पत्नी हारान बाबू से कह रही थीं, 'डॉक्टर, फिजूल में इतनी औषधियाँ खिला-खिलाकर औषधालय का क़र्ज़ क्यों बढ़ा रहे हो ? जब मेरी जान ही एक लाइलाज बीमारी है तब कोई ऐसी दवा दो कि यह जान ही निकल जाये और जान छूटे।'

डॉक्टर ने कहा, 'छिः ! ऐसी बातें न करें।'

यह सुनकर मेरे हृदय को एकबारगी बड़ा आघात पहुँचा। डॉक्टर के चले जाने पर मै अपनी स्त्री के कमरे में जाकर उनकी चारपाई के सिरहाने बैठ गया, उनके माथे पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगा। वे बोलीं, 'यह कमरा बड़ा गर्म है, तुम बाहर जाओ। तुम्हारे टहलने जाने का समय हो गया है। थोड़ा टहले बिना रात को तुम्हें भूख नहीं लगेगी।''

टहलने जाने का अर्थ था, डॉक्टर के घर जाना। मैंने ही उनको समझाया था कि भूख लगने के लिए थोड़ा टहल लेना विशेष आवश्यक है। आज मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ , वे प्रतिदिन की मेरी इस छलना को समझती थीं। मै ही निर्बोध था जो सोचता था कि ये निर्बोध है।

यह कहकर दक्षिणाचरण बाबू हथेली पर सिर टिकाये बहुत देर तक मौन बैठे रहे। अन्त में बोले, 'मुझे एक गिलास पानी ला दो !' पानी पीकर कहने लगे —

एक दिन डॉक्टर बाबू की पुत्री मनोरमा ने मेरी पत्नी को देखने के लिए आने की इच्छा प्रकट की। पता नहीं क्यों, उनका यह प्रस्ताव मुझे अच्छा नहीं लगा। किन्तु प्रतिवाद करने का कोई कारण नहीं था। वे एक दिन संध्या को मेरे घर आ उपस्थित हुईं।

उस दिन मेरी पत्नी की पीड़ा अन्य दिनो के अपेक्षा कुछ बढ़ गयी थी। जिस दिन उनका कष्ट बढ़ता उस दिन वे अत्यन्त स्थिर और चुपचाप रहतीं; केवल बीच-बीच मे मुट्ठियाँ बँध जातीं और मुँह नीला हो जाता, इसी से उनकी पीड़ा का अनुमान होता। कमरे मे कोई आहट नहीं थी, मै बिस्तर के किनारे चुपचाप बैठा था। उस दिन टहलने जाने का मुझसे अनुरोध करें, इतनी सामर्थ्य उनमें नहीं थी या हो सकता है मन-ही-मन उनकी यह इच्छा रही हो कि अत्यधिक कष्ट के समय मे मैं उनके पास रहूँ। चौंध न लगे, इससे केरोसिन की बत्ती दरवाज़े के पास थी। कमरा अँधेरा और निस्तब्ध था। केवल कभी-कभी पीड़ा के कुछ शान्त होने पर मेरी पत्नी का दीर्घ निश्वास सुनाई पड़ता था।

इस समय मनोरमा कमरे के दरवाज़े पर आ खड़ी हुई। उलटी ओर से बत्ती का प्रकाश आकर मुख पर पड़ा। प्रकाश से चौंधिया जाने के मारे कमरे में कुछ भी न देख पाने के कारण वे कुछ क्षणों तक दरवाज़े के पास खड़ी इधर-उधर करने लगीं।

मेरी स्त्री ने चौंककर मेरा हाथ पकड़कर पूछा, 'वह कौन है ?' अपनी उस दुर्बल अवस्था में सहसा अपरिचित व्यक्ति को देखकर उन्होंने डरकर मुझसे दो-तीन बार अस्पष्ट स्वर में प्रश्न किया, 'कौन है ! वह कौन है जी !'

न जाने मेरी कैसी दुर्बुद्धि हुई कि मैंने पहले ही कह दिया, 'मैं नहीं जानता।' कहते ही मानो किसी ने मुझे चाबुक मारा। दूसरे क्षण मैं बोला, 'ओह अपने डॉक्टर बाबू की लड़की !'

पत्नी ने एक बार मेरे मुख की ओर देखा, मैं उनके मुख की ओर नहीं देख सका। दूसरे ही क्षण उन्होंने क्षीण स्वर में अभ्यागत से कहा, 'आप आइये!' मुझसे बोलीं, 'उजाला करो।'

मनोरमा कमरे में आकर बैठ गयीं। उनके साथ मरीज़ की थोड़ी-बुहत बातचीत चलने लगी। इसी समय डॉक्टर बाबू आ उपस्थित हुए।

वे अपने औषधालय से दो शीशी औषधि साथ ले आये थे। उन शीशियों को बाहर निकालते हुए वे मेरी पत्नी से बोले 'यह नीली शीशी मालिश करने के लिए है और यह खाने के लिए। देखिए, दोनों को मिलाइएगा नहीं, यह औषधि भयंकर विष है।'

मुझे भी एक बार सावधान करते हुए दोनों दवाइयों को चारपाई के पास मेज़ पर रख दिया। विदा लेते समय डॉक्टर ने अपनी पुत्री को बुलाया।

मनोरमा ने कहा, 'पिताजी, मैं यहाँ रह जाऊँ ? साथ में कोई महिला नहीं है, इनकी सेवा कौन करेगा?'

मेरी स्त्री.व्याकुल हो उठीं। बोलीं, ' नहीं नहीं, आप कष्ट न कीजिए! पुरानी नौकरानी है, वह माँ की भाँति मेरी सेवा करती है।'

डॉक्टर हँसते हुए बोले, 'ये लक्ष्मी-स्वरूपा है, चिरकाल से दूसरों की सेवा करती आ रही है, दूसरे की सेवा सहन नहीं कर सकती।'

पुत्री को लेकर जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि उसी समय मेरी स्त्री बोली, 'डॉक्टर बाबू, ये इस बन्द कमरे में बहुत समय से बैठें हैं, इनको थोड़ी देर बाहर घुमा ला सकते हैं ?'

डॉक्टर बाबू ने मुझसे कहा, 'चलिए न, आपको नदी के किनारे थोड़ा घुमा लायें।'

मैं तनिक आपत्ति प्रकट करने के बाद शीघ्र ही राज़ी हो गया। डॉक्टर बाबू ने चलते समय दवाईयों की दोनों शीशियों के सम्बन्ध में फिर मेरी पत्नी को सावधान कर दिया।

उस दिन मैंने डॉक्टर के घर ही भोजन किया। लौटने रात हो गयी। आकर देखा मेरी स्त्री छटपटा रही थी। मैंने पश्चात्ताप से पीड़ित होकर पूछा, 'क्या तुम्हारी तकलीफ़ बढ़ गयी है ?'

वे उत्तर ने दे सकीं। चुपचाप मेरे मुख की ओर देखने लगी। उस समय उनका गला रुँध गाय था।

मैं तुरन्त रात में ही डॉक्टर को बुला लाया।

डॉक्टर आकर पहले तो बहुत देर तक कुछ समझ ही न सके। अन्त में उन्होंने पूछा, क्या तकलीफ बढ़ गयी है? एक बार दवा की मालिश करके क्यों न देखा जाए।'

यह कहते हुए उन्होंने टेबिल से शीशी उठाकर देखी, वह खाली थी।

मेरी पत्नी से पूछा, 'क्या आपने ग़लती से यह दवा खायी है ?'

मेरी पत्नी ने गर्दन हिलाकर चुपचाप बताया, 'हाँ।'

डॉक्टर तुरन्त अपने घर से पम्प लाने के लिए गाड़ी में दौड़े। मैं अर्ध-मूर्च्छित-सा पत्नी के बिस्तर पर पड़ गया।

उस समय, जिस प्रकार माता पीड़ित शिशु को सान्त्वना देती है उसी प्रकार उन्होंने मेरे सिर को अपने वक्षःस्थल के पास खींचकर हाथों के स्पर्श द्वारा मुझे अपने मन की बात समझाने की चेष्टा की। केवल अपने उस करुण स्पर्श के द्वारा ही वे मुझसे बार-बार कहने लगीं, 'दुःखी मत होना, अच्छा ही हुआ, तुम सुखी रहोगे, यही सोचकर मैं सुख से मर रही हूँ।'

जब डॉक्टर लौटे तो जीवन के साथ-साथ मेरी स्त्री की सारी यंत्रणाओं का भी अवसान हो गया था।

दक्षिणाचरण फिर से एक बार पानी पीकर बोले, 'ओह! बड़ी गरमी है!' यह कहते हुए तेज़ी से बाहर निकलकर बरामदे में दो-चार बार टहलने के बाद फिर आ बैठे। अच्छी तरह स्पष्ट हो गया, वे कहना नहीं चाहते थे किन्तु मानों मैंने जादू से उनसे बात निकलवा ली हो। फिर आरम्भ किया —

मनोरमा से विवाह करके घर लौट आया।

मनोरमा ने अपने पिता की सम्मति के अनुसार मुझसे विवाह किया, किन्तु जब मैं उससे प्रेम की बात कहता, प्रेमालाप करके उसके हृदय पर अधिकार करने की चेष्टा करता, तो वह हँसती नहीं, गम्भीर बनी रहती। उसके मन में कहाँ किस जगह क्या खटका लग गया था। मैं कैसे समझता?

इन्हीं दिनों मेरी शराब पीने के लत बहुत बढ़ गयी।

एक दिन शरद् के आरम्भ में संध्या को मनोरमा के साथ अपने बरानगर के बाग़ में टहल रहा था। घोर अन्धकार हो आया था। घोंसलों में पक्षियों के पंख फड़फड़ाने तक की आहट नहीं थी, केवल घूमने के रास्ते के दोनों किनारे घनी छाया से ढँके झाऊ के पेड़ हवा में सर-सर करते काँप रहे थे।

थकान का अनुभव करती हुई मनोरमा उसी मौलश्री वृक्ष के नीचे शुभ्र पत्थर की वेदी पर आकर अपने हाथों के ऊपर सिर रखकर लेट गयी। मैं भी पास आकर बैठ गया।

वहाँ और भी घना अंधकार था; आकाश का जो भाग दिखाई दे रहा था, वह पूरी तरह तारों से भरा था; वृक्षों के तले के झींगुरों की ध्वनि मानो अनन्त गगन के वक्ष से च्युत निःशब्दता पर ध्वनि की एक पतली किनारी बुन रही हो।

उस दिन भी शाम को मैंने कुछ शराब पी थी, मन खूब तरलावस्था में था। अन्धकार जब आँखों को सहन हो गया तब वृक्षों की छाया के नीचे पाण्डु वर्ण वाली उस शिथिल-आँचल श्रान्त काय रमणी की अस्पष्ट मूर्ति ने मेरे मन में एक अनिवार्य आवेग का संचार कर दिया। मुझे लगा, वह मानों कोई छाया हो, मैं उसे मानो किसी भी तरह अपनी बाँहों मे बाँध नहीं सकूँगा।

इसी समय अँधेरे झाऊ वृक्षों की चोटियों पर जैसे आग जल उठी हो; उसके पश्चात् कृष्ण पक्ष क क्षीण हरिद्रावर्ण चाँद ने धीरे-धीरे वृक्षों के ऊपर आकाश में आरोहण किया। सफ़ेद पत्थर पर सफ़ेद साड़ी पहने उसी थकी लेटी रमणी के मुख पर ज्योत्स्ना आकर पड़ी। मैं और न सह सका। पास आकर हाथों में उसका हाथ लेकर बोला, 'मनोरमा, तुम मेरा विश्वास नहीं करतीं, पर मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। मैं तुमको कभी नहीं भूल सकता।'

बात कहते ही मैं चौंक उठा। याद आया ; ठीक यही बात मैंने कभी किसी और से भी कही थी। और तभी मौलश्री की शाखाओं के ऊपर होती हुई झाऊ वृक्ष की चोटी पर से होती हुई कृष्ण पक्ष के पीतवर्ण खण्डित चाँद के नीचे से, गंगा के पूर्वी किनारे से लेकर गंगा के सुदूर पश्चिमी किनारे तक हा हा-हा हा-हा हा — करती एक हँसी अत्यन्त तीव्र वेग से प्रवाहित हो उठी। वह मर्मभेदी हँसी थी या अभ्रभेदी हाहाकार था, कह नहीं सकता। मैं उसी क्षण मूर्च्छित होकर पत्थर की वेदी से नीचे गिर पड़ा।

मूर्च्छा भंग होने पर देखा, अपने कमरे में बिस्तर पर लेटा हूँ। पत्नी ने पूछा, 'तुम्हें अचानक यह क्या हुआ ?'

मैंने काँपते हुए कहा, 'तुमने सुना नहीं, समस्त आकाश को परिपूर्ण करती हुई एक हा-हा करती हँसी ध्वनित हुई थी ?'

पत्नी ने हँसकर कहा, 'वह हँसी थोड़े ही थी। पंक्ति बाँधकर पक्षियों का एक बहुत बड़ा झुण्ड उड़ा था, उन्हीं के पंखों का शब्द सुनाई दिया था। तुम इतने से ही डर जाते हो ?'

दिन के समय मैं स्पष्ट समझ गया कि वह सचमुच पक्षियों के झुण्ड के उड़ने का ही शब्द था। इस ऋतु में उत्तर दिशा से हंस-श्रेणी नदी के कछार में चारा चुगने के लिए आती है, किन्तु संध्या हो जाने पर यह विश्वास टिक नहीं पाता था। उस समय लगता, मानो चारों ओर समस्त अन्धकार को भरती हुई सघन हँसी जमा हो गयी हो, किसी सामान्य बहाने से ही अचानक आकाशव्यापी अन्धकार को विदीर्ण करके ध्वनित हो उठेगी। अन्त में ऐसा हुआ कि संध्या के बाद, मनोरमा से मुझे कोई भी बात कहने का साहस न होता।

तब मैं वरानगर के अपने घर को त्यागकर मनोरमा को साथ लेकर नौका पर बाहर निकल पड़ा। अगहन के महीने में नदी की हवा से सारा भय भाग गया। कुछ दिनों बड़े सुख में रहा। चारों ओर के सौन्दर्य से आकर्षित होकर — मनोरमा भी मानो बहुत दिन बाद मेरे लिए अपने हृदय का रुद्ध द्वार धीरे-धीरे खोलने लगी।

गंगा पार कर, खड़ पार कर अंत में हम पद्मा में आ पहुँचे। भयंकरी पद्मा उस समय हेमन्त ऋतु की विवरलीन भुजंगिनी के समान कृश निर्जीव-सी लम्बी शीतनिद्रा में मग्न थी। उत्तर की ओर जन-तृण-शून्य दिगन्त प्रसारित बालुकापूर्ण कछार धू-धू कर रहा था और दक्षिण के ऊँचे किनारे पर गाँवों के आमों के बगीचे इस राक्षसी नदी के मुख के अत्यन्त समीप हाथ जोड़े खड़े काँप रहे थे। बीच-बीच में पद्मा निद्रा के आवेश में करवट बदलती और विदीर्ण तट-भूमि छपाक से टूट-टूटकर गिर पड़ती। यहाँ घूमने की सुविधा देखकर नौका बाँध दी।

एक दिन घूमते हुए हम दोनों बहुत दूर चले गये। सूर्यास्त की स्वर्णच्छाया विलीन होते ही शुक्ल पक्ष का निर्मल चन्द्रालोक देखते-देखते खिल उठा। उस अन्तहीन शुभ्र बालू के कछार पर जब अजस्र, मुक्त, उच्छ्वसित ज्योत्स्ना एकदम आकाश की सीमाओं तक प्रसारित हो गयी तब लगा मानो जन-शून्य चन्द्रालोक के असीम स्वप्न-राज्य में केवल हम दो व्यक्ति ही भ्रमण कर रहे हों। एक लाल शाल मनोरमा के सिर से उतरता उसके मुख को वेष्टित करते हुए उसके शरीर को ढँके हुए था। निस्तब्धता जब गहरी हो गयी, केवल सीमाहीन, दिशाहीन शुभ्रता और शून्यता के अतिरिक्त जब और कुछ भी न रहा तब मनोरमा ने धीरे-धीरे हाथ बढ़ाकर ज़ोर से मेरा हाथ पकड़

लिया। अत्यन्त पास आकर वह मानो अपना सम्पूर्ण तन-मन-जीवन-यौवन मेरे ऊपर डालकर एकदम निर्भय होकर खड़ी हो गयी। मैंने पुलकित-उद्वेलित हृदय से सोचा, कमरे के भीतर क्या भला यथेष्ट प्रेम किया जा सकता है। यदि ऐसा अनावृत मुक्त अनन्त आकाश न हो तो क्या कहीं दो व्यक्ति बँध सकते हैं ? उस समय लगा — हमारे न घर है, न द्वार है, न कहीं लौटना है। बस हम इसी प्रकार हाथ में हाथ लिए अगम्य मार्ग में उद्देश्यहीन भ्रमण करते हुए चन्द्रालोकित शून्यता पर पैर धरते मुक्त भाव से चलते रहेंगे।

इसी प्रकार चलते-चलते एक जगह पहुँचकर देखा, थोड़ी दूर पर बालुका-राशि के बीच एक जलाशय-सा बन गया है, पद्मा के उतर जाने पर उसमें पानी जमा रह गया था।

उस मरुबालुकावेष्टित निस्तरंग, गाढ़ निद्रामग्न, निश्चल जल पर विस्तृत ज्योत्स्ना की रेखा मूर्च्छित भाव से पड़ी थी। उसी स्थान पर आकर हम दोनों व्यक्ति खड़े हो गये — मनोरमा ने न जाने क्या सोचकर मेरे मुख की ओर देखा, अचानक उसके सिर पर से शाल खिसक गया। मैंने ज्योत्स्ना से खिला हुआ उसका वह मुँह उठाकर चूम लिया।

उसी समय उन जनमानव-शून्य निःसंग मरुभूमि के गंभीर स्वर में न जाने कौन तीन बार बोल उठा, 'कौन है ? कौन है ? कौन है ?'

मैं चौंक पड़ा, मेरी पत्नी भी काँप उठी। किन्तु दूसरे ही क्षण हम दोनों ही समझ गये कि यह शब्द मनुष्य का नहीं था, अमानवीय भी नहीं था। कछार में विहार करनेवाले जलचर पक्षी की आवाज़ थी। इतनी रात को अचानक अपने निरापद निभृत निवास के समीप जनसमागम देखकर वह चौंक उठा था।

भय से चौंककर हम दोनों झटपट नौका में लौट आये। रात को आकर बिस्तर पर लेट गये। थकी होने के कारण मनोरमा शीघ्र ही सो गयी। उस समय अन्धकार में न जाने कौन मेरी मसहरी के पास खड़ा होकर सुसुप्त मनोरमा की ओर एक लम्बी जीर्ण अस्थि-पिंजर-मात्र अंगुली दिखाकर मानो मेरे कान में बिलकुल चुपचाप अस्फुट स्वर में बारम्बार पूछने लगी, 'कौन है ? कौन है ? वह कौन है जी ?'

झटपट उठकर दियासलाई घिसकर बत्ती जलायी। उसी क्षण वह छायामूर्ति विलीन हो गयी। मेरी मसहरी को कँपाकर, नौका को डगमगाकर,मेरे स्वेद-सने शरीर के रक्त को बर्फ़ करके हा-हा-हा-हा-हा-हा करती हुई एक हँसी अन्धकार रात्रि में बहती हुई चली गयी। पद्मा को पार कर, पद्मा के कछार को पार कर, उसके तटवर्ती समस्त सुप्त देश, ग्राम, नगर पार कर — मानो वह चिरकाल से देश-देशान्तर, लोक-लोकान्तर को पार करती क्रमशः क्षीण, क्षीणतर, क्षीणतम होकर असीम सुदूर की ओर चली जा रही थी, धीरे-धीरे वह मानो जन्म-मृत्यु के देश को पीछे छोड़ गयी, क्रमशः वह मानो सुई के अग्रभाग के समान क्षीणतम हो आयी। मैंने इतना क्षीण स्वर पहले कभी नहीं सुना, कल्पना भी नहीं की, मानो मेरे दिमाग़ में अनन्त आकाश हो और वह शब्द कितनी ही दूर क्यों न जा रहा हो, किसी भी प्रकार मेरे मस्तिष्क की सीमा छोड़ नहीं पा रहा हो, अन्त में जब नितान्त असह्य हो गया तब सोचा, बत्ती बुझाये बिना सो नहीं पाऊँगा। जैसे ही रोशनी बुझाकर लेटा, वैसे ही मेरी मसहरी के पास, मेरे कान के समीप, अँधेरे में वह अवरुद्ध स्वर फिर बोल उठा, 'कौन है ? कौन है ? वह कौन है जी ?' मेरे हृदय का रक्त भी उसी पर ताल देता हुआ क्रमशः ध्वनित

होने लगा, 'कौन है, कौन है, वह कौन है जी ?' 'कौन है ? कौन है ?, कौन है जी ? उसी गहरी रात में निस्तब्ध नौका में मेरी गोलाकार घड़ी भी सजीव होकर अपनी घण्टे की सुई को मनोरमा की ओर घुमाकर शेल्फ के ऊपर से ताल मिलाकर बोलने लगी, ' कौन है ! कौन है, वह कौन है जी ! कौन है, कौन है, वह कौन है जी !'

कहते-कहते दक्षिणा बाबू का रंग फीका पड़ गया, उनका गला रुँध आया। मैंने उनको सहारा देते हुए कहा, 'थोड़ा पानी पीजिए !' इसी समय सहसा मेरी किरोसीन की बत्ती लुप-लुप करती बुझ गयी। अचानक देखा, बाहर प्रकाश हो गया है। कौआ बोल उठा। दहिंगल पक्षी सिसकारी भरने लगा। मेरे घर के सामनेवाले रास्ते पर भैंसा-गाड़ी का चरमर-चरमर शब्द होने लगा। दक्षिणा बाबू के मुख की मुद्रा अब बिलकुल बदल गयी। अब भय का कोई चिह्न न रहा। रात्रि की कुहक में काल्पनिक शंका की मत्तता में मुझसे जो इतनी बातें कह डालीं उसके लिए वे अत्यन्त लज्जित और मेरे ऊपर मन-ही-मन क्रोधित हो उठे। शिष्टाचार-प्रदर्शक शब्द के बिना ही वे अकस्मात् उठकर द्रुतगति से चले गये।

उसी दिन आधी रात मे फिर मेरे दरवाज़े पर खटखटाहट हुई, 'डॉक्टर! डॉक्टर!'

७

क्षुधित पाषाण

एक

मैं और मेरे सम्बन्धी पूजा की छुट्टी में देश-भ्रमण समाप्त करके कलकत्ता लौट रहे थे, तभी रेलगाड़ी में उन बाबू से भेंट हुई। उनकी वेशभूषा देखकर शुरू में उन्हें पश्चिमी प्रान्त का मुसलमान समझने का भ्रम हुआ था। उनकी बातचीत सुनकर और भी चक्कर में पड़ गया। वे दुनिया-भर के विषयों पर इस प्रकार बातें करते लगे मानो विधाता उनके साथ परामर्श करने के बाद ही सारा काम-काज करते हैं। संसार में भीतर-ही-भीतर भाँति-भाँति की जो नाना अश्रुतपूर्व गूढ़ घटनाएँ घटित हो रही थीं — रूसी कितने आगे बढ़ गये हैं, अंग्रेज़ों का क्या-क्या गुप्त अभिप्राय है, देशी राजाओं में कैसी खिचड़ी पक रही है, इन सबसे बेखबर हम पूर्णतः निश्चिंत थे। हमारे नवपरिचित वक्ता ने कुछ हँसकर कहा : There happen more things in heaven and earth, Horatio, then are reported in your newspapers. (होरेशियो, स्वर्ग और पृथ्वी पर तुम्हारे समाचार-पत्रों में छपनेवाली बातों की अपेक्षा कहीं अधिक घटनाएँ घटती हैं)।

हम पहली ही बार घर से बाहर निकले थे अतएव इस व्यक्ति का रंग-ढंग देखकर अवाक् रह गये। वह ज़रा-ज़रा सी बात पर कभी विज्ञान की चर्चा करता, वेद की व्याख्या करता और कभी अचानक फ़ारसी के बैंतों की आवृत्ति करता, विज्ञान, वेद और फ़ारसी भाषा पर हमारा कोई अधिकार न होने के कारण उनके प्रति हमारी भक्ति क्रमशः बढ़ने लगी। यही नहीं, मेरे थियोसोफ़िस्ट होने के बारे में इसका दृढ़ विश्वास हो गया कि अपने इस सहयात्री से किसी अलौकिक कार्य का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है, कोई अद्भुत मैगनेटिज़्म या कोई दैव-शक्ति, अथवा सूक्ष्म शरीर, या ऐसी ही कोई एक चीज़। वे इस असामान्य व्यक्ति की साधारण-से-साधारण बात भी भक्ति-विह्वल होकर मुग्ध भाव से सुन रहे थे और चुपचाप नोट करते जा रहे थे; मुझे उनके भाव से लगा कि वे असामान्य व्यक्ति भी मन-ही-मन यह समझ गये थे और कुछ खुश भी हुए थे।

जब गाड़ी जंक्शन पर पहुँचकर रुकी, तो हम दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा में वेटिंग रूम में इकट्ठे हुए। उस समय रात के साढ़े दस बजे थे। सुनने में आया कि रास्ते में कुछ बाधा आ जाने के कारण गाड़ी बहुत देर से आयगी। इस बीच मैंने मेज़ के ऊपर बिछौना फैलाकर सोने का निश्चय किया, तभी उन असामान्य व्यक्ति ने निम्नलिखित कहानी छेड़ दी। उस रात मुझे फिर नींद नहीं आयी।

राज्य-संचालन के सिलसिले में दो-एक बातों में मतभेद होने के कारण मैं जूनागढ़ की नौकरी छोड़कर जब हैदराबाद के निज़ाम की सरकारी नौकरी में आया तब शुरू में मुझे उम्र में छोटा

और मजबूत आदमी देखकर बरीच में रुई का महसूल वसूल करने पर नियुक्त किया गया।

बरीच बड़ी ही रमणीय जगह थी। निर्जन पहाड़ के नीचे बड़े-बड़े वनों के भीतर से होकर शुस्ता नदी (संस्कृत स्वच्छतोया का अपभ्रंश) उपलमुखरित पथ में निपुणा नर्तकी के समान पग-पग पर लहराती, बल खाती, द्रुत गति से नाचती चली गयी थी। ठीक उसी नदी के किनारे पत्थर के बने डेढ़ सौ सीढ़ियों के अत्युच्च घाट पर सफ़ेद पत्थर का एक एकाकी प्रसाद पर्वत की तराई में खड़ा था — आसपास कहीं कोई बस्ती न थी। बरीच की रुई की हाट एवं ग्राम यहाँ से दूर थे।

प्रायः ढाई सौ वर्ष पूर्व द्वितीय शाह महमूद ने भोग-विलास के लिए इस निर्जन स्थान में प्रासाद का निर्माण कराया था। उस समय स्नानागार के फ़व्वारे के मुख से गुलाब-सुगंधित जल-धारा छूटती रहती और उस सीकर-शीतल निभृत कक्ष में संगमरमर-जटित स्निग्ध शिलासन पर बैठकर अपने कोमल नग्न पदपल्लवों को जलाशय की निर्मल जलराशि में फैलाये फ़ारस देश की तरुण रमणियाँ स्नान के पूर्व केश बिखेरे सितार गोद में लिए द्राक्षावन की ग़ज़लें गाती रहतीं।

अब वह फ़व्वारा क्रीड़ा नहीं करता था, न वह गीत था। सफ़ेद पत्थर पर शुभ्र चरणों का सुन्दर आघात नहीं पड़ता था — अब तो वह हम जैसे निर्जनता पीड़ित संगिनीहीन महसूल-कलैक्टर का अति बृहत् एवं अति शून्य निवास-स्थान था। किन्तु दफ़्तर के वृद्ध क्लर्क क़रीम खाँ ने मुझे इस प्रासाद में रहने को बारम्बार मना किया था। कहा था, इच्छा हो तो दिन में रहें, पर यहाँ रात्रि न बितायें। मैंने उसकी बात हँसी में उड़ा दी। नौकरों ने कहा कि वे संध्या-पर्यंत काम करेंगे, किन्तु रात में यहाँ न रहेंगे। मैंने कहा, तथास्तु। इस घर की ऐसी बदनामी थी कि रात के समय चोर भी यहाँ आने का साहस नहीं करते थे।

पहले-पहल आने पर इस परित्यक्त पाषाण-प्रासाद की जन-शून्यता मेरे हृदय को मानो किसी भयंकर भार के समान दबाये रहती। मैं यथाशक्ति बाहर रहकर निरन्तर काम-काज करने के बाद रात को क्लान्त देह से घर लौटकर सो जाता।

पर अभी एक सप्ताह भी नहीं बीता था कि इस मकान का एक अपूर्व नशा क्रमशः आक्रमण करके मुझे घेरने लगा। अपनी उस अवस्था का वर्णन करना भी कठिन है और लोगों को उसका विश्वास दिलाना भी मुश्किल है। सारा घर मानो एक सजीव पदार्थ की भाँति मुझे अपने जठरस्थ मोह रस से धीरे-धीरे जीर्ण करने लगा।

शायद इस घर में पदार्पण करते ही इस प्रक्रिया का आरम्भ हो गया था, किन्तु मैंने जिस दिन सचेत होकर पहली बार इसके सूत्रपात का अनुभव किया, उस दिन की बात मुझे अच्छी तरह याद है।

ग्रीष्म-काल के आरम्भ में उस समय बाज़ार नरम था ; हाथ में कोई काम नहीं था। सूर्यास्त के कुछ पहले मैं नदी-किनारे घाट की सबसे नीची सीढ़ी पर एक आरामकुर्सी लिए बैठा था। शुस्ता नदी क्षीण हो गयी थी ; दूसरे किनारे पर विस्तृत बालुका-तट अपराह्न की आभा से रंगीन हो उठा था ; इस पार घाट की सीढ़ियों के नीचे उथले स्वच्छ जल में बटियाँ झिलमिला रही थीं। उस दिन कहीं भी हवा नहीं थी। समीप के पर्वत पर वनतुलसी, पोदीना, और सौंफ के जंगल से उड़ती तीखी सुगन्ध ने शांत आकाश को आक्रान्त कर रखा था।

सूर्य जब गिरि-शिखर के अन्तराल में अवतीर्ण हो गये तभी दिन की नाट्यशाला पर एक दीर्घ छाया-यवनिका पड़ गयी ; पर्वत का व्यवधान होने के कारण यहाँ सूर्यास्त के समय प्रकाश और अन्धकार का सम्मिलन बहुत देर स्थायी नहीं रहता। घोड़े पर बैठकर ज़रा घूम-फिर आऊँ, यह सोचकर अब उठूँ, तब उठूँ कर रहा था कि सीढ़ी पर पैरों की आहट सुनाई पड़ी। पीछे फिरकर देखा, कोई नहीं था।

इन्द्रिय-भ्रम समझकर लौटकर दुबारा बैठते ही एकाएक बहुत-से पैरों का शब्द सुनाई पड़ा — जैसे बहुत से लोग मिलकर भाग-दौड़ करते हुए उतरते आ रहे हों। किंचित् भय के साथ एक अपरूप रोमाञ्च से मेरा सर्वांग परिपूर्ण हो गया। यद्यपि मेरे सामने कोई मूर्त्ति नहीं थी तथापि प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट जान पड़ा कि ग्रीष्म की उस संध्या में प्रमोद-चंचल नारियों का एक दल शुस्ता के जल में स्नान करने उतरा है। यद्यपि उस संध्या-काल में निस्तब्ध गिरि-तट पर नदी के किनारे निर्जन प्रासाद में कहीं कोई शब्द नहीं था तथापि मैंने मानो स्पष्ट सुना कि निर्झर की शतधाराओं के समान क्रीड़ामग्न कलहास्य करती हुईं, मिलकर तेज़ी से दौड़ती हुईं स्नानार्थिनियाँ मेरे पास से निकल गयी हों। मुझे मानो उन्होंने देखा भी न हो। जिस प्रकार वे मेरे निकट अदृश्य थीं, मैं भी मानो उसी प्रकार उनके निकट अदृश्य था। नदी पहले की भाँति स्थिर थी, किन्तु मुझे स्पष्ट बोध हुआ मानो स्वच्छतोया का उथला स्रोत अनेक वलयसिंचित बाहु-विक्षेपों से विक्षुब्ध हो उठा हो, हँस हँसकर सखियाँ एक दूसरे पर जल के छींटे मार रही हों एवं तैरती हुई रमणियों के पदाघात से जलविन्दु-राशि मुट्ठी-भर मोतियों की भाँति आकाश में बिखरी पड़ रही हो।

मेरे वक्ष में एक प्रकार का कंपन होने लगा ; वह उत्तेजना भय की, या आनंद की, या कौतूहल की थी, ठीक नहीं कह सकता। बड़ी इच्छा होने लगी कि अच्छी तरह से देखूँ, किन्तु देखने के लिए सामने कुछ नहीं था ; लगता था, अच्छी तरह कान लगाने से उनकी सारी बातचीत स्पष्ट सुनाई पड़ेगी — किन्तु एकाग्र मन से कान लगाने पर केवल जंगली झींगुरों का शब्द सुनाई देता। मुझे लगा, मानो ढाई सौ वर्षो की कृष्ण वर्ण यवनिका ठीक मेरे सामने झूल रही हो, डरते-डरते एक सिरा उठाकर भीतर नज़र डालूँ — वहाँ एक विराट सभा लगी है, किन्तु गाढ़ अंधकार में कुछ भी दिखाई नहीं दिया।

अचानक उमस को चीरती हुई हू-हू करके हवा चलने लगी — देखते-देखते शुस्ता का स्थिर जलतल अप्सरा के केश-पास की भाँति कुञ्चित हो उठा, एवं संध्याछायाच्छन्न समस्त वनभूमि क्षण-भर में एक साथ मर्मर ध्वनि करके मानो दुःस्वप्न से जाग उठी। चाहे स्वप्न कहो या सत्य कहो, ढाई सौ वर्ष के अतीत क्षेत्र से प्रतिफलित होकर मेरे सामने जो एक अदृश्य मरीचिका अवतीर्ण हुई थी, वह पल-भर में अन्तर्धान हो गयी। जो मायामयी मुझे फलाँगती हुई देह-हीन द्रुतपदों से शब्द-हीन उच्चकलहास्य से दौड़कर शुस्ता के जल में जाकर कूद पड़ी थीं, अपने सिक्त अंचलों से बूँदें टपकातीं-टपकातीं फिर मेरी बगल से होकर नहीं निकलीं। जिस प्रकार वायु गन्ध को उड़ाकर ले जाती है, उसी प्रकार वे वसन्त के एक निश्वास में उड़कर चली गयीं।

उस समय मुझे बड़ी आशंका हुई कि हठात् निर्जन देखकर कहीं कविता देवी मेरे कंधे पर न आ बैठी होंगी ; मैं बेचारा रुई का महसूल वसूल करके मेहनत करके खाता हूँ, सर्वनाशिनी शायद इस बार मेरे प्राण ही लेने न आयी हों। सोचा, अच्छी तरह भोजन करना होगा ; खाली पेट होने पर

ही सब तरह के दुःसाध्य रोग आकर घेर लेते हैं। अपने रसोइये को बुलाकर मैंने खूब घी में पकाकर गरम मसाले वगैरह और सुगन्धि डालकर बाक़ायदा मुग़लई खाना तैयार करने का हुक्म दिया।

दूसरे दिन सवेरे यहा सारा मामला अत्यन्त हास्यजनक प्रतीत हुआ। प्रसन्न चित्त से साहबों की भाँति सोला हैट पहनकर अपने हाथों से गाड़ी हाँककर गड़गड़ाहट करता तहक़ीकात के अपने काम पर चला गया। उस दिन त्रैमासिक रिपोर्ट लिखने का दिन होने के कारण देर से घर लौटने की बात था। किन्तु संध्या होते-न-होते ही मैं घर की ओर खिंचने लगा। कौन खींचने लगा, यह नहीं कह सकता ; किन्तु लगा, अब और देरी करना उचित न होगा। मुझे लगा, सब बैठे हुह हैं। रिपोर्ट को अधूरा छोड़कर मैं सोला हैट लगाये संध्या-धूसर पेड़ों की सघन छाया वाले निर्जन पथ को रथचक्र-ध्वनि से चौंकाते हुए उस अंधकारपूर्ण शैलान्तवर्ती निस्तब्ध और विशाल प्रासाद में जाकर उपस्थित हुआ।

सीढ़ियों के ऊपर वाला सामने का कमरा बहुत बड़ा था। बड़े-बड़े खम्भों की तीन पंक्तियों पर नक्काशीदार मेहराबों ने विस्तीर्ण छत को धारण कर रखा था। वह विशाल कमरा अपनी अपार शून्यता को लिये हुए अहर्निश ध्वनित होता रहता। उस दिन संध्या के कुछ पहले का समय था, अभी दीपक नहीं जलाये गये थे। दरवाज़ा ठेलकर मैंने ज्यों ही उस बड़े कमरे में प्रवेश किया त्यों ही मुझे लगा मानो कमरे में कोई भारी विप्लव मच गया हो — मानो सहसा सभा भंग करके चारों ओर के दरवाज़ों, खिड़कियों, कमरों, रास्तों, बरामदों से होकर न जाने कौन किस ओर भाग गया। कहीं भी कुछ न देख पाने के कारण मैं अवाक् होकर खड़ा रह गया। शरीर एक प्रकार के आवेश से रोमाञ्चित हो उठा। मानो बहुत दिन के लुप्तप्रायः केश-द्रव्य और इत्र की मृदुगन्ध मेरी नाक में आवेश करने लगी हो। उस दीपहीन जनहीन प्रकाण्ड कक्ष की प्राचीन प्रस्तरस्तम्भ-श्रेणी के बीच खड़े हुए मुझे सुनायी पड़ रही है, कहीं नूपुरों की रुनन, कभी ताँबे के बृहत् घंटे पर पहर बजाने का शब्द, बहुत दूर पर बजती नौबत का आलाप, वायु से दोलायमान झाड़ की स्फटिक लटकनों की ठन-ठन ध्वनि, बरामदे से पिंजरे में बंद बुलबुल का गीत, बगीचे से पालतू सारस का बोल मेरे चारों ओर किसी प्रेमलोक की रागिनी रचने लगा।

मुझे एक ऐसे मोह ने आ घेरा कि लगा मानो यह अस्पृश्य, अगम्य, अवास्तव व्यापार ही जगत् में एक मात्र सत्य हो, बाक़ी सब मिथ्या मरीचिका हो। मैं, जो हूँ अर्थात् मैं जो श्रीयुक्त अमुक हूँ, अमुक का ज्येष्ठ पुत्र हूँ, रुई का महसूल वसूल करके साढ़े चार सौ रुपये वेतन पाता हूँ, मैं मैं जो सोला हैट और ऊँचा कुर्ता पहनकर टमटम हाँककर दफ़्तर जाता हूँ, ये सारी बातें मुझे ऐसे अद्भुत हास्यकर निर्मूल और मिथ्या-सी लगीं कि मैं उस विशाल निस्तब्ध अँधेरे कमरे के बीच खड़ा हा-हा करके हँस उठा।

उसी समय मेरे मुसलमान नौकर ने हाथ में केरोसीन का जलता हुआ लैम्प लिये घर में प्रवेश किया। मालूम नहीं, उसने मुझे पागल समझा या नहीं, किन्तु उसी क्षण मुझे याद आया कि मैं स्वर्गीय अमुकचन्द्र का ज्येष्ठ पुत्र श्रीयुक्त अमुकनाथ ही हूँ ; यह भी सोचा कि जगत् के भीतर अथवा बाहर कहीं कोई अमूर्त फ़व्वारा सर्वदा झरता है या नहीं और अदृश्य अँगुली के आघात से किसी माया-सितार से कोई अनन्त रागिनी ध्वनित होती है या नहीं, यह तो हमारे महाकवि और कविवर ही बता सकते हैं, किन्तु यह बात अवश्य सत्य है कि मैं बरीच के बाज़ार में रुई का महसूल

वसूल करके महीने में साढ़े चार सौ रुपये वेतन लेता हूँ। तभी मैं फिर अपने थोड़ी देर पहले के अद्‌भुत मोह की याद करके केरोसीन से प्रकाशित कैम्प-टेबिल के पास समाचार-पत्र लिये विनोद से हँसने लगा।

समाचार-पत्र पढ़कर और मुग़लई खाना खाकर मैं कोने के एक छोटे-से कमरे में बत्ती बुझाकर बिस्तर पर जा लेटा। मेरे सामने वाले खुले जँगले में से अँधेरे वन-वेष्टित अरावली पर्वत के ऊर्ध्व देश का एक अत्युज्ज्वल नक्षत्र सहस्र कोटि योजन दूर आकाश में उस अति तुच्छ कैम्प-खाट के ऊपर श्रीयुक्त महसूल-कलेक्टर को एकटक देख रहा था — इस पर विस्मय और कौतुक अनुभव करते-करते मैं कब सो गया, कह नहीं सकता। कितनी देर सोया, यह भी नहीं जानता। सहसा एक बार सिहरकर जग पड़ा, कमरे में कोई आहट हुई हो, सो नहीं ; किसी आदमी ने प्रवेश किया हो, यह भी नहीं देख सका। अंधकारपूर्ण पर्वत के ऊपर से निर्निमेष नक्षत्र अस्तमित हो गया था और कृष्णपक्ष के क्षीण चन्द्रालोक के अनधिकार संकुचित स्वभाव से मेरी खिड़की की राह प्रवेश कर लिया था।

कोई भी व्यक्ति दिखायी नहीं पड़ा। तो भी मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ, मानो कोई मुझे धीरे-धीरे ठेल रहा हो। मेरे जाग उठते ही उसने बिना कुछ कहे मानो केवल अपनी अँगूठी-खचित पाँच उँगलियों के इशारे से मुझे अत्यन्त सावधानी से अपना अनुसरण करने का आदेश किया।

मैं बिलकुल चुपके से उठा। यद्यपि उस शतकक्ष प्रकोष्ठमय, अपार शून्यतापूर्ण, निद्रित ध्वनि एवं सजग प्रतिध्वनिपूर्ण विशाल प्रासाद में मेरे अतिरिक्त और कोई भी प्राणी न था, तथापि पग-पग पर भय लगता कि कहीं कोई जाग न पड़े। प्रासाद के अधिकांश कक्ष बंद रहते थे और उन कमरों में मैं कभी नहीं गया था।

उस रात मैं बिना आहट किये पैर रखता हुआ साँस रोके उस अदृश्य आह्वानकारिणी का अनुसरण करता किधर से होकर कहाँ जा रहा था, आज यह नहीं बता सकता। मैंने कितना सँकरा अँधेरा रास्ता, कितना लम्बा बरामदा, कितना गम्भीर निस्तब्ध विशाल सभागृह, कितनी रुद्धवायु सँकरी छिपी कोठरियाँ पार कीं, इसका कोई ठिकाना नहीं।

अपनी अदृश्य दूती को यद्यपि मैं आँखों से देख नहीं पा रहा था तथापि उसकी मूर्त्ति मेरे मन से अगोचर नहीं थीं। अरब रमणी जिसकी झूलती आस्तीनों से संगमरमर के-से कठिन, सुडौल हाथ दिख रहे थे, टोपी से लेकर मुँह तक एक झीने कपड़े का पर्दा पड़ा था, कमरबंद में एक टेढ़ी कटार बँधी थी।

मुझे लगा, आज आरब्य उपन्यास की एकाधिक सहस्र रजनियों में से एक रजनी उपन्यास-लोक से उड़कर आ गयी है। मैंने मानों अंधकारपूर्ण अर्धरात्रि में निद्रामग्न बग़दाद के आलोक-हीन सँकरे रास्ते में कोई संकट-संकुल अभिसार-यात्रा की हो।

अंत में मेरी दूती सहसा एक घने नीले परदे के सामने चौंककर खड़ी हो गयी और मानो अँगुली से नीचे की ओर संकेत किया। नीचे कुछ भी नहीं था, किन्तु भय से मेरे हृदय का रक्त जम गया। मैंने अनुभव किया, उस परदे के सामने ज़मीन पर किमखाब की पोशाक पहने एक भीषण हब्शी खोजा गोद में नंगी तलवार लिये दोनों पैर फैलाकर बैठा ऊँघ रहा था। दूती ने धीमी गति से उसके पैर लाँघकर परदे का एक कोना पकड़कर उठाया।

भीतर के कमरे का थोड़ा-सा भाग दिखायी पड़ा, जिस पर फ़ारसी गलीचा बिछा हुआ था। तख्त के ऊपर कौन बैठा था यह नहीं दिखाई पड़ा — केवल जाफ़रानी नीले रंग के ढीले पाजामे के नीचे ज़री की जूतियाँ पहने गुलाबी मखमल के आसन पर अलस भाव से रखे हुए दो सुन्दर चरण दिखायी दिये। मेज़ पर एक ओर एक नीलाभ स्फटिक पात्र में कुछ सेव, नाशपाती, नांरगी और बहुत-से अंगूरों के गुच्छे सजे हुए थे और उसकी बगल में दो छोटे प्याले और स्वर्णाभ मदिरा का एक काँच पात्र अतिथि के लिए प्रतीक्षा कर रहा था। कमरे के भीतर से किसी अपूर्व धूप के मादक-से सुगन्धित धूम्र ने आकर मुझे विह्वल कर डाला।

मैं ज्यों ही काँपते हृदय से उस खोजे के फैले हुए पैरों को लाँघने चला त्योंही वह चौंक उठा, उसकी गोद से तलवार पत्थर के फ़र्श पर आवाज़ करती हुई गिर पड़ी।

सहसा एक विकट चीत्कार सुनकर चौंककर देखा, मैं अपनी उसी कैम्प-खाट पर पसीने में तर बैठा हुआ था — भोर के आलोक में कृष्णपक्ष का खण्डित चन्द्र जागरण से क्लान्त रोगी के समान पाण्डवर्ण हो गया था — और अपना पागल मेहरअली अपने प्रतिदिन के नियमानुसार प्रातःकाल जनशून्य रास्ते पर 'हट जाओ, हट जाओ,' चिल्लाता जा रहा था।

इस प्रकार आरब्य उपन्यास की मेरी एक रात अकस्मात् समाप्त हो गयी — किन्तु अभी तो एक कम हज़ार रातें बाक़ी थीं।

मेरे दिन से रात का एक भारी विरोध ठन गया। दिन के समय मैं श्रान्त क्लान्त-देह से काम करने जाता और शून्य स्वप्नमयी मायाविनी रात को कोसता रहता — और फिर संध्या के बाद मुझे दिन के समय का अपना यह कर्मबद्ध अस्तित्व अत्यन्त तुच्छ, मिथ्या एवं हास्यकार लगने लगता।

संध्या के पश्चात् मैं विह्वलभाव से एक नशे के जाल में जकड़ जाता। मैं सैकड़ों वर्ष पहले के किसी अलिखित इतिहास का कोई अन्य अपूर्व व्यक्ति हो जाता, फिर उस समय मुझे ऊँची विलायती कमीज़ एवं चुस्त पतलून नहीं फ़बती। उस समय मैं सिर पर लाल मखमल की एक फैज़ लगाकर, ढीला पाजामा, फूलदार कावा और रेशम का लम्बा चोगा पहनकर रंगीन रूमाल में इत्र लगाकर बड़े यत्न से सँवारा करता एवं सिगरेट छोड़कर गुलाबजल से भरा बहुकुण्डलायित विशाल हुक्का लेकर ऊँची विशेष गद्दी वाले बड़े दीवान पर बैठ जाता। मानो रात में होनेवाले किसी अपूर्व प्रिय सम्मेलन के लिए बड़े आग्रह से तैयार हो जाता।

इसके बाद ज्यों-ज्यों अंधकार घनीभूत होता जाता त्यों-त्यों न जाने कैसी अदभुत घटनाएँ घटती रहतीं कि मैं उनका वर्णन नहीं कर सकता। ठीक मानो किसी चंमत्कारपूर्ण कहानी के कुछ फटे हुए अंश वसन्त की आरम्भिक वायु से इस विशाल प्रासाद के विचित्र कमरों में उड़ते रहते। थोड़ी दूर तक मिलते, फिर उसके बाद बाक़ी दिखायी नही देते थे। मै भी उन मँडराते विच्छिन्न अंशों का अनुसरण करता हुआ रात-भर कमरे-कमरे में चक्कर काटता रहता।

स्वप्न-खण्ड के इस आवर्त में कभी हिना की सुगन्धि, कभी सितार के शब्द, कभी सुरभि-जल-सीकर-मिश्रित वायु के झोंकों के बीच क्षण-क्षण में विद्युत-शिखा के समान एक नायिका अचानक दीख जाती। उसका जाफ़रानी रंग का पाजामा एवं कोमल विमल लाल चरणों में पहनी घुण्डीदार उठी हुई ज़री की जूतियाँ, वक्ष पर कसकर बँधी ज़री की फूलोंदार चोली, सिर पर लाल टोपी और उससे झूलती सोने की झालर ने उसके शुभ्र ललाट एवं कपोलों को घेर लिया था।

उसने मुझे पागल बना दिया। मैं उसी के अभिसार में रोज़ रात को निद्रा के पाताल-लोक में जटिल पथ-संकुल स्वप्नों की मायापुरी की गली-गली, कमरे-कमरे में चक्कर काटता रहता था।

किसी-किसी दिन संध्या के समय बड़े आईने के दोनों ओर दो बत्ती जलाकर यत्नपूर्वक शहज़ादे के समान सजधज रहा होता कि तभी अचानक देखता आईने में मेरे प्रतिबिंब के पास क्षण-भर के लिए उसी ईरानी तरुणी की छाया आ पड़ी है — और पलक मारते ही गर्दन झुकाकर अपने गहरे काले विशाल नेत्रों के तारकों से सुगंभीर तीव्र आवेगमय, वेदनापूर्ण आग्रहयुक्त कटाक्ष-पात करके, सरस सुन्दर बिंबाधरों पर एक अस्फुट भाषा का आभास मात्र देकर लघु, ललित नृत्य द्वारा अपनी यौवन-पुष्पित देह-लता को द्रुत गति से ऊपर की ओर लहराकर मुहूर्त्त-भर में वेदना, वासना, विभ्रम, हास्य, कटाक्ष तथा भूषणों की चमक के स्फुलिंगों की वर्षा करके दर्पण में ही विलीन हो गयी है। गिरि-कानन की समस्त सुगंधि को लूटकर उद्दाम वायु का एक उच्छ्वास आकर मेरी दोनों बत्तियों को बुझा देता। मैं साज-सज्जा छोड़कर प्रसाधन कक्ष के पास वाली शय्या में पुलकित तन से नयन मूँदकर लेटा रहता — मेरे चारों और उस वायु में अरावली के उस पर्वत-कुंज के समस्त मिश्रित सौरभ में मानो प्रचुर प्रेम, अनेक चुम्बन, अनेक कोमल कर स्पर्श निभृत अंधकार को भरकर तैरते रहते, कानों के पास प्रचुर कलगुंजन सुनाई देता, मेरे माथे पर सुगन्धित निश्वास आकर टकराते। और कोई मृदु-सौरभ रमणीय मुलायम ओढ़नी बारम्बार उड़-उड़कर मेरे कपोलों का स्पर्श करती रहती। धीरे-धीरे मानो कोई मोहिनी सर्पिणी अपने मादक वेष्टन में मेरा सर्वांग कस लेती। मैं गहरी साँस लेकर बेसुध तन से गहरी नींद में अभिभूत हो जाता।

एक दिन अपराह्न में मैंने घोड़े पर चढ़कर बाहर जाने की ठानी, न जाने कौन मुझे मना करने लगा — किन्तु उस दिन मैंने निषेध नहीं माना। काठ की एक खूँटी पर मेरा साहसी हैट और ऊँचा कुरता लटक रहा था, उसको उतारकर मैं पहनने ही वाला था कि तभी शुस्ता नदी की बालू एवं अरावली पर्वत की सूखी पल्लव-राशि की ध्वजा फहराता एक प्रबल बवंडर अचानक मेरे उस कुरते और टोपी को उड़ाकर घुमाता-घुमाता ले चला एवं एक अत्यन्त सुमिष्ट कलहास्य उस हवा के साथ चक्कर काटता हुआ कौतुहल के एक-एक परदे पर आघात करता हुआ उच्च-से-उच्चतर सप्तक पर चढ़ता सूर्यास्त-लोक के पास पहुँचकर विलीन हो गया।

उस दिन फिर घोड़े की सवारी नही हुई और उसके दूसरे दिन से उस विचित्र ऊँचे कुरते और साहबी टोपी का पहनना एकदम छोड़ दिया।

उसी दिन आधी रात को बिछौने पर उठकर बैठने पर सुनायी पड़ा, मानो कोई भीतर-ही-भीतर फूट-फूटकर रो रही हो — मानो मेरी खाट के नीचे, फ़र्श के नीचे, इस बृहत् प्रासाद की पाषाण भित्ति के तले किसी आर्द्र अन्धकारपूर्ण क़ब्र में से रो-रोकर कह रही हो, 'तुम मेरा उद्धार करके ले चलो — कठिन माया-पाश, गम्भीर निद्रा, निष्फल स्वप्न के सारे दरवाज़े चूर-चूरकर तुम मुझे घोड़े पर बिठाकर, अपनी छाती में भींच कर, वन के बीच से, पहाड़ के ऊपर से, नदी पार करके अपने सूर्यालोकित घर में ले चलो ! मेरा उद्धार करो !'

मैं कौन हूँ ? मैं कैसे उद्धार करूँगा ? मैं इस घूर्ण्यमान परिवर्तनशील स्वप्न प्रवाह में डूबी हुई किस कामना-सुन्दरी को किनारे खींच लाऊँगा ? हे दिव्यरूपिणी ! तुम कब हुई थी ? कहाँ थी ? तुमने किस शीतल उत्स के किनारे, खजूर-कुंज की छाया में किस गृह-हीना मरुवासिनी की

गोद में जन्म-ग्रहण किया था ? कौन बेदुईं दस्यु वनलता से पुष्पकोरक के समान तुम्हें मातृ-क्रोड़ से वियुक्त करके विद्युत्गामी अश्व पर बिठाकर दग्ध बालुका-राशि के पार किस राजपुरी की दासी-हाट बेचने के लिए ले गया था ? वहाँ पर किस बादशाह के भृत्य ने तुम्हारी नवविकसित सलज्जकातर यौवन-शोभा का निरीक्षण करके स्वर्णमुद्राएँ गिनकर समुद्र पार करके, तुम्हें सोने की पालकी में बिठाकर प्रभुगृह के अन्तःपुर को तुम्हारा उपहार दिया था ? कैसा विचित्र इतिहास था वहाँ का! वही सारंगी का संगीत, नूपुरों की ध्वनि और शीराज की स्वर्णमदिरा के बीच कटार की झलक, विष की ज्वाला, कटाक्ष का आघात ! कैसा असीम ऐश्वर्य, कैसा अनन्त कारागार ! दोनों ओर दो दासियाँ कंगनों के हीरों में बिजली चमकाती हुई चँवर डुलाती थी। शहंशाह बादशाह शुभ्र चरणों की मणिमुक्ताजटित पादुकाओं पर लोटता था, बाहर दरवाज़े पर यमदूत के समान हब्शी देवदूत की भाँति सजकर हाथ में नंगी तलवार लिये खड़ा रहता। उसके पश्चात् उस रक्त-कलुषित ईर्ष्याफेनिल षड्यंत्र-संकुल भीषणोज्ज्वल ऐश्वर्य के प्रवाह में उतराती हुई तुम मरुभूमि की पुष्पमंजरी किस निष्ठुर मृत्यु में समा गयीं अथवा कि निष्ठुरतर महिमा-तट पर जा पड़ीं ?

इसी समय वह पागल मेहरअली अकस्मात् चिल्ला उठा, 'हट जाओ हट जाओ, सब झूठ है, सब झूठ है।'

आँख खोलकर देखा, सवेरा हो गया था, चपरासी ने डाक की चिट्ठी-पत्री लाकर मेरे हाथ में दी और रसोइए ने आकर सलाम करके पूछा कि आज किस प्रकार का भोजन तैयार करना होगा।

मैंने कहा, 'नहीं' अब इस घर में और नहीं रहा जा सकता।' उसी दिन अपना सामान उठाकर दफ़्तर के मकान में जा ठहरा। ऑफिस का बूढ़ा क्लर्क करीम खाँ मुझे देखकर मुस्कराया। मैं उसकी हँसी से खीझकर कोई उत्तर दिये बिना काम करने लग गया।

ज्यों-ज्यों शाम होने लगी त्यों-ही-त्यो' मैं अन्यमनस्क होने लगा — लगने लगा, बस अभी तुरन्त कहीं जाना है — रुई के हिसाब की जाँच का काम अत्यंत अनावश्यक प्रतीत होने लगा, निज़ाम की निज़ामत भी मुझे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं हुई—जो कुछ वर्तमान था, जो कुछ मेरे चारों ओर चल रहा था, फिर रहा था, कार्यरत था, खा रहा था, सब-कुछ मेरे लिए अत्यन्त दीन, अर्थहीन और तुच्छ प्रतीत होने लगे।

मैं कलम पटककर बड़ी बही बन्द करके उसी क्षण टमटम पर चढ़कर भागा। देखा,टमटम ठीक गोधूलि-वेला में अपने-आप उस पाषाण-प्रासाद के द्वार के पास पहुँचकर रुक गयी। शीघ्रता से सीढ़ियाँ चढ़कर मैंने कमरे में प्रवेश किया।

आज सब-कुछ निस्तब्ध था। अँधेरे कमरों ने मानो नाराज़ होकर मुँह फुला लिया था। पश्चात्ताप से मेरा हृदय उद्वेलित हो उठा ; किन्तु किसे बताऊँ किससे माफ़ी माँगूँ, खोज नहीं पाया। मैं उदास चित्त से अँधेरे में एक-एक कमरे में घूमने लगा। इच्छा होने लगी कि हाथ में कोई साज़ लेकर किसी को लक्ष्य करके गीत गाऊँ। कहूँ, 'हे वह्नि, जिस पतंगे ने तुमको छोड़कर भागने की चेष्टा की थी, वह फिर मरने के लिए आया है। इस बार उसे क्षमा करो, उसके दोनों पंख जला दो, भस्मसात् कर डालो।' सहसा ऊपर से मस्तक पर आँसू की बूँदें आ पड़ी। उस दिन अरावली पर्वत की चोटी पर घनघोर मेघ छाये हुए थे। अन्धकारपूर्ण अरण्य और शुस्ता का स्याह वर्ण जल किसी भीषण प्रतीक्षा में निश्चल हो गये थे। सहसा जल-स्थल आकाश सिहर उठे एवं अकस्मात्

विद्युतदन्त-विकसित आँधी शृंखला-छिन्न उन्माद के समान पथहीन सुदूर वन के भीतर से आर्त चीत्कार करती हुई झपट पड़ी। प्रासाद के बड़े-बड़े शून्य कमरों के सारे द्वार पछाड़ खाकर तीव्र वेदना से हू-हू करने रोने लगे।

आज सारे नौकर लोग दफ़्तर के कमरे में थे, यहाँ बत्ती जलानेवाला कोई नहीं था। उस मेघाच्छन्न अमावस्या की रात में घर के भीतरी निकषकृष्ण अँधेरे में मैं स्पष्ट अनुभव करने लगा — कोई रमणी पलंग के नीचे,गलीचे के ऊपर, मुँह के बल पड़ी कसकर बँधी मुट्ठियों से अपने बिखरे केश-जाल को खींच-खींचकर नोंचे डाल रही है, उसके गौर वर्ण ललाट से रक्त फूटकर निकल रहा है, कभी वह शुष्क तीव्र अट्टहासयुक्त हा-हा करके हँस पड़ती है, कभी फफक-फफककर फूट-फूटकर रोती है, दोनों हाथों से चोली फाड़कर अपनी उघड़ी हुई छाती पीट रही है। खुली खिड़की से वायु गर्जन करती हुई आ रही है, एवं मूसलाधार वर्षा ने आकर उसके सारे अंगों को अभिषिक्त कर दिया है।

सारी रात न तूफ़ान थमा, न रोना बन्द हुआ। मैं निष्फल परिताप से एक-एक कमरे में घूमता रहा। कहीं कोई नहीं था ; किसको सान्त्वना देता, यह प्रचण्ड अभिमान किसका था, यह अशान्त आक्षेप कहाँ से उठ रहा था ?

अचानक पागल चीख़ उठा, 'हट जाओ, हट जाओ ! सब झूठ है, मब झूठ है।'

देखा, भोर हो गया था और मेहरअली इस घोर दुर्योग के दिन भी यथानियम प्रासाद की प्रदक्षिणा करके अपने अभ्यास के अनुसार चीख रहा था। अचानक मुझे लगा, शायद वह मेहरअली भी मेरे समान कभी इस महल में निवास करता रहा हो, अब पागल होकर बाहर आने पर भी पाषाणराक्षस के मोह से आकर्षित होकर प्रतिदिन प्रातःकाल प्रदक्षिणा करने आता हो।

मैंने तत्क्षण उस वर्षा में ही दौड़ते हुए पागल के पास जाकर उससे पूछा, 'मेहरअली, क्या झूठ है भला ?'

वह मेरी बात का कोई उत्तर दिये बिना मुझे धकेलकर अजगर के सामने चक्कर काटते हुए अजगर के ग्रास, मोहाविष्ट पक्षी के समान चीखता हुआ प्रासाद के चारों ओर घूमने लगा। प्राणपण से केवल अपने को सतर्क करने के लिए बारंबार कह उठता, 'हट जाओ, हट जाओ ! अब झूठ है, सब झूठ है।'

उस वर्षा और आँधी में पागल की तरह दफ़्तर जाकर और करीमखाँ को बुलाकर मैंने कहा इसका क्या मतलब है, मुझे खोलकर बताओ !'

वृद्ध ने जो कुछ कहा उसका मर्मार्थ यह है, किसी समय उस प्रासाद में अनेक अतृप्त वासनाएँ, अनेक उन्मत्त संभोगों की शिखाएँ आलोड़ित होती थीं—उस सब चित्त-दाह से, उस सब निष्फल कामनाओं के अभिशाप से इस प्रासाद का प्रत्येक प्रस्तर-खंड क्षुधार्त्त, तृषार्त्त हो उठा है, जीवित मनुष्य को पाने पर वह उसको लालायित पिशाचिनी के समान खा डालना चाहता है। जिन्होंने तीन रात उस प्रासाद में वास किया है, उनमें से केवल मेहर अली पागल होकर बाहर निकला है, आज तक और कोई उसके ग्रास से नहीं बच सका है।'

मैंने पूछा, 'क्या मेरे उद्धार का कोई मार्ग नहीं है ?'

वृद्ध ने कहा, 'केवल एक उपाय है, जो अत्यन्त दुरूह है। वह तुम्हें बताता हूँ — किन्तु

इसके पहले उस गुलबाग़ की एक ईरानी क्रीतदासी का पुराना इतिहास बताना आवश्यक है। वैसी आश्चर्यजनक और वैसी हृदय-विदारक घटना संसार में और कभी नहीं घटी।'

तभी कुलियों ने आकर ख़बर दी गाड़ी आ रही है। इतनी जल्दी ? जल्दी-जल्दी बिस्तर-समान बाँधते-बाँधते गाड़ी आ गयी। उस गाड़ी के फ़र्स्टक्लास में सोकर उठे एक अंग्रेज़ सज्जन खिड़की के बाहर मुख निकालकर स्टेशन का नाम पढ़ने की कोशिश कर रहे थे, हमारे सहयात्री मित्र को देखते ही — 'हैलो' कहते हुए चीख़ उठे और अपने डिब्बे में बैठा लिया। हम सैकिण्ड क्लास में चढ़े। बाबू कौन थे, पता नहीं लगा, कहानी भी पूरी नहीं सुनी जा सकी।

मैंने कहा, 'वह आदमी हम लोगों को मूर्ख समझ मज़ाक में बुद्धू बना गया ? कहानी शुरू से आखिर तक कल्पित थी।'

इस तर्क के फलस्वरूप अपने थियोसोफिस्ट सम्बन्धी के साथ मेरा सदा के लिए विच्छेद हो गया है

८

अतिथि

एक

काँठालिया के ज़मींदार मतिलाल बाबू नौका से सपरिवार अपने घर जा रहे थे। रास्ते में दोपहर के समय नदी के किनारे की एक मण्डी के पास नौका बाँधकर भोजन बनाने का आयोजन कर ही रहे थे कि इसी बीच एक ब्राह्मण-बालक ने आकर पूछा, 'बाबू, तुम लोग कहाँ जा रहे हो ?' सवाल करनेवाले की उम्र पन्द्रह-सोलह से अधिक न होगी।

मतिबाबू ने उत्तर दिया, 'काँठालिया।'

ब्राह्मण-बालक ने कहा, 'मुझे रास्ते में नन्दीगाँव उतार देंगे आप?'

बाबू ने स्वीकृति प्रकट करते हुए पूछा, 'तुम्हारा क्या नाम है।'

ब्राह्मण-बालक ने कहा, 'मेरा नाम तारापद है।'

गौरवपूर्ण बालक देखने मे बड़ा सुन्दर था। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों और मुस्कराते हुए ओष्ठाधरों पर सुललित सौकुमार्य झलक रहा था। वस्त्र के नाम पर उसके पास एक मैली धोती थी। उघरी हुई देह मे किसी प्रकार का बाहुल्य न था, मानो किसी शिल्पी ने बड़े यत्न से निर्दोष, सुडौल रूप में गढ़ा हो। मानो वह पूर्वजन्म मे तापस-बालक रहा हो और निर्मल तपस्या के प्रभाव से उसकी देह का बहुत-सा अतिरिक्त भाग क्षय होकर एक साम्मर्जित ब्राह्मण्य-श्री परिस्फुट हो उठी हो।

मतिलाल बाबू ने बड़े स्नेह से उससे कहा, 'बेटा, स्नान कर आओ, भोजनादि यहीं होगा।'

तारापाद बोला, 'ठहरिए!' और वह तत्क्षण निस्संकोच भोजन के आयोजन में सहयोग देने लगा। मतिलाल बाबू का नौकर ग़ैरबंगाली था, मछली आदि काटने में वह इतना निपुण नहीं था ; तारापद ने उसका काम स्वयं लेकर थोड़े ही समय में अच्छी तरह से सम्पन्न कर दिया और दो-एक तरकारी भी बड़ी कुशलता से तैयार कर दी। भोजन बनाने का कार्य समाप्त होने पर तारापद ने नदी में स्नान करके पोटली खोली और एक सफ़ेद वस्त्र धारण किया ; काठ की एक छोटी-सी कंघी लेकर सिर के बड़े-बड़े बाल माथे पर से हटाकर गर्दन पर डाल लिये, और स्वच्छ जनेऊ का धागा छाती पर लटकाकर नौका पर बैठे मतिबाबू के पास जा पहुँचा।

मतिबाबू उसे नौका के भीतर ले गये। वहाँ मतिबाबू की स्त्री और उनकी नववर्षीया कन्या बैठी थी। मतिबाबू की स्त्री अन्नपूर्णा इस सुन्दर बालक को देखकर स्नेह से उच्छ्वसित हो उठीं, मन-ही-मन कह उठीं, 'अहा! किसका बच्चा है, कहाँ से आया है — इसकी माँ इसे छोड़कर किस प्रकार जीती होगी ?'

यथासमय मतिबाबू और इस लड़के के लिए पास-पास दो आसन डाले गये। लड़का ऐसा भोजन-प्रेमी न था, अन्नपूर्णा ने उसका अल्प आहार देखकर मन में सोचा कि लजा रहा है ; उससे यह-वह खाने का बहुत अनुरोध करने लगीं, किन्तु जब वह भोजन से निवृत्त हो गया तो उसने कोई भी अनुरोध न माना। देखा गया, लड़का हर काम अपनी इच्छा के अनुसार करता, लेकिन ऐसे सहज भाव से करता कि उसमें किसी भी प्रकार की ज़िद या हठ का आभास न मिलता। उसके व्यवहार में लज्जा के लक्षण लेश-मात्र भी दिखाई नहीं पड़े।

सबके भोजनादि के बाद अन्नपूर्णा उसको पास बिठाकर प्रश्नों द्वारा उसका इतिहास जानने में प्रवृत्त हुईं। कुव भी विस्तृत विवरण संग्रह नहीं हो सका। बस इतनी-सी बात जानी जा सकी कि लड़का सात-आठ बरस की उम्र में ही स्वेच्छा से घर छोड़कर भाग आया है।

अन्नपूर्णा ने प्रश्न किया, 'तुम्हारी माँ नहीं है ?'

तारापद ने कहा, 'हैं।'

अन्नपूर्णा ने पूछा, 'वे तुम्हें प्यार नहीं करतीं ?'

इसे अत्यन्त विचित्र प्रश्न समझकर हँसते हुए तारापद ने कहा, 'प्यार क्यों नहीं करेंगी ?'

अन्नपूर्णा ने प्रश्न किया, 'तो फिर तुम उन्हें छोड़ क्यों आये?'

तारापद बोला, 'उनके और भी चार लड़के और तीन लड़कियाँ हैं।'

बालक के इस विचित्र उत्तर से व्यथित होकर अन्नपूर्णा ने कहा, ओ माँ, यह कैसी बात है ! पाँच अँगुलियाँ हैं, तो क्या एक अँगुली त्यागी जा सकती है ?''

तारापद की उम्र कम थी, उसका इतिहास भी उसी अनुपात में संक्षिप्त था; किन्तु लड़का बिलकुल असाधारण था। वह अपने माता-पिता का चौथा पुत्र था, शैशव में ही पितृहीन हो गया था। बहु-संतान वाले घर में भी तारापद सबको अत्यन्त प्यारा था। माँ, भाई-बहन और मुहल्ले के सभी लोगों से वह अजस्र स्नेहलाभ करता। यहाँ तक कि गुरुजी भी उसे नहीं मारते थे — मारते तो भी बालक के अपने-पराये सभी उससे वेदना का अनुभव करते। ऐसी अवस्था में उसका घर छोड़ने का कोई कारण नहीं था। जो उपेक्षित रोगी लड़का हमेशा चोरी करके पेड़ों से फल और गृहस्थों से उसका चौगुना प्रतिफल पाता घूमता-फिरता वह भी अपनी परिचित ग्राम-सीमा के भीतर अपनी कष्ट देनेवाली माँ के पास पड़ा रहा, और समस्त ग्राम का दुलारा यह लड़का एक बाहरी जात्रा-दल में शामिल होकर निर्ममता से ग्राम छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

सब लोग उसका पता लगाकर उसे गाँव लौटा लाये। उसकी माँ ने उसे छाती से लगाकर आँसुओं से आर्द्र कर दिया, उसकी बहनें रोने लगीं, उसके बड़े भाई ने पुरुष-अभिभावक का कठिन कर्तव्य पालन करने के उद्देश्य से उस पर मृदुभाव से शासन करने का यत्न करके अन्त में अनुतप्त चित्त से खूब प्रश्रय और पुरस्कार दिया। मुहल्ले की लड़कियों ने उसको घर-घर बुलाकर खूब प्यार किया और नाना प्रलोभनों से उसे वश में करने की चेष्टा की। किन्तु बन्धन, यही नहीं स्नेह का बन्धन भी उसे सहन नहीं हुआ, उसके जन्म-नक्षत्र ने उसे गृहहीन कर रखा था। वह जब भी देखता कि नदी में कोई विदेशी नौका अपनी रस्सी घिसटाती जा रही है, गाँव के विशाल पीपल के वृक्ष के तले किसी दूर देश के किसी संन्यासी ने आश्रय लिया है, अथवा बनजारे नदी के किनारे ढालू मैदान में छोटी-छोटी चटाइयाँ बाँधकर खपच्चियाँ छीलकर टोकरियाँ बनाने में लगे हैं तब अज्ञात बाह्य पृथ्वी

को स्नेहहीन स्वाधीनता के लिए उसका मन बेचैन हो उठता। लगातार दो-तीन बार भागने के बाद उसके कुटुम्बियों और गाँव के लोगों ने उसकी आशा छोड़ दी।

पहले उसने एक जात्रा-दल का साथ पकड़ा। जब अधिकारी उसको पुत्र के समान स्नेह करने लगे और जब वह दल के छोटे-बड़े सभी का प्रिय पात्र हो गया, यही नहीं, जिस घर में जात्रा होती उस घर के मालिक, विशेषकर घर का महिला वर्ग जब विशेष रूप से उसे बुलाकर उसका आदर-मान करने लगा, तब एक दिन किसी से बिना कुछ कहे वह भटककर कहाँ चला गया, इसका फिर कोई पता न चल सका।

तारापद हरिण के छौने से समान बन्धनभीरु था, और हरिण के ही समान संगीत-प्रेमी भी। जात्रा के संगीत ने ही उसे पहले घर से विरक्त किया था। संगीत का स्वर उसकी समस्त धमनियों में कम्पन पैदा कर देता और संगीत की ताल पर उसके सर्वांग में आन्दोलन उपस्थित हो जाता। जब वह बिलकुल बच्चा था तब भी वह संगीत-सभाओं में जिस प्रकार संयत गम्भीर प्रौढ़ भाव से आत्मविस्मृत होकर बैठा-बैठा झूमने लगता, उसे देखकर प्रवीण लोगों के लिए हँसी संवरण करना कठिन हो जाता। केवल संगीत ही क्यों, वृक्षों के घने पत्तों के ऊपर जब श्रावण की वृष्टि-धारा पड़ती, आकाश में मेघ गरजते, पवन अरण्य में मातृहीन दैत्यशिशु की भाँति क्रंदन करता रहता तब उसका चित्त मानो उच्छृखंल हो उठता। निस्तब्ध दोपहरी में, आकाश में बड़ी दूर से आती चील की पुकार, वर्षाऋतु की सन्ध्या में मेंढकों का कलरव, गहन रात में श्रृगालों की चीत्कार-ध्वनि, सभी उसको अधीर कर देते। संगीत के इस मोह से आकृष्ट होकर वह शीघ्र ही एक पांचाली[१] दल में भर्ती हो गया। मंडली का अध्यक्ष उसे बड़े यत्न से गाना सिखाने और पांचाली कंठस्थ कराने में प्रवृत हुआ, और उसे अपने वक्ष-पिंजर के पक्षी की भाँति प्रिय समझकर स्नेह करने लगा। पक्षी ने थोड़ा-बहुत गाना सीखा और एक दिन तड़के उड़कर चला गया।

अन्तिम बार वह कलाबाज़ी दिखाने वालों के दल में शामिल हुआ। जेठ के अंतिम दिनों से लेकर आषाढ़ के समाप्त होने तक इस अंचल में जगह-जगह क्रमानुसार समवेत रूप से अनुष्ठित मेले लगते। उनके उपलक्ष्य में जात्रा वालों के दो-तीन दल पांचाली गायक, कवि, नर्तकियाँ एवं अनेक प्रकार की दुकानें छोटी-छोटी नदियों, उपनदियों के रास्ते नौकाओं द्वारा एक मेले के समाप्त होने पर दूसरे मेले में घूमती रहतीं। पिछले वर्ष से कलकत्ता की एक छोटी कलाबाज़-मण्डली इस पर्यटनशील मेले के मनोरंजन में योग दे रही थी। तारापद ने पहले तो नौकारूढ़ दुकानदारों के साथ मिलकर पान की गिलौरियाँ बेचने का भार लिया। बाद में अपने स्वाभाविक कौतूहल के कारण इस कलाबाज़-दल के अद्‌भुत व्यायाम नैपुण्य से आकृष्ट होकर उसमें प्रवेश किया। तारापद ने अपने-आप अभ्यास करके अच्छी तरह वंशी बजाना सीख लिया था—करतब दिखाने के समय वह द्रुत ताल पर लखनवी ठुमरी के सुर में वंशी बजाता—यही उसका एकमात्र काम था।

उसका आखिरी पलायन इसी दल से हुआ था। उसने सुना था कि नन्दीग्राम के ज़मींदार बाबू बड़ी धूमधाम से एक शौकिया जात्रा-दल बना रहे हैं — अतः वह अपनी छोटी-सी पोटली

१. लोक-गीत गायकों का दल।

लेकर नन्दी ग्राम की यात्रा की तैयारी कर रहा था, इसी समय उसकी भेंट मतिबाबू से हो गयी।

एक के बाद एक नाना दलों में शामिल होकर भी तारापद ने अपनी स्वाभाविक कल्पना-प्रवण प्रकृति के कारण किसी भी दल की विशेषता प्राप्त नहीं की थी। वह अन्तःकरण से बिलकुल निर्लिप्त और मुक्त था। संसार में उसने हमेशा से ही कई बेहूदी बातें सुनीं और अनेक अशोभन दृश्य देखे, किन्तु उन्हें उसके मन में सञ्चित होने का रत्ती-भर अवकाश न मिला। उस लड़के का ध्यान किसी ओर था ही नहीं। अन्यान्य बंधनों की भाँति किसी प्रकार का अभ्यास-बंधन भी उसके मन को बाध्य न कर सका। वह उस संसार में पंकिल जल के ऊपर शुभ्रपक्ष राजहंस की भाँति तैरता-फिरता। कौतूहलवश भी वह जितनी बार डुबकी लगाता उसके पंख न तो भीग पाते थे, न मलिन हो पाते थे। इसी कारण इस गृह-त्यागी लड़के के मुख पर एक शुभ्र स्वाभाविक तारुण्य अम्लान भाव से झलकता रहता, उसकी यही मुखश्री देखकर प्रवीण दुनियादार मतिलाल बाबू ने बिना कुछ पूछे, बिना सन्देह किये बड़े प्यार से उसका आह्वान किया था।

दो

भोजन समाप्त होने पर नौका चल पड़ी। अन्नपूर्णा बड़े स्नेह से ब्राह्मण-बालक से उसके घर की बातें, उसके स्वजन कुटुम्बियों का समाचार पूछने लगीं, तारापद ने अत्यन्त संक्षेप में उनका उत्तर देकर बाहर आकर परित्राण पाया। बाहर परिपूर्णता की अन्तिम सीमा तक भरकर वर्षा की नदी ने अपने आत्म-विस्मृत उद्दाम चांचल्य से प्रकृति-माता को मानो उद्विग्न कर दिया था। मेघ-मुक्त धूप में नदी किनारे की अर्धनिमग्न काशतृणश्रेणी एवं उसके ऊपर सरस सघन ईख के खेत और उससे भी परवर्ती प्रदेश में दूरदिगन्त चुम्बित नीलाञ्जन-वर्ण वनरेखा, सभी- कुछ मानो किसी काल्पनिक कथा की सोने की छड़ी[१] के स्पर्श से सद्यःजागृत नवीन सौंदर्य की भाँति नीरव नीलाकाश की मुग्धदृष्टि के सम्मुख परिस्फुटित हो उठा हो, सभी कुछ मानो सजीव, स्पन्दित, प्रगल्भ, प्रकाश में उद्भासित, नवीनता से मसृण और प्राचुर्य से परिपूर्ण हो।

तारापद ने नौका की छत पर पाल की छाया में जाकर आश्रय लिया। ढालू हरा मैदान, पानी से भरे पाट के खेत, गहन श्याम लहराते हुए आमन[२] धान, घाट से गाँव की ओर जानेवाले सँकरे रास्ते, सघन वन-वेष्टित छायामय गाँव — एक के बाद एक उसकी आँखों के सामने से निकलने लगे। जल, स्थल, आकाश, चारों ओर की यह गतिशीलता, सजीवता, मुखरता, आकाश-पृथ्वी की यह व्यापकता और वैचित्र्य एवं निर्लिप्त सुदूरता, यह अत्यन्त विस्तृत, चिरस्थायी, निर्निमेष, नीरव, वाक्य-विहीन विश्व तरुण बालक के परमात्मीय थे, पर फिर भी वह इस चंचल मानव को क्षण-भर के लिए भी स्नेह-बाहुओं में बाँध रखने की कोशिश नहीं करता था। नदी के किनारे बछड़े पूँछ उठाये दौड रहे थे, गाँव का टट्टू-घोड़ा रस्सी से बँधे अपने अगले पैरों के बल कूदता हुआ घास चरता फिर रहा था, मछरंग पक्षी मछुआरों के जाल बाँधने के बाँस के डंडे से बड़े वेग से पानी में

१. प्रसिद्ध लोक-कथा है कि एक राजकुमार ने सोने की छड़ी छुआकर, सोई हुई राजकुमारी को जगा दिया था, चाँदी की छड़ी छुआने से वह सो जाती थी। सोने की छड़ी प्रेम जागृत अवस्था की प्रतीक है।

२. हेमन्तकालीन धान।

झप से कूदकर मछली पकड़ रहा था, लड़के पानी में खेल रहे थे, लड़कियाँ उच्च स्वर से हँसती हुई बातें करती हुई छाती तक गहरे पानी में अपना वस्त्रांचल फैलाकर दोनों हाथों से उसे धो रही थीं, आँचल कमर में खोंसे मछुआरिनें डलिया लेकर मछुआरों से मछली खरीद रही थीं, इस सबको वह चिरनूतन अश्रांत कौतूहल से बैठा देखता था, उसकी दृष्टि की पिपासा किसी भी तरह निवृत्त नहीं होती थी।

नौका की छत पर जाकर तारापद ने धीरे-धीरे खिवैया-माँझियों से बातचीत छेड़ दी। बीच-बीच में आवश्यकतानुसार वह मल्लाहों के हाथ से लग्गी लेकर खुद ही ठेलने लग जाता ; माँझियों को जब तमाखू पीने की ज़रूरत पड़ती तब वह स्वयं जाकर हाल सँभाल लेता, जब जिधर हाल मोड़ना आवश्यक होता वह दक्षतापूर्वक सम्पन्न कर देता।

संध्या होने के कुछ पूर्व अन्नपूर्णा ने तारापद को बुलाकर पूछा, 'रात में तुम क्या खाते हो ?'

तारापद बोला, 'जो मिल जाता है वही खा लेता हूँ ; रोज़ खाता भी नहीं।'

इस सुन्दर ब्राह्मण-बालक की आतिथ्य ग्रहण करने की उदासीनता अन्नपूर्णा को थोड़ी कष्टकर प्रतीत हुई। उनकी बड़ी इच्छा थी कि खिला-पिलाकर, पहना ओढ़ाकर इस गृह-च्युत यात्री बालक को संतुष्ट करें। किंतु किससे वह सन्तुष्ट होगा, यह वे नहीं जान सकीं। नौकरों को बुलाकर गाँव से दूध-मिठाई आदि खरीद मँगाने में अन्नपूर्णा ने धूमधाम मचा दी। तारापद ने पेट-भर भोजन तो किया, किंतु दूध नहीं पिया। मौन स्वभाव मतिलाल बाबू तक ने उससे दूध पीने का अनुरोध किया ; उसने संक्षेप में कहा, 'मुझे अच्छा नहीं लगता।'

नदी पर दो-तीन दिन बीत गये। तारापद ने भोजन बनाने, सौदा खरीदने से लेकर नौका चलाने तक सब कामों में स्वेच्छा और तत्परता से योग दिया। जो भी दृश्य उसकी आँखों के सामने आता उसी ओर तारापद की कौतूहलपूर्ण दृष्टि दौड़ जाती ; जो भी काम उसके हाथ लग जाता, उसीकी ओर वह अपने-आप आकर्षित हो जाता। उसकी दृष्टि, उसके हाथ, उसका मन सर्वदा ही गतिशील बने रहते, इसी कारण वह इस नित्य चलायमान प्रकृति के समान सर्वदा निश्चिन्त, उदासीन रहता ; किन्तु सर्वदा क्रियासक्त भी। यों तो हर मनुष्य की अपनी एक स्वतंत्र अधिष्ठान भूमि होती है, किन्तु तारापद इस अनन्त नीलाम्बरवाही विश्व-प्रवाह की एक आनन्दोज्ज्वल तरंग था — भूत-भविष्यत् के साथ उसका कोई सम्बन्ध न था, आगे बढ़ते जाना ही उसका एकमात्र काम था।

इधर बहुत दिन तक नाना सम्प्रदायों के साथ योग देने के कारण अनेक प्रकार की मनोरंजनी विद्याओं पर उसका अधिकार हो गया था। किसी भी प्रकार चिंता से आच्छन्न न रहने के कारण उसके निर्मल स्मृति-पट पर सारी बातें अद्भुत सहज ढंग से अंकित हो जाती। पांचाली कथकता,[१] कीर्तन-गान, जात्राभिनय के लम्बे अवतरण उसे कंठस्थ थे। मतिलाल बाबू अपनी नित्य-प्रति की प्रथा के अनुसार एक दिन संध्या समय अपनी पत्नी और कन्या को रामायण पढ़कर सुना रहे थे, लव-कुश की कथा की भूमिका चल रही थी, तभी तारापद अपना उत्साह संवरण न कर पाने के कारण नौका की छत से उतर आया और बोला, 'किताब रहने दें। मैं लव-कुश का गीत गाता हूँ, आप सुनते चलिये!'

यह कहकर उसने लव-कुश की पांचाली शुरू कर दी। बाँसुरी के समान सुमिष्ट उन्मुक्त स्वर

१. पुराणादि पाठ और व्याख्या

पर आकर झुके पड़ रहे थे। उस नदी-नीर के सन्ध्याकाश में हास्य, करुणा एवं संगीत का एक अपूर्व रस-स्रोत प्रवाहित होने लगा। दोनों निस्तब्ध किनारे कौतूहलपूर्ण हो उठे, पास से जो सारी नौकाएँ गुज़र रही थीं ; उनमें बैठे लोग क्षण-भर के लिए उत्कंठित होकर उसी ओर कान लगाये रहे। जब गीत समाप्त हो गया तो सभी ने व्यथित चित्त से लम्बी साँस लेकर सोचा, इतनी जल्दी यह क्यों समाप्त हो गया।

सजलनयना अन्नपूर्णा की इच्छा हुई कि उस लड़के को गोद में बिठाकर छाती से लगाकर उसका माथा सूँघ लें। मतिलाल बाबू सोचने लगे, इस लड़के को यदि किसी प्रकार अपने पास रख सकूँ तो पुत्र का अभाव पूरा हो जाय। केवल छोटी बालिका चारुशशि का अन्तःकरण ईर्ष्या और विद्वेष से परिपूर्ण हो उठा।

तीन

चारुशशि अपने माता-पिता की इकलौती संतान और उनके स्नेह की एकमात्र अधिकारिणी थी। उसकी धुन और हठ की कोई सीमा न थी। खाने पहनने, बाल बनाने के सम्बन्ध में उसका स्वतंत्र मत था, किन्तु उस के मन में तनिक भी स्थिरता नहीं थी। जिस दिन कहीं निमंत्रण होता उस दिन उसकी माँ को भय रहता कि कहीं लड़की साज-सिंगार को लेकर कोई असम्भव ज़िद न कर बैठे। यदि दैवात् कभी केश-बंधन उसके मन के अनुकूल न हुआ, तो फिर उस दिन चाहे जितनी बार बाल खोलकर चाहे जितने प्रकार से बाँधे जाते, वह किसी तरह सन्तुष्ट न होती। और अन्त में रोना-धोना मच जाता। हर बात में यही दशा थी। पर कभी-कभी जब चित्त प्रसन्न रहता तो उसे किसी भी प्रकार की कोई आपत्ति न होती। उस समय वह प्रचुर मात्रा में स्नेह प्रकट करके अपनी माँ से लिपटकर चूमकर हँसती हुई बात करते-करते उसे एकदम परेशान कर डालती। यह छोटी बालिका एक दुर्भेद्य पहेली थी।

यह बालिका अपने दुर्बोध्य हृदय के पूरे वेग का प्रयोग करके मन-ही-मन विषम ईर्ष्या से तारापद का निरादर करने लगी। माता-पिता को भी पूरी तरह से उद्विग्न कर डाला। भोजन के समय रोदनोन्मुखी होकर भोजन के पात्र को ठेलकर फेंक देती, खाना उसको रुचिकर नहीं लगता ; नौकरानी को मारती, सभी बातों में अकारण शिकायत करती रहती। जैसे-जैसे तारापद की विद्याएँ उसका एवं अन्य सबका मनोरंजन करने लगीं, वैसे-ही-वैसे मानो उसका क्रोध बढ़ने लगा। तारापद में कोई गुण है, इसे उसका मन स्वीकार करने से विमुख रहता और उसका प्रमाण जब प्रबल होने लगा तो उसके असन्तोष की मात्रा भी बढ़ गयी। तारापद ने जिस दिन लव-कुश का गीत सुनाया उस दिन अन्नपूर्णा ने सोचा, संगीत के वन के पशु तक वश में आ जाते हैं, आज शायद मेरी लड़की का मन पिघल गया है। उससे पूछा, 'चारु, कैसा लगा ?' उसने कोई उत्तर दिये बिना बड़े ज़ोर से सिर हिला दिया। भाषा में इस मुद्रा का तरजुमा करने पर यह रूप होता — ज़रा भी अच्छा नहीं लगा, और न कभी अच्छा लगेगा।

चारु के मन में ईर्ष्या का उदय हुआ है, यह समझकर उसकी माँ ने चारु के सामने तारापद के प्रति स्नेह प्रकट करना कम कर दिया। सन्ध्या के बाद जब चारु जल्दी-जल्दी खाकर सो जाती तब अन्नपूर्णा नौका-कक्ष के दरवाज़े के पास आकर बैठतीं और मतिबाबू और तारापद बाहर बैठते

से यह बड़ी तेज़ गति से दासुराय के अनुप्रासों की वर्षा करने लगा ; डाँडी, मछुआरे, सभी दरवाज़े और अन्नपूर्णा के अनुरोध पर तारापद गाना शुरू करता, उसके गाने से जब नदी के किनारे की विश्रामनिरता ग्राम-श्री संध्या के विपुल अन्धकार में मुग्ध निस्तब्ध हो जाती और अन्नपूर्णा का कोमल हृदय स्नेह और सौंदर्य-रस के उछलने लग जाता तब सहसा चारु बिछौने के उठकर तेज़ी से आकर सरोष कहती, 'माँ, तुमने यह क्या शोर मचा रखा है ! मुझे नींद नहीं आती ।' माता-पिता उसको अकेला सुलाकर तारापद को घेरकर संगीत का आनन्द ले रहे हैं, यह उसे एकदम असह्य हो उठता । इस दीप्तकृष्णनयना बालिका की स्वाभाविक उग्रता तारापद को बड़ी मनोरंजक प्रतीत होती । उसने इसे कहानी सुनाकर, गाना गाकर, वंशी बजाकर वश में करने की बहुत चेष्टा की, किन्तु किसी भी प्रकार सफल नहीं हुआ । केवल जब मध्याह्न में तारापद नदी में स्नान करने उतरता, परिपूर्ण जलराशि में अपनी गौरवर्ण सरल कमनीय देह को तैरने की अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं में संचालित करता तरुण जल-देवता के समान शोभा पाता, तब बालिका का कौतूहल आकर्षित हुए बिना न रहता । वह इसी समय की प्रतीक्षा करती रहती , किंतु आंतरिक इच्छा का किसी को भी पता न चलने देती, और यह अशिक्षापटु अभिनेत्री ध्यानपूर्वक ऊनी गुलूबन्द बुनने का अभ्यास करती हुई बीच-बीच में मानो अत्यन्त उपेक्षा भरी दृष्टि से तारापद की संतरण लीला देखा करती ।

चार

नन्दीग्राम कब छूट गया, तारापद को पता न चला । विशाल नौका अत्यन्त मृदुमन्द गति से कभी पाल तानकर, कभी रस्सी खींचकर अनेक नदियों की शाखा-प्रशाखाओं में होकर चलने लगी ; नौकारोहियों के दिन भी इन सब नदी-उपनदियों के समान, शांति-सौन्दर्यपूर्ण वैचित्र्य के बीच सहज सौम्य गति से मृदुमिष्ट कलस्वर में प्रवाहित होने लगे । किसी को किसी प्रकार की जल्दी नहीं थीं ; दोपहर को स्नानाहार में बहुत समय व्यतीत होता ; और इधर सन्ध्या होते-न-होते बड़े दिखने वाले किसी गाँव के किनारे, घाट के समीप, झिल्लीमन्द्रित खद्योतखचित वन के पास नौका बाँध दी जाती ।

इस प्रकार दसेक दिन में नौका काँठालिया पहुँची । ज़मींदार के आगमन पर घर से पालकी और टट्टू-घोड़ों का समागम हुआ, और हाथ में बाँस की लाठी धारण किये सिपाही-चौकीदारों के दल ने बार-बार बन्दूक़ की खाली आवाज़ से गाँव के उत्कण्ठित काक-समाज सो 'यत्परोनास्ति' मुखर कर दिया ।

इस सारे समारोह में समय लगा, इस बीच में तारापद ने तेज़ी से नौका से उतरकर एक बार सारे गाँव का चक्कर लगा डाला । किसी को दादा, किसी को काका, किसी को दीदी, किसी को मौसी कहकर दो-तीन घंटे में सारे गाँव के साथ सौहार्द्र बन्धन स्थापित कर लिया । कहीं भी उसके लिए स्वभावतः कोई बन्धन नहीं था, इससे यह बालक ग़ज़ब की शीघ्रता और आसानी से सबके साथ परिचय कर लेता था । तारापद ने देखते-देखते थोड़े दिनों में ही गाँव के समस्त हृदयों पर अधिकार कर लिया ।

इतनी आसानी से हृदय हरण करने का कारण यह था कि तारापद हरेक के साथ उसका अपना बनकर स्वाभाविक रूप से योग दे सकता था । वह किसी भी प्रकार के विशेष संस्कारों के द्वारा बँधा हुआ नहीं था, अतएव सभी अवस्थाओं में और सभी कामों में उसमें एक प्रकार की सहज

प्रवीणता थी। बालकों के लिए वह बिलकुल स्वाभाविक बालक था और उनसे श्रेष्ठ और स्वतंत्र, वृद्धों के लिए वह बालक न रहता, किन्तु पुरखा भी नहीं ; चरवाहों के साथ चरवाहा था फिर भी ब्राह्मण। हरेक के हर काम में वह चिरकाल के सहयोगी के समान अभ्यस्त भाव से हस्तक्षेप करता। हलवाई की दुकान पर बातें करते-करते हलवाई कह उठता, 'भैया, ज़रा बैठो तो सही ! मैं अभी आया' — तारापद अम्लानवदन से दूकान पर बैठकर साल के पत्ते से सन्देश पर बैठी मक्खियाँ उड़ाने लग जाता। मिठाइयाँ बनाने में भी पक्का था, करघे का मर्म भी उसे थोड़ा-बहुत मालूम था, कुम्हार का चाक चलाना भी उसके लिए बिलकुल नया नहीं था।

तारापद ने सारे गाँव को वश में कर लिया, बस केवल ग्रामवसिनी बालिका की ईर्ष्या वह अभी तक नहीं जीत पाया था। यह बालिका उग्रभाव से उसके बहुत दूर निर्वासन की कामना करती थी, यही जानकर शायद तारापद इस गाँव में इतने दिन आबद्ध बना रहा।

किंतु बालिकावस्था में भी नारी के अन्तर रहस्य का भेद जानना बहुत कठिन है, चारुशशि ने इसका प्रमाण दिया।

ब्राह्मण पुरोहिताइन की कन्या सोनामणि पाँच वर्ष की अवस्था में विधवा हो गयी थी ; वह चारु की समवयस्का सहेली थी। अस्वस्थ होने के कारण वह घर लौटी सहेली से कुछ दिनों तक भेंट न कर सकी। स्वस्थ होकर जिस दिन भेंट करने आयी उस दिन प्रायः अकारण ही दोनों सहेलियों में कुछ मनोमालिन्य की नौबत आ गयी।

चारु ने अत्यन्त विस्तार से बात आरम्भ की थी। उसने सोचा था कि तारापद नामक अपने नवार्जित परम रत्न को जुटाने की बात का विस्तारपूर्वक वर्णन करके वह अपनी सहेली के कौतूहल एवं विस्मय को सप्तम पर चढ़ा देगी। किन्तु, जब उसने सुना कि तारापद सोनामणि से लिए तनिक भी अपरिचित नहीं था, पुरोहितइन को वह मौसी कहता है और सोनामणि उसको भाई कहकर पुकारती है, जब उसने सुना कि तारापद ने केवल बाँसुरी पर कीर्तन का सुर बजाकर माता और पुत्री का मनोरंजन ही नहीं किया है, सोनामणि के अनुरोध से उसके लिए अपने हाथों से बाँस की एक बाँसुरी भी बना दी है, न जाने कितने दिनों से वह उसे ऊँची डाल से फल और कण्टक-शाखा से फूल तोड़कर देता रहा है तब चारु के अन्तःकरण को मानो तप्तशूल बेधने लगा। चारु समझती थी कि तारापद विशेष रूप से उन्हीं का तारापद था — अत्यन्त गुप्त रूप से संरक्षणीय; अन्य साधारण जन केवल उसका थोड़ा-बहुत आभास-मात्र पायेंगे फिर भी किसी भी तरह उसका सामीप्य न पा सकेंगे, दूर से ही उसके रूप-गुण पर मुग्ध होंगे और चारुशशि को धन्यवाद देते रहेंगे। यही अद्‌भुत दुर्लभ, दैवलब्ध ब्राह्मण-बालक सोनामणि के लिए सहजगम्य क्यों हुआ ? हम यदि उसे इतना यत्न करके न लाते, इतने यत्न से न रखते तो सोनामणि आदि उसका दर्शन कहाँ से पातीं ? सोनामणि का 'भैया' ! शब्द सुनते ही उसके शरीर में आग लग गयी।

चारु जिस तारापद को मन-ही-मन विद्वेष-बाणों से जर्जर करने की चेष्टा करती रही है, उसीके एकाधिकार को लेकर इतना प्रबल उद्वेग क्यों ? — किसकी सामर्थ्य है जो यह समझे !

उसी दिन किसी अन्य तुच्छ बात के सहारे सोनामणि के साथ चारु की गहरी कुट्टी हो गयी। और वह तारापद के कमरे में जाकर उसकी प्रिय वंशी लेकर उस पर कूद-कूदकर उसे कुचलती हुई निर्दयतापूर्वक तोड़ने लगी।

चारु जब प्रचण्ड रोष में इस वंशी-ध्वंस-कार्य में व्यस्त थी तभी तारापद ने कमरे में प्रवेश किया। बालिका की यह प्रलय-मूर्ति देखकर उसे आश्चर्य हुआ। बोला, 'चारु, मेरी वंशी क्यों तोड़ रही हो ?' चारु रक्त नेत्रों और लाल मुख से 'ठीक कर रही हूँ, अच्छा कर रही हूँ' कहकर टूटी हुई वंशी को और दो-चार अनावश्यक लातें मारकर उच्छ्वसित कंठ से रोती हुई कमरे से बाहर चली गयी। तारापद ने वंशी उठाकर उलट-पलटकर देखी, उसमें अब कोई दम नहीं था। अकारण ही अपनी पुरानी वंशी की यह आकस्मिक दुर्गति देखकर वह अपनी हँसी न रोक सका। चारुशशि दिनोंदिन उसके परम कौतूहल का विषय बनती जा रही थी।

उसके कौतूहल का एक और क्षेत्र था, मतिलाल बाबू की लाइब्रेरी में तस्वीरें वाली अंग्रेज़ी की किताबें। बाहरी जगत् से उसका यथेष्ट परिचय हो गया था किंतु तस्वीरों के इस जगत् में वह किसी प्रकार भी अच्छी तरह प्रवेश नहीं कर पाता था। कल्पना द्वारा वह अपने मन में बहुत-कुछ जमा लेता किंतु उससे उसका मन किसी प्रकार तृप्त न होता।

तस्वीरों की पुस्तकों के प्रति तारापद का यह आग्रह देखकर एक दिन मतिलाल बाबू बोले, 'अंग्रेज़ी सीखोगे ? तब तुम इन सारी तस्वीरों का अर्थ समझ लोगे !'

तारापद ने तुरन्त कहा, 'सीखूँगा।'

मतिबाबू बड़े खुश हुए। उन्होंने गाँव के एंट्रेंस-स्कूल के हेडमास्टर रामरतन बाबू को प्रतिदिन संध्या-समय इस लड़के को अंग्रेज़ी पढ़ाने के लिए नियुक्त कर दिया।

पाँच

तारापद अपनी प्रखर स्मरण-शक्ति एवं अखण्ड मनोयोग के साथ अंग्रेज़ी शिक्षा में प्रवृत्त हुआ। मानो वह किसी नवीन दुर्गम राज्य में भ्रमण करने निकला हो, उसने पुराने जगत् के साथ कोई संपर्क न रखा ; मुहल्ले के लोग अब उसे न देख पाते ; जब वह संध्या के पहले निर्जन नदी-तट पर तेज़ी से टहलते-टहलते पाठ कंठस्थ करता, तब उसका उपासक बालक-संप्रदाय दूर से खिन्नचित्त होकर सम्भ्रमपूर्वक उसका निरीक्षण करता, उसके पाठ में बाधा डालने का साहस न कर पाता।

चारु भी आजकल उसे बहुत नहीं देख पाती थी। पहले तारापद अन्तःपुर में जाकर अन्नपूर्णा के स्नेह दृष्टि के सामने बैठकर भोजन करता था — किन्तु इसके कारण कभी-कभी देर हो जाती थी। इसीलिए उसने मतिबाबू से अनुरोध करके अपने भोजन की व्यवस्था बाहर ही करा ली। अन्नपूर्णा ने व्यथित होकर इस पर आपत्ति प्रकट की, किन्तु अध्ययन के प्रति बालक का उत्साह देखकर अत्यंत संतुष्ट होकर उन्होंने इस नयी व्यवस्था का अनुमोदन कर दिया।

तभी साहसा चारु भी ज़िद कर बैठी, मैं भी अंग्रेज़ी सीखूँगी। उसके माता-पिता ने अपनी कन्या के इस प्रस्ताव को पहले तो परिहास का विषय समझकर स्नेहमिश्रित हँसी उड़ायी—किन्तु कन्या ने इस प्रस्ताव के परिहास्य अंश को प्रचुर अश्रु-जल-धारा से तुरन्त पूर्ण रूप से धो डाला। अंत में इन स्नेह-दुर्बल निरुपाय अभिभावकों ने बालिका के प्रस्ताव को गंभीरता से स्वीकार कर लिया। तारापद के साथ-साथ चारु भी मास्टर से पढ़ने लग गयी।

किन्तु पढ़ना-लिखना इस अस्थिरचित्त बालिका के स्वभाव के विपरीत था। वह स्वयं तो

कुछ न सीख पायी, बस तारापद की पढ़ाई में विघ्न डालने लगी। वह पिछड़ जाती, पाठ कंठस्थ न करती। किन्तु फिर भी वह किसी भी प्रकार तारापद से पीछे रहना न चाहती। तारापद के उससे आगे निकलकर नया पाठ लेने पर वह बहुत रुष्ट होती, यहाँ तक की रोने-धोने से भी बाज़ न आती थी। तारापद के पुरानी पुस्तक समाप्त कर नयी पुस्तक खरीदने पर उसके लिए भी नयी पुस्तक खरीदनी पड़ती। तारापद छुट्टी के समय स्वयं कमरे में बैठकर लिखता और पाठ कंठस्थ करता, यह उस ईर्ष्या-परायणा बालिका से सहन न होता। वह छिपकर उसके लिखने की कापी मे स्याही उँडेल देती, कलम चुराकर रख देती, यहाँ तक कि किताब में जिसका अभ्यास करना होता उस अंश को फाड़ आती। तारापद बालिका की यह सारी धृष्टता आमोदपूर्वक सहता ; असह्य होने पर मारता, किन्तु किसी प्रकार भी उसका नियंत्रण नहीं कर सका।

दैवात् एक उपाय निकल आया। एक दिन बहुत खीझकर निरुपाय तारापद स्याही से रँगी अपनी लिखने की कापी फाड़-फेंककर गंभीर खिन्न मुद्रा में बैठा था; दरवाज़े के समीप खड़ी चारु ने सोचा आज मार पड़ेगी। किन्तु उसकी प्रत्याशा पूर्ण नहीं हुई। तारापद बिना कुछ कहे चुपचाप बैठा रहा। बालिका कमरे के भीतर-बाहर चक्कर काटने लगी। बारम्बार उसके इतने समीप से निकलती कि तारापद चाहता तो अनायास ही उसकी पीठ पर एक थप्पड़ जमा सकता था। किन्तु वह वैसा न करके गम्भीर ही बना रहा। बालिका बड़ी मुश्किल मे पड़ गयी। किस प्रकार क्षमा-प्रार्थना करनी होती है, उस विद्या का उसने कभी अभ्यास न किया था, अतएव उसका अनुतप्त क्षुद्र हृदय अपने सहपाठी से क्षमा-याचना करने के लिए अत्यन्त कातर हो उठा। अंत में कोई उपाय न देखकर फटी हुई लेख-पुस्तिका का टुकड़ा लेकर तारापद के पास बैठकर खूब बड़े-बड़े अक्षरों मे लिखा, 'मैं फिर कभी किताब पर स्याही नहीं फैलाऊँगी।' लिखना समाप्त करके वह उस लेख की ओर तारापद का ध्यान आकर्षित करने के लिए अनेक प्रकार की चंचलता प्रदर्शित करने लगी। यह देखकर तारापद हँसी न रोक सका — वह हँस पड़ा। इस पर बालिका लज्जा और क्रोध से अधीर होकर कमरे से भाग गयी। जिस काग़ज़ के टुकड़े पर उसने अपने हाथ से दीनता प्रकट की थी उसको अनन्त काल के लिए अनन्त जगत् से बिलकुल लोप कर पाती तो उसके हृदय का गहरा क्षोभ मिट सकता।

उधर संकुचित चित्त सोनामणि एक-दो-दिन अध्ययनशाला के बाहर घूम-फिरकर झाँककर चली गयी। सहेली चारुशशि के साथ सब बातों मे उसका विशेष बंधुत्व था, किन्तु तारापद के सम्बन्ध मे चारु को वह अत्यन्त भय और सन्देह से देखती। चारु जिस समय अन्तःपुर मे होती, उसी समय का पता लगाकर सोनामणि संकोच करती हुई तारापद के द्वार के पास आ खड़ी होती। तारापद किताब से मुँह उठाकर सस्नेह कहता, 'क्यों सोना ! क्या समाचार है ? मौसी कैसी है ?'

सोनामणि कहती, 'बहुत दिन से आये नहीं, माँ ने तुमको एक बार चलने के लिए कहा है। कमर में दर्द होने के कारण वे तुम्हें देखने नहीं आ सकतीं।'

इसी बीच शायद सहसा चारु आ उपस्थित होती। सोनामणि घबरा जाती, वह मानो छिपकर अपनी सहेली की सम्पत्ति चुराने आयी हो। चारु आवाज़ को सप्तम पर चढ़ाकर, भौंह चढ़ाकर, मुँह बनाकर कहती, 'ऐ सोना तू पढ़ने के समय हल्ला मचाने आती है, मैं अभी जाकर पिताजी से कह दूँगी।' मानो वह स्वयं तारापद की एक प्रवीण अभिभाविका हो ; उसके पढ़ने-लिखने में लेश-मात्र

भी बाधा न पड़े और मानो रात-दिन बस इसी पर उसकी दृष्टि रहती हो। किन्तु वह स्वयं किस अभिप्राय से असमय ही तारापद के पढ़ने के कमरे में आकर उपस्थित हुई थी, यह अन्तर्यामी से छिपा नहीं था और तारापद भी उसे अच्छी तरह जानता था। किन्तु बेचारी सोनामणि डरकर उसी क्षण हज़ारों झूठी कैफ़ियतें देती ; अंत में जब चारु घृणापूर्वक उसको मिथ्यावादिनी कहकर सम्बोधित करती तो वह लज्जित-शंकित-पराजित होकर व्यथित चित्त से लौट जाती। दयार्द्र तारापद उसको बुलाकर कहता, 'सोना, आज संध्या समय मैं तेरे घर आऊँगा, अच्छा !' चारु सर्पिणी के समान फुफकारती हुई उठकर कहती, 'हाँ, जाओगे ? तुम्हें पाठ तैयार नहीं करना है ? मै मास्टर साहब से कह दूँगी ?'

चारु की इस धमकी से न डरकर तारापद एक-दो-दिन संध्या के समय पुरोहितजी के घर गया था। तीसरी या चौथी बार चारु ने कोरी धमकी न देकर धीरे-धीरे एक बार बाहर से तारापद के कमरे के दरवाज़े की साँकल चढ़ाकर माँ के मसाले के बक्स का ताला लाकर लगा दिया। सारी संध्या तारापद को इसी बंदी अवस्था में रखकर भोजन के समय द्वार खोला। गुस्से के कारण तारापद कुछ बोला नहीं और बिना खाये चले जाने के तैयारी करने लगा। उस समय अनुतप्त व्याकुल बालिका हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बारम्बार कहने लगी, 'तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, फिर ऐसा नहीं करूँगी। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम खाकर जाना!' उससे भी जब तारापद वश मे न आया तो वह अधीर होकर रोने लगी ; संकट में पड़कर तारापद लौटकर भोजन करने बैठ गया।

चारु ने कितनी बार अकेले में प्रतिज्ञा की कि वह तारापद के साथ सद्व्यवहार करेगी, फिर कभी उसे एक क्षण के लिए भी परेशान न करेगी, किन्तु सोनामणि आदि अन्य पाँच जनों के बीच आ पड़ते ही न जाने कब कैसे उसका मिज़ाज बिगड़ जाता और वह किसी भी प्रकार आत्म-नियंत्रण न कर पाती। कुछ दिन जब ऊपर-ऊपर से वह भलमनसाहत बरतती तब किसी आगामी उत्कट-विप्लव के लिए तारापद सतर्कतापूर्वक प्रस्तुत हो जाता। आक्रमण हठात् किस कारण किस दिशा से होगा, कहा नहीं जा सकता था। उसके बाद प्रचण्ड तूफ़ान, तूफ़ान के बाद प्रचुर अश्रुवारि वर्षा, उसके बाद प्रसन्न स्निग्ध शान्ति।

छह

इस तरह लगभग दो वर्ष बीत गये। इतने लम्बे समय तक तारापद कभी किसी के पास बँधकर नहीं रहा। शायद पढ़ने-लिखने मे उसका मन एक अपूर्व आकर्षण में बँध गया था ; लगता है, वयोवृद्धि के साथ उसकी प्रकृति में भी परिवर्तन आरम्भ हो गया था और स्थिर बैठे रहकर संसार के सुख-स्वच्छंदता का भोग करने की ओर उसका मन लग रहा था ; कदाचित् उसकी सहपाठिनी बालिका का स्वाभाविक दौरात्म्य, चंचल सौंदर्य अलक्षित भाव से उसके हृदय पर बन्धन फैला रहा था।

इधर चारु की अवस्था ग्यारह पार कर गयी। मतिबाबू ने खोजकर अपनी पुत्री के विवाह के लिए दो-तीन अच्छे रिश्ते जुटाये। कन्या की अवस्था विवाह के योग्य हुई जानकर मतिबाबू ने उसका अंग्रेज़ी पढ़ना और बाहर निकलना बंद कर दिया। इस आकस्मिक अवरोध पर घर के भीतर चारु ने भारी आंदोलन उपस्थित कर दिया।

तब अन्नपूर्णा ने एक दिन मतिबाबू को बुलाकर कहा, 'पात्र के लिए तुम इतनी खोज क्यों करते फिर रहे हो ! तारापद लड़का तो अच्छा है। और तुम्हारी लड़की भी उसको पसन्द है।'

सुनकर मतिबाबू ने बड़ा विस्मय प्रकट किया। कहा,'भला यह कभी हो सकता है ? तारापद का कुल-शील कुछ भी तो ज्ञात नहीं है। मैं अपनी इकलौती लड़की को किसी अच्छे घर में देना चाहता हूँ।'

एक दिन रायडांगा के बाबुओं के घर से लोग लड़की देखने आये। वस्त्राभूषण पहनाकर चारु को बाहर लाने की चेष्टा की गयी। वह सोने के कमरे का द्वार बंद करके बैठ गयी — किसी प्रकार भी बाहर न निकली। मतिबाबू ने कमरे के बाहर से बहुत अनुनय की, बहुत फटकारा, किसी प्रकार भी कोई परिणाम न निकला। अन्त में बाहर आकर रायडांगा के दूतों से बहाना बनाकर कहना पड़ा कि एकाएक कन्या बहुत बीमार हो गयी है, आज दिखाई की रस्म नहीं हो सकेगी। उन्होंने सोचा, लड़की में शायद कोई दोष है इसी से इस चतुराई का सहारा लिया गया है।

तब मतिबाबू विचार करने लगे, तारापद लड़का देखने-सुनने में सब तरह से अच्छा है ; उसको मैं घर ही में रख सकूँगा, ऐसा होने से अपनी एकमात्र लड़की को पराये घर नहीं भेजना पड़ेगा। यह भी सोचा कि उनकी अशान्त अबाध्य लड़की का दुरान्तपना उनकी स्नेहपूर्ण आँखों को कितना ही क्षम्य प्रतीत हो ससुराल वाले सहन नहीं करेंगे।

फिर पति-पत्नी ने सोच-विचारकर तारापद के घर उसके कुल का हालचाल जानने के लिए आदमी भेजा। समाचार आया कि वंश तो अच्छा है, किन्तु दरिद्र है। तब मतिबाबू ने लड़के की माँ एवं भाई के पास विवाह का प्रस्ताव भेजा। उन्होंने आनन्द से उच्छ्वसित होकर सम्मति देने में मुहूर्त्त-भर की भी देर न की।

काँठालिया के मतिबाबू और अन्नपूर्णा विवाह के मुहूरत के बारे में विचार करने लगे, किन्तु स्वाभाविक गोपनताप्रिय सावधान मतिबाबू ने बात को गोपनीय रखा।

चारु को बंद न रखा जा सका। वह बीच-बीच में बर्गी[1] के हंगामे के समान तारापद के पढ़ने के कमरे में जा पहुँचती। कभी रोष, कभी प्रेम, कभी विराग के द्वारा उसके अध्ययन-क्रम की निभृत शान्ति को अकस्मात् तरंगित कर देती। उससे आजकल इस निर्लिप्त मुक्तस्वभाव ब्राह्मण के मन में बीच-बीच में कुछ समय के लिए विद्युत्स्पंदन के समान एक अपूर्व चाञ्चल्य का संचार हो जाता। जिस व्यक्ति का हल्का चित्त सर्वदा अक्षुण्ण अव्याहत भाव से काल-स्रोत की तरंग-शिखरी पर उतराकर सामने बह जाता वह आजकल प्रायः अन्यमनस्क होकर विचित्र दिवा-स्वप्न के जाल में उलझ जाता। वह प्रायः पढ़ना-लिखना छोड़कर मतिबाबू की लाइब्रेरी में प्रवेश करके तस्वीरों वाली पुस्तकों के पन्ने पलटता रहता ; उन तस्वीरों के मिश्रण से जिस कल्पना-लोक की रचना होती वह पहले की अपेक्षा बहुत स्वतंत्र और अधिक रंगीन था। चारु का विचित्र आचरण देखकर वह अब पहले के समान परिहास न कर पाता, ऊधम करने पर उसको मारने की बात मन में उदय भी न होती। अपने में यह गूढ़ परिवर्तन, यह आबद्ध-आसक्त भाव उसे अपने निकट एक नूतन स्वप्न समान लगन लगा

१. प्राचीन मराठा अश्वारोही लुटेरों का सैन्य दल।

श्रावण में विवाह का शुभ दिन निश्चित करके मतिबाबू ने तारापद की माँ और भाइयों को बुलावा भेजा। तारापद को यह नहीं बताया। कलकत्ता के फ़ौजी बैण्ड को पेशगी देने के लिए मुख्तार को आदेश दिया और सामान की सूची भेज दी।

आकाश में वर्षा के नये बादल आ गये। गाँव की नदी इतने दिन तक सूखी पड़ी थी ; बीच-बीच में केवल किसी-किसी गड्ढे मे ही पानी भरा रहता था ; छोटी-छोटी नौकाएँ उस पङ्किल जल में डूबी पड़ी थीं और नदी की सूखी धार में बैलगाड़ियों के आवागमन से गहरी लीकें खुद गयी थीं — ऐसे समय एक दिन पिता के घर से लौटी पार्वती के समान न जाने कहाँ से द्रुतगामिनी जल-धारा कलहास्य करती हुई गाँव के शून्य वक्ष पर उपस्थित हुई — नंगे बालक-बालिकाएँ किनारे आकर ऊँचे स्वर के साथ नृत्य करने लगे, मानो वे अतृप्त आनन्द से बारम्बार जल में कूद-कूदकर नदी को आलिंगन कर पकड़ने लगे हों, कुटी मे निवास करनेवाली अपनी परिचित प्रिय संगिनी को देखने के लिए बाहर निकल आयीं—शुष्क निर्जीव ग्राम मे न जाने कहाँ से आकर एक प्रबल विपुल प्राण-हिल्लोल ने प्रवेश किया। देश-विदेश से छोटी-बड़ी लदी हुई नौकाएं आने लगीं — बाज़ार का घाट संध्या समय विदेशी मल्लाहों के संगीत से ध्वनित हो उठा। दोनों किनारे के गाँव पूरे वर्ष अपने निभृत कोने मे अपनी साधारण गृहस्थी लिये एकाकी दिन बिताते है, वर्षा के समय बाहरी विशाल पृथ्वी विचित्र पण्योपहार लेकर गैरिक वर्ण जलरथ में बैठकर इन ग्राम-कन्याओं की खोज-खबर लेने आती है ;इस समय जगत् के साथ आत्मीयता के गर्व से कुछ दिन के लिए उनकी लघुता नष्ट हो जाती है, सब सचल, सजग और सजीव हो उठते है एवं मौन निस्तब्ध प्रदेश मे सुदूर राज्य की कलालापध्वनि आकर चारों दिशाओं को आंदोलित कर देती है।

इसी समय कुडूलकाटा मे नाग बाबुओं के इलाके मे विख्यात रथ-यात्रा का मेला लगा। ज्योत्स्ना-संध्या मे तारापद ने घाट पर जाकर देखा, कोई नौका-चरखी लिये, कोई यात्रा करनेवालों की मण्डली लिये, कोई बिक्री का सामान लिये प्रबल नवीन स्रोत की धारा में तेज़ी से मेले की ओर चली जा रही है; यात्रा का दल सांरगी के साथ गीत गा रहा है, और सम पर हा-हा-हा शब्द की ध्वनि हो उठती है ; पश्चिमी प्रदेश की नौका के मल्लाह केवल मृदंग और करताल लिये उन्मत्त-उत्साह मे बिना संगीत के खचमच शब्द मे आकाश को विदीर्ण कर रहे हैं — उद्दीपनों की सीमा नहीं थी। देखते-देखते पूर्व क्षितिज से सघन मेघराशि ने प्रकांड काला पाल तानकर आकाश के बीच मे खड़ा कर दिया, चाँद ढक गया — पूर्व की वायु वेग से बहने लगी, मेघ के पीछे मेघ दौड़ चले, नदी में जल कलकल हास्य से बढ़कर उमड़ने लगा — नदी-तीरवर्ती आन्दोलित वनश्रेणी में अंधकार पुञ्जीभृत हो उठा, मेढकों ने टर्राना शुरू कर दिया, झिल्ली की ध्वनि जैसे करांत लेकर अंधकार को चीरने लगी। सामने आज मानो समस्त जगत् की रथ-यात्रा हो, चक्र घूम रहा है, ध्वजा फहरा रही है, पृथ्वी काँप रही है, मेघ उड़ रहे हैं, वायु दौड़ रहा है, नदी बह रही है, नौका चल रही है, गान-स्वर गूँज रहे हैं। देखते-देखते गुरु गम्भीर ध्वनि में मेघ गरजने लगा, विद्युत् आकाश को चीर-चीरकर चकाचौंध उत्पन्न करने लगी, सुदूर अंधकार में से मूसलाधार वर्षा की गंध आने लगी। केवल नदी के एक किनारे पर एक ओर काँठालिया ग्राम अपनी कुटी के द्वार बन्द करके दिया बुझाकर चुपचाप सोने लगा।

दूसरे दिन तारापद की माता और भाई आकर काँठालिया में उतरे ; उसी दिन कलकत्ता से

विविध सामग्री से भरी तीन बड़ी नौकाएँ काँठालिया के ज़मींदार की कचहरी के घाट पर आकर लगीं एवं उसी दिन बहुत सवेरे सोनामणि कागज़ में थोड़ा अमावट एवं पत्ते के दोनें में कुछ अचार लेकर डरती-डरती तारापद के पढ़ने के कमरे के द्वार पर चुपचाप आ खड़ी हुई — किन्तु उस दिन तारापद नहीं दिखाई दिया। स्नेह-प्रेम-बन्धुत्व के षड्यंत्र-बंधन उसको चारों ओर से पूरी तरह से घेरें, इसके पहले ही वह ब्राह्मण-बालक समस्त ग्राम का हृदय चुराकर एकाएक वर्षा की मेघान्धकारपूर्ण रात्रि में आसक्ति-विहीन उदासीन जननी विश्वपृथिवी के पास चला गया।

९

दुराशा

एक

दार्जिलिंग जाकर देखा, मेघ और वर्षा से दसों दिशाएँ ढकी हुई हैं। घर से बाहर निकलने की इच्छा नहीं होती, घर मे रहने पर और भी अनिच्छा बढ़ती।

होटल मे सवेरे का नाश्ता समाप्त करके पैरों मे मोटे बूट एवं आपाद-मस्तक मैकिन्टोश पहनकर घूमने बाहर निकला। लगातार टिप्-टिप् करके वर्षा हो रही थी एवं सर्वत्र सघन मेघों की कुज्झटिका मे लगता था जैसे विधाता ने हिमालय पर्वत सहित समस्त विश्व-चित्र को रबर से घिस-घिसकर मिटा डालने की तैयारी की हो।

जनशून्य कैलकटा रोड पर एकाकी टहलते हुए सोच रहा था — अवलम्बनहीन मेघराज्य मे अब अच्छा नहीं लगता, शब्दस्पर्शरूपमयी विचित्रा धरतीमाता को फिर पाँच इन्द्रियों द्वारा पाँचो रूपों मे ग्रहण करने के लिए प्राण आकुल हो उठे।

तभी पास ही रमणी-कण्ठ की करुणा रोदन-गुञ्जन-ध्वनि सुनायी पड़ी। रोगशोकसंकुल संसार मे रोने की आवाज़ कोई विचित्र वस्तु नहीं है, अन्यत्र अन्य समय होता तो मुड़कर भी देखता या नही, सन्देह है, किन्तु उस असीम मेघराज्य मे उस रुदन ने सम्पूर्ण अदृश्य जगत् के एकमात्र रुदन की भाँति मेरे कानो मे आकर प्रवेश किया, वह तुच्छ प्रतीत नहीं हुआ।

शब्द के सहारे पास जाकर देखा, गैरिक-वस्त्र पहने एक नारी, जिसके सिर पर स्वर्णकपिश जटाभार चूड़ा के आकार मे बँधा हुआ था, मार्ग के किनारे शिलाखण्ड पर बैठी मृदुस्वर में क्रन्दन कर रही थी। वह सद्यशोक का विलाप नहीं था, बहुत दिनो की सञ्चित नि:शब्द श्रान्ति और अवसाद आज मेघान्धकार निर्जनता के भार मे फूटकर उच्छ्वसित हो पड़े थे।

मन-ही-मन सोचा, यह अच्छा रहा, आरम्भ मानो घर मे गढ़ी हुई कहानी की ही भाँति हुआ हो, पर्वत-शिखर पर संन्यासिनी बैठी रो रही हो — यह कभी चर्मचक्षुओं से देखूँगा, इसकी कभी आशा नहीं की थी।

लड़की किस जात की थी, तय नहीं कर पाया। आर्द्र हिन्दी भाषा मे पूछा, 'तुम कौन हो! तुम्हे क्या हुआ है ?'

पहले उत्तर नहीं दिया, बादलों के बीच सजल दीप्त नेत्रों से मुझे एक बार देख लिया।

मैंने फिर कहा, 'मुझसे डरना मत। मै भला आदमी हूँ।'

सुनकर हँसती हुई वह ठेठ हिन्दुस्तानी मे बोली, 'बहुत दिन मे डर-भय सब घोलकर पिये बैठी हूँ, कोई लज्जा-शर्म नहीं है। बाबू जी, एक ज़माना था कि मै जिस ज़नानखाने मे थी वहाँ मेरे

सहोदर भाई को भी प्रवेश करने के लिए अनुमति लेनी पड़ती थी, आज दुनिया में किसी से मेरा कोई पर्दा नहीं।'

पहले तो थोड़ा क्रोध आया ; मेरा चाल-चलन पूरा साहबी था, किन्तु यह हतभागिनी बिना किसी द्विविधा के मुझे बाबूजी कहकर क्यों संबोधित कर रही है? सोचा, अपना उपन्यास यहीं समाप्त कर के सिगरेट का धुआँ उड़ाता हुआ नाक ऊँची किये साहबियत की रेलगाड़ी की भाँति सशब्द सवेग सदर्प चल पड़ूँ। पर अन्त में कौतूहल की विजय हुई। मैंने कुछ बड़प्पन का भाव दिखाते हुए टेढ़ी गर्दन करके पूछा, 'तुम्हारी कुछ सहायता कर सकता हूँ ? तुम्हारी कोई प्रार्थना है ?'

उसने स्थिर भाव से मेरे मुख की ओर निहारा और क्षण-भर बाद संक्षेप में उत्तर दिया, 'मैं बन्द्राओन के नवाब गुलाम क़ादिर खाँ की बेटी हूँ।'

बन्द्राओन किस देश में है और नवाब गुलाम क़ादिर खाँ कौन है और उनकी पुत्री किस दुःख से संन्यासिनी के वेश में दार्जिलिंग की कैलकाटा रोड के किनारे बैठी रो रही थी — मैं इसका कोई सिर-पैर न जानता था, न विश्वास ही करता था, किन्तु सोचा कि रस-भंग नहीं करूँगा, कहानी खूब जम रही है।

तत्क्षण अपना चेहरा अत्यन्त गंभीर बनाकर लम्बा सलाम करते हुए बोला, 'बीवी साहिबा, गुस्ताख़ी माफ़, मैं पहचान न सका।'

न पहचान सकने के युक्तिसंगत कारण थे। उनमें सर्वप्रधान कारण था, उनको पहले कभी देखा ही न था, तिस पर से कोहरा ऐसा घना था कि हाथ-को-हाथ नहीं सूझता था।

बीवी साहिबा ने भी मेरे अपराध पर ध्यान न दिया और सन्तुष्ट स्वर में दाहिने हाथ के इशारे से एक अलग शिला-खण्ड का निर्देश करते हुए मुझे अनुमति दी, 'बैठिए !'

देखा, रमणी में आदेश देने की क्षमता है। मैंने उससे उस भीगे शैवाल से ढके कठोर असमतल शिखा-खण्ड के नीचे आसन ग्रहण करने की सम्मति पाकर एक अप्रत्याशित सम्मान प्राप्त किया। बन्द्राओन के गुलाम क़ादिर खाँ की पुत्री नूरन्निसा या मेहरुन्निसा या नूर-उल्-मुल्क ने मुझे दार्जिलिंग की कैलकाटा रोड के किनारे अपने पास अति उच्च पङ्किल आसन पर बैठने का अधिकार दिया। होटल में मैकिन्टोश पहनकर निकलते समय ऐसी सुमहत् संभावना की मुझे स्वप्न में भी आशा न थी।

हिमालय के वक्ष पर शिला-तले एकांत में पथिक नर-नारी की रहस्यालाप कहानी सुनने में सहसा सद्यः प्रणीत कदुष्ण काव्य-कथा की भाँति लगती है, पाठकों के हृदय मे दूरागत निर्जन गिरिकन्दरा की निर्झरप्रपातध्वनि एवं कालिदासरचित मेघदूत, कुमारसंभव के विचित्र संगीत की मर्मर ध्वनि जाग्रत हो जाती है, तथपि यह बात सबको स्वीकार करनी पड़ेगी कि बूट और मैकिन्टोश पहने कैलकाटा रोड के किनारे कर्दमासन पर एक दीनवेशधारिणी ग़ैरबंगाली, रमणी के साथ एक जगह बैठकर पूरं आत्म-गौरव का अक्षुण्ण भाव से अनुभव कर सकें, ऐसे आधुनिक बंगाली बहुत ही कम होंगे। किन्तु उस दिन दसों दिशाएँ सघन कोहरे से ढकी हुई थीं, अतः दुनिया की आँखों से शरमाने की कोई बात नहीं थी। अनन्त मेघराज्य मे केवल बन्द्राओन के नवाब गुलाम क़ादिर खाँ की पुत्री और मैं — एक नवविकसित बंगाली साहब — दोनों जने पत्थरों के ऊपर प्रलय के अन्त में बचे दो विश्व-खण्डों के समान थे ; इस विसदृश सम्मेलन का गूढ़ परिहास केवल हमारे भाग्य को ज्ञात था और किसी को नहीं।

मैंने कहा, ' बीवी साहिबा, आपका यह हाल किसने किया ?'

बन्द्राओनकुमारी ने अपना सिर ठोक लिया। बोली, 'यह सब कौन कराता है, सो मैं क्या जानूँ ! इतने बड़े प्रस्तरमय कठिन हिमालय को साधारण भाप के मेघों में किसने छिपा दिया है !'

मैंने किसी प्रकार का दार्शनिक तर्क उठाये बिना ही सब स्वीकार कर लिया। बोला, 'सो तो है, अदृष्ट के रहस्य को कौन जाने ! हम तो बस कीड़े-मकोड़े हैं।'

मैं तर्क करता, बीवी साहिबा को इतनी आसानी से छुट्टी न दे देता, किन्तु मेरी भाषा में सामर्थ्य न थी। दरबान और खानसामाओं के सम्पर्क से हिन्दी का जो अभ्यास हुआ था उससे कैलकाटा रोड के किनारे बैठकर बन्द्राओन अथवा अन्य किसी स्थान की किसी नवाबज़ादी के अदृष्टवाद अथवा स्वाधीन इच्छावाद के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से आलोचना करना मेरे लिए असम्भव ही होता।

बीवी साहिबा ने कहा, 'मेरे जीवन की अद्‌भुत कहानी आज ही समाप्त हुई है, यदि फ़रमाइश करें तो सुनाऊँ !'

मैंने अधीर होकर कहा, 'आश्चर्य है ! फ़रमाइश कैसी ! यदि आप अनुग्रह करे तो सुनकर श्रवण सार्थक होंगे।'

कोई यह न सोचे, मैंने ठीक ये ही बाते इसी प्रकार हिन्दुस्तानी भाषा मे कही थीं, कहने की इच्छा तो थी, किन्तु सामर्थ्य नहीं थी। बीवी साहिबा जब बात कर रही थीं तब मुझे लग रहा था मानो शिशिर-स्नात स्वर्णशीर्ष स्निग्धश्यामल शस्यक्षेत्र के ऊपर प्रभात की मन्दमधुर वायु लहरा रही हो, उनके शब्द-शब्द मे कैसी सहज नम्रता, कैसा सौन्दर्य, वाक्यों का कैसा अविच्छिन्न प्रवाह था ! और मै अत्यन्त संक्षेप मे टूटे-फूटे ढंग से किसी बर्बर की तरह सीधा-सादा उत्तर दे रहा था। भाषा की वैसी सुसम्पूर्ण अविच्छिन्न सहज शिष्टता मैंने कभी जानी ही नहीं थी। बीवी साहिबा से बात करते समय ही मैंने पहली बार पग-पग पर अपने आचरण की दीनता अनुभव की।

वे बोलीं 'मेरे पितृ-कुल में दिल्ली के सम्राट्-वंश का रक्त प्रवाहित था, उसी कुल-गौरव की रक्षा के विचार से मेरे लिए उपयुक्त पात्र मिलना दुःसाध्य हो गया था। लखनऊ के नवाब से साथ मेरे विवाह का प्रस्ताव आया था, पिता इधर-उधर कर रहे थे, तभी दाँत से कारतूस काटने की बात पर सिपाहियों के साथ सरकार बहादुर की लडाई छिड़ गयी। तोपो के धुएं से हिन्दुस्तान मे अँधेरा छा गया।'

स्त्री के कण्ठ से, विशेषकर सम्भ्रांत महिला के मुख से हिन्दुस्तानी कभी नहीं सुनी थी, सुनकर स्पष्ट समझ गया कि यह भाषा अमीरों की भाषा है — यह जिन दिनों की भाषा थी वे दिन आज नहीं रहे, आज रेलवे-टेलिग्राफ़ कामों की भीड़ और आभिजात्य के लोप के कारण सभी मानो तुच्छ, विकलांग और श्रीहीन हो गया है। नवाबज़ादी की बोली सुनते ही उस अंग्रेज़-रचित आधुनिक शैलनगरी दार्जिलिंग के सघन कुज्झटिका-जाल मे मेरे मन के नेत्रों के सामने मुग़ल-सम्राटों की मानसपुरी मानो जादू के बल से साकार हो उठी — सफ़ेद पत्थरों के बने बड़े-बड़े अभ्रभेदी प्रासादों की श्रेणी, मार्ग मे लम्बी पूँछ वाले घोड़ों की पीठ पर सजी मसनदें, हाथियों की पीठ पर सोने की झालर से सजे हौदे, पुरवासियों के सिरों पर नाना वर्णों के उष्णीष, ऊन के, रेशम के, मलमल के ढीले-ढाले कुरते-पायजामे, कमरबंदों मे बाँकी तलवारें, ज़रीदार जूतों की मुड़ी हुई नोकें, पर्याप्त अवकाश, लम्बी पोशाक और अत्यधिक शिष्टाचार।

नवाबज़ादी ने कहा, 'हमारा क़िला यमुना के किनारे था। हमारी फ़ौज का सेनापति एक हिन्दू ब्राह्मण था। उसका नाम था केशरलाल।'

रमणी ने इस केशरलाल शब्द पर अपने नारी-कण्ठ का समस्त संगीत मानो एक ही क्षण में पूरा-का-पूरा उँडेल दिया हो। मैं धरती पर छड़ी टेककर हिल डुलकर उकड़ूँ होकर बैठ गया।

'केशरलाल कट्टर हिन्दू था। मैं प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर अन्तःपुर के गवाक्ष से देखती, केशरलाल यमुना-जल में आवक्ष निमग्न होकर प्रदक्षिणा करते हुए हाथ जोड़कर ऊर्ध्वमुख हो नवोदित सूर्य को अंजलि प्रदान करता। फिर गीले कपड़े पहने घाट पर बैठकर एकाग्रचित्त से जप समाप्त कर स्पष्ट कण्ठ से भैरवराग में भजन गाता हुआ घर लौटता।

मैं मुसलमान बालिका थी, किन्तु कभी स्वधर्म की चर्चा नहीं सुनी थी और स्वधर्मानुसार उपासना-विधि भी नहीं जानती थी ; उन दिनों विलास, मद्य-पान और स्वेच्छाचार के कारण हमारे पुरुषों का धर्म-बन्धन शिथिल हो गया था एवं अन्तःपुर के प्रमोद-भवनों में भी धर्म सजीव नहीं था।

कदाचित् विधाता ने मुझे स्वाभाविक रूप से धर्म-पिपासा प्रदान की थी। अथवा कोई और गूढ़ कारण था या नहीं, मैं नहीं कह सकती, किन्तु प्रतिदिन प्रशान्त प्रभात में नवोन्मेषित अरुणालोक में निस्तरंग नील यमुना के निर्जन श्वेत सोपान-तट पर केशरलाल की पूजार्चना के दृश्य से मेरा सद्यसुप्तोत्थित अन्तःकरण एक अव्यक्त भक्ति-माधुर्य से परिप्लावित हो जाता।

नियम-संयत शुद्धाचार वाले ब्राह्मण केशरलाल का गौरवर्ण, जीवंत, सुन्दर देह धूम-रहित ज्योति-शिखा के समान प्रतीत होती ; ब्राह्मण का पुण्य-माहात्म्य इस मुसलमान बालिका के अविकसित हृदय को अपूर्व श्रद्धाभाव से विनम्र कर देता।

मेरी एक हिन्दू बाँदी थी, वह प्रतिदिन प्रणाम करके केशरलाल की पद-धूलि ले आती, देखकर मुझे आनंद भी होता, ईर्ष्या भी होती। क्रिया-कर्म और पर्वों के अवसर पर यह वन्दिनी बीच-बीच में ब्राह्मण-भोजन कराकर दक्षिणा दिया करती। मैं अपनी ओर से उसे आर्थिक सहायता देकर कहती, 'तू केशरलाल को नहीं न्यौतेगी ?' वह जीभ काटकर कहती, 'केशरलाल जी किसी का अन्न या दान ग्रहण नहीं करते।'

इस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में केशरलाल को भक्ति-भाव न दिखा सकने के कारण मेरा चित्त जैसे क्षुब्ध क्षुधातुर बना रहता।

हमारे पूर्वपुरुषों में किसी ने बलपूर्वक एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया था, मैं अन्तःपुर के कोने में बैठकर अपनी धमनियों में उसीके पुण्यरक्त के प्रवाह का अनुभव करती और उसी रक्त-सूत्र द्वारा केशरलाल के साथ एक ऐक्य सम्बन्ध की कल्पना करके थोड़ी-बहुत तृप्ति का अनुभव करती।

अपनी हिन्दू दासी से मैं हिन्दू-धर्म के समस्त आचार-व्यवहार, देवी-देवताओं की सारी आश्चर्यजनक कथाएँ, रामायण-महाभारत का सारा अपूर्व इतिहास विस्तार से सुनती ; सुनकर उस अन्तःपुर के एक भाग में बैठे-बैठे हिन्दू-जगत् का एक अतुलनीय दृश्य मेरे मन में उद्घाटित हो जाता। मूर्ति-प्रतिमाएँ, शंख-घंटाध्वनि, स्वर्ण-शिखर-मंडित देवालय, धूप का धुआँ, अगर-चन्दन-मिश्रित पुष्पराशि की सुगन्ध, योगी-संन्यासियों की अलौकिक क्षमता, ब्राह्मणों का अलौकिक माहात्म्य, मनुष्य के छद्म-वेश में देवताओं की विचित्र लीला, सब मिलकर मेरे लिए एक अत्यन्त प्राचीन, अति विस्तृत, अति सुदूर अप्राकृत मायालोक का सृजन कर देते, मेरा चित्त मानो कोटर-वंचित क्षुद्र पक्षी की भाँति सन्ध्या के समय किसी विशाल प्राचीन प्रासाद के कक्ष-कक्ष में उड़ता-डोलता। हिन्दू-जगत् मेरे बालिका हृदय के लिए एक परमरमणीय परी-देश का राज्य था।

तभी कम्पनी बहादुर के साथ सिपाहियों की लड़ाई छिड़ गयी। हमारे बन्द्राओन के छोटे-से क़िले में भी विप्लव की तरंग जाग उठी।

केशरलाल बोला, 'अब गो-भक्षक गोरे लोगों को आर्यावर्त से दूर भगाकर एक बार फिर हिन्दुस्तान में राजपद के लिए हिन्दू-मुसलमानों में जुए की बाज़ी जमानी पड़ेगी।'

मेरे पिता गुलाम क़ादिर खाँ बड़े सयाने थे। उन्होंने अंग्रेज़ जाति को किसी एक विशेष सम्बन्ध-सूचक सम्बोधन से अभिहित करके कहा, 'वे असम्भव को सम्भव कर सकते हैं, हिन्दुस्तान के लोग उनसे पार नहीं पा सकेंगे। ! मैं किसी अनिश्चित प्रत्याशा में अपना यह छोटा-सा क़िला खोना नहीं चाहता, मैं कम्पनी बहादुर से नहीं लड़ूँगा।'

जिस समय सारे हिन्दुस्तान के समस्त हिन्दू-मुसलमानों का खून खौल उठा था, उस समय मेरे पिता की वणिक् की-सी इस सतर्कता के प्रति हम सभी के मन में धिक्कार का भाव आ गया। मेरी बेगम-माताएँ तक हिल गयीं।

तभी फ़ौज लिये सशस्त्र केशरलाल आकर मेरे पिता से बोले, 'नवाब साहिब, यदि आप हमारे पक्ष में योग नहीं देंगे तो जब तक लड़ाई चलेगी तब तक आपको बन्दी बनाकर आपके क़िले का आधिपत्य-भार मैं ग्रहण करूँगा।' पिता बोले, 'इस सब हंगामे की कोई ज़रूरत नहीं है, मैं तुम्हारे पक्ष में रहूँगा।' केशरलाल बोले, 'ख़ज़ाने में से कुछ धन निकालना है।'

पिता ने विशेष कुछ नहीं दिया, कहा, 'जब जितना चाहिए मैं दे दूँगा।'

चोटी से लेकर पैरों की अँगुलियों तक मेरे अंग-प्रत्यंग में जितने आभूषण थे, मैंने सब कपड़े में बाँधकर अपनी हिन्दू-दासी द्वारा छिपाकर केशरलाल के पास भेज दिये। उन्होंने स्वीकार कर लिया। आनन्द से आभूषण-विहीन मेरा अंग-प्रत्यंग पुलकित-रोमाञ्चित हो उठा।

केशरलाल जंगखाई बन्दूकों की नलियों और पुरानी तलवारों को माँज-घिसकर साफ़ करने लगे, तभी अचानक एक दिन तीसरे पहर ज़िले के कमिश्नर साहब ने लालकुर्ती गोरों के साथ आकाश में धूल उड़ाते हमारे क़िले में आकर प्रवेश किया।

मेरे पिता गुलाम क़ादिर खाँ ने चुपचाप उनको विद्रोह का समाचार दे दिया था।

बन्द्राओन की फ़ौज के ऊपर केशरलाल का ऐसा अलौकिकआधिपत्य था कि उसकी आज्ञा से वे टूटी बन्दूकें और भोथरी तलवारें लेकर मरने के लिए प्रस्तुत हो गये।

विश्वासघाती पिता का घर मुझे नरक के समान प्रतीत हुआ। क्षोभ, लज्जा, दुःख, घृणा से छाती फटने लगी, तो भी आँखों से एक बूँद जल नहीं निकला। मैं अपने भीरु भाई की पोशाक पहनकर छद्मवेश में अन्तःपुर से बाहर निकल गयी, किसी को तब यह सब देखने की फ़ुरसत नहीं थी।

उस समय धूल और बारूद का धुआँ, सैनिकों का आर्त्तनाद एवं बन्दूक़ों का शब्द थम चुका था और मृत्यु की भीषण शान्ति ने जल-स्थल और आकाश को आच्छन्न कर लिया था। यमुना के जल को लाल रक्त से रँगकर सूर्य अस्त हो गया था, संध्याकाश में शुक्लपक्ष का पूर्णप्राय चन्द्रमा दिख रहा था।

मृत्यु के विकट दृश्य से रण-क्षेत्र पटा पड़ा था। और कोई समय होता तो करुणा से मेरा वक्षःस्थल व्यथित हो उठता, किन्तु उस दिन स्वप्नाभिभूत की भाँति मैं केशरलाल को ख्रोजती चक्कर काटती फिर रही थी, बस उस लक्ष्य के अतिरिक्त और सब मुझे अवास्तविक प्रतीत हो रहा था।

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आधी रात को उज्ज्वल चन्द्रालोक में देखा, रण-क्षेत्र से थोड़ी दूर पर यमुना

के किनारे आम्र-वन की छाया में केशरलाल और उनके भक्त भृत्य देवकीनन्दन की मृत देह पड़ी है। मैं समझ गयी कि भयानक आहत अवस्था में या तो स्वामी ने सेवक को या सेवक ने स्वामी को रण-क्षेत्र से इस निरापद स्थान में ले आकर शान्तिपूर्वक मृत्यु के हाथों आत्म-समर्पण किया होगा।

पहले तो मैंने अपनी बहुत दिनों की भूखी भक्ति-भावना को चरितार्थ किया। केशरलाल के पैरों पर लेटकर अपना आजानुदीर्घ केश-जाल खोलकर बारंबार उनके पैरों की धूल पोंछी। अपने उत्तप्त ललाट से उसके हिमशीतल चरणकमल लगाये, उनके चरणों का चुम्बन करते ही मेरी बहुत दिनों की रुकी हुई अश्रु-राशि फूट पड़ी।

तभी केशरलाल की देह हिली, और अचानक उनके मुख से वेदना का अस्फुट आर्त्त-स्वर सुनकर मैं उनके चरणतल छोड़कर चौंक उठी। मैंने सुना, आखें बंद किये हुए शुष्क कंठ से एक बार उन्होंने कहा, 'पानी।'

मैं तत्क्षण दौड़ी-दौड़ी गयी और अपने तन के कपड़े को यमुना के जल में भिगो लायी। कपड़े को निचोड़कर केशरलाल के खुले ओष्ठाधरों में पानी डालने लगी, और बायीं आँख को फोड़ता हुआ उनके माथे में जहाँ भयंकर आघात लगा था उस पर अपने कपड़े का गीला छोर फाड़कर बाँध दिया।

इसी तरह कई बार यमुना का जल लाकर उनके मुख, नेत्रों को सींचने के बाद, धीरे-धीरे उनमें चेतना का संचार हुआ। मैंने पूछा, 'और पानी डालूँ !,' केशरलाल ने कहा, 'तुम कौन हो ? , मैं अब और न रह सको, बोली, 'आपकी अदीना भक्त सेविका। मैं नवाब गुलाम क़ादिर ख़ाँ की बेटी हूँ।' मैंने सोचा था , आसन्न मृत्यु के समय केशरलाल अपने भक्त का आखिरी परिचय साथ लेते जायें, इस सुख से मुझे कोई वंचित नहीं कर सकता।

मेरा परिचय पाते ही केशरलाल सिंह के समान गरजकर बोले, 'बेईमान की बेटी, विधर्मी ! मृत्यु की घड़ी में यवन के हाथ का जल देकर तूने मेरा धर्म नष्ट कर डाला।' इतना कहकर उन्होंने बड़े ज़ोर से मेरे गाल पर दाहिने हाथ से तमाचा मारा ; मैं मूर्छित-सी हो गयी, मेरे नेत्रों के सामने अंधकार छा गया।

उस समय मैं षोडशी थी, उसी दिन पहली बार अन्तःपुर से बाहर निकली थी, अभी बाहर के आकाश की लुब्ध, तप्त सूर्य-किरणों ने मेरे सुकुमार कपोलों की रक्तवर्ण लावण्यविभा का अपहरण नहीं किया था, उस बहिर्जगत् में पैर रखते ही जगत् से, अपने जगत् के देवता से यह प्रथम संबोधन प्राप्त हुआ।

मैं सिगरेट बुझाये मोह-मुग्ध चित्र-लिखित के समान बैठा हुआ था। कहानी सुन रहा था, या शब्द सुन रहा था, या संगीत सुन रहा था, पता नहीं, मेरे मुँह से कोई बात न निकली। अब मैं और न रह सका, सहसा बोल उठा, 'जानवर !'

नवाबज़ादी ने कहा, 'जानवर कौन ? जानवर क्या मृत्यु की यंत्रणा के समय ओठों तक आये जल-बिन्दु का परित्याग करता है?'

मैंने अप्रतिभ होकर कहा, 'सही कहा आपने। वह देवता था।'

नवाबज़ादी ने कहा, 'कैसा देवता ! क्या देवता एकाग्रचित्त भक्त की सेवा का प्रत्याख्यान कर सकता है?'

मैं बोला, 'यह भी सही है।' कहकर चुप हो गया।

नवाबज़ादी कहने लगी, 'पहले तो मुझे बड़ा बुरा लगा। लगा कि सारा विश्व अचानक

चूर-चूर होकर मेरे सिर पर टूट पड़ा है। क्षण-भर बाद सँभलकर उस कठोर, कठिन, निष्ठुर, निर्विकार, पवित्र ब्राह्मण के चरणों में दूर से प्रणाम किया, मन-ही-मन कहा, 'हे ब्राह्मण ! तुम दीनों की सेवा, दूसरों का अन्न, धनी का दान, युवती का यौवन और रमणी का प्रेम कुछ भी ग्रहण नहीं करते ! तुम स्वतंत्र, एकाकी, निर्लिप्त, सूदूर हो, तुम्हारे प्रति आत्म-समर्पण करने का भी मुझे अधिकार नहीं है।''

'नवाव की बेटी को धरती पर मस्तक टेककर प्रणाम करते देखकर केशरलाल ने क्या सोचा, नहीं कह सकती, किन्तु उसके चेहरे से विस्मय अथवा किसी अन्य भाव-परिवर्तन का परिचय नहीं मिला। शान्त भाव से एक बार मेरे मुँह की ओर देखा, उसके बाद धीरे-धीरे उठा। मैंने चौंककर सहारा देने के लिए अपना हाथ बढ़ाया, उसने बिना बोले उसका प्रत्याख्यान किया और बड़े कष्ट से यमुना के ¯¯ पर जा पहुँचा। वहाँ पार जाने वाली एक नौका बँधी हुई थी। पार उतरने के लिए भी कोई नहीं था, पार उतारने वाला भी कोई नहीं था। उस नौका पर चढ़कर केशरलाल ने बंधन खोल दिया, देखते-देखते नौका बीच धार में जाकर धीरे-धीरे अदृश्य हो गयी—मेरी इच्छा हुई कि समस्त हृदयभार, समस्त यौवनभार, समस्त अनादृत भक्ति-भार लेकर उस अदृश्य नौका की ओर हाथ जोड़कर उस निस्तब्ध आधी रात में, उस चन्द्रालोक-पुलकित निस्तरंग यमुना में अकालवृन्तच्युत पुष्प-मंजरी के समान इस व्यर्थ जीवन को विसर्जित कर दूँ।

'किन्तु कर नहीं सकी। आकाश में चन्द्र, यमुना-पार की घनकृष्ण वनरेखा, कालिन्दी की गाढ़ी नीली निष्कम्प जलराशि, दूर आम्रवन के ऊपर चमकता हमारे ज्योत्स्नाचिक्कन क़िले का शिखर भाग, सबने निःशब्द-गम्भीर एकतान से मृत्यु का गीत गाया, उस अर्ध-रात्रि में ग्रहचन्द्रताराखचित निस्तब्ध तीनों भुवनों ने मुझसे एक स्वर मे मरने के लिए कहा। केवल वीचिभंगविहीन प्रशान्त यमुना के वक्ष पर उतराती हुई एक अदृश्य जीर्ण नौका मुझे उस ज्योत्स्ना रजनी के सौम्य-सुन्दर शान्त-शीतल अनन्त भुवनमोहन मृत्यु के फैले आलिंगन-बन्धन से छुड़ाकर जीवन के पथ पर खींच ले चली। मैं मोहस्वप्नाभिभूत के समान यमुना के किनारे-किनारे कभी कॉस-वन में, कभी मरु-बालुका पर, कभी असमतल विदीर्ण तट पर, कभी सघन गुल्म के दुर्गम वन-खण्ड में भटकती हुई चलने लगी।'

यहाँ वक्ता चुप हो गया। मैंने भी कोई बात नहीं कही।

कुछ देर बाद नवाब-दुहिता ने कहा, 'इसके बाद की घटनावली बहुत जटिल है। मैं नहीं जानती कैसे उसका विश्लेषण करके स्पष्ट रूप से कहूँ। एक गहन अरण्य में होकर यात्रा की, ठीक किस रास्ते होकर कब गयी, इसे क्या फिर ढूँढ़ निकाल सकती हूँ ? कहाँ आरम्भ करूँ, कहाँ समाप्त करूँ, क्या छोड़ूँ, क्या रखूँ, सम्पूर्ण कहानी को किस प्रकार ऐसा स्पष्ट प्रत्यक्षवत् बनाऊँ, जिसमें कुछ भी असम्भव और अस्वाभाविक न प्रतीत हो।

'किन्तु जीवन के इन थोड़े से दिनों में यह समझ गयी हूँ कि असाध्य-असम्भव कुछ भी नहीं है। नवाब के अन्तःपुर की बालिका के लिए बाहर का संसार नितान्त दुर्गम कहा जा सकता है, किन्तु यह कल्पना-मात्र है, एक बार बाहर निकल पड़ने पर चलने के लिए रास्ता मिल ही जाता है। वह रास्ता नवाबी रास्ता भले ही न हो, किन्तु रास्ता है, उस पथ पर मनुष्य चिरकाल से चलता आ रहा है — वह असमतल, विचित्र, सीमाहीन है, वह शाखा-प्रशाखाओं मे विभक्त है, सुख-दुख,बाधा, विघ्नों, के कारण वह जटिल है, किन्तु वह पथ ज़रूर है।

'इस सामान्य जन-जीवन के पथ पर एकाकिनी नवाब-दुहिता का लम्बा भ्रमण-वृत्तान्त सुख-श्राव्य नहीं होगा, हो तो भी वह पूरा वृत्तान्त सुनाने का मुझमें उत्साह नहीं है। एक शब्द में, दुःख-कष्ट, विपद्, अवमानना बहुत भुगतनी पड़ी तो भी जीवन असह्य नहीं हुआ। आतिशबाज़ी के समान जितनी जली उतनी ही उद्दाम गति प्राप्त की ; जितने समय वेग से चली, उतने समय जल रही थी ऐसा बोध नहीं हुआ, आज सहसा उस परम दुःख, उस चरम सुख की ज्योतिशिखा बुझने पर इस पथ की धूल के ऊपर जड़ पदार्थ की भाँति गिर पड़ी हूँ — आज मेरी यात्रा समाप्त हो गयी है, यहीं मेरी कहानी भी समाप्त होती है।'

यह कहकर नवाबपुत्री रुक गयी। मैंने मन-ही-मन गर्दन हिलायी, यहाँ तो किसी भी तरह समाप्त नहीं हो सकती। कुछ देर चुप रहकर टूटी-फूटी हिन्दी में बोला, 'बे-अदबी माफ़ कीजिएगा, अन्त की बात को थोड़ा और खुलासा कहें तो सेवक के मन की व्याकुलता बहुत-कुछ कम हो जायेगी।'

नवाबज़ादी हँसी। मैं समझा मेरी टूटी-फूटी हिन्दी का असर हुआ है। यदि मैं ठेठ हिन्दी में बात कर पाता तो मेरे प्रति उनका संकोच न मिटता, किंतु मैं उनकी मातृभाषा बहुत ही कम जानता था। वही हम दोनों के बीच बड़ा व्यवधान था, वही एक पर्दा था।

उन्होंने फिर आरम्भ किया, 'केशरलाल का समाचार मैं प्रायः पाती, किंतु किसी भी प्रकार उनसे मिलना नहीं हो सका। ताँतिया टोपे के दल में मिलकर उस विप्लवाच्छन्न आकाश में वे कभी पूर्व में, कभी पश्चिम में, कभी ईशान में, कभी नैऋति में वज्रपात के समान क्षण में टूटते, क्षण में अदृश्य हो जाते थे।

'उन दिनों मैं योगिनी बनकर काशी के शिवानन्द स्वामी को पिता के समान मानकर उनके पास संस्कृत-शास्त्र का अध्ययन कर रही थी। भारतवर्ष का सारा समाचार उनके चरणों में आता रहता, मैं भक्तिपूर्वक शास्त्राभ्यास करती और हार्दिक व्याकुलता के साथ युद्ध के समाचारों का संग्रह करती।

'धीरे-धीरे ब्रिटिशराज ने हिन्दुस्तान की विद्रोह-वह्नि को पैरों से कुचलकर बुझा दिया। तभी अचानक केशरलाल का समाचार मिलना बंद हो गया। प्रचण्ड प्रलयालोक की रक्त-रश्मियों में भारतवर्ष के सुदूर प्रान्तों की जो समस्त वीरमूर्तियाँ क्षण-क्षण में दिखाई दे रही थीं, वे सहसा अन्धकार में विलीन हो गयीं।

''मैं अब और नहीं रह सकी। गुरु का आश्रय छोड़कर भैरवी-वेश धारण करके फिर बाहर निकल पड़ी। नाना मार्गों, तीर्थों, मठ-मन्दिरों की यात्रा की, केशरलाल का कहीं कोई पता न मिला। दो-एक व्यक्तियों ने, जो उनका नाम जानते थे, कहा, 'वह कदाचित् युद्ध या राजदण्ड द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं।' पर मेरी अन्तरात्मा ने कहा, 'कभी नहीं, केशरलाल की मृत्यु नहीं हो सकती।' उस ब्राह्मण की वह दुःसह अग्नि-ज्योति कदापि नहीं बुझ सकती, मेरी आत्माहुति ग्रहण करने के लिए वह अभी तक किसी दुर्गम निर्जन यज्ञ-वेदी पर ऊर्ध्वशिखा के रूप में जल रही होगी।'

'हिन्दू-शास्त्रों में लिखा है कि ज्ञान के द्वारा, तपस्या के द्वारा शूद्र ब्राह्मण हो गये हैं, मुसलमान ब्राह्मण हो सकता है या नहीं, इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका एकमात्र कारण है, उस समय मुसलमान थे ही नहीं। मैं जानती थी कि केशरलाल के साथ मेरे मिलन में बहुत विलम्ब है, क्योंकि पहले मुझे ब्राह्मण होना पड़ेगा। एक-एक करके तीस वर्ष बीत गये। मै हृदय से, बाहर से, आचार से, व्यवहार से, तन-मन-वचन से ब्राह्मण हो गयी थी, मेरी उस ब्राह्मण पितामही का रक्त

निष्कलुष तेज से मेरे सर्वाङ्ग में प्रवाहित होने लग गया था। मैंने मन-ही-मन अपने उस यौवनारम्भ के प्रथम ब्राह्मण, अपनी यौवन-समाप्ति के अन्तिम ब्राह्मण, त्रिभुवन के अपने एकमात्र ब्राह्मण के चरणों में निस्संकोच भाव से अपने संपूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके एक अपूर्व दीप्ति प्राप्त कर ली थी।

'युद्ध-विप्लव के प्रसंग में केशरलाल के वीरत्व की अनेक बातें मैंने सुनीं, किंतु वे मेरे हृदय पर अंकित नहीं हुईं। बस एक वही चित्र जो मैंने देखा था, जिसमें निःशब्द ज्योत्स्नापूर्ण अर्धरात्रि में निस्तब्ध यमुना की बीच धार में एक छोटी नौका पर आरूढ़ हो एकाकी केशरलाल बहा जा रहा था। बस, वह मेरे मन में अंकित रह गया। मैं बस अहरह देखा करती, ब्राह्मण निर्जन स्रोत में पड़कर रात-दिन किसी अनिर्दिष्ट रहस्य की ओर दौड़ रहा है, उसका कोई संगी नहीं, कोई सेवक नहीं, उसे किसी की आवश्यकता नहीं, वह निर्मल आत्म-निमग्न पुरुष अपने-आप में सम्पूर्ण है, आकाश के ग्रह-चन्द्र-तारे उसका चुपचाप निरीक्षण करते हैं।

'इसी बीच समाचार मिला कि केशरलाल ने राजदण्ड से भागकर नेपाल में आश्रय लिया है। मैं नेपाल गयी। वहाँ बहुत समय रहने के बाद समाचार मिला कि बहुत समय हुआ केशरलाल नेपाल छोड़कर न जाने कहाँ चला गया।

उसके बाद से मैं पहाड़ों-पहाड़ भ्रमण कर रही हूँ। यह हिन्दुओं का देश नहीं है — यहाँ भोटिया, लेप्चा, म्लेच्छ हैं। इनके आहार-व्यवहार, आचार-विचार और इनके देवता, इनकी पूजार्चना-विधि सभी अलग हैं। बहुत दिनों की साधना के फलस्वरूप जो आज विशुद्ध शुचिता अर्जित की थी, मुझे भय हुआ कि कहीं उसमें कलंक न लग जाये। मैं बड़े यत्न से हर प्रकार के मलिन संस्पर्श से अपनी रक्षा करती चलने लगी। मैं जानती थी कि मेरी नौका किनारे आ लगी थी, अपने जीवन के चरमतीर्थ के पास।

'उसके बाद और क्या कहूँ ! बाकी बात तो बहुत थोड़ी है। दिया जब बुझता है तब एक लपक में ही बुझ जाता है, उस बात की और बढ़ाकर क्या व्याख्या करूँ ?

'अड़तीस वर्ष के बाद दार्जिलिंग में आकर आज प्रातःकाल केशरलाल को देखा ?'

यहाँ वक्ता को चुप होते देख मैंने उत्सुकतापूर्वक प्रश्न किया, 'क्या देखा ?'

नवाबज़ादी ने कहा, 'देखा वृद्ध केशरलाल भोटिया मुहल्ले में भोटिया स्त्री एवं उससे उत्पन्न पौत्र-पौत्री लेकर मैले कपड़े पहने, मैले आँगन में भुट्टों से अनाज निकाल रहा है।'

कहानी समाप्त हो गयी ; मैंने सोचा, सान्त्वना के कुछ शब्द कहना आवश्यक था। कहा, 'अड़तीस वर्ष तक लगातार जिसको प्राणों के भय से रात-दिन विजातियों के संपर्क में रहना पड़ा हो वह अपने आचार की रक्षा कैसे कर सकता है ?'

नवाबज़ादी ने कहा, 'मैं क्या यह नहीं समझती ? किन्तु इतने दिन मैं न जाने कौन-सा मोह लिये डोल रही थी ! जिस ब्राह्मणत्व ने मेरे किशोर हृदय को हर लिया था, मैं क्या जानती थी कि वह केवल अभ्यास या संस्कार था। मैं समझती थी वह धर्म, अनादि अनन्त था। यदि ऐसा न होता तो सोलह वर्ष की अवस्था में पहली बार पितृ-गृह से निकलकर उस ज्योत्स्नापूर्ण अर्धरात्रि में अपने विकसित, पुष्पित भक्तिवेगकम्पित देह-मन-प्राणों के समर्पण के बदले में ब्राह्मण के दाहिने हाथ से जो दुःसह अपमान प्राप्त हुआ, उसे गुरु के हाथों मिली दीक्षा के समान चुपचाप माथा झुकाकर द्विगुणित भक्ति-भाव से शिरोधार्य क्यों करती ? हाय रे ब्राह्मण! तुमने तो अपने अभ्यास के बदले में एक और अभ्यास ग्रहण कर लिया है, मैं अपने उस यौवन, उस जीवन के बदले में दूसरा जीवन, यौवन अब कहाँ पाऊँगी ?'

यह कहकर रमणी उठ खड़ी हुई, बोली, 'नमस्कार, बाबूजी !'

क्षण-भर बाद मानो संशोधन करके कहा, 'सलाम, बाबू साहब !' इस मुसलमान अभिवादन के द्वारा उसने मानो जर्जर धराशायी भग्न ब्राह्मण से अन्तिम विदाई ली। मेरे कुछ कहने के पहले ही वह उस हिमाद्रि-शिखर की धूसर कुज्झटिका-राशि में मेघ की भाँति विलीन हो गयी।

मैं क्षण-भर के लिए आँखें मूँदकर समस्त घटनावली को अपने मानसपट पर चित्रित देखने लगा। यमुना-तीर के गवाक्ष के पास मसनद लगे आसन पर सुखासीना षोडशी नवाब-बालिका को देखा, तीर्थ-मन्दिरों में संध्या-आरती के समय तपस्विनी की भक्ति-गद्‌गद् एकाग्र मूर्ति देखी, उसके बाद इस दार्जिलिंग की कैलकटा रोड के किनारे कुहेलिकाच्छन्न भग्न-हृदया भारकातर नैराश्यमूर्ति भी देखी, एक सुकुमार रमणी-देह में ब्राह्मण-मुसलमान रक्तों की तरंगों के विपरीत संघर्ष से उत्पन्न विचित्र व्याकुल संगीत की ध्वनि सुन्दर सम्पूर्ण उर्दू भाषा में विगलित होकर मेरे मस्तिष्क में स्पन्दित होने लगी।

आँखें खोलकर देखा, बादल अचानक फट गये थे और स्निग्ध धूप से निर्मल आकाश झिलमिला रहा था। ठेलागाड़ी में अंग्रेज़ रमणियों और घोड़े की पीठ पर अंग्रेज़ पुरुषगण वायु-सेवन के लिए निकल पड़े थे, बीच-बीच में दो-एक बंगालियों के गुलूबन्द से लिपटे मुखमण्डल से मेरी ओर विनोदपूर्ण कृटाक्ष भी आ रहे थे। मैं तेज़ी से उठ खड़ा हुआ, इस सूर्यालोकित खुले जगत् के दृश्य में वह मेघाच्छन्न कहानी अब सत्य नहीं लग रही थी। मेरा विश्वास है कि मैंने पर्वत के कुहरे में अपनी सिगरेट का धुआँ, बड़ी मात्रा में मिश्रित करके कल्पनाखण्ड की रचना की थी — वह मुसलमान ब्राह्मणी, वह विप्रवीर, वह यमुना किनारे का क़िला शायद कुछ भी सत्य नहीं था।

१०

नष्टनीड़

एक

भूपति को काम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उनके पास ढेर सारे रुपये थे और बाज़ार भी गर्म था। किन्तु ग्रहों के प्रभाव से उन्होंने कामकाजी आदमी के रूप मे जन्म ग्रहण किया था। इसीलिए उनको एक अंग्रेज़ी समाचार-पत्र निकालना पड़ा। इसके बाद समय की दीर्घता के लिए उन्हें फिर कभी विलाप नहीं करना पड़ा।

बचपन से ही उनको अंग्रेज़ी में लिखने तथा वक्तृता देने का शौक़ था। किसी प्रकार का प्रयोजन न रहने पर भी अंग्रेज़ी अख़बार मे वे सम्पादक के नाम पत्र लिखते, और वक्तव्य न रहने पर भी सभाओं में दो-एक बात बोले बिना न रहते।

उनके समान धनी व्यक्ति को दल मे पाने के लिए राजनीतिक दलपतियों के निरन्तर वाह-वाह करते रहने के कारण अपनी अंग्रेज़ी लेखन-शक्ति के सम्बन्ध मे उनकी धारणा यथेष्ट परिपुष्ट हो गयी थी।

अंत में उनके साले वकील उमापति ने वकालत के व्यवसाय से हतोत्साहित होकर बहनोई से कहा, 'भूपति, तुम एक अंग्रेज़ी अख़बार निकालो ! तुम्हारा जिस प्रकार असाधारण. ....' इत्यादि।

भूपति उत्साहित हो उठे। दूसरे के अख़बार मे पत्र प्रकाशित करवाने में कोई गौरव नही है, अपने अख़बार मे स्वाधीन लेखनी को पूरे वेग से दौड़ा सकेंगे। साले को सहकारी बनाकर अत्यन्त छोटी अवस्था मे ही भूपति ने संपादक की गद्दी पर आसन जमाया।

छोटी अवस्था में सम्पादकी तथा राजनीति का नशा बहुत जोरों से चढ़ता है। भूपति को नचानेवाले लोग भी अनेक थे।

इस प्रकार वह जिन दिनों अख़बार को लेकर व्यस्त थे उन्हीं दिनों उनकी बालिका वधू चारुलता ने धीरे-धीरे यौवनावस्था मे पदार्पण किया। समाचार-पत्र के सम्पादक को इस बड़ी ख़बर का ठीक से पता न चला। भारत-सरकार की सीमान्त-नीति क्रमश स्फीत होकर मर्यादा का उल्लंघन करने जा रही है, यही उनका प्रधान लक्ष्य था।

धनी परिवार मे चारुलता को कोई काम न था। फलपरिणामरहित फूल के समान परिपूर्ण आवश्यकता के बीच प्रस्फुटित हो उठना ही उनके चेष्टाशून्य लम्बे रात-दिनों का एक मात्र काम था। उसे कोई अभाव न था।

ऐसी स्थिति का सुयोग पाने पर वधू पति के साथ अत्यन्त अति करती है, दाम्पत्य-लीला

की सीमान्त-नीति संसार की समस्त सीमाओं का उल्लंघन करके समय से असमय में और विहित से अविहित में जा पहुँचती है। चारुलता को वह सुयोग प्राप्त नहीं था। समाचार-पत्र का आवरण भेदकर पति पर अधिकार करना उसके लिए दुरूह हो गया।

युवती स्त्री के प्रति ध्यान आकर्षित करते हुए किसी आत्मीया के उन्हें डाँटने पर भूपति ने एक बार सचेत होकर कहा, 'हाँ, सच तो है। चारु के पास किसी संगिनी का रहना आवश्यक है, उस बेचारी के पास कोई काम नहीं है।'

साले उमापति से कहा, 'अपनी पत्नी को हमारे यहाँ लाकर रख दो न, कोई समवयस्का स्त्री पास नहीं है, चारु को अवश्य ही बड़ा सूना-सूना लगता होगा।'

स्त्री-संग का अभाव ही चारु के लिए अत्यन्त चिन्त्य है, सम्पादक ने ऐसा समझा और साले की पत्नी मन्दाकिनी को घर में लाकर वह निश्चिन्त हो गये।

प्रेमोन्मेष के प्रथम अरुणालोक में जिस समय पति और पत्नी एक-दूसरे को अपूर्व महिमायुक्त चिरनवीन प्रतीत होते हैं, दाम्पत्य का वह स्वर्णप्रभामंडित प्रत्यूष-काल अचेतन अवस्था में कब व्यतीत हो गया, किसी को पता न चला। नवीनता का स्वाद प्राप्त किये बिना ही दोनों एक-दूसरे के लिए पुरातन परिचित अभ्यस्त हो गये।

लिखने-पढ़ने में चारुलता की स्वाभाविक रुचि थी इसीलिए दिन उसे ज़्यादा भारी नहीं लगते थे। उसने अपने परिश्रम और नाना कौशलों से पढ़ने का बन्दोबस्त कर लिया था। भूपति का फुफेरा भाई अमल थर्ड ईयर में पढ़ता था, चारुलता उससे पढ़ लेती थी। यह काम करा लेने के लिए उसे अमल की बहुत-सी अनुचित माँगे पूरी करनी पड़ती थीं। प्रायः उसको होटल में खाने की खुराकी और अँग्रेज़ी-साहित्य के ग्रंथ ख़रीदने का ख़र्च जुटाना पड़ता। बीच-बीच में अमल मित्रों को आमंत्रित करके खिलाता था। उस यज्ञ को पूरा करने का भार गुरुदक्षिणास्वरूप चारुलता स्वयं वहन करती। भूपति चारुलता पर कोई अधिकार-प्रदर्शन न करते थे, ज़रा-सा पढ़ा देने-भर से फुफेरे भाई अमल के अधिकारों का अन्त न था। इसे लेकर चारुलता प्रायः बीच-बीच में कृत्रिम रोष और विद्रोह प्रदर्शित करती रहती, किन्तु किसी-न-किसी व्यक्ति के किसी काम आना और स्नेह-जनित उपद्रव झेलना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया था।

अमल ने कहा, 'भाभी, हमारे कॉलिज में राजघराने के जमाई ख़ास रनिवास के हाथों से बने कार्पेट के जूते पहनकर आते हैं, मुझसे तो सहन नहीं होता — एक जोड़ी कार्पेट के जूते चाहिए, नहीं तो किसी भी प्रकार पद-मर्यादा की रक्षा नहीं कर पा रहा हूँ।'

चारु — 'हाँ हाँ, सो तो है ही। मैं बैठी-बैठी तुम्हारे जूतों की सिलाई करके मरूँ। पैसे देती हूँ, जाकर बाज़ार से ख़रीद लाओ।'

अमल ने कहा, 'यह नहीं होगा।'

चारु जूता सीना नहीं जानती और अमल के सामने वह यह बात स्वीकार करना भी नहीं चाहती थी। किन्तु उससे और कोई कुछ नहीं चाहता, अमल चाहता है — संसार में इस एकमात्र प्रार्थी की प्रार्थना-रक्षा किये बिना वह रह नहीं सकती। अमल जिस समय कॉलेज जाता उसी समय वह छिपकर बड़े यत्न से कार्पेट की सिलाई सीखने लगी। और अमल जब स्वयं अपने जूते के दरबार को बिलकुल भूल बैठा था, तभी एक दिन संध्या-समय चारु ने उसे निमंत्रण दिया।

गर्मी के दिन थे। छत पर आसन बिछाकर अमल के भोजन का स्थान बनाया गया था। उड़कर बालू गिरने के भय से पीतल के ढकने से थाल ढका था। कॉलेज की वेश-भूषा बदलकर

मुँह-हाथ धोकर तैयार होकर अमल आ उपस्थित हुआ।

आसन पर बैठकर अमल ने ढकना उठाया। देखा, थाल में नयी बँधी ऊन के जूतों की एक जोड़ी सजी रखी है। चारुलता खिलखिलाकर हँस पड़ी।

जूते पाकर अमल की आशा और भी बढ़ गयी। इस बार गुलूबन्द चाहिए। रेशम के रूमाल में फूल काढ़कर किनारी की सिलाई कर देनी होगी ; बाहर के कमरे में उसके बैठने की बड़ी कुर्सी को तेल के दाग़ से बचाने के लिए कशीदे का एक गिलाफ़ चाहिए।

प्रत्येक बार चारुलता आपत्ति करती हुई झगड़ा करती और हर बार बड़े यत्न, स्नेह से शौक़ीन अमल का शौक़ पूरा कर देती। अमल बीच-बीच में पूछता, 'भाभी कहाँ तक हुआ ?'

चारुलता झूठ-मूठ कहती, 'कुछ भी नहीं हुआ।' कभी कहती, 'उसकी तो मुझे याद ही नहीं थी।'

किन्तु अमल छोड़ने वाला व्यक्ति नहीं था। प्रतिदिन स्मरण करा देता और हठ करता। हठी अमल के इन सब उपद्रवों का उद्रेक कराने के लिए ही उदासीनता का प्रदर्शन करके वह विरोध की सृष्टि करती और सहसा एक दिन उसकी माँग पूरी करके तमाशा देखती।

धनी के घर मे चारु को और किसी के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता था, केवल अमल उसे बिना काम कराये नहीं छोड़ता था। शौक़ से किये गये इन सब छोटे-मोटे परिश्रमों से ही उसकी हृदय-वृत्ति की तुष्टि और चरितार्थता थी।

भूपति के अन्तःपुर में ज़मीन का जो एक टुकड़ा पड़ा था, उसको बगीचा कहने में बहुत-कुछ अत्युक्ति होगी। उस बगीचे की प्रधान वनस्पति थी — एक विलायती आँवले का पेड़।

इस भूखण्ड की उन्नति करने के लिए चारु और अमल की एक कमेटी बैठी। दोनों मिलकर कई दिनों तक चित्र खींचकर, प्लैन बनाकर, बड़े उत्साह से उस ज़मीन के ऊपर एक बगीचे की कल्पना को साकार करने मे लगे रहे।

अमल ने कहा, 'भाभी, अपने इस बगीचे मे प्राचीन काल की राज-कन्या के समान तुमको अपने हाथों पेड़ो को सींचना होगा।'

चारु ने कहा, 'और इस पश्चिम के कोने मे एक झोंपड़ी तैयार करनी होगी, जिसमे हरिण का छौना रहेगा।'

अमल ने कहा, 'और एक छोटी-सी झील बनानी होगी, उसमे हंस चुगेगा।'

इस प्रस्ताव से उत्साहित होकर चारु बोली, 'और उसमें नील कमल लगाऊँगी, बहुत दिनों से नील कमल देखने की मेरी इच्छा है।'

अमल बोला, 'उस झील पर एक पुल बनाया जायेगा, और घाट पर एक छोटी-सी सुन्दर डोंगी रहेगी।'

चारु ने कहा, 'घाट तो अवश्य ही सफ़ेद संगमर्मर का बनेगा।'

अमल ने पेन्सिल-कागज लेकर, रूल, कम्पास जुटाकर बड़े आडम्बर से बगीचे का एक नक्शा खींचा।

दोनों ने मिलकर प्रतिदिन कल्पना मे संशोधन, परिवर्तन करते-करते बीस पच्चीस नये नक्शे तैयार कर लिये।

नक्शा तैयार हो जाने पर कितना खर्च बैठेगा इसका एक एस्टिमेट तैयार होने लगा। पहले सोचा था — चारु अपने निर्धारित हाथ-खर्च मे से धीरे-धीरे उद्यान तैयार करवा लेगी। घर मे कहाँ

क्या हो रहा है भूपति तो उस ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता ; वह सोचेगा; अलादीन के चिराग़ की सहायता से जापान देश से एक सम्पूर्ण बाग़ उखाड़कर लाया गया है।

किन्तु एस्टिमेट काफ़ी कम करने पर भी वह चारु की सामर्थ्य से बाहर था। अमल फिर रूपरेखा में परिवर्तन करने बैठा। बोला, 'तो भाभी, उस झील को छोड़ दिया जाय।'

चारु बोली, 'नहीं, नहीं, झील तो किसी तरह नहीं छोड़ी जा सकती, उसमें मेरे नीलपद्म रहेंगे!'

अमल ने कहा, 'अपने हरिण के घर पर खपरैल की छत मत डालो। उस पर यों ही मामूली-सा पुआल छवा देने से काम चलेगा।'

चारु ने अत्यन्त अप्रसन्न होकर कहा, 'तो हमें उस घर की ज़रूरत नहीं, रहने दो!'

मारीशस से लवंग, कर्णाटक से चन्दन, और सिंहल से दालचीनी के पौधे मँगवाने का प्रस्ताव था, अमल के उनके बदले में मानिकतला से मामूली देशी और विलायती वृक्षों के नाम प्रस्तावित करते ही चारु मुँह फुलाकर बैठ गयी और बोली, 'तो फिर रहने दो, मुझे बगीचा नहीं चाहिए!'

एस्टिमेट कम करने का यह ढंग नहीं है। एस्टिमेट के साथ-साथ कल्पना को नष्ट करना चारु के लिए असाध्य था और अमल मुँह से चाहे कुछ कहे, मन-ही-मन उसे भी यह रुचिकर नहीं लगा था।

अमल ने कहा, 'तो भाभी, तुम भैया से बगीचे की बात छेड़ो, वे अवश्य ही रुपया देंगे।'

चारु ने कहा, 'नहीं, उनसे कहने में मज़ा क्या रहा। हमीं दोनों बगीचा तैयार कर लेंगे। वे तो साहब के घर में फ़रमाईश करके 'इडेन गार्डेन' बनवा सकते हैं—तब हमारे प्लैन का क्या होगा।'

ऑमड़े के वृक्ष की छाया में बैठकर चारु और अमल असाध्य संकल्प के कल्पना-सुख की रचना कर रहे थे। चारु की भावज मन्दा ने दोतल्ले से पुकारकर कहा, 'इतनी देर हो गयी, तुम लोग बगीचे में क्या कर रहे हो?'

चारु ने कहा, 'पके ऑमड़े ढूँढ रहे हैं।'

ललचाकर मन्दा ने कहा, 'मिलें तो मेरे लिए भी लाना!'

चारु हँसी, अमल भी हँसा। उनके समस्त संकल्पों का प्रधान सुख और गौरव यही था कि वे उन दोनों तक ही सीमित थे। मन्दा में और चाहे जो गुण हों, कल्पना नहीं थी, वह इन समस्त प्रस्तावों का रस कैसे ग्रहण कर सकती थी? इन दो सदस्यों की हर कमेटी से वह बिलकुल बहिष्कृत थी।

न तो उस असाध्य बगीचे का एस्टिमेट कम हुआ और न कल्पना ने ही किसी प्रकार हार माननी चाही। अतएव ऑमड़े के वृक्ष के नीचे की कमेटी कुछ दिन इसी प्रकार चलती रही। बगीचे में जिस स्थान पर झील बनेगी, जहाँ पर हरिण का घर तैयार होगा, जहाँ पत्थर की वेदी बनेगी, अमल ने उन स्थानों पर चिह्न लगा दिये।

उनके इस कल्पित बगीचे में ऑमड़े के वृक्ष के नीचे चारों ओर किस प्रकार का चबूतरा होगा, अमल एक छोटी कुदाल लेकर उसका निशान बना रहा था — तभी वृक्ष की छाया में बैठी चारु ने कहा, 'अमल, यदि तुम लिख सकते तो अच्छा होता!'

अमल ने प्रश्न किया, 'क्यों अच्छा होता ?'

चारु — '*मैं अपने इस बगीचे का वर्णन करके तुमसे एक कहानी लिखवाती। यह झील,* यह हरिण का घर, आँमड़े को छाया, उसमें ये सभी रहते — हम दोनों को छोड़कर और कोई न समझ पाता, बड़ा मज़ा आता। अमल, तुम एक बार लिखने का प्रयत्न कर देखो न, तुम अवश्य लिख सकोगे।'

अमल ने कहा, 'अच्छा यदि लिख सका तो मुझे क्या दोगी।'

चारु ने कहा, 'तुम क्या चाहते हो ?'

अमल बोला, 'अपनी मसहरी की छत पर मैं स्वयं लता चित्रित कर दूँगा, तुम्हें वह पूरा-का-पूरा रेशम से काढ़ देना होगा।'

चारु ने कहा, 'तुम सभी बातों में अति करते हो। भला मसहरी की छत पर कढ़ाई।'

मसहरी-जैसी वस्तु को श्री-हीन कारागार के समान बना रखने के विरुद्ध अमल ने बहुत-सी बातें कहीं। उसने कहा, 'संसार के पन्द्रह आना लोगों में सौंदर्य-बाध नहीं है और कुरूपता उन्हें तनिक भी नहीं अखरती, यह उसी का प्रमाण है।'

चारु ने यह बात मन-ही-मन तुरन्त स्वीकार कर ली और अपनी दो जनों की जो गुप्त कमेटी है वह उन पन्द्रह आना लोगों मे नहीं है, ऐसा सोचकर वह प्रसन्न हुई।

उसने कहा, 'अच्छा ठीक है, मैं मसहरी की छत तैयार कर दूँगी, तुम लिखो !'

अमल ने गृढ़ भाव से कहा, 'तुम सोचती हो कि मैं लिख नहीं सकता।'

चारु ने अत्यन्त उत्तेजित होकर कहा, 'तब तो तुमने ज़रूर कुछ लिखा है, मुझे दिखलाओ !'

अमल — 'आज रहने दो भाभी !'

चारु — 'नहीं, आज ही दिखाना होगा — तुम्हे मेरे सिर की सौगन्ध, अपना लेख ले आओ !'

चारु को अपना लेख सुनाने की अत्यंत उत्सुकता ही अमल को इतने दिन बाधा दे रही थी। कहीं चारु समझ न पाये। कहीं उसको अच्छा न लगे, इस संकोच को वह दूर नहीं कर पा रहा था।

आज कापी लाकर थोड़ा शरमाया और फिर थोड़ा खाँसकर उसने पढ़ना आरम्भ किया। चारु पेड़ के तने मे पीठ टेककर और घास के ऊपर पैर फैलाकर सुनने लगी।

लेख का विषय था, 'मेरी कॉपी'। अमल ने लिखा था, 'हे मेरी कोरी कॉपी, मेरी कल्पना ने अभी तक तुम्हारा स्पर्श नहीं किया है। सूतिका-गृह मे भाग्य-पुरुष के प्रवेश करने के पूर्व शिशु के ललाटपट्ट के समान तुम निर्मल हो, रहस्यमय हो। जिस दिन तुम्हारे अंतिम पृष्ठ की अंतिम पंक्ति मे उपसंहार लिख सकूँगा, वह दिन आज कहाँ है। तुम्हारे ये कोरे शिशुपत्रादि आज उस चिरन्तन मसि-चिह्नित समाप्ति की बात की स्वप्न मे भी कल्पना नहीं करते' —इत्यादि अनेक बात लिखी थीं।

चारु वृक्ष की छाया मे बैठकर स्तब्ध होकर सुनने लगी। पढ़ना समाप्त होने पर क्षण-भर चुप रहकर बोली, 'तुम फिर नहीं लिख सकते ?'

उस दिन उस वृक्ष के नीचे अमल ने साहित्य के मादक-रस का प्रथम पान किया ; साक़ी नया था, रसना भी नवीन, और अपराह्न का आलोक लम्बी छाया मे रहस्यपूर्ण-सा लग रहा था।

चारु बोली, 'अमल, कुछ आँमड़े तोड़कर ले चलने होंगे, नहीं तो मन्दा को क्या हिसाब देंगे ?'

मूढ़ मन्दा को अपनी पढ़ाई-लिखाई और चर्चा की बातें बताने की इच्छा नहीं होती, इसलिए आँमड़े तोड़कर ले जाने पड़े।

दो

बाग़ लगाने का संकल्प उनके अन्य संकल्पों की भाँति सीमाहीन कल्पना-क्षेत्र में कब खो गया, अमल और चारु को इसका पता भी न चला।

अब अमल के लेख ही उनकी चर्चा और परामर्श के प्रधान विषय बन गये। अमल आकर कहता, 'भाभी, एक बहुत सुन्दर भाव दिमाग़ में आया है।'

चारु उत्साहित हो उठती। कहती, 'चलो, हमारे दक्षिण वाले बरामदे कि ओर—यहाँ अभी मन्दा पान लगाने आयेगी।'

चारु कश्मीरी बरामदे में एक जीर्ण बेंत की कुर्सी पर आकर बैठती और अमल रेलिङ्ग के नीचे की ऊँची जगह पर पैर फैला देता।

अमल के लिखने के विषय प्राय: सुनिर्दिष्ट नहीं होते थे; उनको स्पष्ट रूप में बता सकना कठिन था। अव्यवस्थित ढंग से वह जो कहता, उसको स्पष्ट रूप से समझाना किसी के लिए भी संभव नहीं था। अमल स्वयं ही बार-बार कहता, 'भाभी, तुमको अच्छी तरह समझा नहीं पा रहा हूँ।'

चारु कहती, 'नहीं, मैं बहुत-कुछ समझ गयी ; तुम इसी को लिख डालो ; देरी मत करो !'

वह कुछ समझती, कुछ न समझती, बहुत-कुछ कल्पना करके, बहुत-कुछ अमल के व्यक्त करने के आवेग द्वारा उत्तेजित होकर मन के भीतर जाने क्या गढ़ लेती—उसीमें वह सुख का अनुभव करती और व्यग्रता से अधीर हो उठती।

चारु उसी दिन अपराह्न मे पूछती, 'कितना लिखा ?'

अमल कहता, 'इतनी जल्दी क्या लिखा जा सकता है ?'

चारु दूसरे दिन प्रातः कुछ झगड़े के स्वर मे प्रश्न करती, 'क्यों, तुमने वह लिखा नहीं ?'

अमल कहता, 'ठहरो, और थोड़ा सोच लूँ !'

चारु गुस्सा होकर कहती, 'चलो, हटो !'

सन्ध्या को क्रोध घनीभूत होने पर चारु जब बातचीत बन्द करने का उपक्रम करती तब अमल लिखे काग़ज़ का एक अंश रूमाल निकालने के बहाने जेब से थोड़ा बाहर निकालता।

क्षण-भर में ही चारु का मौन भंग हो जाता। वह बोल उठती, 'अच्छा, तो तुमने लिख लिया है, मुझे बहका रहे थे। दिखाओ ।'

अमल कहता, 'अभी पूरा नहीं हुआ ; थोड़ा और लिखकर सुनाऊँगा।'

चारु — 'नहीं, अभी सुनाना होगा।'

अमल तुरन्त सुनाने के लिए व्याकुल रहता , किन्तु कुछ देर चारु से छीना-झपटी किये बिना वह नहीं सुनाता था। उसके बाद अमल काग़ज़ हाथ में लिए बैठा-बैठा पहले तो कुछ पन्ने ठीक करता, पेन्सिल लेकर दो-एक जगह दो-एक संशोधन करता रहता, इस बीच चारु का चित्त प्रसन्न कौतूहल-भाव से जलभारनत मेघ के समान काग़ज़ के उन पन्नों पर झुका रहता।

अमल जब भी छोटे-मोटे दो-चार अनुच्छेद लिखता वे चारु को तभी सुनाने पड़ते। बाकी अलिखित भाग आलोचना और कल्पना द्वारा दोनों के बीच मथित होता रहता।

इतने दिनों तक दोनों आकाश-कुसुम के संकलन में लगे हुए थे, अब काव्य-कुसुम की कृषि आरम्भ करते ही वे और सब-कुछ भूल गये।

एक दिन अपराह्न में कॉलेज से लौटने पर अमल की जेब कुछ ज़्यादा भरी हुई प्रतीत हुई। अमल ने जब घर में प्रवेश किया, तभी चारु ने अन्तःपुर के गवाक्ष से उसकी जेब की पूर्णता की ओर ध्यान दिया था।

और दिन कॉलेज से लौटकर घर के भीतर आने में अमल देरी नहीं करता था, आज उसने अपनी भरी हुई जेब के साथ बाहर के कक्ष में प्रवेश किया ; जल्दी आने का नाम ही न लिया।

अन्तःपुर की सीमा के पास आकर चारु ने बहुत बार तालियाँ बजाईं, किसी ने नहीं सुना। कुछ क्रोध से अपने बरामदे में मन्मथ दत्त की एक पुस्तक लेकर चारु पढ़ने की चेष्टा करने लगी।

मन्मथ दत्त नये लेखक थे। उनके लिखने की शैली बहुत-कुछ अमल के समान ही थी; इसी कारण अमल कभी भी उनकी प्रशंसा नहीं करता था ; बीच-बीच में उनके लेखों को चारु के सामने विकृत उच्चारण से पढ़कर हँसी उड़ाता — चारु अमल से वह पुस्तक छीनकर अवज्ञा-भाव से दूर फेंक देती।

आज जैसे ही अमल का पद-शब्द सुना तो उन्हीं मन्मथ दत्त की 'कलकण्ठ' नामक कृति मुँह के पास लाकर चारु ने अत्यन्त एकाग्र भाव से पढ़ना आरम्भ किया।

अमल ने बरामदे में प्रवेश किया, चारु ने ध्यान भी न दिया। अमल ने कहा, 'क्यों भाभी, क्या पढ़ाई हो रही है?'

चारु को निरुत्तर देखकर अमल ने चौकी के पीछे आकर पुस्तक देखी। कहा, 'मन्मथदत्त की गड़बड़।'

चारु ने कहा, 'उफ़ ! परेशान मत करो, मुझे पढ़ने दो !' पीठ के समीप खड़े होकर अमल व्यङ्गपूर्ण स्वर मे पढ़ने लगा, 'मैं तृण हूँ, क्षुद्र तृर्ण हूँ ; भाई रक्ताम्बर राजवेशधारी अशोक, मैं तृण-मात्र हूँ ! मेरे फूल नहीं, मेरी छाया नहीं, मैं आकाश मे अपना सिर नहीं उठा सकता, वसन्त की कोकिल मेरा आश्रय लेकर कुहू स्वर से जगत् को उन्मत्त नहीं करती — तो भी भाई अशोक, अपनी उस उच्च पुष्पित शाखा से तुम मेरी उपेक्षा मत करना ; तुम्हारे पैरों मे पड़ा मैं तृण हूँ, सो मुझे तुच्छ मत समझना !'

अमल पुस्तक से इतना-सा पढ़ने के बाद बना-बनाकर कहने लगा, 'मैं केले की गहर हूँ, कच्चे केले की गहर, भाई कृष्माण्ड भाई, गृह-छप्पर-विहारी कृष्माण्ड, मैं तो नितान्त कच्चे केले की गहर हूँ।'

चारु कौतूहल के मारे रोष बनाये न रह सकी ; हँसकर उठती हुई पुस्तक पटककर बोली, 'तुम बड़े ईर्ष्यालु हो, अपनी रचना के अलावा कुछ भी पसन्द नहीं आता।'

अमल ने कहा, 'तुम्हारी उदारता का क्या कहना, तिनका भी मिल जाय तो निगल लो !'

चारु — 'अच्छा जनाब, मज़ाक रहने दो, जेब मे क्या है, निकालो।'

अमल — 'क्या है, अन्दाज़ लगाओ !'

बहुत देर तक चारु को परेशान करके अमल ने जेब से 'सरोरुह' नामक विख्यात मासिक पत्र बाहर निकाला।

चारु ने देखा, पत्रिका में अमल का वही 'खाता' (कॉपी) नामक लेख प्रकाशित हुआ है।

चारु देखकर चुप रह गयी। अमल ने सोचा था, उसकी भाभी खूब खुश होगी। किन्तु प्रसन्नता का कोई विशेष लक्षण न देखकर बोला, 'सरोरुह पत्र में ऐसा-वैसा लेख प्रकाशित नहीं होता।'

अमल ने यह कुछ बढ़ाकर कहा था। चाहे-जैसा काम चलाऊ लेख हो, मिल जाता तो संपादक छोड़ते न थे। किन्तु अमल ने चारु को समझा दिया, सपादक बहुत कड़ा आदमी होता है, सौ लेखों में से एक छाँटता है।

सुनकर चारु प्रसन्न होने की चेष्टा करने लगी, किन्तु वह प्रसन्न नहीं हो सकी। क्यों उसके मन को आघात पहुँचा, उसे समझने की चेष्टा की, किन्तु कोई संगत कारण न खोज सकी।

अमल का लेख अमल और चारु दोनों की सम्पत्ति थी। अमल लेखक था और चारु पाठक : उसकी गोपनता ही प्रधान रस था। उस लेख को हर कोई पढ़ेगा और बहुत-से लोग उसकी प्रशंसा करेंगे, यह चारु को क्यों इतना कष्ट दे रहा था, इसको वह ठीक से न समझ सकी।

किन्तु लेखक की आकांक्षा केवल एक पाठक-भर से ज़्यादा दिन तक तृप्त नहीं होती। अमल ने अपने लेख छपाने आरम्भ किये। प्रशंसा भी प्राप्त की।

बीच-बीच में भक्तों के पत्र भी आने लगे। अमल उन्हें अपनी भाभी को दिखलाता। चारु इससे खुश भी होती और कष्ट भी पाती। अब अमल को लेख लिखने में प्रवृत्त कराने के लिए एकमात्र उसके उत्साह और प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। अमल को बीच-बीच में कदाचित् नाम-हस्ताक्षर-विहीन रमणियों के पत्र भी मिलने लगे। इसे लेकर चारु उससे मज़ाक तो करती, किन्तु उसे सुख न मिलता। सहसा उनकी कमेटी का बन्द द्वार खोलकर बंगाल की पाठक-मंडली उन दोनों के बीच आकर खड़ी हो गयी।

भूपति ने एक दिन छुट्टी के समय कहा, 'अरे चारु, अपना अमल इतना अच्छा लिख सकता है यह तो मैं जानता ही न था।'

भूपति की प्रशंसा से चारु खुश हुई। अमल भूपति का आश्रित था, किन्तु अन्य आश्रितों की अपेक्षा उसमें बहुत भेद था — इस बात को उसके पति के समझने पर चारु ने जैसे गर्व का अनुभव किया। उसका अभिप्राय यह था कि, 'अमल को क्यों मैं इतना प्यार-दुलार करती हूँ यह बात तुम लोग इतने दिनों बाद समझे। मैं बुहत दिनों पहले ही — अमल की मर्यादा समझ गयी थी ; अमल किसी की भी अवज्ञा का पात्र नहीं है।'

चारु ने प्रश्न किया, 'तुमने उसका लेख पढ़ा है।'

भूपति ने कहा, 'हाँ, नहीं, ठीक से नहीं पढ़ा। समय नहीं मिला। किन्तु अपना निशिकान्त पढ़कर खूब प्रशंसा कर रहा था। वह इस तरह की रचना अच्छी तरह समझता है।'

भूपति के मन में अमल के प्रति सम्मान के भाव जग उठे, चारु की यह एकान्त इच्छा थी।

तीन

उमापद भूपति को अपने अखबार के साथ अन्य कई प्रकार के उपहार देने की बात समझा रहा था। उपहार से किस प्रकार नुक़सान की बजाय लाभ हो सकता है, यह भूपति किसी प्रकार भी नहीं समझ पा रहा था।

चारु एक बार कमरे मे झाँककर उमापद को देखकर चली गयी। कुछ देर बाद फिर

घूम-फिरकर उसने कमरे में आकर देखा, दोनों व्यक्ति हिसाब को लेकर बहस कर रहे थे।

चारु की अधीरता देखकर उमापद कोई बहाना करके बाहर चले गये। भूपति हिसाब से माथा-पच्ची करने लगा।

कमरे में प्रवेश कर चारु ने कहा, 'क्या अभी तक तुम्हारा काम समाप्त नहीं हुआ ? मैं तो यही सोचती हूँ कि इस एक अख़बार के पीछे तुम रात-दिन कैसे काट देते हो !'

हिसाब को एक ओर सरकाते हुए भूपति थोड़ा मुस्कराये। मन-ही-मन सोचा, 'वास्तव में चारु की ओर ध्यान देने का समय ही नहीं मिलता, यह बड़ा अन्याय है। उस बेचारी के पास समय काटने के लिए कुछ भी नहीं है।'

स्नेहपूर्ण स्वर में भूपति ने कहा, 'आज तुम्हारी पढ़ाई नहीं होगी ? मास्टर क्या भाग गये हैं ? तुम्हारी पाठशाला का नियम सब उलटा है — छात्रा तो पोथी-पत्रा लिये तैयार है, मास्टर ग़ायब ! शायद आजकल अमल तुमको पहले की तरह नियमित रूप से नहीं पढ़ाता।'

चारु ने कहा, 'मुझे पढ़ाकर अमल का समय नष्ट करना क्या उचित है ? अमल को तुमने क्या एक मामूली प्राईवेट ट्यूटर समझ लिया है ?'

चारु की कमर पकड़कर पास खींचकर भूपति ने कहा, 'यह क्या मामूली प्राईवेट-ट्यूटरी हुई। तुम्हारी जैसी भाभी यदि मुझे पढ़ाने को मिलती तो.......'

चारु — 'बस-बस रहने भी दो ! पति बने हो यही क्या कम आफ़त है जो अब और......'

कुछ व्यथित-से होकर भूपति ने कहा, 'अच्छा, कल से मैं अवश्य तुमको पढ़ाऊँगा। अपनी पुस्तकें तो लाओ, एक बार देखूँ तो तुम क्या पढ़ती हो। ?'

चारु — 'बस, बस, हो गया, तुम्हे पढ़ाने की ज़रूरत नहीं। पल-भर के लिए तो ज़रा अपना अख़बार का हिसाब छोड़ नहीं सकते, अभी किसी और बात पर ध्यान दे सकते हो या नहीं, बताओ !'

भूपति ने कहा, 'जरूर दे सकता हूँ। इस समय तुम मेरे मन को जिधर घुमाना चाहो उधर घूम जाएगा।'

चारु — 'बहुत ख़ूब ! तो फिर अमल के इस लेख को एक बार पढ़कर देखो। कैसा सुन्दर बन पड़ा है ! सम्पादक ने अमल को लिखा है, इस लेख को पढ़कर नवगोपाल बाबू ने उसे बाङ्ला का रस्किन' नाम दिया है।'

सुनकर कुछ सकुचाते हुए भूपति ने पत्रिका हाथ में ले ली। खोलकर देखा, लेख का शीर्षक था 'आषाढ़ का चाँद'। पिछले दो सप्ताह से भारत सरकार के बजट की समालोचना के सम्बन्ध में भूपति अंकों की बड़ी-बड़ी तालिकाएँ बना रहा था। वे अंक बहुपद कीड़ों के समान उसके मस्तिष्क के नाना विवरों में रेंग रहे थे। ऐसे में अचानक बाङ्ला भाषा में 'आषाढ़ का चाँद' शीर्षक लेख आद्योपान्त पढ़ने के लिए उसका मन तैयार न था। लेख भी नितान्त छोटा न था।

लेख इस प्रकार शुरू हुआ था, 'आज आषाढ़ का चाँद रात-भर मेघों में इस तरह छिपकर क्यों घूम रहा है, मानो स्वर्गलोक से वह कुछ चोरी कर लाया हो, मानो उसे अपना कलंक छिपाने की जगह न हो। फाल्गुन के महीने में जब आकाश के किसी भी कोने में कहीं मुट्ठी-भर भी मेघ नहीं थे तब तो जगत् की आँखों के सामने वह निर्लज्ज के समान उन्मुक्त आकाश में अपने को प्रकाशित किये हुए था — और आज उसकी वही तरल हँसी — शिशु के स्वप्न के समान, प्रिया

की स्मृति के समान, सुरेश्वरी शची से अलकविलम्बित मोतियों की माला के समान.....'

भूपति ने सिर खुजलाकर कहा, 'अच्छा लिखा है। किन्तु मुझे क्या ! यह सब कवित्व क्या मैं समझ पाता हूँ भला ?'

चारु ने लज्जित होकर भूपति के हाथ से पत्रिका छीनकर कहा, 'तब तुम क्या समझते हो ?'

भूपति ने कहा, 'मैं ठहरा संसारी, मैं तो मनुष्य को समझता हूँ।'

चारु ने कहा, 'मनुष्य की बात क्या साहित्य में नहीं लिखी जाती?'

भूपति — 'ग़लत लिखते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य के सशरीर वर्तमान रहते बनावटी बातों के बीच उसे खोजते फिरने की क्या ज़रूरत है ?'

यह कहकर चारुलता की ठोड़ी पकड़कर कहा, 'यही लो, जैसे मैं तुमको समझता हूँ, किन्तु उसके लिए क्या 'मेघनाद-वध,' 'कविकंकणचण्डी' आदि आद्योपान्त पढ़ने की ज़रूरत है ?'

भूपति को इस बात का अहंकार था कि वह काव्य नहीं समझता तो भी अमल के लेख को अच्छी तरह न पढ़ने पर भी उसके प्रति मन-ही-मन उसे कुछ श्रद्धा थी। भूपति सोचता, 'कहने को कुछ भी नहीं, फिर भी इतनी अनर्गल बातें बनाकर कहना, यह तो मैं सिर फोड़कर मर जाऊँ तो भी नहीं कर सकता। अमल में इतनी क्षमता है, यह कौन जानता था।'

भूपति अपनी रसज्ञता स्वीकार करता किन्तु साहित्य के प्रति उसमें कृपणता नहीं थी। दरिद्र लेखक के उसको पकड़ लेने पर भूपति किताब छापने का खर्चा देता, केवल विशेष रूप से यह कह देता, 'किताब मुझे समर्पित न की जाय।' बाङ्ला के छोटे-बड़े सभी साप्ताहिक और मासिक पत्र, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, पाठ्य-अपाठ्य सभी किताबें वह ख़रीदता। कहता, 'एक तो पढ़ता नहीं, ऊपर से यदि ख़रीदूँ भी नहीं तो पाप भी करूँगा और प्रायश्चित्त भी न होगा।' पढ़ता नहीं था, इसलिए ख़राब पुस्तकों के प्रति उसका लेश-मात्र भी विद्वेष न था, इसी कारण उसकी बाङ्ला-पुस्तकों की लाईब्रेरी ग्रन्थों से परिपूर्ण थी।

अमल अंग्रेज़ी के प्रूफ़-सशोधन के कार्य मे भूपति की सहायता करता था ; किसी कापी की दुर्बोध लिखावट दिखा लेने के लिए उसने एक गट्ठर काग़ज़-पत्र लिये कमरे मे प्रवेश किया।

भूपति ने हँसकर कहा, 'अमल, तुम आषाढ़ के चाँद और भाद्र मास के पके ताड़-फल पर जो चाहो लिखो, उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं — मै किसी की भी स्वाधीनता में हाथ नहीं डालना चाहता — किन्तु मेरी स्वाधीनता मे हस्तक्षेप क्यों ? वह सब मुझे पढ़ाये बिना नहीं छोड़ेगी, तुम्हारी भाभी का यह कैसा अत्याचार है !'

अमल ने हँसकर कहा, 'ठीक तो है भाभी — मेरे लेखों को लेकर तुम भैया पर जुल्म करने का उपाय निकाल लोगी, ऐसा जानता तो मै लिखता ही नहीं।'

साहित्यरस-विमुख भूपति के सामने लाकर अपने अत्यन्त भावपूर्ण लेखों को अपदस्थ कराने के लिए अमल मन-ही-मन चारु के ऊपर नाराज़ हो गया एवं उसी क्षण यह समझते ही चारु दु:खी हो गयी। प्रसंग बदलने के अभिप्राय से उसने भूपति से कहा, 'अपने भाई का विवाह करा दो, तो फिर कभी लेखों का उपद्रव न सहना पड़ेगा।'

भूपति ने कहा, 'आजकल के लड़के हमारे समान अबोध नहीं है, वे कविता लिखने मे जैसे सयाने हैं वैसे ही काम-काज मे भी है। भला तुम अपने देवर को विवाह करने के लिए राज़ी कहाँ करा पायीं ?'

चारु के चले जाने पर भूपति ने अमल से कहा, 'अमल, मुझे अख़बार के झंझट में रहना पड़ता है, चारु बेचारी बड़ी अकेली रहती है। कोई काम-काज नहीं। बीच-बीच में मेरे लिखने के कमरे में झाँककर चली जाती है। क्या करूँ, बताओ ! अमल, तुम उसे ज़रा लिखने-पढ़ने में लगाये रख सको तो अच्छा हो। बीच-बीच में यदि चारु को अंग्रेज़ी काव्य का अनुवाद करके सुनाओ तो उसको लाभ भी होगा और अच्छा भी लगेगा। चारु की साहित्य में बड़ी रुचि है।'

अमल ने कहा, 'यह तो ठीक है। भाभी यदि थोड़ा और पढ़-लिख लें तो मेरा विश्वास है वे स्वयं अच्छा लिख सकेंगी।'

भूपति ने हँसकर कहा, 'इतनी आशा नहीं करता, किन्तु चारु बाङ्ला लेखों की अच्छाई बुराई मेरी अपेक्षा ज़्यादा समझ सकती है।'

अमल — 'उनकी कल्पना-शक्ति खूब है, महिलाओं में ऐसी नहीं दिखती।'

भूपति — 'पुरुषों मे भी कम दिखती है, उसका प्रमाण मैं हूँ। अच्छी बात है, तुम यदि अपनी भाभी को गढ़कर तैयार कर सको तो मै तुमको पारितोषिक दूँगा।'

अमल — 'क्या दोगे, सुनूँ।'

भूपति — 'तुम्हारी भाभी की जोड़ की कोई एक और खोज-ख़ाज कर ले आऊँगा।'

अमल — 'फिर उसमें लगना होगा! सारा जीवन क्या गढ़कर तैयार करने मे ही काटूँगा।'

दोनों भाई आजकल के लड़के थे, किसी बात पर उनकी जीभ नहीं अटकती।

चार

पाठक-समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करके अब अमल का सिर ऊँचा हो गया है। पहले वह स्कूली विद्यार्थी की भाँति रहता था, अब वह मानो समाज का गण्यमान्य व्यक्ति बन गया है। बीच-बीच में, सभाओं में साहित्यिक निबन्ध पढ़ता है — सम्पादक और सम्पादक के दूत उसके कमरे में आकर बैठे रहते हैं, उसको निमंत्रित करके खिलाते हैं, नाना सभाओं का सदस्य और सभापति बनने के लिए अनुरोध आते हैं, भूपति के घर में नौकर-चाकरों तथा कुटुम्बियों की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी है।

मन्दाकिनी अभी तक उसको महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं समझती थी। अमल और चारु के हास्यालाप तथा आलोचना को बचपना कहकर वह उपेक्षा करती, पान लगा देती और घर का काम-काज करती रहती, अपने को वह उनसे श्रेष्ठ और संसार के लिए आवश्यक समझती थी।

अमल बेहद पान खाता था। मन्दा के ऊपर पान लगाने का भार था, इसलिए वह पान के अनुचित अपव्यय से चिढ़ती थी। षड्यंत्र करके मन्दा के पान-भण्डार को प्रायः लूट लाना अमल और चारु के आमोदों में से एक था। किन्तु इन दोनों शौकीन चोरों का चोरी का मजाक मन्दा को अच्छा नहीं लगता था।

असल बात है, एक आश्रित व्यक्ति दूसरे आश्रित व्यक्ति को अच्छी नजर से नहीं देखता। अमल के लिए मन्दा को जो थोड़े-बहुत अतिरिक्त काम-काज करने पड़ते उन्हीं में बस मानो कुछ अपमान का अनुभव करती। चारु को अमल का पक्षपाती समझकर वह मुख से स्पष्ट कुछ कह नहीं पाती थी, किन्तु अमल की अवहेलना करने की उसकी कोशिश बराबर रहती। अवसर पाते

ही पीठ पीछे नौकर-चाकरों से भी वह अमल के नाम पर ताने देना न भूलती। वे भी साथ देते।

किन्तु जब अमल का उत्थान आरम्भ हुआ तो मन्दा कुछ चौंकी। अमल अब वह नहीं था। अब उसकी सविनय नम्रता एकदम लुप्त हो गयी थी। दूसरे की अवज्ञा करने का अधिकार अब मानो उसी के हाथ में था। संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करके जो व्यक्ति बिना किसी हिचकिचाहट के निस्संकोच अपना प्रचार कर सकता है, जिस व्यक्ति ने एक निश्चित अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह समर्थ व्यक्ति सहज ही स्त्री की दृष्टि आकर्षित कर सकता है। मन्दा ने जब देखा, अमल चारों ओर से श्रद्धा पा रहा है तब उसने भी अमल के ऊँचे उठे हुए मस्तक की ओर मुँह उठाकर देखा। अमल के तरुण मुख में नवगौरव की गर्वोज्ज्वल दीप्ति ने मन्दा की आँखों में मोह उत्पन्न कर दिया ; उसने मानो अमल को एक नये रूप में देखा।

अब पान चुराने की आवश्यकता न रही। अमल के प्रसिद्धि पाने से चारु को यह एक हानि और हुई, उनके षड्यंत्र का विनोद-बन्धन विच्छिन्न हो गया , पान अब अमल को अपने-आप मिल जाता, कोई अभाव न होता।

इसके अलावा, वे अपने दोनों के संगठित दल से मन्दाकिनी को विभिन्न उपायों द्वारा दूर रखने मे जिस आनन्द का अनुभव करते थे, उसके नष्ट होने की भी तैयारी हो गयी। मन्दा को दूर रखना कठिन हो गया। अमल का यह सोचना कि चारु ही उसकी एकमात्र मित्र और प्रशंसक है, मंदा को अच्छा न लगता ! पहले की अवहेलना को वह ब्याज-सहित शोधकर देने के लिए उद्यत थी। अतः अमल और चारु की भेट होते ही मन्दा किसी-न-किसी बहाने बीच पड़कर, छाया डालकर ग्रहण लगा देती। मन्दा के इस आकस्मिक परिवर्तन को लेकर चारु उसकी अनुपस्थिति मे परिहास कर ले, इसका भी अवसर पाना कठिन हो गया।

मन्दा का यह अनामंत्रित प्रवेश चारु को जितना अरुचिकर लगता था अमल को उतना नहीं — यह कहना व्यर्थ है। विमुख रमणी का मन क्रमश. उसकी ओर फिर रहा था, इससे वह भीतर-ही-भीतर एक आसक्ति का अनुभव करता था।

किन्तु चारु जब दूर से मन्दा को देखकर धीमे-से तीखे स्वर मे कहती, 'यह लो, आ रही है।' तब अमल भी कहता, 'सच, नाक मे दम कर दिया।' संसार के और सभी लोगों के संग के प्रति असहिष्णुता प्रकट करना उनका दस्तूर था, अमल सहसा उसे कैसे छोड़े ! अन्त मे मन्दाकिनी के पास आने पर अमल जैसे बलपूर्वक शिष्टता दिखाकर कहता, 'कहो, मन्दा भाभी, तुम्हे अपने पानदान मे आज बटमारी के कुछ चिह्न दिखे !'

मन्दा — 'जब माँगते ही पा जाते हो, तब चोरी करने की क्या ज़रूरत !'

अमल — 'माँगकर पाने से इसमे ज्यादा मज़ा है।'

मन्दा — 'तुम लोग क्या पढ़ रहे थे, पढ़ो न भई। रुक क्यों गये ? पाठ सुनना मुझे बहुत अच्छा लगता है।'

इसके पूर्व पाठानुराग मे प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए मन्दा की ओर से कोई प्रयत्न नहीं देखा गया था, किन्तु, 'कालो हि बलवत्तर.।'

चारु की इच्छा नहीं थी कि अमल अरसिका मन्दा के सामने इसे पढ़े, जबकि अमल की इच्छा थी कि मन्दा भी उसका लेख सुने।

चारु — 'अमल कमलाकान्त के दफ़्तर की समालोचना लिखकर लाया है, यह क्या तुमको......?'

मन्दा — 'मैं मूर्ख ही सही, फिर भी अगर सुनूँ तो क्या बिलकुल भी नहीं समझ पाऊँगी ?'

तब अमल को और एक दिन की बात याद आ गयी। चारु और मन्दा ताश खेल रही थीं, वह हाथ में अपना लेख लिये खेल की मजलिस में प्रविष्ट हुआ था, वह चारु को सुनाने के लिए अधीर था, खेल ख़त्म न होता देखकर खीझ रहा था। अन्त में बोल पड़ा, 'तो फिर भाभी तुम खेलो, मैं अखिल बाबू को लेख सुना आता हूँ।'

चारु ने अमल की चादर पकड़कर कहा था, 'अरे ! बैठो ना, कहाँ जाते हो !' यह कहकर चटपट हार मानकर खेल ख़त्म कर दिया था।

मन्दा ने कहा, 'क्या तुम लोगों का पाठ आरम्भ होगा ? तो मैं उठूँ ?'

चारु ने शिष्टाचार दिखाते हुए कहा था, 'क्यों, तुम भी सुनो न भई !'

मन्दा — 'नहीं भैया, मैं तुम्हारी ये बातें ख़ाक भी नहीं समझती। मुझे तो बस नींद आने लग जाती है' — यह कहते हुए वह बीच ही मे खेल ख़त्म हो जाने के कारण दोनों पर खीझती हुई चली गयी थी।

वही मन्दा आज कमलाकान्त की समालोचना सुनने के लिए उत्सुक थी। अमल बोला, 'यह तो अच्छी बात है मन्दा भाभी, तुम सुनो यह तो मेरा सौभाग्य है।' यह कहते हुए उसने पन्ने पलटकर फिर शुरू से पढ़ने की तैयारी की। लेख के आरम्भ मे उसने पर्याप्त मात्रा मे रस बरसाया था, उसे शामिल किये बिना पढ़ने की उसकी इच्छा नहीं हुई।

चारु चट-से बोली, 'देवरजी, तुमने कहा था न कि जाह्नवी लाइब्रेरी से कुछ पुराने मासिक पत्र ला दोगे !'

अमल — 'आज थोड़े ही।'

चारु — 'आज ही तो। वह भूल गये शायद ?'

अमल — 'भूलूँगा क्यों। तुमने कहा था न........'

चारु — 'अच्छी बात है, मत लाओ। तुम लोग पढ़ो। मैं चलूँ, चलकर परेश को लाइब्रेरी भेज दूँ।' कहकर चारु उठ खड़ी हुई।

अमल को विपद की आशंका हुई। मन्दा मन-ही-मन समझ गयी और क्षण-भर में ही उसका मन चारु के प्रति विषाक्त हो उठा। चारु के चले जाने पर जब अमल उठे, या न उठे, यह सोचता हुआ इधर-उधर कर रहा था तब मन्दा ज़रा हँसकर बोली, 'जाओ भई, जाकर मनाओ ; चारु रूठ गयी है। मुझे लेख सुनाओगे तो मुश्किल मे पड़ जाओगे।'

इसके बाद अमल के लिए उठना अत्यन्त कठिन हो गया। अमल ने चारु पर कुछ रुष्ट होकर कहा, 'क्यों, मुश्किल काहे की ?' कहते हुए लेख खोलकर पढ़ने की तैयारी करने लगा।

मन्दा ने दोनों हाथों से उसका लेख ढकते हुए कहा, 'क्या ज़रूरत है भई, मत पढ़ो !' कहकर मानो आँसू रोकने के लिए अन्यत्र चली गयी।

पाँच

चारु दावत मे गयी थी। मन्दा कमरे मे बैठी बालों में चुटीला गूँथ रही थी 'भाभी' कहते

हुए अमल ने कमरे में प्रवेश किया। मन्दा अच्छी तरह जानती थी कि चारु के दावत में जाने का समाचार अमल से छिपा नहीं है। हँसकर बोली 'अक्खाह अमल बाबू, किसे खोजने आये और मिला कौन ! तुम्हारी तकदीर ही ऐसी है।'

अमल ने कहा, 'जैसे बाँई ओर का पुआल, ठीक वैसा ही दाहिनी ओर का पुआल। गधे के लिए तो दोनों ही बराबर प्रिय हैं।' कहकर वहीं बैठ गया।

अमल — 'मन्दा भाभी, अपने गाँव की कहानी कहो, मैं सुनूँगा।'

लेख का विषय-संग्रह करने के लिए अमल सभी जनों की सारी बातें कौतूहल के साथ सुनता। इसी कारण अब वह मन्दा की पहले के समान पूर्ण उपेक्षा नहीं करता था। मन्दा का मनस्तत्त्व, मन्दा का इतिहास अब उसकी उत्सुकता के विषय थे। उसकी जन्मभूमि कहाँ थी, उसका गाँव कैसा था, बचपन किस प्रकार बिताया, विवाह कब हुआ इत्यादि सभी बातें खोद-खोदकर पूछने लगा। मन्दा के लघु जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में इतनी उत्सुकता कभी किसी ने प्रकट नहीं की थी। मन्दा आनन्दपूर्वक अपनी बातें सुनाती जा रही थी ; बीच-बीच में कहती, 'क्या कहती जा रही हूँ, कोई ठिकाना है !'

अमल ने प्रोत्साहन देते हुए कहा, 'नहीं, मुझे बहुत अच्छा लग रहा है, कहे जाओ !' मन्दा के पिता का एक काना गुमाश्ता था, वह अपनी दूसरी स्त्री के साथ झगड़ा करके किसी-किसी दिन रूठकर अनशन-व्रत करता, अन्त में भूख की ज्वाला से त्रस्त मन्दा के घर किस प्रकार छिपकर भोजन करने आता और दैवात् एक दिन स्त्री के द्वारा किस प्रकार पकड़ा गया ; जिस समय यह कहानी चल रही थी और अमल मनोयोगपूर्वक सुनते हुए सकौतुक हँस रहा था उसी समय चारु ने आकर कमरे में प्रवेश किया।

कहानी का सूत्र टूट गया। उसके आगमन से सहसा एक जमी हुई सभा भंग हो गयी, चारु इसको साफ़ समझ गयी।

अमल ने प्रश्न किया, 'भाभी, इतनी जल्दी कैसे लौट आयीं ?'

चारु ने कहा, 'यही तो देख रही हूँ। बहुत जल्दी लौट आयी।' यह कहते हुए चले जाने को तैयार हुई।

अमल बोला, 'अच्छा ही किया, मुझे बचा लिया। मैं सोच रहा था, न मालूम कब लौटोगी। मन्मथ दत्त की 'सन्ध्यार पाखि' (सन्ध्या का पक्षी) नामक एक नयी पुस्तक तुमको पढ़कर सुनाने के लिए लाया हूँ।'

चारु — 'अभी रहने दो, मुझे काम है।'

अमल — 'काम है तो मुझे हुक्म दो, मैं कर डालता हूँ।'

चारु जानती थी कि अमल आज पुस्तक ख़रीदकर उसे सुनाने आयेगा ; चारु ईर्ष्या उत्पन्न करने के लिए, मन्मथ के लेख की खूब प्रशंसा करेगी और अमल उस पुस्तक को विकृत करके पढ़कर हँसी उड़ायेगा। यह सब कल्पना करके अधैर्यवश वह समय से पहले ही निमंत्रण-गृह की समस्त अनुनय-विनय का उल्लंघन करके तबीयत ख़राब के बहाने घर लौट आयी थी। अब बार-बार मन में सोच रही थी, 'वहीं ठीक थी, चला आना अनुचित हुआ।'

मन्दा भी तो कम बेहया नहीं। अमल के साथ एक कमरे में अकेली बैठी दाँत निपोरकर हँस रही है। लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे। किन्तु मन्दा की इस बात को लेकर फटकारना चारु के लिए

बड़ा कठिन था। कारण, यदि मन्दा ने उनके ही दृष्टान्त का उल्लेख करके उत्तर दिया तो ? किन्तु वह अलग बात है, और यह अलग। वह अमल को लिखने के लिए उत्साह देती है, अमल के साथ सहित्यालोचना करती है, किन्तु मन्दा का तो वह उद्देश्य ज़रा भी नहीं। मन्दा निस्सन्देह सरल युवक को मुग्ध करने के लिए जाल बिछा रही है। इस भयंकर विपत्ति से बेचारे अमल की रक्षा करना उसी का कर्त्तव्य है। अमल को इस मायाविनी का उद्देश्य किस प्रकार समझाये ? समझाने पर उसके प्रलोभन की निवृत्ति न होकर यदि उलटा हुआ तो ?

बेचारे भैया ! वे तो मालिक के अख़बार में दिन-रात पिसे जा रहे है और मन्दा यहाँ कोने में बैठी अमल को भुलाने का आयोजन कर रही है। भैया एकदम निश्चिन्त हैं। मन्दा के ऊपर उनका अगाध विश्वास है। इन सब बातों को स्वयं अपनी आँखों देखकर चारु कैसे स्थिर रहे ! बड़ी ज़्यादती है।

किन्तु पहले अमल अच्छा था। जिस दिन से लिखना आरम्भ करके ख्याति प्राप्त की है, उसी दिन से सारे अनर्थ दिखने लगे हैं। चारु ही तो उसके लिखने के मूल में थी। किस अशुभ क्षण मे उसने अमल को रचना करने के लिए उत्साहित किया ! अब क्या अमल के ऊपर उसका पहले की भाँति ज़ोर चलेगा ? अब अमल को पाँच जनों के प्यार का स्वाद मिल चुका है, अतएव एक को छोड़ देने से उसका कुछ आता-जाता नही।

चारु ने स्पष्ट समझा, उसके हाथ से निकलकर पाँच जनों के हाथ मे पड़ने पर अमल के लिए चारों ओर विपद है। अमल अब चारु को ठीक अपना समकक्ष नहीं समझता, चारु से वह आगे निकल गया है। अब वह लेखक है, चारु पाठक। इसका प्रतिकार करना ही होगा।

ओह ! सरल अमल, मायाविनी मन्दा, बेचारे भैया ?

छह

उस दिन आषाढ़ के नवीन मेघों से आकाश ढक गया था। कमरे मे घनीभूत अन्धकार होने के कारण चारु अपने खुले जंगले के पास खूब झुककर न जाने क्या लिख रही थी।

अमल कब चुपचाप पीछे से आकर खड़ा हो गया इसका उसे पता न चल सका। बादलों के स्निग्ध आलोक मे चारु लिखती रही, अमल पढ़ने लगा। पास मे अमल के ही छपाये दो-एक लेख खुले पड़े थे, चारु के लिए वे ही रचना के एकमात्र आदर्श थे।

'तुम तो कहती थीं, तुम लिख नही सकतीं।'

अचानक अमल की आवाज़ सुनकर चारु ज़ोर से चौंक पड़ी ; झटपट कापी छिपाकर बोली, ' यह तुम्हारी ज़्यादती है।'

अमल — 'क्या ज़्यादती की है ?'

चारु — 'छिपे-छिपे क्यो देख रहे थे ?'

अमल — 'प्रकट रूप से देख नहीं पाता, इसलिए।'

चारु ने अपना लेख फाड़ डालने का प्रयत्न किया। अमल ने झट-से उसके हाथ से कापी छीन ली। चारु बोली, 'अगर तुम पढ़ोगे तो तुम्हारे साथ हमेशा के लिए कुट्टी हो जायेगी।'

अमल — 'अगर पढ़ने से रोकोगी तो तुम्हारे साथ हमेशा को कुट्टी को जायेगी।'

चारु — 'तुम्हें मेरे सिर की सौगंध है देवरजी, मत पढ़ो।'

अन्त में चारु को ही हार माननी पड़ी। कारण, अमल को अपना लेख दिखाने के लिए मन छटपटा रहा था ; लेकिन दिखलाने के समय उसे इतनी लज्जा का अनुभव होगा, यह उसने नहीं सोचा था ! अमल ने जब बहुत अनुनय-विनय करके पढ़ना प्रांरभ किया तो लज्जा से चारु के हाथ-पैर बरफ़ के समान ठंडे हो गये। बोली, 'मैं पान ले आती हूँ।' यह कहती हुई झटपट अमल के पास से पान लगाने का बहाना करके चली गयी।

पढ़ना समाप्त करके अमल ने चारु के पास जाकर कहा, 'बहुत सुन्दर है।'

चारु ने पान मे कत्था लगाना भूलकर कहा, 'चलो, अब मज़ाक रहने दो। लाओ, मेरी कॉपी दे दो!'

अमल ने कहा, 'कापी अभी नहीं दूँगा, लेख की नक़ल उतारकर पत्र मे भेजूँगा।'

चारु — 'हाँ, पत्र में तो भेजोगे ही, यह नहीं हो सकता।' चारु ने बड़ी आफ़त कर दी, अमल ने भी किसी तरह नहीं छोड़ा। उसने जब बार-बार शपथ खाकर कहा, 'पत्र मे देने के उपयुक्त है।' तब चारु ने मानो अत्यंत हताश होकर कहा, 'तुम्हारे साथ तो पार पाना मुश्किल है ! जो तय कर लेते हो फिर उसे किसी भी तरह नहीं छोड़ते !'

अमल ने कहा, 'एक बार भैया को दिखाना होगा।'

यह सुनते ही पान लगाना छोड़ कर चारु आसन से तेज़ी से उठ खड़ी हुई , कापी छीनने की कोशिश करती हुई बोली, 'न, उनको नहीं सुना सकते ! उनसे यदि मेरे लिखने की बात कहोगे तो फिर मै एक अक्षर भी नहीं लिखूँगी।'

अमल — 'भाभी, तुम बहुत ग़लत समझ रही हो। भैया मुख से चाहे जो कहें किन्तु तुम्हारा लेख देखकर बहुत खुश होंगे।'

चारू — 'होने दो, मुझे खुशी से क्या लेना है !'

चारु प्रतिज्ञा कर बैठी थी कि वह लिखेगी — अमल को आश्चर्य मे डाल देगी। मन्दा और उसमे बहुत अन्तर है, वह उस बात को प्रमाणित किये बिना न रहेगी। इधर कई दिन उसने ढेरों लिखा और फाड़कर फेक दिया। जो भी लिखने बैठती, वह एकदम अमल का-सा लेख हो जाता। मिलाने पर देखती कोई-कोई अंश अमल की रचना से प्रायः अविकल उद्धृत किया हुआ लगता। वे ही अंश अच्छे होते, बाकी सब कच्चे। देखने पर अमल अवश्य ही मन-ही-मन हँसेगा, यही कल्पना करके उन सब लेखों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े करके फाड़कर तालाब मे फेंक देती, बाद मे कहीं उसका एक भी टुकड़ा अमल के हाथों मे न आ पड़े।

सबसे पहले उसने लिखा 'श्रावण का मेघ'। सोचा था,'भावाश्रुजल अभिषिक्त एक बहुत ही नवीन लेख लिखा है।' सहसा होश आने पर देखा, लेख अमल के 'आषाढ़ का चाँद' का रूपान्तर मात्र है। अमल ने लिखा था 'भाई चाँद, तुम मेघों के बीच चोर के समान छिपकर क्यों घूम रहे हो।' चारु ने लिखा, 'सखी कादम्बिनी, सहसा कहाँ से आकर अपने नीलाञ्चल के चाँद को चुराकर भाग रही हो' इत्यादि।

किसी प्रकार भी अमल की सीमा को न लाँघ पा सकने पर अन्त मे चारु ने रचना का विषय-परिवर्तन किया। चाँद, मेघ, शेफालिका, बहू-कथा कहो'[१] इन सबको छोड़कर उसने

१. कोकिलजातीय एक पक्षी। बोली के अनुकरण पर नामकरण।

'काली तला' [१] नामक एक लेख लिखा। उसके गाँव में छायान्धकारयुक्त तालाब के किनारे काली का मन्दिर था ; उस मन्दिर को लेकर उसके बाल्य-काल की कल्पना, भय, औत्सुक्य, उसके सम्बन्ध में उसकी विचित्र स्मृति, उस जाग्रत देवी के माहात्म्य के सम्बन्ध में चिरप्रचलित प्राचीन कहानी—इन सबको लेकर उसने एक लेख लिखा। उसका आरम्भिक हिस्सा अमल के लेख के समान काव्याडम्बरपूर्ण हुआ, किन्तु थोड़ा आगे चलकर उसका लेख सहज, सरल, और ग्रामीण भाषा-भंगिमा के आभास से परिपूर्ण हो उठा।

इस लेख को अमल ने छीनकर पढ़ा। उसको लगा, प्रारम्भ का भाग सरस बन पड़ा है, किन्तु कवित्व की अंत तक रक्षा नहीं हो सकी है। जो हो, प्रथम रचना की दृष्टि से लेखिका का उद्यम सराहनीय था।

चारु ने कहा, 'देवर जी, आओ हम लोग एक मासिक पत्र निकाले। क्या कहते हो!'

अमल — 'चाँदी के ढेर सारे सिक्कों के बिना वह पत्र चलेगा कैसे ?'

चारु — 'अपने इस पत्र में कोई खर्च नहीं होगा। छापा तो जायगा नहीं — हाथ से लिखेंगे। उसमें तुम्हारे और मेरे अतिरिक्त और किसी का लेख नहीं निकलेगा, किसी को पढ़ने नहीं दिया जायगा। केवल दो प्रतियाँ निकलेगी ; एक तुम्हारे लिए, एक मेरे लिए।'

कुछ समय पहले अमल इस प्रस्ताव पर उन्मत्त हो उठता ; इस समय उसका गोपनीयता का उत्साह चला गया है। इस समय तो दस व्यक्तियों को उद्देश्य किये बिना किसी रचना से उसे सुख नहीं मिलता। तो भी बीते हुए समय का ठाठ बनाये रखने के लिए उसने उत्साह प्रकट किया। कहा, 'बड़ा मज़ा आयेगा।'

चारु ने कहा, 'किन्तु प्रतिज्ञा करनी होगी, अपने पत्र को छोड़कर और कहीं तुम लेख नहीं छपवा सकोगे।'

अमल — 'तब तो सम्पादक लोग मार ही डालेंगे।'

चारु — 'और मेरे हाथ जैसे मारने का अस्त्र ही नहीं है ?'

बात पक्की हो गयी। दोनों सम्पादक, दोनों लेखक और दोनों पाठकों की सम्मिलित कमेटी बैठी। अमल ने कहा, 'पत्र का नाम रखा जाय, चारुपाठ।'

चारु ने कहा, 'नहीं इसका नाम हो अमला।'

इस नवीन बन्दोबस्त से चारु बीच के कई दिनों की दुखभरी खीझ भूल गयी। उनके मासिक पत्र में मन्दा के प्रवेश करने के लिए भी कोई ऐसा मार्ग नहीं था और बाहर के लोगों के प्रवेश का द्वार बन्द था।

सात

भूपति ने एक दिन आकर कहा, 'चारु, तुम लेखिका बनोगी, पहले तो ऐसी कोई आशा नहीं थी।'

चारु चौंककर लाल होकर बोली, 'मैं लेखिका ! तुमसे किसने कहा ? कभी नहीं।'

१ कालिका देवी की पूजा के लिए निर्दिष्ट स्थान।

'चोर माल समेत रँगे हाथ गिरफ़्तार। यह रहा प्रमाण' — कहते हुए भूपति ने 'सरोरुह' की एक प्रति निकाली। चारु ने देखा जिन लेखों को वह अपनी गुप्त सम्पत्ति समझकर अपने हस्तलिखित मासिक पत्र में सञ्चित कर रखती, वे ही लेखक-लेखिका के नाम के साथ 'सरोरुह' में प्रकाशित हुए हैं।

उसे लगा कि न जाने किसने बड़ी साध से पाले गये पक्षियों को पिंजरे का द्वार खोलकर उड़ा दिया हो, भूपति द्वारा पकड़ी जाने की लज्जा को भूलकर विश्वासघाती अमल के ऊपर मन-ही-मन उसे बड़ा क्रोध आया।

'और हाँ, यह तो देखो!' कहते हुए 'विश्वबन्धु' समाचार-पत्र खोलकर भूपति ने चारु के सामने रख दिया। उसमें 'आधुनिक बाङ्ला लेख का ढंग' शीर्षक एक निबन्ध प्रकाशित हुआ था।

चारु ने हाथ से उसे हटाते हुए कहा, 'इसे पढ़कर मैं क्या करूँगी?' उस समय अमल से मान के कारण अपने मन को कहीं लगा नहीं पा रही थी। भूपति ने ज़िद करके कहा, 'एक बार पढ़ ही देखो न!'

चारु ने हारकर उस पर दृष्टि डाली! कुछ आधुनिक लेखों की भावाडम्बरपूर्ण गद्य-रचनाओं को गाली देते हुए लेखक ने खूब कड़ा निबन्ध लिखा था। उसमें समालोचक ने अमल और मन्मथ दत्त की लेखन-शैली का कटु उपहास किया था; और उसी के साथ तुलना करते हुए नवीन लेखिका श्रीमती चारुबाला की भाषा की अकृत्रिम सरलता, अनायास सरसता और चित्ररचना-नैपुण्य की खूब प्रशंसा की थी। लिखा था, 'इसी प्रकार की रचना-प्रणाली का अनुकरण करके सफलता प्राप्त करने से ही अमल-कम्पनी का विस्तार सम्भव है, नहीं तो वह पूर्णरूप से फेल होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

भूपति ने हँसकर कहा, 'इसीको कहते हैं, गुरु गुड़ ही रहे, चेला शक्कर हो गया।'

चारु अपनी रचना-शैली की इस प्रथम प्रशंसा से ज्यों ही ज़रा खुश होती त्यों ही उसे पीड़ा होने लगती। उसका मन जैसे किसी भी प्रकार प्रसन्न नहीं होना चाहता था। प्रशंसा के लुभावने सुधा-पात्र को वह मुँह के पास पहुँचते ही दूर ठेल देती।

वह समझ गयी, उसके लेख पत्र में छपवाकर अमल ने एकाएक उसे विस्मित कर देने का संकल्प किया था। अन्त में छप जाने पर निश्चय किया होगा कि किसी पत्र मे प्रशंसापूर्ण समालोचना छप जाने पर दोनों को एक साथ दिखाकर चारु की रोष-शान्ति और उत्साहवर्द्धन करेगा। जब प्रशंसा छप गयी तब अमल क्यों आग्रहपूर्वक उसे दिखाने नहीं आया? इस समालोचना से अमल को चोट पहुँची और चारु को दिखाना नहीं चाहा, इसीलिए इन पत्रों को उसने एकदम छिपा लिया। चारु स्वान्तःसुखाय चुपचाप एकान्त मे एक छोटे सहित्य-नीड़ की रचना कर रही थी, सहसा प्रशंसा शिला-वृष्टि की एक बड़ी-सी शिला ने आकर उसको एकदम गिराने का प्रयत्न किया। चारु को यह बिलकुल अच्छा नहीं लगा।

भूपति के चले जाने पर चारु अपने सोने के कमरे मे खाट पर चुपचाप बैठी रही; सामने 'सरोरुह' और 'विश्वबन्धु' खुले पड़े थे।

चारु को सहसा चकित कर देने के लिए कापी हाथ में लिये अमल ने पीछे से चुपचाप प्रवेश किया। पास आकर देखा, 'विश्वबन्धु' की समालोचना खोले हुए चारु ध्यानमग्न बैठी थी।

फिर अमल चुपचाप बाहर चला गया। 'मुझे गाली देकर चारु की रचनाओं की प्रशंसा की गयी है। इसीलिए प्रसन्नता के कारण चारु को होश नहीं है।' क्षण भर में ही उसका सारा मन जैसे कड़वा हो गया। वह ज़रूर इस मूर्ख की समालोचना पढ़कर अपने को गुरु की अपेक्षा अधिक बड़ा समझ रही है, इस निश्चित धारणा के कारण अमल चारु पर बहुत क्रुद्ध हुआ। चारु को चाहिए था कि उस पत्र को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े करके आग में डालकर भस्म कर देती।

चारु के ऊपर गुस्सा होकर अमल ने मन्दा के कमरे के द्वार पर खड़े होकर ज़ोर से पुकारा, 'मन्दा भाभी !'

मन्दा — 'आओ भई, आओ ! आज तो बिना माँगे ही दर्शन मिल गये, बड़े सौभाग्य की बात है।'

अमल — 'मेरे एक-दो नये लेख सुनोगी ?'

मन्दा — 'कितने दिन से, सुनाऊँगा सुनाऊँगा कहकर आशा दे रखी है ? किन्तु सुनाते तो हो नहीं। क्या ज़रूरत है भई — फिर कहीं कोई नाराज़ हो बैठे तो तुम्हीं मुश्किल में पड़ोगे — मेरा क्या ?'

अमल ने कुछ ऊँचे स्वर से कहा, 'गुस्सा कौन होगा, और भला क्यों ? अच्छा वह देखा जायेगा, तुम इस समय तो सुनो।'

मन्दा जैसे अत्यन्त आग्रह से झटपट तैयार होकर बैठ गयी। अमल ने सस्वर समारोह के साथ पढ़ना आरम्भ किया।

अमल का लेख मन्दा के लिए नितान्त अपरिचित था, उसमे वह कहीं कोई कूल-किनारा नहीं पा सकी। इसीलिए मुँह पर प्रसन्नता की हँसी लाकर और भी उत्सुक भाव से सुनने लगी। उत्साह पाकर अमल की आवाज़ उत्तरोत्तर ऊँची होती गयी।

वह पढ़ रहा था — 'अभिमन्यु ने गर्भावस्था मे जिस प्रकार व्यूह-रचना मे प्रवेश करना सीखा था, व्यूह-रचना से बाहर निकलना नहीं सीखा था — उसी प्रकार नदी की धारा ने भी पर्वत-गह्वरो पाषाण-गर्भ मे रहकर केवल आगे चलना ही सीखा है, पीछे लौटना नहीं सीखा। हा नदी के स्रोत, हा यौवन, हा काल, हा संसार। तुम केवल आगे ही चल सकते हो — जिस पथ पर स्मृति के स्वर्णमण्डित उपलखण्ड बिखरा आते हो, उस पथ पर फिर किसी दिन लौटकर नहीं जाते। केवल मनुष्य का मन ही पीछे की ओर देखता है, अनन्त संसार उस ओर कभी मुड़कर भी नही देखता।'

इसी समय मन्दा के द्वार के समीप एक छाया पड़ी। मन्दा ने उस छाया को देखा। किन्तु जैसे उसने देखा न हो, ऐसी चेष्टा करके निर्निमेष दृष्टि से अमल के मुख की ओर देखती हुई गम्भीर मनोयोग से पाठ सुनने लगी।

छाया उसी क्षण हट गयी।

चारु ने प्रतीक्षा की थी कि अमल के आते ही उसके सामने 'विश्वबन्धु' पत्र को यथोचित लांछित करेगी, और उसने प्रतिज्ञा-भंग करके उसके लेख मासिक पत्र में छपा दिये हैं, इसके लिए अमल को भी फटकारेगी।

अमल के आने का समय निकल गया, तो भी वह नहीं आया। चारु ने एक लेख ठीक

करके रखा था ; अमल को सुनाने की इच्छा से ; वह भी पड़ा रह गया।

ऐसी अवस्था में कहीं से अमल का कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा। लगा , जैसे मन्दा के कमरे से। शरबिद्ध के समान वह उठ खड़ी हुई। दबे पैर वह द्वार के समीप आकर खड़ी हो गयी। अमल जो लेख मन्दा को सुना रहा था, अभी चारु ने उसको नहीं सुना। अमल पढ़ रहा था — 'केवल मनुष्य का मन ही पीछे की ओर जाता है — अनंत संसार उस ओर कभी मुड़कर भी नहीं देखता !'

चारु जिस प्रकार चुपचाप आयी थी, उसी प्रकार चुपचाप फिर लौट न सकी। आज एक के बाद एक, दो-तीन आघातों ने उसको एकदम धैर्यच्युत कर दिया था। मन्दा एक अक्षर भी नहीं समझ रही है और अमल नितांत निर्बोध मूढ़ की भाँति उसे पाठ सुनाकर तृप्ति-लाभ कर रहा है — यह बात चिल्लाकर कह जाने की उसकी इच्छा हुई। किंतु बिना बोले सक्रोध पद-शब्दों के द्वारा वह यही प्रचार कर आयी। शयन-कक्ष में जाकर चारु ने सशब्द द्वार बन्द कर लिया।

क्षण-भर के लिए अमल ने पढ़ना बंद कर दिया। मन्दा ने हँसकर चारु की ओर इशारा किया। अमल ने मन-ही-मन कहा, 'भाभी यह कैसा निष्ठुर आचरण ! क्या उन्होंने समझ रखा है, मैं बस उनका ही क्रीतदास हूँ ? उनको छोड़कर और किसी को भी पढ़कर नहीं सुना सकता ? ये तो बड़ा जुल्म है।' ऐसा सोचकर वह और भी ऊँचे स्वर से पढ़कर मन्दा को सुनाने लगा।

पढ़ना समाप्त होने पर चारु के कमरे के सामने से होकर वह बाहर चला गया। एक बार दृष्टि डाली, कमरे का द्वार बंद था।

चारु ने पैरों की आहट से जान लिया, अमल उसके कमरे के सामने से निकल गया — एक बार भी नहीं रुका। क्रोध और क्षोभ के कारण उसे रुलाई नहीं आयी। अपने नये लेख वाली कापी को निकालकर बैठे-बैठे उसके प्रत्येक पृष्ठ को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर ढेर लगा दिया। हाय ! किस अशुभ क्षण में यह लेखा-लेखी आरम्भ हुई थी।

आठ

संध्या समय बरामदे के गमले से जुही के फूलों की सुगंध आ रही थी, बिखरे बादलों में से स्निग्ध आकाश में तारे दिख रहे थे। आज चारु ने केश नहीं बाँधे, कपड़े नहीं बदले ! वह जँगले के पास अंधकार में बैठी थी। मन्द पवन में उसके खुले केश धीरे-धीरे उड़ रहे थे और उसके नेत्रों से इस प्रकार टप-टप करके आँसू क्यों गिर रहे थे, इसको वह स्वयं भी नहीं समझ पा रही थी।

तभी भूपति ने कमरे में प्रवेश किया। उसका मुख बिलकुल उतरा हुआ, हृदय भाराक्रांत था। भूपति के आने का अभी समय नहीं था। अख़बार के लिए लिखकर प्रूफ़ देखकर अन्तःपुर में आने में प्रायः उनको देर होती थी। आज संध्या के तुरन्त बाद ही मानों किसी सांत्वना की प्रत्याशा से वह चारु के पास आकर उपस्थित हुआ है।

घर में दीपक नहीं जल रहा था। खुले जँगले के क्षीण आलोक में भूपति चारु को खिड़की के पास स्पष्ट नहीं देख पाया ; धीरे-धीरे पीछे आकर खड़ा हो गया। पैरों की आहट सुनकर भी चारु ने मुँह नहीं फेरा — मूर्तिवत् स्थिर, अकड़ी बैठी रही।

भूपति ने कुछ आश्चर्यचकित होकर पुकारा, 'चारु !'

भूपति के स्वर से चौंककर वह झटपट उठ खड़ी हुई। भूपति आया है, उसने नहीं सोचा था। भूपति ने चारु के केशों में उँगली फेरते-फेरते स्नेहार्द्र स्वर में पूछा, 'अंधकार में तुम अकेली क्यों बैठी हो चारु ? मन्दा कहाँ गयी ?'

चारु ने जैसी आशा की थी, आज सारे दिन सब-कुछ भी नहीं हुआ। उसने यह निश्चित रूप से सोच रखा था कि अमल आकर क्षमा माँगेगा — उसके लिए तैयार होकर वह प्रतीक्षा कर रही थी, इतने में भूपति का अप्रत्याशित कंठ-स्वर सुनकर वह जैसे और अधिक आत्म-संवरण नहीं कर सकी — एकदम रो पड़ी।

भूपति ने घबराकर व्यथित होकर पूछा, 'चारु, क्या हुआ ?'

क्या हुआ, यह कहना कठिन था। ऐसा तो कुछ नहीं हुआ। विशेष तो कुछ नहीं हुआ। अमल ने अपना नया लेख पहले उसको न सुनाकर मन्दा को सुनाया है, इस बात को लेकर भूपति के पास वह क्या नालिश करे ? सुनकर क्या भूपति हँसेगा नहीं ? उस तुच्छ बात में गुरुतर शिकायत का विषय कहाँ छिपा हुआ था, उसको खोज निकालना चारु के लिए दुस्तर था। अकारण ही वह क्यों इतना अधिक कष्ट पा रही है ? इसको पूर्णरूप से समझ पाने के कारण उसकी वेदना और भी बढ़ गयी।

भूपति — 'बोलो न चारु, तुमको क्या हुआ है ! मैंने क्या तुम्हारे प्रति अन्याय किया है ? तुम तो जानती ही हो, अख़बार के झंझट को लेकर मैं किस प्रकार अति व्यस्त रहता हूँ, यदि तुम्हारे मन को कोई आघात पहुँचा हो तो यह मैंने जान-बूझकर नहीं पहुँचाया है।'

भूपति ऐसे विषयों पर प्रश्न कर रहा था, जिनमें से किसी का कोई उत्तर नहीं। इसी कारण चारु भीतर-ही-भीतर अधीर हो उठी। सोचने लगी, 'भूपति यदि उसे इस समय निष्कृति दे दे तो जान बचे।'

दूसरी बार भी कोई उत्तर न पाकर भूपति ने फिर स्नेहसिक्त-स्वर में कहा, 'चारु, मैं हर समय तुम्हारे पास नहीं आ सकता, इसीलिए मैं अपराधी हूँ, किंतु अब ऐसा नहीं होगा, अब से दिन-रात अख़बार में नहीं लगा रहूँगा। मुझे तुम जितना चाहोगी, उतना ही पाओगी।'

चारु अधीर होकर बोली, 'इसलिए नहीं।'

भूपति ने कहा, 'तो फिर किसलिए ?' कहता हुआ खाट पर बैठ गया।

चारु खीझ के स्वर को न छिपा सकी। बोली, 'अभी रहने दो, रात को बताऊँगी !'

क्षण-भर स्तब्ध रहकर भूपति ने कहा, 'अच्छा, इस समय रहने दो ?' कहते हुए उठकर धीरे-धीरे बाहर चला गया। उसे अपनी कोई बात कहनी थी, वह भी न कह पाया।

भूपति क्षोभ से चला गया, यह चारु से छिपा नहीं रहा ! सोचा, 'बुलाऊँ। किंतु बुलाकर क्या कहूँगी।' पश्चात्ताप ने बेचैन तो किया, किंतु उसका कोई भी प्रतिकार वह नहीं ढूँढ़ पायी।

रात हुई। चारु ने आज बहुत यत्न से भूपति का रात का भोजन परोसा और स्वयं हाथ में पंखा लेकर बैठी रही।

इसी समय उसने सुना, मन्दा ऊँचे स्वर में पुकार रही थी, 'ब्रज, ब्रज !' नौकर ब्रज के उत्तर देने पर पूछा, 'अमल बाबू ने भोजन कर लिया है क्या ?' ब्रज ने उत्तर दिया, 'कर लिया।' मन्दा ने कहा, 'भोजन हो गया और तू पान नहीं ले गया, क्यों !' मन्दा ब्रज को बहुत डाँटने लगी।

इसी समय भूपति अन्तःपुर में आकर भोजन करने बैठा, चारु पंखा करने लगी।

चारु ने आज निश्चय किया था कि भूपति के साथ प्रफुल्ल स्नेह भाव से अनेक बातें करेगी। बातचीत पहले से ही ठीक करके तैयार होकर बैठी थी। किंतु मन्दा की बातों से उसका सारा विस्तृत आयोजन नष्ट हो गया, भोजन के समय वह भूपति से एक बात भी नहीं कर सकी। भूपति भी अत्यन्त उदास और अन्यमनस्क था। उसने अच्छी तरह भोजन किया भी नहीं , चारु ने केवल एक बार पूछा, 'कुछ खा नहीं रहो हो, क्यों ?'

भूपति ने प्रतिवाद करते हुए कहा, 'क्यों, कम तो नहीं खाया।'

शयन-कक्ष में दोनों के मिलने पर भूपति ने कहा, 'आज रात को तुमने क्या कहने के लिए कहा था ?'

चारु ने कहा, 'देखो, कुछ दिनों से मन्दा का व्यवहार मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। उसको यहाँ रखने का मुझे और साहस नहीं हो रहा है।'

भूपति — 'क्यों, उसने क्या किया है ?'

चारु — 'अमल के साथ वह ऐसा व्यवहार करती है कि उसे देखने में लज्जा लगती है।'

भूपति हँस पड़ा। कहा, 'धत्, तुम पागल हो गयी हो ! अमल तो बच्चा है। कल का छोकरा....'

चारु — 'तुम तो घर की कोई ख़बर नहीं रखते, केवल बाहर की ख़बर इकट्ठी करते फिरते हो। जो हो, बेचारे भैया के लिए मैं चिंतित हूँ। वे कब खाते हैं, नहीं खाते हैं, उसकी मन्दा कोई सुध नहीं लेती, लेकिन अमल के कामों में ज़रा सी भूल-चूक होते ही नौकर-चाकरों के साथ बक-झक करके अनर्थ कर देती है।'

भूपति — 'तुम स्त्रियाँ बहुत संदेही होती हो।'

चारु गुस्से में बोली, 'अच्छा ठीक है, हम संदेही ही सही, किंतु घर में मैं यह सब बेहयापन नहीं होने दूँगी — यह कहे देती हूँ।'

चारु की इस समस्त निराधार आशंका से भूपति मन-ही-मन हँसा। खुश भी हुआ। घर जिससे पवित्र रहे, दाम्पत्य धर्म को आनुमानिक और काल्पनिक कलंक भी लेश-मात्र स्पर्श न करे, इसके लिए साध्वी स्त्रियों में जो अतिरिक्त सतर्कता और संदेहाकुल दृष्टि पायी जाती है, उसमें अपना एक माधुर्य और महत्त्व होता है।

भूपति ने श्रद्धा और स्नेह से चारु के ललाट का चुम्बन करते हुए कहा, 'इसको लेकर और कोई हंगामा करने की आवश्यकता नहीं होगी। उमापद मैमनसिंह में प्रैक्टिस करने जा रहा है ; मन्दा को भी साथ ले जायेगा।'

अन्त में, अपनी दुश्चिन्ता और यह सब अप्रीतिकर आलोचना दूर करने के लिए भूपति ने टेबिल से एक कापी उठाकर कहा, 'चारु, अपना लेख मुझे सुनाओ न।'

चारु ने कापी छीनकर कहा, 'यह तुमको अच्छा नहीं लगेगा, तुम मज़ाक उड़ाओगे !'

इस बात से भूपति कुछ व्यथित हुआ, किंतु उसे छिपाकर हँसते हुए कहा, 'अच्छा मज़ाक नहीं उड़ाऊँगा, इस प्रकार स्थिर होकर सुनूँगा कि तुम्हें लगेगा कि मैं सो गया हूँ।'

किंतु भूपति की एक न चली। देखते-देखते वह कापी अनेक आवरण-आच्छादनों में अन्तर्हित हो गयी।

नौ

भूपति चारु से सारी बातें न कह सका। उमापद भूपति के अख़बार का व्यवस्थापक था। चन्दा-अदायगी, छापे खाने और बाज़ार का हिसाब-किताब चुकाना, नौकरों को वेतन देना, यह सारा भार उमापद के ऊपर था।

इसी बीच सहसा एक दिन काग़ज़ वाले के यहाँ से वकील की चिट्ठी पाकर भूपति को आश्चर्य हुआ। भूपति के पास उनके सत्ताइस सौ रुपये बाक़ी हैं, इसकी सूचना दी थी। भूपति ने उमापद को बुलाकर कहा, 'यह क्या मामला है ! यह रुपया तो मैंने तुमको दिया था। काग़ज़ का बकाया तो चार-पाँच सौ से अधिक नहीं होना चाहिए।'

उमापद ने कहा, 'अवश्य ही उन्होंने भूल की है।'

किंतु बात अब और दबी न रह सकी। कुछ समय से उमापद इसी प्रकार धोखा देता आ रहा था। केवल काग़ज़ के ही बारे में नहीं, भूपति के नाम से उमापद ने बाज़ार में बहुत-सा उधार ले रखा था। वह गाँव में एक पक्का मकान भी बनवा रहा था। उसके लिए बहुत-कुछ सामान भूपति के नाम लिखवा दिया था, और जिसका अधिकांश हुण्डियों से अदा कर दिया गया था।

जब वह बिलकुल पकड़ा ही गया तो रूखे स्वर से बोला, 'मैं कहीं चला तो नहीं जा रहा हूँ। काम करते-करते मैं धीरे-धीरे चुका दूँगा — तुम पर यदि एक कौड़ी भी उधार रहे तो मेरा नाम उमापद नहीं।'

उसका नाम बदलने में भूपति के लिए कोई सांत्वना की बात नहीं थी। अर्थक्षति से भूपति उतना दुखी नहीं हुआ, किन्तु अकस्मात् इस विश्वास-घात से उसे ऐसा लगा मानो घर से शून्य में पैर रखा हो।

उसी दिन वह असमय अन्तःपुर में गया था। संसार में विश्वास का एक स्थान तो अवश्य ही है। क्षण-भर के लिए यही अनुभव करने के लिए उसका हृदय व्याकुल हो गया था। चारु उस समय अपने दुःख में संध्या-दीप बुझाकर जँगले के पास अंधकार में बैठी थी।

दूसरे दिन उमापद मैमनसिंह जाने के लिए तैयार हुआ। बाज़ार के रुपया पाने वालों को ख़बर लगने के पहले ही वह खिसक जाना चाहता था। घृणा के कारण उमापद से भूपति ने बात नहीं की — भूपति की इस मौनावस्था को उमापद ने अपना सौभाग्य समझा।

अमल ने आकर पूछा, 'भाभी, यह क्या मामला है ? सामान ठीक करने की इतनी धूम क्यों मची हुई है ?'

मन्दा — 'अरे भाई, जाना तो है ही। हमेशा थोड़े ही रहूँगी।'

अमल — 'कहाँ जा रही हो ?'

मन्दा — 'गाँव।'

अमल — 'क्यों, यहाँ क्या असुविधा हो रही है ?'

मन्दा — 'मुझे क्या असुविधा होगी ? तुम पाँच जनों के साथ थी, सुख से ही थी। किंतु दूसरों को जो असुविधा होने लगी' — कहते हुए चारु के कमरे की ओर कटाक्ष किया।

अमल गंभीर होकर चुप रहा। मन्दा ने कहा, 'छी, छी, कैसी लज्जा की बात है ? बाबू ने क्या सोचा होगा !'

इस बात को लेकर अमल ने और अधिक आलोचना नहीं की। केवल इतना तय किया, 'चारु ने उनके संबंध में भैया से कुछ ऐसी बात कही है, जो नहीं कहनी चाहिए थी।'

अमल घर से बाहर निकलकर सड़क पर टहलने लगा। उसकी इच्छा हुई — इस घर में फिर लौटकर न आये। भैया ने यदि भाभी की बात पर विश्वास करके उसे अपराधी समझ लिया है, तो जिस रास्ते मन्दा गयी है, उसको भी उसी रास्ते चला जाना चाहिए। मन्दा को विदा करना एक हिसाब से अमल के प्रति भी निर्वासन का आदेश था—केवल मुँह खोलकर कहा नहीं गया। इसके बाद तो कर्त्तव्य बिलकुल स्पष्ट है — यहाँ अब और एक क्षण भी नहीं रहना। किंतु भैया मन-ही-मन उसके संबंध में किसी प्रकार की ग़लत धारणा पाल लें, यह नहीं हो सकता। इतने दिन से वे अक्षुण्ण विश्वास से उसे घर में स्थान देकर उसका पालन करते आ रहे हैं, और इस विश्वास को अमल ने तनिक भी आघात नहीं पहुँचाया है, भैया को यह बात बिना समझाये वह किस प्रकार जायेगा।

भूपति उस समय कुटुम्बियों की कृतघ्नता, महाजनों की भर्त्सना, बिखरा हिसाब-किताब और ख़ाली ख़ज़ाना लिये सिर पर हाथ रखे सोच रहा था। उसके उस शुष्क मनोदुःख का कोई साथी नहीं था — चित्तवेदना और ऋण से अकेले खड़े होकर युद्ध करने के लिए भूपति तैयार हो रहा था।

ऐसे समय अमल ने आँधी के समान कमरे में प्रवेश किया। भूपति ने सहसा अपनी अगाध चिंता से चौंककर देखा। कहा, 'क्या है, अमल !' अकस्मात् लगा, अमल शायद और कोई गुरुतर दुःसंवाद लेकर आया है।

अमल ने कहा, ''भैया, मेरे ऊपर संदेह करने का क्या तुम्हें कोई कारण मिला है ?'

भूपति ने आश्चर्य से कहा, 'तुम्हारे ऊपर संदेह !' मन-ही-मन सोचा, 'संसार जैसा दिखाई दे रहा है, उससे किसी दिन अमल पर भी सन्देह कर बैठूँ तो क्या आश्चर्य है !'

अमल — 'क्या भाभी ने तुमसे मेरे चरित्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार दोषारोपण किया है ?'

भूपति ने सोचा, 'ओह ! तो यह बात है। स्नेह का उलाहना।' वह तो सोच बैठा था कि शायद एक सर्वनाश पर कोई दूसरा सर्वनाश घटित हुआ है ? किंतु गुरुतर संकट के समय भी ये सब तुच्छ बातें सुननी पड़ती है ! दुनिया एक ओर तो पुल हिलाना भी नहीं छोड़ती और साथ-ही-साथ उस पुल पर से शाक-भाजी का बोझा पार उतारने के लिए ताकीद करना भी नहीं छोड़ती। और कोई अवसर होता तो भूपति अमल का परिहास करता, किंतु आज उसमें वैसी प्रसन्नता नहीं थी। उसने कहा, 'पागल हो गये हो क्या ?'

अमल ने फिर पूछा, 'भाभीजी ने कुछ नहीं कहा ?'

भूपति — 'तुमसे स्नेह करती है, इसलिए कुछ कह बैठी हों तो भी उसमें क्रोध करने का तो कोई कारण नहीं है।'

अमल — 'काम-काज की खोज में अब मुझे अन्यत्र जाना चाहिए।'

भूपति ने डाँटकर कहा, 'अमल, न जाने तुम यह क्या लड़कपन कर रहे हो, अभी पढ़ो-लिखो, काम-काज पीछे होगा।'

अमल उदास चेहरे से चला गया, भूपति अपने अख़बार के ग्राहकों की शुल्क-प्राप्ति की तालिका लेकर तीन वर्ष के जमा-ख़र्च का हिसाब मिलाने बैठ गया।

दस

अमल ने तय किया, 'भाभी का मुक़ाबला करना होगा, इस बात को समाप्त किये बिना नहीं छोड़ेगा।' भाभी को जो वह कड़ी-कड़ी बातें सुनायेगा, मन-ही-मन उन्हें दुहराने लगा।

मन्दा के चले जाने पर चारु ने संकल्प किया, अमल को वह स्वयं बुलाकर उसका क्रोध शान्त करेगी। किन्तु लेख का बहाना करके बुलाना होगा। अमल के ही एक लेख का अनुकरण करके 'अमावस्या का आलोक' शीर्षक एक निबंध उसने तैयार किया। चारु यह समझ गयी थी कि उसके स्वतंत्र लेख अमल पसन्द नहीं करता।

पूर्णिमा अपने सम्पूर्ण आलोक को प्रकाशित कर देती है, इसलिए चारु ने अपनी नवीन रचना में पूर्णिमा को तिरस्कृत करते हुए धिक्कारा। उसने लिखा — 'अमावस्या के अतलस्पर्शी अन्धकार में सोलह कला चन्द्र का सम्पूर्ण आलोक तहों में आबद्ध हो गया है, उसकी रश्मि भी बिखरने नहीं पाती — इसीलिए पूर्णिमा की उज्ज्वलता की अपेक्षा अमावस्या की कालिमा अधिक पूर्ण है......' इत्यादि। अमल अपनी सारी रचनाएँ सबके सामने प्रकाशित कर देता है और चारु ऐसा नहीं करती — पूर्णिमा-अमावस्या की तुलना में क्या इसी बात का आभास था ?

उधर इस परिवार का तीसरा व्यक्ति भूपति किसी आसन्न ऋण के तगादे से मुक्ति-लाभ करने की दृष्टि से अपने परम मित्र मतिलाल के पास गया था।

भूपति ने मतिलाल को संकट के समय कई हज़ार रुपये दिये थे — उस दिन अत्यन्त विपन्न होकर वे ही रुपये माँगने गया था। मतिलाल स्नान करने नंगे बदन बैठा पंखे की हवा खा रहा था और लकड़ी के एक बक्स पर काग़ज़ रखकर खूब छोटे-छोटे अक्षरों में हज़ार बार दुर्गा का नाम लिख रहा था। भूपति को देखकर अत्यन्त आत्मीयता के स्वर मे बोला, 'आओ, आओ — आजकल तुम्हारे दर्शन ही दुर्लभ हैं।'

रुपयों की बात सुनकर मतिलाल ने बहुत सोचकर कहा, 'किन रुपयों की बात कर रहे हो ? इस बीच क्या तुमसे कुछ लिया है ?'

भूपति के साल, तारीख स्मरण करा देने पर मतिलाल ने कहा, 'ओह ! उसे तो बहुत दिन हुए तमादी लग गयी।'

भूपति की आँखों में मानों चारों ओर दुनिया का स्वरूप ही बदल गया हो। संसार के जिस अंश पर से चेहरा हट गया था, उसकी ओर देखकर भूपति का शरीर आतंक से सिहर उठा। जिस प्रकार सहसा बाढ़ आ जाने से भयभीत व्यक्ति जहाँ सबसे ऊँची जगह देखता है, वहीं दौड़ जाता है, संशयाक्रान्त भूपति ने भी उसी प्रकार बहिःसंसार से अन्तःपुर में प्रवेश किया। मन-ही-मन कहा, 'और जो हो, चारु तो मुझे धोखा नहीं देगी।'

चारु उस समय खाट पर बैठी गोद में तकिया और तकिये पर कापी रखकर झुकी हुई एकाग्रचित्त से लिख रही थी। जब भूपति उसके अत्यन्त समीप पहुँच कर खड़ा हो गया तभी उसे पता चला ; जल्दी से कापी पैरों के नीचे दबाकर बैठ गयी।

मन जब व्यथित रहता है तब छोटे-से आघात से भी गुरुतर व्यथा का अनुभव होता है। चारु को इस प्रकार अनावश्यक शीघ्रता से अपना लेख छिपाते देख भूपति के मन को कष्ट हुआ।

भूपति धीरे-धीरे खाट पर चारु के पास बैठ गया। चारु अपने रचना-स्रोत में अप्रत्याशित बाधा पाकर और सहसा कापी छिपाने की व्यस्तता से अप्रतिभ होकर कोई भी बात शुरू न कर सकी।

उस दिन भूपति के पास स्वयं भी कुछ देने या कहने को न था। वह खाली हाथों चारु के पास प्रार्थी होकर आया था। चारु से यदि वह आशंका-धर्मी प्रेम का कोई प्रश्न या प्यार का कोई चिह्न पा जाता तो उसकी क्षतयंत्रणा पर औषधि का लेप हो जाता। किंतु लक्ष्मी ही लक्ष्मीहीन हो गयी। ज़रूरत पड़ने पर एक क्षण के लिए चारु मानो प्रीति-भण्डार की चाबी कहीं खोज ही न पायी। दोनों के कठिन मौन के कारण कमरे की नीरवता बड़ी गहरी हो उठी।

कुछ देर बिलकुल चुपचाप बैठा भूपति दीर्घ-निःश्वास लेकर खाट से उठा और धीरे-धीरे बाहर चला गया।

उसी समय अमल अनेक कड़ी-कड़ी बातें मन में संचित करके तेज़ी से चारु के कमरे की ओर आ रहा था। रास्ते में भूपति के अत्यन्त शुष्क विवर्ण मुख को देखकर अमल उद्विग्न होकर रुक गया। पूछा, 'भैया, क्या तबियत ख़राब है ?'

अमल के स्निग्ध स्वर को सुनते ही हठात् भूपति का सारा हृदय अपनी अश्रुधारा को लेकर मानो अन्दर-ही-अन्दर फूल उठा। कुछ देर तक कोई बात नहीं निकल सकी। बलपूर्वक आत्म-संवरण करके भूपति ने आर्द्र स्वर से कहा, 'कुछ नहीं हुआ, अमल ! इस बार पत्र में तुम्हारा कोई लेख निकल रहा है क्या ?'

अमल ने जो कड़ी-कड़ी बातें सञ्चित की थीं, वे कहाँ गयीं? झटपट चारु के कमरे में आकर उसने प्रश्न किया, 'भाभी, भैया को क्या हुआ है, बताओ तो !'

चारु ने कहा, 'कहाँ, कुछ समझ ही न पायी। शायद किसी अख़बार में उनके अख़बार को गाली दी गयी होगी।'

अमल ने सिर हिला दिया।

अमल बिना बुलाये ही आया था और सहज भाव से बातचीत कर रहा था। यह देखकर चारु को बहुत चैन मिला। सीधे लेख की बात छेड़ दी — बोली, 'आज मैंने 'अमावस्या का आलोक' शीर्षक एक लेख लिखा था ; और ज़रा देर हो जाती तो उन्होंने उसे देख लिया होता।'

चारु को पूरा विश्वास था, कि उसका नया लेख देखने के लिए अमल ज़िद करेगा। इसी अभिप्राय से उसने कापी भी ज़रा इधर-उधर की। किंतु, अमल ने एक बार तीखी निगाह से कुछ क्षण चारु के मुख की ओर देखा — क्या समझा, क्या सोचा, पता नहीं। फिर चौंककर उठ खड़ा हुआ। मानो पर्वतीय पथ पर चलते-चलते सहसा कुहरे के बादल हटते ही पथिक ने चौंककर देखा कि वह हज़ार हाथ गहरे गह्वर मे पैर देने जा रहा था। अमल बिना कुछ कहे सीधा कमरे से बाहर चला गया।

चारु अमल के इस अभूतपूर्व व्यवहार का कोई तात्पर्य न समझ सकी।

ग्यारह

दूसरे दिन भूपति ने फिर असमय शयन-कक्ष में आकर चारु को बुलवाया। बोला, 'चारु, अमल के विवाह का एक बड़ा बढ़िया प्रस्ताव आया है।'

चारु अन्यमनस्क थी। बोली, 'क्या बढ़िया आया है ?'

भूपति — 'विवाह का प्रस्ताव।'

चारु — 'क्यों, मैं पसन्द नहीं आयी ?'

भूपति उच्च स्वर में हँस पड़ा। उसने कहा, 'तुम पसन्द आयीं या नहीं आयीं, यह बात अभी अमल से पूछी नहीं गयी। यदि पसन्द आ भी गयी हो तो भी मेरा भी तो एक छोटा-मोटा अधिकार है, मैं चट से थोड़े ही छोड़ दूँगा।'

चारु — 'उफ़ान में न जाने क्या बकते हो ! ठिकाना नहीं है। तुमने कहा था न, कि तुम्हारे विवाह का सम्बन्ध आया है —' चारु का मुख लाल हो उठा।

भूपति — 'ऐसा होता तो क्या दौडकर तुम्हें ख़बर देने आता ? बख़्शीश पाने की तो कोई आशा नहीं थी।'

चारु — 'अमल का सम्बन्ध आया है ? अच्छी बात है। तो फिर अब देर क्यों ?'

भूपति — 'बर्दवान के वकील रघुनाथ बाबू अपनी लड़की के साथ विवाह करके अमल को विलायत भेजना चाहते हैं।'

चारु ने विस्मित होकर प्रश्न किया, 'विलायत !'

भूपति — 'हाँ विलायत।'

चारु — 'अमल विलायत जायगा ? बड़े मज़े की बात है। अच्छा हुआ, ठीक हुआ, तो फिर तुम उससे एक बार बात करके देखो !'

भूपति — 'यदि मेरे कहने के पहले तुम एक बार उसे बुलाकर समझाओ तो क्या अच्छा नहीं होगा।'

चारु — 'मैं तो हज़ारों बार कह चुकी हूँ। वह मेरी बात नहीं मानता। मैं उससे नहीं कह सकूँगी।'

भूपति — 'तुम क्या सोचती हो ? वह नहीं करेगा।'

चारु — 'और भी तो अनेक बार प्रयत्न करके देखा है, किसी प्रकार भी तो राज़ी नहीं होता।'

भूपति — 'किन्तु इस बार इस प्रस्ताव को छोड़ना उसके लिए उचित न होगा। मुझ पर बहुत कर्ज़ हो गया है, अब मैं इस तरह अमल को आश्रय दे नहीं पाऊँगा।'

भूपति ने अमल को बुलवाया। अमल के आने पर उससे कहा, 'वर्दवान के वकील रघुनाथ बाबू की लड़की के साथ तुम्हारे विवाह का प्रस्ताव आया है। उनकी इच्छा है कि विवाह के बाद तुमको विलायत भेज दे। तुम्हारी क्या राय है ?'

अमल ने कहा, 'यदि तुम्हारी अनुमति हो , तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

अमल की बात सुनकर दोनों को आश्चर्य हुआ। वह कहते ही राजी हो जायगा, यह किसी ने भी नहीं सोचा था।

चारु ने तीखे स्वर से मज़ाक करते हुए कहा, 'भैया की अनुमति होने पर ये अपनी राय देंगे ! वाह रे मेरे आज्ञाकारी छोटे भाई ! भैया के ऊपर भक्ति इतने दिनों तक कहाँ थी देवर जी?'

अमल ने उत्तर न देकर थोड़ा हँसने का प्रयत्न किया।

अमल को निरुतर देखकर चारु मानो उसे सतर्क करने के लिए द्विगुणित तेज़ी से बोली, 'यह क्यों नहीं कहते कि तुम्हारी इच्छा है। इतने दिनों तक यह बहाना करते रहने की क्या ज़रूरत थी कि विवाह नहीं करना चाहते? 'मन मन भावे मूड़ हिलावे'।'

भूपति ने मज़ाक करते हुए कहा, 'तुम्हारी ही खतिर अमल इतने दिन मन को रोके रहा, कहीं देवरानी की बात सुनकर तुम्हें ईर्ष्या न हो।'

यह बात सुनकर चारु लाल हो उठी। ज़ोर से बोली, 'ईर्ष्या ! अच्छा जी ! मुझे कभी ईर्ष्या नहीं होती। इस प्रकार की बात कहना तुम्हारा बड़ा अन्याय है।'

भूपति — 'यह लो अपनी स्त्री मे हँसी-मज़ाक भी नहीं कर सकता।'

चारु — 'नहीं, इस तरह का मज़ाक मुझे अच्छा नहीं लगता ?'

भूपति — 'अच्छा, गुरुतर अपराध किया। माफ़ कर दो ! जो हो, तो फिर विवाह की बात तय रही ?'

अमल ने कहा, ''हाँ।'

चारु — 'लड़की अच्छी है या बुरी, एक बार यह देखने जाने की भी देर नहीं सह सकते। तुम्हारी ऐसी दशा हो गयी है इसका तो ज़रा भी आभास न दिया।'

भूपति — 'अमल, लड़की को देखना चाहो तो उसका बन्दोबस्त करूँ। मैंने पता लगाया है, लड़की सुन्दर है।'

अमल — 'नहीं, देखने की तो कोई ज़रूरत मालूम नहीं पड़ती।'

चारु — 'उसकी बात क्यों सुनते हो ? भला ऐसा होता है ! लड़की देखे बिना विवाह होगा ! वह न देखना चाहे, हम लोग तो देखेंगे।'

अमल — 'नहीं भैया, इसको लेकर फ़िजूल देर करने की ज़रूरत नहीं दिखती।'

चारु — 'रहने दो बाबा, देर हुई तो छाती फट जायगी। तुम सिर पर मौर लगाकर अभी चल दो। क्या पता, कहीं तुम्हारा सात राजाओं [१] का ईप्सित बहुमूल्य माणिक्य कोई और न छीन ले जाय।'

अमल को किसी भी हँसी-मज़ाक से चारु ज़रा भी विचलित न कर पायी।

चारु — 'विलायत भाग जाने के लिए तुम्हारा मन इतना उतावला क्यों हो रहा है ? क्यों, यहाँ हम लोग तुमको क्या मारपीट रहे थे ? हैट-कोट पहनकर साहब बने बिना आजकल के लड़कों का मन ही नहीं भरता। देवर जी, विलायत से लौटकर हम-जैसे काले आदमियों को पहचान तो पाओगे न ?'

१ बाङ्ला मे कहावत है 'सात राजाओं का एक धन माणिक्य', जिसका अर्थ है अत्यन्त बहूमूल्य धन।

अमल — 'तो फिर भला विलायत जाने की क्या ज़रूरत है !'

भूपति ने हँसकर कहा, 'काला रूप भूलने के लिए ही तो सात समुद्र पार जाते हैं। ख़ैर, उसकी क्या बात है चारु, हम तो हैं, काले के भक्तों की कमी नहीं होगी।'

भूपति ने खुश होकर उसी समय चिट्ठी लिखकर बर्दवान भेज दी। विवाह का दिन निश्चित हो गया।

बारह

इसी बीच अख़बार बन्द कर देना पड़ा। भूपति और ख़र्च नहीं जुटा सका। जन-साधारण नामक एंक अत्यन्त निर्मम पदार्थ की जिस साधना में भूपति बहुत समय से दिन-रात एकाग्र मन से लगा हुआ था उसे एक क्षण में विसर्जित करना पड़ा। भूपति के जीवन का सारा प्रयत्न निरन्तर गत बारह वर्ष से जिस परिचित पथ पर चला आ रहा था वह सहसा एक जगह पहुँचकर मानो पानी में आ पड़ा था। इसके लिए भूपति बिलकुल तैयार न था। अपने इतने दिन के समस्त उद्यमों को अकस्मात् बाधा आ पड़ने पर वह लौटाकर कहाँ ले जाय ? निराहार अनाथ शिशुओं की भाँति उन्होंने भूपति के मुख की ओर देखा। भूपति ने उन्हें करुणामयी सेवापरायणा स्त्री के समीप अपने अन्तःपुर में लाकर खड़ा कर दिया।

स्त्री उस समय कुछ सोच रही थी। वह मन-ही-मन कह रही थी — 'आश्चर्य है, अमल का विवाह होगा। यह तो बहुत ही अच्छी बात है। किंतु इतने दिनों बाद हमें छोड़कर पराये घर में विवाह करके विलायत चला जाएगा, इससे उसके मन में क्या एक बार ज़रा भी द्विविधा उत्पन्न नहीं हुई ? इतने दिन हमने उसे इतने यत्न से रखा, और विदा लेने का ज़रा-सा अवसर पाते ही ऐसे कमर कसकर तैयार हो गया मानो इतने दिन तक अवसर की प्रतीक्षा में हो। वैसे ऊपर से कितना मिष्टभाषी और स्नेहशील है ! मनुष्य को पहचानना कितना कठिन है ! कौन जानता था कि जो व्यक्ति इतना लिख सकता है उसके पास हृदय है ही नहीं ?'

अपनी सहृदयता से तुलना करते हुए चारु ने अमल के रिक्त हृदय की अत्यन्त अवज्ञा करने की बहुत चेष्टा की, किंतु कर न सकी। भीतर-ही-भीतर स्थित वेदना का उद्वेग तप्त शूल के समान उसके अभिमान को ठेल-ठेलकर जगाने लगा, 'अमल आज नहीं तो कल चला जाएगा, फिर भी इन कई दिनों से वह दिखाई नहीं दिया। हमारे बीच आपस में जो मनोमालिन्य हो गया है उसे दूर करने का भी अवसर नहीं मिला।' चारु प्रतिक्षण मन में सोचती, 'अमल स्वयं आएगा — उनकी इतने दिनों की खेल-कूद यों ही समाप्त नहीं हो जायगी, किन्तु अमल तो अब आता ही नहीं।' अन्त में जब यात्रा का दिन अत्यन्त निकट आ पहुँचा, तब चारु ने स्वयं ही अमल को बुलवाया।

अमल ने कहा, 'थोड़ी देर बाद आता हूँ।' चारु अपने उसी बरामदे की चौकी पर आकर बैठ गयी। सवेरे से ही घने बादलों के छाये रहने से उमस हो रही थी — चारु अपने खुले केशों का जूड़ा बनाकर हाथ का एक पंखा लेकर थकी देह पर धीरे-धीरे पंखा झलने लगी।

बहुत देर हो गयी। अन्त में हाथ का पंखा रुक गया। क्रोध, दुःख, अधैर्य, उसके हृदय में उमड़ पड़े। मन-ही-मन बोली — 'अमल नहीं आया, तो क्या हुआ।' किन्तु तो भी पैरों की

आहट-मात्र से उसका मन दरवाज़े की ओर दौड़ पड़ता।

दूर गिरजे के घंटे ने ग्यारह बजाये। स्नान करके अभी भूपति खाना खाने आएगा। अब भी आधा घण्टा समय है। काश, अब भी अमल आ जाय। जैसे भी हो, पिछले कुछ दिनों का अपना नीरव झगड़ा आज चुका ही डालना होगा — अमल को इस प्रकार विदा नहीं किया जा सकता। इन समवयस्क देवर-भावज के बीच जो चिरन्तन मधुर संबंध है.... प्रगाढ़ मित्रता, लड़ाई, गहरे स्नेह के उपद्रव नाना प्रशान्त सुखालोचनाओं से विजड़ित एक चिरच्छायामय लतावितान — अमल क्या आज उसे धूल में मिलाकर बहुत दिनों के लिए बहुत दूर चला जाएगा ? ज़रा भी परिताप न होगा ? क्या वह उसमें अन्तिम बार जल-सिंचन् करके भी नहीं जायेगा — उनके बहुत दिनों के देवर-भावज-संबंध का अंतिम अश्रु-जल ?

लगभग आधा घण्टा बीत गया। अपना ढीला जूड़ा खोलकर बालों की एक लट लेकर चारु द्रुतवेग से उसे अँगुली में लपेटने और खोलने लगी। अब आँसू रोके नहीं रुकते। नौकर ने आकर कहा, 'माँजी, बाबूजी के लिए डाभ[१] निकालना है।''

चारु ने आँचल से भण्डार की चाबी खोलकर झन-से नौकर के पैरों के पास फेंक दी — वह आश्चर्यचकित होकर चाबी लेकर चला गया।

चारु के हृदय से न जाने क्या उमड़ता हुआ उसके कण्ठ तक आने लगा।

यथासमय प्रसन्न-मुख से भूपति खाने के लिए आया। पंखा हाथ में लिये चारु ने आहार-स्थान पर आकर देखा, अमल भूपति के साथ आया है। चारु ने उसके मुख की ओर नहीं देखा।

अमल ने पूछा, 'भाभी, मुझे बुलाया था ?'

चारु ने कहा, 'नहीं, अब कोई ज़रूरत नहीं।'

अमल — 'तो मैं जाऊँ, मुझे ढेर-सा सामान ठीक करना है।'

चारु ने उस समय तीव्र दृष्टि से एक बार अमल के मुख की ओर देखा। कहा, 'जाओ !'

अमल चारु के मुख की ओर एक बार देखकर चला गया।

भोजन के बाद भूपति कुछ देर चारु के पास बैठता था। आज लेन-देन के हिसाब के झगड़े में भूपति बहुत ही व्यस्त था — इसी से आज अन्तःपुर मे बहुत देर नहीं रुक सकेगा — इसलिए कुछ खिन्न होकर बोला, 'आज मै ज़्यादा देर नहीं बैठ सकता — आज बहुत झंझट है।'

चारु बोली, 'तो जाओ न !'

भूपति ने मोचा, चारु रूठ गयी। फिर बोला 'फिर भी तुरन्त जाना हो, ऐसा नहीं है, थोड़ा आराम करके जाऊँगा।' यह कहते हुए वह बैठ गया। उसने देखा, चारु उदास है। भूपति अनुतप्त चित्त से बहुत देर तक बैठा रहा, किन्तु किसी प्रकार कोई बात शुरू न कर सका। काफ़ी देर तक बातचीत करने की व्यर्थ कोशिश करके भूपति ने कहा, 'अमल तो कल चला जा रहा है, कुछ दिन शायद तुमको बहुत सूना लगेगा।'

चारु उसका कोई उत्तर न देकर जाने क्या लेने के लिए झट दूसरे कमरे में चली गयी। भूपति कुछ देर प्रतीक्षा करके बाहर चला गया।

चारु ने आज अमल के मुख की ओर देखकर लक्ष्य किया, अमल इन कई दिनों में बहुत

१. कच्चा नारियल

दुबला हो गया है — उसके चेहरे पर तरुणाई की वह स्फूर्ति बिलकुल नहीं है। इससे चारु को प्रसन्नता भी हुई और वेदना भी। आसन्नविच्छेद अमल को दुःख दे रहा है, चारु को इसमें सन्देह न रहा — किन्तु तो भी अमल का ऐसा व्यवहार क्यों ? क्यों वह दूर-दूर भागता फिर रहा है ? विदा की बेला को क्यों इच्छापूर्वक इस प्रकार विरोध से कटु बना रहा है ?

बिस्तर पर लेटी हुई सोचते-सोचते वह सहसा चौंककर उठ बैठी। सहसा मन्दा की बात याद आयी। 'मान लो, अमल मन्दा को प्यार करता है। मन्दा चली गयी है इसीलिए यदि अमल इस प्रकार — छिः ! अमल का मन क्या ऐसा होगा ? इतना छोटा ? ऐसा कुलषित ? विवाहित रमणी के प्रति उसका मन आसक्त होगा ? असम्भव।' सन्देह को पूरे प्रयत्न से दूर करना चाहा किन्तु सन्देह ने उसको बलपूर्वक जकड़ लिया था।

इस प्रकार विदा की बेला आ गयी। बादल नहीं हटे। अमल ने आकर कम्पित स्वर में कहा, 'भाभी, मेरा जाने का समय हो गया है। तुम अब से भैया को देखना । उनकी बड़ी संकटपूर्ण अवस्था है — तुम्हें छोड़कर उनके लिए सांत्वना का और कोई मार्ग नहीं है।'

अमल भूपति का विषण्ण, म्लान भाव देखकर, पता लगाकर उसकी दुर्गति की बात जान चुका था। भूपति किस प्रकार अकेला ही चुपचाप अपनी दुःख-दुर्दशा से जूझ रहा था, उसे किसी से भी सहायता या सांत्वना नहीं मिल रही थी, फिर भी उसने अपने आश्रित-पालित आत्मीयजनों को इस संकटावस्था में विचलित नहीं होने दिया, यह सोचकर वह चुप रह गया। फिर उसने चारु की बात सोची, अपने विषय में सोचा। उसकी कनपटी लाल हो गयी। तेज़ी से बोला, 'चूल्हे में जाय आषाढ़ का चाँद और अमावस्या का आलोक। मैं बैरिस्टर होकर लौटने पर यदि भैया की सहायता कर सकूँ तभी समझना कि मैं पुरुष हूँ।'

कल रात-भर जागकर चारु ने सोच लिया था कि विदाई के समय अमल से क्या बातें कहेगी — सहास्य मन और प्रफुल्ल उदासीनता द्वारा मार्जित बातों को उसने मन-ही-मन उज्ज्वल तीक्ष्ण बना लिया था, किन्तु विदा देने के समय चारु के मुँह से कोई बात न निकली। उसने केवल कहा, 'चिट्ठी तो लिखोगे, अमल ?'

अमल ने धरती पर सिर टेककर प्रणाम किया। चारु ने दौड़कर शयन-कक्ष में जाकर द्वार बन्द कर लिया।

तेरह

भूपति बर्दवान जाकर अमल को विवाहोपरान्त विलायत रवाना करके घर लौट आया।

चारों ओर से चोट खाकर विश्वासपरायण भूपति के मन में बहिःसंसार के प्रति कुछ वैराग्य आ गया था। सभा-समिति, मेल-मुलाकात कुछ भी उसे अच्छा न लगा।... उसे लगा इन्हीं बातों में पड़कर मैं इतने दिन तक अपने-आपको बस धोखा ही देता रहा—जीवन के सुख के दिन व्यर्थ चले गये और सार-भाग मैंने घूरे पर फेंक दिया।

भूपति ने मन-ही-मन कहा, 'जाने दो अखबार गया, अच्छा ही हुआ। मुक्ति मिली।' संध्या-समय अंधकार का सूत्रपात देखते ही पक्षी जिस प्रकार घोंसले में लौट आता है, उसी प्रकार भूपति अपने अनेक दिन के संचरण-क्षेत्र का परित्याग करके अन्तःपुर में चारु के पास लौट आया।

मन-ही-मन निश्चय किया, 'बस, अब और कहीं नहीं, यहीं मेरी स्थिति है। जिस काग़ज़ और जहाज़ को लेकर सारे दिन खेल किया करता था, वह डूब गया, अब घर चलूँ।'

मालूम होता है, भूपति का एक साधारण विश्वास था, कि पत्नी के ऊपर किसी को अधिकार प्राप्त नहीं करना पड़ता, वह ध्रुवतारे के समान अपने प्रकाश से स्वयं को आलोकित रखती है — हवा से बुझती नहीं, तेल की आवश्यकता नहीं होती। बाहर जिस समय तोड़-फोड़ शुरू हुई उस समय अन्तःपुर के किसी मेहराब में दरार पड़ी है कि नहीं इसकी एक बार परीक्षा करके देखने की बात भी भूपति के मन में नहीं आयी।

संध्या समय बर्दवान से भूपति घर लौटकर आया। झटपट मुँह-हाथ धोकर जल्दी से खाना खाया। अमल के विवाह और विलायत-यात्रा का वर्णन आद्योपांत सुनने के लिए चारु स्वभावतः विशेष उत्सुक होगी, ऐसा सोचकर भूपति ने आज ज़रा भी देर न की। भूपति सोने के कमरे में बिस्तर पर लेटकर हुक्के की लम्बी नाल गुड़गुड़ाने लगा। चारु अभी तक अनुपस्थित थी, शायद घर का काम कर रही हो। तम्बाकू समाप्त हो जाने पर श्रान्त भूपति को नींद आने लगी। तन्द्रा भंग होने पर क्षण-क्षण में वह चौंककर जागता हुआ सोचने लगा, 'अभी तक चारु आयी क्यों नहीं ?' अन्त में भूपति से न रहा गया। उसने चारु को बुलवा भेजा। भूपति ने पूछा, 'चारु , आज बड़ी देर कर दी ?'

चारु ने कैफ़ियत दिये बिना ही कहा, 'हाँ, आज देर हो गयी।'

चारु के आग्रहपूर्ण प्रश्न की भूपति प्रतीक्षा करता रहा। चारु ने कोई प्रश्न नहीं किया। उससे भूपति कुछ खिन्न हुआ। तो क्या चारु अमल से स्नेह नही करती ? जितने दिन अमल यहाँ रहा चारु उसके साथ हँसती-खेलती रही, और जैसे ही वह चला गया वैसे ही उसके सम्बन्ध में उदासीन ! इस प्रकार के विषम व्यवहार से भूपति के मन में खटका हुआ। वह सोचने लगा — 'तो क्या चारु के हृदय में गहराई नहीं है ? वह केवल आमोद-प्रमोद करना ही जानती है, स्नेह करना नहीं जानती ? स्त्रियों के लिए इस प्रकार का निरासक्त भाव तो अच्छा नहीं है।'

चारु और अमल की मैत्री से भूपति आनन्द का अनुभव करता। इन दोनों का लड़कपन, विवाद और मित्रता, खेल और मंत्रणा उसके लिए मधुर कौतुक के विषय थे ! अमल को चारु सदा जिस तरह लाड़-प्यार करती उससे चारु की कोमल-सहृदयता का परिचय पाकर भूपति मन-ही-मन प्रसन्न होता। आज आश्चर्य में वह सोच रहा था कि वह सब क्या केवल ऊपर-ही-ऊपर था, हृदय के भीतर उसकी कोई नींव नहीं थी ? भूपति ने सोचा, 'चारु के पास यदि हृदय नहीं है तो भूपति कहाँ आश्रय पाएगा ?'

धीरे-धीरे परीक्षा करने के लिए भूपति ने बात छेड़ी, 'चारु, तुम अच्छी तरह तो रहीं ? तुम्हारी तबीयत तो ठीक है ?'

चारु ने संक्षेप में उत्तर दिया, 'ठीक ही हूँ।'

भूपति — 'अमल का विवाह तो सम्पन्न हो गया !'

यह कहकर वह चुप हो गया। चारु ने उस अवसर के अनुकूल कोई संगत बात कहने की बहुत चेष्टा की, किन्तु कोई बात नहीं मिली। वह जड़वत् रह गयी।

भूपति स्वभावतः कभी बात पर ध्यान नहीं देता था — किंतु अमल की विदाई का शोक उसके मन पर छाया हुआ था। इसी कारण चारु की उदासीनता ने उसे आघात पहुँचाया। उसकी

इच्छा थी, सम्वेदना से व्यथित चारु के साथ अमल के प्रसंग में बातचीत करके हृदय का भार हल्का करे।

भूपति — 'लड़की देखने में सुन्दर है। चारु तुम सो रही हो ?'

चारु ने कहा, 'नहीं तो।'

भूपति — 'बेचारा अमल अकेला चला गया। जब उसे गाड़ी पर चढ़ाया, तो वह बच्चों की भाँति रोने लगा — देखकर इस वृद्धावस्था में भी मैं और आँसू न रोक सका। गाड़ी में दो साहब थे, पुरुष को रोते देखकर उन्हें बड़ा कौतुक हुआ।'

दीपक-बुझे शयन-कक्ष में बिछौने पर अन्धकार में चारु पहले तो पीठ फेरकर लेटी रही, फिर झटपट बिछौना छोड़कर चली गयी। चकित होकर भूपति ने पूछा, 'चारु, तबीयत ख़राब है ?'

कोई उत्तर न पाकर वह भी उठा। पास से बरामदे के रोने की दबी आवाज़ सुनकर जल्दी से जाकर देखा, चारु धरती पर औंधी पड़ी रोना रोकने की चेष्टा कर रही है।

ऐसा प्रबल शोकोच्छ्वास देखकर भूपति को आश्चर्य हुआ। सोचा, 'चारु को कितना ग़लत समझा था? चारु का स्वभाव इतना भीतरी है कि मुझसे भी हृदय की कोई वेदना व्यक्त नहीं करना चाहती। जिन लोगों की ऐसी प्रकृति होती है उनका प्रेम अत्यन्त गम्भीर एवं उनकी वेदना भी अत्यन्त गहन होती है। चारु का प्रेम साधारण स्त्रियों के समान बाहर से दिखनेवाला नहीं है,' भूपति ने यह मन-ही-मन जाँचकर देखा। भूपति ने चारु के प्रेम का उच्छ्वास कभी नहीं देखा था ; आज विशेष रूप से समझा कि उसका कारण था चारु के स्नेह का भीतर-ही-भीतर गोपन प्रसार। भूपति स्वयं भी अपने-आपको प्रकट करने में अपटु था ; चारु की प्रकृति से भी हृदयावेग की गम्भीर अन्तःशीलता का परिचय पाकर उसने एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव किया।

तब भूपति चारु के पास बैठकर बिना बोले धीरे-धीरे उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगा। किस प्रकार सांत्वना दी जाती है, भूपति को इसका ज्ञान नहीं था — वह यह नहीं समझ सका कि जब कोई अन्धकार में शोक की गला दबाकर हत्या करना चाहे तब साक्षी का बैठा रहना अच्छा नहीं लगता।

चौदह

भूपति ने जब समाचार-पत्र से छुट्टी ली थी तब उसने अपने मन में अपने भविष्य का एक चित्र खींच लिया था। उसने प्रतिज्ञा की थी, किसी प्रकार की दुराशा-दुश्चेष्टा की ओर नहीं जाएगा, चारु को लेकर लिखना-पढ़ना, प्रेम और प्रतिदिन गार्हस्थ्य के छोटे-मोटे कर्त्तव्यों का पालन करता चलेगा। सोचा था, ये घरेलू सुख सबसे सुलभ हैं, साथ ही सुन्दर हैं, पूरी तरह अपने अधिकार में हैं साथ ही पवित्र और निर्मल है, उन्हीं सहजलभ्य सुखों द्वारा वह अपने जीवन के घर के कोने में संध्या-प्रदीप जलाकर निभृत शान्ति की अवतारणा करेगा। हास-परिहास, वार्तालाप, परस्पर मनोरंजन के लिए प्रतिदिन के छोटे-मोटे आयोजन इन सबके लिए बहुत अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, फिर भी सुख अपरिसीम मिलता है।

कार्यान्वित करके उसने देखा, सहज सुख सहज नहीं है। जिसे मूल्य देकर ख़रीदना नहीं

पड़ता, वह यदि अपने हाथ के पास न मिले तो उसे और किसी प्रकार कहीं भी खोजकर पाना संभव नहीं।

भूपति किसी भी प्रकार से चारु के साथ अच्छी तरह पटरी नहीं बैठा सका। इसके लिए उसने अपने को ही दोषी ठहराया। सोचा, 'बारह वर्ष तक केवल समाचार-पत्र लिखते-लिखते पत्नी के साथ कैसे बात की जाती है, यह विद्या बिलकुल गँवा दी है।' संध्या -दीप जलते ही भूपति आग्रह के साथ कमरे में जाता — एकाध बात करता, एकाध बात चारु करती, उसके बाद क्या कहे, भूपति किसी भी प्रकार सोच नहीं पाता। अपनी इस अक्षमता के कारण पत्नी के समीप वह लज्जा का अनुभव करता। पत्नी के साथ बातचीत करना उसने बहुत-ही आसान समझा था, जब कि मूढ़ के लिए वह बहुत कठिन है। सभा में भाषण देना उसकी अपेक्षा सहज है।

भूपति ने जिस संध्या को हास्य, कौतुक, प्रणय, प्रेम से रमणीय बना देने की कल्पना की थी, वही संध्या-वेला काटनी उसके लिए समस्या बन गयी। कुछ देर मौन बैठे रहने के बाद भूपति सोचता — 'उठकर चला जाऊँ' — किन्तु उठकर चले जाने पर चारु मन में क्या सोचेगी यही सोचकर उठ भी नहीं पाता था। कहता, 'चारु, ताश खेलोगी ?' चारु और कोई रास्ता न देखकर कहती, 'अच्छा।' यह कहकर अनिच्छापूर्वक वह ताश ले आती, बहुत-सी भूलें करके अनायास ही हार जाती — उस खेल में कोई आनन्द न आता।

बहुत सोचकर भूपति ने चारु से एक दिन पूछा, 'चारु, मन्दा को बुला न लिया जाए ? तुम बिलकुल अकेली पड़ गयी हो।'

चारु मन्दा का नाम सुनते ही जल उठी। बोली, 'नहीं, मन्दा की मुझे ज़रूरत नहीं।'

भूपति हँसा। मन-ही-मन खुश हुआ। साध्वी जहाँ सती-धर्म का थोड़ा भी व्यतिक्रम देखती है वहाँ धैर्य नहीं रख सकती।

विद्वेष के प्रथम धक्के से सम्हलकर चारु ने सोचा, 'मन्दा के रहने से शायद वह भूपति को बहुत-कुछ प्रसन्न रख सके। भूपति उससे मन का जो सुख चाहता है वह उसे किसी भी प्रकार नहीं दे पा रही है,' यह समझकर चारु पीड़ा का अनुभव करती। भूपति संसार का सब-कुछ छोड़कर एक मात्र चारु से अपने जीवन का सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त कर लेने की चेष्टा कर रहा है, इस एकनिष्ठ प्रयत्न को और अपने हृदय के दैन्य को समझकर चारु भयभीत हो गयी थी। इस प्रकार कितने दिन कैसे चलेगा ? भूपति और कोई सहारा क्यों नहीं लेता ? एक और समाचार-पत्र क्यों नहीं चलाता ? भूपति का मनोरंजन करने का अभ्यास अभी तक चारु को कभी नहीं करना पड़ा था, भूपति ने उससे किसी प्रकार की सेवा की माँग नहीं की, किसी सुख की प्रार्थना नहीं की, चारु को उसने पूरी तरह से केवल अपने ही लिए प्रयोजनीय नहीं बनाया था ; आज अचानक अपने जीवन के समस्त प्रयोजनों को चारु से माँग बैठने पर वह मानो कहीं कुछ खोज कर पा नहीं रही थी। भूपति को क्या चाहिए, क्या हो कि उसे तृप्ति मिले, चारु यह ठीक से नहीं जानती और जान ले तो भी वह चारु के लिए सहज उपलब्ध नहीं।

भूपति यदि धीरे-धीरे बढ़ता तो चारु के लिए शायद इतना कठिन न होता — किन्तु सहसा रात-भर में ही दिवालिया होकर खाली भिक्षा-पात्र फैला देने से वह मानो विपन्न हो गयी हो।

चारु ने कहा, 'अच्छा, मन्दा को बुला लो, उसके रहने से तुम्हारी देख-भाल में भी बहुत सुविधा हो सकेगी।'

भूपति ने हँसकर कहा, 'मेरी देख-भाल ! कोई ज़रूरत नहीं।'

भूपति ने खिन्न होकर सोचा, 'मैं बड़ा नीरस व्यक्ति हूँ, चारु के किसी भी प्रकार मैं सुखी नहीं कर पा रहा हूँ।'

ऐसा सोचकर वह साहित्य के पीछे पड़ गया। मित्र कभी घर आते, विस्मित होकर देखते, टेनिसन, बायरन, बंकिम की कहानियाँ वगैरह लेकर बैठा है। भूपति की इस असमय काव्यानुराग को देखकर मित्र-मण्डली खूब हँसी-मज़ाक करने लगी। भूपति ने हँसकर कहा, 'भाई, बाँस में भी फ़ूल लगते हैं, किन्तु कब लगते हैं—इसका पता नहीं।'

एक दिन सन्ध्या समय सोने के कमरे में बड़ी बत्ती जलाकर पहले भूपति ने लज्जा से कुछ इधर-उधर किया। बाद में कहा, 'कुछ पढ़कर सुनाऊँ ?'

चारु बोली,'सुनाओ न !'

भूपति — 'क्या सुनाऊँ ?'

चारु — 'जो तुम्हारी इच्छा हो।'

भूपति चारु का अधिक आग्रह न देखकर कुछ हतोत्साहित हो गया। तो भी साहस करके कहा, 'टेनिसन का कुछ तरजुमा करके तुमको सुनाऊँ।'

चारु ने कहा, 'सुनाओ !'

सब मिट्टी हो गया। संकोच और निरुत्साह के कारण भूपति के पढ़ने में बाधा पड़ने लगी। वह बाङ्ला के ठीक प्रतिशब्द नहीं खोज पा रहा था। चारु की शून्य दृष्टि से यह स्पष्ट था, कि वह ध्यान नहीं दे रही थी। वह दीपालोकित छोटा कमरा, वह संध्यावेला का निभृत अवकाश वैसी प्रसन्नता से नहीं भर सका।

भूपति ने और दो-एक बार ऐसी भूल करके अंत में पत्नी के साथ साहित्य-चर्चा करने का प्रयत्न छोड़ दिया।

पन्द्रह

जिस प्रकार कठोर आघात से स्नायु सुन्न पड़ जाती हैं और प्रारम्भ में वेदना का बोध नहीं होता, उसी प्रकार विच्छेद के आरम्भ-काल में अमल के अभाव को चारु मानो अच्छी तरह से अनुभव नहीं कर पायी।

अंत में ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे त्यों-त्यों अमल के अभाव में मानो सांसारिक शून्यता की मात्रा क्रमशः बढ़ने लगी। इस भयंकर अनुभव से चारु हतबुद्धि हो गयी। निकुञ्ज-वन से बाहर निकलकर वह सहसा मानो किसी मरुभूमि में आ पड़ी हो — दिन के बाद दिन बीत रहे हैं — मरुप्रान्त क्रमशः बढ़ता ही चला जा रहा है। इस मरुभूमि की बात वह तनिक भी नहीं जानती थी।

नींद से जागकर सहसा उसकी छाती धक् कर उठती — ध्यान आता, अमल नहीं है। सुबह जिस समय वह बरामदे में पान लगाने बैठती, प्रतिक्षण उसे केवल यही लगता, अमल आज

पीछे से नहीं आयेगा। कभी-कभी अन्यमनस्क होकर ज्यादा पान लगा डालती, फिर सहसा ध्यान आता, ज्यादा पान खाने वाला आदमी है ही नहीं। जैसे ही भण्डारघर में पैर रखती, मन में आता अमल को जलपान नहीं देना है। अन्तःपुर की सीमा पर पहुँच कर मन का अधैर्य उसे स्मरण करा देता, अमल कॉलेज से नहीं लौटेगा। कोई नयी पुस्तक, नया लेख, नयी खबर, नये कौतुक की आशा नहीं है, किसी के लिए कुछ न सीना है, न कोई शौक़ की वस्तु ख़रीदकर रखनी है।

अपनी असह्य वेदना और चांचल्य पर चारु स्वयं विस्मित थी। मनोवेदना की अविरत पीड़ा से वह डरने लगी, वह अपने से ही प्रश्न करने लगी, 'क्यों ? इतना कष्ट क्यों हो रहा है ? अमल मेरा ऐसा कौन है कि उसके लिए इतना दुःख भोगूँ ? मुझे क्या हो गया ? इतने दिन बाद मुझे क्या हुआ ? नौकर-चाकर, रास्ते के मज़दूर भी तो निश्चिन्त होकर फिर रहे हैं, मुझे ऐसा क्यों हुआ ? हे भगवान् ! मुझे ऐसी विपद् में क्यों डाल दिया ?'

वह प्रश्न करती रहती और आश्चर्य करती रहती, किन्तु दुःख किसी भी प्रकार शान्त न होता। अमल की स्मृति से उसका भीतर-बाहर इस प्रकार परिव्याप्त रहता कि उसे कहीं भागने को स्थान ही न मिलता।

भूपति को कहाँ तो अमल की स्मृति के आक्रमण से उसकी रक्षा करनी चाहिए थी, ऐसा न करके वह वियोग-व्यथित स्नेहशील मूढ़ बार-बार अमल की ही याद दिला देता।

अन्त में चारु ने हिम्मत हार दी — वह अपने-आपसे युद्ध करते-करते थक गयी, हार मानकर अपनी अवस्था को निर्विरोध स्वीकार कर लिया। अमल की स्मृति को बड़े यत्न से अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया।

बाद को ऐसा हो गया, एकाग्र चित्त से अमल का ध्यान करना उसके लिए छिपे गर्व का विषय हो गया — वह स्मृति ही मानो उसके जीवन का श्रेष्ठ गौरव हो।

गृह-कार्य से अवकाश का उसने एक समय निश्चित कर लिया। उस समय वह एकान्त में कमरे का द्वार बंद करके एक-एक करके अमल के साथ अपने विगत जीवन की प्रत्येक घटना पर विचार करती। औंधी होकर लेटी-लेटी वह तकिए पर मुँह रखकर बार-बार पुकारती, 'अमल, अमल, अमल !' समुद्र-पार से जैसे उत्तर मिलता, 'भाभी, क्या है भाभी ?' चारु भीगे नेत्रों को बन्द करके कहती, 'अमल, तुम ग़ुस्सा करके क्यों चले गये ? मैंने तो कोई ग़लती नहीं की। तुम यदि प्रसन्न मुद्रा से विदा ले जाते, तो शायद मैं इतना दुःख न पाती।' अमल के सामने रहने पर जिस प्रकार की बातें होती थीं चारु ठीक उसी प्रकार ज़ोर से कहती, 'अमल, तुमको मैं एक दिन भी नहीं भूली। एक दिन के लिए भी नहीं। मेरे जीवन के सारे श्रेष्ठ पदार्थ तुमने अंकुरित किये हैं, अपने जीवन का सार-भाग देकर मैं प्रतिदिन तुम्हारी पूजा करूँगी।'

इस प्रकार चारु ने अपनी सारी घर-गृहस्थी, सारे कर्त्तव्यों के अन्तरतम प्रवेश में सुरंग खोदकर उस निरालोक निस्तब्ध अन्धकार में अंशुमाला से सज्जित एक गोपन शोक-मन्दिर का निर्माण कर लिया। वहाँ उसके पति या संसार के अन्य किसी व्यक्ति का कोई अधिकार न था। वह स्थान जैसा गोपनतम था वैसा ही गम्भीरतम तथा प्रियतम था। उसीके द्वार पर वह संसार के सारे छद्मवेशों का परित्याग करके अपने अनावृत आत्मस्वरूप को लेकर प्रवेश करती और वहाँ से बाहर निकलते ही मुख पर फिर चेहरा लगाकर संसार के हास्यालाप और क्रियाकर्म की रंगभूमि में आ उपस्थित होती।

सोलह

इस तरह मन से द्वन्द्व और विवाद का त्याग करके चारु ने व्यापक विषाद में एक प्रकार की शान्ति का अनुभव किया और एकनिष्ठ होकर पति की भक्ति और सेवा करने लगी। भूपति जब सो जाता तो चारु धीरे से उसके पैरों पर सिर रखकर पैरों की धूल माँग में धारण करती। घर के काम में, सेवा-शुश्रुषा में पति की रंच-मात्र इच्छा भी वह अधूरी न रखती। आश्रित, प्रतिपालित लोगों के प्रति किसी प्रकार सेवा में कमी देखकर भूपति कभी दुःखी होता है, यह जानकर चारु उसके आतिथ्य में तनिक भी त्रुटि न होने देती। इस तरह सारा काम-काज करके भूपति का जूठा प्रसाद खाकर चारु के दिन बीतते।

इस सेवा और देख-भाल के फलस्वरूप भग्नश्री भूपति ने मानो फिर नवयौवन पा लिया हो। मानो इसके पहले पत्नी के साथ विवाह ही नहीं हुआ था, मानो इतने दिनों के बाद अब हुआ हो। सज-धज, हास-परिहास से उत्फुल्ल होकर संसार की सारी दुर्भावनाओं को भूपति ने मन में एक ओर ठेलकर रख दिया। रोग-शमन के बाद जिस प्रकार भूख बढ़ जाती है, शरीर में भोग-शक्ति के विकास का सजीव भाव से अनुभव होने लगता है, भूपति के मन में इतने दिनों के बाद उसी प्रकार के एक अपूर्व और प्रकट भावावेश का संचार हुआ। मित्रों से, यही नहीं चारु से भी छिपाकर भूपति बस कविताएँ पढ़ता रहता। मन-ही-मन कहता, 'समाचार-पत्र बन्द करके और अनेक दुःख भोगकर इतने दिनों के बाद मैं अपनी पत्नी को जान पाया हूँ।'

भूपति ने चारु से कहा, 'चारु, आजकल तुमने लिखना एकदम क्यों छोड़ दिया है ?'

चारु ने कहा, 'क्या कहने हैं मेरे लेख के !'

भूपति — 'सच कहता हूँ, तुम्हारे जैसी भाषा तो मैंने आजकल के लेखकों में और किसी की नहीं देखी। 'विश्वबन्धु' ने जो लिखा था मेरा भी ठीक वही मत है।

चारु — 'बस, बस रहने भी दो।'

भूपति ने, 'यह देखो न' कहकर 'सरोरुह' का एक अंक निकालकर चारु और अमल की भाषा की तुलना करनी शुरू की। चारु का मुँह लाल हो गया। उसने भूपति के हाथ से पत्र छीनकर आँचल में छिपा लिया।

भूपति ने मन-ही-मन सोचा, 'लेखन का कोई साथी न हो तो लेख प्रकट नहीं होता, ठहरो, मुझे लिखने का अभ्यास करना होगा। इसी तरह से क्रमशः चारु में भी लिखने के उत्साह का संचार कर सकूँगा।'

भूपति ने अत्यन्त छिपाकर कापी लेकर लिखने का अभ्यास करना शुरू किया। शब्दकोष देखकर बार-बार प्रतिलिपि करते हुए, भूपति के बेकारी के दिन कटने लगे। उसे लिखने में इतना कष्ट और प्रयत्न करना पड़ता कि उन कष्टों से लिखी गयी रचनाओं के प्रति धीरे-धीरे उसके मन में विश्वास और ममता उत्पन्न हो गयी।

अन्त में एक दिन अपने लेख को किसी दूसरे से नक़ल करवाकर भूपति ने लाकर पत्नी को दिया। कहा, 'मेरे एक मित्र ने अभी-अभी लिखना शुरू किया है। मैं तो कुछ समझता नहीं, तुम एक बार पढ़कर तो देखो तुम्हें कैसा लगता है ?'

कापी चारु के हाथ में देकर जल्दी से भूपति बाहर चला गया। सरल भूपति की यह चालाकी चारु से छिपी न रह सकी।

पढ़ा, लेख की शैली एवं विषय देखकर कुछ हँसी। हाय ! चारु अपने पति की भक्ति करने के लिए इतना आयोजन कर रही है। वह क्यों इस प्रकार लड़कपन करके पूजा के अर्घ्य को बिखेरे डाल रहा है ? चारु से वाह-वाह पाने के लिए उनका इतना प्रयत्न क्यों ? वह यदि कुछ भी न करते, चारु का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही यदि हमेशा प्रयास न करते रहते, तो चारु के लिए पति की पूजा बहुत सहज होती। चारु की एकमात्र इच्छा थी, भूपति किसी भी प्रकार अपने को चारु की अपेक्षा छोटा न समझे।

चारु कापी मोड़कर तकिए पर टिकी दूर की ओर देखती हुई बहुत देर तक सोचती रही। अमल भी उसे पढ़ने के लिए नये लेख ला देता था।

संध्या-समय उत्सुक भूपति शयन-कक्ष के सामने स्थित बरामदे में फूलों के गमलों के निरीक्षण में लग गया, कुछ पूछने का साहस न किया।

चारु स्वयं बोली, 'यह क्या तुम्हारे मित्र का पहला लेख है ?'

भूपति ने कहा, 'हाँ।'

चारु — 'बहुत सुन्दर है — पहला लेख हो, ऐसा नहीं लगता।'

अत्यन्त प्रसन्न होकर भूपति सोचने लगा,'बिना नाम के लेख के लिए अपना नाम किस प्रकार जारी किया जाए ?'

भूपति की कापी अत्यन्त द्रुत गति से भरने लगी। नाम के प्रकट होने में भी देर न लगी।

सत्रह

विलायत से चिट्ठी आने का दिन कब पड़ता, इसकी ख़बर चारु हमेशा रखती। पहले अदन से भूपति के नाम एक चिट्ठी आयी। उसमें अमल ने भाभी को प्रणाम निवेदित किया था, स्वेज़ से भी भूपति को चिट्ठी मिली, उसमें भी भाभी के लिए प्रणाम था। माल्टा से भी चिट्ठी मिली, उसमें फिर भाभी को प्रणाम निवेदित किया गया था।

चारु को अमल की एक भी चिट्ठी नहीं मिली। भूपति की चिट्ठियों को माँगकर उलट-पलट कर बार-बार पढ़कर देखती — प्रणाम लिखने के अतिरिक्त और कहीं भी उसके संबंध में आभास-मात्र भी नहीं था।

इधर कई दिन से चारु ने जो एक शान्त विषाद की चन्द्रातपछाया का आश्रय लिया था, अमल की इस उपेक्षा से वह नष्ट हो गया। अन्त में अपने हृदय को लेकर मानो फिर छीना-झपटी शुरू हुई। संसार-विषयक उसकी कर्त्तव्य-स्थिति में फिर भूकम्प का आंदोलन जाग उठा।

अब भूपति किसी-किसी दिन आधी रात को उठकर देखता, चारु बिछौने पर नहीं है। खोजकर देखता, चारु दक्षिण की ओर वाले कमरे के जँगले पर बैठी है। उसको देखकर चारु तुरंत बोल उठती, 'कमरे में आज बड़ी गरमी है, इसलिए ज़रा खुले में चली आयी।'

उद्विग्न होकर भूपति ने बिछौने के ऊपर पंखा लगवाने का बन्दोबस्त कर दिया, और चारु का स्वास्थ्य ख़राब होने की आशंका करते हुए हमेशा उस पर दृष्टि रखता। चारु हँसकर कहती, 'मैं तो ठीक हूँ, तुम क्यों व्यर्थ चिंचित होते हो ?' चेहरे पर यह हँसी लाने के लिए उसे अपने अंतर की सारी शक्ति लगानी पड़ती।

अमल विलायत पहुँच गया। चारु ने सोचा था, शायद मार्ग में उसे अलग चिट्ठी लिखने का यथेष्ट सुयोग न मिला होगा, विलायत पहुँचकर अमल लम्बी चिट्ठी लिखेगा। किन्तु वह लम्बी चिट्ठी नहीं आयी।

प्रत्येक डाक आने वाले दिन चारु अपने सारे काम-काज तथा बातचीत के बीच भीतर-ही-भीतर छटपटाती रहती। कहीं भूपति कहे, 'तुम्हारे नाम चिट्ठी नहीं है।' इसीलिए साहस करके भूपति से और कोई प्रश्न नहीं कर पाती थी।

ऐसी ही अवस्था में चिट्ठी आने वाले दिन धीरे-धीरे आते हुए भूपति ने मृदुहास्य के साथ कहा, 'एक चीज़ है, देखोगी ?'

चारु ने अत्यन्त हड़बड़ाकर चौंककर कहा, 'कहाँ, दिखाओ !'

भूपति ने हँसी करते हुए न दिखाने का अभिनय किया।

अधीर होकर चारु ने भूपति की चादर से इच्छित पदार्थ निकाल लेने का प्रयत्न किया। उसने मन-ही-मन सोचा, 'सुबह से ही मेरा मन कह रहा है, आज मेरी चिट्ठी ज़रूर आयगी — यह कभी व्यर्थ नहीं हो सकता।'

परिहास करने की भूपति की इच्छा और भी बढ़ी ; चारु से बचकर वह खाट के चारों ओर चक्कर लगाने लगा।

चारु अत्यन्त खीझकर खाट के ऊपर बैठ गयी और उसकी आँखें छल-छला आयीं।

चारु के एकान्त आग्रह से अत्यन्त खुश होकर भूपति ने चादर के भीतर से अपनी रचना की कापी निकालकर तुरंत चारु की गोद में डालते हुए कहा, 'क्रोध मत करो। यह लो !'

अठारह

यद्यपि अमल ने भूपति को सूचित कर दिया था कि पढ़ाई-लिखाई की व्यस्तता के कारण उसे दीर्घ काल तक पत्र लिखने का समय नहीं मिलेगा, तो भी दो-एक मेल से उसका पत्र न आने पर चारु के लिए सारा संसार काँटों की सेज-सा हो उठा।

संध्या-समय इधर-उधर की बातों के बीच अत्यन्त उदासीन भाव से शान्त स्वर में चारु ने अपने पति से कहा, 'अच्छा देखो, क्या विलायत को एक तार भेजकर यह नहीं जाना जा सकता कि अमल कैसा है ?'

भूपति ने कहा, 'दो सप्ताह पूर्व उसकी चिट्ठी मिली थी, वह इन दिनों पढ़ने में व्यस्त है।'

चारु — 'अच्छा ! तब कोई ज़रूरत नहीं। मैंने तो सोचा था, विदेश में है, यदि बीमार हो गया हो — कुछ कहा भी तो नहीं जा सकता।'

भूपति — 'ना' वैसी कोई बात होती तो ख़बर मिलती। तार करने में भी तो कम ख़र्च नहीं है।'

चारु — 'अच्छा ? मैंने तो सोचा था, अधिक-से-अधिक एक या दो रुपये लगेंगे।'

भूपति — 'क्या कहती हो, लगभग सौ रुपये का चक्कर है।'

चारु — 'तब तो कोई बात ही नहीं।'

दो-एक दिन बाद चारु ने भूपति से कहा, 'मेरी बहन यहाँ चूँचुड़ा में है, आज एक बार उसकी ख़बर ले आ सकते हो ?'

भूपति — 'क्यों ? बीमार हो गयी है क्या ?'

चारु — 'नहीं बीमार नहीं, तुम तो जानते ही हो, तुम्हारे जाने से वे कितने खुश होते हैं।'

चारु के अनुरोध से भूपति गाड़ी पर बैठकर हावड़ा स्टेशन की ओर रवाना हुआ। रास्ते में बैलगाड़ियों की एक कतार ने आकर उसकी गाड़ी रोक ली।

इसी समय तारघर के परिचित हरकारे ने भूपति को देखकर उसके हाथ में एक तार थमा दिया। विलायत का तार देखकर भूपति बहुत भयभीत हुआ। सोचा, 'शायद अमल अस्वस्थ है।' डरते-डरते खोलकर देखा, तार में लिखा था, 'मैं अच्छा हूँ।'

इसका क्या अर्थ है ! जाँच करके देखा, यह प्रीपेड टेलीग्राम का उत्तर था।

हावड़ा जाना नहीं हुआ। गाड़ी लौटाकर भूपति ने घर आकर तार पत्नी को दिया। भूपति के हाथ में टेलिग्राम देखकर चारु का मुख पीला हो गया।

भूपति ने कहा, 'मैं तो इसका कुछ भी मतलब नहीं समझ पा रहा हूँ।' पता लगने पर भूपति अर्थ न समझा। चारु ने अपना गहना गिरवी रखकर रुपया उधार लेकर तार भेजा था।

भूपति ने सोचा, इतना करने की तो कोई ज़रूरत नहीं थी। मुझसे थोड़ा-बहुत अनुरोध करती तो मैं ही तार कर देता, छिपाकर नौकर के हाथ गहना गिरवी रखने के लिए भेजना — यह तो अच्छा नहीं हुआ।

रह-रहकर भूपति के मन में केवल मात्र यही प्रश्न उठने लगा, चारु ने क्यों इतनी अति की ? एक स्पष्ट सन्देह अलक्ष्य भाव से उसको बिद्ध करने लगा। उस सन्देह को भूपति ने प्रत्यक्ष भाव से देखना नहीं चाहा, भूलने की चेष्टा की, किन्तु वेदना ने किसी प्रकार पीछा नहीं छोड़ा।

उन्नीस

अमल की तबीयत ठीक है, तो भी वह चिट्ठी नहीं लिखता ! एकदम इस तरह कठोर विच्छेद हुआ कैसे ? एक बार आमने-सामने होकर इस प्रश्न का जवाब ले आने की इच्छा होती है, किन्तु बीच में समुद्र है — पार करने का कोई रास्ता नहीं। निष्ठुर विच्छेद, निरुपाय विच्छेद, सब प्रश्न सब प्रतिकारों से परे विच्छेद।

चारु अपने को अब और नहीं सँभाल सकती। काम-काज पड़ा रहता, सभी कामों में भूल होती, नौकर-चाकर चोरी करते, उसकी दयनीय दशा को लक्ष्य करके लोग तरह-तरह की कानाफूसी करते, उसे किसी की भी सुध न थी।

यहाँ तक कि चारु अचानक चौंक पड़ती, बात करते-करते रोने के लिए उसे उठ जाना पड़ता, अमल का नाम सुनते ही उसका मुख विवर्ण हो जाता।

अन्त में भूपति ने भी सब-कुछ देखा, और जिसकी क्षण-भर के लिए भी कल्पना न थी वह भी सोचा — 'दुनिया उसके लिए एकदम पुरानी, शुष्क जीर्ण हो गयी।

बीच में जिन दिनों भूपति आनन्द के उन्मेष से अन्धा हो गया था, उन कुछ दिनों की स्मृति

उसको लज्जित करने लगी। जो अज्ञानी बन्दर रत्न नहीं पहचानता, झूठा पत्थर देकर क्या उसको इसी तरह ठगा जाता है ?

चारु की जिन सब बातों में, प्रेम-व्यवहार में भूपति भूला हुआ था वे मन में आकर उसको 'मूढ़, मूढ़, मूढ़' कहकर बेंत मारने लगीं।

अन्त में बहुत कष्ट और बहुत प्रयत्न से लिखी अपनी रचनाओं की बात जब मन में आयी तब भूपति ने धरती फट जाने की प्रार्थना की। अंकुश से ताड़ित की भाँति द्रुत गति से चारु के पास जाकर भूपति ने कहा, 'मेरे वे लेख कहाँ हैं ?'

चारु ने कहा, 'मेरे ही पास हैं।'

भूपति ने कहा, 'वे दे दो !'

चारु उस समय भूपति के लिए अंडे की कचौड़ी तल रही थी। बोली, 'तुम्हें क्या अभी चाहिए ?'

भूपति ने कहा, 'हाँ अभी चाहिए।'

चारु कड़ाही उतारकर अलमारी से कापी और काग़ज़ निकाल लायी।

अधीर भाव से उसके हाथ से सब-कुछ छीनकर भूपति ने कापी-काग़ज़ तुरंत चूल्हे मे फेंक दिए।

चारु ने घबराकर उनको बाहर निकालने का प्रयत्न करते हुए कहा, 'यह क्या किया ?'

भूपति ने कसकर उसका हाथ पकड़े हुए चिल्लाकर कहा, 'रहने दो !'

विस्मित होकर चारु खड़ी रही। सारे लेख अन्त मे जलकर भस्म हो गये।

चारु समझ गयी। उसने गहरी उसाँस भरी। कचौड़ियों का तलना बीच मे छोड़कर धीरे-धीरे दूसरी जगह चल गयी।

चारु के सामने कापी नष्ट करने का भूपति का संकल्प नहीं था। किन्तु ठीक सामने आग जल रही थी, उसे देखकर जाने उस पर कैसा खून सवार हो गया ! भूपति ने आत्म-संवरण न कर सकने पर प्रवञ्चित निर्बोध के सारे प्रयत्नों को वंचना-कारिणी के सामने ही आग में फेंक दिया।

सब-कुछ राख हो जाने पर भूपति की आकस्मिक उद्दामता जब शान्त हो आयी, तब चारु अपने अपराध का भार वहन करती हुई जिस प्रकार गहरे विषाद से नीरव नतमुख होकर चली गयी वह भूपति के मन मे साकार हो उठा — सामने दृष्टि डालने पर देखा, भूपति को जो ख़ास तौर से पसन्द है इसीलिए चारु अपने हाथ से यत्नपूर्वक भोजन तैयार कर रही थी।

भूपति बरामदे में रेलिंग के ऊपर टिककर खड़ा हो गया। मन-ही-मन सोचने लगा — 'उसके लिए यह सब चारु का अथक प्रयत्न, इस सारी प्राणपण से की गयी वञ्चना, इसकी अपेक्षा करुण बात संसार में और क्या है ! यह समस्त प्रतारणा, यह तो छलनाकारिणी की तुच्छ छलना-मात्र नहीं है ; इस छलना के लिए क्षत हृदय की क्षत यंत्रणा चौगुनी बढ़ाकर अभागिनी को प्रतिदिन प्रतिक्षण हृदय से रक्त निचोड़कर डालना पड़ता है।' भूपति ने मन-ही-मन कहा, 'हाय अबला ! हाय दुःखिनी ! कोई आवश्यकता नहीं थी, मुझे उस सबकी तनिक भी ज़रूरत न थी। इतने समय तक मैं तो प्रेम न पाकर भी 'मिला नहीं' यह जान भी न पाया था — मेरे तो केवल प्रूफ़ देखकर, अख़बार में लिखकर दिन कट रह थे ; मेरे लिए इतना करने की कोई ज़रूरत नहीं थी !'

तब भूपति ने अपने जीवन को चारु के जीवन से दूर हटाकर — डॉक्टर जिस प्रकार भीषण रोगग्रस्त रोगी को देखता है, भूपति ने भी उसी प्रकार अपरिचित व्यक्ति की तरह चारु को दूर से देखा। एक क्षीणशक्ति नारी-हृदय कैसे प्रबल संसार द्वारा चारों ओर से आक्रान्त हो गया है। कोई भी ऐसा नहीं, जिसके सामने सब बातें कही जा सकें, ऐसी कोई बात नहीं जो व्यक्त की जा सके, ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ समस्त हृदय को खोलकर वह हाहाकार कर सके — फलतः इस अप्रकाशित, अपरिहार्य, अप्रतिकारी, पुञ्जीभूत दुःख-भार को अत्यन्त सहज व्यक्ति की भाँति प्रतिदिन वहन करती, अपनी स्वस्थ-चित्त पड़ोसिनों के सामने उसे प्रतिदिन का गृह-कर्म संपन्न करना पड़ता।

भूपति ने उसके शयन-कक्ष में जाकर देखा — जँगले के सीखचे पकड़कर अश्रुहीन निर्निमेष दृष्टि से चारु बाहर की ओर देख रही थी। धीरे-धीरे आकर भूपति उसके पास खड़ा हो गया — कुछ बोला नहीं, उसके सिर पर हाथ रख दिया।

बीस

मित्रों ने भूपति से पूछा, 'बात क्या है ? इतने परेशान क्यों हो ?'

भूपति ने कहा, 'वो... अख़बार।'

मित्र — 'फिर अख़बार ? घर-गिरस्ती को लपेटकर गंगाजी में डालना है क्या !'

भूपति — 'नहीं, अब अपना अख़बार नहीं निकालूँगा।'

मित्र — 'तब ?'

भूपति — 'मैसूर से एक अख़बार निकलेगा। मुझे उसका सम्पादक बनाया गया है।'

मित्र — 'घर-बार छोड़कर एकदम मैसूर चले जाओगे ? चारु को साथ ले जा रहे हो ?'

भूपति — 'नहीं, मामा वगैरह यहाँ आकर रहेंगे।'

मित्र — 'सम्पादकी का तुम्हारा नशा किसी तरह नहीं छूटा ?'

भूपति — 'मनुष्य को एक-न-एक नशा तो चाहिए ही।'

विदाई के अवसर पर चारु ने प्रश्न किया, 'कब आओगे ?'

भूपति ने कहा, 'तुम्हें यदि सूना-सूना लगे तो मुझे लिखना, मैं चला आऊँगा।'

कहकर विदा लेकर भूपति द्वार के पास पहुँचा तब सहसा दौड़कर चारु ने उसका हाथ पकड़ लिया। कहा, 'मुझे संग ले चलो। मुझे यहाँ छोड़कर मत जाओ !'

भूपति जाते-जाते सहसा रुककर चारु के मुख की ओर देखता रहा। मुट्ठी शिथिल पड़ने के कारण भूपति के हाथ से चारु का हाथ छूट गया। भूपति चारु के पास से हट आकर बरामदे में खड़ा हो गया।

भूपति समझ गया, अमल की वियोग-स्मृति जिस घर को लपेटकर जला रही है, चारु दावानलग्रस्त हरिणी के समान उस घर को छोड़कर भागना चाहती है। — 'किन्तु, मेरी स्थिति उसने एक बार भी सोचकर नहीं देखी ? मैं कहाँ भागूँ ? जो पत्नी हृदय में सदा दूसरे का ध्यान कर रही है, विदेश चले जाने पर भी उसे भूलने का अवसर नहीं पाऊँगा ? निर्जन मित्ररहित प्रवास में

प्रतिदिन उसको संग दान करना होगा ? दिन-भर परिश्रम करके सन्ध्या कैसी भयानक हो उठेगी ! जिसके हृदय पर मृतभार है, उसे छाती से लगाकर रखना, यह मैं कितने दिन कर सकूँगा ? प्रतिदिन यही करते-करते मुझे और कितने वर्ष जीवित रहना होगा ! जो आश्रय टूट-फूटकर बिखर गया है उसके टूटे ईंट-काठादि को छोड़कर नहीं जा सकूँगा, कंधे पर लिये घूमना होगा ?'

भूपति ने आकर चारु से कहा, 'नहीं, यह मैं नहीं कर सकूँगा।'

क्षण-भर में सारा रक्त उतरकर चारु का मुख काग़ज़ की तरह फीका और सफ़ेद हो गया। चारु ने चारपाई मुट्ठी से कसकर पकड़ ली। उसी क्षण भूपति ने कहा, 'चलो , चारु मेरे ही संग चलो !'

चारु बोली, 'नहीं, रहने दो !'

११

गुप्त-धन

एक

अमावस्या की आधी रात थी। मृत्युंजय तांत्रिक मतानुसार अपनी प्राचीन देवी जयकाली की पूजा करने बैठा। पूजा समाप्त करके जब उठा तो निकटस्थ आम के बगीचे से प्रातःकाल का पहला कौआ बोला।

मृत्युंजय ने पीछे घूमकर देखा, मन्दिर का द्वार बन्द था। तब उसने देवी के चरणों में एक बार माथा टेककर उनका आसन सरकाया। आसन के नीचे से कटहल के काठ का एक बक्स बाहर निकला। जनेऊ में चाबी बँधी थी। वही चाबी लगाकर मृत्युंजय ने बक्स खोला। खोलते ही चौंककर हाथ से माथा ठोका।

मृत्युंजय का अन्दर का बगीचा प्राचीर से घिरा हुआ था। उसी बाग़ के एक भाग में बड़े-बड़े पेड़ों की छाया के अंधकार में यह छोटा-सा मन्दिर था। मन्दिर में जयकाली की मूर्ति को छोड़कर और कुछ न था। उसमें केवल एक प्रवेश-द्वार था। मृत्युंजय ने बक्स उठाकर बहुत देर तक हिला-डुलाकर देखा। मृत्युंजय के बक्स खोलने के पहले वह बन्द ही था — किसी ने उसको तोड़ा नहीं था। मृत्युंजय ने कई बार प्रतिमा के चारों और चक्कर लगाकर-टटोलकर देखा — कुछ भी नहीं मिला। उन्मत्त होकर मन्दिर का दरवाज़ा खोल दिया — उस समय प्रभात की किरणें फूट रहीं थीं। मन्दिर के चारों और मृत्युंजय घूम-घूमकर-व्यर्थ की आशा में खोजते हुए चक्कर लगाने लगा।

प्रभातकालीन आलोक जब प्रस्फुटित हो उठा तब वह बाहर के चण्डी-मण्डप में आकर सिर पर हाथ रखे बैठकर सोचने लगा। सारी रात जागने के बाद श्रान्त-देह की थोड़ी-सी झपकी आ गयी, इस समय हठात् चौंक पड़ा। सुना, 'जय हो बाबा।'

प्रांगण में सामने एक जटाजूटधारी संन्यासी खड़े थे। मृत्युंजय ने भक्ति-भाव से उनको प्रणाम किया। संन्यासी से सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए कहा, 'बेटा, तुम मन में व्यर्थ शोक कर रहे हो।'

सुनकर मृत्युंजय को आश्चर्य हुआ। कहा, 'आप अन्तर्यामी हैं, नहीं तो मेरा शोक किस प्रकार जाना ! मैंने तो किसी को कुछ नहीं कहा।'

संन्यासी बोले, 'वत्स, मैं कहता हूँ, तुम्हारा जो कुछ खो गया है उसके लिए तुम आनन्द मनाओ, शोक मत करो !'

मृत्युंजय ने उनके दोनों पैर पकड़कर कहा, 'तब तो आप सभी-कुछ जान गये हैं — किस तरह खो गया है, कहाँ जाकर फिर मिलेगा, वह जब तक न बतायेंगे मैं आपके चरण नहीं छोड़ूँगा।'

संन्यासी ने कहा, 'मैं यदि तुम्हारी अमंगल-कामना करता तो बताता। किंतु भगवती ने कृपा करके जो हर लिया है उसके लिए शोक न करना!'

संन्यासी को प्रसन्न करने के लिए मृत्युंजय ने सारे दिन विविध प्रकार से उनकी सेवा की। दूसरे दिन प्रातः अपनी गोशाला से लोटा-भर फेनयुक्त दूध दुहकर लाने पर देखा संन्यासी नहीं थे।

मृत्युंजय जब बच्चा था, जब उसके पितामह हरिहर एक दिन इसी चंडी-मंडप में बैठकर तम्बाकू पी रहे थे, तब इसी तरह एक संन्यासी 'जय हो बाबा' बोलते हुए इसी आँगन में आ खड़े हुए थे। हरिहर ने उस संन्यासी को कई दिन घर में रखकर विधिपूर्वक सेवा द्वारा सन्तुष्ट किया था।

विदा के समय संन्यासी ने जब यह प्रश्न किया, 'वत्स, तुम क्या चाहते हो।' हरिहर ने कहा, 'बाबा, यदि सन्तुष्ट हुए हों तो एक बार मेरी हालत सुनें। एक समय इस गाँव में हम सबसे समृद्ध थे। मेरे पितामह ने दूर के एक कुलीन को बुलवाकर उससे अपनी एक कन्या का विवाह कर दिया था। उनके यह दौहित्रवंशज ही हमको धोखा देकर आजकल इस गाँव में बड़े आदमी बन बैठे हैं। इस समय हमारी अवस्था अच्छी नहीं है, इसी कारण इनका अहंकार सहन करते रहते हैं। किन्तु अब और नहीं सहा जाता। कैसे हमारा कुल फिर से बड़ा हो जाये, यही उपाय बता दें, यही आशीर्वाद दें।'

संन्यासी ने थोड़ा हँसकर कहा, 'बेटा, छोटे होकर सुख से रहो, बड़े होने के प्रयत्न में मुझे भलाई नहीं दिखती।'

किन्तु हरिहर ने फिर भी नहीं छोड़ा ; वंश को बड़ा करने के लिए सब कुछ स्वीकार करने के लिए राज़ी था।

तब संन्यासी ने अपनी झोली से कपड़े में लिपटा रुई से बने काग़ज़ पर लिखा एक लेख निकाला। काग़ज़ लम्बा था, जन्म-पत्र के समान लिपटा था। संन्यासी ने उसको ज़मीन पर फैला दिया। हरिहर ने देखा, उसमें बने नाना प्रकार के चक्रों में अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न अंकित थे, और सबके नीचे एक लम्बी तुकबंदी लिखी हुई थी जिसका आरम्भ इस प्रकार था :

पाये धरे साधा।
रा नाहि देय राधा।।
शेषे[१] दिल[२] रा।
पागोल छाड़ो पा।।
तेंतुल वटेर कोले[३],
दक्षिण जाओ चले,
दक्षिण जाओ[४] चले।।
ईशानकोणे ईशानी
कहे दिलाम[५] निशानी।। इत्यादि

१. अन्त में, २. दिया, ३ वट की गोद में इमली, ४. जाओ, ५. कह दी।

हरिहर ने कहा, 'बाबा, कुछ भी तो नहीं समझा।'

संन्यासी बोले, 'पास रख लो, देवी की पूजा करो। उनके प्रसाद से तुम्हारे वंश में कोई-न-कोई इस लिखावट को समझ सकेगा। उस समय वह इतना ऐश्वर्य पायगा जिसकी जगत् मे तुमना नहीं।'

हरिहर ने मिन्नत करके कहा, 'बाबा, क्या समझा देंगे नहीं ?'

संन्यासी ने कहा, 'नहीं, साधना द्वारा समझना होगा।'

इसी समय हरिहर का भाई शंकर आ पहुँचा। उसको देखकर हरिहर ने चटपट लेख छिपाने की चेष्टा की। संन्यासी ने हँसकर कहा, 'बड़े होने के रास्ते का दुःख अभी से शुरू हो गया। किन्तु छिपाने की आवश्यकता नहीं है। कारण, इसका रहस्य केवल एक की व्यक्ति जान सकेगा। हज़ार प्रयत्न करने पर भी और कोई उसको नहीं जान पायेगा। तुममें से वह व्यक्ति कौन है, यह कोई नहीं जानता। अतएव इस सबके सामने निर्भय खोलकर रख सकते हो।'

संन्यासी चले गये। किन्तु हरिहर उस काग़ज़ को छिपाकर रखे बिना न रह सका। कहीं और कोई इससे लाभान्वित न हो जाए, कहीं उसका छोटा भाई शंकर इसका फल-भोग न ले, इसी आशंका से हरिहर ने इस काग़ज़ को कटहल के काठ के एक बक्स में बन्द करके अपने आराध्य देवी जयकाली के आसन के नीचे छिपा दिया था। प्रत्येक अमावस्या की अर्धरात्रि की देवी की पूजा करके एक बार वह उस काग़ज़ को खोलकर देखता, काश देवी प्रसन्न होकर उसको अर्थ समझने की शक्ति दे दें।

कुछ दिन से शंकर हरिहर से विनती करने लगा था, 'भैया, एक बार अच्छी तरह मुझे वह काग़ज़ देख लेने दो न !'

हरिहर ने कहा, 'धत् पगले, वह काग़ज़ क्या अब धरा है। वह पाखण्डी संन्यासी काग़ज़ में कुछ चीलबिलौटा बनाकर झाँसा दे गया था — मैंने उस जला दिया है।'

शंकर चुप रह गया। सहसा एक दिन शंकर घर में दिखाई नहीं दिया। उसके बाद से वह लापता रहा।

हरिहर का सारा काम-काज नष्ट हो गया.... गुप्त ऐश्वर्य का ध्यान वह क्षणभर के लिए भी न भूल सका।

मृत्यु-काल आ पहुँचने पर संन्यासी के दिए हुए काग़ज़ को वह अपने बड़े लड़के श्यामापद को दे गया।

यह काग़ज़ पाने पर श्यामापद ने नौकरी छोड़ दी। जयकाली की पूजा और एकाग्रचित्त से इस लेख के पाठ की चर्चा में उसका सम्पूर्ण जीवन कैसे बीत गया, इसका उसे पता भी न चला।

मृत्युंजय श्यामापद का बड़ा लड़का था। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह संन्यासी के दिये हुए इस गुप्त लेख का अधिकारी हुआ। उसकी अवस्था उत्तरोत्तर जितनी ही खराब होती जाती थी, उतने ही आग्रह से उस काग़ज़ के प्रति उनका सारा ध्यान एकाग्र होता जाता। तभी गत अमावस्या की रात को पूजा के पश्चात् वह लेख नहीं दिखाई पड़ा — संन्यासी भी कहीं अन्तर्धान हो गया।

मृत्युंजय ने कहा, 'उस संन्यासी को छोड़ने से काम नहीं चलेगा। सारा पता उसीसे मिलेगा।'

यह कहकर वह घर छोड़कर संन्यासी की खोज में निकला। एक वर्ष रास्तों में घूमते ही बीत गया।

तीन

गाँव का नाम धारागोल था। वहाँ मोदी की दुकान पर बैठा मृत्युंजय तम्बाकू पी रहा था और अन्यमनस्क भाव से अनेक बातें सोच रहा था। कुछ दूर पर मैदान की बगल से एक संन्यासी जा रहा था। पहले तो मृत्युंजय का ध्यान उधर नहीं गया। थोड़ी देर बाद सहसा उसे लगा, जो आदमी चाह रहा था, वह वही संन्यासी है। झटपट हुक्का रखकर मोदी को आश्चर्य में डाल, एक दौड़ में वह दुकान के बाहर निकल गया। किन्तु, वह संन्यासी दिखाई नहीं दिया।

उस समय संध्या का अँधेरा हो गया था। अपरिचित स्थान में वह संन्यासी की खोज करने कहाँ जाये, यह निश्चय न कर सका। लौटकर दुकान पर आकर मोदी से पूछा, 'यह जो सघन वन दिख रहा है, वहाँ क्या है ?'

मोदी ने कहा, 'किसी समय वह वन शहर था, किन्तु अगस्त्य मुनि के शाप से वहाँ के राजा-प्रजा सब माहामारी में मर गये। कहा जाता है, वहाँ खोजने से आज भी बहुत धन-रत्न मिल सकता है ; किन्तु दिन दोपहरी में भी कोई उस वन में जाने का साहस नहीं कर पाता। जो गया वह फिर नहीं लौटा।'

मृत्युंजय का मन चंचल हो उठा। सारी रात मोदी की दुकान में चटाई पर लेटा वह मच्छरों के मारे अपने अंगों को चपेटता रहा और वन की बात, संन्यासी की बात, उस खोये हुए लेख की बात सोचता रहा। बार-बार पढ़ने के कारण वह लेख मृत्युंजय को प्रायः कण्ठस्थ हो गया था, इसलिए अनिद्रा की इस अवस्था उसके मस्तिष्क में बस यही घूम रहा था :

पाये धरे साधा।
रा नहिं देय राधा।।
शेषे दिल रा।
पागोल छाड़ो पा।।

सिर भन्ना गया, इन पंक्तियों को वह किसी भी प्रकार अपने मन से न निकाल सका। अन्त में भोर वेला में जब उसे ज़रा झपकी आयी तब स्वप्न में इन चार पंक्तियों का अर्थ उसे अत्यन्त सहज प्रतीत हुआ। 'रा नहिं देय राधा' अर्थात् 'राधा' का 'रा' न रहने से 'धा' रह गया — 'शेषे दिल रा' अर्थात् 'धारा' हो गया — 'पागोल छाड़ो,' 'पागोल का 'पा' छोड़ देने से 'गोल' बाकी रहा — अर्थात् सब मिलकर 'धारागोल' हुआ — इस जगह का नाम तो 'धारागोल' ही था।

सपना देखते-देखते मृत्युंजय उछल उठा।

चार

दिन-भर वन में घूमकर बड़े कष्ट से रास्ता खोजकर बिना कुछ खाये संध्या समय मृत्युप्रायः हालत में मृत्युंजय गाँव को लौटा।

दूसरे दिन चादर में चिवड़ा बाँधकर फिर उसने वन की यात्रा की। अपराह्न में एक बावड़ी के पास जा पहुँचा।

बावड़ी के पश्चिमी किनारे पर मृत्युंजय अचानक चौंककर खड़ा हो गया। देखा, इमली के पेड़ को घेर कर एक विशाल वट वृक्ष खड़ा था। तत्क्षण उसे याद आया :

तेंतुल वटेर कोले (वट की गोद में इमली)
दक्षिणे जाओ चले (दक्षिण दिशा में चले जाओ)

कुछ दूर दक्षिण दिशा की ओर जाने पर वहाँ घने जंगल में आ पहुँचा। वहाँ बेंत की झाड़ियों को पार करके चलना उसके लिए एकदम असम्भव हो गया। जो हो, मृत्युंजय ने तय किया, इस वृक्ष को खो देने से किसी भी प्रकार काम नहीं चलेगा।

इस पेड़ के पास लौटकर आते हुए वृक्ष के बीच में से पास ही एक मन्दिर का शिखर दीख पड़ा। उसी दिशा की ओर लक्ष्य करके चलता हुआ मृत्युंजय एक टूटे मन्दिर के पास आ पहुँचा। उसने देखा, पास ही एक छोटा चूल्हा, जली लकड़ी और राख पड़ी थी। खूब सावधानी से मृत्युंजय ने मन्दिर के टूटे दरवाज़े में झाँका। वहाँ कोई आदमी नहीं था, प्रतिमा नहीं थी, केवल एक कम्बल, कमंडलु और गेरुआ उत्तरीय पड़ा था।

उस समय सन्ध्या हो चली थी ; गाँव बहुत दूर था, अँधेरे में वन में रास्ता ढूँढ़ा जा सकेगा या नहीं, अतः इस मन्दिर में मनुष्य के बसने का लक्षण देखकर मृत्युंजय खुश हुआ। मन्दिर का एक बहुत बड़ा पत्थर का टुकड़ा टूटकर द्वार के पास पड़ा हुआ था ; उस पत्थर के ऊपर बैठकर नीचा सिर किये सोचते-सोचते मृत्युंजय ने अचानक पत्थर पर जाने क्या खुदा हुआ देखा। झुककर देखा, एक चक्र अंकित था, उसमें कुछ स्पष्ट कुछ लुप्तप्रायः ढंग से निम्नलिखित सांकेतिक अक्षर खुदे हुए थे:
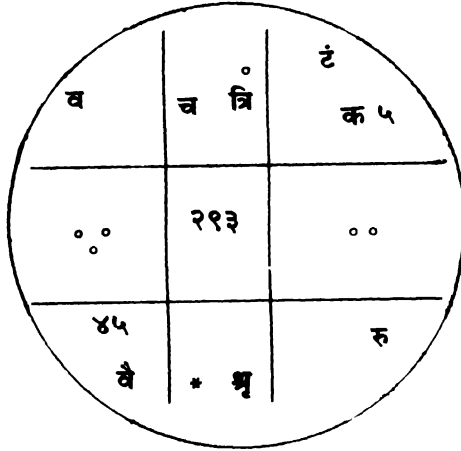
यह मृत्युंजय का सुपरिचित चक्र था। अमावस्या की कितनी रातें उसने सुगंधित धूप के धूएँ और घी के दिये से प्रकाशित पूजा-गृह में रुई के काग़ज़ पर अंकित हुए चक्र-चिह्न पर झुककर रहस्य

जानने के लिए एकाग्रचित्त से देवी की कृपा की याचना की थी। अभीष्ट सिद्धि के अत्यन्त पास आ पहुँचने पर आज उसका सर्वाङ्ग जैसे काँपने लगा। कहीं किनारे आकर नौका न डूब जाए, कहीं किसी एक साधारण भूल के कारण उसका सब-कुछ नष्ट न हो जाए, कहीं वह संन्यासी पहले ही आकर सब-कुछ ढूँढ़कर न ले जा चुका हो, इसी आशंका से उसके हृदय में उथल-पुथल मच गयी, उस समय उसका क्या कर्तव्य था, यह वह न सोच सका। उसे लगा वह कदाचित् ऐश्वर्य-भण्डार के बिलकुल ऊपर बैठा है, फिर भी कुछ जान नहीं पा रहा है।

बैठे-बैठे वह काली का नाम जपने लगा ; संध्या का अंधकार घना हो गया, झिल्ली की झनकार से वन भूमि मुखरित हो उठी।

पाँच

तभी कुछ दूर पर घने जंगल में आग की चमक दिखाई पड़ी। मृत्युंजय अपना पत्थर का आसन छोड़कर उठा, और उस अग्नि-शिला को लक्ष्य करके चलने लगा।

अत्यन्त कठिनाई से कुछ दूर जाकर पीपल के तने की ओट से स्पष्ट देखा, उसका वही परिचित संन्यासी अग्नि के प्रकाश में वह रुई का काग़ज़ लेख फैलाकर एक सींक से राख के ऊपर एकाग्र मन से सवाल लगा रहा था।

मृत्युंजय के घर के पैतृक लेख की लिखावट ! अरे पाखण्डी चोर ! इसी कारण उसने मृत्युंजय को शोक न करने को कहा था।

संन्यासी बार-बार सवाल लगाता और एक छड़ी लेकर ज़मीन नापता। थोड़ी दूर नापकर हताश होकर गर्दन हिलाकर फिर आकर सवाल लगाने मे जुट जाता।

इस तरह करते हुए रात जब समाप्त होने को आयी, जब रात के अन्त की शीतल वायु से वनस्पतियों की चोटियों के पत्ते मर्मरित हो उठे, तब संन्यासी वह लेखपत्र लपेटकर चला गया।

मृत्युंजय यह नहीं समझ सका कि क्या करे। वह यह भली भाँति समझ गया कि संन्यासी की सहायता के बिना इस लिखावट का रहस्य-भेद करना उसके लिए संभव नहीं था। और यह भी निश्चित था कि लुब्ध संन्यासी मृत्युंजय की सहायता नहीं करेगा। अतः छिपकर संन्यासी के ऊपर निगाह रखने के अतिरिक्त और कोई उपाय न था। किन्तु, दिन में गाँव मे बिना गये उसे भोजन नहीं मिलेगा ; अतएव कम-से-कम कल सवेरे एक बार गाँव मे जाना आवश्यक था।

भोर की तरफ़ अंधकार के तनिक फीका पड़ते ही वह पेड़ से नीचे उतर आया। जहाँ संन्यासी राख पर सवाल लगा रहा था, वहाँ अच्छी तरह देखा कुछ समझ न सका। चारों और घूमकर देखा, जंगल में कोई खास बात न थी।

वन-प्रान्त का अंधकार धीरे-धीरे जब क्षीण हो आया, तब बड़ी सावधानी से चारों ओर देखता हुआ मृत्युंजय गाँव की आर चला। उसे डर था कि कहीं संन्यासी उसे देख न ले।

जिस दुकान में मृत्युंजय ने आश्रय ग्रहण किया था, उसके पास एक कायस्थगृहिणी व्रत के उपलक्ष्य में उस दिन ब्राह्मण-भोजन कराने की तैयारी कर रही थी। वहीं अब मृत्युंजय को भोजन मिला गया। कई दिन के भोजन के कष्ट के पश्चात् आज उसका भोजन भारी हो गया। इस भारी भोजन के बाद उसने जैसे ही तम्बाकू पीकर दुकान की चटाई पर ज़रा लेटने की इच्छा की वैसे ही

गत रात्रि को न सो सकने के कारण मृत्युंजय को गहरी नींद आ गयी।

मृत्युंजय ने सोचा था कि आज जल्दी ही भोजनादि करके क़ाफी पहले दिन रहते बाहर निकलेगा। ठीक इसका उल्टा हुआ। जब उसकी नींद टूटी तब सूर्य अस्त हो चुका था। तो भी मृत्युंजय निरुत्साहित नहीं हुआ। अँधेरे में ही उसने वन में प्रवेश किया।

देखते-देखते रात घनीभूत हो आयी। पेड़ों की छाया में निगाह काम नहीं देती थी, जंगल में रास्ता रुक जाता। मृत्युंजय किस ओर कहाँ जा रहा था, उसका उसे कोई पता नहीं चला। जब रात बीत गयी तब देखा कि सारी रात वह वन के किनारे एक ही जगह चक्कर काटता रहा था।

कौओं का झुण्ड काँव-काँव करता हुआ गाँव की ओर उड़ चला। यह शब्द मृत्युंजय के कानों को व्यंग्यपूर्ण धिक्कार-वाक्य-जैसा लगा।

छह

गणना करने में बार-बार भूल होती रही थी, वही भूल ठीक करते-करते अंत मे संन्यासी ने सुरंग का रास्ता ढूँढ़ लिया। मशाल लेकर वे सुरंग में घुसे। पक्की भीत पर काई जमी थी। बीच-बीच में किसी-किसी जगह जल टपक रहा था। जगह-जगह अनेक मेंढक एक-दूसरे से सटे हुए स्तूपाकार होकर सो रहे थे। इस रपटीले रास्ते से कुछ दूर जाते ही संन्यासी ने देखा, सामने दीवार ग्वड़ी थी। राह अवरुद्ध थी। कुछ भी न समझ सके। हर जगह दीवार में लोहे के डंडे से ठोककर देखा, कहीं से पोली होने की आवाज़ नहीं आयी, कहीं रंध्र नहीं। इसमें सन्देह नहीं रहा कि वह रास्ता यहीं समाप्त हो गया था।

फिर वही काग़ज़ खोले। सिर पर भर धरकर बैठे सोचने लगे। वह रात इसी तरह कट गयी।

दूसरे दिन गणना पूरी करके फिर सुरंग में प्रवेश किया। उस दिन गुप्त संकेत का अनुसरण करते हुए एक स्थान विशेष से पत्थर सरकाकर दूसरे रास्ते की खोज की। उस रास्ते पर चलते-चलते फिर एक जगह रास्ता बन्द हो गया।

अंत में पाँचवीं रात सुरंग में प्रवेश करके संन्यासी बोल उठे, 'आज मुझे रास्ता मिल गया है, अब आज मुझसे कोई भूल नहीं होगी।'

रास्ता अत्यन्त जटिल था ; उसकी शाखा-प्रशाखाओं का अन्त न था — कहीं ऐसा सँकरा कि घुटनों के बल चलना पड़ता, बहुत सावधानी से मशाल लिए चलते हुए संन्यासी गोलाकार कमरे-जैसी एक जगह में जा पहुँचे। कमरे के बीच में एक बड़ा कुआँ था। मशाल की रोशनी में संन्यासी उसका तला न देख पा रहे थे। संन्यासी के प्राणपण से बलपूर्वक ठेलते ही इस जंज़ीर के थोड़ा-सा हिलने मात्र से ठन् करके एक शब्द कुएँ के गह्वर से उठा और सारा कमरा प्रतिध्वनित होने लगा। संन्यासी उच्च स्वर से चीख उठे 'मिल गया।'

उनकी चीख के साथ ही कमरे की टूटी हुई दीवार से एक पत्थर खिसक कर गिरा और उसी के साथ-साथ एक और कोई जीवित पदार्थ धम्म से गिरकर चीख उठा। सन्यासी इस आकस्मिक आवाज़ से चौंक पड़े और उनके हाथ से मशाल गिरकर बुझ गयी।

सात

संन्यासी ने पूछा, 'तुम कौन हो ?' कोई उत्तर नहीं मिला। इस पर अँधेरे में टटोलकर देखने से उनका हाथ एक आदमी की देह से टकराया। उसको हिलाकर पूछा, 'तुम कौन ?'

कोई उत्तर नहीं मिला। आदमी मूर्छित हो गया था।

तब चकमक रगड़-रगड़कर संन्यासी ने बड़ी मुश्किल से मशाल जलायी। इस बीच वह आदमी भी सचेत हो गया था, और उठने का प्रयत्न करते हुए पीड़ा से आर्त्तनाद कर उठा।

संन्यासी ने कहा, 'अरे, यह तो मृत्युंजय है ! तुम्हारी ऐसी मति क्यों हुई ?'

मृत्युंजय बोला, 'बाबा, माफ़ करो ! भगवान् ने मुझे दंड दिया है। पत्थर फेंककर तुम्हें मारने जा रहा था, सँभल नहीं सका — फिसलकर पत्थर-सहित मैं गिर पड़ा। पैर अवश्य ही टूट गया होगा।'

संन्यासी ने कहा, 'मुझे मारने से तुम्हें क्या लाभ होता ?'

मृत्युंजय ने कहा, 'तुम लाभ की बात पूछ रहे हो। तुम लोभ से मेरे पूजा-घर से लेख चुराकर इस सुरंग में घूमते फिर रहे हो। तुम चोर हो, पाखण्डी हो ! मेरे पितामह को जिन संन्यासी ने यह लेख दिया था उन्होंने कहा था कि हमारे ही वंश का कोई इस लेख के संकेत को समझ पायगा। यह गुप्त ऐश्वर्य हमारे ही वंश का प्राप्य है। इसलिए मैं कई दिन से, बिना खाये, बिना सोये छाया के समान तुम्हारे पीछे घूमता रहा। आज जिस समय तुम चिल्लाये 'मिल गया' तो मुझसे और नहीं रहा गया। मैं तुम्हारे पीछे आकर इस गड्ढे में छिपा बैठा था। वहाँ से एक पत्थर सरकाकर तुमको मारने चला था, किन्तु शरीर दुर्बल था, जगह बहुत रपटीली थी — इसी से गिर पड़ा — इस समय तुम मुझे मार डालो तो वह भी अच्छा है — मैं यक्ष होकर इस धन की रक्षा करूँगा — किन्तु तुम इसे ले नहीं पाओगे — किसी भी प्रकार नहीं। यदि लेने का यत्न करोगे, मैं ब्राह्मण हूँ, तुम्हें अभिशाप देकर इस कुएँ में कूदकर आत्म-हत्या कर लूँगा। यह धन तुम्हारे लिए ब्राह्मण, गौ के रक्त के समान होगा — इस धन का तुम कभी भी सुख से भोग नहीं कर सकोगे। हमारे पिता-पितामह इस धन के ऊपर पूर्ण ममता रखकर मरे हैं — इस धन का ध्यान करते-करते हम दरिद्र हो गये हैं — इस धन की खोज में मैं घर मे अनाथा स्त्री और छोटे बच्चे छोड़कर, आहार-निद्रा त्यागकर अभागे पागल के समान घाट-मैदानों में घूमता फिर रहा हूँ — इस धन को तुम मेरे देखते कभी नहीं ले सकोगे।'

आठ

संन्यासी बोले, 'मृत्युंजय, तो फिर सुनो ! तुम्हें सारी बात सुनाता हूँ। तुम जानते हो, तुम्हारे पितामह का एक छोटा सहोदर भाई था, उसका नाम था शंकर।'

मृत्युंजय ने कहा, 'हाँ, वे घर से लापता हो गये थे।'

संन्यासी ने कहा, 'मैं वही शंकर हूँ।'

मृत्युंजय ने हताश होकर दीर्घ निश्वास छोड़ी। इतने दिन तक वह यह निश्चय किये बैठा था

कि इस गुप्त धन के ऊपर एकमात्र उसी का अधिकार है, उसीके वंश के आत्मीय ने आकर यह अधिकार नष्ट कर दिया।

शंकर ने कहा, 'संन्यासी से लेख पाने के बाद से भैया ने मुझसे उसे छिपाने का पूरा यत्न किया था। किंतु वे जितना ही छिपाने लगी उतनी ही मेरी उत्सुकता बढ़ने लगी। देवी के आसन के नीचे बक्स में उन्होंने इस लेख को छिपाकर रखा था, मुझे उसका पता लग गया, और दूसरी चाबी बनवाकर प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा करके लेख की प्रतिलिपि करने लगा। जिस दिन नक़ल समाप्त कर ली, उसी दिन मैं इस धन की खोज में घर छोड़कर बाहर निकल पड़ा। मेरे भी घर में अनाथा स्त्री और एक बच्चा था। आज उनमें से कोई नहीं बचा है।

'कितने देश-देशांतरों में भ्रमण किया है विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। संन्यासी के दिये हुए इस लेख को कोई संन्यासी मुझे अवश्य समझा देगा, यह समझकर मैंने अनेक सन्यासियों की सेवा की। अनेक पाखंडी सन्यासियों ने मेरे इस काग़ज़ का पता लगाकर इसे चुराने की भी कोशिश की। इस प्रकार एक के बाद एक कितने ही वर्ष बीत गये, मेरे मन को क्षण-भर के लिए भी सुख नहीं मिला, शांति नहीं मिली।

'अन्त में पूर्व जन्म में अर्जित पुण्य के प्रभाव से कुमायूँ-पर्वतों में बाबा स्वरूपानंद स्वामी का संग मिला। उन्होंने मुझसे कहा — बेटा तृष्णा दूर करो, तभी विश्व-व्यापी अक्षय सम्पद अपने-आप तुम्हें प्राप्त होगी।'

'उन्होंने मेरे मन के ताप को शीतल कर दिया। उनकी कृपा से आकांक्षा का आलोक और धरती की श्यामलता मेरे लिए राजसम्पदा हो गयी। एक दिन पर्वत की शिला के नीचे शीतकाल की संध्या के दिन परमहंस बाबा की धूनी मे आग जल रही थी — उसी आग में अपना काग़ज़ समर्पित कर दिया। बाबा थोड़ा मुस्कराये। उस हँसी का अर्थ उस समय नहीं समझा था, आज समझा हूँ। उन्होंने अवश्य ही मन-ही-मन कहा होगा कि काग़ज़ को राख कर डालना आसान है, किंतु वासना इतनी जल्दी भस्मसात् नहीं होती।

'काग़ज़ का जब कोई चिह्न शेष नहीं रहा तब मेरे मन के चारों ओर से जैसे एक नागपाश-बंधन पूर्ण रूप से खुल गया हो। मुक्ति के अपूर्व आनन्द से मेरा चित्त परिपूर्ण हो उठा। मैंने सोचा, 'अब मुझे और कोई भय नहीं — जगत् में मैं और कुछ नहीं चाहता।'

'उसके कुछ समय बाद परमहंस बाबा का साथ छूट गया। उनको बहुत ढूँढ़ा, कहीं भी उन्हें न देख सका।

'अब मैं संन्यासी होकर निरासक्त मन से विचरने लगा। अनेक वर्ष बीत गये — उस लेख की बात प्रायः भूल ही गया था।

'इसी बीच एक दिन धारागोल के इस जंगल मे प्रवेश करके एक टूटे मंदिर में आश्रय किया। दो-एक दिन रहते-रहते देखा, मंदिर की भीत पर स्थान-स्थान पर अनेक प्रकार के चिह्न बने हुए हैं। ये चिन्ह मेरे पूर्व परिचित थे।

'कभी बहुत दिनों तक जिसकी खोज मे फिरा था उसका सुराग मिल गया, इसमें मुझे सन्देह न रहा। मैंने कहा, 'यहाँ अब रहना नहीं होगा, यह वन छोड़ चलूँ।'

किंतु छोड़कर जाना संभव नहीं हुआ। सोचा, 'देख ही क्यों न लिया जाये, क्या है —

कौतूहल को बिलकुल शांत कर देना ही अच्छा है।' चिह्नों के लेकर काफ़ी विचार किया ; कोई फल न निकला। बार-बार लगने लगा कि वह काग़ज़ क्यों जला डाला — उसके रखे रहने में ही क्या क्षति थी ?

'तब मैं फिर अपने जन्म-स्थान गया। अपने पैतृक घर की अत्यन्त दुरवस्था देखकर सोचा, 'मैं संन्यासी हूँ, मुझे धन-रत्नों से क्या प्रयोजन, किंतु ये ग़रीब लोग तो गृहस्थ हैं, उस गुप्त सम्पत्ति का इनके लिए उद्धार करने में कोई दोष नहीं है।'

'मुझे पता था कि वह लेख कहाँ है, उसे प्राप्त करना मेरे लिए तनिक भी कठिन नहीं हुआ।

'उसके बाद एक वर्ष से यह काग़ज़ लिये मैंने इस निर्जन वन में गणना की है और खोज की है। मन में कोई चिंता न थी। बार-बार जितनी बाधाएँ आती थीं उत्तरोत्तर उतना ही आग्रह बढ़ता जाता था — उन्मत्त भी भाँति रात-दिन उस एक ही अध्यवसाय में रत रहा।

'इस बीच कब तुमने मेरा पीछा किया, मैं नहीं जान सका। मैं अपनी सहज अवस्था में रहता तो तुम अपने को मुझसे कभी छिपाकर न रख पाते, किंतु मैं तन्मय था, बाहर की घटनाएँ मेरी दृष्टि आकर्षित नहीं करती थीं।

'उसके बाद, जो खोज रहा था,वह आज अभी मिला है। यहाँ जितना है, पृथ्वी पर किसी राजराजेश्वर के भंडार में भी उतना धन नहीं है। बस केवल एक संकेत का रहस्य समझते ही वह धन मिल जायेगा।

'यह संकेत ही सबसे कठिन है। किंतु वह संकेत भी मैंने मन-ही-मन जान लिया है। इसीलिए 'मिल गया' कहकर मन के उल्लास में चीख उठा। यदि चाहूँ तो क्षण-भर में उस सोने और माणिकों के भंडार के बीच खड़ा हो सकता हूँ।'

मृत्युंजय ने शंकर के पैर पकड़कर कहा, 'तुम संन्यासी हो, तुम्हे धन की कोई ज़रूरत नहीं है — मुझे उस भंडार में ले चलो। मुझे वंचित मत करो!'

शंकर ने कहा, 'आज मेरा अन्तिम बंधन खुल गया है। तुम जो पत्थर फेंककर मुझे मारने के लिए तैयार हुए थे उसकी चोट तो मेरे शरीर मे नहीं लगी, किंतु उसने मेरे मोहावरण को भेद डाला है। आज मैंने तृष्णा की कराल मूर्ति देख ली। मेरे गुरु परमहंसदेव की गूढ़ प्रशांत हँसी ने इतने दिनों के बाद मेरे हृदय मे कल्याण-दीप की सदा जलनेवाली आलोक-शिखा जला दी है।'

मृत्युंजय ने शंकर के पैर पकड़कर फिर कातर स्वर मे कहा, ' तुम मुक्त पुरुष हो, मै मुक्त नहीं, मैं मुक्ति नहीं चाहता, मुझे इस ऐश्वर्य से वंचित नहीं कर पाओगे।'

संन्यासी ने कहा, 'वत्स, तब तुम अपना यह लेख लो। यदि धन ढूँढ़ सको तो ढूँढ़ लो!'

इतना कहकर अपना डंडा और लेख मृत्युंजय के पास रखकर संन्यासी चले गये। मृत्युंजय ने कहा, 'मुझ पर दया करो, मुझे छोड़कर मत जाओ — मुझे दिखा दो!'

कोई उत्तर नहीं मिला।

तब मृत्युंजय के लाठी का सहारा लेकर हाथ से टटोलते हुए सुरंग से बाहर निकलने की चेष्टा की। किंतु रास्ता अत्यन्त जटिल था, गोरखधन्धे के समान बार-बार रुकावटें आने लगीं। अन्त में घूमते-घूमते थककर एक जगह लेट गया और नींद आते देर नहीं हुई।

नींद से जगा,तब रात थी या दिन, या कितना समय था, यह जानने का कोई उपाय नहीं था।

खूब भूख लगने पर मृत्युंजय ने चादर के कोने में बँधा चिवड़ा खोलकर खा लिया। उसके बाद फिर एक हाथ से टटोलकर सुरंग से बाहर निकलने का रास्ता खोजने लगा। अनेक जगह रुकावटें मिलने के कारण बैठ गया। तब चिल्लाकर पुकारा, 'हे संन्यासी, तुम कहाँ हो।'

उसकी यह पुकार सुरंग की समस्त शाखा-प्रशाखाओं से बार-बार प्रतिध्वनित होने लगी। थोड़ी दूर से उत्तर आया, 'मैं तुम्हारे पास ही हूँ — क्या चाहते हो, बोलो !'

मृत्युंजय ने दीन स्वर में कहा, 'धन कहाँ है, दया करके मुझे दिखा दो !'

फिर कोई उत्तर नहीं मिला। मृत्युंजय ने बारम्बार पुकारा। कोई उत्तर नहीं मिला। दंड पहरों द्वारा अविभक्त पृथ्वी की इस चिररात्रि में मृत्युंजय और एक बार सो लिया। नींद से फिर उसी अंधकार में वह जागा। चिल्लाकर पुकारा 'अरे ?'

पास से ही उत्तर मिला, 'यहीं हूँ। क्या चाहते हो ?'

मृत्युंजय ने कहा, 'मैं और कुछ नहीं चाहता — इस सुरंग से मेरा उद्धार करके ले चलो !'

संन्यासी ने प्रश्न किया, 'तुम धन नहीं चाहते ?'

मृत्युंजय ने कहा, 'नहीं, नहीं चाहता।'

तभी चकमक रगड़ने का शब्द हुआ और कुछ देर बाद बत्ती जल गयी।

संन्यासी ने कहा, 'तो फिर आओ मृत्युंजय, इस सुरंग से बाहर चले।'

मृत्युंजय ने दयनीय स्वर में कहा, 'बाबा, क्या सब-कुछ बिलकुल व्यर्थ जाएगा ? इतने कष्ट के बाद भी क्या धन नहीं मिलेगा ?'

उसी क्षण बत्ती बुझ गयी। मृत्युंजय बोला, 'तुम कितने निष्ठुर हो !' और यह कहकर वहीं बैठकर सोचने लगा। समय का कोई हिसाब किताब नहीं था, अंधकार का कोई अन्त नहीं था। मृत्युंजय को इच्छा हुई कि अपने तन-मन के सारे बल से इस अंधकार को फोड़कर चूर्ण कर डाले। प्रकाश, आकाश और विश्व-सौंदर्य की विचित्रता के लिए उसके प्राण व्याकुल हो उठे, बोला, 'हे संन्यासी ! निष्ठुर संन्यासी ! मैं धन नहीं चाहता, मेरा उद्धार करो !'

संन्यासी ने कहा, 'धन नहीं चाहते ? तो फिर मेरा हाथ पकड़ो। मेरे साथ चलो !'

इस बार बत्ती नहीं जली। एक हाथ में लाठी और एक हाथ में संन्यासी का उत्तरीय पकड़कर मृत्युंजय धीरे-धीरे चलने लगा। बहुत देर तक कई टेढ़े-मेढ़े रास्तों में खूब घूम-फिरकर एक जगह जाकर संन्यासी से कहा, 'खड़े रहो !'

मृत्युंजय खड़ा रहा। उसके बाद मोरचा लगे लोहे के एक दरवाज़े के खुलने का भयंकर शब्द सुनाई दिया। संन्यासी ने मृत्युंजय का हाथ पकड़कर कहा, आओ !'

मृत्युंजय ने आगे बढ़कर जैसे किसी कमरे में प्रवेश किया। तब फिर चकमक रगड़ने का शब्द सुनाई दिया। कुछ देर बाद जब मशाल जल गयी तब यह कैसा अद्‌भुत दृश्य ! चारों ओर दीवारों पर पृथ्वी के गर्भ में रुद्ध प्रखर सूर्यालोक-पुंज के समान सोने का मोटा-मोटा पत्तर तह पर तह मढ़ा हुआ था। मृत्युंजय की दोनों आँखें चमकने लगीं। वह पागल की भाँति बोल उठा, 'यह सोना मेरा है — इसे मैं किसी भी प्रकार छोड़कर नहीं जा सकता।'

संन्यासी ने कहा, 'अच्छा छोड़कर मत जाना, यह मशाल रही — और यह सत्तू-चिवड़ा और एक बड़े लोटे में जल रखे जाता हूँ।'

देखते-देखते संन्यासी बाहर चले गये और स्वर्ण-भण्डार के लोहे के दरवाज़े के किवाड़ बन्द हो गये।

मृत्युंजय बार-बार इस स्वर्ण-पुंज का स्पर्श करता हुआ सारे कमरे में चक्कर लगाने लगा। सोने के छोटे-छोटे टुकड़े तोड़कर ज़मीन के ऊपर फेंकने लगा, गोद में बटोरने लगा, एक से दूसरे को टकराकर शब्द करने लगा और सारे शरीर पर फेरकर उसका स्पर्श लेने लगा। अन्त में थककर सोने का पत्तर बिछाकर उसके ऊपर लेटकर सो गया।

जगकर देखा, चारों ओर सोना झिलमिला रहा था। सोने के अलावा और कुछ न था। मृत्युंजय सोचने लगा, 'धरती पर शायद अब तक प्रभात हो गया होगा समस्त जीव-जन्तु आनन्द से जाग उठे होंगे।' उसके घर में तालाब के किनारे के बाग़ से प्रातःकाल जो स्निग्ध सुगंध आती थी वही मानो उसकी कल्पना में उसकी नाक में प्रवेश करने लगी। उसे मानो स्पष्ट दिखायी दिया कि छोटी-छोटी बत्तखें झूमती-झूमती कलरव करती हुई प्रातःकाल आकर तालाब में तैर रही हों और घर की नौकरानी बामा कमर में आँचल लपेटे ऊपर उठे दाहिने हाथ में पीतल-काँसे की थाली-कटोरियों का ढेर लिये पर जमा कर रही है

दरवाज़ा पीटकर मृत्युंजय पुकारने लगा, 'ओ संन्यासी महाराज, कहाँ हो ?'

द्वार खुल गया। संन्यासी ने कहा, 'क्या चाहते हो ?'

मृत्युंजय बोला, 'मैं बाहर जाना चाहता हूँ — किन्तु क्या सोने के दो-एक पत्तर भी साथ नहीं ले जा सकूँगा ?'

उसका कोई उत्तर दिये बिना संन्यासी ने फिर मशाल जलाई — एक भरा हुआ कमण्डल रख दिया और उत्तरीय से कई मुट्ठी चिवड़ा ज़मीन पर रखकर बाहर चले गये। द्वार बन्द हो गया।

मृत्युंजय ने सोने का एक पतला पत्तर लेकर उसे मोड़कर टुकड़े-टुकड़े करके तोड़ डाला। उस टूटे हुए सोने को लेकर कमरे के चारों ओर मिट्टी के ढेले के समान बिखरेने लगा। कभी दाँतों से काटकर सोने के पत्तर में दाग करता। कभी सोने के किसी पत्तर को ज़मीन पर फेंककर उसके ऊपर बार-बार पदाघात करता। मन-ही-मन कह उठता, 'पृथ्वी पर ऐसे सम्राट कितने हैं जो सोने को इस प्रकार इधर-उधर बिखेर सकते हैं। मृत्युंजय पर मानो एक प्रलय की सनक सवार हो गयी। उसकी इच्छा होने लगी कि वह उस स्वर्ण-राशि को चूर्ण करके धूल के समान झाड़-झाड़कर उड़ा दे — और इस प्रकार से पृथ्वी के सारे स्वर्ण-लुब्ध राजा-महाराजाओं का तिरस्कार करे।

इस तरह जितने देर हो सका, मृत्युंजय ने सोने को लेकर खींच-तान की और फिर थककर सो गया। नींद खुलने पर वह अपने चारों ओर वही स्वर्णराशि देखने लगा। तब दरवाज़े को पीटकर वह चिल्लाकर बोल उठा, 'ओ संन्यासी, मैं यह सोना नहीं चाहता — सोना नहीं चाहता।'

किन्तु, द्वार नहीं खुला। चिल्लाते-चिल्लाते मृत्युंजय का गला बैठ गया, किन्तु द्वार नहीं खुला। सोने के एक-एक पिंड को लेकर वह दरवाज़े के ऊपर फेंककर मारने लगा, किंतु कोई परिणाम न निकला। मृत्युंजय का हृदय बैठने लगा — 'तब क्या संन्यासी नहीं आयेंगे ? इस स्वर्ण-कारागार में तिल-तिल, पल-पल करके भूखे मर जाना होगा।'

तब सोना देखकर उसे डर लगने लगा। विभीषिका के मौन कठोर हास्य के समान सोने का वह स्तूप चारों ओर स्थिर होकर खड़ा था — उसमें स्पंदन नहीं था, परिवर्तन नहीं था — मृत्युंजय का हृदय अब काँपने लगा, व्याकुल होने लगा, इसके साथ उनका कोई सम्पर्क नहीं था, वेदना का कोई सम्बन्ध नहीं था। सोने के ये पिंड न प्रकाश चाहते थे, न आकाश, न वायु, न प्राण, न मुक्ति, ये इस चिर अन्धकार में चिरकाल से उज्ज्वल रहकर, कठोर होकर, स्थिर होकर पड़े थे।

पृथ्वी पर अब गोधूलि बेला होगी ! अहा ! गोधूलि का वह सुनहलापन क्षण भर के लिए आँखों को शीतल करके अन्धकार-प्रान्त में रोकर विदा ले लेता है। उसके पश्चात् कुटिया के आँगन में सन्ध्या-तारा निर्निमेष दृष्टि से देखने लगता है। गोशाला में दीपक जलाकर बहू घर के कोने में सन्ध्या-दीप रखती है। मन्दिर की आरती का घण्टा बजने लगता है।

गाँव की, घर की अत्यन्त क्षुद्र और तुच्छ बातें आज मृत्युंजय की कल्पनादृष्टि के आगे उज्ज्वल हो गयीं। उनका वह भोला कुत्ता पूँछ, सिर-एक करके आँगन के कोने में सन्ध्या के बाद सोता रहता, वह कल्पना भी जैसे उसको व्यथित करने लगी। धारागोल गाँव के कई दिन जिस मोदी की दुकान में उसने आश्रय लिया था वह इस समय रात में दीपक बुझाकर, दुकान बन्द करके धीरे-धीरे गाँव में घर की ओर भोजन करने जा रहा होगा, यह बात स्मरण करके उसको लगने लगा, मोदी कितना सुखी है ! आज कौन-सा दिन है, क्या पता ! यदि रविवार होगा तो अब तक हाट से आदमी अपने-अपने घर लौट रहे होंगे, बिछुड़े हुए साथी को ऊँचे स्वर में बुला रहे होंगे, दल बनाकर पार जानेवाली नावों द्वारा पार हो रहे होंगे ; मैदान के रास्ते, अनाज के खेतों की मेड़ पार करके, गाँव के सूखे बाँसों के पत्तों से ढके आँगन की बगल से होकर किसान लोग हाथ में दो-एक मछली लटकाये सिर पर टोकरी लिये अँधेरे में तारों से सारे आकाश के क्षीण प्रकाश में एक गाँव से दूसरे गाँव चले जा रहे होंगे।

पृथ्वी के ऊपरी तल की इस विचित्र बृहत् चिर-चंचल जीवन-यात्रा में तुच्छतम, दीनतम होकर अपना जीवन मिला देने के लिए मिट्टी के सैकड़ों स्तर भेदता हुआ जगत् का आह्वान उसके पास पहुँचने लगा। वह जीवन, वह आकाश, पृथ्वी के सम्पूर्ण मणि-माणिक्यों से उसे अधिक मूल्यवान प्रतीत होने लगा। उसको लगने लगा, 'केवल क्षण-भर के लिए एक बार यदि अपनी उस श्यामा जननी धरित्री की धूल-भरी गोद में, उस उन्मुक्त आलोकित नील गगन के नीचे, घासपात की गंध से बसी उस वायु से हृदय भरकर एक बार अन्तिम निःश्वास लेकर मर सकता तो जीवन सार्थक हो जाता।'

इसी समय द्वार खुल गया। कमरे मे प्रवेश करके संन्यासी ने कहा, 'मृत्युंजय, क्या चाहते हो।'

वह बोल उठा, 'मैं और कुछ नहीं चाहता — मै इस सुरंग से, अंधकार से, गोरख-धन्धे से, इस सोने के कारागार से बाहर निकलना चाहता हूँ। मैं प्रकाश चाहता हूँ, आकाश चाहता हूँ, मुक्ति चाहता हूँ।'

संन्यासी ने कहा, 'इस सोने के भण्डार से भी अधिक मूल्यवान रत्न-भण्डार यहाँ हैं।'

आगे कहा, 'एक बार वहाँ नहीं चलोगे ?'

मृत्युंजय ने कहा, 'नहीं, नहीं जाऊँगा।'

संन्यासी ने कहा, 'एक बार देख आने की भी उत्सुकता नहीं है।'

मृत्युंजय ने कहा, 'नहीं, मैं देखना भी नहीं चाहता। मुझे यदि कोपीन पहनकर भिक्षा माँगने घूमना पड़े तो भी मैं यहाँ क्षण-भर भी नहीं काटना चाहता।'

संन्यासी ने कहा, 'अच्छा तो फिर आओ।'

मृत्युंजय का हाथ पकड़कर संन्यासी उसे उस गहरे कुएँ के पास ले गये और उसके हाथ में वह लेख-पत्र देकर कहा, 'इसे लेकर तुम क्या करोगे ?'

मृत्युंजय ने उस पत्र को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े करके कुएँ में फेंक दिया।

१२

पत्नी का पत्र

श्री चरणकमलेषु,

आज हमारे विवाह को पन्द्रह वर्ष हो गये, लेकिन अभी तक मैंने कभी तुमको चिट्ठी नहीं लिखी। सदा तुम्हारे पास ही बना रही — न जाने कितनी बातें कहती-सुनती रही, फिर चिट्ठी लिखने लायक दूरी कभी नहीं मिली।

आज मैं श्री क्षेत्र में तीर्थ करने आयी हूँ, तुम अपने आफिस के काम में लगे हुए हो। कलकत्ता के साथ तुम्हारा वही सम्बन्ध है जो घोंघे के साथ शंख का होता है। वह तुम्हारे तन-मन से चिपक गया है। इसलिए तुमने आफिस में छुट्टी की दरख्वास्त नहीं दी। विधाता की यही इच्छा थी ; उन्होंने मेरी छुट्टी की दरख्वास्त मंजूर कर ली।

मैं तुम्हारे घर की मझली बहू हूँ। पर आज पन्द्रह वर्ष बाद इस समुद्र के किनारे खड़े होकर मैं जान पायी हूँ कि अपने जगत् और जगदीश्वर के साथ मेरा एक संबंध और भी है। इसलिए आज साहस करके यह चिट्ठी लिख रही हूँ, इसे तुम अपने घर की ही मँझली बहू की चिट्ठी मत समझना !

तुम लोगों के साथ मेरे सम्बन्ध की बात जिन्होंने मेरे भाग्य में लिखी थी उन्हें छोड़कर जब इस सम्भावना का और किसी को पता नहीं था, उसी शैशव काल मे मै और मेरा भाई एक साथ ही सन्निपात के ज्वर से पीड़ित हुए थे। भाई तो मर गया, पर मैं बच रही। मोहल्ले की औरतें कहने लगीं 'मृणाल लड़की हैं न, इसीलिए बच गयी। लड़का होती तो क्या बच सकती थी भला !' चोरी की कला में यमराज निपुण हैं उनकी नज़र कीमती चीज़ पर ही पड़ती है।'

मेरे भाग्य में मौत नहीं है। यही बात अच्छी तरह से समझाने के लिए मैं यह चिट्ठी लिखने बैठी हूँ।

एक दिन जब दूर के रिश्ते में तुम्हारे मामा तुम्हारे मित्र नीरद को लेकर कन्या देखने आये थे तब मेरी आयु बारह वर्ष की थी। दुर्गम गाँव में मेरा घर था, जहाँ दिन में भी सियार बोलते रहते। स्टेशन से सात कोस तक छकड़ा गाड़ी मे चलने के बाद, बाक़ी तीन मील का कच्चा रास्ता पालकी में बैठकर पार करने के बाद हमारे गाँव में पहुँचा जा सकता था। उस दिन तुम लोगों को कितनी हैरानी हुई ? तिस पर हमारे पूर्वी बंगाल का भोजन — मामा उस भोजन की हँसी उड़ाना आज भी नहीं भूलते ?

तुम्हारी माँ की ज़िद थी कि बड़ी बहू के रूप की कमी को मँझली बहू के द्वारा पूरी करें। नहीं तो भला इतना कष्ट करके तुम लोग हमारे गाँव क्यों जाते ? पीलिया, यकृत, अमरशूल और

दुलहिन के लिए बंगाल प्रान्त में खोज नहीं करनी पड़ती। वे स्वयं आकर घेर लेते हैं, छुड़ाये नहीं छूटते।

पिता की छाती धक्-धक् करने लगी। माँ दुर्गा का नाम जपने लगी। शहर के देवता को गाँव का पुजारी क्या देकर सन्तुष्ट करे ? बेटी के रूप का भरोसा था ; लेकिन बेटी में स्वयं उस रूप का कोई मान नहीं होता, देखने आया हुआ व्यक्ति उसका जो मूल्य दे, वही उसका मूल्य होता है। इसलिए तो हज़ार रूप-गुण होने पर भी लड़कियों का संकोच किसी भी तरह दूर नहीं होता।

सारे घर का, यही नहीं, सारे मोहल्ले का यह आतंक मेरी छाती पर पत्थर की तरह जमकर बैठ गया। आकाश का सारा उजाला और संसार की समस्त शक्ति उस दिन मानो इस बारह-वर्षीय ग्रामीण लड़की को दो परीक्षकों की दो जोड़ी आँखों के सामने कसकर पकड़ रखने के लिए चपरासगिरी कर रही थी — मुझे छिपने की कहीं जगह नहीं मिली।

अपने करुण स्वर से सम्पूर्ण आकाश को कँपाती हुई शहनाई बज उठी। मैं तुम लोगों के यहाँ आ पहुँची। मेरे सारे ऐबों का ब्यौरेवार हिसाब लगाकर गृहिणियों को यह स्वीकार करना पड़ा कि सब-कुछ होती हुए भी मैं सुन्दरी ज़रूर हूँ। यह बात सुनते ही मेरी बड़ी जेठानी का चेहरा भारी हो गया। लेकिन सोचती हूँ, मुझे रूप की जरूरत ही क्या है ! रूप नामक वस्तु को अगर किसी त्रिपुंडी पंडित ने गंगामिट्टी से गढ़ा हो तो उसका आदर हो, लेकिन उसे तो विधाता ने केवल अपने आनन्द से निर्मित किया है। इसलिए तुम्हारे धर्म के संसार में उसका कोई मूल्य नहीं। मैं रूपवती हूँ, इस बात को भूलने मे तुम्हे बहुत दिन नहीं लगे। लेकिन मुझमें बुद्धि भी है, यह बात तुम लोगों को पग-पग पर याद करनी पड़ी। मेरी यह बुद्धि इतनी प्रकृत है कि तुम लोगों की घर-गृहस्थी में इतना समय काट देने पर भी वह आज भी टिकी हुई है। मेरी इस बुद्धि से माँ बड़ी चिन्तित रहती थी। नारी के लिए यह तो एक बला ही है। बाधाओं को मानकर चलना जिसका काम है वह यदि बुद्धि को मान कर चलना चाहे तो ठोकर-खाकर उसका सिर फूटेगा ही। लेकिन तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ ? तुम लोगों के घर की बहू को जितनी बुद्धि की ज़रूरत है विधाता ने लापरवाही में मुझे उससे ज्यादा बुद्धि दे डाली है, अब मै उसे लौटाऊँ भी तो किसको ? तुम लोग मुझे पुरखिन कहकर दिन-रात गाली देते रहे। अक्षम्य को कड़ी बात कहने से ही सांत्वना मिलती है, इसीलिए मैंने उसको क्षमा कर दिया।

मेरी एक बात तुम्हारी घर-गृहस्थी से बाहर थी, जिसे तुममें से कोई नहीं जानता। मैं तुम सबसे छिपाकर कविता लिखा करती थी। वह भले ही कूड़ा-करकट क्यों न हो, उस पर तुम्हारे अन्तःपुर की दीवार न उठ सकी। वहीं मुझे मृत्यु मिलती थी, वहीं पर मै मैं हो पाती थी। मेरे भीतर तुम लोगों की मँझली बहू के अतिरिक्त जो कुछ था, उसे तुम लोगों ने कभी पसन्द नहीं किया। क्योंकि उसे तुम लोग पहचान भी न पाये। मै कवि हूँ, यह बात पन्द्रह वर्ष मे भी तुम लोगों की पकड़ में नहीं आयी।

तुम लोगों के घर की प्रथम स्मृतियों मे से मेरे मन मे जो सबसे ज़्यादा जगती रहती है वह है तुम लोगों की गोशाला। अन्तःपुर को जाने वाले ज़ीने की बगल के कोठे में तुम लोगों का गौएँ रहती हैं, सामने के आँगन को छोड़कर उनके हिलने-डुलने के लिए और कोई जगह नहीं थी। आँगन के कोने में गायों को भूसा देने के लिए काउ की नाँद थी, सवेरे नौकर को तरह-तरह के काम

करने होते इसलिए भूसी गायें नाँद के किनारों को चाट-चाटकर चबाचबाकर खुरच देतीं। मेरा मन रोने लगता। गाँव की बेटी होकर मैं जिस दिन तुम्हारे घर में पहली बार आयी उस दिन उस बड़े शहर के बीच मुझे दो गायें और तीन बछड़े चिर-परिचित आत्मीय जैसे जान पड़े। जितने दिन मैं रही, बहू रही, खुद न खाकर, छिपा-छिपाकर मैं उन्हें खिलाती रही ; जब बड़ी हुई तब गौओं के प्रति मेरी प्रत्यक्ष ममता को देखकर मेरे साथ हँसी-मज़ाक का सम्बन्ध रखनेवाले लोग मेरे गोत्र के बारे में सन्देह प्रकट करते रहे।

मेरी बेटी जनमते ही मर गयी। जाते समय उसने साथ चलने के लिए मुझे भी पुकारा था। अगर वह बची रहती तो मेरे जीवन में जो कुछ महान् है, जो कुछ सत्य है, वह सब मुझे ला देती ; तब मैं मँझली बहू से एकदम माँ बन जाती। गृहस्थी मे बँधी रहने पर भी माँ विश्व-भर की माँ होती है। पर मुझे माँ होने की वेदना ही मिली, मातृत्व की मुक्ति प्राप्त नहीं हुई।

मुझे याद है, अंग्रेज़ डॉक्टर को हमारे घर का भीतरी भाग देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था और जच्चाघर देखकर नाराज़ होकर उसने डाँट-फटकार भी लगायी थी। सदर में तो तुम लोगों का छोटा-सा बाग़ है। कमरे में भी साज़-श्रृगार की कोई कमी नहीं, पर भीतर का भाग मानों पशमीने के काम की उलटी परत हो। वहाँ न कोई लज्जा है, न सौन्दर्य, न श्रृंगार । उजाला वहाँ टिमटिमाता रहता है। हवा चोर की भाँति प्रवेश करती है, आँगन का कूड़ा-करकट हटने का नाम नहीं लेता। फ़र्श और दीवार की कालिमा अक्षय बनकर विराजती है। लेकिन डॉक्टर ने एक भूल की थी। उसने सोचा था कि शायद इससे हमको रात-दिन दुःख होता होगा। बात बिलकुल उलटी है। अनादर नाम की चीज़ राख की तरह होती है। वह शायद भीतर-ही-भीतर आग को बनाये रखती है लेकिन ऊपर से उसके ताप को प्रकट नहीं होने देती। जब आत्म-सम्मान घट जाता है तब अनादर से अन्याय भी नहीं दिखाई देता। इसीलिए उसकी पीड़ा नहीं होती। यही कारण है कि नारी दुःख का अनुभव करने मे ही लज्जा पाती है। इसीलिए मैं कहती हूँ, अगर तुम लोगों की व्यवस्था यही है कि नारी को दुःख पाना ही होगा तो फिर जहाँ तक सम्भव हो उसे अनादर में रखना ही ठीक है। आदर से दुःख की व्यथा और बढ़ जाती है।

तुम चाहे जैसे रखते रहे, मुझे दुःख है यह बात मेरे ख्याल में भी नहीं आयी। जच्चाघर मे जब सिर पर मौत मँडराने लगी थी, तब भी मुझे कोई डर नहीं लगा। हमारा जीवन ही क्या है कि मौत से डरना पड़े ? जिनके प्राणों को अनादर और यत्न के कसकर बाँध लिया गया हो, मरने में उन्हीं को कष्ट होता है। जिस दिन अगर यमराज मुझे घसीटने लगते.तो मैं उसी तरह उखड़ आती जिस तरह पोली ज़मीन से जड़-समेत घास बड़ी आसानी से खिंच आती हैं। बगाल के बेटी तो बात-बात में मरना चाहती है। लेकिन इस तरह मरने में कौन-सी बहादुरी है। हम लोगों के लिए मरना इतना आसान हे कि मरते लज्जा आती है।

मेरी बेटी सन्ध्या-तारा की समान क्षण-भर के लिए उदित होकर अस्त हो गयी। मैं फिर से अपने दैनिक कामों में और गाय-बछड़ों मे लग गयी। इसी तरह मेरा जीवन आखिर जैसे-तैसे कट जाता ; आज तुम्हें यह चिट्ठी लिखने की ज़रूरत न पड़ती, लेकिन, कभी-कभी हवा एक मामूली-सा बीज उड़ाकर ले जाती है और पक्के दालान में पीपल का अंकुर फूट उठता है ; और होते-होते उसी से लकड़ी पत्थर की छाती फटने लग जाती है। मेरी गृहस्थी की पक्की व्यवस्था में भी जीवन का एक

छोटा-सा कण न जाने कहाँ से उड़कर आ पड़ा ; तभी से दरार शुरू हो गयी।

जब विधवा माँ की मृत्यु के बाद मेरी बड़ी जेठानी की बहन बिन्दु ने अपने चचेरे भाइयों के अत्याचार के मारे एक दिन हमारे घर में अपनी दीदी के पास आश्रय लिया था, तब तुम लोगों ने सोचा था ; यह कहाँ की बला आ गयी। आग लगे मेरे स्वभाव को, करती भी क्या — देखा, तुम सब लोग मन-ही-मन खीझ उठे हो, इसीलिए उस निराश्रिता लड़की को घेरकर मेरा सम्पूर्ण मन यकायक जैसे कमर बाँधकर खड़ा हो गया हो। पराये घर में, पराये लोगों की अनिच्छा होती हुए भी आश्रय लेना — कितना बड़ा अपमान है यह ! यह अपमान भी जिसे विवश होकर स्वीकार करना पड़ा हो उसे क्या धक्का देकर एक कोने में डाल दिया जाता है ?

बाद में मैंने अपनी बड़ी जेठानी की दशा देखी। उन्होंने अपनी गहरी समवेदना के कारण ही बहन को अपने पास बुलाया था, लेकिन जब उन्होंने देखा कि इसमें पति की इच्छा नहीं है, तो उन्होंने ऐसा भाव दिखाना शुरू किया मानो उन पर कोई बड़ी बला आ पड़ी हो, मानो अगर वह किसी तरह दूर हो सके तो जान बचे। उनमें इतना साहस नहीं हुआ कि वे अपनी अनाथ बहन के प्रति खुले मन से स्नेह प्रकट कर सकें। वे पतिव्रता थीं।

उनका यह संकट देखकर मेरा मन और भी दुखी हो उठा। मैंने देखा, बड़ी जेठानी ने खास तौर से सबको दिखा-दिखाकर बिन्दु के खाने-पहनने की ऐसी रद्दी व्यवस्था की और उसे घर में इस तरह नौकरानियों के से काम सौंप दिये कि मुझे दुःख ही नहीं लज्जा भी हुई। मैं सबके सामने इस बात को प्रमाणित करने में लगी रहती थी कि हमारी गृहस्थी को बिन्दु बहुत सस्ते दामों में मिल गयी है। ढेरों काम करती है फिर भी खर्च की दृष्टि से बेहद सस्ती है।

मेरी बड़ी जेठानी के पितृ-वंश के कुल के अलावा और कोई बड़ी चीज़ न थी, न रूप था, न धन। किस तरह मेरे ससुर के पैरों पड़ने के बात तुम लोगों के घर मे उनका विवाह हुआ था, यह बात तुम अच्छी तरह जानते हो। वे सदा यही सोचती रहीं कि उनका विवाह तुम्हारे वंश के प्रति बड़ा भारी अपराध था। इसीलिए वे सब बातों में अपने-आपको भरसक दूर रखकर, अपने को छोटा मानकर, तुम्हारे घर मे बहुत ही थोड़ी जगह मे सिमटकर रहती थीं।

लेकिन उनके इस प्रशंसनीय उदाहरण से हम लोगों के बड़ी कठिनाई होती रही। मैं अपने-आपको हर तरफ़ से इतना बेहद छोटा नहीं बना पाती, मै जिस बात को अच्छा समझती हूँ उसे किसी और की खातिर बुरा समझने को मैं उचित नहीं मानती — इस बात के तुम्हे प्रमाण मिल चुके हैं।

बिन्दु को मैं अपने कमरे मे घसीट लायी। जीजी कहने लगीं, 'मँझली बहू ग़रीब घर की बेटी का दिमाग़ खराब कर डालोगी।' वे सबसे मेरी इस ढग मे शिकायत करती फिरती थीं मानो मैंने कोई भारी आफ़त ढा दी हो। लेकिन मै अच्छी तरह जानती हूँ, वे मन-ही-मन सोचती थीं कि जान बची। अब अपराध का बोझ मेरे सिर पर पडने लगा। वे अपनी बहन के प्रति खुद जो स्नेह नहीं दिखा पाती थीं वही मेरे द्वारा प्रकट करके उनका मन हल्का हो जाता। मेरी बड़ी जेठानी बिन्दु की उम्र में दो-एक अंक कम कर देने की चेष्टा किया करती थी, लेकिन अगर अकेले मे उनसे यह कहा जाता कि उसकी अवस्था चौदह से कम नहीं थी, तो ज्यादती न होती। तुम्हें तो मालूम है, देखने में वह इतनी कुरूप थी कि अगर वह फ़र्श पर गिरकर अपना सिर फोड़ लेती तो भी लोगों को घर

के फ़र्श की ही चिन्ता होती। यही कारण है कि माता-पिता के न होने पर ऐसा कोई नहीं था जो उसके विवाह की सोचता, और ऐसे लोग भी भला कितने थे जिनके प्राणों में इतना बल हो कि उससे ब्याह कर सकें।

बिन्दु बहुत डरती-डरती मेरे पास आयी। मानो मेरी देह उससे छू जायगी तो मैं सह नहीं पाऊँगी। मानों संसार में उसको जन्म लेने का कोई अधिकार ही न था। इसीलिए वह हमेशा अलग हटकर आँख बचाकर चलती। उसके पिता के यहाँ उसके चचेरे भाई उसके लिए ऐसा एक भी कोना नहीं छोड़ना चाहते थे जिसमें वह फालतू चीज़ की तरह पड़ी रह सके। फालतू कूड़े को घर के आस-पास अनायास ही स्थान मिला जाता है क्योंकि मनुष्य उसको भूल जाता है ; लेकिन अनावश्यक लड़की एक तो अनावश्यक होती है, दूसरे उसको भूलना भी कठिन होता है। इसलिए उसके लिए घूरे पर भी जगह नहीं होती, फिर भी यह कैसे कहा जा सकता है कि उसके चचेरे भाई ही संसार में परमावश्यक पदार्थ थे। जो हो, वे लोग थे खूब। यही कारण है कि जब मैं बिन्दु को अपने कमरे में बुलाकर लायी तो उसकी छाती धक्-धक् करने लग गयी। उसका डर देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। मेरे कमरे में उसके लिए थोड़ी-सी जगह है, यह बात मैंने बड़े प्यार से उसे समझायी।

लेकिन मेरा कमरा एक मेरा ही कमरा तो था नहीं। इसलिए मेरा काम आसान नहीं हुआ। मेरे पास दो-चार दिन रहने पर ही उसके शरीर में न जाने लाल-लाल क्या निकल आया। शायद अम्हौरी रही होगी या ऐसा ही कुछ होगा ; तुमने कहा शीतला। क्यों न हो, वह बिन्दु थी न। तुम्हारे मोहल्ले के एक अनाड़ी डाक्टर ने आकर बताया, एक-दो दिन और देखे बिना ठीक से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन दो-एक दिन तक धीरज किसको होता ? बिन्दु तो अपनी बीमारी की लज्जा से ही मरी जा रही थी। मैंने कहा, शीतला है तो हो, मैं उसे अपने जच्चाघर में लिवा ले जाऊँगी, और किसी को कुछ करने की ज़रूरत नहीं। इस बात पर जब तुम सब लोग मेरे ऊपर भड़कर क्रोध की मूर्ति बन गये, इतना ही नहीं जब बिन्दु की जीजी भी बड़ी परेशानी दिखाती हुई उस अभागी लड़की को अस्पताल भेजने का पस्तावं करने लगी, तभी उसके शरीर के वे सारे लाल-लाल दाग एकदम विलीन हो गये। मैंने देखा कि इस बात से तुम लोग और भी व्यग्र हो उठे। कहने लगे अब तो वाकई शीतला बैठ गयी है। क्यों न हो, वह बिन्दु थी न।

अनादर के पालन-पोषण में एक बड़ा गुण है। शरीर को वह एकदम अजर-अमर कर देता है। बीमारी आने का नाम नहीं लेती, मरने के सारे आम रास्ते बिलकुल बन्द हो जाते हैं। इसीलिए रोग उसके साथ मज़ाक करके चला गया, हुआ कुछ नहीं। लेकिन यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो गयी कि संसार में ज्यादा साधनहीन व्यक्ति को आश्रय देना ही सबसे कठिन है। आश्रय की आवश्यकता उसकी जितनी अधिक होती है आश्रय की बाधाएँ भी उसके लिए उतनी की विषम होती है।

बिन्दु के मन में से जब मेरा डर जाता रहा तब उसको एक और कुग्रह ने पकड़ लिया। वह मुझे इतना प्यार करने लगी की मुझे डर होने लगा। स्नेह की ऐसी मूर्ति तो संसार में पहले कभी देखी ही न थी। पुस्तकों में पढ़ा अवश्य था, पर वह भी स्त्री-पुरुष के बीच ही। बहुत दिनों से ऐसी कोई घटना नहीं हुई थी कि मुझे अपने रूप की बात याद आती। अब इतने दिनों बाद यह कुरूप लड़की

मेरे उसे रूप से पीछे पड़ गयी। रात-दिन मेरा मुँह देखते रहने पर भी उसकी आँखों की प्यास नहीं बुझती थी। कहती, जीजी तुम्हारा यह मुँह मेरे अलावा और कोई नहीं देख पाता। जिस दिन मैं स्वयं ही अपने केश बाँध लेती उस दिन वह रूठ जाती। अपने दोनों हाथों से मेरे केश-भार को हिलाने-डुलाने में उसे बड़ा आनन्द आता। कभी कहीं दावत में जाने के अतिरिक्त और कभी तो मुझे साज-सिंगार की आवश्यकता पड़ती ही न थी,लेकिन बिन्दु मुझे तंग कर-करके थोड़ा-बहुत सजाती रहती। वह लड़की मुझे लेकर बिलकुल पागल हो गयी थी।

तुम्हारे घर के भीतरी हिस्से में कहीं रत्ती-भर भी मिट्टी नहीं थी। उत्तर की ओर की दीवार में नाली के किनारे न जाने कैसे एक गाब का पौधा निकला। जिस दिन देखती कि उस गाब के पौधे में नयी लाल-लाल कोंपलें निकल आयी है, उसी दिन जान पड़ता कि धरती पर बसन्त आ गया है, और जिस दिन मेरी घर-गृहस्थी में जुटी हुई इस अनादृत लड़की के मन का ओर-छोर किसी तरह रँग उठा उस दिन मैंने जाना कि हृदय के जगत् में भी बसन्त की हवा बहती है। वह किसी स्वर्ग से आती है, गली के मोड़ से नहीं।

बिन्दु के स्नेह के दुःसह वेग ने मुझे अधीर कर डाला था। मैं मानती हूँ कि मुझे कभी-कभी उस पर क्रोध आ जाता ; लेकिन उस स्नेह में मैंने अपना एक ऐसा रूप देखा जो जीवन में पहले कभी नहीं दिख पायी थी। वही मेरा मुख्य स्वरूप है।

इधर मैं बिंदु-जैसी लड़की को, जो इतना लाड़-प्यार करती थी यह बात तुम लोगों को बड़ी ज्यादती लगी। इसे लेकर बराबर खट-पट होने लगी। जिस दिन मेरे कमरे से बाजूबन्द की चोरी हुई उस दिन इस बात का आभास देते हुए तुम लोगों के तनिक भी लज्जा नहीं आयी कि उस चोरी में किसी-न-किसी रूप में बिंदु का हाथ है। जब स्वदेशी-आंदोलन में लोगों के घर की तलाशियाँ होने लगीं तब तुम लोग अनायास ही यह संदेह कर बैठे कि बिंदु पुलिस द्वारा रखी गयी स्त्री-गुप्तचर है। इसका और तो कोई प्रमाण नहीं था ; प्रमाण बस इतना ही था कि वह बिंदु थी। तुम लोगों के घर की दासियाँ उसका कोई भी काम करने से इंकार कर देती थी — उनमें से किसी से अपने काम के लिए कहने में वह लड़की भी संकोच के मारे जड़वत् हो जाती थी। इन्हीं सब कारणों से उसके लिए मेरा खर्च बढ़ गया। मैंने खासतौर से एक दासी रख ली। यह बात तुम लोगों को अच्छी नहीं लगी। बिन्दु को पहनने के लिए मैं जो कपड़े देती थी, उन्हें देखकर तुम इतने क्रुद्ध हुए कि तुमने मेरे हाथ-खर्च के रुपये ही बन्द कर दिये। दूसरे ही दिन से मैंने सवा रुपये जोड़े की मोटी मिल की साड़ी पहननी शुरू कर दी। और जब मोती की माँ मेरी जूठा थाली उठाने के लिए आयी तो मैंने उसको मना कर दिया। मैंने खुद जूठा भात बछड़े को खिलाने के बाद आँगन के नल पर जाकर बर्तन धो लिये। एक दिन एकाएक इस दृश्य को देखकर तुम प्रसन्न नहीं हो सके। मेरी खुशी के बिना तो काम चल सकता है, पर तुम लोगों की खुशी के बिना नहीं चल सकता — यह बात आज तक मेरी समझ में नहीं आयी। उधर ज्यों-ज्यों तुम लोगों का क्रोध बढ़ता जा रहा था त्यों-त्यों बिंदु की आयु भी बढ़ती जा रही थी। इस स्वाभाविक बात पर तुम लोग अस्वाभाविक ढंग से परेशान हो उठे थे।

एक बात याद करके मुझे आश्चर्य होता रहा है कि तुम लोगों ने बिंदु को ज़बरदस्ती अपने घर से विदा क्यों नहीं कर दिया ! मैं अच्छी तरह समझती हूँ कि तुम लोग मन-ही-मन मुझसे डरते

थे। विधाता ने मुझे बुद्धि दी है, भीतर-ही-भीतर इस बात की खातिर किये बिना तुम लोगों को चैन नहीं पड़ता था। अन्त में अपनी शक्ति से बिंदु को विदा करने में असमर्थ होकर तुम लोगों ने प्रजापति देवता की शरण ली। बिंदु का वर ठीक हुआ। बड़ी जेठानी बोलीं, जान बची। माँ काली ने अपने वंश की लाज रख ली। वर कैसा था, मैं नहीं जानती। तुम लोगों से सुना था कि सब बातों में अच्छा है। बिंदु मेरे पैरों से लिपटकर रोने लगी। बोली, 'जीजी मेरा ब्याह क्यों कर रही हो भला ?' मैंने उसको समझाते-बुझाते कहा, 'बिंदु, डर मत, मैंने सुना है तेरा वर अच्छा है।'

बिंदु बोली — 'अगर वर अच्छा है तो मुझमें भला ऐसा क्या है जो उसे पसन्द आ सके ?' लेकिन वर-पक्ष वालों ने तो बिंदु को देखने के लिए आने का नाम भी न लिया। बड़ी जीजी इससे बड़ी निश्चिंत हो गयीं।

लेकिन बिंदु रात-दिन रोती रहती। चुप होने का नाम ही न लेती। उसको क्या कष्ट है, यह मैं जानती थी। बिंदु के लिए मैंने घर में बहुत बार झगड़ा किया था लेकिन उसका ब्याह रुक जाय यह बात कहने का साहस नहीं होता था। कहती भी किस बल पर ? मैं अगर मर जाती तो उसकी क्या दशा होती ?

एक तो लड़की तिस पर काली ; किसके यहाँ जा रही है, वहाँ उसकी क्या दशा होगी, इन बातों की चिंता न करना ही अच्छा था। सोचती, तो प्राण काँप उठते।

बिंदु ने कहा, 'जीजी, ब्याह के अभी पाँच दिन और हैं। इस बीच क्या मुझे मौत नहीं आयगी ? '

मैंने उसको खूब धमकाया। लेकिन अंतर्यामी जानते है कि अगर किसी स्वाभाविक ढंग से बिंदु की मृत्यु हो जाती तो मुझे चैन मिलता।

ब्याह के एक दिन पहले बिंदु ने अपनी जीजी के पास जाकर कहा, 'जीजी, मैं तुम लोगों की गोशाला में पड़ी रहूँगी, जो कहोगे वही करूँगी, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मुझे इस तरह मत धकेलो।'

कुछ दिनों से जीजी की आँखों से चोरी-चोरी आँसू झर रहे थे। उस दिन भी झरने लगे। लेकिन सिर्फ़ हृदय ही तो नहीं होता, शास्त्र भी तो है। उन्होंने कहा, 'बिंदी, जानती नहीं, स्त्री की गति-मुक्ति सब कुछ पति ही है। भाग्य में अगर दुःख लिखा है तो उसे कोई नहीं मिटा सकता।'

असली बात तो यह थी कि कहीं कोई रास्ता नहीं था — बिंदु को ब्याह तो करना ही पड़ेगा। फिर जो हो, सो हो। मैं चाहती थी कि विवाह हमारे घर से ही हो। लेकिन तुम लोग कह बैठे वर के ही घर में हो, उनके कुल की यही रीति है। मैं समझ गयी बिंदु के ब्याह में अगर तुम लोगों को खर्च करना पड़ा तो तुम्हारे गृह-देवता उसे किसी भाँति नहीं सह सकेंगे। इसीलिए चुप रह जाना पड़ा। लेकिन एक बात तुममें से कोई नहीं जानता। जीजी को बताना चाहती थी, पर फिर बता नहीं पायी। नहीं तो वो डर से मर जाती — मैंने अपने थोड़े-बहुत गहने लेकर चुपचाप बिंदु का श्रृंगार कर दिया था। सोचा था, जीजी की नज़र में तो ज़रूर ही पड़ जायगा। लेकिन उन्होंने जैसे देखकर भी नहीं देखा। दुहाई है धर्म की, इसके लिए तुम उन्हें क्षमा कर देना।

जाते समय बिंदु मुझसे लिपटकर बोली, 'जीजी, तो क्या तुम लोगों ने मुझे एकदम त्याग दिया ? ' मैंने कहा, 'नहीं बिंदु, तुम चाहे-जैसी हालत में रहो, प्राण रहते मैं तुम्हे नहीं त्याग सकती।'

तीन दिन बीते। तुम्हारे ताल्लुके के आसामियों ने तुम्हें खाने के लिए जो भेड़ा दिया था उसे

मैंने तुम्हारी जठराग्नि से बचाकर नीचे वाली कोयले की कोठरी के एक कोने में बाँध दिया था। सवेरे उठते ही में खुद जाकर उसको दाना खिला आती। दो-एक दिन तुम्हारे नौकरों पर भरोसा करके देखा उसे खिलाने की बजाय उनका झुकाव उसी को खा जाने की ओर अधिक था।

उस दिन सवेरे कोठरी में गयी तो देखा, बिंदु एक कोने में गुड़-मुड़ होकर बैठी हुई है। मुझे देखते ही मेरे पैर पकड़कर वह चुपचाप रोने लगी।

बिंदु का पति पागल था।

'सच कह रही है, बिंदु !'

'तुम्हारे सामने क्या मैं इतना बड़ा झूठ बोल सकती हूँ, दीदी ? वह पागल है। इस विवाह में ससुर की सम्मति नहीं थी, लेकिन वे मेरी सास से यमराज की तरह डरते थे। ब्याह के पहले ही काशी चल दिये थे। सास ने ज़िद करके अपने लड़के का ब्याह कर लिया। मैं वहीं कोयले के ढेर पर बैठ गयी। स्त्री पर स्त्री को दया नहीं आती। कहती है, कोई लड़की थोड़े ही है। लड़का पागल है तो हो, है तो पुरुष।'

देखने में बिंदु का पति पागल नहीं लगता। लेकिन कभी-कभी उसे ऐसा उन्माद चढ़ता कि उसे कमरे में ताला बन्द करके रखना पड़ता। ब्याह की रात वह ठीक था। लेकिन रात में जगते रहने के कारण और इसी तरह के और झंझटों के कारण दूसरे दिन से उसका दिमाग़ बिलकुल खराब हो गया। बिंदु दोपहर को पीतल की थाली में भात खाने बैठी थी, अचानक उसके पति ने भात समेत थाली उठाकर आँगन में फेंक दी। न जाने क्यों अचानक उसको लगा, मानो बिंदुरानी रासमणि हो। नौकर ने, हो न हो, चोरी से उसी के सोने के थाल में रानी के खाने के लिए भात दिया हो। इसलिए उसे क्रोध आ गया था। बिंदु तो डर के मारे मरी जा रही थी। तीसरी रात को जब उसकी सास ने उससे अपने पति के कमरे में सोने के लिए कहा तो बिंदु के प्राण सूख गये। उसकी सास को जब क्रोध आता था तो होश में नहीं रहती थी। वह भी पागल ही थी, लेकिन पूरी तरह से नहीं। इसलिए वह ज्यादा खतरनाक थी। बिंदु को कमरे में जाना ही पड़ा। उस रात उसके पति का मिज़ाज़ ठंडा था। लेकिन डर के मारे बिंदु का शरीर पत्थर हो गया था। पति जब सो गये तब काफ़ी रात बीतने पर वह किस तरह चतुराई से भागकर चली आयी, इसका विस्तृत विवरण लिखने की आवश्यकता नहीं है।

घृणा और क्रोध से मेरा शरीर जलने लगा। मैंने कहा,इस तरह धोखे के ब्याह को ब्याह नहीं कहा जा सकता। बिंदु, तू जैसे रहती थी, वैसे ही मेरे पास रह। देखूँ तुझे कौन ले जाता है।'

तुम लोगों ने कहा, 'बिंदु झूठ बोलती है।'

मैंने कहा, 'वह कभी झूठ नहीं बोलती।'

तुम लोगों ने कहा, 'तुम्हें कैसे मालूम ?'

मैंने कहा, 'मैं अच्छी तरह जानती हूँ।'

तुम लोगों ने डर दिखाया, 'अगर बिंदु के ससुराल वालों ने पुलिस-केस कर दिया तो आफ़त में पड़ जायँगे।'

मैंने कहा, 'क्या अदालत यह बात न सुनेगी कि उसका ब्याह धोखे से पागल वर के साथ कर दिया गया है ? '

तुमने कहा, 'तो क्या इसके लिए अदालत जायँगे। हमें ऐसी क्या गरज पड़ी है ?'

मैंने कहा, 'जो कुछ मुझसे बन पड़ेगा, अपने गहने बेचकर करूँगी।'

तुम लोगों ने कहा, 'क्या वकील के घर तक दौड़ोगी ?'

इस बात का क्या जवाब होता ? सिर ठोकने के अलावा और कर भी क्या सकती थी ?

उधर बिंदु की ससुराल से उसके जेठ ने आकर बाहर बड़ा हंगामा खड़ा कर दिया। कहने लगा, 'थाने में रिपोर्ट कर दूँगा।'

मैं नहीं जानती मुझमें क्या शक्ति थी — लेकिन जिस गाय ने अपने प्राणों के डर से कसाई के हाथों से छूटकर मेरा आश्रय लिया हो उसे पुलिस के डर से फिर उसी कसाई को लौटाना पड़े यह बात मैं किसी भी प्रकार नहीं मान सकती थी। मैंने हिम्मत करके कहा, 'करने दो थाने में रिपोर्ट।'

इतना कहकर मैंने सोचा कि अब बिंदु को अपने सोने के कमरे में ले जाकर कमरे में ताला लगाकर बैठ जाऊँ। लेकिन खोजा तो बिंदु का कहीं पता नहीं। जिस समय तुम लोगों से मेरी बहस चल रही थी उसी समय बिंदु ने स्वयं बाहर निकलकर अपने जेठ को आत्म-समर्पण कर दिया था। वह समझ गयी थी कि अगर वह इस घर में रही तो मैं बड़ी आफ़त में पड़ जाऊँगी।

बीच में भाग आने से बिन्दु ने अपना दुःख और भी बढ़ा लिया। उसकी सास का तर्क था कि उनका लड़का उसको खाये तो नहीं जा रहा था न। संसार में बुरे पति के उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं। उनकी तुलना में तो उनका लड़का सोने का चाँद था।

मेरी बड़ी जेठानी ने कहा — जिसका भाग्य ही खराब हो उसके लिए रोने से क्या फ़ायदा ? पागल-वागल जो भी हो, है तो स्वामी ही न।

तुम लोगों के मन में लगातार उस सती-साध्वी का दृष्टांत याद आ रहा था जो अपने कोढ़ी पति को अपने कंधों पर बिठाकर वेश्या के यहाँ ले गयी थी।

संसार-भर में कायरता के इस सबसे अधम आख्यान का प्रचार करते हुए तुम तुम लोगों के पुरुष-मन को कभी तनिक भी संकोच नहीं हुआ। इसलिए मानव जन्म पाकर भी तुम लोग बिंदु के व्यवहार पर क्रोध कर सके, उससे तुम्हारा सिर नहीं झुका। बिंदु के लिए मेरी छाती फटी जा रही थी, लेकिन तुम लोगों का व्यवहार देखकर मेरी लज्जा का अन्त न था। मैं तो गाँव की लड़की थी, तिस पर तुम लोगों के घर आ पड़ी, फिर भगवान् ने न जाने किस तरह ऐसी बुद्धि दे दी। धर्म-संबंधी तुम लोगों की यह चर्चा मुझे किसी भी प्रकार सहन नहीं हुई।

मैं निश्चयपूर्वक जानती थी कि बिन्दु मर भी भले ही जाय, यह अब हमारे घर लौटकर नहीं आयेगी। लेकिन में तो उसे ब्याह के एक दिन पहले यह आशा दिला चुकी थी कि प्राण रहते उसे नहीं छोडूँगी। मेरा छोटा भाई शरद् कलकत्ता में कॉलेज में पढ़ता था। तुम तो जानते ही हो, तरह-तरह से वालंटियरी करना, प्लेग वाले मोहल्लों में चूहे मारना, दामोदर में बाढ़ आ जाने की खबर सुनकर दौड़ पड़ना — इन सब बातों में इतना उत्साह था कि एम. ए. की परीक्षा में लगातार दो बार फेल होने पर भी उसके उत्साह मे कोई कमी नहीं आयी। मैंने उसे बुलाकर कहा, 'शरद्, जैसे भी हो बिन्दु की खबर पाने का इंतजाम तुझे करना ही पड़ेगा। बिन्दु को मुझे चिट्ठी भेजने का साहस नहीं होगा, वह भेजे भी तो मुझे मिल नहीं सकेगी।'

इस काम की बजाय यदि मैं डाका डालकर बिन्दु को लाने की बात कहती या उसके पागल स्वामी का सिर फोड़ देने के लिए कहती तो उसे ज्यादा खुशी होती।

शरद् के साथ बातचीत कर रही थी तभी तुमने कमरे मे आकर कहा, 'तुम फिर यह क्या बखेड़ा कर रही हो ?'

मैंने कहा, 'वही जो शुरू से करती आयी हूँ। जब से तुम्हारे घर आयी हूँ..... लेकिन नहीं, वह तो तुम्हीं लोगों की कीर्ति है।'

तुमने पूछा, 'बिन्दु को लाकर फिर कहीं छिपा रखा है क्या ?'

मैंने कहा, 'बिन्दु अगर आती तो ज़रूर ही छिपाकर रख लेती, लेकिन वह अब नहीं आयेगी। तुम्हें डरने की कोई ज़रूरत नहीं है।'

शरद् को मेरे पास देखकर तुम्हारा संदेह और भी बढ़ गया। मैं जानती थी कि शरद् का हमारे यहाँ आना-जाना तुम लोगों को पसन्द नहीं है। तुम्हें डर था कि उस पर पुलिस की नज़र है। अगर कभी राजनीतिक मामले में फँस गया तो तुम्हें भी फँसा डालेगा। इसीलिए मैं भैया-दूज का तिलक भी किसी आदमी के हाथों उसके पास भिजवा देती थी, अपने घर नहीं बुलाती थी।

एक दिन तुमसे सुना कि बिन्दु फिर भाग गयी है, इसलिए उसका जेठ हमारे घर उसे खोजने आया है। सुनते ही मेरी छाती में शूल चुभ गये। अभागिनी का असह्य कष्ट को तो मैं समझ गयी, पर फिर भी कुछ करने का कोई रास्ता नहीं था।

शरद् पता करने दौड़ा। शाम को लौटकर मुझसे बोला, 'बिन्दु अपने चचेरे भाइयों के यहाँ गयी थी, लेकिन उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसी वक्त उसे फिर ससुराल पहुँचा दिया। इसके लिए उन्हें हरजाने का और गाड़ी के किराये का जो दण्ड भोगना पड़ा उसकी खार अब भी उनके मन से नहीं गयी है।

श्रीक्षेत्र को तीर्थ-यात्रा करने के लिए तुम लोगों की काकी तुम्हारे यहाँ आकर ठहरीं। मैंने तुमसे कहा, 'मैं भी जाऊँगी।'

अचानक मेरे मन में धर्म के प्रति यह श्रद्धा देखकर तुम इतने खुश हुए कि तुमने तनिक भी आपत्ति नहीं की। तुम्हें इस बात का ध्यान था कि अगर मैं कलकत्ता में रही तो फिर किसी-न-किसी दिन बिन्दु को लेकर झगड़ा कर बैठूँगी। मेरे कारण तुम्हें बड़ी परेशानी थी। मुझे बुधवार को चलना था, रविवार को ही सब ठीक-ठाक हो गया। मैंने शरद् को बुलाकर कहा, 'जैसे भी हो बुधवार को पुरी जाने वाली गाड़ी में तुझे बिन्दु को चढ़ा ही देना पड़ेगा।'

शरद् का चेहरा खिल उठा। वह बोला, 'डर की कोई बात नहीं जीजी, मैं उसे गाड़ी में बिठाकर पुरी तक चला चलूँगा। इसी बहाने जगन्नाथजी के दर्शन भी हो जायँगे।'

उसी दिन शाम को शरद् फिर आया। उसका मुँह देखते ही मेरा दिल बैठ गया। मैंने पूछा, 'क्या बात है शरद्! लगता है, कोई रास्ता नहीं निकला!'

वह बोला, 'नहीं।'

मैंने पूछा, 'क्या उसे राजी नहीं कर पाये ?'

उसने कहा, 'अब ज़रूरत भी नहीं है। कल रात अपने कपड़ों में आग लगाकर वह आत्म-हत्या करके मर गयी। उस घर के जिस भतीजे से मैंने मेल बढ़ा लिया था उसी से ख़बर मिली

कि तुम्हारे नाम वह एक चिट्ठी रख गयी थी, लेकिन वह चिट्ठी उन लोगों ने नष्ट कर दी।'

'चलो छुट्टी हुई।'

गाँव-भर के लोग चीख़ उठे। कहने लगे, 'लड़कियों का कपड़ों में आग लगाकर मर जाना तो अब एक फ़ैशन हो गया है।'

तुम लोगों ने कहा, 'अच्छा नाटक है। हुआ करे' लेकिन नाटक का तमाशा सिर्फ़ बंगाली लड़कियों की साड़ी पर ही क्यों होता है, बंगाली वीर पुरुषों की धोती की चुन्नटों पर क्यों नहीं होता, यह भी तो सोचकर देखना चाहिए।

ऐसा ही था बिन्दी का दुर्भाग्य। जितने दिन जीवित रही, तनिक भी यश नहीं मिल सका। न रूप का, न गुण का — मरते वक्त भी यह नहीं हुआ कि सोच-समझकर कुछ ऐसे नये ढंग से मरती कि दुनिया-भर के लोग खुशी से ताली बजा उठते। मरकर भी उसने लोगों को नाराज़ ही किया।

जीजी कमरे में जाकर चुपचाप रोने लगीं, लेकिन उस रोने में जैसे एक सांत्वना थी। कुछ भी सही, जान तो बची। मर गयी, यही क्या कम है? अगर बची रहती तो न जाने क्या हो जाता।

मैं तीर्थ में आ पहुँची हूँ। बिन्दु के आने की तो ज़रूरत ही न रही। लेकिन मुझे ज़रूरत थी।

लोग जिसे दुःख मानते हैं वह तुम्हारी गृहस्थी में मुझे कभी नहीं मिला। तुम्हारे यहाँ खाने-पहनने की कोई कमी नहीं। तुम्हारे बड़े भाई का चरित्र चाहे जैसा हो, तुम्हारे चरित्र में ऐसा कोई दोष नहीं जिसके लिए विधाता को बुरा कह सकूँ। वैसे अगर तुम्हारा स्वभाव तुम्हारे बड़े भाई की तरह भी होता तो भी शायद मेरे दिन करीब-करीब ऐसे ही कट जाते और मैं अपनी सती-साध्वी बड़ी जेठानी की तरह पति देवता को दोष देने के बजाय विश्व-देवता को ही दोष देने की चेष्टा करती। अतएव, मैं तुमसे कोई शिकायत नहीं करना चाहती — मेरी चिट्ठी का कारण यह नहीं है।

लेकिन मैं अब माखन बड़ाल की गली के तुम्हारे सत्ताईस नम्बर वाले घर में लौटकर नहीं आऊँगी। मैं बिन्दु को देख चुकी हूँ। इस संसार में नारी का सच्चा परिचय क्या है, यह मैं पा चुकी हूँ। अब तुम्हारी कोई ज़रूरत नहीं।

और फिर मैंने यह भी देखा है कि वह लड़की ही क्यों न हो, भगवान् ने उसका त्याग नहीं किया। उस पर तुम लोगों का चाहे कितना ही ज़ोर क्यों न रहा हो, वह उसका अन्त नहीं था। वह अपने अभागे मानव-जीवन से बड़ी थी। तुम लोगों के पैर इतने लम्बे नहीं थे कि तुम मनमाने ढंग से अपने हिसाब से जीवन को सदा के लिए उससे दबाकर रख सकते, मृत्यु तुम लोगों से भी बड़ी है। अपनी मृत्यु में वह महान् है — वहाँ बिन्दु केवल बंगाली परिवार की लड़की नहीं है, केवल चचेरे भाइयों की बहन नहीं है, केवल किसी अपरिचित पागल पति की प्रवंचिता पत्नी नहीं है। वहाँ वह अनन्त है।

मृत्यु की उस वंशी का स्वर उस बालिका के भग्न-हृदय से निकलकर जब मेरे जीवन की यमुना के पास बजने लगा तो पहले-पहल मानो मेरी छाती में कोई बाण बिंध गया हो। मैंने विधाता से प्रश्न किया, 'इस संसार में जो-कुछ सबसे अधिक तुच्छ है वही सबसे अधिक कठिन क्यों है?' इस गली में चारदीवारी से घिरे इस निरानन्द स्थान में यह जो तुच्छतम बुदबुद है, वह इतनी भयंकर बाधा कैसे बन गया? तुम्हारा संसार अपनी शठ नीतियों से क्षुधा-पात्र के सँभाले कितना ही क्यों

न पुकारे, मैं उस अन्तःपुर की ज़रा-सी चौखट को क्षण-भर के लिए भी पार क्यों नहीं कर सकी ? ऐसे संसार में ऐसा जीवन लेकर मुझे इस अत्यन्त तुच्छ काठ-पत्थर की आड़ में ही तिल-तिलकर क्यों मरना होगा ? कितनी तुच्छ है यह मेरी प्रतिदिन की जीवन-यात्रा ! इसके बँधे नियम, बँधे अभ्यास, बँधी हुई बोली, बँधी हुई मार, सब कितनी तुच्छ है — फिर भी क्या अन्त में दीनता के उस नागपाश बन्धन की ही जीत होगी, और तुम्हारे अपने इस आनन्द-लोक की, इस सृष्टि की हार ?

लेकिन, मृत्यु की वंशी बजने लगी — कहाँ गयी राज-मिस्त्रियों की बनायी हुई वह दीवार, कहाँ गया तुम्हारे घोर नियमों से बँधा वह काँटों का घेरा ? कौन-सा है वह दुःख, कौन-सा है वह अपमान जो मनुष्य को बंदी बनाकर रख सकता है ? यह लो, मृत्यु के हाथ में जीवन की जय-पताका उड़ रही है। अरी मँझली बहू, तुझे डरने की अब कोई ज़रूरत नहीं मँझली बहू के इस तेरे खोल को छिन्न होते एक निमेष भी नहीं लगा।

तुम्हारी गली का मुझे कोई डर नहीं। आज मेरे सामने नीला समुद्र है, मेरे सिर पर आषाढ़ के बादल।

तुम लोगों की रीति-नीति के अँधेरे ने मुझे अबतक ढक रखा था। बिन्दु ने आकर क्षण-भर के लिए उस आवरण के छेद में से मुझे देख लिया। वही लड़की अपनी मृत्यु द्वारा सिर से पैर तक मेरा वह आवरण उघाड़ गयी है। आज बाहर आकर देखती हूँ, अपना गौरव रखने के लिए कहीं जगह ही नहीं है। मेरा यह अनादृत रूप जिनकी आँखों को भाया है वे सुन्दर आज सम्पूर्ण आकाश से मुझे निहार रहे हैं। अब मँझली बहू की खैर नहीं।

तुम सोच रहे होंगे, मैं मरने जा रही हूँ — डरने की कोई बात नहीं। तुम लोगों के साथ मैं ऐसा पुराना मज़ाक नहीं करूँगी। मीराबाई भी तो मेरे ही समान नारी थी। उनकी जंज़ीरें भी तो कम भारी नहीं थी, बचने के लिए उनको तो मरना ही पड़ा। मीराबाई ने अपने गीत में कहा था, 'बाप छोड़ा माँ छोड़ा, जहाँ कहीं जो भी है, सब छोड़ दिया, लेकिन मीरा की लगन वही रहेगी प्रभु, अब जो होना है सो हो।'

यह लगन ही तो जीवन है।

मैं अभी जीवित रहूँगी। मैं बच गयी।

तुम लोगों के चरणों के आश्रय से छूटी हुई
— मृणाल

रवीन्द्रनाथ : आवक्ष कांस्य कृति मूर्तिकार : जेकब एपस्टाइन
सौजन्य : सिटी म्यूजि एंड आर्ट गैलरी, बर्मिंघम

खण्ड तीन
नाटक

१

मुकुट

पहला अंक

पहला दृश्य

(त्रिपुरा के सेनापति ईसा खाँ का कमरा । त्रिपुरा के छोटे राजकुमार राजधर और ईसा खाँ । ईसा खाँ हथियार तेज़ करने में लगे हैं)

राजधर : देखो सेनापति, बार-बार कह चुका हूँ, मेरा नाम लेकर मुझे मत पुकारा करो।

ईसा खाँ : फिर क्या धरके पुकारूँ। चोटी पकड़कर या कान पकड़कर।

राजधर : मैं कहे देता हूँ, मेरा सम्मान नहीं करोगे तो मैं भी तुम्हारा सम्मान नहीं करूँगा।

ईसा खाँ : मेरे सम्मान की रक्षा का भार तुम्हारे हाथों में होता तो मैं उसे कानी कौड़ी में बेच आता। अपने सम्मान की रक्षा मैं आप ही कर लूँगा।

राजधर : इसीलिए कहता हूँ कि अगर उसकी रक्षा करनी है तो मुझे नाम लेकर मत पुकारो।

ईसा खाँ : अच्छा ?

राजधर : हाँ !

ईसा खाँ : हा-हा-हा-हा! तो महाराजाधिराज का संबोधन क्या करना होगा? हुजूर, जनाब, जहाँपनाह ?

राजधर : मैं तुम्हारा शिष्य ही सही, पर यह क्यों भूलते हो कि मैं राजकुमार भी हूँ ?

ईसा खाँ : सहज नहीं भूल पाता। तुमने यह याद रखना कठिन बना डाला है कि तुम राजकुमार हो।

राजधर : लगता है कि तुम भी मुझे याद नहीं रखने दोगे कि तुम मेरे उस्ताद हो।

ईसा खाँ : बस भी करो! खामोश !

(दूसरे राजकुमार इन्द्रकुमार का प्रवेश)

इन्द्रकुमार : खाँ साहब, मामला क्या है ?

ईसा खाँ : बड़े कौतुक की बात है बाबा। तुममें यह जो सबसे छोटा है, इसे जहाँपनाह या शाहनशाह न कहो तो इसका सम्मान ही नहीं रहता। सम्मान की ऐसी तंगी है इसे !

इन्द्रकुमार : **क्या कहते हैं? सच? हा-हा-हा-हा !**

राजधर : **चुप रहो भैया!**

इन्द्रकुमार : तुम्हें क्या कहकर पुकारना होगा? जहाँपनाह? हा-हा-हा-हा! शाहनशाह ?

राजधर : भैया, कह रहा हूँ न चुप रहो तुम!

इन्द्रकुमार : जनाब, चुप रहना बड़ा कठिन है! हँसते-हँसते पेट फटा जा रहा है हुजूर !

राजधर : तुम बिल्कुल नादान हो।

इन्द्रकुमार : ठंडे हो लो भाई, जरा ठंडे तो हो लो! तुम्हारा सयानापन तुम्हारे पास ही रहे। मुझे उसका कोई लोभ नहीं !

ईसा खाँ : इनका सयानापन फ़िलहाल बहुत ही बेतरह बढ़ गया है।

इन्द्रकुमार : पहँच के बाहर हो गया है। नसेनी लगानी होगी।

(अनुचरो के साथ युवराज चन्द्रमाणिक्य और महाराजा अमरमाणिक्य का प्रवेश)

राजधर : महाराज से मुझे कुछ अर्ज करनी है।

महाराज : क्या हुआ है ?

राजधर : ईसा खाँ बार-बार मना करने पर भी मेरा असम्मान करते हैं। महाराज को इसका विचार करना होगा।

ईसा खाँ . असम्मान किसी ने नहीं किया। अपना असम्मान तुम आप कराते हो। और भी तो राजकुमार हैं? वे भी यह नहीं भूलते कि मैं उनका गुरु हूँ और मैं भी नहीं भूलता कि वे मेरे शिष्य हैं। इसलिए मान-अपमान का कोई सवाल ही नहीं उठता।

महाराज : सेनापति जी, अब हमारे कुमार सयाने हो गये हैं। अब उनकी मान-रक्षा तो हमें करनी ही होगी।

ईसा खाँ · जब महाराज ने मुझसे तलवारबाज़ी सीखी थी, उस समय मैंने महाराज का कैसा सम्मान किया था? राजकुमारों का उससे कोई कम सम्मान तो मैंने कभी नहीं किया!

राजधर : और कुमारों की बात मैं नहीं करना चाहता, पर...

ईसा खाँ : चुप रहो साहबजादे। मैं तुम्हारे पिता से बाते कर रहा हूँ। महाराज, क्षमा करें, राजवंश का यह सबसे छोटा कुमार बड़ा होने पर मुंशी की तरह कलम तो चला सकेगा, पर तलवार इसके हाथों मे शोभा नहीं देगी।

(युवराज और इन्द्रकुमार को दिखाकर)

इन्हें देखें महाराज! ये भी राज-पुत्र ही हैं। राजमहल को रोशन किये रहते हैं।

महाराज : राजधर, खाँ साहब क्या कह रहे हैं। अस्त्र-विद्या में तुम इन्हें संतुष्ट नहीं कर सके ?

राजधर : वह तो मेरी अस्त्र-विद्या का नहीं, मेरे भाग्य का दोष है। मेरी प्रार्थना है कि

महाराज स्वयं ही हमारी धनुर्विद्या की परीक्षा लें।

महाराज : **बहुत अच्छा! उत्तम! कल हमें अवकाश है। कल ही परीक्षा होगी। तुम में जो जीतेगा, उसे मेरी यह हीरों-जड़ी तलवार पुरस्कार में दी जायेगी।**

दूसरा दृश्य

(इन्द्रकुमार की अस्त्रशाला के द्वार पर)

इन्द्रकुमार : **क्यों भई प्रताप, मामला क्या है? अचानक अस्त्रशाला के द्वार पर मेरी बुलाहट किसलिए हुई ?**

प्रताप : **मझली बहूरानी-माँ ने आपको यह खबर देने का आदेश दिया कि आपकी अस्त्रशाला में एक जीवधारी अस्त्र घुस आये हैं। इसलिए इस बात की खोज-खबर लेना उचित होगा कि यह अस्त्र-महोदय वायु-अस्त्र हैं, नागपाश हैं या और कुछ हैं।**

इन्द्रकुमार : क्या बहकी-बहकी बातें करते हो प्रताप? कलियुग में भी ऐसा कुछ हुआ करता है क्या ?

प्रताप : जी कलियुग में ही होता है, सत्युग में नहीं। दरवाज़ा खोलकर देखिये, सारी बात आप ही आप समझ में आ जायगी।

इन्द्रकुमार : सचमुच, यह क्या? किसी के पैरों की आहट जैसी आ रही है !

(दरवाज़ा खुलते ही राजधर निकलता है)

यह क्या? राजधर तुम? हा-हा-हा-हा, कोई तुम्हें भूल से अस्त्र समझ बैठा था? हा-हा-हा-हा !

राजधर : मझली बहूरानी ने मज़ाक ही मज़ाक में मुझे यहाँ बन्द कर रखा था।

इन्द्रकुमार : यह घर तो सहज मखौल का घर नहीं है। यहाँ का मखौल भयंकर धारदार मखौल होता है। यहाँ तुम्हारा आगमन कैसे हुआ भला ?

राजधर : आज रात को शिकार पर जाने का इरादा था। अस्त्र लेने गया तो देखा कि हमारे अस्त्रों पर जंग लग गया है। कल की परीक्षा के लिए उन्हें साफ़ कराने को दे आया हूँ। यहाँ बहूरानी से तुम्हारे कुछ अस्त्र उधार लेने आया था।

इन्द्रकुमार : सो उन्होंने शायद पूरी अस्त्रशाला ही तुम्हें उधार दे डाली है! हा-हा-हा-हा! तो फिर निकल क्यों आये? जाओ, घुस पड़ो! उधार की मीयाद पूरी हो गई क्या? हा-हा-हा-हा !

राजधर : हँस लो, हँस लो। इस तमाशे में मेरे हँसने की बारी भी आयेगी। पर अभी नहीं। चला भैया, अब आज शिकार पर नहीं जाऊँगा।

(प्रस्थान)

प्रताप : छोटे कुमार के साथ आप लोगों की यह ठिठोली मुझे अच्छी नहीं जान पड़ती।

इन्द्रकुमार : ठिठोली में डर काहे का? वे भी ठिठोली कर लें ना।

प्रताप : उनकी ठिठोली इतनी सहज-सरल नहीं होगी।

तीसरा दृश्य

(परीक्षा भूमि में राजा, राजकुमारगण, ईसा खाँ, दूसरे निशानबाज़ और भाट)

इन्द्रकुमार : भैया, तो तुम्हें जीतना ही होगा। वरना काम नहीं चलेगा।

युवराज : चलेगा नहीं तो क्या? मेरे तीर के निशान चूक जाने पर भी दुनिया ज्यों की त्यों चलती रहेगी। और नहीं भी चलती तो मैं क्या कर सकता हूँ? जीतने की कोई सम्भावना तो दिखाई नहीं देती।

इन्द्रकुमार : भैया, तुम हारे तो मैं जान-बूझकर निशाना चूक जाऊँगा।

युवराज : ना भाई, ना! ऐसा लड़कपना नहीं करते। उस्ताद का नाम रखना होगा।

ईसा खाँ : युवराज, समय हो गया है, धनुष उठाओ। प्रतियोगिता पर ध्यान दो। देखना, हाथ सधे रहें।

(युवराज का तीर चलाना)

च्च्-च्च्, चूक गया।

युवराज : ध्यान तो पूरी तरह रखा था खाँ साहब, लेकिन तीर साध ही नहीं पाया।

इन्द्रकुमार : कभी नहीं! तुम्हारा मन लगा होता तो मजाल था कि निशाना चूक जाय। भैया, तुम उदासीन होकर सब कुछ यों ही ठुकरा देते हो, इससे मेरे जी को बड़ा दुख होता है!

ईसा खाँ : जानते हो, तुम्हारे भैया की बुद्धि तीर की नोंक पर क्यों नहीं टिक पाती? बात यह है कि वह उतनी बारीक नहीं है !

इन्द्रकुमार : सेनापति जी, आपके वचन न्याय के बोल नहीं हैं।

ईसा खाँ : (राजधर से) कुमार, तुम लक्ष्य-भेद करो ; महाराज देखें।

राजधर : पहले भैया की तीरन्दाजी तो हो ले।

ईसा खाँ : अभी सवाल-जवाब का वक्त नहीं। मेरे आदेश का पालन करो।

(राजधर का तीर चलाना)

जो हो, तुम्हारे तीर ने भी तुम्हारे भैया के तीर का ही अनुसरण किया है! लक्ष्य की ओर देखा या तका तक नहीं !

युवराज : भाई, तुम्हारा तीर बहुत ही पास से होकर निकला है। थोड़े ही और में तुमने लक्ष्य-भेद कर लिया होता।

राजधर : लक्ष्य-भेद तो हो चुका है। दूरी के कारण आप लोग साफ-साफ़ देख नहीं पा रहे हैं। वह देखिये, है न ठीक निशाने पर?

युवराज : ना भाई राजधर, ना! तुम्हारी दृष्टि को भ्रम हुआ है। लक्ष्य बिंध नहीं पाया है।

राजधर : आप लोग देखकर भी देख नहीं पा रहे, इसका कारण यह है कि मेरी धनुर्विद्या पर आपका विश्वास ही नहीं है। खैर, पास पहुँचते ही प्रमाण मिल जायगा।

(इन्द्रकुमार का धनुष उठाना)

युवराज : (इन्द्रकुमार से) भाई, मैं असमर्थ हूँ। इसलिए मुझ पर खिसियाना तुम्हारे

लिए उचित नहीं है। तुम निशाना चूके तो तुम्हारा लक्ष्यभ्रष्ट तीर मेरे हृदय को बेध डालेगा, यह तुम निश्चय जानो।

(इन्द्रकुमार का तीर चलाना)

जनता : (नेपथ्य से) जय हो, कुमार इन्द्रकुमार की जय हो।

(बाजे बज उठते हैं।)

युवराज इन्द्रकुमार को गले लगाते हैं)

ईसा खाँ : पुत्र, अल्ला-ताला की कृपा से तुम युग-युग जियो। महाराज, मझले कुमार पुरस्कार के भागी हुए। आप अपना वचन पा लें।

राजधर : नहीं महाराज, नहीं। पुरस्कार मुझे मिलना चाहिए। मेरे ही तीर ने लक्ष्य-भेद किया है।

महाराज : कभी नहीं।

राजधर : सेनापति जी, आप जाकर परीक्षा कर लें कि लक्ष्य किसके तीर से बिंधा है।

ईसा खाँ : अच्छा, मैं देख आता हूँ।

(प्रस्थान और हाथ में तीर लिये पुनः प्रवेश।)

(इन्द्रकुमार से) बाबा, मैं ठहरा बूढ़ा, आँखें कुछ गलत तो नहीं देख रहीं? लगता है कि इस तीर पर तो राजधर का ही नाम है।

इन्द्रकुमार : हाँ, नाम तो राजधर का ही है।

महाराज : देखूँ तो सही! अरे हाँ, एक ही साथ हम सबों से भूल हो गयी!

राजधर : आज ही नहीं, महाराज! मेरे प्रति तो बराबर भूल ही भूल होती आ रही है।

ईसा खाँ : कुछ समझ में नहीं आता!

इन्द्रकुमार : मैं समझ गया हूँ।

राजधर : महाराज, आज न्याय करें।

इन्द्रकुमार : (जनान्तिक) न्याय! हुँह, तुम्हें न्याय चाहिए! फिर तो चूने से मुँह पुतवाना पड़ेगा तुम्हें! वंश की लज्जा मैं नहीं खोलूँगा। तुम्हारा न्याय अन्तर्यामी करेंगे।

ईसा खाँ : क्या हुआ है बेटा? इसमें कोई भेद ज़रूर है। पत्थर कभी पानी पर तैर नहीं पाता। बन्दर कभी संगीत नहीं सुनाता। अन्धा बाबा इन्द्रकुमार, ठीक-ठीक बताना तो सही, हुआ क्या है? तरकश की अदला-बदली तो नहीं हो गयी?

राजधर : कभी नहीं। जाँच करा लें।

ईसा खाँ : हाँ, सो तो देख रहा हूँ, तरकश तो ठीक ही हैं। अच्छा बाबा इन्द्रकुमार, सच-सच बताओ, इसी बीच तुम्हारी अस्त्रशाला में कोई घुसा तो नहीं ?

इन्द्रकुमार : उस बात से कुछ आता-जाता नहीं, खाँ साहब !

ईसा खाँ : ठीक-ठीक बोलो, तुम ही जानते हो! कोई तुम्हारी अस्त्रशाला में जाकर तीर बदल लाया है।

इन्द्रकुमार : चुप भी कीजिये खाँ साहब। उस बात को रहने दीजिये।

ईसा खाँ : तो तुम हार मानते हो ?

इन्द्रकुमार : हाँ, मैं हार मानता हूँ।

ईसा खाँ : शाबाश बेटे, शाबाश! तुम सचमुच राजा के बेटे हो! महाराज, एक निवेदन है मेरा। खेल की परीक्षा तो हो चुकी, अब काम की परीक्षा भी हो जाय। देखा जाय कि काम के मामले में आपका कौन-सा बेटा इनाम पाता है।

महाराज : सेनापति किस काम की बात कह रहे हैं ?

ईसा खाँ : महाराज अराकान-राज के साथ युद्ध करना चाहते हैं। सेना भी तैयार हो चुकी है। इस बार कुमारों को इस युद्ध में भेजा जाय।

महाराज : बहुत अच्छी बात कह रहे हैं सेनापति। खबर मिली है कि अराकान के राजा चटगाँव के सिवाने तक आ गये हैं। उन्हें मैंने बार-बार शिक्षा दी, पर मूर्ख की शिक्षा यमराज की पाठशाला में भेजे बिना पूरी नहीं होती। क्या कहते हो, वत्सगण? अपने कुल के उस चिर-वैरी के विरुद्ध युद्ध-यात्रा करके क्षात्रधर्म की दीक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार हो?

इन्द्रकुमार : मैं तो तैयार हूँ। भैया भी जायँगे।

राजधर : तो क्या आप यह सोच रहे हैं कि मैं जाऊँगा ही नहीं ?

महाराज : फिर तो ईसा खाँ साहब, आप सेनाध्यक्ष बनकर इन सभी को शत्रु-विजय-यात्रा पर ले जाइये। त्रिपुरेश्वरी आप सबों पर सदा सहाय हों।

दूसरा अंक

पहला दृश्य

(राजधर के शिविर में राजधर और धुरन्धर)

धुरन्धर : तुम पाँच हज़ार सेना लेकर अलग ही रहोगे क्या?

राजधर : हाँ, ईसा खाँ के पास मैंने यही प्रस्ताव भेजा था।

धुरन्धर : सो तो मैं जानता हूँ। उस समय मैं वहीं उपस्थित था। इस प्रस्ताव पर कितनी बहसें भी हुईं।

राजधर : कैसी-कैसी ?

धुरन्धर : सबसे पहले तो इन्द्रकुमार ठठाकर हँस पड़े। बोले, राजधर की युद्धप्रणाली ही ऐसी है कि वह युद्धक्षेत्र से बहुत-बहुत दूर रहकर युद्ध करना पसन्द करते हैं।

राजधर : सो तो ठीक ही है। रणक्षेत्र में युद्ध करने का काम तो मजदूर करते हैं। योद्धा तो वह है जो दूर रहकर ही युद्ध कर सके। फिर ईसा खाँ क्या बोले ?

धुरन्धर : यह तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारे ऊपर इनका विश्वास कितना और कैसा है। तुम चरण छूने को जाओ तो भी उन्हें यही सन्देह होगा कि तुम जूते उड़ा लेने के इरादे से झुक रहे हो। सो, ईसा खाँ ने कहा : इसमें हैरानी की कौन-सी बात है

कि राजधर युद्धक्षेत्र से दूर ही दूर रहना चाहते हैं। लेकिन वह पाँच हज़ार सेना भी साथ रखना चाहते हैं, यह बात मुझे ठीक ही जान पड़ती है।"

राजधर : युवराज कुछ नहीं बोले ?

धुरन्धर : युवराज को भगवान से इतनी बुद्धि ही नहीं दी है कि वह किसी पर सन्देह भी कर सकें। और तो और तुम जो तुम हो, उस तुम पर भी उन्हें कोई सन्देह नहीं होता।

राजधर : देखो धुरन्धर, भैया के बारे में तुम ऐसी बात नहीं कर सकते।

धुरन्धर : ओह! यह बात मैं भूल-भूल जाता हूँ कि तुम्हारा यह स्थल कुछ नरम-नरम-सा है। खैर, उन्होंने कहा : 'ना ना राजधर के प्रति आप लोग अन्याय कर रहे हैं। उसका प्रस्ताव तो मुझे बहुत अच्छा ही लगा। अगर युद्ध में संकट उपस्थित हो गया तो वह अपनी सेना लेकर हमारी सहायता कर सकेंगे।' युवराज के अनुरोध पर ही ईसा खाँ ने तुम्हारा प्रस्ताव माना। वरना, वह कहाँ चाहते थे! जो हो, पर अलग रहने में तुम्हारा मतलब क्या है, यह मैं भी समझ नहीं पाया।

राजधर : उनके साथ मिलकर युद्ध करने में मेरा लाभ क्या है? जीतने पर उस जीत को कोई मेरी जीत तो मानने से रहा!

धुरन्धर : फिर भी कोई भूले से भी तो तुम्हारा नाम ले देता। पर अलग रहने पर जीत में भी तुम्हें बदनामी ही हाथ लगेगी; हारने पर क्या होगा, इसकी तो बात ही छोड़ दो।

राजधर : अपनी यह पाँच हज़ार सेना लेकर ही मैं युद्ध जीतूँगा और अकेला ही जीतूँगा।

(दूत का प्रवेश)

क्यों रे, युद्ध की क्या खबर है!

दूत : जी, लड़ाई तो सारे दिन चलती है, पर अब तक ये लोग दुश्मन का व्यूह नहीं भेद सके हैं। सूरज के डूबने में अब कोई खास देर नहीं है। लगता है कि अँधेरा हो जाने पर आज की लड़ाई तो बन्द ही रखनी पड़ेगी।

(दूसरे दूत का प्रवेश)

राजधर : कौन हो?

दूसरा दूत : जी, मैं व्योमकेश हूँ। मुझे युवराज ने भेजा है। उनके आदेश मिले भी लगभग दो पहर हो गये। सेना लेकर आपके जहाँ पर रहने की बात थी, वहाँ पर आपका कोई पता न मिलने पर बड़ी छानबीन के बाद यहाँ पहुँचा हूँ।

राजधर : युवराज का आदेश क्या है?

दूत : शत्रुबल हमारे अनुमान से कहीं अधिक है। युद्ध अत्यंत कठिन हो उठता है। कुमार इन्द्रकुमार ने अपने घुड़सवार-दल को लेकर शत्रु-सेना के उत्तर की ओर आक्रमण किया था। कुछ ही क्षण और मिल जाते तो वह उधर से शत्रु सेना को हटाकर बिलकुल नदी-किनारे तक ला सकते थे।

राजधर : सच? समय मिलने पर क्या कर लेते, यह कल्पना करने में कोई लाभ तो दिखाई नहीं पड़ता; पर लगता है कि उन्हें समय नहीं मिला। क्यों ?

दूत : शत्रु-सेना को लगभग हटा चुके थे कि युवराज के संकट में पड़ जाने की खबर मिली। युवराज घिर गये थे। ईसा खाँ उस समय किसी और दिशा में युद्ध कर रहे थे। उन्हें खबर मिली तो बोले कि मैं यहाँ लड़ाई जीतने आया हूँ, युवराज को बचाने के लिए नहीं आया। लड़ाई मुझे जीतनी ही है और मेरे यहाँ से हटते ही शत्रु को बड़ी सहूलियत हो जायगी।

राजधर : तो क्या भैया...

दूत : जी नहीं, वह विपत्ति घटित नहीं हुई। इन्द्रकुमार सेना लेकर पहुँच गये और उन्हें बचा लाये। लेकिन इस गड़बड़ में लड़ाई का पासा हमारे खिलाफ पलट गया है। आपको ढूँढ़ने के लिए चारों ओर अनेक दूत भेजे गये हैं। आपका सहारा न मिलने पर विपत्ति घटित भी हो सकती है। इसलिए आप अब और तनिक भी देर न करें।

राजधर : नहीं, देर तनिक भी नहीं होगी। जाओ, तुम आराम करो; मैं तैयार हो रहा हूँ।

(दूत का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

(अराकान-राज की छावनी में अराकान राजा और राजधर)

अराकान राजा : देखिये राजकुमार, मुझे क़ैद करके आपको कोई लाभ न होगा।

राजधर : क्यों न होगा राजन्? इस युद्ध में आपका लाभ करना ही सबसे बड़ा लाभ है।

अ० राजा : इससे युद्ध की समाप्ति नहीं होगी। मेरा भाई हामचू अभी मौजूद है। सेना उसी को राजा बना देगी और लड़ाई पहले की तरह चलती रहेगी।

राजधर : आपको मुक्ति ही दूँगा, पर बिलकुल ही मुफ्त में तो मुक्ति दी नहीं जाती!

अ० राजा : सो मैं जानता हूँ, ऊल देना होगा। मैं आपसे पराजय स्वीकार करके संधि-पत्र लिख देने को तैयार हूँ।

राजधर : सिर्फ़ संधि-पत्र से क्या होगा, महाराज ? आपके पराजय-स्वीकार की कोई निशानी भी तो चाहिए । तो चाहिए ही ।

अ० राजा : आपको पाँच सौ बर्मी घोड़े और तीन हाथी भेंट करूँगा।

राजधर : वह भेंट मुझे नहीं चाहिए। महाराज अपने सिर का मुकुट दे दें।

अ० राजा : उससे तो प्राण दे देना ही अधिक सरल होता!

राजधर : आप प्राण देकर भी मुकुट तो बचाने से रहे ! व्यर्थ में प्राण देने पड़ेंगे।

अ० राजा : तो फिर मुकुट ले लें। पर याद रखें, इस मुकुट के साथ आप अराकान की चिर-शत्रुता भी स्वीकार कर रहे हैं। जब तक यह मुकुट हमें वापस नहीं मिलेगा, तब तक मेरे राज-वंश को चैन नहीं आयेगा।

राजधर : यह हुई न राजा जैसी बात! हमें भी तो चैन नहीं चाहिए महाराज! हम क्षत्रिय हैं! खैर, एक और काम बच रहा है। युद्धविराम का आदेश जल्दी से अपने सेनापति के पास भिजवा दें। इस घड़ी उस पार युद्ध की तैयारी हो रही है।

अ० राजा : आदेश लेकर दूत अभी इसी क्षण जा रहा है।

राजधर : तो फिर चलिये, संधि-पत्र लिखने की व्यवस्था की जाय।

तीसरा दृश्य

(रणभूमि मे युवराज और इन्द्रकुमार)

युवराज : आज की लड़ाई के आसार अच्छे नहीं लगते। लगता है, हमारे सैनिक कल की बात से आज भी जी छोटा किये हुए हैं। वे ठीक से लड़ नहीं रहे। ईसा खाँ किधर हैं ?

इन्द्रकुमार : उधर वह-देखिये, पूरब के कोने में उनकी पताका उड़ रही है।

युवराज : भाई, आज मेरे संग-संग क्यों लगे हो तुम? तुम्हें तो शायद उत्तर की ओर जाना था!

इन्द्रकुमार : मैं यहीं अच्छा हूँ।

युवराज . इन्द्रकुमार, आज तुम अपने भैया को बेवकूफ़ी करने से बचाने के लिए ही संग-सग लगे फिर रहे हो! तुम्हें यह अच्छा नहीं लगता कि खाँ साहब को फिर मौका मिले और वह मेरी अक्ल में खोट खोज निकाले। मगर भाई, मेरी नादानी की भी एक सीमा तो है ही! लगता है, आज मैं सावधानी से काम कर सकूँगा। वह-देखो, वह-क्या, यह तो अपनी ही सेना हटती जान पड़ती है। पीठ दिखाकर भाग खड़ी होने को है! तुम्हारे सिवा और कोई भी उसे रोक नहीं सकेगा। इन्द्रकुमार, देर मत करो। मेरे लिए डरने की कोई बात नहीं। यह-क्या, यह-क्या, यह-क्या!

इन्द्रकुमार : सचमुच यह-क्या! शत्रु ने अचानक लड़ाई बन्द क्यों कर दी ?

(इतन मे ईसा खाँ का प्रवेश)

खाँ साहब, कोई खबर मिली है? शत्रु ने अचानक लड़ाई बन्द क्यों कर दी ?

ईसा खाँ : मिली है खबर, जरूर मिली है। राजधर ने अराकान-राज को बन्दी बना लिया है।

इन्द्रकुमार : राजधर ने? नहीं, यह नहीं हो सकता !

ईसा खाँ : कल साँझ ढलने के बाद जिस समय हम लड़ाई बन्द करके छावनी लौट रहे थे, उस समय उसने चुपके-चुपके अँधेरे मे नदी पार कर ली और अराकान-राज की छावनी पर औचक छापा मारकर उन्हें क़ैद कर लिया। सहायता के लिए जहाँ पर उसे तैनात किया था मैंने, वहाँ तो वह था ही नहीं। मैं सेनापति हूँ, लेकिन मेरे आदेश को वह कभी मानता ही नहीं।

इन्द्रकुमार : असह्य! इसके लिए उसे दण्ड मिलना चाहिए।

ईसा खाँ : इतना ही नहीं! युवराज के होते हुए भी उसने अपनी मरजी के मुताबिक सन्धि-पत्र लिखवाया है।

इन्द्रकुमार : इसका दण्ड न देना ही अन्याय होगा।

ईसा खाँ : अपने भैया को यह सीधी-सी बात समझा दो ना ज़रा।

(राजधर का प्रवेश)

इन्द्रकुमार : राजधर, तुमने कायरता का परिचय दिया है।

राजधर : तुम्हारी तरह लड़ाई को तीन-तेरह करके मर्दानगी का परिचय देने तो मैं इतनी दूर आया नहीं। मैं तो लड़ाई में जीत हासिल करने आया था।

इन्द्रकुमार : तुमने लड़ाई की है? और जीत हासिल की है? तुमने तो विजय-लक्ष्मी का मुँह लज्जा के मारे लाल कर दिया है !

राजधर : हो भी सकता है। पर वह लज्जा प्रणय की लज्जा होगी। लेकिन उन्होंने मुझे वरण किया है, इसका प्रमाण यह रहा!

इन्द्रकुमार : यह मुकुट किसका है ?

राजधर : यह मुकुट मेरा है। यह मेरी जीत का पुरस्कार है!

इन्द्रकुमार : तुम तो लड़ाई से भाग खड़े हुए हो, तुम्हे किस बात का पुरस्कार मिलेगा? यह मुकुट युवराज पहनेंगे।

राजधर : इसे जीत कर लानेवाला मैं हूँ, पहनूँगा भी मैं ही।

युवराज : राजधर ठीक कह रहे हैं। अपनी जीत का धन वही भोगेंगे।

ईसा खाँ : सेनापति के आदेश का उल्लंघन करके इन्होंने अँधेरे में सियार की वृत्ति का सहारा लिया। और फिर भी मुकुट पहनेंगे ये? इन्हें तो किसी टूटी हाँडी का कनखा पहनकर देश जाना शोभा देगा।

राजधर : मैं न होता तो आप सभी को टूटी हाँडी का कनखा पहनना पड़ता। अभी आप होते कहाँ भला ?

इन्द्रकुमार : कहीं भी होते, तुम्हारी तरह भगोड़े तो नहीं होते!

युवराज : इन्द्रकुमार, यह तुम्हारा अन्याय है भाई। सच कहने में क्या लगता है? सच तो यही है कि राजधर न होता तो आज तुम पर आफ़त आई होती।

इन्द्रकुमार : कोई आफ़त नहीं आती। राजधर ने सेना छिपाये रखकर ही हमें आफ़त मे डालने की कोशिश की थी। राजधर न होता तो यह मुकुट मैं युद्ध करके जीत लाता। राजधर चोरी करके लाया है। भैया, यह मुकुट मैं तुम्हीं को पहनाता, खुद तो हरगिज नहीं पहनता।

युवराज : (राजधर से) भाई, आज तुम्हीं जीते हो। तुम न होते तो इतनी थोड़ी सेना लेकर पता नहीं हम कैसी विपदा में फँस गये होते! यह मुकुट मैं तुम्हीं को पहना रहा हूँ।

इन्द्रकुमार : (रुद्ध कण्ठ से) राजधर ने क्षात्र-धर्म का उल्लंघन किया है। इसीलिए आज तुमसे पुरस्कार मिला है उसे! और मैं जो जान हथेली पर लिये आफत के मुँह में खड़ा युद्ध करता रहा, इसीलिए तुम्हारे मुँह से प्रशंसा का एक शब्द तक नहीं निकला। तुम्हारे मुँह से आज यह भी सुनना पड़ा कि राजधर न होता तो तुम्हें आफत से कोई भी बचा नहीं सकता था! क्यों भैया, मैं क्या मुँह- अँधेरे उठकर संझा तक तुम्हारी आँखों के आगे खड़ा लड़ता नहीं रहा हूँ? मैं क्या कभी लड़ाई छोड़ कर भाग खड़ा हुआ? मैं क्या शत्रु का व्यूह तोड़कर तुम्हारी सहायता को नहीं पहुँचा? तुमने क्या देखकर यह कहा कि तुम्हारा स्नेह-भाजन राजधर न होता तो तुम्हें आफत से बचाने वाला और कोई न था ?

युवराज : भाई, मैं अपनी आफत की बात नहीं करता।

इन्द्रकुमार : रहने दो भैया, रहने भी दो! और कुछ कहने की जरूरत नहीं है। राजधर जैसे असाधारण वीर सहाय हैं तो फिर मेरी ज़रूरत ही क्या रही तुम्हें! मैं तो चला!

युवराज : भाई, फिर? फिर तुम आत्मविस्मृत हो रहे हो ?

इन्द्रकुमार : जहाँ कोई मेरी ज़रूरत ही नहीं हो, वहाँ रहना अपने आपका अपमान करना है।

(प्रस्थान)

ईसा खाँ : युवराज, यह मुकुट किसी को भी देने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। सेनापति मैं हूँ, मैं जिसे दूँगा, उसी का होगा यह मुकुट।

(राजधर के सिर से मुकुट लेकर युवराज को पहनाने लगते हैं)

युवराज : (परे हटकर) ना, ना, यह मुकुट मैं नहीं ले सकता।

ईसा खाँ : तो फिर रहे। यह मुकुट कोई नहीं पहनेगा। यह कर्णफूली के पानी में जाय।

(कर्णफूली नदी के पानी मे मुकुट फेंकते हैं)

राजधर ने युद्ध के नियम का उल्लंघन किया है, वे दण्ड के भागी हैं।

राजधर : भैया, तुम साक्षी रहे। यह मैं कभी नहीं भूलूँगा।

चौथा दृश्य

(छावनी मे राजधर और धुरन्धर)

राजधर . धुरन्धर, जहाँ मेरा मुकुट गया है, कर्णफूली की उसी धारा में विजय को भी जलांजलि दे दूँगा।

धुरन्धर : अब फिर हारोगे क्या ?

राजधर : हाँ, इस बार हारकर जीतूँगा। इन्द्रकुमार के अहंकार को धूल मे मिलाये बिना मैं लौटने का नहीं। मेरे हाथों हासिल हुई जीत को वह ग्रहण नहीं कर सकते। देखना है, इस बार अपने बल-बूते पर वह किस तरह जीतते है।

धुरन्धर : इतने अधिक निश्चिन्त भी मत हो लेना। संयोग से जीता भी जा सकता है। सच बात पर मुँह फुलाने से काम नहीं चलेगा; यह समझ लो इन्द्रकुमार ने युद्ध की विद्या सचमुच कुछ-कुछ सीख ली है।

राजधर : अच्छा, वह सब विवाद पीछे होगा। अभी तुम्हें एक और काम करना होगा। अराकान-राजा कल सवेरे ही कूच कर रहे हैं। शर्त है चटगाँव की सीमा से उनके बाहर निकल जाने तक उनकी सेनापति मेरी छावनी में नज़रबंद रहेंगे। काम यह है कि उनकी छावनी उखड़ने के पहले ही आज रात को तुम चुपके से उनके पास पहुँच जाओ और मेरी यह चिट्ठी उन्हें दे आओ। किसी को कानों-कान खबर न होने पाये।

धुरन्धर : मैंने लिखा है: 'मेरा अपमान हुआ है, इसलिए मैंने अपने भाइयों से अवकाश ले लिया है। अपने पाँच हज़ार सैनिकों को लेकर मैं घर लौटने के बहाने दूर खिसक जाऊँगा। इन्द्रकुमार भी भैया से रूठकर चला गया है। लड़ाई समाप्त हुई जानकर सैनिक भी लौटने की तैयारी में हैं इस अवसर पर अराकान-राजा हमला करें तो त्रिपुरावालों की हार निश्चित है।'

तीसरा अंक

पहला दृश्य

(रणभूमि मे इन्द्रकुमार और सैनिक)

इन्द्रकुमार : कहाँ, कहाँ, कहाँ? अरे, भैया कहाँ है?
अवसर नहीं दोगे? (चिल्लाकर) भैया, बोलो! सिर्फ़ पल भर के लिए बोलो! अरे, यहाँ और कोई नहीं है क्या रे? जो जहाँ कहीं हो, वह उन्हें खोजने में लग जाय। आज तो मुझे भैया से मिलना ही होगा, मिलना ही होगा

(दूसरे सैनिक का प्रवेश)

दूसरा सैनिक : इधर चलिये कुमार। उनके दर्शन हो गये हैं।

इन्द्रकुमार : कहाँ, कहाँ?

दूसरा सैनिक : कर्णफूली के किनारे अर्जुन के पेड़ तले।

इन्द्रकुमार : सच-सच बता, वह क्या—

दूसरा सैनिक : वह जीवित हैं। आपकी ही राह देख रहे हैं।

दूसरा दृश्य

(कर्णफूली किनारे पेड़ तले धुँधली चाँदनी में युवराज)

युवराज : अरे खिसका दे रे, जरा खिसका दे! इन डालों को खिसका दे कि जरा चाँद को देख लूँ। कोई नहीं है? यह पेड़ की ही छाया है, या मेरी आँखें धुँधलाने लगीं? कर्णफूली का कलकल शब्द तो अभी भी सुनाई पड़ रहा है! तो क्या पृथ्वी का

अंतिम विदा-वचन इस कलकल शब्द के रूप में ही सुनना बदा है? इन्द्रकुमार, भाई इन्द्रकुमार! तुम्हारा रोष अब भी नहीं गया?

(इन्द्रकुमार का प्रवेश)

इन्द्रकुमार : भैया, भैया!

युवराज : आह, जीवन मिला भाई! मैं जानता था कि तुम जरूर आओगे। इसीलिए इतनी देर हो जाने पर भी जिये जा रहा था। तुम रूठकर चले गये थे, इसीलिए मैं जा नहीं पा रहा था। लेकिन रात बहुत हो गयी है भाई, अब सोता हूँ; माँ ने गोद बिछा रखी है।

इन्द्रकुमार : भैया, माफ तो कर दिया न? भूल चूक की माफ़ी तो हो गयी न?

युवराज : सारा कुछ, सारा-कुछ! यहाँ का जो कुछ भी था, उन सबकी माफ़ी इस रक्त से कर चला। कुछ भी बचा नहीं रहने दिया। बस एक ही दुख रह गया है: महाराज के पास खबर भेजनी होगी कि मेरी पराजय हो गयी है।

इन्द्रकुमार : पराजय तुम्हारी नहीं हुई भैया, पराजय मेरी हुई है।

(सैनिक का प्रवेश)

सैनिक : कुमार राजधर ने युवराज के चरणों की धूल लेने के लिए प्रार्थना भेजी है।

इन्द्रकुमार : कभी नहीं! किसी हालत में नहीं!

युवराज : बुलाओ, बुलाओ। उसे बुलाओ।

इन्द्रकुमार : (खिसियाकर) भैया, राजधर को—

युवराज : फिर भाई? फिर?

इन्द्रकुमार : ना ना ना, अब और नहीं। अब और रोष नहीं होने का मुझे।

(राजधर का प्रवेश और प्रणाम)

राजधर : मैं पतित हूँ, नराधम हूँ। यह मुकुट तुम्हारे पैरों में रखता हूँ। यह तुम्हारा ही है।

युवराज : मुझे अब समय नहीं है। इन्द्रकुमार को दे दो, भाई।

राजधर : भैया का आदेश सिर-आँखों पर। यह मुकुट तुम लो।

इन्द्रकुमार : मैं पराजित हूँ—यह मुकुट मेरा नहीं। यह मैंने तुम्हीं को पहनाया भैया!

(आनु० २४ चैत्र १८८३ शक०)

२

विसर्जन

पहला अंक

पहला दृश्य

मन्दिर

(गुणवती का प्रवेश)

गुणवती : माता का न जाने कौन अपराध मुझसे
हो गया है! भिक्षुक जो दाह से उदर की
बेच देता अपनी ही संतति को, देती हो
उसको भी शिशु—पापिनी जो लोक-लाज से
वध करती है अपने ही कोख-जाये का,
कोई असहाय जीव उसके भी गर्भ में
माता, तुम्हीं भेज देतीं; किन्तु हाय रे, यहाँ
सौ-सौ दास-दासियों, प्रजाओं-सेना-संग मैं
राजरानी होकर भी लालसा लिये हुए
बैठी हूँ कि एक बार पा सकूँ परस तो
एक नन्हे शिशु का प्रतप्त इस वक्ष से।
बैठी हूँ कि एक और प्राणाधिक प्राण का
अनुभव पा सकूँ मैं अपने भी प्राण मे।
बैठी हूँ कि इस वक्ष, इन दोनों बाँहों से,
इस गोद, इस दृष्टि से ही रचना करूँ
निविड़ जीवंत एक नीड़ की, कि जिसमें
स्पंदन हो मेरी प्राण-कणिका का सर्वदा।
देखेंगे मुझे दो दृग प्रथम आलोक में,
खिलेगा मेरी ही गोद में प्रथम हास वह

शब्दहीन मुख पर अकारण आनन्द से!
कुमार-जननी माता, मुझे किस पाप से
वंचित किया है मातृ-स्वर्ग से?

(रघुपति का प्रवेश)

अहे प्रभो!
पूजन मैं माँ का करती हूँ चिरकाल से,
जान-बूझ कोई अपराध भी किया नहीं,
पुण्य देह मेरे पति शिव के समान हैं—
फिर किस दोष से किया है महामाया ने
निःसंतान-श्मशान-चारिणी, बतलाइये!

रघुपति : कौन समझेगा माँ की क्रीड़ा! वे इच्छामयी
दुहिता पाषाण की, कि सुख-दुःख उनकी
इच्छामात्र। धैर्य धरो, पूजा इस बार की
नाम से तुम्हारे होगी। श्यामा की प्रसन्नता
देवि, इस बार तुम पाओगी अवश्य ही

गुणवती : पूजा के निमित्त बलि-पशु इस वर्ष मैं
दूँगी स्वयं। करती मनौती हूँ कि माँ मुझे
देंगी यदि संतति तो मैं भी प्रतिवर्ष ही
एक सौ महिष, अज-शावक भी तीन सौ
श्रद्धा के सहित उन्हें भेंट में चढ़ाऊँगी।

रघुपति : पूजा का समय हो गया है देवि, अब तो!

(दोनों का प्रस्थान)

(गोविन्दमाणिक्य, अपर्णा और जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह : आज्ञा महाराज?

गोविन्द : **एक छोटा अज-शिशु है,**
दीना इस बालिका के स्नेह का जो पुतला,
सुना है कि उसे छीनकर लाया गया है
माता के समीप बलि देने के निमित्त। पर
जननी क्या ग्रहण करेंगी इस दान को
होकर प्रसन्न भुजा दाहिनी से अपनी?

जयसिंह : कैसे जानूँ महाराज, राजभृत्य लाते हैं
पूजा हेतु देवी के कहाँ से बलि-पशु को—
हाँ जी, तुम रोती क्यों हो? स्वयं विश्वमाता ने
ग्रहण किया है जिसे, उसके लिए भी क्या
रोना इस भाँति अच्छा लगता तनिक भी !

अपर्णा : कौन है तुम्हारी विश्व-माता? मेरा शिशु क्या
पहचान पावेगा उन्हें, कि वह मातृहीन है,
अपनी भी माँ को वह जान नहीं पाया है।
देर से मैं आती हूँ तो तृण नहीं खाता
पथ की ओर देख-देख पुकारता रहता—
आकर उसे मैं भर लेती निज गोद में
भीख-मिला अन्न हम बाँटकर खाते हैं।
सच कहूँ, एक-मात्र माता उसकी हूँ मैं।

जयसिंह : महाराज, भाग दे के प्राण का भी अपने
रक्षा कर पाता यदि उसकी, तो करता।
माँ ने उसे ग्रहण किया है किन्तु, अब तो
हाय, उसे किसी भाँति लौटा नहीं पाऊँगा।

अपर्णा : माँ ने उसे ग्रहण किया है? बात झूठी है,
राक्षसी किसी ने स्यात् उसे चबा डाला है।

जयसिंह : ऐसी बात, छी-छी, मत मुँह से निकालना।

अपर्णा : माँ, तुम्हीं ने छीना है ग़रीबिनी के धन को ?
राजा यदि चोरी करता है, सुना मैंने है,
राजा एक और है जगत् का, परन्तु जो
तुम्हीं करो चोरी तो बताओ भला उसका
करेगा विचार कौन? बोलो महाराज!

गोविन्द : बेटी, मैं अवाक् हूँ—व्यथा क्यों भला इतनी,
इतना क्यों रक्तपात, कौन बतलायेगा?

अपर्णा : सीढ़ियों से बहकर आता रक्त-चिह्न जो
दीखता है यह, क्या उसी की रक्त-धार है ?
बेटे मेरे, हाय-हाय, मुझको पुकार के
रोया होगा कितना तू; व्याकुल नयन से
देखा होगा चारों ओर कातर हृदय से,
मेरे प्राण थे जहाँ, वहाँ से हाय, भाग के
आ गये नहीं क्यों यहाँ रहते समय के ?

जयसिंह : पूजता रहा हूँ जन्म से ही तुम्हें फिर भी।
(देवी की प्रतिमा से))
माया नहीं समझ सका हूँ अब तक मैं।
प्राण करुणा से रोते मानव के रहते
विश्व-जननी का नहीं हृदय पसीजता।

अपर्णा : **(जयसिंह से)**

निष्ठुर नहीं हो तुम, नयनों की कोर से
मेरा दुःख देखकर आँसू झरे आते हैं।
आओ तुम तब इस मन्दिर को छोड़के,
कर दो क्षमा भी मुझे, क्योंकि मैंने माना था
अपराधी तुमको भी, यद्यपि नहीं थे तुम।

जयसिंह : (प्रतिमा से)

हे गिरीशनन्दिनी! तुम्हारे देवालय में
गूँजा यह नूतन संगीत कौन, कैसा है,
करुणा से कातर हुए-से कंठ-स्वर में,
अपरूप वेदना से भक्तों का हृदय भी
हो उठा है व्याकुल-सा! जाऊँ कहाँ शोभने!
छोड़ इस मंदिर को, आश्रय भी है कहाँ ?

गोविन्द : (अलग से)

आश्रय वहीं है, जहाँ प्रेम का निवास है।

जयसिंह : किन्तु प्रेम है कहाँ, यही तो नहीं दीखता।

भद्रे, तुम आओ, चलो, मेरे ही कुटीर मे।
मैंने है प्रतिज्ञा की कि अपने अतिथि की
पूजा में करूँगा आज दिन देवी-रूप में।

(जयसिंह और अपर्णा का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

राज-सभा

(राजा, रघुपति और नक्षत्रराय का प्रवेश। सभासद्‌गण उठ खड़े होते हैं।)

सभी : जय महाराज की हो!

रघुपति : राज-भांडार मे

आया हूँ मैं पूजा-हेतु बलि-पशु लेने को।

गोविन्द : मंदिर में इस वर्ष से ही पशु-बलि का

हो गया निषेध है।

नयनराय : निषेध पशु-बलि का ?

मंत्री : बलि का निषेध!

नक्षत्रराय : सच ही तो, पशु-बलि का ?

रघुपति : स्वप्न में ही मैं क्या यह बात सुन पा रहा!
गोविन्द : स्वप्न यह नहीं प्रभु! अब तक स्वप्न में
था मैं, आज जागा हूँ कि बालिका के रूप में
जननी ने आकर स्वयं ही कहा मुझसे,
जीव-रक्त-पात उनसे न सहा जाता है।
रघुपति : इतने दिनों से किन्तु कैसे सह पायी थीं ?
वर्षों से सहस्त्र, रक्त पीती आ रही थीं जो,
आज सहसा ही उन्हे उससे अरुचि क्यों ?
गोविन्द : शोणित उन्होंने किन्तु था नहीं कभी पिया।
रक्त-पात करते थे तुम जब-जब भी,
देवी तो सदैव निज मुँह फेर लेती थीं।
रघुपति : कह क्या रहे हैं महाराज, आप इसको
एक बार भली-भाँति सोच लें, विचार लें।
शास्त्र का विधान तो अधीन नहीं आपके।
गोविन्द : किन्तु बड़ा देवी का आदेश सारे शास्त्र से।
रघुपति : एक तो है भ्रांति, तिस पर अहंकार है!
मूढ़ नर, देवी का आदेश सुना तुमने
और जैसे मैंने है सुना ही नहीं कुछ भी!
नक्षत्रराय : वही तो, वही तो मंत्री, तुम कहते हो क्या ?
कैसा अचरज, पुरोहित ने सुना नहीं!
गोविन्द : देवी का निदेश चिर काल से ध्वनित है
जग मे। वही है महावधिर कि जो उसे
सुन करके भी कभी सुन नहीं पाता है।
रघुपति : राजा, तुम नास्तिक हो, ढोंगी बड़े भारी हो।
गोविन्द : होता है समय नष्ट यों ही पुरोहित जी!
अब आप मंदिर का काम-काज देखिये।
जाते-जाते राह में प्रचार कर दीजिये,
जीव-जननी की पूजा करने के छल से
जीव-हत्या करेगा जो मेरे इस राज्य में
दंड दूँगा मैं उसे कठोर निर्वासन का।
रघुपति : निर्णय यही क्या सच, अन्तिम तुम्हारा है?
गोविन्द : निश्चय यही है।
रघुपति : तो तुम्हारा सर्वनाश हो!
चाँदपाल : (दौड़ते हुए आकर)
हाँ, हाँ! रुको, रुको!

गोविन्द : आओ चाँदपाल! बैठो तो'
कह लो पुरोहित, जो कहना है तुमको।
मनोव्यथा कम हो तो जाओ काम-काज को।

रघुपति : समझ रखा है तुमने क्या त्रिपुरेश्वरी
प्रजा ही त्रिपुर की, कि उन पर भी तुम्हीं
शासन करोगे? छीन लोगे बलि उनकी?
भूलो मत राजा, शक्ति इतनी नहीं तुम्हें
सेवक मैं माता का अभी भी विद्यमान हूँ।

(प्रस्थान)

नयनराय : महाराज, क्षमा करें स्पर्धा अनुगत की
किस अधिकार से प्रभो, यों बलिदान को—

चाँदपाल : शान्त रहो सेनापति!

मंत्री : महाराज, आपने
निश्चय किया है यही, आज्ञा नहीं लौटेगी?

गोविन्द : नहीं मंत्रिवर! न विलम्ब क्षण-भर का
उचित यहाँ है नाश करने में पाप का।

मंत्री : पाप की क्या होती इतनी भी परमायु है
शत-शत वर्षों से पुरानी परिपाटी जो
पल देवता के चरणों में हुई बूढ़ी है,
उसको भी पाप कहने का अवसर है ?

नक्षत्रराय : वही तो, भला क्या पाप हो सकेगा वह भी ?

मंत्री : पूर्वज हमारे जिस रीति सनातन को
पालते हैं आये भक्ति से औ अनुराग से,
अपमान उसका, उन्हीं का अपमान है।

(राजा सोचते हैं)

नयनराय : सोचकर देखें महाराज, युग-युग से
भक्ति-भरी सम्मति मिली है जिस बलि को
जन की सहस्रों, उसे नष्ट करने का क्या
अधिकार आपको है?

गोविन्द : (उसाँस भरकर)
तर्क रहने ही दो!
जाओ मंत्री, जाकर प्रचार करो आज्ञा का—
मंदिर में आज से ही पशु-बलि बंद है।

मंत्री : यह क्या हुआ?

नक्षत्रराय : हे मंत्री! मैं भी यही कहता

हो गया क्या यह! सुना मैंने ही कि मग के
मंदिरों में होती नहीं बलि, पर अब तो
मग और हिन्दू में न भेद रह पाया है।
कहो चाँदपाल, भला तुम कहते हो क्या ?

चाँदपाल भीरु हूँ मैं क्षुद्र प्राणी, बुद्धि नहीं उतनी,
समझे बिना ही आज्ञा पालता नरेश की।

तीसरा दृश्य

मन्दिर

जयसिंह : जननि! यहाँ हैं हम दो ही
—तुम और में
दीर्घ इस दिन में न कोई और आया है
ऐसा लगता है, मानो बीच-बीच में मुझे
कोई है पुकारता-सा! माँ के पास रहके
लगता अकेला हूँ मैं आप अपने ही को।

(नेपथ्य से गान)

गीत-१

मैं चली अकेली इस जय में
देगा पथ का संधान कौन ?

जयसिंह : माँ! तुम्हारी माया यह कितनी अनूठी है,
मानव के प्राण देते देवता को प्राण हैं!
निश्चल थीं अभी, अभी तुम वाक्-हीन थीं
और अभी कंठ-स्वर सुनके सन्तान का
हो उठी हो सजग, जीवन्त जैसे जननी!

(गीत गाती हुई अपर्णा का प्रवेश)

गीत-२

मैं चली अकेली इस जग में
देगा पथ का संधान कौन ?
भय नहीं, नहीं मुझको भय है
चलती जाऊँगी निश्चय है,
जो सुमुख सुमन सौरभमय है,
यह भ्रमर अकेला ही उस तक
भागा जाता अनजान कौन ?

जयसिंह : वह क्या अकेला ही है? दक्खिनी पवन,

जो बहे नहीं और फिर सौरभ सुमन का
आये नहीं कहीं से, दिशाएँ दसों जागें,
जो शंका के समान दस, तब रह पाएगा
सुख कहाँ, पथ होगा कौन-सा बताओ तो
जानती हो कहते अकेला हैं किसे भला?

अपर्णा : जानती हूँ। जब भरा मन लिये बैठी हूँ
देना चाहती हूँ, नहीं लेनेवाला कोई है।

जयसिंह : देवता एकाकी जैसे पहले सृजन के,
ठीक ही है, ठीक, होता ऐसा ही प्रतीत है,
मानो यह जीवन बहुत ही अधिक हो—
जितना बड़ा हो यह, उतना ही शून्य हो
और उतना ही हो अनर्थक भी, व्यर्थ भी।

अपर्णा : जयसिंह, जान पड़ता है, हो अकेले तुम,
देखा है इसी से मैंने, जो दरिद्र जन है,
तुम उससे भी हो दरिद्र, ढूँढ़ते उसे
जो तुम्हारा सब-कुछ लेके निःस्व कर दे।
भटक रहे हो दुखियों के द्वार-द्वार तुम।
इतने दिनों से फिरती हूँ भीख माँगती,
जाने कितनों को देखती हूँ, जोहती हूँ मैं
कितनों का मुँह—वे समझ यही पाते हैं,
एक-मात्र भिक्षा के लिए ही, और इससे
दूर से ही मुष्टि-भिक्षा देते दया करके।
इतनी दया परन्तु पा नहीं कहीं सकी,
पाकर जिसे न दैन्य याद आवे अपना।

जयसिंह : सच्चा जो है दाता,
वह दान रूप में स्वयं
आता है उतर के दरिद्र के निकट।
जैसे मेघ आता है उतर के गगन से
हाहाकारी मरुभूमि पर वृष्टि-रूप में।
मानवी का रूप धर देवी है उतरती
प्यार करती है जिसे, उसके निकट को।
दाता औ दरिद्र, यों मनुष्य और देवता
होते एकाकार!
—वह देखो, गुरुदेव भी आ रहे हैं मेरे।

अपर्णा : छिप जाऊँ अन्तराल में।

ब्राह्मण से मुझे डर लगता बहुत है ।
कैसी है कठिन तीव्र दृष्टि, भाल कैसा है
कठिन है जैसे देवी-मन्दिर की सीढ़ियाँ
प्रस्तर-निर्मित हों!

जयसिंह : कठिन? हाँ, कठिन है,
स्रष्टा के समान, किन्तु है यही कठिनता
आश्रय अटल एक इस चराचर का ।

(रघुपति का प्रवेश! जयसिंह पैर धोने के लिए जल आदि आगे बढ़ा देता है ।)

जयसिंह : गुरुदेव!
रघुपति : जाओ, जाओ!
जयसिंह : ज़ल यह लाया हूँ
रघुपति : रहने दो जल
जयसिंह : वस्त्र?
रघुपति : कौन चाहता है उसे?
जयसिंह : बन पड़ा मुझसे क्या कोई अपराध है?
रघुपति : फिर वही बात! अपराधी कौन कहता?
घिर आया घोर कलिकाल है जगत् में ।
राहु के समान बाहुबल ब्रह्मतेज को
चाहता है ग्रसना! सम्मुख यज्ञ-वेदी के
सिंहासन आज निज मस्तक उठाता है ।
हाय, असहाय कलिकाल के हे देवता!
तुम भी वहन करते हो राज-आज्ञा को
मस्तक झुकाके, चाटुकार सभासद्-सा?
चतुर्भुजे! हाय, तुमने भी जोड रक्खे हैं
चारों हाथ! दैत्यों ने फिर क्या लिया छीन है
स्वर्ग को? कि देवता छिपे जा रसातल में?
आज बस दानव औ मानव ही मिलके
विश्व-राज्य भोग करते हैं अति दर्प से?
देवता नहीं भी हों तो ब्राह्मण अभी भी है,
ब्राह्मण के रोष-यज्ञ में ही हवि-काष्ठ-सा
आज जल जायगा सिंहासन का दण्ड भी ।

(जयसिंह के निकट आकर)

वत्स, मैंने रूखा व्यवहार किया तुमसे

आज है, परन्तु मेरा चित्त बड़ा क्षुब्ध है!

जयसिंह : क्या हुआ है प्रभु?

रघुपति : क्या हुआ है, बतलाऊँ क्या?
त्रिपुर-अधीश्वरी के घोर अपमान की
बात कहूँ कैसे इस मुँह से बताओ तो!

जयसिंह : किसने किया है अपमान?

रघुपति : स्वयं राजा ने।

जयसिंह : राजा ने किया है भला अपमान किसका?

रघुपति : किसका? तुम्हारा, मेरा, शास्त्रों, देश-काल का
और सर्व-देश-काल की जो अधिष्ठात्री हैं
महाकाली, सबका किया है आज राजा ने
अपमान, तुच्छ सिंहासन पर बैठके।
माँ की पूजा-बलि रोक दी है अति स्पर्धा से।

जयसिंह : गोविन्दमाणिक्य ने?

रघुपति : हाँ, तुम्हारे राजा ने।
वही जो तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ, अधीश्वर हैं
प्राणों के! कृतघ्न! तुम्हें पाला बचपन से,
कितने जतन, कितने गंभीर स्नेह से
और आज मुझसे भी प्यारा हो गया तुम्हें
गोविन्दमाणिक्य ही?

जयसिंह : पिता की गोद में बैठके
मुग्ध छोटा शिशु है बढ़ाता कर नभ में
पूर्णचन्द्र लेने को। पिता हो देव, मेरे तुम
नभ शशि महाराज गोविन्द माणिक्य हैं।
किन्तु बकवाद करता हूँ? यह कैसी मैं!
सुन रहा क्या हूँ? है निषेध किया राजा ने
माँ की बलि-पूजा का? निदेश कौन मानेगा?

रघुपति : मानेगा नहीं जो, होगा निर्वासित देश से।

जयसिंह : पूजा जिस राज्य मे न माँ की होने पायगी
निर्वासन वहाँ दण्ड नहीं। प्राण रहते
पूजा जननी की न अधूरी रह पायगी।

चौथा दृश्य

अंतःपुर

(गुणवती और परिचारिका)

गुणवती : कहती है क्या तू? देवी-मन्दिर के द्वार से
लौटा दी गयी है बलि-पूजा आज रानी की ?
मस्तक हैं कितने शरीर पर उसके?
कौन वह दूरदर्शी है, मुझे बता दे तू।

परिचारिका : साहस बटोर नहीं पाती कहने का मैं।

गुणवती : कहने का साहस नहीं है तुझे? यह भी
कहा किस साहस से तूने, बतला भला?
मुझसे बड़ा भी कोई और तुझे भय है?

परिचारिका : क्षमा करें महारानी!

गुणवती : रानी कल तक मैं थी;
कि कल संध्याकाल ही में वन्दीजन ने
स्तव-गान किया था, दिया था विप्रगण ने
आशीर्वाद, ले गये थे भृत्य हाथ जोड़के
मुझसे आदेश,—एक रात में ही पर क्या
उलट गया है यह नियम? न देवी ने
पूजा पायी, खण्डित भी हो गयी है महिमा
रानी की? तो त्रिपुरा क्या एक स्वप्न-राज्य था?
ब्राह्मण पुरोहित को शीघ्र ही बुलाओ तो!

(गोविन्दमाणिक्य का प्रवेश)

गुणवती : सुना महाराज! माँ के मन्दिर के द्वार से
लौटा दे गयी है आज पूजा पशु-बलि की !

गोविन्द : जानता हूँ रानी!

गुणवती : जानते हो तुम? फिर भी
रोका नहीं तुमने? तुम्हारी जानकारी में
राजमहिषी का यह अपमान हो गया?

गोविन्द : प्रिये, उसे क्षमा करो। मूर्ति हो दया की तुम।

गुणवती : किन्तु महाराज! यह केवल दया नहीं—
यह है कायरता। हो दुर्बल दया से तुम,
दण्ड दे न पाओ तो मैं दण्ड दूँगी आप ही।
बताओ मुझे वह कौन अपराधी है?

गोविन्द : अपराधी मैं हूँ देवि! पर इतना ही है

अपराध, मैंने तुम्हें व्यथा पहुँचायी है।

गुणवती : महाराज, तुम यह कैसी बात करते हो?

गोविन्द : देवता के नाम पर रक्तपात जीवों का
आज से हमारे इस राज्य में निषिद्ध है।

गुणवती किसने निषेध किया?

गोविन्द जननी ने आप ही।

गुणवती किसने सुना निषेध?

गोविन्द मैंने।

गुणवती भला तुमने?
सुन यह बात हँसी रोके नहीं रुकती।
महाराज! राजेश्वरी आयीं राज-द्वार पर
अपना सुनाने को आवेदन!

गोविन्द : हँसो नहीं।
जननी ने आकर स्वयं ही सन्तान के,
मन में प्रकट की है वेदना हृदय की।
यह तो आवेदन नहीं है राजमहिषी!

गुणवती : बात यह रहने दो, बाहर मन्दिर के
राज्य है तुम्हारा। मत आज्ञा दो वहाँ, जहाँ
आज्ञा नहीं चलती तुम्हारी महाराज हो।

गोविन्द : रानी, यह मेरी नहीं आज्ञा जननी की है।

गुणवती : कैसे जाना तुमने?

गोविन्द : मलीन दीपालोक में
अंधकार रह ही जाता है गृह-कोण में,
कर सकता है दीप सब-कुछ, अपनी
छाया को परन्तु वह मिटा नहीं सकता।
मानव की बुद्धि भी है दीप के समान ही,
जितना प्रकाश करता है दान, उतनी
संशय की छाया वह पीछे छोड़ जाता है।
स्वर्ग से उतरता है ज्ञान जब, पल में
एक साथ संशय समस्त दूर होते हैं।
संशय नहीं है कोई अब मेरे मन में।

गुणवती : सुना है कि पाप-पुण्य रहता है अपना
पास अपने ही। रहो लेके तुम सुख से
अपने असंशय को—कि मेरी राह छोड़ दो,
अपनी पूजा की बलि लेके अब जाऊँ मैं

अपनी माँ के समीप ।

गोविन्द : देवी जननी की मैं
आज्ञा किसी भाँति टाल सकता नहीं कभी ।

गुणवती : मैं भी टाल सकती नहीं हूँ बात अपनी ।
माँ को दे चुकी हूँ मैं वचन, उसी भाँति से
पूजन करूँगी उनका मैं शास्त्र-विधि से ।
जाओ, तुम जाओ,

गोविन्द : जैसी आज्ञा महारानी की ।

(प्रस्थान)

(रघुपति का प्रवेश)

गुणवती : मेरी पूजा लौटा दी गयी है पुरोहित जी,
मन्दिर के द्वार से,

रघुपति : जो लौट आयी पूजा है
महारानी, वह न तुम्हारी, उञ्छवृत्ति से
पूजा करता है जो दरिद्र भीख माँगके
न्यून वह नहीं, राजेन्द्राणी, तव पूजा से ।
किन्तु सर्वनाश तो यही है सबसे बड़ा,
माँ की पूजा लौट गयी । और सर्वनाश है
यह भी बड़ा कि राजदर्प क्रम-क्रम से
स्फीत होके चाहता अतिक्रमण करना
धरा की राजत्व-सीमा; देवता के द्वार को
रोककर बैठा वह, आँखें लाल करके
जननी के भक्तों को कठोर होके देखता ।

गुणवती : होगा क्या पुरोहित जी,

रघुपति : जानें महामाया ही ।
इतना ही जानता सिंहासन की छाया जो
माँ के द्वार पर पड़ी, फटेगा जल-बिम्ब-सा
एक फूत्कार से ही दम्भ-मंच उसका ।
राजा-पिता-पितामहों ने युगों से मिलके
ऊपर की ओर जो उठायी राजमहिमा,
अभ्रभेदी किया जिसे, वह एक पल में
होगी धूलिसात्, वज्रदीर्ण, झंझाहत भी
और दग्ध शेष, छार-खार होगी, देखना!
रक्षा करो, रक्षा करो प्रभु!

रघुपति : हा हा! मैं करूँ

रक्षा क्या तुम्हारी भला। स्वर्ग और मर्त्य में
जो प्रबल राजा निज शासन चलाता है,
तुम रानी उसकी। जो देव-ब्राह्मणों को भी...
धिक् शतबार धिक्! धिक् लक्ष बार है!
धिक् कलि-ब्राह्मण को! कहाँ ब्रह्मशाप है!
व्यर्थ ब्रह्मतेज बस अपने ही उर को
आहत वृश्चिक-सा है आप दंश करता।
मिथ्या-ब्रह्म-आडंबर!

(यज्ञोपवीत तोड़ने को उद्यत होता है)

गुणवती : हाँ हाँ, यह क्या करते हैं...!
देव, करें रक्षा, दया रक्खें दोषहीन पर!

रघुपति : ब्राह्मण का अधिकार तब तुम फेर दो।

गुणवती : फेर दूँगी प्रभु! तुम जाकर पूजा करो
मन्दिर में। कोई विघ्न होने नहीं पाएगा।

रघुपति : जो आदेश राजेश्वरी! देवता कृतार्थ हैं
तुम्हारे आदेश-बल से, कि निज तेज को
ब्राह्मण ने पाया फिर। धन्य तुम्हीं लोग हो,
कल्कि-अवतार नहीं होता जब तक है।

(प्रस्थान)

(गोविन्दमाणिक्य का पुनः प्रवेश)

गोविन्द : प्रेयसी का अप्रसन्न मुख विश्व-भर में
समस्त आलोक, सब सुख लुप्त करता
उन्मन-उत्सुक-चित्त लौट-लौट आता हूँ।

गुणवती : जाओ, जाओ, घर मत आओ। अभिशाप को
यहाँ मत लाना।

गोविन्द : प्रियतमे! प्रेम करता
नाश अभिशाप का। दया भी कर देती है
दूर अकल्याण को। परन्तु यदि सती के
हृदय से प्रेम चला जाय, पतिगृह में
पड़ता है अभिशाप। देवी, तब जाऊँ मैं।

गुणवती : जाओ, फिर लौटकर मुँह न दिखाने को।

गोविन्द : स्मरण करोगी जब, तभी फिर आऊँगा।

(प्रस्थानोद्यत)

गुणवती (पाँव पर गिरकर)
क्षमा करो, क्षमा करो नाथ! इतने भी क्या

हो गये हो निठुर, नारी के अभिमान की
कर अवहेलना चले ही सच जाओगे?
जानते नहीं हो प्रियतम, तुम यह क्या,
व्यर्थ प्रेम दीख पड़ता है छद्मवेश में
रोष बनकर। चलो निज अभिमान से।
अपमान मैंने किया अपना—क्षमा करो।

गोविन्द : प्रिये! टूट जाता जो तुम्हारा विश्वास तो
उसी क्षण जीवन का बन्धन भी टूटता।
जानता हूँ प्रिये! मेघ होता क्षण-भर का,
और सूर्य नित्य का ही साथी हुआ करता।

गुणवती : मेघ क्षण-भर का होता है! यह मेघ भी
छँट जायगा, कि वज्र उद्यत विधाता का
लौटेगा, उगेगा सूर्य साथी चिर दिन का,
जागृत करेगा चिर दिन की प्रथा को भी
जग में। अभय सभी लोग अब पायेंगे—
दो पल का स्वप्न बुरा भूल-भूल जायेंगे।
आज्ञा करो ऐसी ही प्रचारित कि जिससे
ब्राह्मण को मिले अधिकार निज, देवी को
पूजा मिले, राजदंड लौट जाय अपने
अप्रमत्त मर्त्य-अधिकार की ही सीमा में।

गोविन्द : धर्महानि ब्राह्मण का अधिकार है नहीं।
पूजा थी न होती जननी की रक्त-धार से
असहाय जीवों के; कि विप्र और राजा का
है समान अधिकार आदेश-पालन में
देवता है।

गुणवती : भीख माँगती हूँ, भीख तुमसे!
विनय-निवदन है हार्दिक, चरण में—
चिरागत प्रथा तो है मुक्त-समीरण-सी
चिरप्रवाहित; सम्पदा न वह राजा की—
उसकी भी भीख माँगती है हाथ जोड़के
महिषी तुम्हारी, मारे प्रजाजन के लिए।
प्रियतम! प्रेम की दुहाई यह मान लो,
प्रेम के आकर्षण के वश हो विधाता भी
मार्जन करेंगे दोष तुम्हारे कर्तव्य का।

गोविन्द : महारानी! उचित यही है क्या तुम्हें, कहो ?

नीच स्वार्थ से, कठोर क्षमता के दर्प से
हिंस्र, वृद्ध प्रथा चिर-रक्त-पान से बढ़ी
जो है उससे भी और अंध अज्ञान से—
शत-शत शत्रु से अकेला युद्ध करके
थककर जब लौटता हूँ घर, पीने को
अमृत की धार नारी-चित्त से, वहाँ भी क्या
नहीं है दया की सुधा? घर में तो बहती
प्रेम की पवित्र धारा; किन्तु उससे भी क्या
रक्त-धारा आके मिली? यह किस दैत्य ने
खोल दिया जाने कहाँ रक्त-स्रोत इतना—
भक्ति प्रेम में भी रक्त घुल-मिल जाता है,
क्रूर हिंसा दयामयी रमणी के प्राणों में
शोणित के धब्बे लगा जाती! फिर भी क्या मैं
रोकूँ नहीं इसको?

गुणवती : (मुँह ढँककर) हाँ, जाओ, चले जाओ तुम।

गोविन्द हाय महारानी! होता कठिन कर्तव्य है।
जब तुम लोग मुँह फेर लेतीं अपना।

(प्रस्थान)

गुणवती : (रोकर) इतने दिनों से तूने हाय री अभागिनी!
अपने हृदय में कैसी भ्रांति पाल रक्खी थी।
संशय नहीं था, आज होगा व्यर्थ इतना
अनुरोध, अनुनय औ, अभिमान इतना।
छी, छी, किस आदर से पुत्र-हीना रमणी
पति से करेगी अभिमान, धूल में मिले
अभिमान ऐसा! जले भाग्य! मिले मिट्टी में
महिषी का गर्व! अब नहीं क्रीड़ा प्रेम की,
क्रंदन सुहाग का। हाँ, समझ गयी हूँ मैं
स्थान निज—या तो नत-सिर धूलि-कण में
या नहीं तो अपने ही तेज से प्रदीप्त-सी
फण को उठाये हुए भीषण भुजंगिरी ।

पाँचवाँ दृश्य
मन्दिर

(कुछ लोगों का प्रवेश)

नेपाल : कहाँ हैं जी, तुम्हारे तीन सौ पाठे और एक सौ भैंस? छिपकली की एक कटी हुई

दुम तो कहीं दीख ही नहीं पड़ती। गाजा-बाजा क्या हुआ?—सब-कुछ तो खाँव-खाँव कर रहा है। मैं तो खर्च-वर्च करके पूजा देखने आया—यह अच्छी सज़ा मिली!

गणेश : देखो, मंदिर के सामने खड़े होकर ऐसी बातें मत करो। माँ को पाठे तो नहीं मिले—लेकिन जब वे जायँगी तो तुममें से एक-एक को पकड़कर चबा जायँगी।

हारू : कहो तो भला, पिछले साल ये बाबू लोग कहाँ थे? और फिर उस साल, जब रानी माता ने व्रत करके पूजा चढ़ायी थी, तब क्या तुम लोगों के पाँवों में काँटे गड़ गये थे ? तब आके क्यों नहीं देखा एक बार ? ओह, खून से सारी गोमती ही रगँ गयी थी । और अब आये हैं साले असगुन की तरह, जब माँ की खूराक तक बन्द हो गयी । तुममें से एक-एक को पकड़कर माँ की भेंट चढ़ा दूँ, तब कहीं जी की जलन मिटे!

कन्हैया : अरे भाई, तुम तो ख़ामख़ाह बिगड़े जा रहे हो। अब क्या कुछ कहने का मुँह रह गया है हम लोगों का? होता, तो क्या खड़े-खड़े उसकी बात सुना करते?

हारू : भाई, कुछ कहो, लेकिन यह तो सच है कि मुझे थोड़े ही में गुस्सा आ जाता है। उस दिन उस आदमी ने 'साला' भर ही कहा था, इससे आगे अगर वह एक भी बात कहता, या मेरे बदन पर हाथ लगाता, तो बाप-क़सम, सच कहता हूँ—

नेपाल : तो चलो न, देख ही लें कि किसकी हड्डी में कितना ज़ोर है !

हारू : चलो न! जानते नहीं, यहाँ का दफ़ेदार हमारा ममेरा भाई लगता है।

नेपाल : तो ले आ न अपने मामा के सहित उसे, तेरे दफ़ेदार का कचूमर न निकाल दूँ तो कहना!

हारू : सुना न तुम लोगों ने?

गणेश और कन्हैया : अरे छोड़ भी। चल, अब घर चलें। आज किसी काम में जी ही नहीं लगता। अब अपनी मसख़री खत्म कर!

हारू : यह भी कोई मसख़री है! मेरे मामा का नाम लगाकर मसख़री! हमारे दफ़ेदार के खास बाप को लेकर—

गणेश और कन्हैया : अरे छोड़ भी! तू अपने बाप के साथ खुद ही मर जा!

(सबका प्रस्थान)

(रघुपति, नयनराय और जयसिंह का प्रवेश)

रघुपति : माता पर भक्ति नहीं क्या कुछ तुम्हारी है?

नयनराय : साहस किसे है बात ऐसी कहे मुझसे?
जन्म मैंने पाया है प्रसिद्ध भक्त-वंश में।

रघुपति : धन्य, धन्य! तब तुम सेवक हो माता के,

अपने ही जन हो।

नयनराय : जो मातृ-भक्त उनका
दास हूँ मैं।

रघुपति : धन्य! भक्ति ऐसी ही बनी रहे।
भक्ति यह शक्ति दे तुम्हारी दो भुजाओं में
अक्षय, कि भक्ति यह खरतर धार दे
असि को तुम्हारी वह वज्र-जैसा तेज दे।
भक्ति यह उर में तुम्हारे बसे सर्वदा,
पद से, मर्यादा से, सभी से बड़ी बन के।

नयनराय : व्यर्थ नहीं जायगा आशीष द्विजवर का।

रघुपति : सुनो तब सेनापति, माता के लिए करो।
सैन्य-शक्ति एकत्रित, विद्रोही के नाश को।

नयनराय : जो आदेश प्रभु! माँ का शत्रु वह कौन है?

रघुपति : गोविन्दमाणिक्य!

नयनराय : अपने ही महाराज हैं?

रघुपति : सेना लेके अपनी चढ़ाई करो उस पर।

नयनराय : छी, छी, कैसा पापपूर्ण यह परामर्श है!
प्रभु! आप यह क्या परीक्षा मेरी ले रहे?

रघुपति : सत्य ही परीक्षा यह! भृत्य तुम किसके
इस बार इसकी परीक्षा होने वाली है।
छोड़ो चिन्ता, छोड़ो द्विधा, समय नहीं रहा
प्रलय के श्रृंग-सी ध्वनित आज्ञा देवी की—
बंधन सभी हैं आज छिन्न-भिन्न हो चुके।

नयनराय : कोई चिंता, कोई द्विधा नहीं मेरे मन में,
देवी ने दिया है मुझे भार जिस पद का,
उस पर अटल, अचल हूँ मैं सर्वदा।

रघुपति : धन्य सेनापति!

नयनराय : जननी के सेवकों में मैं
इतना नराधम हूँ! आज्ञा मुझे होती है
ऐसी! मैं बनूँगा हंता राजा के विश्वास का!
उस के विश्वास-बल पर विश्व-माता भी
स्वयं खड़ी है! कैसे अपने ही मुँह से
देवी कहेगी कि चूर-चूर करो मेरे ही
अटल आसन को? कि आज बारी राजा की
यदि तो पुनः कल देवी चली जायँगी—

मानवता टूटकर होगी खंड-खंड फिर
जीर्ण-भित्ति अट्टालिका के समान पल में ।

जयसिंह : धन्य सेनापति, धन्य!

रघुपति : धन्य हो अवश्य ही ।
किन्तु यह भ्रांति कैसी हो रही है तुमको!
राजा जो विश्वासघाती माता के निकट है
बंधन विश्वास का कहाँ है संग उसके?

नयनराय : व्यर्थ तर्क करने से लाभ होगा क्या भला?
चाहता न पड़ना मैं बुद्धि के विपाक में ।
जान पाया मैं तो अब तक पथ एक ही—
और वह पथ है विश्वास का ही सर्वदा ।
अधम अबोध यह भृत्य उसी सीधी-सी—
राह पर चलता चलेगा चिरकाल तक ।

(प्रस्थान)

जयसिंह : चिंता कैसी देव? इसी भाँति हम सब भी
बल ले विश्वास का करेंगे काम अपना ।
भय किसका है? किसे सैन्य-बल चाहिए?
अस्त्र किस काम का? मिला है जिसे भार जो,
शक्ति उसमें है वह काम कर लेने की ।
सच्चे यदि होंगे हम सेवक जननि के
माँ की पूजा करके रहेंगे । प्रभु, चलिये
डंका बजा पुरवासियों को लें पुकार हम,
मुक्त करें मंदिर का द्वार—अजी, आओ, तुम,
आओ, सब आओ, चले आओ, भयहीन हो
पूजा होगी अभया की, संतानो! जननि की!
आओ पुरवासी! न विलंब करो अब भी ।

(जयसिंह और रघुपति का प्रवेश)

(पुरवासियों का प्रवेश)

अक्रूर : अजी, आओ, चले आओ ।

सभी : जय माँ जगदंबे!

हारू : आओ जी, माँ के सामने हाथ उठाकर नाचें-**गायें** ।

गीत-३

रण में नाचें माता काली
हम सब उनके संग

अँधियारा कर दिशा-दिशा में
दिगंबरी है मत्त नशा में
लाल जीभ पर आग जल रही मरने चले पतंग । ।
नभ में काले केश उड़ रहे
तृषित सोम-रवि किधर मुड़ रहे
झरे देह से रक्त, देख कंपित त्रिभुवन भ्रू-भंग ।

सभी : जय माँ, दिगंबरी!

गणेश : अब कोई डर नहीं है ।

कन्हैया : अजी, उधर दक्खिन की ओर जो लोग थे, वे अब कहाँ चले गये?

गणेश : वे पट्ठे माँ की महिमा नहीं सह सके । भाग गए ।

हारू : सिर्फ़ माँ की महिमा ही नहीं, मैंने भी उनको ऐसा धमका दिया है कि वे फिर इधर का रुख़ भी न करेंगे । समझे अक्रूर भैया, मैंने ज्यों ही अपने ममेरे भाई दफ़ेदार का नाम लिया, उन सबका चेहरा फक् पड़ गया ।

अक्रूर : उस दिन अपने निताई ने भी उनको ख़ूब कड़ी-कड़ी चार बातें सुना दीं । जिसका छछूंदर की तरह मुँह था न, वह साला चढ़कर जवाब देने आया था; अपने निताई ने कहा—' ओ रे, तू तो दक्खिन का रहनेवाला है, उत्तर की क्या जानता है? उत्तर देने तो आया है, लेकिन उत्तर की जानता क्या है? ' सुनकर हँसते-हँसते वे सब लोट-पोट हो गये ।

गणेश : इधर यह भलामानस है, लेकिन बातचीत में निताई के साथ पार पाना मुश्किल है ।

हारू : निताई मेरा फूफा लगता है ।

कन्हैया : ज़रा इसकी बात तो सुनो! भला निताई तेरा फूफा कब से हो गया?

हारू : तुम लोग तो हर बात में मेरी ज़बान पकड़ने लगे हो । अच्छी बात है, फूफा नही है तो न सही, इससे तुम्हे क्या सुभीता हो गया? मेरा नहीं तो क्या तुम्हारा फूफा हो गया?

(रघुपति और जयसिंह का प्रवेश)

रघुपति : मैंने सुना, सेना आ रही है । जयसिंह तुम अस्त्र लेकर यहीं खड़े रहो । तुम लोग भी आओ—आकर इधर खड़े हो जाओ । मन्दिर के मुख्य द्वार पर पहरा देना होगा । मै तुम लोगों के लिए हथियार लिये आता हूँ ।

गणेश : हथियार का क्या होगा पुरोहित जी?

रघुपति : माँ की पूजा बंद कराने के लिए राजा की सेना आ रही है ।

हारू : सेना आ रही है? तब तो हम लोग चले पुरोहित जी । पालागन!

कन्हैया : मुट्ठी-भर ही तो हैं हम लोग, सेना के आने पर क्या कर सकेंगे?

हारू : कर तो सब-कुछ सकते हैं, लेकिन सेना के आने पर यहाँ जगह कहाँ रह

धर्माधर्म, हानि-लाभ जो हो, वह मेरा है,
मात्र एक कार्य ही तुम्हारे हाथ रहता ।

नयनराय : हृदय नहीं है यह बात किन्तु मानता ।
महाराज, भृत्य हूँ भले ही, हूँ मनुष्य भी ।
बुद्धि भी है, धर्म है, हैं आप, देवता भी हैं ।

गोविन्द : तब तुम अस्त्र-शस्त्र सारे अभी डाल दो ।
चाँदपाल, तुम हुए सेनापति अब से—
दोनों ही पदों के अब तुम अधिकारी हो ।
सावधान होके सेना-संग रक्षा करना
मन्दिर की ।

चाँदपाल : जैसा हो आदेश महाराज का ।

गोविन्द : अस्त्र अपने दे दो नयन, चाँदपाल को ।

नयनराय : महाराज, चाँदपाल को क्यों अस्त्र दूँगा मैं
अस्त्र-शस्त्र ये दिये थे पुरखों ने आपके
मेरे पुरखों को । यदि चाहते हैं लौटाना,
आप ही ले । स्वर्ग के निवासी मेरे पुरखो!
साक्षी रहो इसके कि जिस विश्वास को
इतने दिनों तक निभाया बड़े यत्न से
साग्निक की पुण्य-अग्नि के समान तुमने,
आज वह थाती जिसकी थी उसे सौंपता
रहित कलंक से ।

चाँदपाल : क्या बात है?

नयनराय : धिक्कार है!
चुप रहो । महाराज, विदा लेता अब मैं?
(प्रणाम करके जाता है ।)

गोविन्द : काम नहीं क्षुद्र स्नेह का है राज-काज मे ।
देव-कार्य-भार तुच्छ मानव के कर में ।
कितना कठिन!

रघुपति : ब्रह्मशाप इसी भाँति से
होता है सफल, दूर-दूर चला जाता है ।
क्रम से विश्वासी उर, स्थान खड़ा होने का
मारते पलक टूट खण्ड-खण्ड होता है ।
(जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह : हो गया सम्पन्न आयोजन सभी पूजा का

जायेगी? लड़ाई तो बाद की बात है—यहाँ खड़े कहाँ होंगे?

अक्रूर : रहने दे तू अपनी बात। देखता नहीं, पंडित जी गुस्से से काँप रहे हैं? अच्छा पुरोहित जी, हुकुम हो तो हम लोग जाकर अपने सारे लाव-लश्कर को बुला लायँ।

हारू : यही अच्छा है। मैं बात-की-बात में अपने ममेरे भाई को बुला लाऊँगा। लेकिन ज़रा भी देर करना ठीक नहीं है।

(सभी जाने को उद्यत होते हैं।)

रघुपति : (क्रोध से) ठहरो तुम लोग!

जयसिंह : (हाथ जोड़कर)

जाने दें प्रभो! इन्हें, ये भीत प्राण-भय से
बुद्धि-हीन हैं ये पहले ही से मरे हुए।
सैनिक हूँ माँ का मैं, कि मेरी एक देह में
बल है सहस्र सैनिकों का; प्रयोजन है
अब अस्त्र का भला क्या? भीरुओं को जाने दें।

रघुपति : समय रहा न वह! अब अस्त्र चाहिए। छूँछी
भक्ति से न अब काम चल पाएगा।

(प्रकट)

बलि लाओ जयसिंह, पूजा करूँ माता की।

(बाहर बाजों की आवाज़ सुनायी पड़ती है।)

जयसिंह : सेना नहीं प्रभु, पूजा आ रही है रानी की।

(रानी के अनुचरों और पुरवासियों का प्रवेश)

सभी : अरे भाई, कोई डर नहीं है। सेना कहाँ, यह तो महारानी की पूजा आ रही है!

हारू : सेना को हम लोगों के यहाँ होने की ख़बर मिल गयी है। अब जल्दी इधर आने की हिम्मत उसे नहीं होगी।

कन्हैया : पुरोहित जी, रानी-माँ ने पूजा भेजी है।

रघुपति : जयसिंह, शीघ्र ही पूजा का आयोजन करो!

(जयसिंह का प्रस्थान)

(पुरवासी नाचते-गाते हैं। गोविन्दमाणिक्य का प्रवेश)

गोविन्द : चले जाओ यहाँ से। ले जाओ बलि-पशु को
रघुपति, तुमने क्या आदेश सुना नहीं मेरा?

रघुपति : नहीं सुना है।

गोविन्द : तो तुम इस राज्य के नहीं हो?

रघुपति : नहीं हूँ मैं। परन्तु जहाँ हूँ, वहाँ आने से
खिसक जाता राजदण्ड राजा के हाथ से,

मुकुट लोटता है भूमि-धूल पर!
कौन है, ले जाओ माँ की पूजा!

(बाजे बजते हैं)

गोविन्द : चुप ही रहो ।

(नयनराय से)

गोविन्द : सेनापति हैं कहाँ, बुलाओ उन्हें शीघ्र ही!
हाय पुरोहित, सेना लेके मुझे अन्त में
घेरना पड़ा है धर्म को, कि लाज लगती
सेना को बुलाने में, भुजाओं की अशक्तता
इससे स्मरण होती बार-बार मुझको ।

रघुपति : अविश्वासी, धारणा तुम्हारी सचमुच क्या,
कलिकाल में न ब्रह्म-तेज रहा, इससे
दुःसाहस इतना हुआ है? पर भूले हो
वह है गया नहीं अभी भी । अग्नि दीप्त जो
अन्तर में जलती, तुम्हारे सिंहासन को
निश्चय जलायेगी; नहीं तो मैं अनल में
मन के, जला के राख का दूँगा शास्त्र सब,
सारा ब्रह्मगर्व, कोटि तैंतीस मिथ्या भी ।
आज नहीं महाराज, और किसी दिन ही
एक बार फिर यह दिन याद करना ।

(नयनराय और चाँदपाल का प्रवेश)

गोविन्द : (नयनराय से)
सेना के सहित सेनापति, यहाँ ठहरो
होने न दो जीव-बलि!

नयनराय : प्रभु! क्षमा-दान दें
अक्षम किंकर को कि इस देव-पीठ में
राज-भृत्य होकर भी असमर्थ ही हूँ मैं
जहाँ तक जा सके प्रताप महाराजा का
छाया के समान हम वहाँ तक जाते हैं ।

चाँदपाल : रुको सेनापति, दीप-शिखा एक ठौर पर
रहती है, दीपालोक जाता किन्तु दूर तक ।
जायगी राजा की इच्छा जहाँ तक, हम भी
जायेंगे वहाँ ।

गोविन्द : परन्तु सेनापति, ठहरो
मेरी आज्ञा तुम्हारे विचाराधीन है नहीं ।

प्रस्तुत है बलि।

गोविन्द : बलि कैसी? किसके लिए?

गोविन्द : महाराज, आप यहाँ? एक निवेदन है—
प्रार्थना एकान्त करता हूँ पद-तल में।
प्रभु! दम्भपूर्ण यह आज्ञा आप फेर लें,
होकर मनुष्य देवी को न घेर रखिए।

रघुपति : धिक् जयसिंह! किसके पगों में पड़ते?
उठो, उठो! गुरु जिसका मैं उसके लिए
स्थान एक-मात्र इन्हीं चरणों में जग में।
मूढ़, देख फिरके, क्षमा की भीख माँग ले,
धरके चरण गुरु के। कराल कालि के!
हो गया तुम्हारा क्या अधःपतन इतना,
करनी पड़ेगी पूजा राजा के आदेश से?
पड़ी रहे पूजा, धरी रह जाय बलि भी,
देखूँगा कि राज-दर्प कब तक टिकता!
चलो जयसिंह, मेरे साथ यहाँ से चलो।

(रघुपति और जयसिंह का प्रस्थान)

गोविन्द : विनय कहाँ है इस जग में हे जननी!
रहे जो विचरते तुम्हारे पद तल में,
वे भी यह सीख नहीं पायेअब तक हैं,
कितने हैं क्षुद्र वे। हरण कर महिमा
तुम्हारे ऐश्वर्य की, वहन करते हैं वे
अपने शरीर में। 'हाँ, अहंकार कितना!

दूसरा अंक

पहला दृश्य

मन्दिर

(रघुपति, जयसिंह और नक्षत्रराय)

नक्षत्रराय : गुरुदेव! किस हेतु आपने बुलाया है?

रघुपति : देवी ने दिया था स्वप्न मुझे कल रात में
कहा था कि तुम होगे राजा इस देश के।

नक्षत्रराय : होऊँगा राजा मैं? यह क्या हैं आप कहते?
राजा मैं होऊँगा? बात नई सुनी यह तो!

रघुपति : सजा तुम होगे।

नक्षत्रराय : होती मुझे न प्रतीति है।

रघुपति : स्वप्न होगा सत्य यह देवी का, कि पाओगे
तुम राजतिलक, संदेह नहीं इसमें।

नक्षत्रराय : नहीं है सन्देह! फिर भी न यदि पा सकूँ?

रघुपति : मेरी बात की भी है प्रतीति नहीं तुमको?

नक्षत्रराय : अप्रतीति तो है नहीं मुझको तनिक भी
किन्तु दैव-वश यदि फिर भी न हो सकूँ?

रघुपति : अन्यथा कभी भी यह बात हो न सकती।

नक्षत्रराय : अन्यथा न होगी? देखो प्रभु, किन्तु अंत में
बात यह ठीक-ठीक जिसमें बनी रहे।
राजा होके दूर मैं करूँगा इस मंत्री को,
आँख मुझ पर पड़ी रहती है इसकी
सर्वदा, हो जैसे पितामह मेरे बाप का!
डरता बहुत उससे हूँ पुरोहित जी
समझे न, मंत्री आपको ही बनाऊँगा मैं।

रघुपति : मंत्रि-पद पर लात मारता परन्तु मैं।

नक्षत्रराय : तब होगा मंत्री जयसिंह। पुरोहित जी,
किन्तु यदि जानते हैं सब-कुछ तो कहें,
कब तक हो सकूँगा राजा?

रघुपति : देवी चाहतीं हैं
राजरक्त।

नक्षत्रराय : देवी राजरक्त चाहती हैं क्या?

रघुपति : पहले दो राजरक्त लाके, बनो राजा तब।

नक्षत्रराय : किंतु वह रक्त पा सकूँगा मैं भला कहाँ?

रघुपति : गोविंदमाणिक्य का ही रक्त देवी चाहतीं।

नक्षत्रराय : रक्त उनका ही चाहती हैं, सच, देवी क्या?

रघुपति : चंचल न होओ जयसिंह, स्थिर ही रहो —
समझ गये कि नहीं? तब मुझसे सुनो—
चुपके से मार उन्हें, तप्त राजरक्त वह
लाकर अर्पित करो देवी के चरण में।
जयसिंह, स्थिर रह सको न अगर तो
चले जाओ तुम किसी और ही जगह को।
समझे नक्षत्रराय, देवी का आदेश है,
राजरक्त चाहिए देवी को शेष रात्रि में

श्रावण की! राजभ्राता दो हो तुम, ज्येष्ठ जो
पावे छुटकारा—रक्त देना होगा तुमको।
प्यासी महाकाली हैं तो अब न समय है
सोचने-विचारने का।

नक्षत्रराय : हाय, पुरोहित जी!
राजरक्त रहे राजदेह में ही, काम क्या
राज्य से मुझे है—जैसा हूँ मैं वैसा अच्छा हूँ।

रघुपति : किसी भाँति मिल न सकेगा छुटकारा अब
चाहे जैसे भी हो, राजरक्त लाना होगा ही।

नक्षत्रराय : करना मुझे क्या होगा देव! बतलाइए।

रघुपति : प्रस्तुत रहो, मैं कहूँ जब करने को जो
अविलंब उसको करो। न कार्य-सिद्धि हो
जब तक, मुँह तुम बंद रखो अपना।
अब तुम जाओ।

नक्षत्रराय : हे माँ, सर्वदुःख-नाशिनी!

(प्रस्थान)

जयसिंह : यह क्या सुना है मैंने, माता हे दयामयी!
बात कैसी? सच, क्या आदेश तुम्हारा ही है—
भाई करे भाई का ही वध, विश्वजननी?
गुरुदेव, माँ की आज्ञा कहकर आपने
ऐसी आज्ञा का किया प्रचार किस भाँति से?

रघुपति : और है उपाय क्या!

जयसिंह : उपाय किस बात का
चाहिए प्रभो। —जननि, खड्ग नहीं पास क्या?
रोष में तुम्हारे चंडि, वज्रानल है नहीं?
इच्छा को तुम्हारी आज पड़ता है ढूँढ़ना
हाय रे, उपाय; चोर के समान खोदनी
पड़ती सुरंग है रसातल में जाती-सी
कैसा यह पाप!

रघुपति : पाप-पुण्य भला तुम क्या
जानते हो?

जयसिंह : सीखा यह मैंने आपसे ही है।

रघुपति : आओ वत्स, तब तुम्हें एक शिक्षा और दूँ।
पाप-पुण्य कुछ भी नहीं। कौन भ्राता है यहाँ,

कौन अपना है या पराया! कहा किसने
हत्या करना है पाप? विश्व यह सारा है
एक महा हत्या-शाला। जानते नहीं हो क्या,
डालते पलक, लक्ष-कोटि प्राणी नित्य ही
सदा के लिए हैं मूँद लेते आँख! किसकी
माया की है क्रीड़ा यह? धूलि इस जग की
हत्या से सनी हुई है—प्रति पदक्षेप से
शत-शत कीट दबकर मर जाते हैं—
जीव वे नहीं हैं? महाकाल विश्व-पत्र पर
लिखता है निरन्तर रक्ताक्षरों से
जीवों का क्षणिक इतिहास! हत्या वन में
होती है, लोकालय में औ विहंग-नीड़ में,
कीट गह्वरों में हत्या होती है, उदधि के
जल में अगाध, हत्या होती नील नभ में।
हत्या जीविका के लिए, खेल के बहाने भी,
हत्या बिना कारण के, होती अनिच्छा से भी—
चलता है सारा विश्व ताड़ना से हत्या की
साँस रोक भागा जा रहा है प्राण-पण से,
पल भर को भी वह रुक नहीं पाता है,
व्याघ्र के खदेड़ने से जैसे मृग भागता।
तृषातीक्ष्ण लोलजिह्वा फैलाकर हैं खड़ी
महाकाली कालरूपिणी—कि रक्तधार है
विश्व के चतुर्दिक् से बह, फटी पड़ती
खप्पर में उनके अनंत; जैसे बहती
रस-धार दाख-फल को निचोड़ देने से।

जयसिंह : रुको, रुको, रुको!—हे मायाविनी, पिशाचिनी,
मातृहीन इस धरा-धाम में तू आयी है
माँ का छद्मवेश धर रक्तपान-लोभ से?
क्षुधित विहंग-शिशु अरक्षित नीड़ में
आशा लगा माँ की राह देखता है रहता,
लुब्ध काक पास जब आता, व्यग्र कंठ से
अंध वे शावक उसे बार-बार टेरते,
और देते प्राण गँवा हिंस्र चंचुघात से—
सच बता, तू क्या उसी काक के समान है?
प्रेम-स्नेह-दया और सब-कुछ मिथ्या है,

सत्य बस अनादि अनंत हिंसा तेरी है?
तब क्यों असीम के समान मेघ-जाल से
दग्ध धरणी के वक्ष पर है बरसती वृष्टिधारा?
और उपलों से गल आती है।
दयामयी स्रोतस्विनी मरुभूमि में भी क्यों?
कोटि-कोटि कंटक-शिखर पर फिर क्यो
खिल उठते हैं फूल अति सुकुमार-से?
छलते मुझे हो प्रभु! देखना हो चाहते,
माता के चरण पर बलि दूँ हृदय की
यदि तो हृदय फाड़कर रक्त-धार-सी
मातृभक्ति मेरी वह पड़ती है या नहीं!
देखो, वह देखो, हँसती है मेरी जननी
स्नेह-परिहास से। भला तू राक्षसी ही है,
पाषाणी है, माता मेरी रक्त की पिपासिनी!
लेगी मेरा रक्त माँ? संतानजन्म मेरा यह
इस जन्म के लिए मिटावेगी? कि उर में
मार लूँ छुरी? तुझे लगेगा बड़ा अच्छा क्या
रक्त मेरी छिन्न शिराओं का? अरी जननी,
सत्य ही तू राक्षसी, पाषाणी है। पुकारा क्या
गुरुदेव आपने मुझे? मैं यह छलना
समझ गया हूँ। भक्त का हृदय दीर्ण कर
चाहते हो रक्त। वेदना जो दी थी तुमने,
यह, उसी पर माँ का पड़ा स्नेह-कर है।
दुःख की अपेक्षा सुख शतगुण इसमें।
किंतु राजरक्त! माँ को भक्ति की पिपासा है,
छी, छी, उन्हें रक्त की पिपासिनी बनाते हो?

रघुपति तब बलिदान यह बंद ही हो।

जयसिंह बंद हो।
नहीं गुरुदेव, आप जानते भला-बुरा
शास्त्र का विधान नहीं है सरल भक्ति का।
आँख अपने आलोक से न देख पाती है—
आता है आलोक नभ से। प्रभो, क्षमा करो,
मूढ़ता की स्पर्धा क्षमा करो इस दास की।
पाके बड़ी वेदना जो बकता रहा हूँ मैं,
क्षमा करो उसे; बतलाओ किंतु हे प्रभो!

सौंप दूँगा थके-हारे क्षुद्र नर-जन्म को
धरती की गोद में—समष्टि मेरी यह तो
दो-चार दिनों की, गिनती की भूल-चूक कुछ,
सुख-दुःख, आशा क्षीण अपने हृदय की,
शक्तिहीनता से अपनी ही किया जिसको
भ्रष्ट और भग्न, उस जीवन के भार को
फेर के अनन्त काल के करों में, पाऊँगा
अनन्त विश्राम मैं। यही तो संसार है,
काम क्या है शास्त्र के विधान से, क्या गुरु से?
प्रभु! पिता! गुरु! यह कह क्या रहा था मैं!
स्वप्न देखता था स्यात्। मन्दिर यही है वह
यह महावट है, खड़ा है दृढ़ सत्य-सा,
अटल, कठिन, अति निष्ठुर यथार्थ-सा।
आज्ञा देव? करना है कार्य कौन मुझको?
भूला मैं नहीं हूँ गुरुदेव। यह देखिये—

(छुरा दिखाकर)

स्मृति देव, आपके आदेश की अन्तर में
हो रही है बाहर भी खरतर। आज्ञा क्या
और कुछ? हो तो प्रभु, वह बतलाइए।

रघुपति : मन्दिर से दूर, इस बालिका को कर दो।
मायाविनी! जानता तुम्हारे मोह-जाल को
जयसिंह, मन्दिर से इसे दूर कर दो।

जयसिंह : दूर करूँ उसको? दरिद्र वह मुझ-सी,
संगीहीन मुझ-सी, है मन्दिर की आश्रिता,
कंटक-रहित पुष्प-सी है दोषहीन वह,
सुन्दर, सरल, शुभ्र, कोमल, निष्पाप है
और वेदना से अति कातर है—उसको
मन्दिर से दूर करूँ? कर दूँगा प्रभु, मैं।
चली जा अपर्णा! दया-माया, स्नेह-प्रेम सब
मिथ्या है। अपर्णा, मर जा तू। यदि विश्व के
बाहर नहीं है कुछ और, ममतामयी
मृत्यु फिर भी है। चली जा भली अपर्णा तू।

अपर्णा : जयसिंह, तुम भी चलो कि हम दोनों ही
छोड़कर मन्दिर को सत्वर चले चलें।

जयसिंह : दोनों चलें? स्वप्न तो परन्तु यह है नहीं।

महादेवी सत्य ही क्या राजरक्त चाहतीं?
रघुपति : हाय वत्स, अविश्वास मेरे प्रति अंत में?
जयसिंह : अविश्वास? नहीं, अविश्वास है कभी नहीं!
छोड़ तुम्हें, विश्वास टिकेगा कहाँ मेरा फिर?
वासुकि के मस्तक से च्युत वसुधा-समान
शून्य से भी शून्य में विलीन होगा वह तो।
महामाया चाहती हैं राजरक्त यदि तो,
राजरक्त वह मैं स्वयं ही लेके आऊँगा'।
भ्रातृहत्या होने नहीं दूँगा इसके लिए।
रघुपति : देवता की आज्ञा पाप हो ही नहीं सकती।
जयसिंह : तब वह पुण्य-लाभ मैं ही स्वयं पाऊँगा।
रघुपति : वत्स, तब मैं भी बात सच-सच कह दूँ।
प्यार करता हूँ तुझे प्राण से अधिक मैं,
पालन किया मैंने नेरा शिशु-काल से
माँ से भी अधिक स्नेह से, नहीं मैं तुझको
खोने का किसी भी भाँति दुःख सह पाऊँगा।
जयसिंह : पाप होने दूँगा नहीं स्नेह-हित अपने
इस स्नेह पर अभिशाप नहीं लाऊँगा।
रघुपति : अच्छा अभी रहने दो वत्स, बात होगी फिर
निर्णय करेंगे हम कल इस बात का।
(दोनों का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

मन्दिर

(अपर्णा गाती हुई आती है)

गीत-४

ओ मेरे पुरवासी !
कब से खड़ी द्वार पर तेरे हूँ मैं आज उपासी
अपर्णा जयसिंह ! कहाँ हो जयसिंह ! नहीं कोई है
मंदिर में। कौन है खड़ी वहाँ अचल
मूर्ति समान—कुछ बोलती न चालती
जग का हरण कर लेती सार-धन हो!
हो करके कातर कंगाल जिसके लिए

राह-बाट में हैं हम मारे-मारे फिरते,
वह आके आप ही तुम्हारे पद-तल में
करता है आत्म-समर्पण; किन्तु उससे
तुम्हें क्या प्रयोजन है? धन-सा कृपण के
गाड़ रख देतीं उसे मंदिर के तल में,
रखकर गोपन समस्त व्यवहार से
निर्धन जगत् के। पाषाणी यह तुमको
कौन सुख देती जयसिंह? कहती है क्या,
कौन चिंता करती तुम्हारे लिए यह है
रात-दिन किस सांत्वना की सुधा प्राणों के
पात्र में गोपन करके संचित रखती?
ओ रे उपवासी मन, बैठा है तू किसके
उस द्वार पर, जो है बंद चिर काल से?

गीत-५

ओ मेरे पुरवासी !
कब से खड़ी द्वार पर तेरे हूँ मैं आज उपासी !
देख रही हूँ सुख का मेला,
घर-घर यही खेल की वेला,
मेरा मन प्रतिपल वंशी-स्वर सुनने का अभिलाषी !

(रघुपति का प्रवेश)

रघुपति : कौन है तू मंदिर में?
अपर्णा : एक हूँ भिखारिन!
जयसिंह है कहाँ?
रघुपति : यहाँ से दूर हो जा तू
मायाविनी! चाहती है देवी के निकट से
छीन लेना जयसिंह को अरी ओ प्रेतिनी?
अपर्णा : मुझसे भला क्या भय देवी को? मैं डरती
उनसे कि ग्रास सब-कुछ वे करें नहीं।

[गाते-गाते प्रस्थान]

गीत-६

नहीं चाहती लहू बहुत धन
रहना नहीं अधिक दिन, पल-छिन,
लौट जायगी वहीं, जहाँ से आयी है यह दासी ?
तुम सब सुख से यहाँ रहोगे

नयी खुशी के संग बहोगे
कुछ भी मलिन न होगा, गृह में होगी स्मिति-आभा-सी ।

तीसरा दृश्य

मन्दिर के सामने का रास्ता

(जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह : चिंता जाल दूर हो, द्विधा रहे न कुछ भी ।
चिंता के नरक से है अच्छा काम करना
चाहे वह जितना भी क्रूर हो, कठोर हो ।
होता अंत कार्य का, परंतु सीमा चिंता की
होती नहीं कहीं है; सहस्र रूप धरती
वाष्प के समान वह एक-एक पल में ।
ज्यों-ज्यों वह चारों ओर ढूँढ़ती है फिरती
पथ त्यों-त्यों लुप्त होता जाता सब ओर है ।
एक भला होता है अनेक से अवश्य ही ।
आप सत्य गुरुदेव, आपका आदेश भी
सत्य है, कि इंगित की ओर ही तो आपके
जाता सत्य-पथ है । नहीं है पाप हत्या भी,
भ्रातृहत्या-राजहत्या भी न कोई पाप है ।
सत्य है यही तो गुरुदेव, यह सत्य है ।
सत्य यह भी कि पाप-पुण्य कुछ भी नहीं ।
चिंता दूर हो, न आत्मदाह पास फटके
रहने दो पड़ा ही विवेक को, विचार को ।
जा रहे कहाँ हो भाइयो, क्या निशिपुर में
मेला लगा है कि वहाँ नृत्य होने वाला है
कूकी रमणी का? चलो, मैं भी वहाँ चलता ।
सुख कितना है इस विश्व में, कि नारियाँ
नृत्य करती हैं चिंताहीन हो आनंद से ।
अंगों की मधुर रंग-भंगिमा छलकती
चारों ओर जैसे तट-प्लाविनी तरंगिनी ।
चिंताहीन सुख से सभी हैं आते दौड़ते
चारों ओर से—कि तान उठती है गीत की
हास-परिहास बहता है, मूर्त होती है
शोभा धरती की उच्चता; मैं चलो चलता ।

गीत-७

कौन लेगा मुझे, कौन लेगा ?
दान करने चला हूँ स्वयं को,
रिक्त, भरने चला हूँ स्वयं को,
काम-धंधा भुला और मन को गला
कौन है जो मुझे संग लेगा ?
कौन से रूप के हाट में तुम,
हो चले विश्व की बाट में तुम,
मैं पिछड़ हूँ गया, धार से भर गया,
देख सबकी खुशी, जी खिलेगा ।
तोड़ बाधा सभी ओ बटोही,
लूट लो तुम मुझे आज यों ही,
भार मन का बड़ा, द्वार पर ही पड़ा
सब रहे, एक पल में कि देगा
ज्वार सब-कुछ बहा शेष जो भी रहा,
वह उदधि में सहज जा मिलेगा ?
किसलिए बंधु, आवागमन है ?
कौन जाना हुआ आप्त जन है ?
कौन है जो मुझे, यों पुकारे—'तुझे
जानता, संग मेरे चलेगा ?'
एक भी बार वह, हँस खड़ा पास रह
कह सके, या उसे चीन्ह लेगा ।

(कुछ दूर से अपर्णा का प्रवेश)

वह क्या अपर्णा! खड़ी होके दूर वह क्यों
सुनती अवाक्-सी कि गाता जयसिंह है ।
सब-कुछ मिथ्या, सब-कुछ है प्रवंचना,
हँसता इसी से हूँ मैं और गीत गाता हूँ ।
देखो, वह देखो, इसी से तो लोग चलते
राह पर चिंताहीन होके और इससे
छोटी बात में भी बड़ा कौतुक हैं देखते ।
हँसी-खुशी इतनी, है कौतूहल इतना,
इसीसे युवतियाँ हैं साज-सज्जा करतीं
इतनी । परंतु यदि सत्य कहीं होता तो
यह सब होता? यहाँ इतनी सहजता

से आनंद बहता? कि वेदना से तब तो
विदीर्ण धरा का अति आकुल क्रन्दन भी
विश्वव्यापी थमता, औ फैल जाती मूकता
चारों ओर, और चिरकाल के लिए ही तो।
वंशी यदि करती रुदन वेदना से तो
फट जाती, नीरव संगीत होता उसका।
मिथ्या है, इसीसे तो है इतनी हँसी-खुशी—
क्रीड़ा और कौतुक है गोद में श्मशान के,
वेदना के पास ही कहीं है सोता गान भी।
हिंसा-बाघिनी के खरतर नखतल की
छाया में समस्त काम होते नित्य दिन के।
सत्य होता जो कहीं तो होता भला ऐसा क्या?
हा अपर्णा! सत्य न तो तुम हो, न मैं ही हूँ,
होओ यही जानकर सुखी कि विस्मय से
होकर विषण्ण, मुग्ध आँखों को उठाके क्यों
देखती हो इस भाँति? आओ सखी,
हम दोनों मिल चलें इस विश्व के ऊपर से
और चिरकाल तक चलते चले चलें—
जैसे शून्य नभ में दो लघु मेघ चलते।

(रघुपति का प्रवेश)

रघुपति : जयसिंह।

जयसिंह : तुमको नहीं मैं पहचानता।
मैं चला अदृष्ट के भरोसे राह अपनी,
जैसे और लोग भी सहस्रों यहाँ चलते।
कौन तुम, कहते मुझे हो रुक जाने को?
जाओ तुम, मैं भी लगूँ राह अब अपनी।

रघुपति : जयसिंह!

जयसिंह : सामने यही तो पथ सीधा है,
भिक्षा-पात्र हाथ में कि संग में भिखारिनी
इस अपनो सखी को लेके चला जाऊँगा।
कहा किसने कि राजपथ इस विश्व का
है दुरूह, है जटिल, होगा जिस भाँति भी
ढलते दिवस के पहुँच ही मैं जाऊँगा
सीमा पर अन्तिम जीवन की। खो जायेंगे
जाने कहाँ आचार-विचार तर्कजाल सब।

देखा एक बार स्वप्न में था, यह विश्व ही
स्वप्न के समान है। इसी से हँसा सुख से
और गाये गीत मैंने। किन्तु यह सत्य है,
बात अब कहो मत सुख की, दिखाओ मत
लोभ भी स्वतंत्रता का—सत्य-कारागार में
अब तो हूँ केवल मैं एक बन्दी।

रघुपति : जयसिंह!
समय नहीं है मीठी बातें करने का अब
दूर करो इस बालिका को अविलम्ब ही

जयसिंह : चली जा अपर्णा!

जयसिंह : भला जाऊँ किस हेतु मैं?

जयसिंह : यही है तुम्हारा नारी-अभिमान?

अपर्णा : है नहीं
अब अभिमान थोड़ा भी। तुम्हारी वेदना
जयसिंह, मेरी सारी व्यथा, सारे गर्व से
है बड़ी। नहीं है अभिमान मुझे कुछ भी।

जयसिंह : तब जा रहा हूँ मैं ही। मुख नहीं देखूँगा
तेरा, जब तक तू रहेगी यहाँ। चली जा।

अपर्णा : निष्ठुर ब्राह्मण, धिक् तेरे ब्राह्मणत्व को।
दे रही मैं क्षुद्र नारी अभिशाप तुझको,
तू न इस बन्धन से बाँध जयसिंह को
पायेगा कभी भी।

(प्रस्थान)

रघुपति : वत्स, मस्तक उठाओ तो
बोलो एक बार। प्राणप्रिय, मेरे प्राणाधिक,
स्नेह क्या नहीं है मेरे प्राणों में समुद्र-सा
सीमाहीन? चाहता है और भी अधिक क्या?
मैं तो चिर जन्म का हितैषी। एक पल का
माया-पाश छिन्न हो तो क्लेश तुझे इतना?

जयसिंह : प्रभु, रहने दो, मत बात स्नेह की करो,
स्मरण मुझे है अब केवल कर्तव्य ही।
स्नेह तरु-लता-पत्र-पुष्प के समान ही
केवल है ऊपर धरा के; आता-जाता है,
सूखता है, मिटता है नये-नये स्वप्नों-सा।
प्रस्तर का स्तूप रहता है नीचे रात-दिन

रूढ़ और शुष्क, भार-सा अनन्त उर के।

(प्रस्थान)

रघुपति : जयसिंह, किसी भाँति मन पा सका नहीं
मैं तुम्हारा, करके उपाय छल-बल से।

चौथा दृश्य

मन्दिर का आँगन

(जनसमूह)

गणेश : जो कहो भाई, इस बार मेला वैसा भरा नहीं।

अक्रूर : मेला इस बार भरता कैसे? यहाँ अब हिंदू का राज तो रहा नहीं—यह तो जैसे नवाब का राज हो गया। देवी की बलि ही रोक दी गयी तो मेले में लोग आते कैसे?

कन्हैया : हमारे राजा की ऐसी मति तो नहीं थी भैया! जान पड़ता है, उन्हें कुछ हवा-बतास लग गयी है।

अक्रूर : लगा भी हो तो उन्हें किसी मुसलमान का प्रेत लगा होगा, नहीं तो वे बलि को क्यों रोक देते?

गणेश : जो भी हो, लेकिन अब इस राज का भला नहीं होगा।

कन्हैया : पुरोहित जी ने तो खुद ही कह दिया है, तीन महीने के अंदर ही सारा देश मरी से तहस-नहस हो जायगा।

हारू : तीन महीने की कौन कहे, जैसे लच्छन देख रहा हूँ, उससे तो तीन दिन की भी देर नहीं लगेगी। अब यही देखो न, अपना माधो ढांई बरस की बीमारी भुगतकर भी बराबर जीता चला आया, लेकिन ज्यों ही बलि बंद हुई, वह मर गया।

अक्रूर : नहीं रे, उसको मरे तो तीन महीने हो गये।

हारू : अच्छा, तीन ही महीने सही, लेकिन मरा तो इसी साल है न?

चिंतामणि : अजी, वही क्यों, यह कौन जानता था कि मेरे जेठ का लड़का मर जायगा? सिर्फ़ तीन दिन तो बुख़ार आया—और ज्यों ही उसने कविराज की गोलियाँ खायीं, उसकी आँखें उलट गयीं।

गणेश : उस दिन मथुरहाटी के गंज में आग लगी तो एक भी मड़ैया न बच सकी।

चिंतामणि : अरे, इतनी बातों का भला क्या काम है? अब यही देखो न, इस साल धान जितना सस्ता हो गया है, उतना पहले कभी नहीं हुआ था। कौन जाने, इस साल किसानों की तकदीर में क्या लिखा है।

हारू : अरे, देख-देख, वह राजा आ रहा है। सवेरे-सवेरे ऐसे राजा का मुँह देखना

पड़ा, न जाने आज का दिन कैसा गुज़रेगा। चल, हम सब यहाँ से खिसक जायँ।

(सबका प्रस्थान)

(चाँदपाल और गोविन्दमाणिक्य का प्रवेश)

चाँदपाल : सावधान होके रहें महाराज, चारों ओर
मैंने आँख-कान लगा रक्खे हैं कि राज्य का
भला-बुरा कुछ भी छिपा न रह पाता है
मुझसे। सुना है मैंने स्वयं निज कानों से
आपकी हत्या के लिए गुप्त बातें करते
लोगों को।

गोविन्द : ऐं, कौन चाहता है मुझे मारना?

चाँदपाल : कहने में होता संकोच। भय होता है,
निष्ठुर संवाद यह सत्य के छुरे से भी
अधिक लगे न कहीं आपके हृदय में।

गोविन्द : निस्संकोच कहो चाँदपाल, जो हो कहना
आघात सहन करने के लिए राजा का
कठिन हृदय होता सतत प्रस्तुत है।
कौन परामर्श करता था मेरी हत्या का?

चाँदपाल : युवराज नक्षत्र।

गोविन्द : नक्षत्रराय?

चाँदपाल : महाराज!
मैंने ही सुना है सब-कुछ निज कानों से।
मंदिर में रघुपति और युवराज ने
स्थिर कर ली हैं सारी बातें गुप्त रूप से।

गोविन्द : हाय रे विधाता! स्थिर दो पलों में हो गया
बंधन जो जन्म-भर का था उसे तोड़ना।

चाँदपाल : रक्त आपका वे जाके देवी को चढ़ायेंगे।

गोविन्द : देवी को चढ़ायेंगे ? नहीं है दोष तब तो
इसमें नक्षत्र का। समझ गया मैं सब।
देवता के नाम से मनुष्य खोया करता
कितनी ही बार है मनुष्यता भी अपनी।
जाओ, तुम काम करो अपना। न भय है
मैं रहूँगा सावधान, जागरूक अब से।

(चाँदपाल का प्रस्थान)

रक्त नहीं, पुष्प ही तुम्हारे लिए लाया हूँ

महादेवी! भक्ति ही है केवल, न हिंसा है
और न विभीषिका ही है—कि इस जग में
दुर्बल बड़े हैं असहाय, हाय जननी,
बाहुबल निष्ठुर बड़ा है, बड़ा क्रूर है,
स्वार्थ और लोभ है निदारुण बहुत ही,
अज्ञान नितांत अंध, और गर्व चलता
क्षुद्र जो हैं, रौंदता हुआ उन्हें चरण से।
स्नेह-प्रेम रहते बड़े ही क्षीण वृन्त पर
झर जाते स्वार्थ के परस से निमेष में।
तुमने भी जो कहीं उठाया खड्ग जननी,
औ निकाली जीभ—अंधकार सब ओर है।
इसीलिए भाई अब रहा नहीं भाई है
सती भी हुई है वाम पति से सहज ही,
मित्र हुआ शत्रु, वासगृह भी मनुष्य का
शोणित से पंकिल हुआ है। दया-पुण्य का
निर्वासित हिंसा ने किया है। माता, अब तो
छोड़ो यह छद्म वेश। हुआ क्या न अब भी
उसका समय? अब भी क्या प्रलयंकारी
रूप ही रहेगा तुम्हारा? चतुर्दिशाओं से
उठते जो खड्ग लक्ष्य कर मेरे सिर को
चारों बाहुओं से वे क्या उठते तुम्हारे ही?
वही होगा। तब हो ऐसा ही। मुझे लगता,
स्यात् यह हिंसानल मेरे रक्तपात से
ही बुझेगा। धरा इतना न सह पायगी
हिंसा। राजहत्या! वध ज्येष्ठ का अनुज से!
उर में समस्त प्रजा के बढ़ेगी वेदना
सब भाइयों के प्राण रो पड़ेंगे पल में।
मिटेगा हिंसा का मातृवेश मेरे रक्त से
राक्षसी का रूप उसका प्रकाश पायगा।
है यही विधान यदि दया का तुम्हारी तो
ऐसा ही हो माता! इच्छा पूरी हो तुम्हारी ही।

(जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह : सच कहो चंडी, तुम्हें राजरक्त चाहिए?
कहो अभी, कहो अपने ही मुँह से, कहो
मानव की भाषा में, कहो माँ, तुम शीघ्र ही—

सचमुच ही क्या तुम्हें राजरक्त चाहिए?

नेपथ्य से : वही चाहिए मुझे,

जयसिंह : तो महाराज, कर लें
इष्टदेव का स्मरण। पहुँचा निकट है
अंतकाल आपका।

गोविन्द : हुआ क्या जयसिंह, है?

जयसिंह : अपने ही कानों से सुना नहीं क्या आपने?
पूछा मैंने देवी से कि राजरक्त चाहिए,
देवी ने स्वयं ही कहा—'वही चाहिए मुझे।'

गोविन्द : जयसिंह, देवी ने नहीं कहा है कुछ भी,
रघुपति का ही वह परिचित स्वर था—
आड़ से कहा उन्होंने।

जयसिंह : कहा रघुपति ने?
छिपकर आड़ से? नहीं, मैं एक शंका से
दूसरी में फँस नहीं पाऊँगा सदैव यों।
ज्यों ही तट-निकट पहुँचता हूँ, त्यों ही फिर
कोई मुझे ठेल-ठेल देता मँझधार में।
वह जैसे राक्षस है कोई अनजाना-सा।
अब नहीं, अब और नहीं, वह गुरु हों
अथवा हों देवी—बात एक ही समान है।

(छुरा निकालकर फेंकता है)

फूल लो माँ, ले लो, फूल ले लो, पाँव पड़ता
फूल से ही केवल तुम्हारा परितोष हो।
अब नहीं रक्त। रक्तपात नहीं अब माँ!
रक्त के समान ही हैं ये भी जवाँ-फूल दो।
मातृवक्ष फाड़के धरा का यह है खिला—
सन्तति के रक्तपात से व्यथित मेदिनी
की व्यथा के, प्रीति के समान। तुम्हें जननी,
लेना होगा इसे, लेना पड़ेगा अवश्य ही।
रोष से तुम्हारे भयभीत नहीं होता मैं।
रक्त नहीं दूँगा, करो आँखें लाल, खड्ग भी
कर में उठाओ, लो बुला श्मशान-संगियों
को भी, डरता न अब माता, मैं किसी से हूँ।

(गोविन्दमणिक्य का प्रस्थान)

(रघुपति का प्रवेश)

रघुपति : मैंने सारी बातें सुन ली हैं, नष्ट हो गया

सब कुछ। अरे अकृतज्ञ। तूने क्या किया?

जयसिंह : दण्ड दो मुझे प्रभो!

रघुपति : सभी तो नष्ट तुमने
कर डाला। लौटा दिया हाय, ब्रह्मशाप को
आधी राह से ही। बात गुरु की रखी नहीं।
व्यर्थ किया देवी का आदेश। बुद्धि अपनी
समझी सभी से बड़ी। और इस भाँति से
तुमने चुकाया स्नेह-ऋण जन्म-भर का।

जयसिंह : दण्ड दें पिता!

रघुपति : तुम्हें दूँ दण्ड भला कौन-सा!

जयसिंह : प्राण-दण्ड ही दें।

रघुपति : नहीं, दण्ड उससे बड़ा
चाहिए तुम्हारे लिए। देवी के चरणों को
छुओ।

जयसिंह : यह छुआ।

रघुपति : अब कहो—' राजरक्त मैं
लाके दूँगी देवी के चरण में श्रावण की
अन्तिम निशा में। '

जयसिंह : ' लाके राजरक्त दूँगा मैं
श्रावण की अन्तिम निशा में देवी-पद में।

रघुपति : अब तुम जाओ, माँ जननि तुम्हें बल दें।

तीसरा अंक

पहला दृश्य

मन्दिर

(जनसमूह। रघुपति और जयसिंह)

रघुपति : तुम लोग यहाँ क्या करने आये हो?

सभी : हम लोग देवी का दर्शन करने आये हैं।

रघुपति : अच्छा! देवी का दर्शन करने आये हो? अब भी जो तुम लोगों की दोनों आँखें बनी हुई हैं, वह सिर्फ़ पुरखों के पुण्य-प्रताप से ही बनी हैं। अब देवी यहाँ कहाँ हैं? वे तो यह राज्य छोड़कर चली गयीं। तुम लोग देवी को रख कहाँ सके? वे चली गयीं।

सभी : अरे बाप रे! यह क्या कहते हैं महाराज! हम लोगों से कौन कसूर बन पड़ा है?

निस्तारिणी : मेरा भानजा बीमार था, इसीसे कई दिनों से मैं पूजा करने नहीं आ सकी थी।

गोवर्धन : मैंने तो बहुत दिनों से अपने दो बकरे देवी को चढ़ाने के लिए रख छोड़े थे—इसी बीच राजा ने बलि ही बन्द कर दी तो मैं क्या करूँ?

हारू : वह जो गंधमादन है न, उसने अपनी मनौती देवी को नहीं चढ़ाई तो देवी ने भी उसे वैसी ही सज़ा दी। उसकी तिल्ली बढ़कर नगाड़ा हो गयी है—आज छह महीनों से बिछावन पर पड़ा हुआ है। यह भी ठीक ही हुआ। वह हम लोगों का महाजन है सही, लेकिन इसीलिए क्या वह देवी को धोखा दे सकेगा?

अक्रूर : तुम लोग चुप रहो—बेकार शोर-गुल न मचाओ। अच्छा पुजारी जी, देवी चली क्यों गयीं? हम लोगों से क्या कसूर हुआ था?

रघुपति : देवी को तो तुम लोग एक बूँद भी खून नहीं दे सकते—यही तुम लोगों की भक्ति है न?

कई लोग : राजा का ओदश है तो हम क्या करें?

रघुपति : राजा कौन है? तुम क्या समझते हो कि देवी का सिंहासन राजा के सिंहासन के नीचे है? ऐसा समझो तो इस देवी-हीन देश में अपने राजा को ही लेकर रहो तुम लोग—मैं भी देखूँगा कि राजा कैसे तुम लोगों की रक्षा करता है।

(डरकर सभी आपस में बातें करते हैं)

अक्रूर : चुप रहो। बाल-बच्चे अगर कसूर करें तो माँ उनको सज़ा दें, लेकिन एकबारगी छोड़कर ही चली जायें तो क्या यह माँ के करने-जैसी बात होगी? बतलाइए क्या करने से माँ वापस आयेंगी!

रघुपति : तुम्हारे राजा जब राज्य छोड़कर चले जायँगे, तभी देवी फिर राज्य में लौटेंगे।

(सभी चुप होकर एक-दूसरे का मुँह देखते हैं)

रघुपति : तो तुम लोग देवी को देखोगे। इधर आओ। तुम लोग बहुत दूर से, बड़ी आशा लगाकर देवी का दर्शन करने आये हो, तो एक बार आँखें खोलकर देख ही लो।

(मन्दिर का द्वार खोलते हैं। प्रतिमा का पिछला हिस्सा दीख पड़ता है)

सभी : अरे, यह क्या! देवी का मुँह किधर है?

अक्रूर : अरे, माँ ने तो मुँह फेर लिया है!

सभी : देवी माता! सामने आओ माँ! सामने आओ। एक बार सीधी होकर खड़ी हो जाओ माँ! कहाँ हो माँ! कहाँ हो देवी! हमलोग तुम्हें लौटा लायेंगे माँ! हमलोग तुम्हें छोड़ेंगे नहीं। हमें राजा की ज़रूरत नहीं। चला जाय राजा। मर जाय।

(जयसिंह रघुपति के पास जाता है)

जयसिंह : प्रभु! मैं क्या एक भी बात न बोलूँगा?

रघुपति : नहीं।

जयसिंह : सन्देह का क्या कोई कारण नहीं है?

रघुपति : नहीं।

जयसिंह : क्या सब कुछ का विश्वास कर लूँ?

असीम अपार अचानक ही चला गया
मातृहीन करके अनाथ संसार को?
वत्सगण, माताओ, कहो तो मुख खोलके
ऐसा बड़ा हमने किया है अपराध क्या?

कुछ लोग : माँ की पूजा-बलि का निषेध किया आपने।
बन्द हो गयी है पूजा ।

गोविन्द : मैंने बंद कर दी
बलि, क्या जननि मेरी इसी अभिमान से
विमुख हुई है? महामारी आया करती,
होती भुखमरी, अनावृष्टि, आग लगती,
रक्तपात होता है—जननि तुम लोगों की
ऐसी ही हैं? पल-पल क्षीण होते शिशु की
रक्षा करती है माता स्तन्य देके अपना—
वह भी क्या रक्त पीने के लिए ही उसका?
ठौर जब तुमने दिया था निज मन में
माँ के ऐसे अपमान को, तो क्या आजन्म के
मातृ-स्नेह-स्मृति को व्यथा न कुछ पहुँची?
याद नहीं आया माँ का मुख भी क्या तुमको?
जननी गरजती है—' रक्त मुझे चाहिए'
अनबोले दीन-हीन जीव प्राण-भय से
काँपते हैं थर-थर—रक्त के उन्माद से
दयाहीन नर-नारी चारों ओर नाचते—
यही क्या हमारी जननी का परिवार है?
वत्सगण, चित्र क्या यही है माँ के स्नेह का?

प्रजा : मूरख हैं हम, बात इतनी न जानते ।

गोविन्द : जानते नहीं हो? शिशु जो है चार दिन का,
समझ न पाता और कुछ भी जो बात है,
वह भी समझता है जननी को अपनी ।
जानता है वह भी कि भयभीत होने पर
अभय मिलेगा उसे माता के समीप हो,
जानता है वह भी कि भूख जब लगती,
माँ की छातियों से भरा दूध उसके लिए,
चोट लगती है जब, माँ का मुख देखके
ही रोता है वह । कैसी भूल में भटकके
माँ को तुम लोग गये भूल? न समझते

रघुपति : हाँ।

(अपर्णा का प्रवेश)

अपर्णा : आओ जयसिंह, इस मन्दिर को छोड़ के।

चले आओ शीघ्र।

जयसिंह : हुआ हृदय विदीर्ण है।

(रघुपति, अपर्णा और जयसिंह का प्रस्थान)

(राजा का प्रवेश)

प्रजागण : रक्षा महाराज, करें रक्षा हम सब की,
देवी को लौटा दें।

गोविन्द : वत्सगण, सुनो मेरी भी
इच्छा प्राणपण से यही है जननी को मैं
लौटाकर लाऊँ, जिस भाँति से भी हो सके।

प्रजागण : महाराज, जय हो, विजय सदा आपकी!

गोविन्द : याद हूँ दिलाता एक बार तुम लोगों को,
माँ के गर्भ से नहीं क्या तुम सब जन्मे?
अनुभव तुमने स्वयं किया है भाइयो,
माँ की स्नेह-सुधा का, सुकोमल हृदय से,
देखूँ तो, कहो न एक बार— 'माता हैं नहीं।'
स्नेह माँ का सबसे पवित्र है, पुराना है,
सृष्टि के प्रथम पल में था मातृ-स्नेह ही
जागकर बैठा अकेला ही नत नेत्र से
गोद लेके अपनी, तरुण संसार को।
उसी भाँति आज भी है बैठा मातृ-स्नेह वह
बनकर धीरज की प्रतिमा। सहे भी हैं
जाने कितने ही शोक-ताप, व्यथा-वेदना,
कितने अनादर, उपद्रव भी कितने।
देखा है दृगों के सामने ही भाई-भाई का
रक्तपात, निष्ठुरता, अविश्वास कितना—
फिर भी निःशब्द वेदना वहन करती,
बैठी वह दुर्बलों के लिए फैला गोद को,
सब भाँति से जो निरुपाय, उसके लिए
अन्तर के स्नेह और प्रेम प्रेम को उँडेलती।
आज हम सब ने किया है अपराध क्या
ऐसा बड़ा, जिससे कि वह मातृ-स्नेह है

माता तो दयामयी है। समझ न सकते
पूजा जीव-रक्त से न होती जीव-माता की,
वह होती प्रीति से। समझ नहीं पाते क्या,
भय जहाँ होता, माँ वहाँ टिक नहीं पाती :
हिंसा जहाँ होती है, वहाँ न माँ ठहरतीं :
रक्त जहाँ गिरता जननि वहाँ ढालतीं
अश्रुजल अपना। दिखा दूँ किस भाँति मैं
माता के आनन पर कैसी व्यथा देखी है,
और कैसी कातर करुणा, कैसी भर्त्सना
अभिमान-भरे छल-छल-से नयन में।
यदि मैं किसी प्रकार दिखा तुम्हें पाता तो
तुम लोग पल-भर में ही पहचानते
अपनी जननि को। कि मन्दिर के द्वार पर
दीन वेश में 'दया' आयी कि अश्रु-जल से
माँ के सिंहासन का कलंक वह पोंछ दे—
और रुष्ट होके माता उसी अपराध से
चली गयीं—यही किया तुमने विचार है ?

(अपर्णा का प्रवेश)

प्रजा : महाराज! आँखें खोल आप देख लीजिये,
जननी ने सन्तानों से मुँह फेर रखा है।

अपर्णा : (मन्दिर के द्वार पर चढ़कर)
माँ ने मुँह फेर लिया? माँ, तनिक आओ तो
सामने हमारे, हम एक बार देख लें।

(मूर्ति को घुमाकर)

यह देखो, जननी हमारी लौट आयी हैं।

सभी : लौट आयीं माता! सचमुच लौट आयी हैं!
जय हो जननि, जय हो, तुम्हारी जय हो!

(सब मिलकर गाते हैं)

गीत—८

हमें छोड़कर रह न सकीं माँ, तुम तो रह न सकीं।
विरह गोद-छूटे शिशु का भी तुम तो सह न सकीं।
हैं अपराध अनेक हमारे,
रोष-कषायित नयन तुम्हारे,
पल-भर को ही हुए, अन्त में तुम कुछ कह न सकीं।
हमसे चरण न छीने, मुँह भी फेरे रह न सकीं।।

(सबेका प्रस्थान)

(जयसिंह और रघुपति का प्रवेश)

जयसिंह : सच कहें प्रभु, आपका ही यह काम था?

रघुपति : सच क्यों नहीं कहूँगा? सत्य कहने से क्या
डरता हूँ मैं? हाँ, काम यह मैंने ही किया।
मैंने ही घुमाया प्रतिमा का मुँह पीछे है।
कहना क्या चाहते हो? कहो, तुम अपने
गुरु के भी गुरु हो गये हो। मेरी भर्त्सना
करोगे? कि कोई उपदेश दोगे मुझको?

जयसिंह : नहीं, कुछ भी न कहने को मेरे पास है।

रघुपति : कुछ भी नहीं है? करना न कोई प्रश्न है
मुझसे? कि मन का सन्देह दूर करने
के लिए न गुरु-उपदेश तुम्हें चाहिए?
मन में विच्छेद क्या तुम्हारे इतना हुआ?
दूर तुम इतनी चले गये? कि सुन लो,
मूढ़, देवी विमुख हुई हैं सचमुच ही;
किन्तु क्या इसीके लिए प्रतिमा का मुख भी
घूम नहीं पावेगा? जो रक्तपात करता
मन्दिर में मैं हूँ, उसे देवी पान करतीं,
प्रतिमा उसे कभी न पीती। रोष देवी का
प्रकट न होता कभी प्रतिमा के मुख पर।
किन्तु मूर्ख जो हैं, उन्हें और किस भाँति से
समझा सकूँगा? चाहते हैं वे नयन से
देखना उसे जो दृग से न दीख पड़ता।
सत्य को इसीसे समझाना पड़ जाता है
मिथ्या के ही द्वारा। मूर्ख, सत्य नहीं हाथों में
मेरे या तुम्हारे। प्रतिमा न सत्य, सत्य की
बात नहीं सत्य, लिपि सत्य नहीं, मूर्ति भी
सत्य नहीं है, न है विचार-मात्र सत्य ही।
सत्य कहाँ है—न कोई जानता है, उसका
पा भी सकता है नहीं। सत्य वह इससे
कोटि मिथ्या रूप में चतुर्दिक् बिखरता।
सत्य है इसीसे नाम—मात्र महामाया का,
वस्तुतः अर्थ उसका है 'महामिथ्या' ही।
राजेश्वर सत्य रहता है अन्तःपुर में

प्रतिनिधि-रूप मिथ्याएँ ही किया करतीं
काम-काज सारे सब ओर उसके लिए। —
माथे पर हाथ देके बैठे सोचते रहो,
काम हैं बहुत-से प्रतीक्षा मेरी करते।

जयसिंह : जो तरंग तट पर लाती, लौटकर वही
फिर खींच ले जाती अतल मँझधार में।
सत्य नहीं, सत्य नहीं, कुछ भी न सत्य है,
सब कुछ मिथ्या, बस, मिथ्या एक-मात्र है।
प्रतिमा में देवी नहीं है तो फिर हैं कहाँ?
हैं नहीं कहीं भी वे। कहीं न हाय, देवी हैं।
जो कुछ है मिथ्या ही है। मिथ्या, तुम धन्य हो।

दूसरा दृश्य

राजभवन का कक्ष

(गोविन्दमाणिक्य और चाँदपाल)

चाँदपाल : प्रजागण करते इधर हैं कुमन्त्रणा
और है उधर सेना मुग़लों की बढ़ती
युद्ध-हेतु असम की ओर—पास आ गयी,
दो ही चार दिन में पहुँच यहाँ जायगी।
प्रजागण भेजेंगे सन्देश पास उसके
आपको हटाने-हेतु राज-सिंहासन से।

गोविन्द : मुझको हटायेंगे? है असन्तोष इतना
मुझसे?

चाँदपाल : विनय इस सेवक की सुनिये,
महाराज, प्रजा को अगर इतना भला
लगता है पशु-रक्त, आप उसे दें वही।
राक्षसी प्रवृत्ति यह पशु से ही पा सके
यदि तोष महाराज, उसे पाने दीजिये।
भय से भरा हृदय रहता है सर्वदा,
जाने कब क्या हो, यह चिन्ता खाये डालती।

गोविन्द : जानता हूँ चाँदपाल, भय चारों ओर है
और राज-काज भी है। सरिता गंभीर है,
फिर भी तरी को तट पर ले ही जाना है।

दूत क्या प्रजा का मुग़लों के पास जा चुका?

चाँदपाल : अब तक जा ही चुका होगा।

गोविन्द : चाँदपाल, तुम
जाओ। रहो मुग़ल-शिविर के समीप ही।
वहाँ हो जो कुछ, तुम देते रहो उसका
मुझको संवाद।

चाँदपाल : महाराज, आप भी यहाँ
रहें सावधान, शत्रु भीतर-बाहर है।

(प्रस्थान)

(गुणवती का प्रवेश)

गोविन्द : प्रिये, बड़ा सूखा, बड़ा सूना संसार है,
भीतर औ बाहर हैं शत्रु सब ओर ही।
तुम आओ, पास खड़ी होओ ज़रा हँसके
प्यार से तनिक देर मेरी ओर हेर लो।
अन्धकार, षड्यंत्र, विपद्, विद्वेष के
ऊपर सुधामय तुम्हारा आगमन हो—
जैसे घोर निशा में उदित होता चन्द्रमा।
प्रिये, चुप क्यों हो, अपराध के विचार का
क्या यही समय है? तृषार्त्त उर मरु में
देखता मुमूर्षु के समान रह जायगा,
तुम चली जाओगी सुधा ले निज कर में?

(गुणवती का प्रस्थान)

चली गयी, हाय, यह दुर्वह जीवन है।

(नक्षत्रराय का प्रवेश)

नक्षत्रराय : (स्वगत)
जहाँ जाता कहते सभी हैं—'राजा होगे तुम?'
'राजा होगे तुम?' बात कैसे अचरज की!
बैठता अकेला, सुन पाता हूँ मैं तब भी—
'राजा होओगे तुम, राजा होगे अवश्य ही।'
लगता है कानों में बसेरा तोतों ने लिया,
जानते जो बात एक ही हैं सदा रटना—
'राजा तुम होगे? होगे राजा।' चलो, मानता
होऊँगा राजा ही : किन्तु तुममें से कोई क्या
राज-रक्त लाके मुझे देगा भला?

गोविन्द : रायजी!

(नक्षत्रराय चौंकता है)

नक्षत्र, कहो, क्या मारना हो मुझे चाहते?
कहो सच-सच, तुम मारोगे क्या मुझको?
बात यही रात-दिन मन में तुम्हारे क्या
रहती है जागती? इसीको लेके मन में
हँस-हँस बातें करते हो तुम मुझसे,
पैरों में प्रणाम कर, लेते हो आशीष भी,
मध्याह्न भोजन के समय एक अन्न से
भाग लेके खाते, रख बात यही मन में?
मारोगे कटारी मेरे उर में ? अरे भाई रे,
जब तुम्हें लगा था कठोर इस मर्त्य का
पदाघात पहला तो खींच लिया मैंने था
अपने इसी हृदय के निकट तुमको।
शून्य कर धराधाम जिस दिन जननी
गयी थी चली सदा के लिए, हाथ स्नेह से
फेरकर मस्तक पर शेष वार, तब भी
मैंने ही हृदय से लगा लिया था तुमको।
वही तुम आज मारोगे उसी हृदय में
कठिन कटार? रक्त-धार हम दोनों के
बहती शरीर में है एक ही—सदा से जो
होकर पिता-पितामहों से बही आ रही!
भाइयों की एक-एक धमनी में—तू उसी
धमनी को काट, उसी रक्त को बहायगा
भूमि-तल पर—बन्द करता हूँ द्वार मैं,
यह ले हमारी तलवार, वार कर दे
मेरी खुली छाती पर, पूरा मनोरथ हो।

नक्षत्रराय : क्षमा करो भैया, मुझको क्षमा का दान दो।

गोविन्द : आओ वत्स, आओ, लौट आओ इस वक्ष में
माँगते क्षमा हो? किन्तु मैंने था क्षमा किया
तभी, जब मुझको मिला था संवाद यह।
तुम्हें क्षमा नहीं करने में असमर्थ हूँ।

नक्षत्रराय : रघुपति देता है कुमंत्रणा, बचाइये
महाराज, आप मुझे उसके कवल से।

गोविन्द : भाई, तुम्हें भय अब है नहीं किसी का भी।

तीसरा दृश्य

अन्तःपुर का कक्ष।

गुणवती : कुछ भी हुआ न, आशा की थी मैंने मन में
यदि कुछ दिन मैं कठोर बनके रहूँ
प्रेम की तृषा से तब वे स्वयं आवेंगे
बंदी बनने के लिए। अहंकार इतना
मन मे था मेरे। मुँह फेरकर रहती,
बोलती न कुछ आँसू दृग से न ढालती,
शुष्क रोष केवल, केवल अवहेलना—
बीत गये दिन कितने ही इसी भाँति से।
सुना है, नारी का रोष निकट पुरुष के
केवल है शोभा-आभामय, नहीं उसमें
ताप—जैसे हीरे में निहित दीप्ति रहती।
धिक् ऐसी शोभा को! कि वज्र के समान जो
होता मेरा रोष तो प्रासाद पर गिरता,
औचक ही नींद टूट जाती महाराज की,
चूर-चूर होता राज-अहकार, रानी की
पूरी होती महिमा। उत्पन्न किया यह क्यों
मन में विश्वास कि रानी हूँ मैं? मैं आपके
उर की अधीश्वरी हूँ—मंत्र प्रतिदिन क्यों
यह दिया कानों में? बताया नहीं यह क्यों
मैं हूँ क्रीतदासी, किंकरी हूँ बस राजा की,
रानी मैं नहीं हूँ—तब आज मुझे सहसा
सहनी न होती यह चोट, यह वेदना।

(ध्रुव का प्रवेश)

जाता है कहाँ तू?

ध्रुव : मुझे राजा ने बुलाया है।

(*ध्रुव का प्रस्थान*)

गुणवती : यही वह बाल है राजा के हृदय का रत्न।
अरे बच्चे, तूने ही तो है चुराया वह
आसन, जो मेरे कोख-जाये के लिए ही था।
आया नहीं मुन्ना मेरा, तूने इससे ही तो
उसके पिता के स्नेह में बटाया भाग है।
राजा के हृदय-सुधा-पात्र से भी तूने ही

पहली अंजलि ली है—जब कभी आवेगा
राजपुत्र, तेरा ही प्रसाद वह पावेगा।
माता महामाया, यह कैसा अविचार है।
क्रीड़ा है तुम्हारी इतनी, है सृष्टि इतनी,
खेल-खेल में ही मुझे एक शिशु दे दो न !
दे दो जननी, कि गोद मेरी भर जाय यह।
अच्छा जो लगेगा तुम्हें, दूँगी वही माता मैं।

(नक्षत्रराय का प्रवेश)

जाते कहाँ रायजी? क्यों इस भाँति लौटते?
भय तुम्हें इतना है किसका? मैं नारी हूँ,
अस्त्रहीन भी हूँ, बलहीन-निरुपाय हूँ—
असहाय होकर भीषण हूँ इतनी?

नक्षत्रराय : नहीं, नहीं, मुझको पुकारो मत,

गुणवती : क्या हुआ?

नक्षत्रराय : राजा मैं न होऊँगा।

गुणवती : भले ही मत होओ तुम,
किन्तु इसके लिए है ऐसी कूद-फाँद क्यों?

नक्षत्रराय : राजा चिरजीवी हों, रहूँ मैं युवराज ही,
और जब भी मरूँ मैं इसी रूप में।

गुणवती : ठीक है. मरो तुम। मरो भी किन्तु शीघ्र ही।
पूरा हो मनोरथ तुम्हारा। मैंने तो तुम्हें
पाँव पड़ करके बचाये नहीं रखा है।

नक्षत्रराय : अच्छा कहो, कहना तुम्हें क्या है?

गुणवती : तुम्हारा जो
मुकुट चुराये जा रहा है चोर, उसको
राह से हटा दो। समझे कि नहीं?

नक्षत्रराय : सब मैं
समझ गया, परन्तु यही नहीं समझा,
चोर वह कौन है ?

गुणवती : तुम्हारा वह ध्रुव ही,
पल जो रहा है महाराज की ही गोद में,
और दिन-पर-दिन बढ़ता ही जाता है।
मुकुट की ओर।

नक्षत्रराय : अरे, सच, बात ऐसी है?
अब मैं समझ गया सब। मैंने देखा है,

शीश पर ध्रुव के मुकुट, किन्तु मैंने तो
खेल समझा था उसे,

गुणवती : खेल यों मुकुट से
काल-क्रीड़ा-सा ही है भयानक, कि इसको
चूर-चूर कर दो। नहीं तो स्वयं तुम ही
किसी दिन इसके खिलौने बन जाओगे।

नक्षत्रराय : ठीक कहती हो, यह खेल नहीं अच्छा है।

गुणवती : आधी रात के समय तुम उसे आज ही
मेरे नाम से करो निवेदित चरण में
देवी के, परन्तु गुप्त रूप से—कि उसके
रक्त से बुझेगा रोषानल महामाया का,
स्थायी होगा सिंहासन इस राजवंश में—
पुरखे करेंगे सभी मंगल की कामना।
समझे न बात?

नक्षत्रराय : मैंने सब-कुछ समझा।

गुणवती : तब जाओ, करो जो कहा है मैंने तुमसे,
स्मरण रहे कि बलि मेरे नाम से ही हो।

नक्षत्रराय : ऐसा ही करूँगा। यह कैसा सर्वनाश है।
खिलवाड़ राजा के मुकुट से!—जननि की
तृप्ति, रक्षा राज्य की असीस पूर्वजन का।
बस, बस, समझ गया मैं बात सारी ही।

चौथा दृश्य

[मन्दिर की सीढ़ियाँ]

जयसिंह : देवी, तुम हो। अवश्य ही हो। बनी भी रहो
सीमाहीन इस रजनी के अन्तभाग में
मात्र कणिका भी बनकर होओ तो कहो
क्षीणतर स्वर में भी मुझसे कि 'वत्स, हूँ।'
नहीं, नहीं, नहीं, देवी है नहीं कहीं यहाँ।
नहीं, हो, परन्तु दया करके रहो। अरी
मायामयी मिथ्या, जयसिंह पर कृपा करो।
शैशव से चली आती भक्ति, जन्मकाल से
बनी हुई प्रीति भी न जीवन दे पाती है
तुझको। तू इतनी बड़ी है मिथ्या हाय रे!

जयसिंह, जीवन दिया है यह किसको—
सत्यशून्य, दयाशून्य, मातृशून्य मरु में,
महाशून्य में ही तूने फेंक दिया उसको।

(अपर्णा का प्रवेश)

अपर्णा, तू फिर आयी? बार-बार तुझको
मन्दिर के बाहर निकाला मैंने, फिर भी
घूमती है फिरती सदा ही आस-पास में
सुख की दुराशा के समान दीन मन में।
यही स्यात् सत्य और मिथ्या का प्रभेद है
मन्दिर में रखता मिथ्या को बड़े यत्न से,
रहकर भी है वह रहती नहीं वहाँ।
सत्य को निकाल देता बड़े अनादर से
मन्दिर के बाहर; परन्तु लौट-लौटके
वह फिर आ जाता। अपर्णा मत जाना तुम—
अब न निकालूँगा तुम्हें यहाँ से। आओ तो,
बैठें हम दोनों यहाँ। हो गयी बहुत है।
रात। उग आया है शशांक शुक्ल पक्ष का
वृक्ष-अन्तराल में। चराचर सुषुप्त है—
निद्रा-विरहित हम दो ही बस यहाँ हैं।
अपर्णा, विषादमयी, तुझको भी माया का
देवता क्या कोई छल गया है? भला हमे
आवश्यकता ही क्या है देवता की? क्यों उसे
हम बुला लाते इस छोटे-मोटे अपने
सुख के संसार मे? समझते क्या वे भला
हम लोगों की व्यथा? न, प्रस्तर की भाँति ही
ताकते-से रहते हैं केवल ये। अपने
भाइयों का प्रेम छीन, वही प्रेम देते हैं
हम उसे—किन्तु वह किसी काम आता क्या
उसके? सुन्दर, सुखदायिनी धरित्री से
मुँह फेर हम उसे ताकते है रहते—
किन्तु वह ताकता कहाँ? निकट उसके
माना क्षुद्र भी है, तुच्छ भी हैं, पर फिर भी
वह है हमारी माँ धरित्री; कीटवत् है
उसके समीप, फिर भी है भाई अपना;
अंध-रथ-चक्र-तले अति अवहेलना से

जाता है कुचलता जिन्हें, वे कुचले हुए
और उपेक्षित जन, अपने हमारे हैं।
आओ भाई, देव-हीन होके बिना भय के
हम सब रहें और पास ही बँधे हुए।
रक्त चाहिए तुम्हें? इसीसे तुम स्वर्ग का
छोड़के ऐश्वर्य आय इस धरातल पर?
मानव नहीं है वहाँ, जीव नहीं कोई है,
रक्त भी नहीं, न व्यथा पानेवाला कोई है—
इसीसे क्या स्वर्य से अरुचि हुई तुमको?
और तुम आये हो यहाँ अहेर करने,
मानव के क्षुद्र परिवार ने रचा जहाँ
निर्भय विश्वास-सुख से ही नीड़ अपना!
बालिका, अपर्णा, यहाँ कोई देवी हैं नहीं।

अपर्णा : तब चले आओ इस मन्दिर को छोड़कर।

जयसिंह : आऊँगा, अवश्य आऊँगा मैं इसे छोड़कर,
हाय रे अपर्णा, जाना ही पड़ेगा मुझको।
फिर भी आजन्म जिस राज्य में रहा हूँ। मैं
जा सकूँगा राज-कर उसका चुकाकर ही।
रहने दो वह सब बात। देखो ताककर,
पुलकित गोमती की शीर्ण जल-रेखा है,
ज्योत्स्ना के आलोक से कल्लोल-रव उसका
एक बात को है जैसे सौ-सौ बार कहता।
नभ में है अर्धचन्द्र—पीली पड़ी उसकी
मुख-छवि क्षीण हो गयी है अति श्रान्ति से—
बहुत दिनों के जैसे रात्रि-जागरण से
नींद-भरी आँखों की पलक मुँदी आती हो।
कितना सुन्दर है संसार। हा, अपर्णा, पर
ऐसी रात में हैं देवी नहीं। न रहें भले!
अपर्णा, तू जानती है कोई बात सुख की
अमृत-भरी-सी? बस उसको ही कह तू।
सुनकर जिसे मग्न होऊँ पल-भर में
मैं अतल में, कि शोक-ताप भूल जाऊँ सब।
कितना मधुर है मरण, यह स्वाद भी,
पहले ही मान लूँ। तू अपर्णा, मधु-कंठ से

निज मधु-नयनों से मुझे देखती हुई,
तभी तक वह दीख पड़ता बड़ा-सा है,
कार्य-रूप में पर बहुत छोटा होता है,
जैसे उड़ जाती भाप ढेर-सी तो बचता
एक बूँद ही है जल। बात कुछ भी नहीं,
पल-भर का है काम। मद्धिम प्रदीप को
एक फूंक में ही बुझा देने भर का समय
लगेगा। ज़रा-सी यह प्राण-रेखा पल में
लीन होगी नींद से ही और गाढ़ी नींद में—
जैसे है चमक जाती सावन की रात में
बिजली। बिंधा रहेगा किंतु राज-दंभ में
वज्र सदा उसके। भला यों युवराज, क्यों
म्लान होके चुपचाप एक ओर बैठे हो?
बात नहीं मुँह में, न रेखा ही हँसी की है
ओठों पर, इस भाँति बुझे-बुझे बैठे हो।
आओ, हम आनंदसलिल पियें छककर ।

नक्षत्रराय : हो गया विलंब है बहुत। मैं तो कहता,
आज यह काम रहने ही दें। करेंगे कल
पूजा।

रघुपति : हो गया है, हाँ, विलंब तो अवश्य ही
रात शेष होने को है।

नक्षत्रराय : पग-ध्वनि सुनिये

रघुपति . कहाँ? मैं तो कुछ भी हीं सुन पा रहा!

नक्षत्रराय : देखिये प्रकाश, वह, वह शब्द सुनिये!

रघुपति : पा लिया है राजा ने संवाद स्यात्, तब तो
अब एक पल का विलंब न उचित है।

(रघुपति 'जय महाकाली' कहकर तलवार उठाता है। उसी क्षण तेजी से गोविन्दमाणिक्य और प्रहरीगण प्रवेश करते हैं। राजा के आदेश से प्रहरीगण रघुपति और नक्षत्रराय को पकड़ लेते हैं।)

गोविन्द : कारा में इन्हें ले जाओ, होगा न्याय इनका।

चौथा अंक

पहला दृश्य

(गोविन्दमाणिक्य, रघुपति, नक्षत्रराय, सभासद्गण और प्रहरी आदि)

गोविन्द : (रघुपति से)
और कुछ कहना है?

सारा जग अब सुख-नींद में है सो रहा,
इस जनहीन, स्तब्ध रजनी की छाया में,
कह री अपर्णा, कुछ ऐसी बात, सुनके
जिसको लगे कि चारों ओर कुछ है नहीं,
केवल है प्यार बह रहा सब ओर ही,
पूर्णिमा की सोई रात में सभी दिशाएँ ज्यों
रजनीगंधा के मृदु सौरभ से भरतीं।

अपर्णा : हाय जयसिंह, कुछ भी न कह पा रही,
यद्यपि है मन में न जाने बात कितनी!

जयसिंह : आओ, तब और भी समीप चली आओ तुम,
मन से ही मन की हो बात। —किन्तु यह क्या
करता हूँ मैं! ओ अपर्णा, चली जा ही तू
मन्दिर से। ऐसा ही आदेश मेरे गुरु का।

अपर्णा : निष्ठुर बनो न जयसिंह, तुम इतने,
बार-बार मन्दिर से मुझको निकालो मत।
कितना सहा है मैंने, अन्तर्यामी जानते।

जयसिंह : तब मैं चलूँ। न यहाँ ठहरूँगा पल-भर।
(कुछ दूर जाकर फिर लौटता है)
अपर्णा, मैं निष्ठुर हूँ। यही बात मन में
रहेगी तुम्हारे, मैं निष्ठुर, कठिन हूँ?
हँसते हुए क्या बात मैंने कभी की नहीं?
क्या कभी बुलाया नहीं पास तुम्हें अपने?
कभी क्या गिराये नहीं आँसू मैंने, देखके
अश्रु-जल दृग का तुम्हारा? नहीं आयेंगी
याद बातें यह सब। बात यह जागती
मन में रहेगी—' जय निष्ठुर, पाषाण है।
जैसा है पाषाण वह चित्र प्रस्तर का,
कहते थे देवी हम अब तक जिसको।'
हाय देवी सचमुच होती यदि देवी तू।
और तू समझती हमारे अन्तर्दाह को!

अपर्णा : बुद्धिहीन, दुखी यह क्षुद्र नारी-उर है,
इसे क्षमा करो और आओ जयसिंह, तुम,
आओ, हम दोनों इस मन्दिर को छोड़के
चल दें कहीं।

जयसिंह : अपर्णा, रक्षा करो मेरी तुम।

मुझे यहीं छोड़ चली जाओ दया करके।
जीवन में एक और काम शेष मेरा है—
वही मेरे जीवन का स्वामी हो—न उसका
स्थान छीन लेना तुम, यही निवेदन है।

(शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान)

अपर्णा : शत-शत सहे हैं आघात मैंने, आज क्यों
सह नहीं पाती? प्राण टूट-से रहे हैं क्यों?

पाँचवाँ दृश्य

मन्दिर

(नक्षत्रराय, रघुपति और सोया हुआ ध्रुव)

रघुपति : रोता-रोता सो गया है। इसके समान ही
पितृ-मातृहीन जयसिंह मेरी गोद में
शैशव में आया था। रोया था इसी भाँति से
चारों ओर देखकर सब ही नया-नया।
हताश्वास, शोक-श्रांत इस ही प्रकार से
संध्या होने पर वह सो गया था देवी के
चरणों के पास। इसी कारण से इसको
देखकर वह शिशु-मुख याद आता है
और याद आती उस शिशु की रुलाई है।

नक्षत्रराय : अब न विलंब करें अधिक पुजारीजी,
डर है, न जाने कब राजा सब जान लें।

रघुपति : जान कैसे पायेंगे ? दिशाएँ सब ओर से
निद्रा से निशीथ के घिरी हैं।

नक्षत्रराय : एक बार पर
जान पड़ा जैसे छाया देखी जाने किसकी।

रघुपति : छाया वह अपने ही भय की थी।

नक्षत्रराय : रोने का
स्वर सुना मानो मैंने।

रघुपति : अपने ही उर का।
छोड़ो यह चिन्ता, आओ हम दोनों मिलके
कारणसलिल पियें, दूर निरानंद हो।

(दोनों मद्यपान करते हैं)

मनोभाव जब तक रहता है मन में

कठिन तुम्हारी नहीं।

नक्षत्रराय : और किसको दूँ मैं
दोष? इस पापी मुँह से मैं अब अपने
नाम किसी और का न लूँगा। एक-मात्र मैं
ही हूँ अपराधी। मैं कुमंत्रणा में अपनी
आप ही पड़ा हूँ। इस बुद्धिहीन भाई के
अपराध आपने क्षमा किये अनेक हैं।
उसी भाँति इस बार भी मुझे क्षमा करें।

गोविन्द : पाँव छोड़ नक्षत्र उठो, कि बात सुन लो,
क्षमा कर देना क्या हमारे वश मे ही है?
न्यायकर्ता अपने ही शासन से बद्ध है,
बंदी से भी अधिक बंधन में है वह तो।
एक व्यक्ति दंड-भागी जिस अपराध से
होगा, दूसरा उसीसे छुटकारा पायगा,
क्षमता नहीं है ऐसी स्वयं विधाता मे—
मेरी बात ही क्या—किस खेत की मैं मूली हूँ?

सभी : क्षमा करें महाराज! भाई यह आपके।

गोविन्द : शांत रहो तुम लोग। है न कोई भाई या
हितू-मित्र मेरा, जब तक अवस्थित हूँ
इस न्यायासन पर मै। है अपराध तो
हो चुका प्रमाणित। त्रिपुर-राज्य-सीमा से
आगे बढ़कर राजगृह स्नान-तीर्थ है,
जाकर वहीं नक्षत्रराय को है रहना
आठ वर्ष की अवधि तक निर्वासन में।

(प्रहरीगण नक्षत्रराय को लेकर जाना चाहते है। राजा सिंहासन से नीचे उतर आते है।)

देकर जाओ आलिंगन इस विदा-वेला का,
भाई, यह दंड तो अकेला न तुम्हारा है,
यह मेरा भी है। नोंक-सा बिंधेगा काँटे की
आज से ही राजगृह मेरे इस उर में।
मेरा आशीर्वाद सदा साथ मे तुम्हारे है
जितने दिनों तक रहोगे दूर मुझसे
देवता रहेंगे सारे रक्षक बने हुए।

(नक्षत्र का प्रस्थान)

(सभासदों के प्रति)

अब आप सभी राज-सभा छोड़ जाइए

रघुपति : नहीं, कुछ भी नहीं।

गोविन्द : अपराध करते स्वीकार?

रघुपति : अपराध? हाँ,

किया अपराध मैंने है अवश्य। देवी की

पूजा कर पाया नहीं साङ्ग। मोह-मूढ़ हो

मैंने कर दिया है विलंब—दंड उसका

दे रही हैं देवी, तुम तो निमित्त-मात्र हो।

गोविन्द : सुने सब लोग यह नियम हमारा है—

पावन पूजा के छल से जो मोह-मूढ़ नर

देवता को जीव-बलि देंगे, या उद्योग भी

उसका करेंगे, अवहेलना कर राजा के आदेश की

मिलेगा उन्हें दंड निर्वासन का।

रघुपति आठ वर्ष तुम्हे निर्वासित हो

रहना पड़ेगा—दूर इस राज्य-सीमा से,

सैनिक हमारे चार तुम्हे छोड़ आयेंगे।

रघुपति : घुटने न टेके मैंने हैं किसी के सामने

छोड़कर देवी को। मैं ब्राह्मण हूँ, तुम हो

शूद्र, फिर भी मै आज दोनों हाथ जोड़कर,

टेककर घुटने, करूँगा यह प्रार्थना

तुमसे कि मुझको समय दो ही दिन का

श्रावण के शेष दो दिनों का दे दो, फिर मैं

प्रथम प्रभात में शरद के स्वयं ही

छोड़के तुम्हारा अभिशप्त और दग्ध यह

राज्य, चला जाऊँगा, न देखूँगा इधर फिर।

गोविन्द : अच्छी बात, दो दिनों का अवसर देता हूँ।

रघुपति : महाराज! राज-अधिराज! महिमा के तुम

सागर हो, हो कृपा के अवतार। धूल से

भी हूँ मै अधम, दीन और हूँ अपात्र भी।

रघुपति : नक्षत्र, स्वीकार करो अब अपराध तुम।

नक्षत्रराय : महाराज! अपराधी हूँ मैं। न साहस है

इतना कि भीख माँग सकूँ मैं क्षमा की भी।

(पैरों पर गिरता है)

गोविन्द : बतलाओ, किसकी कुमंत्रणा में पड़के

तुमने दिया था हाथ इस बुरे काम में?

कोमल स्वभाव के हो तुम, बुद्धि इतनी

कुछ देर रहना मैं चाहता एकांत में।

(शीघ्रता से नयनराय का प्रवेश)

नयनराय : महाराज! भीषण विपत्ति घिर आयी है।

गोविन्द : राजा क्या मनुष्य ही नहीं है? हाय विधना;
उसका हृदय है क्या तुमने गढ़ा नहीं
अतिशय दीन औ दरिद्र के समान ही?
दुःख उसे दोगे सबके समान, बस क्या
दोगे नहीं अवसर आँसू ही गिराने का?
कैसी है विपत्ति, बतलाओ मुझे शीघ्र ही।

नयनराय : मुग़लों की सेना के सहित चाँदपाल है
त्रिपुरा का नाश करने के लिए आ रहा।

गोविन्द : यह न नयनराय, तुमको उचित है।
चाँदपाल शत्रु हो भले ही, किन्तु इससे
ऐसा अपवाद उसके लिए।

नयनराय : हैं आपने
दंड दिये इस अनुगत को बहुत-से,
किन्तु अविश्वास आज यह सबसे बड़ा
दंड लगता है मुझे। क्या हुआ कि दूर हूँ
आपके चरण-कमलों से, क्या इसीलिए
किन्तु होगा मेरा अधःपात इतना बड़ा।

गोविन्द : एक बार फिर कहो सारी बात मुझसे
ठीक तौर से कि उसे सोच लूँ, समझ लूँ।

नयनराय : मुगलों का साथ देके चाँदपाल चाहता
आपको हटाना त्रिपुरा के सिंहासन से।

गोविन्द : मिला है संवाद तुम्हे यह किस भाँति से?

नयनराय : जिस दिन प्रभु ने निरस्त्र किया मुझको
अस्त्रहीनता की लाज ढँकने के हेतु मैं
चला गया देशांतर। जाकर सुना वहाँ,
मुगलों के साथ छिड़ने को है असम का
युद्ध अति शीघ्र। चल पड़ा मै तुरंत ही
सैनिक का पद माँगने वहाँ के राजा से।
देखा मार्ग मे कि वाहिनी मुग़ल की बढ़ी
चली आ रही है त्रिपुरा की ओर, साथ है
चाँदपाल। ज्ञात हुआ पूछ-ताछ करके
उसकी दुरभिसंधि क्या है— और तब मैं

भागा चला आ रहा हूँ आपके पदों में।

गोविन्द : हो गया क्या यह सहसा ही संसार में,
दो ही चार दिन तो हुए हैं अभी विधि हे!
धरती के किस स्थान पर छिद्र-पथ पथ है
निकला कि जिससे समूचा नागवंश ही
आ रहा है बाहर सहज रसातल से
पृथिवी के चारों ओर फण उठाता हुआ।
आ गया है प्रलय का काल सचमुच क्या,
किंतु यह समय नहीं है अचरज का,
सेनापति, सेना को सजाओ तुम शीघ्र ही।

दूसरा दृश्य

मन्दिर का आँगन

(जयसिंह और रघुपति)

रघुपति

गर्व नष्ट हुआ, तेज गया, ब्राह्मणत्व भी
चला गया। वत्स, अब गुरु न तुम्हारा मैं।
कल मैंने गौरव से गुरु के दिया तुम्हें
संशय-रहित हो आदेश, पर आज है
अधिकार मेरा बस भीख माँगने का ही
अनुनय सहित। कि दीप्ति मेरे उर की
बुझ-सी गयी है वह, जिससे बली हो मै
तुच्छ करता था ज्योति अतुल ऐश्वर्य की,
तुच्छ मानता था सदा राजा के प्रताप को।
नक्षत्र जो टूट पड़ा हो, है बड़ा उससे
मिट्टी का प्रदीप। खोजता है उसे फिरता
मिटटी में खद्योत परिहास करता हुआ,
किन्तु खोजकर भी पा सकता कभी नहीं।
दीप प्रतिदिन बुझता है, जलता भी है—
किन्तु तारा एक बार बुझ यदि जाता है,
होता अंधकार है सदा के लिए। मैं वही,
चिर दीप्तिहीन हूँ, है परमायु थोड़ी-सी,
देवता का अति क्षुद्र दान, उसमें से ही

राज-द्वार पर नत-जानु भीख माँगके
मैंने बस दो ही दिन की अवधि पायी है।
जयसिंह, दो दिन ये व्यर्थ न हों, देखना,
देखना, ये दो दिन कलंक निज मेटके
मर जायँ। दो दिन ये काले मुँह अपने
रँगकर राज-रक्त से ही बीत जा सकें।
चुप क्यों हो वत्स, है आदेश नहीं गुरु का
यह, फिर भी है तुम्हें पाला बचपन से
मैंने—मूल्य क्या न कुछ मेरे अनुरोध का?
पितृहीन का पिता हो करके नहीं हूँ क्या
पिता से भी अधिक मैं तेरे लिए? दुःख है
इसका ही मुझको कि इस भाँति तुझको
स्मरण दिलाना पड़ा। सहन हो सकती
कृपा-भीख, किन्तु जो अभागा भीख प्यार की
माँगता है, भिक्षुक से भी अधम वह है
भिक्षुक। हो वत्स, अब तक चुपचाप तुम?
तब एक बार और जानु यह नत हो
आया गोद में था तब वह इतना-सा था,
छोटा घुटनों से भी था— उसी के आज सामने
यह जानु नत हो! मैं पुत्र, भिक्षा चाहता।

जयसिंह : पिता, इस दीर्ण उर में न वज्र मारिये।
देवी राजरक्त चाहती हैं तो उन्हें वही
दूँगा मैं। जो कुछ चाहती हैं, वह सब ही।
ऐसा ही होगा पिता, चुकाके सारे ऋण को
जाऊँगा मैं।

रघुपति : अच्छी बात, तब ऐसा ही करो।
देवी चाहती हैं, इसी कारण से दो उन्हें।
मैं नहीं हूँ कोई। हाय अकृतज्ञ, देवी ने
क्या किया तुम्हारे लिए? पाला बचपन से?
रोग होने पर की तुम्हारी सेवा? और क्या
भूख लगने पर दिया था कभी अन्न भी?
ज्ञान की पिपासा थी मिटायी? अंत में यही
अकृतज्ञता की व्यथा हृदय फैलाके क्या
ली है देवी ने? हा, कलिकाल! रहने भी दो।

तीसरा दृश्य

राजभवन का कक्ष

(गोविन्दमाणिक्य बैठे हैं। नयनराय का प्रवेश)

नयनराय : महाराज, हो गये थे सैनिक विद्रोही जो
लौटाकर लाया हूँ उन्हें, कि रण-सज्जा भी
प्रस्तुत है। दीजिये आदेश बढ़ूँ अब मैं।
दीजिये आशीष—

गोविन्द : चलो सेनापति, चलता
मैं भी संग तुम सबके ही युद्ध-भूमि में।

नयनराय : प्राण जब तक इस दास के शरीर में
महाराज तब तक आप हों विरत ही,
सम्मुख विपत्ति के जाकर—

गोविन्द : सेनापति हे!
सबकी विपत्ति का जो अंश, उसमें से मैं
लेना चाहता हूँ अंश अपना, कि सबसे
अधिक है मेरा राज-अंश। आओ सैनिकों,
मुझको लो अपने ही बीच। सिंहासन की
दूरस्थित चूड़ा पर निर्वासित करके
वंचित समर के गौरव से करो नहीं
अपने नृपति को, जो भिन्न नहीं तुमसे।

दूत : राह से छुड़ा लिया है मुग़लों की सेना ने
जाते हुए निर्वासन में नक्षत्रराय को।
राज-पद पर अभिषेक हुआ उनका,
संग लेके सेना आ रहे हैं राजधानी को।

गोविन्द : दूर हुआ टंटा, अब भय किस बात का?
दूर हुई युद्ध की विभीषिका भी साथ ही।

(प्रहरी का प्रवेश)

प्रहरी : आया एक पत्र है विपक्ष के शिविर से।

गोविन्द : हाथ में लिखावट नक्षत्र की है। स्यात् है
शांति का सन्देश! —यही स्नेह की पुकार है!
यह तो न भाषा है नक्षत्र की। है चाहता
निर्वासन मेरा, या नहीं तो रक्त-स्रोत में
वह बहा देगा इस त्रिपुरा को सोने की—
देश को करेगा दग्ध, त्रिपुरा की नारियाँ

वन्दिनी बनेंगी मुग़लों के अन्तःपुर में—
देखूँ, दूखूँ, हाँ, यही तो लिपि है नक्षत्र की—
'महाराज गोविन्दमाणिक्य!' महाराज, हाँ,
देखो सेनापति, यह देखो, राजदंड से
निर्वासित जो हुआ, दिया है अब उसने
राजा को ही निर्वासन-दंड! लीला विधि की
कैसी है विचित्र!

नयनराय : निर्वासन! यह कैसा है
दुस्साहस! युद्ध तो न शेष अभी है हुआ।

गोविन्द : यह तो नहीं है सेना मुग़लों की। यह तो
त्रिपुरा के राजपुत्र ने किया है राजा से
मान। इसके लिए क्यों युद्ध होने जायगा।

नयनराय : राज्य का मंगल—

गोविन्द : होगा मंगल क्या राज्य का?
खड़े होके आमने-सामने भाई, भाई के
हृदय को लक्ष्य कर मृत्युमुखी कुटार
मारेगा, इसीसे होगा मंगल क्या राज्य का?
राज्य में क्या केवल है सिंहासन ही—यहाँ
है गृहस्थ-जन का न घर, नहीं भाई है,
या कि भाईचारे का भी बंधन नहीं यहाँ?
देखूँ, एक बार और देख लूँ—क्या यह है
उसकी ही लिपि? यह बात नहीं उसकी।
मैं हूँ दस्यु, मैं हूँ देव-द्वेषी, न्यायहीन हूँ,
मैं हूँ इस राज्य का अमंगल! नहीं, नहीं,
बात यह उसकी नहीं है—जिसकी भी हो,
अक्षर तो किन्तु उसके ही हैं। उसी ने तो
अपने ही हाथ यह बात लिख भेजी है।
विष वह चाहे जिस सर्प का हो, उसने
अपने ही अक्षरों की नोंक पर लपेटकर
मेरे उर में है मारा—विधि, दंड यह तो
उसने नहीं, है दिया तुमने भी मुझको।
निर्वासन मेरा! हो यही, कि मैं तो उसका
होकर ही, मस्तक झुकाके, चुप रहके
सह लूँगा निर्वासन-दंड उसका दिया।

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—मन्दिर ।

बाहर आँधी चल रही है ।

(पूजा की सामग्री लिये हुए रघुपति का प्रवेश)

रघुपति : इतने दिनों के बाद आज स्यात् जागी है
देवी । वह रोष-हुंकार! शाप डालती
दौड़ी चली जा रही है तिमिर-स्वरूपिणी
नगर के ऊपर से । स्यात् यह संगिनी
तेरी है प्रलय की, जो दारुण वुभुक्षा की
ज्वाला में हैं विश्व-महातरु को डुला रहीं
प्राणपण से । मैं आज दीर्घ उपवास यह
तोड़ दूँगा तेरा । डाल संशय में भक्त को
अब तक थी तू कहाँ देवी? खड्ग अपना
यदि आप ही तू उठावेगी न तो हम क्या
उसको उठा सकेंगे? कितना आनंद है
आज मुझे तेरा यह चंडी-रूप देखके!
मान जिसका गया था, मस्तक जो नत था,
तेज पा नवीन वह ऊँचा उठ पाया है ।
सुन पड़ता है पद-शब्द वह, आ रही
पूजा तेरी । महादेवी, तेरी जय-जय हो ।

(अपर्णा का प्रवेश)

दूर हो, तू जा चली यहाँ से री मायाविनी!
सर्वनाशिनी! तू ढूँढ़ती है जयसिंह को?
अरी महापातकिनी!

(अपर्णा का प्रस्थान)

विघ्न कुसमय का
यह कैसा! जयसिंह यदि आवे ही नहीं?
नहीं, नहीं, वचन न मिथ्या होगा उसका ।
जय महाकाली, सिद्धिदात्री, हे भयंकरी!-
यदि उसे बाधा मिले, बन्दी बने अन्त में,
प्रहरी के हाथों प्राण-हानि ही हो उसकी!
जय माँ अभया, जय भक्तों की सहायिका,
जाग्रत देवी-माँ की हो जय सर्वजया की!

भक्तवत्सला की अपकीर्ति न फैले कहीं
इस धरा पर। हँसने न पावें शत्रुगण
शंकाहीन कौतुक से। मातृ-अहंकार हो
चूर-चूर यदि सन्तान का तो कोई भी।
'माता' कहकर नहीं तुझको पुकारेगा।
वह पद-ध्वनि! जयसिंह ही है वह तो!
जय नरमुंड-मालिनी, पाखंड-दलनी,
महाशक्ति!

(शीघ्रता से जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह : राज-रक्त मेरे पास जयसिंह! राज-रक्त है कहाँ?
मैं करूँगा स्वयं ही निवेदन—दयामयी,
विश्वपालिका-माँ! तुझे राज-रक्त चाहिए?
उसके बिना न तेरी प्यास बुझ पायगी
किसी भी प्रकार? मैं भी क्षत्रिय हूँ, पुरखे
मेरे भी थे राजा, चलता है मातामह का
राजवंश अब भी—है राज-रक्त मुझमें।
दूँगा यही रक्त। हो परन्तु यह रक्त ही
अंतिम माँ! अंतहीन प्यास तेरी इससे
बुझे सदा के लिए हे शोणित-पिपासिनी!

(हृदय में छुरा मारता है)

रघुपति : जयसिंह, जयसिंह! निर्दयी, निठुर रे,
कर दिया यह सर्वनाश तूने कैसा है!
अकृतज्ञ, गुरु-द्रोही, कुलिश-कठोर तू,
स्वेच्छाकारी, पितृमर्मघाती, जयसिंह रे!
एक-मात्र प्राण मेरा, प्राणों से अधिक तू,
जीवन का मथकर लाया हुआ धन है!
जयसिंह, वत्स, गुरुवत्सल, तू लौट आ,
लौट आ, न तुझे छोड़ और कुछ चाहता।
अहंकार, अभिमान, द्विज, देवता सभी
चले जायँ। बस, एक-मात्र तू ही लौट आ।

(अपर्णा का प्रवेश)

अपर्णा : इसी भाँति पागल क्या मुझको बनायगा
जयसिंह? कहाँ जयसिंह?

रघुपति : आ सुधामयी!
उसको पुकार सुधाकंठ, व्यग्र स्वर से,

प्राणपण से पुकार बेटी, जयसिह को।
तू ही ले जा पास उसे अपने, न चाहता
मैं हूँ उसे।

(अपर्णा मूर्छित हो जाती है)

(प्रतिमा के चरणों पर माथा टेककर रघुपति)

फेर दे, लौटा दे जयसिंह को!

दूसरा दृश्य

राज भवन

(गोविन्दमाणिक्य और नयनराय)

गोविन्द अभी से आनन्द-ध्वनि! पहनी अभी से है
निर्लज्ज प्रासाद ने दीपों की यह मालिका!
खड़े हुए राजधानी के बाहरी द्वार पर
विजय-तोरण—ज्यों आनन्द से उठे हुए
पुलकित नगरी के कोमल दो बाहु हों।
अभी भी प्रासाद से हूँ बाहर न निकला—
छोड़ा नहीं सिंहासन मैंने। इतने दिनों
राजा था मैं—किया न किसी का उपकार क्या?
दूर नहीं किया क्या अन्याय कोई, और क्या
दिया है न दंड मैंने किसी अत्याचार का?
निर्वासित राजा! है धिक्कार तुझे। अपना
न्याय कर आप ही तू, अपने ही शोक स
आँसू है गिराता स्वयं!
राज्य मृत्युलोक का
चला गया, किन्तु फिर भी हूँ स्वामी अपना।
हृदय-सिंहासन पर आज महोत्सव हो!

(गुणवती का प्रवेश)

गुणवती : प्रियतम, प्राणेश्वर, अब क्या विलंब है?
सुन तो लिया न अब देवी के निषेध को?
आयें प्रभु! आज रात शेष-पूजा करके
राम-जानकी-समान चलें निर्वासन में।
गोविन्द : प्रिये, आज मेरा शुभ दिन है, भले गया
राज्य, किन्तु फिर से तुम्हें है मैंने पा लिया।

आओ, चलें मंदिर में हम दोनों देवी के—
प्रीति लेके, पुष्प लेके, अश्रु ले मिलन का,
विदा का विषाद ले विशुद्ध चलें दोनों ही—
आज रक्त और हिंसा का न कुछ काम है।

गुणवती : भीख एक चाहती हूँ नाथ!

गोविन्द : कहो देवी, तुम!

गुणवती : अब न पाषाण बनें, राज-गर्व छोड़ दें,
मानना पराजय न चाहें यदि तब भी
देख मेरी व्यथा, पिघले हृदय आपका।
निष्ठुर तो आप थे कभी न प्रभु! आपको
किसने बना दिया पाषाण? और किसने
मेरी भाग्य-परिधि से दूर किया आपको?
राजा से रहित रानी मुझको बना दिया!

गोविन्द : प्रिये, एक बार भी करो तो विश्वास तुम
मेरा। बिना समझे भी मेरी ओर देखके
समझो। मुझे जो प्यार करती हो उससे
समझो कि अब रक्तपात का न काम है।
मुँह फेरना न देवि, छोड़ना न मुझको,
आशा देके अब न निराश मुझे करना। —
जाना ही तुम्हे हो, जाना मुझे क्षमा करके।

(गुणवती का प्रस्थान)

चली गयी। कितना कठिन और निठुर है
यह संसार!—अरे, कौन है? कोई नहीं ?
अच्छा, मैं चला। हे राजसिंहासन, दो विदा!
हे पवित्र प्रासाद, हे गोद पुरखों की, मैं
निर्वासित पुत्र, करके प्रणाम तुमको
ले रहा हूँ विदा आज सब दिन के लिए!

नीसरा दृश्य

अन्तःपुर का कक्ष

गुणवती : बजने दो बाजे, पूजा होगी आज रात को,
आज ही प्रतिज्ञा पूरी होगी मेरी। ला भला,
ला तो जवा-फूल! अरे, तू तो खड़ी ही रही।
आज्ञा न सुनेगी? मैं नहीं हूँ कोई क्या भला?

राज्य गया, इसीलिए रानी इतनी-सी भी
मैं नहीं रही कि सुनें आज्ञा दास-दासियाँ?
कंकण ले यह, यह हीरे वाली कंठी ले—
आभूषण जितने भी हैं ये, इन्हें ले-ले तू।
शीघ्र जाके आयोजन कर देवी-पूजा का।
देवी, इस दासी को चरण में शरण दो।

चौथा दृश्य

मन्दिर

रघुपति : देखो, भला देखो, किस भाँति खड़ा स्तूप है
जड़ प्रस्तरों का यह, मूढ़-सा, अबोध-सा!
अरे, मूक, पंगु, अंध औ वधिर! तेरे ही
सम्मुख व्यथित सारा विश्व रोके मरता!
महत् हृदय निज आप ही पछाड़के
तोड़ देता पाषाण-चरणों पर तेरे ही।
हाहा हाहा हाहा! यह क्रूर परिहास है
बैठा किस दानव का, मध्य में जगत् के?
जीवगण 'माँ' कहके जितना पुकारते
यह उतना ही घोर अट्टहास करती,
निर्मम, निष्ठुर उपहास करती हुई।
फेर दे तू मेरे जयसिंह को। हाँ, फेर दे,
लौटा दे उसे, अरी ओ राक्षसी, पिशाचिनी!
(प्रतिमा को हिलाकर)
सुन भी तू पाती है? हैं कान तेरे? जानती
है कि तूने क्या किया? है रक्त पिया किसका?
किस पुण्य-जीवन का? स्नेह-दया-प्रीति से
भरे किस महत् हृदय का? बनी रहे
चिर काल तक इसी भाँति तू—मंदिर के
इस सिंहासन पर, गुप्त उपहास-सी
सरल भक्ति के प्रति। नित्य पूजूँगा तुझे,
चरणों में करूँगा प्रणाम, 'माता' कहके
तुझको पुकारूँगा। प्रकट न करूँगा मैं
तेरा परिचय किसी जन के भी सामने।
केवल लौटा दे मुझे मेरे जयसिंह को।

हाय, किन्तु किसके समक्ष रो रहा हूँ मैं!
दूर करो, दूर करो, दूर कर दो इसे,
इस पाषाणी को, इस हृदय-दलनि को।
एक बार वक्ष लघु हो सके जगत् का।

(रघुपति गोमती के जल में देवी की प्रतिमा को फेंक देता है।)

(मशाल और गाजे-बाजों के साथ गुणवती का प्रवेश)

गुणवती : जय महादेवी! माँ कहाँ है महिमामयी?

रघुपति : अब देवी हैं न कहीं।

गुणवती : गुरुदेव, उनको
लौटा दें, बुला दें उन्हें, मैं करूँगी उनकी
आज रोष-शान्ति। पूजा लेके आज आयी हूँ।
त्यागकर राज्य को औ पति को भी अपने
अटल प्रतिज्ञा मैंने पूरी की है अपनी।
दया कर फेर दें देवी को, दया करके
बस इस आज की ही एक रात के लिए।
देवी हैं कहाँ?

रघुपति : नहीं कहीं भी अब वह है।
ऊपर नहीं है वह, नीचे भी कहीं नहीं,
और न तो थी ही वह कभी कहीं पर भी।

गुणवती : प्रभु, क्या नहीं थीं यहाँ देवी?

रघुपति : देवी कहती
उसको हो तुम? यदि होती इस जग मे
देवी कहीं भी, तो सह पाती वह क्या भला
उस दानवी को देवी कहना? महत्त्व क्या
तब उर फाड़ रक्त निष्फल उँडेलता
मूढ़ उन प्रस्तर-पदों में? उसे कहती
देवी तुम? पुण्य-रक्त पीके महाराक्षसी
वह पेट फाड़कर मर गयी आप है।

गुणवती : गुरुदेव, इस भाँति वध मत कीजिये
मेरा। फिर एक बार सच-सच कहिये,
क्या नहीं है देवी!

रघुपति : नहीं।

गुणवती : हाय, देवी हैं नहीं?

रघुपति : नहीं।

गुणवती : देवी हैं नहीं तो और कौन है भला?

रघुपति : **कोई भी नहीं है, कुछ भी तो नहीं है कहीं।**

गुणवती : ले जा, फेर ले जा यह पूजा, तू भी लौट जा।
शीघ्र बता, महाराज गये किस मार्ग से?

(अपर्णा का प्रवेश)

अपर्णा : पिता!

रघुपति : मेरी बेटी, ओ री बेटी, मेरी पुत्रिका!
'पिता' संबोधन यह तो न तिरस्कार का।
बेटी, जो पुकारता था इस पुत्रघाती को
पिता कह, वह इस सुधा-भरे नाम को
छोड़ गया तेरे कंठ में है, दया करके।
अहा, यों ही एक बार और तू पुकार ले।

अपर्णा : पिता, चलो, मन्दिर को छोड़ चले जायँ हम।

(पुण्य-अर्घ्य लेकर गोविन्दमाणिक्य का प्रवेश)

गोविन्द : देवी कहाँ?

रघुपति : हैं नहीं वे

गोविन्द : रक्त-धार कैसी है?

रघुपति : अंतिम यही है पुण्य-रक्त इस मन्दिर में
पाप-भरे। जयसिंह ने है निज रक्त से
रक्त-शिखा हिंसा की बुझा दी।

गोविन्द : वह धन्य है।
पुष्पांजलि इस पूजा की हूँ तुम्हें सौंपता।

गुणवती : महाराज!

गोविन्द : प्रियतमे!

गुणवती : देवी आज हैं नहीं।
आप ही हुए हैं मेरे एक-मात्र देवता।

गोविन्द : पाप चला गया। देवी आयीं लौट फिर से
मेरी ही देवी में।

अपर्णा : पिता, आप लौट आइये ।

रघुपति : टूटा है पाषाण—इस बार मेरी माता ने
दर्शन दिये हैं बनके सजीव प्रतिमा।
जननी अमृतमयी!

अपर्णा : पिता, चले आइए।

३

डाकघर

१

(माधवदत्त और वैद्य)

माधवदत्त : मैं तो बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूँ। जब वह नहीं था, तब वह था ही नहीं। कोई फिक्र ही नहीं थी। लेकिन अब तो वह जाने कहाँ से आकर मेरे घर में डट गया है—लगता है, उसके चले जाने पर मेरा यह घर, घर ही रह जायेगा। वैद्यजी आप क्या समझते हैं, उसको...

वैद्य : अगर भाग्य में लिखा होगा तो अभी बहुत दिनों तक वह बच भी सकता है, लेकिन आयुर्वेद में जैसा लिखा है, उससे तो...

माधवदत्त : क्या लिखा है?

वैद्य शास्त्रों में लिखा है, 'पैत्रिकान् सन्निपातजान् कफवात समुद्‌भवान्'...

माधवदत्त बस, बस, अब ये श्लोक वगैरा तो रहने ही दीजिए—इससे मेरा डर और भी बढ़ जाता है। यही बताइए कि अब करना क्या चाहिए?

वैद्य · (सूँघनी सूँघकर) बहुत सावधानी से रहना होगा।

माधवदत्त · यह तो ठीक है, लेकिन किस बात में सावधान रहना होगा, साफ़-साफ़ यही बताइए न।

वैद्य मैंने तो पहले ही में कह रखा है, उसे बाहर बिल्कुल नहीं जाने देना होगा।

माधवदत्त · जरा-सा बच्चे को रात-भर घर में बाँधे रखना तो बड़ा मुश्किल है।

वैद्य लेकिन आप ही कहिए, और कीजियेगा क्या? यह जाड़े की धूप और हवा, दोनों ही तो उसके लिए ज़हर के समान हैं। शास्त्रों में लिखा है, 'अपस्मारे ज्वरे काशे कामलाया हलीमके'...

माधवदत्त · अच्छा, अच्छा, अपने शास्त्रों की बात अभी रहने दीजिए। मतलब यह कि इसे बन्द करके ही रखना पड़ेगा—दूसरा कोई उपाय नहीं है?

वैद्य : कुछ नहीं, क्योंकि 'पवने तपने चैव—'

माधवदत्त : वैद्यजी, आपका यह 'चैव' लेकर मैं क्या करूँगा भला? उसे तो अभी रहने ही दीजिए—यही बता दीजिए कि करना क्या होगा। लेकिन सच कहूँ, आपका

परहेज़ बड़ा मुश्किल है। रोग की सारी तकलीफ़ वह बेचारा चुपचाप सह लेता है—लेकिन आपकी दवा खाने में उसे जो तकलीफ़ होती है, उसे देखकर मेरा कलेजा फटने लगता है।

वैद्य : वह तकलीफ़ जितनी ज्यादा होगी, उसका फ़ायदा भी उतना ही **अधिक** होगा—इसीसे तो महर्षि च्यवन ने कहा है, 'भेषजं हितवाक्यं च तिक्तं आशुफलप्रदम्'। अच्छा तो अब मै चलूँ दत्त महाशय!

(प्रस्थान)

(दादाजी का प्रवेश)

माधवदत्त : यह लो, दादाजी भी आ पहुँचे! ग़ज़ब हो गया!

दादा : क्यों, मुझसे क्या डर है तुमको?

माधवदत्त : तुम बच्चों को बहकाने वाले सरदार जो हो!

दादा : तुम न तो खुद बच्चे हो, न तुम्हारे घर मे ही कोई बच्चा है—बहकाने की तुम्हारी उम्र भी अब नहीं रही। तुम्हें किस बात का डर है?

माधवदत्त : घर में एक बच्चा जो ले आया हूँ।

दादा : यह कैसे?

माधवदत्त : मेरी घरवाली, लड़का गोद लेने की धुन बाँध बैठी थी।

दादा : यह तो बहुत दिनों से सुन रहा हूँ, लेकिन तुम तो किसी लड़के को गोद लेना ही नहीं चाहते थे।

माधवदत्त : तुम तो जानते ही हो भाई, मैंने बड़ी तकलीफ़ से रुपये जोड़े है—जाने कहाँ से कोई पराया लड़का आकर, मेरी इतनी मेहनत की कमाई को बिना हाथ-पैर हिलाये उड़ाता रहेगा, यह बात सोचने में भी मुझे बुरी लगती थी लेकिन यह लड़का मुझे जाने कैसा लग गया है कि...

दादा : कि इसके लिए जितना ही खर्च करते हो, उतना ही समझते हो कि रुपयो का सबसे बडा भाग्य यही है।

माधवदत्त . पहले मेरा धन कमाना एक नशे को तरह था—बिना कमाये किसी तरह चैन ही न पाता था। लेकिन आज जो रुपये जोड़ रहा हूँ, वह सब इस बच्चे को ही मिलेगे, यह जानकर मुझे कमाई मे एक तरह का आनन्द मिल रहा है।

दादा : अच्छा भाई, यह तो बताओ कि यह बच्चा तुम्हे मिला कहाँ से?

माधवदत्त : गाँव के रिश्ते से यह मेरी स्त्री का भतीजा है। छोटी उम्र से ही बेचारे की माँ नहीं है। अभी उस दिन उसका बाप भी जाता रहा।

दादा : अहा हा, अब तो उसको मेरी ज़रूरत है।

माधवदत्त : वैद्यजी ने कहा है, उसका जरा-सी देह मे वात-पित्त-कफ जिस तरह एक साथ बिगड़ उठे हैं, उससे उसके बचने की बहुत उम्मीद नहीं है। सिर्फ़ एक उपाय रह गया है कि किसी तरह उसे इस जाड़े की धूप और हवा से बचाकर घर मे बन्द रखा जाय। लेकिन घर से बाहर निकलना ही तो तुम्हारे बुढ़ापे का खेल

है—इसीसे तुमसे डर लगता है।

दादा : तुम झूठ नहीं कहते, मैं बड़ा डरावना हो उठा हूँ—जाड़े की इस धूप और हवा की ही तरह। लेकिन भाई, घर में बाँधकर रखने वाले कुछ खेल भी मैं जानता हूँ। मैं जरा अपना काम-धंधा निपटा आऊँ, फिर उस बच्चे से दोस्ती गाँठ लूँगा।

(प्रस्थान)

(अमल गुप्त का प्रवेश)

अमल : फूफाजी!

माधवदत्त : क्या है अमल?

अमल : मैं क्या उस बरामदे तक भी न जा सकूँगा?

माधवदत्त : नहीं बेटा!

अमल : वह, जहाँ बुआ जाँते में दाल दलती हैं, वह देखो न, जहाँ दोनों हाथों में दाल की खुद्दी लेकर पूँछ के बल बैठी गिलहरी कुट-कुट करके खा रही है—मैं क्या वहाँ तक भी नहीं जा सकूँगा?

माधवदत्त : नहीं बेटा!

अमल : मैं अगर गिलहरी होता तभी अच्छा था—लेकिन फूफाजी, वे मुझे बाहर क्यों नहीं जाने देते?

माधवदत्त : वैद्यनाथ कह गये हैं, बाहर जाने से तुम बीमार हो जाओगे।

अमल : फूफाजी यह बात वैद्यजी को कैसे मालूम हुई?

माधवदत्त : यह क्या कहते हो अमल! भला वैद्यजी नहीं जानेंगे? उन्होंने इत्ती बड़ी-बड़ी पोथियाँ जो पढ़ डाली है।

अमल : पोथी पढ़ने से ही क्या सब-कुछ जाना जा सकता है?

माधवदत्त : अरे, तुम यह भी नहीं जानते?

अमल : (गहरी उसाँस भरकर) मैंने तो पोथी कोई पढ़ी ही नहीं—इसीसे नहीं जानता।

माधवदत्त : देखो बेटा, बड़े-बड़े पण्डित लोग भी तुम्हारी ही तरह होते है—वे घर से बाहर निकलते ही नहीं।

अमल : वे बाहर नहीं निकलते?

माधवदत्त : ना, वे निकलेंगे कब, तुम्हीं बताओ न? वे तो बैठे-बैठे सिर्फ़ पोथियाँ ही बाँचा करते हैं--और किसी तरफ़ उनकी नज़र ही नहीं जाती।
अमल बाबू, बड़े होकर तुम भी पण्डित बनोगे—बैठे-बैठे इत्ती बड़ी-बड़ी पोथियाँ बाँचा करोगे—लोग तुम्हे देखकर अचरज में पड़ जायँगे।

अमल : नहीं नहीं, फूफाजी, मै आपके पैरों पड़ता हूँ, मैं पण्डित नहीं बनूँगा—फूफाजी, मैं पण्डित हरगिज़ नहीं बनूँगा।

माधवदत्त : यह कैसी बात है अमल! अगर पंडित हो पाता तो मैं तो धन्य हो जाता।

अमल : देखने की जितनी चीज़ें हैं, मैं उन सबको देखूँगा— सिर्फ़ देखता हुआ घूमा करूँगा।

माधवदत्त : सुनो तो ज़रा! क्या देखोगे? देखने को इतना है ही क्या?

अमल : अपनी खिड़की के पास बैठकर दूर पर वह जो पहाड़ दीख पड़ता है न, मेरा बड़ा जी होता है कि उसे पार करके मैं आगे चला जाऊँ।

माधवदत्त : कैसी पागलों की-सी बात है! काम नहीं, धन्धा नहीं, खा-म-खाह पहाड़ को पार करने चला जाऊँ! क्या, जो तुम कहते हो, उसका कोई ठिकाना ही नहीं है। यह पहाड़ तो इतना ऊँचा उठा हुआ है तो समझना पड़ेगा कि उसको पार करने की मनाही है। नहीं तो इतने बड़े-बड़े पत्थर इकट्ठे करके इतना बड़ा एक पहाड़ खड़ा करने की क्या ज़रूरत थी?

अमल : फूफाजी, तुमको क्या ऐसा लगता है कि वह मना कर रहा है? लेकिन मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि धरती बोल नहीं सकती, इसी से इस तरह नीले आसमान में हाथ उठाकर हमे बुला रही है। बहुत दूर के जो लोग घर में बैठे रहते हैं, दोपहर के वक्त वे भी खिड़की के किनारे बैठकर वह पुकार सुन पाते हैं। लेकिन पंडित लोग शायद उसे नहीं सुन पाते!

माधवदत्त : वे लोग तो तुम्हारी तरह पागल नहीं हैं न—वे सुनना चाहते भी नहीं।

अमल : कल मैंने अपने-जैसे एक पागल को देखा था।

माधवदत्त : सचमुच? सुनूँ तो सही, वह था कैसा?

अमल : उसके कन्धे पर बाँस की एक लाठी थी। लाठी के अगले सिरे पर एक पोटली बँधी थी। उसके बाएँ हाथ में एक लोटा था। पैरों में नागौरी जूते पहने, मैदान की राह से, वह उस पहाड़ी की ओर जा रहा था। मैंने उसे पुकारकर पूछा— 'तुम कहाँ जा रहे हो?' उसने कहा—'पता नहीं जहाँ भी चला जाऊँ।' मैंने पूछा—'क्यों जा रहे हो?' उसने कहा—'काम ढूँढ़ने।' अच्छा फूफाजी, क्या काम भी ढूँढ़ना पड़ता है?

माधवदत्त : पड़ता क्यों नहीं? जाने कितने लोग काम ढूँढ़ते फिरते हैं।

अमल : तब ठीक है। मैं भी उन्हीं लोगों की तरह काम ढूँढ़ता फिरूँगा।

माधवदत्त : लेकिन अगर ढूँढ़कर भी न पा सकोगे तो?

अमल : अगर ढूँढ़कर भी न पा सका तो फिर ढूँढ़ूँगा—
लेकिन फूफाजी उसके बाद नागौरी जूतों वाला वह आदमी चला गया। मैं दरवाज़े के पास खड़ा होकर उसे देखता रहा। और वहाँ, जहाँ डूमर गाछ के नीचे से झरना बह रहा है, वहीं उसने लाठी उतारकर रख दी। झरने के पानी में पाँव धोकर उसने पोटली खोली और पानी से सानकर सत्तू खाने लगा। खाना खाकर उसने फिर पोटली बाँधकर कन्धे पर रख ली—पैरों के कपड़े समेटकर वह झरने मे उतर गया और पानी को ठेलता हुआ उस पार चला गया—मैंने

बुआजी से कह रखा है। फूफाजी, उसी झरने के किनारे जाकर एक दिन मैं भी सत्तू खाऊँगा।

माधवदत्त : फिर तुम्हारी बुआ ने क्या कहा?

अमल : बुआ ने कहा, पहले तुम अच्छे हो जाओ, फिर तुम्हें उस झरने के किनारे ले जाकर सत्तू खिला लाऊँगी।
अच्छा फूफाजी, मै कब तक अच्छा हो जाऊँगा?

माधवदत्त : अब तो तुम्हारे अच्छे होने मे बहुत देर नहीं है बेटा!

अमल : देर नहीं है? तब तो अच्छा होते ही चला जाऊँगा।

माधवदत्त : कहाँ जाओगे?

अमल : कितने ही टेढ़े-मेढ़े झरनों के पानी में पैर डुबो-डुबोकर उन्हें पार करता हुआ मैं चला जाऊँगा—दोपहर को जब सभी लोग अपने घर का दरवाज़ा बन्द करके सोये रहेंगे, तब मैं जाने कहाँ, कितनी दूर काम ढूँढ़ता हुआ, घूमता-फिरता चला जाऊँगा।

माधवदत्त : अच्छी बात है, पहले तुम अच्छे तो हो लो, उसके बाद—

अमल : उसके बाद मुझे पंडित होने को न कहना फूफाजी!

माधवदत्त : तब तुम्हीं बताओ, तुम क्या होना चाहते हो?

अमल : मेरी समझ में कुछ नहीं आता है, अच्छी बात है सोचकर बताऊँगा।

माधवदत्त : लेकिन तुम इस तरह जिस-किसी परदेशी को बुला-बुलाकर बाते तो न किया करो!

अमल : ये परदेशी लोग मुझे बहुत अच्छे लगते हैं फूफाजी!

माधवदत्त : लेकिन अगर वह तुम्हें पकड़ ले जाता तो?

अमल : तब तो बहुत ही अच्छा होता। लेकिन मुझे तो कोई पकड़कर भी नहीं ले जाता—सभी लोग सिर्फ़ मुझे बैठाये रखते हैं।

माधवदत्त : मुझे काम है, मैं जा रहा हूँ—लेकिन देखो बेटा, तुम बाहर न निकल जाना!

अमल : नहीं जाऊँगा फूफाजी, मैं राह के किनारे वाले इस कमरे में बैठा रहूँगा।

२

(दही वाला आता है)

दही वाला : दही लो, दही—बढ़िया दही!

अमल : दही वाले, दही वाले—ओ दही वाले!

दही वाला : क्यों पुकारते हो बेकार—तुम्हे दही लेना है?

अमल : लूँगा कैसे? मेरे पास पैसे कहाँ हैं?

दही वाला : कैसे अजीब लड़के हो तुम? लोगे नहीं तो मेरा वक्त क्यों बरबाद करते हो?

अमल : अगर मैं जा सकता तो तुम्हारे साथ जाता।

दही वाला : मेरे साथ चले जाते?

अमल : हाँ, तुम जाने कितनी दूर से हाँ लगाते चले आ रहे हो—सुनकर मेरा मन जाने कैसा हो रहा है।

दही वाला : (दही की बहँगी उतारकर) बाबू, तुम यहाँ बैठकर क्या कर रहे हो?

अमल : वैद्यजी ने मुझे बाहर निकलने को मना कर दिया है, इसी से मैं दिन-भर यहीं बैठा रहता हूँ।

दही वाला : ओः, तुम्हें क्या हुआ है?

अमल : मैं नहीं जानता। मैंने तो कुछ पढ़ा नहीं है, इसीसे मैं नहीं जानता कि मुझे क्या हुआ है? दही वाले, तुम कहाँ से आ रहे हो?

दही वाला : मैं अपने गाँव से आ रहा हूँ।

अमल : अपने गाँव से? बहुत दूर है तुम्हारा गाँव?

दही वाला : हमारा गाँव उस पंचमुंडा पहाड़ के नीचे है—शामली नदी के किनारे।

अमल : पंचमुंडा पहाड़... शामली नदी... क्या पता, शायद मैंने तुम्हारा गाँव देखा है... कब, यह मुझे याद नहीं आता।

दही वाला : सचमुच तुमने मेरा गाँव देखा है? किसी दिन तुम पहाड़ीतली में गये थे क्या?

अमल : नहीं मैं गया तो क़भी नहीं, फिर भी मुझे ऐसा लगता है, मानो मैंने उसे देखा है। बहुत पुराने ज़माने के बहुत बड़े-बड़े पेड़ों के चौरे में है तुम्हारा गाँव—लाल रंग के रास्ते के किनारे। है न?

दही वाला : हाँ बाबू, तुम ठीक कहते हो।

अमल : वहाँ पहाड़ पर गायें चरा करती हैं न?

दही वाला : कैसे अचरज की बात है! बिलकुल ठीक कहते हो तुम। मेरे गाँव में गाय-वाय चरते क्यों नहीं? खूब चरते हैं।

अमल : वहाँ की औरतें नदी से पानी भरकर, माथे पर कलसे रखकर ले जाती हैं—वे लाल साड़ी पहने रहती है।

दही वाला : वाह-वाह, बिलकुल ठीक! वहाँ, ग्वालटोली की सभी औरतें नदी से ही तो पानी भरकर ले जाती है, मगर वे सभी लाल साड़ी ही पहनती हों, ऐसी बात नहीं है। —लेकिन बाबू, तुम किसी-न-किसी दिन उस ओर ज़रूर गये होगे।

अमल : सच कहता हूँ दही वाले, मैं उस ओर कभी नहीं गया! लेकिन वैद्यजी जिस दिन मुझे बाहर जाने को कहेंगे, उस दिन तुम मुझे अपने गाँव ले चलोगे?

दही वाला : ले क्यों नहीं चलूँगा बाबू, ज़रूर ले चलूँगा।

अमल : फिर तुम मुझको भी दही बेचना सिखला देना। इसी तरह कन्धे पर बहँगी लेकर, इसी तरह दूर-दूर के रास्ते से होकर मैं भी दही बेचता फिरूँगा।

दही वाला : हाय रे, तुम क्यों दही बेचोगे बाबू? इत्ती-सारी पोथियाँ पढ़कर तुम तो भारी पंडित बनोगे।

अमल : नहीं नहीं, मैं पंडित कभी नहीं बनूँगा। मैं तुम्हारी लाल सड़क के किनारे,

तुम्हारे बूढ़े बरगद के तले, ग्वालटोली से दही ले आकर, दूर-दूर, गाँव-गाँव में बेचता फिरूँगा। तुम कैसे कहते हो, 'दही लो दही, बढ़िया दही' मुझे यह गुहार लगाना सिखा दो न!

दही वाला : फूट गयी तकदीर! यह भी कोई सीखने की बात है?

अमल : नहीं नहीं, यह सुर मुझे बड़ा अच्छा लगता है। आसमान के उस अंतिम छोर से जैसे पंछी की पुकार सुनने से मन उदास हो जाता है—उसी तरह उस रास्ते के मोड़ से, उन पेड़ों की क़तार के बीच से, जब तुम्हारी पुकार सुन पड़ती थी तो मेरे मन में होता था—जाने क्या होता था मेरे मन में!

दही वाला : बाबू, थोड़ा-सा दही तुम खाओ न!

अमल : दही खाने के लिए मेरे पास पैसे कहाँ हैं?

दही वाला : नहीं नहीं, पैसों की कोई बात नहीं है। तुम थोड़ा-सा दही खा लोगे तो मुझे बड़ी खुशी होगी।

अमल : तुम्हें क्या बहुत देर हो गयी है?

दही वाला : कुछ देर नहीं हुई बाबू, मेरा कोई नुकसान नहीं हुआ। दही बेचने में कितना सुख है, यह मैंने आज तुम्हीं से सीखा है।

(प्रस्थान)

अमल : (सुर में) दही लो, दही—बढ़िया दही। उस पंचमुंडे पहाड़ के तले, शामली नदी के किनारे वाले ग्वालों के घर का दही। भोर के पहर, पेड़ के नीचे गायें खड़ी करके वे दूध दुहते है—साँझ को औरत दही जमाती हैं, वही दही। दही लो, दही—बढ़िया दही-ई-ई-ई—

अरे, राह पर यह पहरेदार घूम रहा है! पहरेदार, ओ पहरेदार, ज़रा सुन जाओ न!

(पहरेदार का प्रवेश)

पहरेदार इस तरह चीख-पुकार क्यों मचा रहे हो? मुझसे डरते नहीं तुम?

अमल · क्यों तुमसे डरने की क्या बात है?

पहरेदार अगर मैं तुमको पकड़ ले जाऊँ तो?

अमल मुझे पकड़कर कहाँ ले जाओगे? बहुत दूर? उस पहाड़ के पार?

पहरेदार अगर एकदम राजा के पास ले जाऊँ?

अमल राजा के पास ले जाओगे? तो ले चलो न! लेकिन मुझको तो वैद्यजी ने बाहर आने की मनाही कर रखी है। मुझको पकड़कर कोई कहीं नहीं ले जा सकेगा— मुझे दिन-रात यहीं बैठा रहना होगा।

पहरेदार : वैद्यजी ने मनाही कर रखी है? अहा, तभी तो तुम्हारा चेहरा कैसा सफ़ेद हो गया है। आँखों के किनारे पर स्याही फिर गयी है। तुम्हारे दोनों हाथों की नसें उभर आयी हैं।

अमल : तुम घण्टा न बजाओगे पहरेदार?

पहरेदार : अभी तो वक्त नहीं हुआ।

अमल : कोई कहता है, वक्त गुज़रा जा रहा है, कोई कहता है, वक्त हुआ ही नहीं। अच्छा, तुम घण्टा बजा दोगे तब तो वक्त हो जायेगा न?

पहरेदार : यह कैसे हो सकता है? जब वक्त हो जाता है, तभी तो मैं घण्टा बजाता हूँ।

अमल : बड़ा अच्छा लगता है तुम्हारा घण्टा। सुनने में खूब अच्छा लगता है। दोपहर में जब हमारे घर के सभी लोग खा-पी चुकते हैं—फूफाजी जाने कहाँ काम करने चले जाते हैं, बुआ रामायण पढ़ती-पढ़ती सो जाती हैं, मेरा नन्हा कुत्ता दालान के उस कोने की छाया में पूँछ में सिर घुसाकर सोया रहता है—तभी तुम्हारा वह घण्टा बजता है... टन् टन् टन् टन् टन् टन् टन्। अच्छा, क्यों बजता है तुम्हारा घण्टा?

पहरेदार : घण्टा सबको यह बतलाता है कि वक्त बैठा नहीं रहता। वक्त चला जा रहा है।

अमल : कहाँ चला जा रहा है? किस देश को?

पहरेदार : यह बात कोई नहीं जाता।

अमल : शायद वह देश किसी ने नहीं देखा। मेरा जी होता है कि इस 'समय' के साथ ही मै चला जाऊँ—जिस देश की बात कोई नहीं जानता, उसी, बहुत दूर के देश मे।

पहरेदार : एक दिन तो उस देश मे सभी को जाना होगा बेटा!

अमल : मुझे भी जाना होगा!

पहरेदार : जाना तो होगा ही।

अमल : लेकिन वैद्यजी ने तो मुझे जाने से मना कर रखा है।

पहरेदार : हो सकता है कि किसी दिन खुद वैद्यजी ही हाथ पकड़कर तुम्हें ले जायँ।

अमल . नहीं, नहीं, तुम उन्हे जानते नहीं। वे तो सिर्फ़ बाँधकर ही रखना जानते है।

पहरेदार : लेकिन उनसे भी अच्छे जो वैद्यजी है, वे आकर छुड़ा जाते है।

अमल : मेरे वे अच्छे वैद्यजी कब आयँगे पहरेदार? यहाँ बैठा रहना **अब अच्छा** नहीं लगता मुझे।

पहरेदार · ऐसी बात नहीं कहते बेटा!

अमल . नहीं, मै तो बैठा ही हूँ। मुझे जहाँ बैठा रखा है, मै तो वहाँ से बाहर नहीं निकला। लेकिन तुम्हारा घण्टा टन् टन् टन् बजता है और मेरा मन न जाने कैसा करने लगता है—

अच्छा पहरेदार!

पहरेदार : क्या है बेटा!

अमल : रास्ते के उस किनारे वाले बड़े मकान मे वह जो झंडा फहरा दिया गया है, और बहुत-से लोग जहाँ आवा-जाही कर रहे हैं, वहां क्या हुआ है?

पहरेदार : वहाँ नया डाकघर खुला है।

अमल : डाकघर? किसका डाकघर?

पहरेदार : डाकघर और किसका होगा? राजा का डाकघर!
यह लड़का तो बड़ा अज़ीब-सा लगता है!

अमल : राजा के डाकघर में सारी चिट्ठियाँ राजा के पास से आती हैं?

पहरेदार : आती क्यों नहीं? देख लेना, एक दिन तुम्हारे नाम से भी चिट्ठियाँ आयँगी।

अमल : मेरे नाम से भी आयेंगी? लेकिन मैं तो अभी बच्चा हूँ।

पहरेदार : हमारे राजा तो बच्चों को भी इत्ती छोटी-छोटी चिट्ठियाँ लिखते हैं।

अमल : वाह, तब तो बड़ा मज़ा आयेगा। लेकिन मैं उनकी चिट्ठी कब पाऊँगा? पहरेदार, तुमको कैसे मालूम हुआ कि वे मुझे भी चिट्ठी लिखेंगे?

पहरेदार : ऐसा न होता तो वे ठीक तुम्हारी इस खुली हुई खिड़की के सामने सुनहले रंग का एक इतना बड़ा झंडा फहराकर, डाकघर खोलने क्यों जाते?
यह लड़का तो मुझे बड़ा अच्छा लग रहा है।

अमल : अच्छा, राजा के पास से चिट्ठी आने पर मुझे कौन लाकर देगा?

पहरेदार : राजा के बहुत-सारे डाकिये जो हैं--देखा नहीं तुमने, वे अपने सीने पर सोने के तमगे लटकाये कैसे घूमते फिरते हैं?

अमल : अच्छा, वे कहाँ घूमा करते हैं?

पहरेदार : वे तो घर-घर, देश-देश घूमते रहते हैं—
इसके सवाल सुन-सुनकर तो मुझे हँसी आती है।

अमल : बड़ा होकर मैं राजा का डाकिया बनूँगा।

पहरेदार : हा हा हा हा, डाकिया! यह तो बड़ा भारी काम है। धूप हो, बारिश हो, ग़रीब हो, अमीर हो, सभी के घर जा-जाकर चिट्ठियाँ बाँटते फिरना। यह बड़ा जबर काम है। भैया!

अमल : तुम हँसते क्यों हो? यही काम मुझे सबसे अच्छा लगता है—नहीं, नहीं, तुम्हारा काम भी बहुत अच्छा है। दोपहर में जब धूप झाँय-झाँय करती होती है, तब तुम्हारा घंटा बज उठता है--टन् टन् टन्। और किसी दिन अचानक रात को जाग उठता हूँ तो देखता हूँ कि घर का दीपक बुझ गया है और बाहर के घने अँधेरे मे घंटा बज रहा है—टन् टन् टन्।

पहरेदार : अरे, वह चौधरी आ रहा है—अब मैं भागूँ! वह अगर मुझे तुम्हारे साथ बाते करते देख लेगा तो मुश्किल होगी।

अमल : कहाँ है चौधरी? कहाँ है? कहाँ?

पहरेदार : वह रहा, बहुत दूर! उसके माथे पर गोल पत्तों का एक बड़ा-सा छाता है।

अमल : उसे शायद राजा ने चौधरी बनाया है?

पहरेदार : अरे नहीं, वह खुद ही चौधुराई करता फिरता है। जो उसकी नहीं मानता वह उसके पीछे हाथ धोकर इस तरह पड़ जाता है कि सभी उससे डरते हैं। सबके साथ दुश्मनी करके ही वह अपना धन्धा चलाता है। तो अब चलूँ, बहुत-सारा काम पड़ा हुआ है। कल सवेरे मैं फिर आऊँगा, तब तुम्हें शहर की बहुत सारी

खबरें सुना जाऊँगा।

(प्रस्थान)

अमल : अगर रोज मुझे राजा की एक चिट्ठी मिला करे तो बड़ा मज़ा रहे—इसी खिड़की के पास बैठा-बैठा मैं पढ़ा करूँ—लेकिन मैं तो पढ़ ही नहीं सकता। कौन मुझे चिट्ठियाँ पढ़कर सुनाया करेगा? बुआ तो सिर्फ़ रामायण पढ़ती हैं। वे क्या राजा की चिट्ठी पढ़ सकेंगी? अगर उन्हें कोई न भी पढ़ पायेगा तो सारी चिट्ठियाँ इकट्ठी करके रख लूँगा, बड़ा होने पर पढ़ूँगा। लेकिन अगर डाकिया मुझे पहचान ही न पाया तो?

चौधरीजी, ओ चौधरीजी, एक बात सुन जाओ न!

(चौधरी का प्रवेश)

चौधरी : कौन है रे! राह चलते मुझको इस तरह पुकार रहा है। कहाँ का बन्दर है यह!

अमल : तुम चौधरी हो न, तुमको तो सभी जानते-मानते हैं।

चौधरी : (खुश होकर) हाँ, हाँ, मानते क्यों नहीं? खूब मानते हैं।

अमल : राजा का डाकिया भी तुम्हारी बात मानता है?

चौधरी : न मानेगा तो जान बचेगी उसकी! मजाल है!

अमल : अच्छा चौधरीजी, तो तुम डाकिये से कह देना, मेरा ही नाम अमल है—मैं इस खिड़की के पास ही बैठा रहता हूँ।

चौधरी : क्यों भला, बताओ तो सही?

अमल : मेरे नाम की अगर कोई चिट्ठी आये—

चौधरी : तुम्हारे नाम की चिट्ठी? तुम्हें भला कौन चिट्ठी लिखेगा?

अमल : राजा अगर चिट्ठी लिखें तो—

चौधरी : हा हा हा हा! यह लड़का तो कम नहीं जान पड़ता। हा हा हा हा! राजा तुमको चिट्ठी लिखेगा? क्यों न लिखेगा भला? तुम तो उसके गहरे दोस्त ठहरे! मुझे खबर मिली है कि कई दिनों से तुमसे भेंट न होने के कारण जा रहा है बेचारा! अब ज़्यादा देर नहीं है, चिट्ठी आज आयी कि कल आयी।

अमल : चौधरीजी, तुम इस तरह की बातें क्यों बोलते हो? तुम क्या मुझसे नाराज़ हो?

चौधरी : लो, भला मैं तुम पर नाराज़ क्यों होऊँगा? इतनी हिम्मत है मेरी? राजा के साथ तुम्हारी चिट्ठी-पत्री ठहरी।

देखता हूँ, माधवदत्त का दिमाग़ बहुत चढ़ गया है। दो पैसे जमा क्या कर लिये हैं कि घर में राजा-बादशाह के सिवा दूसरी बात ही नहीं होती। ठहरो, मज़ा चखाता हूँ उसको।

अच्छी बात है लड़के, मैं जल्दी ही वह बन्दोबस्त किये देता हूँ, जिससे राजा की चिट्ठी तुम्हारे घर आ सके।

अमल : नहीं, नहीं, तुम्हें कुछ नहीं करना होगा।

चौधरी : क्यों भला? तुम्हारी ख़बर मैं राजा को दे दूँगा—तब वे ज्यादा देर न कर

पायँगे—तुम लोगों की खबर लेने के लिए तुरन्त ही प्यादा दौड़ा देंगे। ना, माधवदत्त की हिम्मत तो कम नहीं है। एक बार राजा के कानों में ये बातें पड़ें तो वह दुरुस्त हो जाय।

(प्रस्थान)

अमल : कौन हो तुम? पायल झनकाती चली जा रही हो? ज़रा रुको न भाई!

(बालिका का प्रवेश)

बालिका : मुझे रुकने की फ़ुरसत कहाँ है? वक्त जो बीता जा रहा है!

अमल : असल में तुम रुकना ही नहीं चाहतीं—मैं भी अब यहाँ बैठा नहीं रहना चाहता।

बालिका : तुम्हें देखकर मुझे भोर के तारे की याद हो आयी है—बताओ तो सही, तुम्हें हुआ क्या है?

अमल : क्या हुआ है यह तो मैं नहीं जानता—बस, वैद्यजी ने मुझे बाहर निकलने को मना कर रखा है।

बालिका : तब फिर तुम हरगिज़ बाहर न निकलना—वैद्य की बात तो माननी ही चाहिए, उत्पात नहीं करना चाहिए, नहीं तो लोग तुम्हें शरारती कहेंगे। बाहर की ओर देखकर तुम्हारा मन छटपटा रहा है न—मैं बल्कि तुम्हारा यह आधा दरवाज़ा बन्द ही कर दूँ।

अमल : नहीं, नहीं, उसे बन्द न करो! यहाँ तो सब-कुछ बन्द ही है—सिर्फ़ यही खुला हुआ है। तुम कौन हो, बताओ न? मैं तो तुमको नहीं पहचानता।

बालिका : मैं सुधा हूँ।

अमल : सुधा?

सुधा : जानते नहीं? मैं यहाँ की मालिन की बेटी हूँ।

अमल : क्या करती हो तुम?

सुधा : डाली भर-भरकर फूल चुन लाती हूँ और उनकी माला गूँथती हूँ। अभी मैं फूल चुनने जा रही हूँ।

अमल : फूल चुनने जा रही हो? शायद इसी से तुम्हारे दोनों पैर इतने थिरक उठे हैं कि तुम चलती हो, तो तुम्हारे पायल बज उठते हैं—छम्-छम्-छम्। अगर मैं तुम्हारे साथ जा सकता तो बहुत ऊँची डाल के, न दिखनेवाले फूल भी तुम्हारे लिए झाड़ देता।

सुधा : क्यों नहीं? जैसे फूलों के बारे में मुझसे ज्यादा तुम्हीं जानते हो!

अमल : जानता क्यों नहीं? बेशक जानता हूँ। मैं सात भाइयों वाली चम्पा का हाल जानता हूँ। मुझे लगता है कि लोग अगर मुझे छोड़ दें तो मैं वहाँ तक जा सकता हूँ, खूब घने जंगल में वहाँ खोजकर भी राह नहीं पा सकती। पतली डाल की फुनगी पर, जहाँ फुलमुनिया चिड़िया बैठी-बैठी झूला झूलती रहती है, मैं चम्पा बनकर खिल सकता हूँ—तुम मेरी पारुल दीदी बनोगी?

सुधा : तुम्हारी भी क्या अकल है! मैं पारुल दीदी कैसे बनूँगी? मैं तो सुधा हूँ—शशि मालिन की बेटी। मुझको रोज़ इत्ती-सारी मालाएँ गूँथनी पड़ती हैं... लेकिन मैं अगर तुम्हारी तरह इस जगह बैठी रह पाती तो कैसा मज़ा आता!

अमल : तब तुम दिन-भर क्या करतीं?

सुधा : मेरी एक बनिया-बहू गुड़िया है, उसका ब्याह करती। मेरी मैनी बिल्ली है, उससे—लेकिन नहीं, मुझे देर हो रही है, देर होने पर फिर फूल नहीं मिलेंगे।

अमल : मेरे साथ कुछ और बातचीत करो न, मुझे बड़ा अच्छा लगता है।

सुधा : भले लड़के की तरह चुपचाप यहीं बैठे रहो! मैं फूल चुनकर लौटूँगी तो फिर तुमसे गप-शप करती जाऊँगी।

अमल : तुम क्या मुझे एक फूल भी देती जाओगी?

सुधा : फूल यों ही कैसे दूँगी? उसका दाम भी तो दे देना होगा न!

अमल : मैं जब बड़ा हो जाऊँगा, तब दाम दे दूँगा। मैं जब उस झरने को पार करके काम खोजने जाऊँगा, तब तुमको दाम देता जाऊँगा।

सुधा : अच्छा यही सही।

अमल : लेकिन तुम फूल चुनकर आओगी न?

सुधा : आऊँगी।

अमल : आओगी न?

सुधा : हाँ, आऊँगी।

अमल : मुझे भूल तो नहीं जाओगी? मेरा नाम है अमल। तुम्हें याद रहेगा?

सुधा : हाँ, मैं भूलूँगी नहीं। देखना, मुझे याद रहेगा।

(प्रस्थान)

(बच्चों के झुंड का प्रवेश)

अमल : अरे भाई, तुम सब कहाँ जा रहे हो? एक बार थोड़ी देर के लिए ही सही, यहाँ रुको न!

लड़के : हम लोग खेलने जा रहे हैं।

अमल : तुम लोग कौन-सा खेल खेलोगे?

लड़के : हम लोग खेती का खेल खेलेंगे।

पहला : (लाठी दिखाकर) यह रहा हमारा हल।

दूसरा : हम दोनों दो बैल हैं।

अमल : तुम लोग दिन-भर खेलोगे?

लड़के : हाँ, दिन-भर।

अमल : उसके बाद शाम के वक्त, नदी के किनारे-किनारे घर लौट जाओगे?

लड़के : हाँ, हम शाम को लौटेंगे।

अमल : तो मेरे इस घर के सामने से ही लौटना भाई!

लड़के : तुम भी बाहर आ जाओ न, खेलो चलकर।

अमल : वैद्य ने मुझे बाहर निकलने की मनाही कर रखी है।

लड़के : वैद्य? वैद्य की मनाही शायद तुम मानते हो? चलो भाई, चलो, हम लोगों को देर हो रही है।

अमल : नहीं भाई, जाने से पहले तुम लोग थोड़ी देर मेरी इस खिड़की के सामने खेलो न, मैं भी देखूँ ज़रा!

लड़के : यहाँ हम किस चीज़ से खेलेंगे?

अमल : यह जो इतने सारे मेरे खिलौने रखे हैं, इन्हें तुम्हीं लोग ले लो भाई! मुझे घर के अन्दर अकेले खेलना अच्छा नहीं लगता—ये सब यों ही धूल में बिखरे पड़े रहते हैं—मेरे किसी काम नहीं आते।

लड़के : वाह वा, वाह! कैसे अनूठे खिलौने हैं! यह तो जहाज़ है, और यह है झुनकुट बुढ़िया। देखते हो भाई, कैसा सुन्दर सिपाही है! ये सब खिलौने तुम हम लोगों को दे रहे हो? तुम्हें दुःख नहीं होगा?

अमल : नहीं, मुझे ज़रा भी दुःख नहीं होगा। मैंने सब खिलौने तुम लोगों को दे दिये।

लड़के : लेकिन फिर हम लोग इन्हें वापस नहीं देंगे।

अमल : नहीं, तुम्हें लौटाना नहीं होगा।

लड़के : कोई तुम पर नाराज़ तो नहीं होगा?

अमल : नहीं, कोई नाराज़ नहीं होगा। लेकिन तुम लोग रोज़ सवेरे ये खिलौने लेकर मेरे इस दरवाज़े के सामने थोड़ी देर खेलना। फिर जब ये पुराने हो जायेंगे, मैं तुम लोगों के लिए नये मँगा दूँगा।

लड़के : अच्छा भाई, हम लोग रोज़ यहाँ खेलने आ जाया करेंगे। अब सिपाहियों को यहाँ सजाओ तो—हम लोग लड़ाई-लड़ाई खेलेंगे। लेकिन बन्दूक़ तो है ही नहीं। अच्छा यह जो एक मोटा-सरकंडा पड़ा है, उसी को तोड़-ताड़कर हम लोग बन्दूक़ बना लें।

लेकिन भई, तुम तो सोये जा रहे हो।

अमल : हाँ, मुझे ज़ोरों की नींद आ रही है। पता नहीं क्यों, मुझे रह-रहकर नींद आ जाती है। मै बहुत देर से बैठा हुआ हूँ—अब मुझसे बैठा नहीं जाता—मेरी पीठ में दर्द हो रहा है।

लड़के : अभी तो सिर्फ़ एक पहर ही दिन चढ़ा है—अभी से ही तुम्हें कैसे नींद आने लगी? वह सुनो, एक पहर का घण्टा बज रहा है।

अमल : हाँ, वह क्या बज रहा है, टन् टन् टन्। वह मुझे सो जाने के लिए पुकार रहा है।

लड़के : तो हम लोग भी चलें अब—कल सवेरे आ जायँगे।

अमल : जाने से पहले मैं तुम लोगों से एक बात पूछ लूँ भाई! तुम लोग तो बाहर रहते हो, तुम लोग क्या राजा के उस डाकघर के डाकियों को पहचानते हो?

लड़के : हाँ-हाँ पहचानते क्यों नहीं? खूब पहचानते हैं।

अमल : वे कौन हैं? उनका नाम क्या है?

लड़के : एक है बादल डाकिया, एक दूसरा है शरत्—और भी बहुत-से हैं।

अमल : अच्छा अगर मेरे नाम की चिट्ठी आवे तो क्या वे मुझे पहचान सकेंगे?

लड़के : क्यों नहीं पहचान सकेंगे? चिट्ठी पर तुम्हारा नाम होगा तो वे तुम्हें ठीक पहचान लेंगे।

अमल : कल सवेरे तुम लोग आओगे तो उनमें से किसी एक को बुलाकर मेरी पहचान करा देना न!

लड़के : अच्छी बात है, ऐसा ही होगा।

(अमल चारपाई पर पड़ा है)

अमल : फूफाजी, आज मैं अपनी उस खिड़की पर भी न जा सकूँगा? वैद्यजी मना कर गये हैं?

माधवदत्त : हाँ बेटा, रोज़-रोज़ वहाँ बैठने से ही तो तुम्हारी बीमारी बढ़ गयी है।

अमल : नहीं फूफाजी, नहीं—अपनी बीमारी के बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता लेकिन वहाँ रहने से मैं खूब अच्छा रहता हूँ।

माधवदत्त : वहाँ बैठे-बैठे तुमने इस शहर के तमाम बच्चों-बूढ़ों से दोस्ती गाँठ ली है—मेरे दरवाज़े पर रोज़ जैसे एक मेला-सा लगा रहता है—इसमे क्या कहीं शरीर टिक सकता है? देखो तो सही, आज तुम्हारा चेहरा कैसा फीका पड़ गया है?

अमल : फूफाजी, मेरा वह फक़ीर आज मुझे उस खिड़की पर न देखकर शायद लौट जायगा।

माधवदत्त : तुम्हारा वह फक़ीर है कौन?

अमल : वही, जो मेरे पास आकर जाने कितने देश-विदेशों की बातें बता जाता है। मुझे उसकी बातें बहुत अच्छी लगती हैं।

माधवदत्त : कहाँ, मैं तो किसी फक़ीर को नहीं जानता।

अमल : उसके आने का ठीक यही वक्त है। तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ फूफाजी, तुम उससे कह आओ कि जरा देर वह मेरे कमरे मे आकर बैठे।

(फकीर के वेश मे दादा जी का प्रवेश)

अमल : यही तो, यही तो है मेरा फकीर? आओ, आओ, आकर मेरे बिछौने पर बैठो!

माधवदत्त : यह क्या! यह तो—

दादा : (आँख से इशारा करते हुए) मैं फक़ीर हूँ।

माधवदत्त : मैं तो यही नहीं समझ पाता कि तुम क्या नहीं हो।

अमल : इस बार तुम कहाँ गये थे फक़ीर?

दादा : मैं क्रौंच द्वीप में गया था। अभी-अभी मैं वहीं से चला आ रहा हूँ।

माधवदत्त : क्रौंच द्वीप से?

दादा : तुम्हें इतना अचरज क्यों होता है? तुम अपने ही जैसा मुझे तो समझते हो क्या? मेरा तो कहीं जाने में कोई खर्च भी नहीं होता। मैं अपनी खुशी से चाहे जहाँ जा सकता हूँ।

अमल : (तालियाँ बजाकर) तब तो तुम्हारी बड़ी मौज है! तुमने कहा था न, जब मैं अच्छा हो जाऊँगा, तुम मुझे अपना चेला बना लोगे। याद है फ़क़ीर?

दादा : खूब याद है! मैं तुम्हें घूमने-फिरने के ऐसे मंत्र सिखा दूँगा कि समुद्र में, पहाड़ पर, वन में, कहीं तुम्हें रोक-टोक नहीं रहेगी।

माधवदत्त : पागलों की-सी यह सब क्या बातें करते हो तुम लोग?

दादा : बेटा अमल, मैं पहाड़-पर्वत-समुद्र से नहीं डरता, लेकिन तुम्हारे इस फूफा के साथ अगर कहीं वैद्यजी भी आ जुटे तब तो मेरे मंत्र को भी हार माननी पड़ेगी।

अमल : नहीं-नहीं, फूफाजी, तुम वैद्यजी से कुछ न कहना। अब मैं यहीं लेटा रहूँगा, कुछ नहीं करूँगा, लेकिन जिस दिन मैं अच्छा होऊँगा उसी दिन फक़ीर से मंत्र लेकर चला जाऊँगा—तब नदी-पहाड़-समुद्र कोई मुझे पकड़कर नहीं रख सकेगा।

माधवदत्त : छिः बेटा, इस तरह सिर्फ़ जाने-जाने की रट नहीं लगाया करते। ऐसी बाते सुनकर मेरा मन जाने कैसा हो जाता है।

अमल : क्रौंच द्वीप कैसा द्वीप है फ़कीर, मुझे बताओ न ?

दादा : वह बड़े अचम्भे की जगह है। वह चिड़ियों का देश है—इन्सान तो वहाँ है नहीं। और वे पक्षी भी न तो बोलते हैं, न चलते हैं—सिर्फ़ गाते हैं, और उड़ते हैं।

अमल : वाह, कैसा अजीब देश है! समुद्र है न?

दादा : समुद्र के किनारे तो है ही।

अमल : वहाँ के सारे पेड़ नीले रंग के है?

दादा : नीले पहाड़ों पर ही तो उनका बसेरा है। शाम को जब उन पहाड़ों पर अस्त होते हुए सूरज की रोशनी पड़ती है और झुंड-के-झुंड हरे रंग के पक्षी अपने बसेरों मे लौटने लगते हैं... उस समय आसमान के रंग से, पक्षियों के रंग से, पहाड़ के रंग से एक अजीब समा बँध जाता है।

अमल : उन पहाड़ों पर झरना भी है?

दादा : लो, झरने के बिना भी कोई बात नहीं बनती? ऐसा लगता है, जैसे खास हीरे को ही गलाकर ढाल दिया गया हो। और उन झरनों का नाच कैसा है! रोड़ों को ठन-टुन-ठन-टुन बजाते हुए, लगातार कल-कल झर-झर करते, वह समुद्र मे जाकर कूद पड़ते है। किसी वैद्य के बाप की भी हिम्मत नहीं है कि पल-भर के लिए भी उसे कहीं रोक रखे। चिड़ियों ने अगर मुझे एक निहायत मामूली आदमी समझकर जाति से बाहर न कर दिया होता तो मै उन्हीं झरनों

के पास, उनके हज़ारों बसेरों के एक किनारे, अप्ना घोंसला बनाकर, समुद्र की लहरें देखता-देखता ज़िंदगी के सारे दिन बिता देता।

अमल : अगर मैं भी चिड़िया होता तो—

दादा : तब तो बड़ी मुश्किल होती। सुना है, तुमने दही वाले से कह रखा है कि बड़े होकर तुम भी दही बेचोगे; लेकिन चिड़ियों के बीच तो तुम्हारा दही का रोज़गार चल न पाता, बल्कि उसमें तुम्हारा कुछ नुकसान ही होता।

माधवदत्त : अब तो हद हो गयी! लगता है तुम लोग मुझे भी पागल बना दोगे। मैं तो चला अब।

अमल : फूफाजी, मेरा दही वाला आकर लौट तो नहीं गया?

माधवदत्त : लौट क्यों न जायगा? तुम्हारे मनचाहे फक़ीर का हुक्म बजाकर क्रौंच द्वीप की चिड़ियों के बसेरों में उड़ते फिरने से तो उसका पेट भरेगा नहीं। हाँ, वह तुम्हारे लिए एक कुल्हिया दही रखकर गया है। कह गया है, गाँव में उसकी भानजी का विवाह है—इसीसे वह कलमी टोला में शहनाई का बयाना देने जा रहा है। उसे ज़रा-सी भी फ़ुरसत नहीं है।

अमल : उसने तो कहा था, वह मेरी नन्ही-सी दुल्हन बनेगी... उसकी नाक में बुलाक और पहनावे मे लाल डोरिया साड़ी होगी। वह सवेरे-सवेरे अपने हाथ से काली गाय दुहकर, मिट्टी के नये बरतन में, मुझे फेन-सहित दूध पीने को देगी, और शाम के वक्त गोशाला में दिया जलाकर मेरे पास आ बैठेगी और सात भाइयों वाली चम्पा की कहानी सुनाया करेगी।

दादा · वाह वाह, बहू तो खासी है! मैं तो फक़ीर हूँ, लेकिन फिर भी मुझे कुछ लालच हो रहा है। मगर घबराने की कोई बात नहीं है बेटा, इस बार उसका ब्याह हो जाने दो। मैं कहता हूँ, तुम्हें ज़रूरत होगी तो कभी उसके घर भानजियों का अकाल न पड़ेगा।

माधवदत्त : चलो भी, अब तो हद हो गयी।

(प्रस्थान)

अमल : फकीर, फूफाजी तो चले गये... अब मुझे चुपचाप बतला दो न, डाकघर में क्या मेरे नाम से राजा की कोई चिट्ठी आयी है?

दादा : सुना तो है कि उनकी चिट्ठी रवाना हो चुकी है लेकिन वह अभी रास्ते में ही है।

अमल : रास्ते मे? किस रास्ते में? उसी रास्ते में, जो बारिश के बाद, आसमान साफ़ हो जाने पर, बहुत दूर दीख पड़ता है? उसी जंगल के रास्ते में?

दादा : जान पड़ता है, तुम सब-कुछ जानते हो उसी रास्ते में तो है ही।

अमल : मैं सब जानता हूँ फक़ीर!

दादा : वही तो देख रहा हूँ। लेकिन तुमने जाना कैसे?

अमल : यह मैं नहीं जानता। ऐसा लगता है, मानो मैं आँखों के सामने सब-कुछ देख पाता हूँ... लगता है जैसे उसे मैंने बहुत बार देखा है, लेकिन कितने दिन देखा

है, यह याद नहीं आता। मैं देख रहा हूँ कि राजा का डाकिया अकेला पहाड़ से उतरता आ रहा है—उसके बाएँ हाथ में लालटेन है, कंधे पर चिट्ठियों का थैला है। कितने दिन, कितनी रातों से वह उतरता ही चला आ रहा है। पहाड़ की तलहटी में, जहाँ झरने का रास्ता खत्म हो गया है, टेढ़ी नदी की राह पकड़कर वह चला आ रहा है। नदी के किनारे जुआरी का जो खेत है—उसकी सँकरी पगडंडी के बीच से वह लगातार चला आ रहा है—उसके बाद ईख के खेत हैं, उन खेतों के पास से ही ऊँची पगडंडी चली गयी है। उसी पगडंडी से वह लगातार चला आ रहा है। रात-दिन एक करके चला आ रहा है। खेतों में झिल्लियाँ बोल रही हैं। नदी के किनारे एक भी आदमी नहीं है, सिर्फ़ कादाखोंचा[1] पक्षी अपनी पूँछ डुलाता हुआ घूम रहा है मुझे सब-कुछ दिखाई पड़ रहा है फ़क़ीर! ज्यों-ज्यों उसे आता हुआ देखता हूँ मेरे मन की खुशी उमड़-उमड़ पड़ती है।

दादा : ऐसी नयी आँखें तो मेरी नहीं हैं बेटा, फिर भी तुम्हारे देखने के साथ-साथ मैं भी उसे देख पा रहा हूँ।

अमल : अच्छा फ़क़ीर, जिनका यह डाकघर है, उन राजा को तुम जानते हो भला?

दादा : जानता क्यों नहीं? मैं तो रोज़ उनके पास भीख लेने जाता हूँ।

अमल : तब तो ठीक है। अच्छा हो जाने पर मैं भी उनके पास भीख लेने जाया करूँगा। मैं जा नहीं सकूँगा?

दादा : बेटा, तुम्हें तो भीख लेने की जरूरत ही न पड़ेगी। जो देना होगा, वह वे बिना माँगे दे देंगे।

अमल : नहीं-नहीं, मैं उनके दरवाज़े के सामने, रास्ते के किनारे खड़ा होकर 'जय हो महाराज' कहकर भीख माँगूँगा... मैं खंजड़ी बजाकर नाचूँगा—ओह, बड़ा मज़ा आयगा! है न... फ़क़ीर?

दादा : हाँ, मज़ा तो आयगा। तुम्हें अपने साथ ले जाने पर मुझे भर-पेट भीख मिलेगी। लेकिन भीख में तुम माँगोगे क्या?

अमल : मैं कहूँगा, तुम मुझे अपना डाकिया बना लो। मै भी इसी तरह हाथ में लालटेन लेकर घर-घर तुम्हारी चिट्ठियाँ बाँटता फिरूँगा। जानते हो फ़क़ीर, एक आदमी ने मुझसे कहा है, मैं अच्छा हो जाऊँगा तो वह मुझे भीख माँगना सिखा देगा—उसके साथ, जहाँ जी चाहेगा, मैं भीख माँगता फिरूँगा।

दादा : लेकिन वह कौन, यह तो बताओ?

अमल : छदाम?

दादा : कौन छदाम?

अमल : वही अन्धा और लँगड़ा भिखारी। वह रोज मेरी खिड़की के पास आता है।

१ बंगाल में जलाशयों के निकट पाया जानेवाला बगुले की तरह का एक पक्षी, जिसे कीचड़ गैंदना बहुत पसन्द है।

ठीक मेरे ही जैसा एक लड़का उसकी पहियों वाली गाड़ी पर बैठाकर, गाड़ी को ठेलता हुआ घुमाता रहता है । मैंने उससे कहा है कि अच्छा हो जाने पर मैं भी उसे ठेलकर ले जाया करूँगा ।

दादा : फिर तो यह बड़े मज़े की बात होगी!

अमल : उसी ने मुझसे कहा है कि वह मुझे भी भीख माँगने का ढंग सिखा देगा। मैं जब फूफाजी से उसे भीख देने को कहता हूँ तो वे कहते हैं कि वह बनावटी अन्धा है, बनावटी लँगड़ा है। अच्छा, मान लो कि वह बनावटी अन्धा है, लेकिन यह तो ठीक है न, कि वह आँखों से कुछ देख नहीं पाता?

दादा : ठीक कहते हो बेटा, उसमें सचाई इतनी तो है कि वह आँखों से देख नहीं पाता। अब तुम उसे अन्धा कहो, चाहे मत कहो। लेकिन जब उसे भीख नहीं मिलती तो वह तुम्हारे पास बैठा इसलिए रहता है?

अमल : मैं उसे बहुत सारी बातें बताया करता हूँ। वह बेचारा देख तो सकता नहीं। इसी से मैं देश-देश की वे सब बातें उसे सुनाया करता हूँ, जो तुम मुझे बताते हो। उस दिन तुमने जो उस हल्के देश की बात बतलाई थी न, जहाँ किसी चीज़ का कोई वज़न नहीं होता, जहाँ ज़रा-सा उछलने से ही पहाड़ के पार जाया जा सकता है, उसकी बात सुनकर वह बहुत खुश हो गया था.... अच्छा फ़क़ीर, उस देश में किस ओर से जाया जा सकता है?

दादा : भीतर की ओर से एक रास्ता है, उसे ढूँढ़ पाना शायद मुश्किल है।

अमल : वह बेचारा तो अन्धा है। हो सकता है, वह देख ही न पाए—उसे तो सिर्फ़ भीख ही माँगते फिरना होगा। इसी बात पर वह दुखी हो रहा है। मैंने उससे कहा, भीख माँगने के सिलसिले में तुमको जो घूमने-फिरने का इतना मौक़ा मिल जाता है, सबको उतना कहाँ मिल पाता है?

दादा : बेटा, घर बैठे रहने में भी इतना दुःख किस बात का है?

अमल : नहीं, नहीं, दुःख नहीं है। पहले-पहल जब मुझे घर में बिठा रखा था, तब मुझे लगता था, मानो दिन बीतता ही नहीं। अपने राजा का डाकघर देखकर अब तो मुझे अच्छा ही लगता है--इस कमरे में बैठे-बैठे ही अच्छा लगता है । एक दिन मेरी चिट्ठी आ पहुँचेगी, इस बात को याद करके ही मैं बड़ी खुशी से चुपचाप बैठा रह सकता हूँ। लेकिन राजा की चिट्ठी में क्या लिखा होगा, यह तो मैं जानता ही नहीं।

दादा : वह न भी जानो तो क्या है? चिट्ठी पर तुम्हारा नाम तो लिखा ही रहेगा, बस हुआ।

(माधवदत्त का प्रवेश)

माधवदत्त : तुम दोनों ने मिलकर यह क्या हंगामा खड़ा कर रखा है?

दादा : क्यों, क्या हुआ?

माधवदत्त : सुना है, तुम लोगों ने यह अफ़वाह फैला रखी है कि तुम्हीं लोगों को चिट्ठी

लिखने के लिए राजा ने यह डाकघर खोला है।

दादा : अगर ऐसा हो भी तो क्या हुआ?

माधवदत्त : अपने पंचानन चौधरी ने गुमनाम चिट्ठी लिखकर यह बात राजा तक पहुँचा दी है।

दादा : राजा के पास तो सभी बातें पहुँचती ह, यह क्या हम नहीं जानते?

माधवदत्त : तब सँभलकर बातें क्यों नहीं करते? राजे-रजवाड़ों का नाम लेकर इस तरह की जैसी-तैसी बातें जुबान पर क्यों लाते हो? तुम लोगों ने तो मुझे बड़ी मुश्किल में डाल दिया है।

अमल : फक़ीर, राजा क्या इस बात से नाराज़ होंगे?

दादा : कहने से ही हो गया न कि नाराज़ होंगे? क्यों नाराज होंगे भला? मेरे-जैसे फक़ीर और तुम्हारे-जैसे लड़के पर नाराज़ होकर कैसे वे अपना राज-पाट चलाते हैं, यह देख लेंगे हम।

अमल : देखो फक़ीर, आज सवेरे से ही रह-हकर मेरी आँखों में अँधेरा उतरता आ रहा है। जान पड़ता है, जैसे सब सपना है। जो चाहता है कि चुपचाप पड़ा रहूँ। अब बोलने कीं इच्छा नहीं होती... लेकिन राजा की चिट्ठी नहीं आयगी क्या? अभी अगर यह सारा घर ही गाय़ब हो जाय, अगर—

दादा : (अमल को पंखा झलते हुए) चिट्ठी ज़रूर आयगी, आज ही आयगी।

(वैद्यजी का प्रवेश)

वैद्य : आज कैसा लग रहा है?

अमल : वैद्यंजी, आज तो बहुत अच्छा जान पड़ता है। लगता है, मानो सारा दर्द मिट गया हो।

वैद्य : (माधवत्त से, अलग) यह हँसी तो अच्छी नहीं जान पड़ती। इसने यह जो कहा कि बहुत अच्छा लग रहा है, यही खराब लक्षण है। हमारे चक्रधर ने कहा...

माधवदत्त : दुहाई है वैद्यजी, चक्रधर दत्त की बात रहने दीजिए। यही बताइए कि अब बात क्या है?

वैद्य : जान पड़ता है कि अब इसे पकड़कर रखा न जा सकेगा। मैं तो मना कर गया था, लेकिन जान पड़ता है, इसे बाहर की हवा लग ही गयी है।

माधवदत्त : नहीं वैद्यजी, मैंने इसे खूब अच्छी तरह घेर-सँभालकर रखा है। मैंने इसे बाहर नहीं जाने दिया—दरवाज़े तो अक्सर ही बन्द रखता हूँ।

वैद्य : अचानक आज न जाने कैसी हवा चल रही है—मैं खुद देख आया हूँ तुम्हारे सदर दरवाज़े के भीतर से हू-हू करके हवा बह रही है। यह तो बिलकुल ही अच्छा नहीं है। ताला-चाबी लगाकर उस दरवाज़े को खूब अच्छी तरह बंद कर दो। न हो तो दो-तीन दिन तुम्हारे यहाँ लोगों का आना-जाना बंद ही रहे। फिर भी अगर कोई आ ही जाय तो उसके लिए खिड़की का रास्ता तो

है ही। वह, जो उस खिड़की से डूबते हुए सूरज की रोशनी आ रही है, उसे बंद कर दो। उससे रोगी की नींद उचट जाती है।

माधवदत्त : अमल ने आँखें बन्द कर रखी हैं, उसका मुँह देखकर ऐसा लगता है, मानो वैद्यजी, जो अपना नहीं था, उसे लाकर मैंने घर में रखा, उसे प्यार किया, लेकिन जान पड़ता है कि अब उसे नहीं रख पाऊँगा।

वैद्य : वह क्या, तुम्हारे घर में तो चौधरी आ रहा है! यह कैसा हंगामा है? मैं तो चलूँ भाई! लेकिन तुम जाकर जरा अच्छी तरह दरवाज़ा बन्द कर दो। मैं घर जाते ही एक ज़हर-गोली भिजवा देता हूँ, उसे खिलाकर देख। अगर बचना होगा तो उसी से इसे बाँधकर रख सकोगे।

(माधवदत्त और वैद्य का प्रस्थान)

(चौधरी का प्रवेश)

चौधरी : क्यों रे लड़के!

दादा : (झटपट उठकर) अरे, चुप, चुप!

अमल : नहीं फक़ीर, तुम समझते हो कि मैं सो रहा हूँ, लेकिन मैं सोया नहीं हूँ। मैं सब सुन रहा हूँ। मैं जैसे बहुत दूर की बात भी सुन पा रहा हूँ। मुझे लगता है, मानो मेरे बाबूजी और मेरी माँ मेरे सिरहाने बातें कर रहे हैं।

(माधवदत्त का प्रवेश)

चौधरी : अरे माधवदत्त, आजकल तो बहुत बड़े-बड़े लोगों से तुम्हारी जान-पहचान हो गयी है।

माधवदत्त : यह क्या कहते हैं चौधरी जी! ऐसा ठट्ठा मत कीजिए। हम लोग तो बहुत ही मामूली आदमी हैं।

चौधरी : लेकिन तुम्हारा यह लड़का तो राजा की चिट्ठी का इंतज़ार कर रहा है।

माधवदत्त : वह तो बच्चा है, पागल है, भला उसकी बात का भी कोई खयाल करता है?

चौधरी : नहीं, नहीं, इसमें अचरज की क्या बात है! तुम्हारे घर जैसा बेहतर घर राजा और पायेंगे कहाँ? देखते नहीं, इसी से ठीक तुम्हारी खिड़की के सामने ही राजा का नया डाकघर खुला है।
अरे लड़के, तेरे नाम से यह राजा की चिट्ठी आयी है।

अमल : (चौंककर) सच?

चौधरी : सच नहीं तो और क्या? तुम्हारे साथ राजा का दोस्ताना जो है!
(बिना लिखावट का एक सादा काग़ज़ देते हुए) हा हा हा हा, यह रही उनकी चिट्ठी।

अमल : मुझसे ठट्ठा न करो चौधरीजी!
फक़ीर, फक़ीर, तुम बताओ न, क्या सचमुच यही उनकी चिट्ठी है?

दादा : हाँ बेटा, मैं फक़ीर होकर कहता हूँ, सचमुच यह उन्हीं की चिट्ठी है।

अमल : लेकिन मैं तो इसमें कुछ नहीं देख पाता—मेरी आँखों में आज सब कुछ

सफ़ेद दीख पड़ता है। चौधरीजी, बता दो न, इस चिट्ठी में क्या लिखा है?

चौधरी : राजा ने लिखा है, मैं आज या कल में ही तुम्हारे घर आ रहा हूँ। मेरे लिए तुम लोग चना-चबैना का इन्तजाम कर रखना। राजमहल अब पल-भर के लिए भी मुझे अच्छा नहीं लगता। हा-हा-हा-हा?

माधवदत्त : (हाथ जोड़कर) चौधरीजी, दुहाई है आपको, इन बातों को लेकर हँसी-ठट्ठा न करें।

दादा : हँसी-ठट्ठा। कैसी हँसी-ठट्ठा? इनकी मजाल है कि हँसी-ठट्ठा कर सकें!

माधवदत्त : अरे दादाजी, तुम भी पागल हो गये हो क्या?

दादा : हाँ, मैं पागल हो गया हूँ। इसी से मैं आज इस सादे काग़ज़ पर अक्षर देख पा रहा हूँ। राजा ने लिखा है, वे खुद अमल को देखने के लिए आ रहे हैं। वे अपने साथ राजवैद्य को भी ले आयँगे।

अमल : सुनो फ़क़ीर, वह सुनो? वह उनके बाजे बज रहे हैं! तुम सुन नहीं पाते।

चौधरी : हा-हा-हा-हा, थोड़ा और पागल हुए बिना वे न सुन पायँगे।

अमल : चौधरीजी, मैं समझता था कि तुम मुझसे नाराज हो, तुम मुझे प्यार नहीं करते। तुम सचमुच राजा की चिट्ठी ले आओगे, यह मैंने कभी नहीं सोचा था। लाओ, मुझे अपने पैरों की धूल दे दो।

चौधरी : चलो, इस लड़के में श्रद्धा-भक्ति तो है! अक्ल न सही, दिल का अच्छा है।

अमल : जान पड़ता है, अब तक चार पहर बीत गये हैं। यह रहा—टन् टन् टन् टन् टन् टन्। शाम का पहला तारा क्या निकल आया है फ़क़ीर? मैं उसे देख क्यों नहीं पाता?

दादा : इस लोगों ने खिड़की जो बन्द कर रखी है! मैं उसे खोल देता हूँ।

(बाहरी दरवाज़े पर दस्तक पड़ती है)

माधवदत्त : यह क्या है? यह कौन है? यह क्या हंगामा है?

(बाहर से आवाज आती है)

दरवाज़ा खोलो!

माधवदत्त : कौन हो तुम लोग?

(बाहर से)

दरवाजा खोलो!

माधवदत्त : चौधरीजी, ये डकैत तो नहीं हैं?

चौधरी : कौन है रे! पंचानन चौधरी हूँ। पंचानन की बोली सुनकर कौन टिकनेवाला है? वह चाहे जितना बड़ा डकैत हो—

माधवदत्त : (खिड़की से झाँककर)! उन्होंने दरवाज़ा तोड़ दिया है, इसी से कुछ आहट नहीं मिलती थी।

(राजदूत का प्रवेश)

राजदूत : महाराज आज रात को आयेंगे।

चौधरी : अब तो ग़ज़ब हो गया!

अमल : कितनी रात बीते सिपाही जी, महाराज कितनी रात बीते आयेंगे ?

राजदूत : रात के दूसरे पहर में।

अमल : जब मेरा दोस्त पहरेदार नगर की ड्योढ़ी पर घण्टा बजायगा टन् टन् टन् टन् टन्, तभी?

राजदूत : हाँ, तभी। राजा ने अपने छोटे दोस्त को देखने के लिए अपने सबसे बड़े वैद्य को भेजा है।

(राजवैद्य का प्रवेश)

राजवैद्य : यह क्या! चारों ओर सब-कुछ बन्द क्यों है? खोल दो, खोल दो, जितने खिड़की-दरवाज़े हैं, सब खोल दो। —

(अमल के गालों पर हाथ रखकर) क्यों बेटा, कैसे जान पड़ता है?

अमल : बहुत अच्छा, बहुत ही अच्छा वैद्य जी। अब मुझे कोई रोग नहीं है, ज़रा भी दर्द नहीं है। आह, सब-कुछ खुल गया है। मैं तारों को देख पा रहा हूँ— अँधेरे के उस पार के सब तारों को।

राजवैद्य : आधी रात को जब राजा आयँगे तो क्या तुम बिछावन से उठकर उनके साथ जा सकोगे?

अमल : हाँ हाँ, ज़रूर जा सकूँगा। बाहर निकल पाऊँ तो मेरी जान बचे! मैं राजा से कहूँगा कि इस अँधेरे आसमान में तुम मुझे ध्रुव तारा दिखला दो। जान पडता है कि उसे मैंने कितनी ही बार देखा है। लेकिन वह कौन-सा है, यह मैं नहीं पहचान सकता।

राजवैद्य : वे तुम्हें सब-कुछ बता देंगे। **(माधवदत्त से)** इस घर को साफ करके, फूलों से सजाकर, राजा के आने लायक़ बना दो। **(चौधरीजी की ओर इशारा करके)** इस आदमी को यहाँ रखने से तो काम न चलेगा।

अमल : नहीं, नहीं, वैद्यराज जी! ये तो मेरे दोस्त हैं। जब आप लोग नहीं आये थे, तब इन्होंने ही राजा की चिट्ठी लाकर मुझे दी थी।

राजवैद्य : अच्छा बेटा, जब ये तुम्हारे दोस्त हैं तो ये भी इस कमरे में रहें।

माधवदत्त : **(अमल के कान में)** बेटा, राजा तुम्हें प्यार करते हैं। वे आज खुद यहाँ आ रहे हैं। आज तुम उनसे कुछ माँग लो। तुम तो जानते ही हो, हम लोगों की हालत अच्छी नहीं है।

अमल : वह मैंने तय कर लिया है फूफाजी, उसके लिए आप कोई चिन्ता न कीजिये।

माधवदत्त : तुमने क्या तय कर लिया है?

अमल : मैं उनसे कहूँगा कि वे मुझे अपने डाकघर का डाकिया बना लें—मैं देश-देश में, घर-घर में उनकी चिट्ठियाँ बाँटा करूँगा।

माधवदत्त : **(सिर पर हाथ मारकर)**। हाय रे मेरी किस्मत!

अमल : फूफाजी, अपने घर में राजा आयँगे, उनके खाने-पीने की क्या तैयारी की है तुमने?

राजदूत : उन्होंने कहा है, तुम्हारे यहाँ तो वे चना-चबैना ही खायेंगे।

अमल : चना-चबैना खायँगे? चौधरीजी, तुमने तो पहले ही यह बात कह दी थी। तुम शायद राजा की सब बातें जानते हो। हम लोगों को तो कुछ मालूम ही नहीं था।

चौधरी : अगर किसी को मेरे घर भेज दो तो खाने की कुछ अच्छी-अच्छी चीज़ें—

राजवैद्य : कोई ज़रूरत नहीं है। अब तुम सब लोग शांत हो जाओ। लो, इसे तो नींद भी आ गयी। मैं इस बच्चे के सिरहाने बैठूँगा—इसे नींद आ रही है। दिये की रोशनी बुझा दो—अब आसमान के तारों से ही रोशनी आवे। इसे नींद आ गयी है।

माधवदत्त : (दादा से) दादा, तुम मूरत की तरह, हाथ जोड़कर, यों चुपचाप क्यों खड़े हो? मुझे तो जाने कैसा डर-सा लग रहा है। यह सब जो देख रहा हूँ, यह क्या अच्छा लक्षण है? ये लोग मेरे घर को अँधेरा क्यों किये दे रहे हैं? तारों की रोशनी से हमारा क्या होगा?

दादा : चुप रह अविश्वासी! ऐसी बातें न बोल!

(सुधा का प्रवेश)

सुधा : अमल!

राजवैद्य : वह तो सो गया है।

सुधा : लेकिन मैं तो इसके लिए फूल लायी हूँ—इन्हें क्या मैं इसके हाथों में न दे पाऊँगी?

राजवैद्य : अच्छा, दे दो अपने फूल।

सुधा : यह कब जागेगा?

राजवैद्य : अभी तुरंत राजा आकर इसे पुकारेंगे।

सुधा : उस समय चुपके-चुपके तुम लोग इससे एक बात कह दोगे?

राजवैद्य : क्या कहना होगा?

सुधा : कहना कि 'सुधा तुम्हें भूली नहीं है।'

४

राजा

१

अँधेरा कक्ष

(रानी सुदर्शना और उनकी दासी सुरगमा)

सुदर्शना : प्रकाश—कहाँ है प्रकाश? इस कक्ष में क्या कभी भी प्रकाश नहीं होगा।

सुरंगमा : रानी माँ, आपके प्रत्येक कक्ष में तो प्रकाश रहता है—उससे बच निकल आने के लिए क्या एक भी अँधेरा कक्ष नहीं रहेगा ?

सुदर्शना : कहीं भी अँधेरा क्यों रहेगा?

सुरंगमा : तब तो न प्रकाश पहचाना जा सकेगा, न अंधकार।

सुदर्शना : जैसी तू इस अँधेरे कक्ष की दासी है वैसी ही तेरी अंधकार-जैसी बातें हैं, कोई अर्थ ही समझ में नहीं आता। पर यह तो बता कि कक्ष है कहाँ? किधर से यहाँ आती हूँ और किधर से बाहर निकलती हूँ, प्रतिदिन भूल-भुलैया-सा लगता है।

सुरंगमा : मिट्टी का आवरण भेदकर पृथ्वी के हृदय मे यह कक्ष बनवाया गया है। राजा ने इसे विशेष रूप से आपके लिए बनवाया है।

सुदर्शना : उन्हें कमरों की ऐसी क्या कमी थी कि यह अँधेरा कक्ष विशेष रूप से बनवाया गया।

सुरंगमा : प्रकाशित कमरों में तो सभी का आना-जाना रहता है—इस अंधकार में अकेले आपमे ही मिलन हो सकता है।

सुदर्शना : नहीं-नहीं, मुझे प्रकाश चाहिए। मै प्रकाश के लिए छटपटा रही हूँ। तू यहाँ एक दिन अपना प्रकाश ला सके तो मैं तुझे अपना कंठ-हार दूँगी।

सुरंगमा : मेरे क्या वश है देवी। जहाँ वे ही अंधकार रखते हैं वहाँ मैं प्रकाश कर सकूँगी।

सुदर्शना : इतनी भक्ति है तेरी? पर मैने तो सुना है कि तेरे पिता को राजा ने दण्ड दिया था। यह क्या सच है?

सुरंगमा : सच है। पिता जुआ खेलते थे। राज्य के सब युवक हमारे घर इकट्ठे होते थे, और शराब पीते थे और जुआ खेलते थे।

सुदर्शना : तू क्या करती थी?

सुरंगमा : मैया री, तब तो आप सब सुन चुकी हैं? मैं विनाश के पथ पर जा रही थी। पिता ने जान-बूझकर मुझे उस पथ पर डाला। मेरी माँ नहीं थी।

सुदर्शना : राजा के तेरे पिता को निर्वासित कर देने पर तुझे बुरा नहीं लगा?

सुरंगमा : बहुत बुरा लगा था। मन हुआ कि कोई यदि राजा को मार डाले तो बहुत अच्छा हो।

सुदर्शना : बाप से तुझे छुड़ाकर राजा ने तुझे कहाँ लाकर रखा।

सुरंगमा : क्या जानूँ, कहाँ रखा था, किन्तु कितना कष्ट हुआ था। मानो कोई मुझे सुइयाँ चुभा रहा हो, आग में जला रहा हो।

सुदर्शना : क्यों, तुझे किस बात का इतना कष्ट था?

सुरंगमा : मैं विनाश के पथ पर जा रही थी—वह पथ बन्द होते ही ऐसा लगा मानो मेरा कोई आसरा ही नहीं रहा। मै पिंजरे मे बन्द जंगली जानवर की तरह गरजती हुई चक्कर काटती, मन होता कि चाहे जिसको नोच लूँ, काट खाऊँ या चीथड़े करके फेक दूँ।

सुदर्शना : उस समय राजा को तू क्या समझती थी?

सुरंगमा : ओह कितने निठुर—कितने निठुर थे! कैसी अविचल निष्ठुरता थी।

सुदर्शना : फिर उन्हीं राजा के प्रति तेरी इतनी भक्ति कैसी हो गयी?

सुरंगमा : क्या जानूँ देवी। वह इतने अटल, इतने कठोर थे इसलिए उन पर इतना निर्भर कर सकी। इतना भरोसा कर सकी। नहीं तो मुझ-सी पतिता का कौन आसरा हो सकता।

सुदर्शना : तेरा मन कब बदला?

सुरंगमा : क्या जानूँ कब बदल गया। सारा विद्रोह एक दिन हार मानकर धरती पर लोट गया। देखा, जितने भयानक है, उतने ही सुन्दर है। मै बच गयी, बच गयी, जीवन-भर के लिए बच गयी।

सुदर्शना : अच्छा सुरंगमा, तुझे मेरी सौगंध है, सच-सच बता, हमारे राजा देखने मे कैसे हैं? मैंने उन्हे कभी भी आँखों से नहीं देखा। अंधकार मे ही वह मेरे पास आते है और अंधकार मे ही चले जाते है। कितने लोगों से मैंने पूछा है, कोई स्पष्ट जवाब नहीं देता—सभी कुछ छिपा रखते हैं।

सुरंगमा : मैं सच कहती हूँ रानी, ठीक-ठीक बता नहीं पाऊँगी कि कितने सुन्दर हैं वह। नहीं, लोग जिसको सुन्दर कहते है वह वैसे नहीं है।

सुदर्शना : क्या कहती है तू। सुन्दर नहीं हैं?

सुरंगमा : नहीं देवी, उन्हें सुन्दर कहना उन्हे छोटा करना होगा।

सुदर्शना : तेरी सब बाते ऐसी ही होती है, कुछ समझ मे नहीं आतीं।

सुरंगमा : क्या करूँ देवी ? सब बातें तो समझायी नहीं जा सकतीं। बाप के घर छोटी उम्र में ही अनेक पुरुष देखे थे, उन्हे सुन्दर कहती। उन्होंने मेरे दिन-रात को,

मेरे सुख-दुःख को क्या-क्या नाच नचाये वह मैं आज तक नहीं भूल सकी। हमारे राजा क्या उनकी तरह हैं? सुन्दर? कभी नहीं।

सुदर्शना : सुन्दर नहीं हैं।

सुरंगमा : हाँ, यही कहना होगा—सुन्दर नहीं हैं। सुन्दर नहीं हैं इसलिए ऐसे अद्‌भुत, ऐसे अचरज-भरे हैं। जब बाप के घर से छीनकर मुझे उनके सामने ले गये थे तब वह भयानक दीखे थे। मेरा सारा मन ऐसा फिरा था कि उन्हें कानी आँख भी नहीं देखना चाहती थी। तब से अब ऐसा हो गया है कि जब सवेरे उन्हें प्रणाम करती हूँ तब केवल उनके पैरों-तले की मिट्टी की ओर देखती रहती हूँ—और जान पड़ता है कि इतना ही मेरे लिए बहुत है कि मेरे नयन सार्थक हो गये हैं।

सुदर्शना : तेरी सभी बात समझ में नहीं आतीं। पर उन्हें सुनना अच्छा लगता है। किन्तु तू जो कह, मै उन्हे देखकर रहूँगी। मेरा कब विवाह हुआ था मुझे याद भी नहीं है—तब इतना बोध भी नहीं था। माँ से सुना था कि उन्हें दैवज्ञ ने बताया था कि उनकी लड़की ऐसा स्वामी पायगी जैसा पुरुष पृथ्वी पर दूसरा नहीं होगा। माँ मे कितनी बार पूछा कि स्वामी देखने में कैसे है—वह ठीक-ठीक बताना ही नहीं चाहतीं। कहती है, मैंने देखा कहाँ है? घूँघट के भीतर से मैं अच्छी तरह देख ही नहीं सकी। जो सुपुरुषों मे श्रेष्ठ है उन्हें देखने का लोभ मै कैसे छोड़ सकती हूँ?

सुरंगमा . वह देखिए रानी, धीमी-धीमी बयार बह रही है!

सुदर्शना · बयार? कहाँ है बयार?

सुरंगमा · यही जो सुगन्ध है—क्या आप तक नहीं पहुँची?

सुदर्शना · नहीं, कैसी सुगन्ध? मुझे तो नहीं आती।

सुरंगमा बड़ा फाटक खुला है—वह आ रहे हैं, भीतर आ रहे हैं।

सुदर्शना · तू कैसे आहट पा जाती है?

सुरंगमा : क्या जानूँ रानी। जान पड़ता है मानो छाती के भीतर पैरों की आहट सुन पाती हूँ। मै उनके अँधेरे कक्ष की सेविका हूँ न? तभी मुझमे एक बोध जाग गया है—समझने के लिए मुझे कुछ भी देखने की जरूरत नहीं होती।

सुदर्शना . तेरी तरह मेरा भी होता तो मै तर जाती।

सुरंगमा होगा, रानी, होगा। आप जो 'देखूँगी-देखूँगी' सोचती हुई इतनी अधीर हो रही है इसी से आपका सारा मन देखने की ओर ही लगा हुआ है। यह एक टेक जब छोड़ देगी तब अपने-आप सब सहज हो जायगा।

सुदर्शना : मुझे रानी होकर भी जो सहज नहीं होता वह तुझे दासी होकर कैसे हो गया?

सुरंगमा मै दासी जो हूँ। इसीलिए इतना सहज हो गया। जिस दिन मुझे इस अँधेरे कक्ष का भार सौंपकर उन्होंने कहा—'सुरंगमा इस कक्ष को प्रतिदिन तुम ठीक-ठीक सँवार रखना, यही तुम्हारा काम है', मैंने उनकी आज्ञा को

सिर-आँखों पर लिया—मैंने मन-ही-मन यह भी नहीं कहा कि मुझे उनका काम दीजिए जो आपके प्रकाश वाले कक्ष में दिये जलाते हैं। तभी जो काम मैंने लिया उसकी शक्ति अपने-आप भीतर जाग उठी। उसे कोई बाधा नहीं हुई। पर वह आ रहे हैं—कक्ष के बाहर खड़े हैं। प्रभु...

गान-१

खोलो खोलो द्वार, मूझे और बाहर खड़ा न रखो,
दो संकेत, इधर देखो, आओ दोनों बाहु बढ़ाकर
काज सब हो चुका है, सन्ध्या तारा उग आया है,
आलोक की नाव पहुँच चुकी है अस्तसागर के पार।
द्वारे आया हूँ, मुझे और बाहर खड़ा न रखो!
झारी भरकर पानी क्या ले आयीं, शुचि दुकुल क्या ओढ़ लिया?
केश क्या बाँध लिये, फूल क्या चुन लिये,
मुकुलों की माला क्या गूँथ ली?
गाएँ गोठ में लौट आयी हैं, पाखी नीड़ों में आ गये हैं।
जगत् में जितने मार्ग थे, अन्धकार में मिलकर एक हो गये हैं।
तुम्हारे द्वारे आया हूँ, मुझे और बाहर खड़ा न रखो!

सुरंगमा : राजा, आपका द्वार कौन बन्द रख सकता है! द्वार बन्द नहीं है, बस किवाड़ उड़काये हुए है, छूते ही अपने-आप खुल जायेंगे। क्या उतना भी आप नहीं करेंगे? जब तक स्वयं उठकर द्वार न खोला जायगा आप भीतर नहीं आयेंगे?

गान-२

यह जो मेरा आवरण है, इसे दूर करते और कितनी देर!
निश्वास-वायु मे भी वह उड़ जायगा—यदि तुम वैसा चाहो।
मैं यदि भूमि पर पड़ी रहूँ धूल चूमती हुई,
तो तुम द्वार पर ही खड़े रहोगे, यह कैसा है तुम्हारा प्रण?
रथ-चक्रों के रव से जगाओ, जगाओ, सबको—
अपने ही घर में आओ बल से भरकर, आओ गौरव के साथ!
मेरी नींद टूट जाये, मैं प्रभु को पहचान लूँ—
दौड़कर जाऊँ द्वार पर, चरणों में कर दूँ अपने को समर्पण!
रानी, तो जाइये द्वार खोल दीजिये, नहीं तो राजा नहीं आयेंगे।

सुदर्शना : मै इस कक्ष के अन्धकार में कुछ भी अच्छी तरह नहीं देख सकती—द्वार कहाँ है मैं क्या जानूँ? तू यहाँ का सब जानती है तो मेरी ओर से खोल दे।

(सुरंगमा द्वार खोलकर प्रणाम करती है। प्रस्थान।)

तुम मुझे प्रकाश में दर्शन क्यों नहीं देते।

राजा : प्रकाश में हज़ारों और दूसरी चीज़ों के साथ मिलाकर मुझे देखना चाहती

हो? क्यों न इस गम्भीर अन्धकार में तुम्हारा एक-मात्र होकर मैं रहूँ!

सुदर्शना : सभी तुमको देख पाते हैं, मैं रानी होकर भी नहीं देख पाऊँगी!

राजा : कौन कहता है देख पाते हैं? जो मूढ़ हैं वे समझ लेते हैं कि वे देख पा रहे हैं।

सुदर्शना : जो भी हो, तुम्हें मुझे दर्शन देना होगा।

राजा : सहा नहीं जायगा—कष्ट होगा।

सुदर्शना : सहा नहीं जायगा—यह भी कोई बात है? तुम कितने सुन्दर हो, कितने आश्चर्य-भरे, यह तो इस अन्धकार में भी समझ सकती हूँ—फिर प्रकाश में क्या नहीं समझ सकूँगी? बाहर जब तुम्हारी वीणा बजती है तब मुझे न जाने क्या हो जाता है कि मैं समझने लगती हूँ, मैं ही उस वीणा का गान हूँ, तुम्हारा यह सुवासित उत्तरीय जब मेरे गात्र से छू जाता है तब मुझे जान पड़ता है, मेरा सर्वांग सघन आनन्द से वातास के साथ मिल गया। फिर तुम्हे देखकर मैं सह नहीं सकूँगी, यह कैसे हो सकता है?

राजा · मेरा क्या कोई रूप तुम्हारे मन में नहीं जाता है!

सुदर्शना : एक तरह से तो जाता ही है। नहीं तो मैं जीती कैसे रह सकती!

राजा : किस रूप में देखा है!

सुदर्शना : वह कोई एक रूप तो नहीं है। नयी वर्षा के दिन जब जल-भरे मेघों से भरे आकाश के छोर पर वन की रेखा और घनी हो उठती है, तब बैठी-बैठी सोचती हूँ कि मेरे राजा का रूप भी ऐसा ही होगा—इसी प्रकार भटका हुआ, ऐसे ही ढक देनेवाला, ऐसा ही आँखें सहलानेवाला, ऐसा ही हृदय भर देनेवाला, नयन-पल्लव ऐसे ही छायामंडित, मुस्कान ऐसी ही गम्भीरता में डूबी हुई। फिर शरत्काल मे, जब आकाश का पर्दा दूर उड़ जाता है, तब जान पड़ता है कि तुम स्नान करके अपने शेफाली-वन के पथ पर चल रहे हो; तुम्हारे गले मे कुंद-फूलों की माला है, तुम्हारे वक्ष पर श्वेत चन्दन की छाप, तुम्हारे मस्तक पर हल्के उज्ज्वल वस्त्र का उष्णीष, तुम्हारी आँखों की दृष्टि दिगंत के पार खोयी हुई—तब लगता है कि तुम मेरे पथिक बन्धु हो; यदि तुम्हारे साथ चल सकूँ तो दिग्दिगंत मे सोने के सिंह-द्वार खुल जायँगे और मै शुभ्रता के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकूँगी। और यदि न कर सकूँगी तब इसी झरोखे मे बैठकर किसी एक अतिदूर के लिए गहरी उसाँस भरती रहूँगी, दिन के बाद दिन और रात के बाद रात मेरा अन्तःस्थल किसी अज्ञात वन-वीथी—किसी अनाघ्रात फूल की गन्ध के लिए—बिलख-बिलखकर रोता रहेगा, और मर जायगा, और बसन्त-काल मे जब यह सारा वन रंग से रंगीन हो उठता है, तब मै तुम्हें देख पाती हूँ कानों मे कुण्डल धार, हाथ में अंगद, गात पर बसन्ती रंग का उत्तरीय, हाथ में अशोक की मंजरी। तुम्हारी वीणा के सभी सुनहले तार एक-एक तान मे मानो उतावले हो रहे हैं।

राजा : इतना विचित्र रूप देखती हो! तब क्यों सब छोड़कर केवल एक विशेष मूर्ति

देखना चाहती हो? वह यदि तुम्हारे मन की न हुई तब तो मन चौपट हो जायगा!

सुदर्शना : किन्तु मैं निश्चयपूर्वक जानती हूँ कि मन की होगी।

राजा : मन यदि उसका हो तभी वह मन की हो सकेगी। पहले वह तो हो।

सुदर्शना : मैं सच कहती हूँ, इस अन्धकार में जब तुम्हें देख नहीं पाती, यद्यपि जानती हूँ कि तुम वही हो, तब कभी-कभी न जाने कैसे एक डर से भीतर-ही-भीतर काँप उठती हूँ।

राजा : उस भय में बुराई क्या है? प्रेम में भय न होने से उसका रस फीका हो जाता है।

सुदर्शना : अच्छा मैं भी पूछूँ? इस अन्धकार में तुम क्या देख पाते हो?

राजा : ज़रूर देख पाता हूँ।

सुदर्शना : कैसे देख पाते हो? अच्छा, क्या देख पाते हो—

राजा : देख पाता हूँ मानो अनन्त आकाश का अन्धकार मेरे आनन्द से खिंचकर चक्कर काटता हुआ कितने नक्षत्रों का आलोक समेटकर, एक जगह स्थापित होकर खड़ा है। उसमें कितने युगों का ध्यान है, कितने आकाशों का आवेग, कितनी ऋतुओं का उपहार!

सुदर्शना : मेरा ऐसा रूप! तुमसे सुनकर हृदय उमड़ आता है। किन्तु पूरा-पूरा विश्वास नहीं होता—अपने में तो यह सब देख नहीं पाती हूँ।

राजा : अपने दर्पण मे अपना-आपा नहीं दीखता—छोटा हो जाता है। यदि मेरे चित्त मे उसे देख पाओ तो देखोगी यह कितना बड़ा है। क्योंकि मेरे हृदय में तुम केवल तुम नहीं हो, तुम मेरा प्रतिरूप भी हो जाती हो।

सुदर्शना : कहो-कहो, ऐसा फिर कहो—मुझे तुम्हारी बाते गान-सी प्रतीत होती हैं—अनादि काल के गान-सी, जिसे मैं मानो जन्म-जन्मांतर से सुनती आयी हूँ। वह गान क्या तुम्हीं सुनाते रहे हो वह मुझसे बहुत बड़ी, बहुत सुन्दर है—तुम्हारे गान मे उस आलोक-सुन्दरी को मैं देख पाती हूँ—वह क्या मुझमे है या कि तुममे? तुम जिस रूप मे मुझे देखते हो, एक बार एक निमिष-भर के लिए मुझे वह दिखा दो न! तुम्हारे लिए क्या अन्धकार नाम जैसा कुछ है ही नहीं? इसीलिए तो मुझे तुममे से न जाने कैसा एक डर लगता है। यह जो कठिन काला लोहे-जैसा अन्धकार है, जो मेरे ऊपर नींद-सा, मूर्छा-सा, मृत्यु-सा छाया है, तुम्हारे निकट क्या वह कुछ है ही नहीं? तब ऐसे स्थल पर तुम्हारे साथ मेरा मिलन कैसे हो सकता है? नहीं-नहीं, हो नहीं सकता मिलन, हो नहीं सकता, यहाँ नहीं, यहाँ नहीं। जहाँ मैं पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, मिट्टी-पत्थर सब देख सकती हूँ, वहीं तुम्हें भी देखूँगी।

राजा : अच्छा देखो। किन्तु तुम्हे स्वयं ही पहचान लेना होगा, कोई तुम्हें बतायगा नहीं—और बताये भी तो विश्वास क्या?

सुदर्शना : मैं पहचान लूँगी, पहचान लूँगी। लाखों-लाखों लोगों के बीच भी पहचान लूँगी। भूल नहीं होगी।

राजा : आज वसन्त-पूर्णिमा के उत्सव में तुम अपने प्रासाद के शिखर पर खड़ी होना—वहीं से देखना—मेरे उद्यान में हजारों लोगों के बीच मुझे देखने की चेष्टा करना।

सुदर्शना : उनके बीच तुम दिखाई तो दोगे?

राजा : बार-बार सब दिशाओं से दिखाई दूँगा सुरंगमा!

(सुरंगमा का प्रवेश)

सुरंगमा : आज्ञा प्रभु—

राजा : आज वसन्त-पूर्णिमा का उत्सव है।

सुरंगमा : मुझे क्या काम करना होगा!

राजा : आज तुम्हारे साज का दिन है, काज का दिन नहीं। आज मेरे पुष्प-वन के आनन्द में तुम्हें योग देना होगा।

सुरंगमा : वैसा ही होगा, प्रभु!

राजा : रानी आज मुझे अपनी आँखों से देखना चाहती हैं।

सुरंगमा : कहाँ देखेंगी?

राजा : जहाँ वंशी पंचम स्वर में बजेगी, फूलों के केशर का फाग उड़ेगा, ज्योत्स्ना और छाया गले मिलेंगे, उसी हमारे दक्षिण कुंजवन में।

सुरंगमा : उस आँख-मिचौली में क्या देखा जा सकेगा? वहाँ तो हवा भी उतावली हो उठती है, सभी कुछ चंचल होता है। आँखों को उलझन न होगी?

राजा : रानी का कौतूहल है।

सुरंगमा : कौतूहल की तो हजारों चीजें हैं—आप क्या उनके साथ मिलकर कौतूहल मिटायँगे? आप ऐसे राजा नहीं हैं। रानी, आपके कौतूहल को अन्त में रोकर लौट आना होगा।

गान-३

कहाँ बाहर-दूर वन को उड़ जाती हैं,
तुम्हारी चपल-चपल आँखें वनपाखी-सी ?
आज हृदय में यदि बज उठे प्रेम की वंशी,
तो वे अपने-आप ही पाश में बँध जायेंगी ?
दूर होगी इनकी यह त्वरा, यह इधर-उधर भटकना—
आहा, आज जो आँखें वनपाखी-सी वन को दौड़ जाती हैं !
तुम देखते नहीं, हृदय-द्वार पर कौन आता-जाता है !
सुनते नहीं, दखिनी पवन कानों में क्या कहता है ?
आज फूलों की सुवास में, सुख की हँसी में, आकुल गान में
चिर-वसन्त तुम्हारी ही खोज में प्राणों में आया है।
उसे पागल-सी बाहर खोजती हुई भटक रही हैं वन में—
तुम्हारी चपल आँखें वनपाखी-सी !

पथ

पहला पथिक : ओ महाशय!

प्रहरी : कहिए?

दूसरा पथिक : रास्ता किधर है? हम परदेसी है, हमें रास्ता बताइए!

प्रहरी : कहाँ का रास्ता?

तीसरा पथिक : वहीं का, जहाँ सुना है आज उत्सव होने वाला है। वहाँ किधर से जाना होगा?

प्रहरी : यहाॅ सभी रास्ते रास्ते हैं। जिधर से भी जाओगे, ठीक पहुँचोगे। नाक की सीध में चले जाओ।

(प्रस्थान)

पहला : सुनो ज़रा इसकी बात। कहता है ये सब रास्ते एक हैं। ऐसा ही है तो फिर इतने रास्तों की ज़रूरत क्या थी?

दूसरा : अरे भई इसमे नाराज़ होने की क्या बात है। जिस देश मे जैसी व्यवस्था हो। हमारे देश में तो यही कहा जा सकता है कि रास्ता है ही नहीं—बाॅकी-टेढ़ी गलियाँ, मानो गोरखधंधा हो। हमारा राजा कहता है कि खुला रास्ता न होना ही अच्छा है। क्योंकि रास्ता मिलते ही सारी प्रजा बाहर निकल जायगी। इस देश मे उल्टा है, जाते हुए भी कोई नहीं टोकता, आने पर भी कोई नहीं रोकता—फिर भी यहाँ इतने लोग हैं—ऐसी खुली छूट होने पर तो हमारा राज्य उजाड़ हो गया होता।

पहला : भई जनार्दन, तुममें यही एक बड़ी बुराई है।

जनार्दन : वह क्या?

पहला : अपने देश की बड़ी निन्दा करते हो। खुला रास्ता ही क्या अच्छा होता है? तुम्हीं बताओ भाई कौण्डिल्य, यह कह रहा है कि खुला रास्ता अच्छा होता है।

कौण्डिल्य : भाई भवदत्त, तुम तो बराबर देखते आ रहे हो कि जनार्दन की ऐसी ही टेढ़ी बुद्धि है। किसी दिन मुसीबत में पड़ेगे। कहीं राजा के कानों तक बात पहुँची तो मरने पर इन्हें श्मशान तक ले जाने वाला ढूँढ़ना मुश्किल हो जायगा।

भवदत्त : भई, हमें तो जब से इस खुली राह के देश मे आये हैं, उठने-बैठने का भी सुख नहीं मिला। कौन आता है, कौन जाता है, किसी का भी कोई ठीक-ठिकाना नहीं है—दिन-रात अपना शरीर घिनघिनाता रहता है—राम-राम।

कौण्डिल्य : यहाँ भी तो उसी जनार्दन की राय मानकर हो आये। हमारी गोष्ठी में ऐसा कभी नहीं हुआ। मेरे पिता को तो जानते हो—कितने बड़े महात्मा थे। शास्त्र के अनुसार ठीक ४९ हाथ नापकर मंडल बनाकर उसी के भीतर सारा जीवन काट दिया—एक दिन के लिए भी उसके बाहर पैर नहीं रखा। मृत्यु के बाद प्रश्न उठा कि दाह भी तो उसी ४९ हाथ घेरे के भीतर ही करना होगा, बड़ी विकट

समस्या थी—अन्त में शास्त्री ने विधान दिया कि ४९ के जो दो अंक हैं उनके बाहर तो नहीं जाया जा सकता इसलिए ४९ (उनचास) को उलटकर ९४ (नौ-चार) कर दिया जाय—तभी उन्हें घर से बाहर लाया जा सकेगा। नहीं तो घर के भीतर ही दाह-कर्म करना होगा। बाप रे बाप, कैसा कड़ा आचार-विचार ! हमारा देश कोई ऐसा-वैसा थोड़े ही है।

भवदत्त : ठीक कहते हो। मरने के लिए चल पड़ने पर भी सोचना होगा, यह क्या कम बात है।

कौण्डिल्य : अब यह जनार्दन भी उसी देश की मिट्टी का बना है फिर भी कहता है कि खुला रास्ता अच्छा है!

(प्रस्थान। बालकगण के साथ बुढ़ऊ दादा का प्रवेश)

दादा : लड़को, दखिनी हवा के साथ होड़ करनी होगी। हार मानने से काम नहीं चलेगा। आज सारे रास्तों को गान में डुबा देना होगा।

गान-४

आज दक्षिण द्वार खुला है, आओ हे मेरे वसन्त. आओ !
तुम्हें झुलाऊँगा हृदय के झूले में, आओ !
नये श्यामल शोभन रथ पर बकुल-बिछे पथ में, आओ !
व्याकुल वंशी बजाते हुए, प्रियंगु फूलों के पराग से सने,
आओ हे मेरे वसन्त आओ !
आओ पल्लवों के घन पुंज में, आओ वन-मल्लिका के कुंज में, आओ !
मृदु मधुर मदिर हँसी हँसते हुए आओ पागल हवा के देश में।
अपना उतावला उत्तरीय आकाश में उड़ा दो !
आओ हे मेरे वसन्त , आओ !

(प्रस्थान। नागरिकों के दल का प्रवेश।)

पहला नागरिक : अब चाहे जो कहो भाई, आज के दिन तो हमारे राजा को दर्शन देना ही चाहिए था। जिसके राज्य में रहते हैं उसे कभी देखा ही नहीं; यह क्या कम दुःख की बात है।

दूसरा नागरिक : इसके भीतर का रहस्य तुम कोई नहीं जानते। किसी से कहो नहीं तो मैं तुम्हें एक बात बताऊँगा।

पहला : एक ही मुहल्ले में रहते हैं हम-तुम, कभी किसी की बात मैंने किसी से कही? हाँ, वह जो तुम्हारे राहक दादा को कुआँ खोदते-खोदते गुप्त धन मिला था वह बात मैंने जान-बूझकर थोड़े ही बनायी थी। तुम तो सब जानते ही हो।

दूसरा : हाँ-हाँ जानता हूँ तभी तो कहता हूँ—भेद यदि छिपाकर रख सको तो बताऊँ, नहीं तो आफ़त आ सकती है।

तीसरा : तुम भी अच्छे आदमी हो विरूपाक्ष! आफ़त ही अगर आ सकती है तो उसे लाने के लिए इतने उतावले क्यों हो? तुम्हारी भेद की बात लिये भला कौन दिन-रात सँभालता फिरेगा।

विरूपाक्ष : बात जो उठ खड़ी हुई इसीलिए—खैर जाने दो, नहीं कहता। मैं व्यर्थ बात कहनेवाला आदमी ही नहीं हूँ। राजा दर्शन नहीं देते, यह बात तुम्हीं लोगों ने उठाई थी—तभी मैंने कह दिया कि जान-बूझकर नहीं दिखाई देते।

पहला : अरे विरूपाक्ष, अब बता भी डालो!

विरूपाक्ष : तुम लोगों से कहने में कोई दोष नहीं है—तुम सब अपने ही आदमी हो (धीमे स्वर में) राजा देखने में बड़ा ही भयंकर है, इसीलिए उसने प्रण किया है कि कभी किसी के सामने नहीं आया करूँगा।

पहला : ज़रूर यही बात है। हम भी सोचते थे—भला, सभी देशों के राजा को देखते ही देश के लोगों की आत्मा तक बाँस के पत्ते की तरह थर-थर काँप उठती है, तो हमारा ही राजा कभी दिखायी कयों नहीं देता ? और कुछ न हो तो अगर एक बार आँखें दिखाकर इतना ही कहे कि 'इतने सारे बेटों के सिर उड़ा दो!' तो भी हम लोग जानें कि हाँ, राजा नाम का कुछ है! विरूपाक्ष की बात मन को छूती है।

तीसरा : कुछ नहीं छूती-ऊती! मुझे तो रत्ती-भर विश्वास नहीं होता।

विरूपाक्ष : क्या कहा रे विसी! तू कहना चाहता है कि मैं झूठ बोलता हूँ।

विश्ववसु : यह कहना तो मैं नहीं चाहता था किन्तु तुम्हारी बात इसीलिए मान लूँगा, ऐसा नहीं है उस पर चाहे गुस्सा करो चाहे जो करो!

विरूपाक्ष : तुम क्यों मानने लगे! तुम अपने बाप-दादा को ही नहीं मानते—ऐसी ही बुद्धि है तुम्हारी। इस राज्य में राजा यदि छिपकर न रहते तो यहाँ तुम्हारे लिए ठौर होता, तुम तो निरे नास्तिक हो।

विश्ववसु : अच्छा आस्तिक महाराज, किसी दूसरे राजा का देश होता तो तुम्हारी जीभ काटकर कुत्ते को खिला दी जाती। तुम कहते हो कि तुम्हारा राजा देखने में बड़ा भयंकर है।

विरूपाक्ष : देखो विसु, मुँह सँभालकर बात करो!

विश्ववसु : मुँह सँभालने की ज़रूरत किसको है यह भी क्या बताना पड़ेगा।

पहला : चुप-चुप यह अच्छा नहीं हो रहा है। आप लोग तो जान पड़ता है मुझे ही आफ़त में डालेंगे। मैं इस सबमें नहीं पड़ता।

(प्रस्थान। कई व्यक्तियों का बुढ़ऊ दादा को खींचकर लाते हुए प्रवेश)

दद्दा, तुम्हें आज ऐसे सजाया किसने? यह माला किस निपुण हाथ की गूँथी हुई है।

दादा : अरे बुद्धुओ, सब बात क्या खुलासा करके कहनी होगी? कुछ भी छिपा नहीं रहेगा।

दूसरा : रहने दीजिए दद्दा! आपका तो सब पहले ही उघड़ा हुआ है! हमारे कवि-केशरी ने आप पर जो गाना लिखा है, जान पड़ता है आपने सुना नहीं। अरे वही, जिसकी घर-घर में चर्चा है।

दादा : एक घर में ही काफ़ी है, घर-घर सुनते फिरते रहने की किसे फुरसत है भला।

तीसरा : यह तो तुम फ़िजूल की ही हाँक रहे हो दद्दा! दादी जैसे तुम्हें आँचल में बाँधकर रखती है। मुहल्ले में जहाँ कहीं जाओ, वहीं तुम मौजूद हो—घर में रहते ही कब हो।

दादा : अरे तुम्हारी दादी का आँचल बहुत लम्बा है मुहल्ले में जहाँ भी जाऊँ उस आँचल से छूटकर जाने की जगह ही नहीं है। फिर भी कवि क्या कहते हैं, सुनूँ तो!

तीसरा : वह कहते हैं:

गान-५

जहाँ रूप की प्रभा आँखों को लुभाती है,
वहाँ तुम-सा भूला हुआ कौन है ? (बुढ़ऊ दादा)
जहाँ रसिकों की सभा परम शोभित है
वहाँ ऐसा रस में डूबा हुआ कौन है ? (बुढ़ऊ दादा)

दादा : अरे चुप-चुप, ऐसे वसन्त के दिन तुमने यह क्या गाना शुरू किया।

पहला : क्यों शुरू किया, तुम्हें पता है।

गान-६

जहाँ गले मिलना है, आलिंगन भरना है;
जहाँ बेंच खरीद की उस हाट की
धूल भी नहीं पड़ती,
जिसमें झगड़ालू झगड़ते हैं;
जहाँ भूला-भलापन है, खरा-खुलापन है;
वहाँ तुम-सा खुला और कौन है ? (बुढ़ऊ दादा !)

दादा : अगर तुम लोगों ने अपने उसी कवि से पूछा होता तो जानते कि फागुन के इस मास दिन दद्दा-जैसी पुरानी चीज़ें सब बिलकुल वर्जनीय होती हैं। अपना ग ना मेरे साथ बाँधकर राग-रागिनी का अपव्यय मत करो, इससे सरस्वती की वीणा के तारों में जंग लग जायगा।

दूसरा : दद्दा, तुमने तो रास्ते में ही सभा लगा दी, उत्सव में कब चलोगे? चलो हमारे दखिनी कुंज में

दादा : भाई, मेरी तो ऐसी ही दशा है। मैं तो रास्ते की ही चखता हुआ चलता हूँ, अन्त में भोज तो होगा ही। 'आदावन्ते च मध्ये च'...

दूसरा : देखो दद्दा, आज के दिन एक बात मन को बहुत खटक रही है।

दादा : क्या बात, सुनूँ?

दूसरा : इस बार देश-विदेश से काफ़ी सारे लोग आये हैं, सभी कहते हैं, सभी कुछ सुन्दर दीखता है किन्तु राजा क्यों नहीं दीखते। हम किसी को जवाब नहीं दे पाते। हमारे देश में यही बड़ी कमी रह गयी है।

दादा : कमी। हमारे देश में राजा एक जगह नहीं दिखायी देते इसीलिए तो सारा राज्य एकबारगी राजा से ठसाठस भरा है—और तुम कहते हो कमी। उसने तो हम सबको राजा कर दिया है। ये जो दूसरे राजा हैं इन्होंने तो उत्सव को कुचल-मसलकर धूल कर दिया है। उनके हाथी-घोड़ों और लाव-लश्कर के भार से दखिनी हवा में और दाक्षिण्य नहीं रहा, वसन्त का मानो दम घुटने की नौबत आ गयी है। किन्तु हमारे राजा स्वयं जगह नहीं घेरते। सबके लिए जगह छोड़ देते हैं। कवि केशरी का वह गाना तो तुम जानते हो :

गान-७

इस राजा के राजत्व में हम सभी राजा हैं,
नहीं तो राजा से हमारी भेंट किस अधिकार से होगी ?
हम जो चाहते हैं, वही करते हैं, फिर भी उसी की इच्छा के
अधीन रहते हैं, हम बँधे नहीं हैं, दासराजा के त्रास में
नहीं तो राजा से हमारी भेंट किस अधिकार से होगी ?
राजा सबको देते हैं मान और वही मान फिर स्वयं पाते हैं,
हमें किसी ने किसी झूठ मे उलझाकर हीन करके नहीं रखा है,
वरना राजा से हमारी भेंट किस अधिकार से होगी ।
हम चलेंगे अपने मन से, पर अन्त मे मिलेंगे उसी के पथ पर,
हम किसी विफलता के आवर्त्त मे नहीं मरेंगे,
नहीं तो राजा से हमारी भेट किस अधिकार से होगी ।
हम सभी राजा हैं ।

तीसरा : किन्तु दद्दा, तुम जो कहो, राजा को देख न पाने से लोग अनायास उनके बारे में जो क़ह देते हैं, यह सहा नहीं जाता।

पहला : अब देखो न मुझे कोई गाली दे तो उसकी सज़ा है, किन्तु राजा को गाली देने पर कोई उसका मुँह बन्द करनेवाला नहीं है।

दादा : उसका कारण है। राजा का जितना अंश प्रजा के अन्दर है उसी को चोट पहुँच सकती है, उसके बाहर वह जितने है उन्हे कुछ छू ही नहीं सकता। सूर्य का जो तेज प्रदीप में है वह एक फूँक भी नहीं सह सकता, किन्तु सूर्य की ओर हज़ार-हज़ार लोग मिलकर भी फूँके तो वह अम्लान ही रहेगा।

(विश्ववसु और विरूपाक्ष का प्रवेश)

विश्ववसु : अब यही देखिये दद्दा, यही इस आदमी ने रट लगा रखी है कि हमारे राजा

कुरूप हैं तभी सामने नहीं आते।

दादा : तो इतने बिगड़ते क्यों हो विसु? उसके राजा कुरूप ही होंगे, नहीं तो उनके राज्य में विरूपाक्ष जैसा चेहरा भला क्यों दीखता? स्वयं उसके माँ-बाप ने भी उसका कार्तिक नाम नहीं दिया। वह शीशे में जैसा अपना मुँह देखता है राजा के चेहरे का वैसा ही ध्यान करता है।

विरूपाक्ष : दद्दा, मैं नाम नहीं लूँगा, लेकिन यह खबर मैंने ऐसे आदमी से सुनी है कि विश्वास न करने की गुंजाइश नहीं है।

दादा : अपने से अधिक किसी पर विश्वास किया जा सकता है, बताओ तो?

विरूपाक्ष : नहीं। मैं तुम्हें प्रमाण दे सकता हूँ।

पहला : इस आदमी को शर्म भी नहीं आती। एक तो अनकहनी कहता है, दूसरे उसका प्रमाण देना चाहता है।

दूसरा : तो फिर दो उसको मिट्टी में मिलाकर उसके मिट्टी होने का प्रमाण!

दादा : अरे भाई, गुस्सा मत करो! उसके राजा कुरूप है यह कहते फिरने के लिए ही वह बेचारा आज उत्सव मनाने निकला है। जाओ भाई विरूपाक्ष, ऐसे ढेरों मिलेंगे जो तुम्हारी बात का विश्वास कर लेंगे; उनको लेकर दल बनाकर जाओ मौज करो!

(प्रस्थान। विदेशी दल का प्रवेश।)

कौण्डिल्य : भई सच कहता हूँ कि हम लोगों को ऐसी आदत पड़ गयी है कि यहाँ कहीं भी राजा न देखकर ऐसा लगता है कि खड़े तो हैं, लेकिन पैरों के तले धरती ही नहीं है।

भवदत्त : देखो भई कौण्डिल्य, असल बात यह है कि इन लोगों के राजा हैं ही नहीं। बस, सभी लोगों ने मिलकर एक अफवाह-सी फैला रखी है।

कौण्डिल्य : मुझे तो ऐसा ही लगता है। हम लोग तो जानते हैं कि देश में सबसे ज्यादा दीखता है तो राजा—अपने को खूब अच्छी तरह दिखाये बिना वह तो छोड़ता नहीं।

जनार्दन : किन्तु इस राज्य में इस छोर से उस छोर तक जैसा नियम दीखता है, राजा के रहे बिना तो वैसा होता नहीं।

भवदत्त : इतने दिन राजा के देश में रहकर बस इतना ही तुम्हारी समझ मे आया? नियम ही अगर बने रहेंगे तो फिर राजा के रहने की और ज़रूरत क्या है?

जनार्दन : अब यही देखो न! आज इतने लोग मिलकर आनन्द कर रहे हैं। राजा न होते तो ये लोग ऐसे मिल ही नहीं सकते थे।

भवदत्त : वाह रे जनार्दन! असल बात तो तुम टाले ही दे रहे हो। एक नियम है वह तो दीखता है; उत्सव हो रहा है, यह भी स्पष्ट दीखता है, इसमें तो कोई शंका नहीं कर रहा है? किन्तु राजा कहाँ है, उसको कहाँ देखा, यह तो बताओ!

जनार्दन : यही तो मैं कह रहा हूँ कि तुम लोग तो ऐसा ही राज्य जानते हो जिसमें राजा

केवल आँखों से दीखता है, राज्य मे कहीं उसका कोई परिचय नहीं मिलता। वहाँ केवल भूत डोलते हैं। किन्तु यहाँ देखो—

कौण्डिल्य : फिर घुमा-फिराकर वही एक बात! तुम भवदत्त के असली सवाल का जवाब क्यों नहीं देते—हाँ या ना? राजा को देखा है कि नहीं देखा?

भवदत्त : हटाओ यार कौण्डिल्य! उसके साथ फ़िज़ूल बक-झक कर रहे हो। उसका तो न्यायशास्त्र तक इस देश के ढंग का हो गया है। उसने जो बिना आँखों के देखना शुरू कर दिया तब फिर और क्या। अब तो यही हो सकता है उसको कुछ दिन बिना अन्न के आहार करने दिया जाय, तब शायद उसकी बुद्धि फिर साधारण लोगों की तरह ठिकाने आ जायगी।

(प्रस्थान। बाउल गायकों की टोली का गाते हुए प्रवेश।)

गान-८

मेरे प्राणों के मनुष्य में है,
तभी उसी सब जगह देख पाता हूँ।
वह आँखों की पुतलियों मे है, आलोक की धारा में,
तभी खोता नहीं।
तभी खोता नहीं।
तभी उसे देख पाता हूँ जहाँ-जहाँ चाहे जिधर देखूँ।
उसके मुँह की बात सुनने मैं कहाँ-कहाँ गया, पर सुनायी न दी।
आज अपने देश लौटकर सुनता हूँ उसकी वाणी अपने ही गान में।
कौन तुम उसे खोजते हो कंगाल-से द्वार-द्वार पर,
वहाँ वह नहीं दिखाई देगा—
दौड़कर जाओ, उसे मेर हृदय में देखो, मेरी दो आँखों मे देखो!

(प्रसथान) (तभी प्यादों के एक दल का प्रवेश)

पहला प्यादा : हटो, हटो, रास्ता छोड़ो!

प. पथिक : ओ, हो। बहुत बड़े आदमी है न—पैर पसारकर चलते हैं। क्यों जनाब, क्यों रास्ता छोड़े? हम सब राह के कुत्ते हैं क्या?

दूसरा प्यादा : हमारे राजा आ रहे हैं?

प. पथिक : राजा? कहाँ के राजा?

प. प्यादा : हमारे इसी देश के राजा?

प. पथिक : यह पागल है क्या? हमारे देश का राजा जैसे प्यादे छोड़कर रास्ता खाली करवाता हुआ चलता है।

दू. प्यादा : महाराज अब और छिपे नहीं रहेंगे, आज स्वयं आकर उत्सव मनायेंगे।

दू. पथिक : अरे क्या सचमुच!

दू. प्यादा : वह देखो न—उनकी पताका उड़ रही है।

दू. पथिक : अरे हाँ सच, वह तो सचमुच राजा का झण्डा है।

दू. प्यादा : पलाश के फूल से अंकित ध्वजा है, नहीं देखते?

दू. पथिक : हाँ, पलाश के फूल तो हैं—झूठ तो नहीं कह रहा है एकदम लाल-लाल लहक रहा है!

प. प्यादा : तो फिर? मेरी बात का विश्वास ही नहीं कर रहे थे।

दू. पथिक : नहीं दादा, मैंने तो अविश्वास नहीं किया। वह कुम्भ ही गोलमाल कर रहा था। मैंने तो एक बात भी नहीं कही।

प. प्यादा : कुम्भ बेटा खाली कुम्भ ही होगा, तभी तो इतना बजता है!

दू. प्यादा : यह आदमी कौन है जी? तुम लोगों का कोई है।

दू. पथिक : हमारा कोई नहीं। हमारे गाँव के जो पटवारी हैं न, यह उनका चचिया ससुर है—दूसरे मुहल्ले में रहता है।

दू. प्यादा : हाँ, हाँ, चेहरा बिलकुल चचिया ससुर जैसा है और अक्ल भी बिल्कुल ससुर के ढंग की है।

कुम्भ : बहुत दुःख भोगकर ही अक्ल ऐसी हो गयी है। अभी उस दिन क्या जाने कहाँ से एक राजा निकला, नाम के आगे ३४५ श्री लगाकर नगाड़ा पिटवाते हुए सारा शहर घूमता रहा—मैंने भी उसके पीछे-पीछे क्या कम खाक छानी! कितना भोग लगाया, कितनी सेवा की, घर-घर बिकने की नौबत आ गयी और अन्त में उसकी राजागिरी रही कहाँ? लोग जब उससे ताल्लुका माँगते या मुल्क माँगते तब पोथी-पत्रा खोलकर बाँचने पर उसे शुभ दिन ही ढूँढ़े न मिलता! किन्तु हम लोगों से खज़ाना वसूलने के समय मघा-आश्लेषा, अस्पर्श कुछ भी बाधा न देता।

दू. प्यादा : क्यों रे कुम्भ, हमारे राजा को तुम वैसे नक़ली राजा बता रहे हो।

प. प्यादा : अरे चचिया ससुर, ज़रा चचिया सास से विदा लेते आओ—तुम्हारा समय आ गया दीखता हैं।

कुम्भ : अरे बाबा नाराज मत हो। मैं कान पकड़ता हूँ, नाक रगड़ता हूँ। जितनी दूर हटने को कहोगे मैं उतनी दूर हटकर खड़ा होने को तैयार हूँ।

दू. प्यादा : अच्छा, यहाँ पर क़तार बाँधकर खड़े रहो। राजा आये ही समझो—हम आगे बढ़कर रास्ता ठीक कर रखें।

(प्यादों का प्रस्थान)

दूसरा पथिक : कुम्भ, तुम्हारी यह ज़ुबान ही एक दिन ले डूबेगी।

कुम्भ : नहीं माधव, यह ज़ुबान का नहीं, मेरे कपाल का दोष है। जब नक़ली राजा प्रकट हुए थे तब मैंने कुछ नहीं कहा था—बिलकुल भलेमानुस की तरह अपना सर्वनाश कर लिया था। और अब की बार जब क्या

जाने असली राजा आ रहे हैं तब पता नहीं कैसे ये ग़लत बातें मेरे मुँह से निकल गयीं। यह सब कपाल का दोष है।

माधव : मैं तो यह गलत समझता हूँ कि राजा असली हो या नक़ली; उसकी मानकर ही चलना होगा। हम लोग क्या राजा को पहचानते हैं जो इस बात का फैसला करेंगे? यह तो अँधेरे में ढेला फेंकना है। ढेर से फेंकेंगे तो एक-न-एक तो लग ही जायगा। मैं तो भाई एक सिरे से सबको मानकर चलता हूँ—असली होगा तो लाभ है ही और असली न भी हो तो नुकसान क्या है।

कुम्भ : ढेले अगर निरे ढेले ही होते तब तो कोई सोचने की बात न होती। लेकिन यहाँ तो वह भी दामी चीज़ है—फ़िजूल खर्च करने से फ़ितूर खड़ा होता है।

माधव : वह आ रहे हैं राजा। आहा, सचमुच राजा-जैसे राजा हैं। क्या चेहरा है—जैसे मक्खन का पुतला हो। क्यों जी कुम्भ, अब क्या राय है?

कुम्भ : देखने में तो बड़ा सुन्दर है—क्या जाने भाई, हो भी सकता है।

माधव : ठीक जैसे राजा का पुतला गढ़कर रखा गया है। डर होता है कहीं धूप लगने से पिघल न जाय!

(राजवेशधारी का प्रवेश)

माधव : महाराज की जय। दर्शन के लिए सवेरे से खड़े हैं। दया बनी रहे।

कुम्भ : बड़ी उलझन मालूम हो रही है। दद्दा को बुला लायँ।

(प्रस्थान। यात्रियों के एक और दल का प्रवेश)

पहला प. : अबे राजा है राजा, देखेगा तो आ!

दूसरा प. : राजा, मैं कुशलीवस्तु के उदयदत्त का नाती हूँ, मेरा नाम विराजदत्त, स्मरण रखियेगा। राजा आ रहे हैं, यह सुनकर ही मैं दौड़ा। लोगों की, कोई किसी की बात मैंने नहीं सुनी—सबके ऊपर मैं आपको मानता हूँ।

तीसरा प. : सुनो ज़रा इसकी बात। और मैं जो भोर से यहाँ खड़ा हूँ—जब अभी कागा भी नहीं बोला था—तब से।

राजवेशी : अब तक तुम कहाँथे ? राजा, मैं विक्रमस्थली का भद्रसेन हूँ— भक्त को स्मरण रखिए।

विराजदत्त : महाराज, हम लोगों के बहुत अभाव हैं। इतने दिन तक आपके दर्शन भी नहीं पाये तो बताते किसको?

राजवेशी : मैं तुम्हारे सब अभाव दूर कर दूँगा।

(प्रस्थान)

पहला प. : अरे पिछड़ जाने से नहीं चलेगा। भीड़ में खो जाने से राजा की नज़र नहीं पड़ेगी।

दूसरा प. : देख, देख, एक बात ज़रा इस नरोत्तम की करतूतें देख। हम लोग इतने जने

हैं; सबको ठेल-ठालकर कहाँ से एक ताड़पत्र का पंखा लेकर राजा को हवा करने लग गया।

माधव : अरे हाँ! इसका हौसला तो कम नहीं है।

दूसरा प. : उसको पकड़कर ज़बरदस्ती हटाया जा रहा है। वह क्या राजा के पास खड़ा होने योग्य है।

माधव : अरे राजा क्या इतना भी नहीं समझेंगे। यह तो अति-भक्ति है।

पहला प. : नहीं जी—राजा लोग कुछ नहीं समझते! ताड़ के पंखे की हवा खाकर उसी में भूल सकते हैं।

(सभी का प्रस्थान। बुढ़ऊ दादा को लेकर कुम्भ का प्रवेश)

कुम्भ : अभी-अभी इसी रास्ते से गये हैं।

दादा : रास्ते से जाने से ही क्या राजा हो जाता है।

कुम्भ : अरे नहीं दद्दा, बिलकुल खुली आँखों से देखा गया—और एक-दो नहीं, रास्ते के दोनों ओर के सभी लोगों ने उसे देख लिया।

दादा : इसीलिए तो सन्देह होता है। हमारे राजा कब राह चलते लोगों की आँखें चौंधियाते घूमने आते हैं! ऐसा उत्पात तो राजा ने कभी नहीं किया।

कुम्भ : तो आज राजा की ऐसी मर्जी हो तो क्या कहा जा सकता है।

दादा : ज़रूर कहा जा सकता है! हमारे राजा की मर्जी बराबर एक-सी बनी रहती है—घड़ी-घड़ी बदलती नहीं।

कुम्भ : लेकिन दद्दा कैसे बताऊँ तुम्हें—एकदम माखन का पुतला! मन होता था कि सर्वांग से उस पर छाया किये रहूँ ।

दादा : वाह रे तेरी अकल? हमारे राजा माखन के पुतले हैं, और उन पर छाया किये रहेगा तू!

कुम्भ : तुम जो भी कहो दद्दा, बड़े सुन्दर दीखते थे। आज इतने लोग इकट्ठे हुए हैं, किन्तु वैसा और कोई नहीं दीखा।

दादा : हमारे राजा यदि दिखाई भी देते तो तुम लोगों की नज़र न पड़ती। दस के बीच में उन्हें अलग पहचाना ही नहीं जा सकता—वह सबमें ऐसे घुल-मिल जो जाते हैं।

कुम्भ : लेकिन हमने झण्डा जो देखा।

दादा : झण्डे पर क्या देखा?

कुम्भ : उस पर पलाश का फूल अंकित था। आँखें मानो चौंधिया जाती थीं।

दादा : हमारे राजा के झण्डे पर तो कमल के फूल के मध्य में वज्र अंकित है।

कुम्भ : लोग कहते हैं, इस उत्सव में राजा बाहर आये हैं।

दादा : जरूर बाहर आए हैं। किन्तु उनके साथ प्यादे नहीं हैं, बाजा-गाजा नहीं है, रोशनी नहीं है। कुछ नहीं है।

कुम्भ : तब तो उन्हें कोई पहचान ही न सकेगा।

दादा : कोई-कोई शायद पहचान सके।

कुम्भ : जो पहचान सकेगा वह शायद जो चाहेगा, पायगा।

दादा : नहीं, वह कुछ चाहेगा ही नहीं। राजा का पहचानना भिखमंगों के बस का नहीं है। छोटा भिखमंगा बड़े भिखमंगे को ही राजा समझ बैठता है। आज जो आदमी गहनों से लदा-फदा रास्ते के दोनों ओर इकट्ठा हुए लोगों की आँखों से भिक्षा माँगता हुआ घूम रहा है, तुम लोभी लोग उसे ही राजा समझकर अचकचाये बैठे हुए हो। वह मेरा पागल आ रहा है। आ भाई आ, और तो फ़िजूल बकवास कर नहीं सके—थोड़ी मस्ती कर ली जाय!

(पागल का प्रवेश)

गान-९

तुम जो कहो, मुझे वह सोने का हिरन चाहिए,
वही मन-हरन, चपल-चरण!
वह चमककर छिप जाता है, उसे बाँधा नहीं जाता,
आहट मिलते ही वह चकमा देकर भाग जाता है,
फिर भी उसके पीछे दौड़ूँगा खेत और जंगल में,
वह मिले या न मिले।
तुम पाने की चीज़ें बाज़ार से खरीदते हो, घर में भरकर रखते हो—
जो पाया नहीं जाता, उसकी छूत मुझे क्यों लगी?
मेरा जो था उसे मैंने दे दिया, जो नहीं था उसकी झोंक में,
मेरी पूँजी चुक गयी—पर क्यों सोचते हो मैं उसके शोक में मरता हूँ?
मैं सुखी हूँ, हँसता हूँ, दुःख मुझे नहीं है।
मै मनमाने खेतों-जंगलों मे उन्मुक्त घूमता फिरता हूँ!

३

कुञ्ज वन के द्वार पर

(वृद्ध दादा और उत्सव करते हुए बालकगण)

दादा : हम द्वार तक पहुँच गये है। अब काफ़ी ज़ोर से दरवाज़े को धक्का दो

गान-१०

आज कमल-मुकुल-दल खिला है, हिला है,
मानस-सर में रस-पुलक की लहर उठी है,
गगन गंध ने मगन समीर आनन्द से उन्मत्त

मधुकर करते गुञ्जार वन्दना में रत
निखिल भुवन मुग्ध हो रहा है ।

(प्रस्थान । अवन्ती, कौशल, कांची आदि के राजाओं का प्रवेश)

अवन्ती : **यहाँ के राजा क्या हमें भी दर्शन न देंगे ।**

कांची : **इसकी राज करने की प्रणाली भी कैसी है । राजा के कुंज वन में उत्सव है लेकिन वहाँ भी जनसाधारण पर किसी तरह की कोई रोक-टोक नहीं है?**

कौशल : **हम लोगों के लिए तो बिलकुल अलग स्थान तैयार करके रखना उचित था?**

कांची : **हम लोग अपने बाहु-बल से अपना स्थान बना लेंगे ।**

कौशल : **यहाँ सब देखकर संदेह होता है कि यहाँ राजा है ही नहीं । एक प्रपंच चला आ रहा है ।**

अवन्ती : **हाँ, ऐसा हो तो सकता है, किन्तु यहाँ की रानी सुदर्शना निपट प्रपंच नहीं ।**

कौशल : इसी लोभ से तो आये हैं । जो दिखायी नहीं देता उनके लिए हमारी विशेष उत्सुकता नहीं है, किन्तु जो देखने के योग्य है, उसे देखे बिना लौट जायँ तो यह ठगे जाना होगा ।

कांची : तो कोई फंदा डाला ही जाय न!

अवन्ती : फंदा है तो बहुत अच्छी चीज़, अगर खुद ही उसमे न फँस जायँ तो ।

कांची : यह क्या मामला है—अपनी पताका फहराता हुआ इधर कौन आ रहा है । यह कहाँ का राजा है?

(प्यादो का प्रवेश)

कांची : तुम्हारा राजा कहाँ का है?

पहला प्यादा : इसी देश के । वह आज उत्सव मनाने आये हैं ।

(प्रस्थान)

कौशल : यह क्या बात है? यहाँ के राजा बाहर आये हैं ।

अवन्ती यही तो । तब तो इसको देखकर ही लौटना होगा । दूसरी दर्शनीय चीज़ें तो रह गयीं ।

कांची : लेकिन हम क्यों सुनें? जहाँ राजा ही नहीं है । इसीलिए उसका जी चाहता है बेधड़क अपने को राजा कहकर अपना परिचय देता है । देखते नहीं, जैसे रूप सजाकर आया हो । ज़रूरत से ज्यादा सजा है ।

अवन्ती : किन्तु देखने मे अच्छा है । चेहरे-मोहरे से आँखे धोखा खा सकती हैं ।

कांची : एक बार धोखा हो सकता है, लेकिन अच्छी तरह देखते ही पोल खुल जायगी । मै तुम्हारे सामने ही उसका भण्डा-फोड़ किये देता हूँ ।

(राजवेशी का प्रवेश)

राजवेशी : स्वागत राजगण! यहाँ आपकी अभ्यर्थना में कोई चूक तो नहीं हुई ।

राजगण : (कपट-विनय से नमस्कार करते हुए) कोई नहीं ।

कांची : जो अभाव था, वह महाराज के दर्शन से ही पूरा हो गया ।

राजवेशी : जन-साधारण हमें नहीं देख सकते; किन्तु आप लोग हमारे अनुगत हैं इसलिए एक बार भेंट करने आ गये।

कांची : इतना अधिक अनुग्रह सहन करना कठिन है!

राजवेशी : मैं अधिक देर नहीं ठहरूँगा।

कांची : यह तो पहले ही समझ रहा था। अधिक देर तक टिकने के लक्षण तो नहीं दीखते।

राजवेशी : इस बीच यदि आपका कोई अनुरोध हो तो—

कांची : है तो। किन्तु अनुचरों के सामने कहते संकोच होता है।

राजवेशी : (अनुवर्तियों के प्रति) , थोड़ी देर के लिए तुम लोग हट जाओ! अब आप लोग निःसंकोच अपनी बात कह कहते हैं।

कांची : निःसंकोच ही कहेंगे—ऐसे कि तुम्हें भी लेश-मात्र संकोच न हो।

राजवेशी : नहीं, इसकी आशंका न करें।

कांची : तो आओ, भूमि पर माथा टेककर हममें से प्रत्येक को प्रणाम करो!

राजवेशी : जान पड़ता है मेरे भृत्यों ने राजशिविर में वारुणी कुछ खुले हाथ से बाँटी है!

कांची : अरे भंडराज, मद जिसे कहते हैं वह तुम्हारे ही भाग में अति मात्रा में पड़ा है। इसीलिए अब यहाँ धूल में लोटने की अवस्था सामने आयी है!

राजवेशी : राजगण, यह परिहास राजोचित नहीं है।

कांची : परिहास का अधिकार जिनको है वे भी पास ही मौजूद हैं। सेनापति!

राजवेशी : और प्रयोजन नहीं है। स्पष्ट ही दीखता है कि आप लोग मेरे प्रणम्य हैं। सिर अपने-आप झुका जा रहा है, किसी कठोर उपाय से उसे मिट्टी तक झुकाने की जरूरत नहीं होगी। आप लोगों ने जब मुझे पहचान लिया तो मैंने भी आपको पहचान लिया। इसलिए यह मेरा प्रणाम ग्रहण करें। और यदि दया करके आप मुझे भाग जाने दें तो मैं उसमें विलम्ब नहीं करूँगा।

कांची : भागोगे, क्यों? हम लोग तुम्हें यहाँ का राजा बनाये देते हैं। परिहास को पूरा ही कर दिया जाय! दल-बल कुछ है?

राजवेशी : है। राह चलते जो भी मुझे देखता है मेरे पीछे दौड़ा आता है। आरम्भ में जब मेरा दल अधिक बड़ा नहीं था तब सभी सन्देह करते थे—लेकिन जैसे-जैसे लोग बढ़ते गये सन्देह दूर होता गया। अब तो भीड़ के लोग अपनी भीड़ देखकर ही मुग्ध हुए जा रहे हैं—मुझे तो कुछ भी कष्ट नहीं करना पड़ता!

कांची : अच्छी बात है। अब से हम तुम्हारी सहायता करेंगे। किन्तु हमारा भी एक काम तुम्हें कर देना होगा।

राजवेशी : आपका दिया हुआ आदेश और मुकुट मैं सिर माथे पर लूँगा।

कांची : अभी तो और कुछ नहीं चाहिए। हम रानी सुदर्शना को देखना चाहते हैं। यह काम तुम्हें कर देना होगा।

राजवेशी : यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा—इसमें त्रुटि नहीं होगी।

कांची : तुम्हारी यथाशक्ति का भरोसा नहीं है। जैसा हम सुझायेंगे वैसे चलना होगा। अच्छा, अब तुम कुंज में जाकर राजा के तमाम आडम्बर के साथ उत्सव मनाओ चलकर।

(राजगण और राजवेशी का प्रस्थान। बुढ़ऊ दादा और कुम्भ का प्रवेश)

कुम्भ : दादा, तुम्हारी बात तो नहीं समझी। लेकिन तुम्हें समझता हूँ। तो अब मुझे राजा की ज़रूरत नहीं है, अब मैं तुम्हारे पीछे ही हो लिया। लेकिन इसमें ठगा तो नहीं गया?

दादा : मेरे साथ से ही तुम्हारा काम पूरा चल जाय, तब तो नहीं ठगे गये। लेकिन अगर मुझसे अधिक कुछ भी ज़रूरत तुम्हें हो तब तो ज़रूर ठगे गये!

कुम्भ : दद्दा उत्सव शुरू हो गया है, अब भीतर चलो!

दादा : नहीं रे, पहले द्वार का काम समेट लूँ। फिर भीतर। यहाँ सब आने वालों से एक बार मिल लेना होगा। लो, अब हमारे अकिंचनों की टोली आ रही है।

अकिंचनों की टोली : दद्दा, तुम्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हम लोगों को बड़ी देर हो गयी।

दादा : आज तो मैं द्वार पर खड़ा हूँ। आज और कहीं खोंजने पर कैसे मिलूँगा।

पहला अकिंचन : तुम हमारे उत्सव के सूत्रधार जो हो।

दादा : तभी तो द्वार पर खड़ा हूँ।

दूसरा : आज क्या तुम इन कुम्भ, सघन, मूसल, तोसल वगैरा के साथ ही रहोगे? देश-विदेश के कितने राजा आये हैं, उनके साथ परिचय प्राप्त नहीं?

दादा : भाई, यह सब सीधे सरल लोग हैं—उनके साथ चुपचाप खड़े रहने-भर से लोग समझते हैं कि न जाने इनकी कितनी सेवा की। और बड़े आदमियों के सामने मूँड कटाकर भी हाजिर किया जाय तो वे समझते हैं कि उन्हें झूठ-मूठ कुछ देकर ठग लिया गया!

प. अकिंचन : अब चलो दद्दा!

दादा : नहीं भाई, आज तो मेरा चलना यहीं खड़े-खड़े ही है। लोगों की चला-चली मे ही मेरा मन दौड़ रहा है! और क्या अब——तो फिर शुरू किया जाय!

(समवेत गान)

गान-११

हमारा कुछ भी नहीं है, हम घर-बाहर गाते-फिरते हैं—
ताना ना ना ना।
जितने दिन जाते हैं हम सुख से गाते हैं, ताना ना ना ना।
जो लोग सोने के खिसकती बालू पर पक्के घर की भीत गढ़ते हैं,
हम उनके सामने से गान गाते जाते हैं : ताना ना ना ना।
जब रह-रहकर गाँठ की ताक में गिरहकटे झाँकते हैं,

हम सूनी झोली दिखाकर गाते हैं—ताना ना ना ना ।
जब मौत की बुढ़िया द्वार पर आती है, हम उसे अँगूठा दिखाते हैं—
तान खींचकर गाते हैं, ताना ना ना ना ।
यह जो वसन्त आया है, बाहर से कितना सजा-धजा है,
पर उसके भीतर से वैरागी गाता है—ताना ना ना ना ।
उत्सव का दिन चुकाकर, झराकर, सुखाकर,
रीते हाथों से ताली देता हुआ गाता है, ताना ना ना ना ।

(प्रस्थान । स्त्रियों की एक टोली का प्रवेश)

पहली स्त्री . दद्दा!

दादा . क्या है भाई?

पहली . आज वसन्त-पूर्णिमा के चाँद के साथ परस्पर माला बदलूँगी, यह प्रण करके घर से निकली हूँ ।

दादा इस प्रण की रक्षा करना तो कठिन दीखता है ।

तीसरी क्यों, ज़रा सुनें तो ।

दादा क्योंकि तुम्हारी दादी ने केवल एक ही माला मेरे गले में पहनायी है ।

तीसरी देखा, देखा? ज़रा दद्दा की सादगी तो देखो!

दूसरी हाय रे हाय, आकाश का चाँद कहाँ आकर गिरा है!

दादा तुम लोगों ने जो जाल बिछाया है उससे बचकर कैसे निकला जा सकता है!

पहली तब हमारे जाल का गुण ही बताओ!

दादा चाँद भी गुणी है, अपने लायक जाल देखकर वह खुद पकड़ाई दे देता है ।

तीसरी अच्छा, दादी का हिसाब भी कैसा है । आज उत्सव के दिन न हो तो दो मालाएँ ज्यादा ही डाल दी होतीं!

दादा जितनी भी देतीं, पूरी थोड़ी ही होतीं! इसलिए आज एक ही माला दी । एक में तो कोई झंझट ही नहीं है ।

दूसरी दद्दा, तुम द्वार छोड़कर हटोगे नहीं ।

दादा हाँ भाई, सबको आगे बढ़ाकर तब सबके पीछे मैं जाऊँगा ।

(स्त्रियों की टोली का प्रस्थान । नाचनेवालों के दल का प्रवेश)

दादा · अरे, आओ, आओ!

प. नर्तक हमारे नटराज तो तुम हो । तुम्हें हम खोजते फिर रहे थे ।

दादा मैं तो द्वार के पास खड़ा हूँ । जानता हूँ, सबको यहीं से जाना होगा । तुम्हें देखते ही दोनों पैर छटपटाने लगे । एक बार नचा तो जाओ।

(नृत्य और गान)

गान-१२

मेरे चित्त में कौन नित्य नाचता है—
ता-ता थेइ-थेइ ता-ता थेइ-थेइ थैया ?

उसके साथ मृदंग पर हरदम क्या बजता है ?
ता-ता थेइ-थेइ ता-ता थेइ-थेइ ।
हँसी और क्रंदन, हीरे-पन्ने से भाल पर दोलते हैं,
अच्छा बुरा, छन्द-ताल पर कँपते हैं,
जन्म और मरण पीछे-पीछे नाचते हैं—
ता-ता थेइ-थेइ, ता-ता थेइ-थेइ ।
कैसा आनन्द, कैसा आनन्द !
दिन-रात नाचते है मुक्ति और बंधन
रंग-शाला में उसी की तरंग पर,
ता-ता थेइ-थेइ, ता-ता थेइ-थेइ !

दादा : जाओ भाई, तुम लोग नाचते-गाते हुए जाओ घूमो!

(नाचनेवालो के दल का प्रस्थान । नागरिको के दल का प्रवेश)

पहला नागरिक : दद्दा, हमारे राजा नहीं हैं यह बात दो सौ बार कहूँगा ।

दादा : केवल दो सौ बार! इतने बड़े संयम की क्या ज़रूरत है । पाँच सौ बार कहो न!

दूसरा नागरिक : धोखा देकर कब तक तुम लोग किसी को भरमाये रखोगे

दादा : भाई, अपने को भी तो भरमा रखा है हमने!

तीसरा ना. : हम लोग चारों ओर प्रचार करेंगे कि हमारा कोई राजा नहीं है ।

दादा : यह झगड़ा किसके साथ करोगे, बताओ । तुम्हारा राजा तो किसी का कान पकड़कर कहता नहीं है कि मै हूँ । वह तो यही कहता है कि तुम्हीं लोग हो । उसका सब-कुछ तुम्हारे ही लिए तो है ।

पहला ना. : यह लो—हम लोग बीच सड़क मे चिल्लाते जायेंगे कि राजा नही है । अगर राजा है तो क्या कर लेगा, देखे तो सही ।

दादा : कुछ नहीं करेगा ।

दूसरा ना : मेरा पच्चीस वर्ष का लड़का सात दिन के ज्वर मे मर गया । यदि देश मे धर्म का राजा रहता तो क्या ऐसी अकाल मृत्यु हो सकती ।,

दादा : अरे, फिर भी तेरे दो बेटे तो बचे है—मेरे तो एक-एक करके पाँचों लड़के मर गये । एक भी बाकी न रहा।

तीसरा : तो फिर?

दादा : तो फिर क्या? लड़का तो गया ही, इसीलिए क्या झगड़ा करके राजा को भी गँवा बैठूँ! क्या मै ऐसा ही मूर्ख हूँ?

पहला : जिन्हे घर मे अन्न नही जुटता उनका राजा कैसा?

दादा : ठीक कहता है तू । तब फिर उसी अन्न-राजा को खोजकर निकाल । घर बैठकर चिल्लाने से तो वह दर्शन देने से रहा ।

दूसरा : हमारे राजा का कैसा न्याय है, ज़रा सोचो तो । हमारा जो भद्रसेन है, वह

'राजा-राजा' रटते मरा जा रहा है; पर उसके घर का यह हाल है कि चमगादड़ों को भी वहाँ रहते तकलीफ़ होती है।

दादा : मेरी ही दशा देख न? सारा दिन तो राजा के द्वारे खटता रहता हूँ और आज तक दो पैसे पुरस्कार के नहीं मिले।

तीसरा · तब?

दादा : तब क्या। इसी बात को लेकर तो गर्व करता हूँ। बन्धु को कोई कभी पुरस्कार देता है! खैर, तुम लोग जाओ, मज़े से चिल्लाते फिरो कि राजा नहीं है। आज हमारा सभी तरह के सुरों का उत्सव है—सब सुर एक तान मे ठीक-ठीक मिल जायँगे।

गान-१३

बसन्त क्या केवल खिले फूलों का मेला है ?
क्या तुम सूखे पत्तों और झरे फूलों का खेल नहीं देखते ?
क्या उठती लहरों के सुर में ही सागर का गान बजता है !
गिरती लहरों का सुर भी तो हर समय जागता रहता है !
मेरे प्रभु के चरणों तले क्या केवल मानिक जलते हैं ?
लाखों माटी के ढेले भी उन चरणों मे लोटके रोते हैं ।
मेरे गुरु के आसन के पास सुबोध बालक हैं ही कितने ?
अबोध को वह गोद बिठाते हैं, इसी से मैं उनका चेला हूँ ।
उत्सव के राजा झरे फूलों का खेल निहार रहे है !

४

प्रसाद-शिखर

(सुदर्शना और सखी रोहिणी)

सुदर्शना अरे रोहिणी, तूने हमारे राजा को क्या कभी नहीं देखा।

रोहिणी सुना है सारी प्रजा ने देखा है, किन्तु पहचाना है बहुत कम लोगों ने। इसीलिए जब भी किसी को देखकर मन चौंक उठता है तभी सोचती हूँ कि शायद यही राजा होंगे। फिर दो-एक दिन बाद अपनी भूल मालूम हो जाती है।

सुदर्शना : तुम लोग गलतियाँ कर सकती हो, इनसे तो भूल नहीं हो सकती। मै रानी जो ठहरी। वही है—मेरे राजा ही तो हैं!

रोहिणी : आपको वह कितना मान देते है। आपसे पहचाने जाने मे वह देर थोड़े ही कर सकते हैं!

सुदर्शना : उस मूर्ति को देखते ही चित्त अपने-आप पिंजरे के पक्षी की भाँति चंचल हो उठता है। उनके बारे में अच्छी तरह पूछती आयी है न?

रोहिणी : निश्चय ही पूछ आयी हूँ। जिस किसी ने पूछा उसी ने तो कहा कि राजा हैं।

सुदर्शना : कहाँ के राजा।

रोहिणी : हमारे ही राजा।

सुदर्शना : वही जिनके मस्तक पर फूलों का छत्र है, उन्हीं की बात कह रही है न?

रोहिणी : हाँ वही, जिनकी पताका पर पलाश का फूल अंकित है।

सुदर्शना : मैंने तो देखते ही पहचान लिया था। तुम्हें ही संदेह हुआ था।

रोहिणी : हम लोगों में साहस बहुत कम है। तभी तो डर लगता है। क्या जाने, कहीं ज़रा सी चूक हो गयी तो अपराध होगा।

सुदर्शना : आह, अगर सुरंगमा होती तब कोई संदेह न रहता।

रोहिणी : सुरंगमा ही जैसे हम सबमें सयानी है।

सुदर्शना : अब चाहे तू जो कहे, वह उनको ठीक पहचानती है।

रोहिणी : यह बात मैं कभी नहीं मान सकती। उसको वैसा भान होगा। 'पहचानती हूँ' कह देने में क्या है; कोई परीक्षा तो कर नहीं सकता। हम लोग भी उनकी तरह निर्लज्ज होतीं तो हमे भी यह बात कहते अटक न होती।

सुदर्शना : नहीं-नहीं, वह बेचारी तो कुछ कहती नहीं।

रोहिणी : वैसा भाव जो दिखाती है, वह तो कहने से भी अधिक हुआ। कितने छल-छन्द जानती है वह! तभी तो हममें से कोई उसे देख नहीं सकती।

सुदर्शना . जो भी हो, वह होती तो एक बार उसे पूछ देखती।

रोहिणी वह तो कभी कहीं बाहर नहीं जाती। आज देखा, वह बन-ठनकर उत्सव मनाने निकली है। उसके रंग-ढंग देखकर तो मैं हँसते-हँसते बेदम हो गयी।

सुदर्शना : आज प्रभु की आज्ञा जो है, तभी तो वह सज-धज कर निकली है।

रोहिणी तब तो ठीक है महारानी, तब हमे क्या कहना है। आपकी इच्छा हो तो हम उसी को बुला लाती है, उसी की बात से आपका सन्देह मिटे। उसकी किस्मत अच्छी है, रानी से राजा का परिचय वही करवायेगी।

सुदर्शना : नहीं, नहीं, परिचय किसी को नहीं कराना होगा—फिर भी उनकी बात तो हर किसी के मुख से सुनने की इच्छा होती है।

रोहिणी · सभी तो यही कह रहे है। देखिए न, उनकी जयध्वनि यहाँ तक सुनाई दे रही है।

सुदर्शना . तब तू एक काम कर! कमल-पत्र से ढककर ये फूल उन्हें दे आ।

रोहिणी अगर वे पूछे कि किसने दिये है तो ?

सुदर्शना : उन्हे कुछ बताना न होगा। वह स्वयं समझ लेगे। उनका विचार था, मैं पहचान ही नहीं सकूँगी—वह पकड़े गये यह जताये बिना मैं छोड़नेवाली नहीं हूँ। (फूल लेकर रोहिणी का प्रस्थान)· मेरा मन आज इतना चंचल

क्यों हो रहा है—ऐसे तो कभी नहीं होता था। पूर्णिमा की यह चाँदनी मद के फेन की तरह चारों ओर छलकी पड़ती है, मुझे मानो मदमत्त किये दे रही है। अरे ओ वसन्त, ये जो सारे के सारे भीरु लजीले फूल गम्भीर रात में पत्तों की ओट मे फूटते हैं, तुम जैसे उनकी गन्ध उड़ा ले जाते हो, वैसे ही मेरे मन को तुम कैसे हठात् उदास कर गये, उसे ज़मीन पर पैर टेकने तक नहीं दिये... प्रतिहारी!

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी : आज्ञा महारानी!

सुदर्शना : अमराई की पगडण्डी से होते हुए वे जा रहे हैं—जा उन्हें बुला ला। मैं जरा उनका गान सुनूँगी।

(प्रतिहारी का प्रस्थान)

ओ भगवान् चन्द्रमा, आज मेरी इस चंचलता पर तुम मानो केवल कटाक्ष करते जा रहे हो। तुम्हारी कौतुक-भरी मुस्कान से मानो सारा आकाश भर गया है। मेरे लिए छिपने की मानो और कोई जगह नहीं रही—मैं मानो अपनी ओर देखकर स्वयं लजा रही हूँ। भय, लज्जा, सुख, दुःख, सभी मानो मिलकर मेरे हृदय मे नृत्य कर रहे हैं.. देह का रक्त नाच रहा है, चारों ओर जगत् नाच रहा है, सब धुँधला हुआ जा रहा है ..

(बालकों का प्रवेश)

आओ आओ, तुम सब मूर्तिमान किशोर वसन्त हो! आरम्भ करो अपना गान। मेरा देह मन सब गान गा रहा है फिर भी मेरे कण्ठ में सुर नहीं फूटता। तुम लोग मेरी ओर से गान गाते चलो।

(बालकों का गान)

गान-१४

आज मधु-रात में विरह मधुर हो गया है ।
वेदना में गम्भीर रागिनी बज उठती है ।
अदर्शन की मेरी प्यास पूर्णिमा की रात में छा कर
पलकों मे कैसी करुण मरीचिका-सी भर देती है ।
सुदूर की सुरभि-धारा वायु को भरती हुई
मेरे प्राणों मे भटक-भटककर खो जाती है ।
किसकी वाणी किस सुरताल में पल्लवों में मर्मरित है—
जिनके साथ-साथ मेरे मंजीर भी बज उठे हैं ।

सुदर्शना . बस बस, बहुत हुआ। तुम्हारा यह गाना सुनकर आँखें भर आती है। ऐसा लगता है कि जो पाने की चीज़ है उसे अपने हाथ मे पाने का कोई उपाय नहीं है, बल्कि उसे पकड़ पाने की ज़रूरत ही नहीं है। मानो ऐसे खोजने

में ही सब पाना सुधामय हो गया है। माधुर्य का कौन संन्यासी तुम लोगों को यह गान सिखा गया है। इच्छा होती है कि आँखों से देखना, कानों से सुनना सब मिटा दूँ। हृदय के भीतर जो अँधियारा कुंजवन उदास है उसी की छाया में चलती चली जाऊँ। तापस कुमारो, तुम लोगों को मैं क्या दे सकती हूँ, कहो? मेरे गले में यह केवल रत्नों की माला है—यह कठिन हार तुम लोगों के कण्ठ को पीड़ा ही देगा। तुम लोगों ने जिन फूलों की माला पहन ली है, वैसा कुछ भी मेरे पास नहीं है!

(प्रणाम करके बालको का प्रस्थान। रोहिणी का प्रवेश)

सुदर्शना : मैंने अच्छा नहीं किया, रोहिणी, अच्छा नहीं किया! तुमसे पूरा ब्यौरा सुनते भी अब मुझे संकोच हो रहा है। अभी-अभी अचानक मैं यह समझ पायी हूँ कि जो सबसे बड़ा पाना है वह छूकर पाना नहीं है। वैसे ही जो सबसे बड़ा देना है, वह हाथों में देना नहीं है। फिर भी तू कह क्या हुआ? बता!

रोहिणी : मैंने तो स्वयं राजा के हाथों में फूल दिये। किन्तु उन्होंने कुछ समझा, ऐसा तो नहीं जान पड़ा।

सुदर्शना : क्या कह रही है तू! उन्होंने समझा नहीं?

रोहिणी : नहीं, वे चुप्पी साधे, मेरी ओर तकते हुए पुतले की तरह बैठे रहे। कोई कुछ समझे नहीं यह पता न लग जाय, इसीलिए कुछ बोले नहीं।

सुदर्शना : छिः छिः छिः ! मैंने जैसी प्रगल्भता दिखायी वैसा ही मुझे दण्ड मिला । तू मेरे फूल लौटा क्यों नहीं लायी।

रोहिणी : लौटा कैसे लाती? उनके पास थे कांची के राजा, वह बड़े चतुर हैं—देखते ही सब समझ गये। मुड़े और मुस्कराकर बोले—'महाराज, महिषी सुदर्शना आज वसन्त सखा के पूजा-पुष्पों से महाराज की अभ्यर्थना कर रही है।' सुनकर वह हठात् सचेत होकर उठ बैठे। बोले, 'मेरा राज-सम्मान परिपूर्ण हुआ।' मैं लज्जित होकर लौट रही थी कि इतने मे कांची के राजा अपने हाथों महाराज के गले से यह मुक्ता-माला उतारकर मुझसे बोले—'सखी, तुम जो सौभाग्य वहन करके लायी हो, उसके सम्मुख हार मानकर महारानी की कण्ठमाला तुम्हारे हाथो मे आत्म-समर्पण करती है।'

सुदर्शना : बात कांची के राजा को समझकर कहनी पड़ी? आज की पूर्णिमा के उत्सव ने मेरा अपमान बिलकुल उघाड़कर रख दिया! अच्छा, जो हुआ सो हुआ; तू आ, मैं ज़रा एकान्त चाहती हूँ। (रोहिणी का प्रस्थान) आज मेरा दर्प इस बुरी तरह चूर्ण हुआ है फिर भी उस मोहन रूप से अपने मन को नहीं फिरा पाती। मेरा अभिमान टूट गया। हार, सर्वत्र मेरी हार—मुँह फेर लूँ इतनी भी शक्ति नहीं रही। केवल इच्छा होती है कि वह माला रोहिणी से माँग लूँ। किन्तु वह क्या समझेगी! रोहिणी!

रोहिणी : (प्रवेश करके) क्या है, महारानी!

सुदर्शना : आज के काम से तू क्या पुरस्कार पाने योग्य थी?

रोहिणी : आपके निकट भले ही न हूँ, लेकिन जिन्होंने दिया है, उनसे तो पा सकती थी।

सुदर्शना : नहीं नहीं, इसको देना नहीं कहते, यह जबरदस्ती लेना है।

रोहिणी : फिर भी राजकण्ठ से अनादृत माला का भी अनादर कर सकूँ इतनी मेरी हिम्मत नहीं है!

सुदर्शना : अवज्ञा भरी यह माला तेरे गले में देखते मुझे अच्छा नहीं लगता। ला, वह उतारकर मुझे दे दे। उसके बदले में अपने हाथ का कंगन तुम्हें देती हूँ—यह तू ले जा!

(रोहिणी का प्रस्थान)

हार हुई, मेरी हार हुई। यह माला तोड़कर फेंक देना उचित था, लेकिन मैं वैसा नहीं कर सकी। यह काँटों की माला की तरह मुझे बींध रही है फिर भी इसे त्याग नहीं सकी। उत्सव देवता के हाथों क्या यही मैंने पाया—यही अगौरव की माला!

५

कुंज द्वार

(दादा और कुछ लोग)

दादा : क्यों भई, हुआ क्या?

पहला आदमी : खूब हुआ दद्दा। देखो न, मुझे एकदम लाल रंग से रँग दिया। कोई बाक़ी नहीं बचा!

दादा : सच? राजाओं को भी रँग दिया क्या!

दूसरा . अरे नहीं, वहाँ घुसने ही किसने दिया। सब घेरा डालकर खड़े हुए थे।

दादा : हाय-हाय, तब तो बड़ा बुरा हुआ तुम्हारे साथ। थोड़ा-सा रंग भी उन पर न डाल सके? ज़बरदस्ती घुस जाते।

तीसरा : दद्दा, उनको रँगने के लिए दूसरा रंग चाहिए! वह रंग उनकी आँखों में होता है, उनके प्यादों की पगड़ियों पर होता है। तिस पर उनकी नंगी तलवारों की जो भंगिमा देखी—लगा कि हम लोगों ने ज़रा और अन्दर घुसने की कोशिश की कि वे एकदम सुर्ख लाल रंग से रँगी जायँगी।

दादा : तब तो अच्छा किया कि अन्दर नहीं घुसे। उन सबको पृथ्वी पर निर्वासन का दण्ड मिला हुआ है उनसे दूरी बनाये रखकर ही चलना होगा। अब तुम लोग घर जा रहे हो?

तीसरा : हाँ दद्दा, रात तो ढाई पहर जा चुकी। तुम तो भीतर ही नहीं गये।

दादा : अभी भी मेरी पुकार नहीं हुई—अभी भी द्वार पर ही हूँ।

दूसरा : तुम्हारे यह शम्भू सुँघन वगैरा सब कहाँ गये?

दादा : उन्हें नींद आ रही थी—सोने गये हैं।

पहला : हाँ, वह क्या तुम्हारी तरह ऐसे जागते खड़े रह सकते हैं?

(प्रस्थान। बाउलों के दल का प्रवेश)

गान-१५

जो काला था, जो धौला था,
सब तुम्हारे रंग में रँगकर लाल हो गया—
जैसे तुम्हारे चरणों का वर्ण है—
उनसे और भेद न रहा।
वसन-भूषण लाल हुए, शयन-स्वप्न लाल हुए
देखो कैसा हो गया सब—
जैसे झूमता हुआ लाल कमल!

दादा : वाह भाई, खेल खूब जमा।

बाउल : बहुत अच्छा! सब लाल-ही-लाल। केवल आकाश का चाँद ही दग़ा कर गया—सफ़ेद ही रह गया।

दादा : बाहर से तो ऐसा दीखता है जैसे बड़ा भलामानस है। अगर उसकी सफ़ेद चादर उतारकर देख सकते तो उसकी चालाकी पकड़ पाते। आज चुपके-चुपके वह जो रंग बरसाता रहा है, मैं यहाँ खड़े-खड़े ही सब देखता रहा हूँ। फिर भी अपने-आप अब भी कैसा उजला बना हुआ है!

गान-१६

ओ मेरे प्रिय, तुम्हारे साथ मेरा प्राणों का खेल है।
मेरे प्राण उतावले हैं आज, खेल में क्या हार मान जायेंगे?
केवल तुम्हीं क्या मुझे ऐसे रँगकर भाग जाओगे?
तुम जान-बूझ पकड़ाई देकर मेरा रंग अपने वक्ष पर लेना—
मेरे हृदय-कमल के लाल रेणु से तुम्हारा उत्तरीय लाल हो जाये!

(प्रस्थान। स्त्रियों के दल का प्रवेश)

पहली स्त्री : मैया री, जहाँ देख गयी थी अभी तक वहीं खड़ा है!

दूसरी स्त्री : हमारी वसन्त पूर्णिमा का चाँद, इतनी रात हो गयी तब भी वह ज़रा-सा भी पश्चिम की ओर नहीं सरका!

पहली : क्यों री, हमारा अचंचल चाँद किसकी राह देखता हुआ खड़ा है?

दादा : जो उसे राह पर चलायेगी उसी के लिए।

तीसरी : घर छोड़कर अब बाहर की कोई चीज ढूँढ़ी जायेगी क्या?

दादा : हाँ भाई, मन सत्यानाश के लिए ही छटपटा रहा है!

गान-१७

मैं अपना सब-कुछ लेकर बैठा हूँ सर्वनाश की आस में ।
मैं देख रहा हूँ उनकी राह जो चलते को मँझधार में डुबा देता है ।

दूसरी : रास्ते पर लगा देने की शक्ति तो हम लोगों में नहीं है, रास्ता छोड़कर चलना ही अच्छा है। जो खुद पकड़ मे नहीं आता उसे पकड़ाई देने से क्या लाभ!

दादा : उसे पकड़ाई देने पर पकड़े जाना और छुटकारा पाना सब एक ही है। जो दिखाई नहीं देता पर देख जाता है, ओट से प्यार करता है। उसी गम्भीर के गोपन प्रेम में मेरा मन डूबा हुआ है।

(स्त्रियों के दल का प्रस्थान। नर्तक दल का प्रवेश)

दादा : हे भाई, रात तो आधी से अधिक पार हो गयी, लेकिन मन का नशा तो अभी कम होता नहीं दीखता! तुम लोग तो घर जा रहे हो— अपना अन्तिम नाच नाचते जाओ!

गान-१८

मुझे चक्कर आ गया है तुम्हारे पीछे-पीछे नाचते-नाचते,
ता धिन ता धिन !
तुम्हारे ताल पर मेरे चरण है, कौन क्या कहता है,
मैं नहीं पाता सुन ।
तुम्हारे गान से मेरे प्राणों में कोई जो पागल था, वह जग उठा है,
ता धिन-ता धिन !
मेरे लाज के और साज के बन्धन खुल गये, भजन-साधन सब धरे रह गये ।
तेज नाच के चक्करदार झोंको से सब चिन्ता उड़ गयीं,
ता धिन-ता-धिन !

(नर्तक दल का प्रस्थान)

(सुरंगमा का प्रवेश)

दूसरी : अब तक क्या कर रहे थे, दद्दा?

दादा : द्वार पर अपने काम पर मुस्तैद था।

सुरंगमा : वह काम तो समाप्त हुआ। अब तो कोई भी नहीं है सब चले गये।

दादा : तो मैं भीतर चलूँ।

सुरंगमा : वहाँ बाँसुरी बज रही है, अब कान लगाने से पता लग सकेगा।

दादा : हाँ, जब सब लोग ताड़ के पत्ते के अपने-अपने भोंपू बजा रहे थे तब तो बड़ा हल्ला था।

सुरंगमा : उत्सव मे भोंपू की व्यवस्था भी तो उन्होंने कर रखी थी।

दादा : उसकी बाँसुरी किसी दूसरे के बाजे को दबाती नहीं। वर्ना लाज के मारे और सबकी तान बन्द हो जाती!

सुरंगमा : सुनो दद्दा, आज इस उत्सव में भीतर-ही-भीतर बराबर मुझे लगता रहा है कि अब राजा मुझे कोई सज़ा देंगे।

दादा : सज़ा देंगे?

सुरंगमा : हाँ दद्दा, अब मुझे भेज देंगे। मैं बहुत दिनों से उनके पास हूँ, यह उन्हें सहन नहीं होता है।

दादा : तो अब काँटों-भरे बीहड़ वन के पार से तेरे हाथों पारिजात मँगवायेंगे। उस दुर्गम पथ की खबर हमें कहीं से मिल जाय बस?

सुरंगमा : तुम्हें अभी कहीं की खबर पाना बाक़ी है क्या? राजा के काम से कौन-से पथ से तुम नहीं चले? हठात् कोई नयी आज्ञा होने पर पथ खोजते हुए तो हमें भटकना होता है।

गान-१९

किस कुंज में फूल फूटे, किस गहन निभृत में,
सुरभि-चंचल दक्षिणा वायु मतवाला हो गया—'किस गहन निभृत में
क्लान्त वसन्त-निशा संगियों के साथ बाहर के आँगन में कट गयी
जहाँ उत्सवराज है उस भवन के भीतर कौन ले जायगा—
किस गहन निभृत में!

(सुरंगमा का प्रस्थान)

(राजवेशी और कांचीराज का प्रवेश)

कांची : तुम्हे जैसे समझाया है ठीक वैसे ही करो। कोई भूल न हो।

राजवेशी : हाँ महाराज, यह मैंने देख लिया है। भूल नहीं होगी। रानी का प्रासाद करभोद्यान के बीच मे ही है।

कांची : उसी उद्यान में आग लगानी होगी। फिर अग्नि-काण्ड की भगदड़ के बीच काम सिद्ध करना होगा।

राजवेशी : कोई चूक नहीं होगी।

कांची : देखो जी भण्डराज, मुझे बार-बार यह लगता है कि हम व्यर्थ ही डरते-डरते चल रहे हैं। इस देश में राजा तो है ही नहीं।

राजवेशी : इसी अराजकता को दूर करने की तो मेरी कोशिश है। साधारण लोगों के लिए असली या नक़ली,एक राजा तो होना ही चाहिए। नहीं तो बड़ा अनिष्ट होता है।

कांची : हे साधु महाशय, लोक-हित के लिए आपका यह आश्चर्यमय त्याग हम सबके लिए एक दृष्टांत है। मैं तो सोच रहा हूँ कि यह हित-कार्य मैं ही करूँ।

(साहसा बुढ़ऊ दादा को देखकर) क्यों जी, कौन हो तुम? कहाँ छिपे हुए थे?

दादा : छिपा हुआ नहीं था। मैं बड़ा ही अकिंचन हूँ, इसीलिए आपकी नज़र-तले नहीं पड़ा।

राजवेशी : यह अपना परिचय यह कहकर देते हैं कि राजा इनके बन्धु हैं। और भोले-भाले लोग इनका विश्वास कर लेते हैं।

दादा : बुद्धिमानों का सन्देह तो किसी तरह मिटता ही नहीं, इसलिए हमारा काम तो भोले लोगों के साथ ही रहता है।

कांची : तुमने हम लोगों की बात सुन ली है?

दादा : आप लोग कहीं आग लगाने की सलाह कर रहे थे।

कांची : तुम हमारे बन्दी हो, चलो शिविर में।

दादा : तो यही जान पड़ता है कि आज इसी रूप में मेरी पुकार हुई!

कांची : क्या बड़बड़ा रहे हो!

दादा : मैंने कहा, देश की ममता से किसी तरह छूट नहीं पा रहा था इसीलिए शायद खींचकर अन्तःपुर में ले जाने के लिए यह मुनीम का प्यादा आ गया।

कांची : यह आदमी पागल है क्या?

राजवेशी : इसकी बात बिल्कुल बेसिर-पैर की होती है, कुछ समझ में नहीं आती।

कांची : जिसकी बात जितनी कम समझ में आती है, भोले लोग उस पर उतनी ही अधिक भक्ति करते है। लेकिन हमारे सामने यह चालाकी नहीं चलेगी। हम सिर्फ़ साफ़ बात से मतलब रखते हैं।

दादा : जो आज्ञा महाराज! मैं चुप होता हूँ।

६

करभोद्यान

रोहिणी : यह मामला क्या है, कुछ समझ में नहीं आता।
(मालियों से) तुम लोग इतनी जल्दी-जल्दी कहाँ चले जा रहे हो?

पहला माली : हम लोग बाहर जा रहे हैं।

रोहिणी : बाहर कहाँ जा रहे हो?

दूसरा माली : यह नहीं जानते। हमें राजा ने बुलाया है।

रोहिणी : राजा तो उद्यान में ही हैं। कौन से राजा?

पहला माली : यह तो हम नहीं कह सकते।

दूसरा माली : सदा से जिस राजा का काम करते आ रहे हैं, वही राजा।

रोहिणी : तुम सब चले आओ?

पहला माली : हाँ, सब जायेंगे। अभी जाना होगा। नहीं तो मुसीबत में पड़ेंगे।

(प्रस्थान)

रोहिणी : ये क्या कह रहे हैं, मैं कुछ समझ नहीं पायी। मुझे डर लग रहा है। जैसे नदी का कगार टूटकर गिरने से पहले वन-जन्तु उसे छोड़कर भागते हैं, वैसे ही सब भागे जा रहे हैं।

(कौशलराज का प्रवेश)

कौशल : तुम्हारे राजा और कांचीराजा किधर गये हैं, जानती हो?

रोहिणी : वे इसी उद्यान में हैं, किन्तु कहाँ हैं, यह सब मैं कुछ नहीं जानती।

कौशल : उनकी मन्त्रणा ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ। कांचीराज पर विश्वास करके अच्छा नहीं किया मैंने।

(प्रस्थान)

रोहिणी : राजाओं के बीच में यह क्या मामला चल रहा है? शीघ्र ही कुछ बुरा होनेवाला है। मैं उसमें तो नहीं फँस जाऊँगी!

अवन्तिराज : (प्रवेश करके) रोहिणी, राजा और लोगबाग़ सब कहाँ गये हैं जानती हो?

रोहिणी : वे सब कहाँ हैं यह बताना कठिन है। वैसे कौशलराज अभी-अभी इधर से गये हैं।

अवन्ती : कौशलराज की चिन्ता नहीं है। तुम्हारे राजा और कांचीराज कहाँ हैं?

रोहिणी : उन्हें तो बहुत देर से नहीं देखा।

अवन्ती : कांचीराज बराबर हम लोगों से कतराता रहा है। निश्चय ही वह धोखा देगा। इसमे पड़कर मैंने अच्छा नहीं किया। सखी, इस उद्यान से निकलने का मार्ग किधर है, जानती हो?

रोहिणी : मैं तो नहीं जानती।

अवन्ती : ऐसा कोई नहीं है क्या जो रास्ता दिखा सके?

रोहिणी : सारे माली उद्यान छोड़कर चले गये।

अवन्ती : क्यों चले गये?

रोहिणी : उनकी बात अच्छी तरह समझ तो नहीं पायी। किन्तु उन्होंने कहा कि राजा ने उन्हें तुरन्त उद्यान से चले जाने को कहा है।

अवन्ती : राजा! कौन राजा!

रोहिणी : वे लोग ठीक-ठीक बता नहीं पाये।

अवन्ती : यह तो अच्छी बात नहीं है। जैसे भी हो, यहाँ से निकलने का पथ ढूँढ़ना ही होगा। और एक क्षण-भर भी यहाँ नहीं!

(प्रस्थान)

रोहिणी : मैं तो सदा से इसी उद्यान में रहती आयी हूँ, पर आज ऐसा लग रहा है जैसे यहाँ बँधी हुई हूँ और बाहर निकले बिना छुटकारा नहीं। राजा को देख पाती तो भी

तसल्ली होती। परन्तु जब उन्हें रानी के फूल दिये थे तब वे तो मानो एक प्रकार से आत्म-विस्मृत थे और तब से वह मुझे केवल पुरस्कार ही दे रहे हैं। इन अकारण पुरस्कारों से मेरा डर और भी बढ़ रहा है। इतनी रात में भी ये सारे पक्षी कहाँ उड़े जा रहे हैं? ये सब के सब हठात् इतने डर क्यों गये हैं? अभी तो इनके उड़ने का समय नहीं हुआ है। रानी की पालतू हिरनी उधर कहाँ भागी जा रही है। चपला, चपला! मेरी पुकार उसने सुनी ही नहीं। ऐसा तो कभी नहीं होता। चारों दिशाएँ अचानक किसी मद्यप की आँखों की तरह लाल हो उठी है। मानो चारों ओर असमय सूर्यास्त हो रहा हो। विधाता को आज यह क्या हो गया है। मुझे बड़ा डर लग रहा है। राजा कहाँ मिलेंगे?

७

रानी के प्रासाद के द्वार

राजवेशी : कांचीराज, यह आपने क्या किया?

कांची : मैंने तो केवल इस प्रासाद के पास के हिस्से मे ही आग लगाना चाही थी, वह आग इतनी जल्दी ऐसे चारों ओर फैल जायगी यह तो मैंने सोचा भी नहीं था। इस उद्यान से निकलने का रास्ता किधर है, जल्दी बताओ!

राजवेशी : रास्ता किधर है यह तो मैं जानता ही नहीं। जो हमें यहाँ लाये थे उनमें से कोई दिखाई नहीं देता।

कांची : तुम तो इसी देश के रहनेवाले हो—निश्चय ही कोई रास्ता जानते होगे?

राजवेशी : अन्तःपुर के उद्यानों मे मैने कभी प्रवेश नहीं किया।

कांची : वह सब मै नहीं जानता। तुम्हे रास्ता बतलाना ही होगा। नहीं तो मै तुम्हारे दो टुकड़े करके फेंक दूँगा।

राजवेशी : उससे प्राण तो निकल जायेंगे, लेकिन यह रास्ता निकलने का उपाय तो हर्गिज नहीं होगा।

कांची : तब तू क्यों कहता फिर रहा हू था कि तू ही यहाँ का राजा है।

राजवेशी : मैं राजा नहीं हूँ, राजा नहीं हूँ **(धरती पर लेटकर हाथ जोड़ता हुआ)** कहाँ हो हमारे राजा, रक्षा करो! मै पापी हूँ, मेरी रक्षा करो! मैं विद्रोही हूँ, मुझे दण्ड दो, लेकिन मुझे बचाओ!

कांची : यों ही बहरी दीवारों के सामने चिल्लाने से क्या लाभ? तब तक रास्ता खोज निकालने का ही यत्न किया जाय।

राजवेशी : मैं तो यहीं पड़ा रहूँगा—मेरा जो होना होगा, वही होगा।

कांची : वह नहीं होगा! अगर जलकर ही मरना होगा तो अकेला नहीं मरूँगा, तुमको साथ लूँगा।

(नेपथ्य से पुकारः 'बचाओ राजा, बचाओ! चारों ओर आग लग गयी!')

कांची : अरे मूढ़, उठ, और देर न कर!

सुदर्शना : **(प्रवेश करती हुई)** रक्षा कीजिए, राजा! आग चारों ओर घेर रही है!

राजवेशी : राजा कहाँ हैं, मैं राजा नहीं हूँ।

सुदर्शना : तुम राजा नहीं हो!

राजवेशी : मैं भण्ड हूँ, पाखण्डी हूँ। **(मुकुट धूल में फेंककर)** मेरा सारा प्रपच धूल में मिल जाय।

(कांचीराज के साथ प्रस्थान)

सुदर्शना : राजा नहीं है? यह राजा नहीं है? तब हे भगवान् हुताशन, मुझे भस्म कर दो! मैं तुम्हारे ही हाथ आत्म-समर्पण करूँगी। हे पावन, मेरी लज्जा, मेरी वासना, जलाकर राख कर दो!

रोहिणी : **(प्रवेश करती हुई)** रानी, उधर कहाँ जा रही है! अन्तःपुर के चारों ओर आग धधक रही है, उसके भीतर न जाइये !

सुदर्शना : मैं उसी के भीतर प्रवेश करूँगी। वह मेरी ही मृत्यु की आग है।

(प्रासाद में प्रवेश)

८

अँधेरा कक्ष

राजा : कोई भय नहीं है। आग इस कक्ष तक नहीं पहुँचेगी।

सुदर्शना : भय तो मुझे नहीं है—लेकिन लज्जा! लज्जा तो आग की ही तरह मेरी सहचरी रही है। मेरा सुख, मेरी आँखें, मेरा सारा हृदय उसमे झुलस रहा है!

राजा : वह दाह मिटने में कुछ समय लगेगा!

सुदर्शना : वह कभी नहीं मिटेगा, कभी नहीं मिटेगा!

राजा : हताश मत हो, रानी!

सुदर्शना : तुमसे झूठ नहीं बोलूँगी, राजा—मैंने और किसी की माला गले मे डाल ली है।

राजा : वह माला भी तो मेरी है—वर्ना वह माला आयी कहाँ से? इसे वह मेरे ही कमरे से चुराकर ले आया था।

सुदर्शना : किन्तु यह उसी के हाथ की दी हुई तो है। फिर भी तो मै इसे फेंक नहीं सकी। जब चारों ओर आग मुझे घेरती हुई बढ़ी आ रही थी तब एक बार सोचा था कि इस माला को आग में फेंक दूँ। किन्तु फेंक न पायी। मेरे पापी मन ने कहा, 'इसी हार को गले में पहनकर जल मर!' तुम्हे बाहर खुले प्रकाश में देखूँगी, यह सोचकर मैं पतंग-सी यह किस आग में कूद पड़ी। मैं मर भी नहीं पायी और वह आग भी आग नहीं—फिर कैसी ज्वाला है यह!

राजा : तुम्हारी साध तो पूरी हुई—मुझे आज देख तो लिया!

सुदर्शना : मैंने कहा तुम्हें ऐसे सर्वनाश के बीच देखना चाहा था? क्या देखा यह भी नहीं जानती, पर हृदय अब भी थर-थर काँप रहा है।

राजा : कैसा देखा, रानी!

सुदर्शना : भयानक, वह भयानक है। वह स्मरण करते ही मुझे डर लगता है। काले बिलकुल काले, कितने काले-कलूटे हो तुम! मैंने केवल मुहूर्त-भर के लिए तका था। तुम्हारे मुख पर आग की आभा पड़ रही थी—मुझे लगा जिस आकाश मे धूमकेतु चमकता है उसी आकाश की तरह तुम काले हो! तभी मैंने आँखे बन्द कर लीं—और देख नहीं सकी। भयंकर तूफ़ानी बादलों की तरह काले—कूलहीन समुद्र की तरह काले—जिसकी हहराती लहरों पर सन्ध्या की लाली छा रही है!

राजा : मैंने तो तुम्हें पहले ही कहा था। जो पहले से ही इसके लिए तैयार नहीं हुआ है वह हठात् मुझे देखकर मुझे झेल नहीं सकता—मुझे विपत्ति समझता है और दम साधकर मेरे पास से भाग जाना चाहता है। ऐसा मैंने कितनी बार देखा है। इसीलिए उस दुःख से तुम्हें बचाकर धीरे-धीरे तुम्हें अपना परिचय देना चाहता था।

सुदर्शना : किन्तु पाप ने आकर सब भंग कर दिया। अब और तुमसे वैसे परिचय हो सकेगा, यह मैं सोच भी नहीं सकती।

राजा : होगा, रानी होगा। जिस कालेपन को देखकर आज तुम्हारा हृदय काँप गया है, उसी कालेपन से तुम्हारा हृदय स्निग्ध तरल हो जायगा। नहीं तो मेरा प्रेम किस काम का !

गान-२०

मैं रूप में तुम्हें नहीं भुलाऊँगा, प्यार मे भुलाऊँगा ।
मैं अपने हाथों से नहीं, गान से द्वांर खुलवाऊँगा ।
भूषणों से भरूँगा नहीं, फूलों से सजाऊँगा नहीं,
अपनी सुहाग की माला ही तुम्हारे गले पहनाऊँगा ।
कोई नहीं जान पायेगा किस तूफ़ान का तरंग-दल नाच उठा है—
चाँद की तरह अनदेखे आकर्षण से प्राणों में ज्वार उठाऊँगा ।

सुदर्शना : नहीं होगा वह, नहीं होगा केवल तुम्हारे प्यार से क्या होगा। मेरे प्यार ने जो मुँह फेर लिया है। मुझे रूप का नशा जो लग गया है—वह नशा मुझे नहीं छोड़ेगा—उसने मानो मेरी दोनों आँखों में आग लगा दी है, मेरे स्वप्नों तक को चौंधिया दिया है। अब मैंने सारे बातें तुमसे कह दीं। अब मुझे दण्ड दो।

राजा : दण्ड तो आरम्भ हो चुका।

सुदर्शना : किन्तु तुम मेरा त्याग नहीं करोगे तो मैं तुम्हारा त्याग कर दूँगी।

राजा : जहाँ तक संभव हो, चेष्टा करके देख लो!

सुदर्शना : कुछ चेष्टा नहीं करनी होगी—तुम्हें मैं सह नहीं सकती। भीतर-ही-भीतर तुम्हारे ऊपर क्रोध आ रहा है। क्यों तुमने मुझे—लेकिन मैं नहीं जानती मुझे तुमने क्या कर किया है । और तुम ऐसा क्यों कर हो ? क्यों मुझे लोगों ने कहा था कि तुम सुन्दर हो। तुम तो काले, इतने काले-कलूटे हो—मुझे तुम कभी अच्छे नहीं लगोगे। जिसे मैं प्यार करती हूँ उसे मैंने देखा है—नवनीत-सा कोमल, सिरस के फूल-सा सुकुमार, तितली-जैसा सुन्दर!

राजा : वह मरीचिका-सा मिथ्या है और बुलबुले-सा खोखला।

सुदर्शना : हो, लेकिन मैं नहीं जानती, तुम्हारे पास खड़ी भी नहीं हो सकती। मुझे यहाँ से जाना ही होगा। तुमसे मिलना—मेरे लिए नितान्त असम्भव है। यह मिलन मिथ्या मिलन ही होगा—मेरा मन दूसरी ओर जायगा।

राजा : क्या थोड़ी-सी भी कोशिश नहीं करोगी?

सुदर्शना : कल से कोशिश कर रही हूँ—किन्तु जितनी भी कोशिश करता हूँ उतना ही मन और विद्रोही हो उठता है। तुम्हारे पास रहने से इसकी घृणा निरन्तर मुझे चोट पहुँचाती रहेगी कि मैं कलुषित हूँ, मैं असती हूँ। इसीलिए मैं दूर चली जाना चाहती हूँ। इतनी दूर, जहाँ से मुझे फिर तुम्हें याद ही न करना पड़े।

राजा : अच्छा, तुम जितनी दूर हो सके उतनी ही दूर चली जाओ!

सुदर्शना : तुम हाथ बढ़ाकर रास्ता नहीं रोकते इसीलिए तुम्हारे पास से भाग जाने में भी इतनी दुविधा होती है। तुम झोंटा पकड़कर-खींचकर ज़बरदस्ती क्यों नहीं रोकते मुझे। तुम मुझे पीटते क्यों नहीं? मारो, पीटो, मुझे मारो! तुम मुझे कुछ कहते नहीं, यह मुझे और भी असह्य लगता है।

राजा : मैं कुछ नहीं कह सकता, यह तुमसे किसने कहा?

सुदर्शना : ऐसे नहीं, ऐसे नहीं; चिल्लाकर कहो, वज्र की तरह गरजकर कहो। मेरे कानों में पड़नेवाली और सारी बातें डुबाकर कहो—मुझे इतनी आसानी से छोड़ मत दो! जाने मत दो!

राजा : छोड़ तो दूँगा, किन्तु जाने न दूँगा!

सुदर्शना : जाने नहीं दोगे, लेकिन मैं तो जाऊँगी ही।

राजा : अच्छा, जाओ!

सुदर्शना : देखो, तब मुझे दोष मत देना! तुम मुझे ज़बरदस्ती पकड़कर रख सकते थे। किन्तु तुमने नहीं रखा। तुमने मुझे बाँधा नहीं—मैं चली। अपने प्रहरियों को आज्ञा दो मुझे रोकें।

राजा : कोई नहीं रोकेगा। आँधी के सामने बिखरे-भटके मेघ जैसे बिना बाधा के उड़ते चले जाते हैं वैसे तुम भी अबोध चली जाओगी।

सुदर्शना : वेग धीरे-धीरे ही बढ़ रहा है—अगर लंगर टूटा। शायद डूब जाऊँगी,

किन्तु फिर लौटकर नहीं आऊँगी।

(तेजी से प्रस्थान)

(सुरंगमा का प्रवेश और गान)

गान-२१

मेरे भय पर आघात करो, हे भीषण !
होकर कठोर मेरे मन को अपने चरणों पर नत करो !
मै दीवार से घिरे नित्य कर्म की बँधी हुई हूँ,
साज के आभरण मुझे नित्य बाँध लेते हैं,
आओ, हे आकस्मिक, चारों ओर से घेरकर,
निमिष-भर में इस जीवन को मुक्ति पथ पर उड़ा दो !
उसके बाद प्रकाशित हो जायँ तेरी उदार स्मित आँखें
तेरा अभय शांतिमय शाश्वत स्वरूप।

सुदर्शना : (पुनः प्रवेश करके) राजा, राजा!

सुरंगमा : वे चले गये हैं।

सुदर्शना : चले गये है। अच्छी बात है। तब तो उन्होंने मुझे बिलकुल छोड़ दिया। मैं लौटकर आयी, किन्तु उन्होंने प्रतीक्षा नहीं की। चलो, अच्छा ही हुआ। फिर तो मैं मुक्त हूँ। सुरंगमा, मुझे रोकने के लिए क्या उन्होंने तुम्हें कहा था।

सुरंगमा : नहीं, उन्होंने कुछ नहीं कहा।

सुदर्शना : कहते भी क्यों। कहने की तो कोई बात ही नहीं है। मैं अब मुक्त हूँ। अच्छा सुरंगमा, मैंने सोचा था कि एक बात राजा से पूछूँगी, किन्तु बात मुँह में अटक गयी। बता, बन्दियों को क्या उन्होंने प्राण-दण्ड दिया हैं ?

सुरंगमा : प्राण-दण्ड? हमारे राजा तो कभी विनाश के द्वारा शान्ति नहीं देते।

सुदर्शना : तो फिर उनका क्या हुआ!

सुरंगमा : उनको उन्होंने छोड़ दिया है। कांचीराज हार मानकर देश लौट गये हैं।

सुदर्शना : सुनकर जान मे जान आयी।

सुरंगमा : रानी, आपके निकट मेरी एक अरज है।

सुदर्शना : तू क्या समझती है कि अरज मुँह से कहकर बतानी होगी। राजा से आज तक जो भी आभरण मैंने पाये हैं सब तुझे ही दे जाऊँगी। ये अलंकार अब मुझ पर नहीं सोहते।

सुरंगमा : रानी-माँ, मैं जिनकी दासी हूँ उन्होंने मुझे निराभरण रखकर ही सजाया है। वही मेरा अलंकार है। लोगों के सामने जिस पर गर्व कर सकूँ, ऐसा कुछ उन्होंने नहीं दिया।

सुदर्शना : तब तू क्या चाहती है?

सुरंगमा : मैं आपके साथ जाऊँगी।

सुदर्शना : क्या कहती है तू? अपने प्रभु को छोड़कर दूर जायगी यह कैसी प्रार्थना है।

सुरंगमा : दूर नहीं रानी-माँ! आप विपद् की ओर जा रही हैं लेकिन तब वह भी पास ही रहेंगे।

सुदर्शना : पागलों की तरह बकवास मत कर! मैंने रोहिणी को साथ ले जाना चाहा था पर वह नहीं मानी। तू किस साहस से जाना चाहती है।

सुरंगमा : साहस मुझमें नहीं है, शक्ति भी मुझमें नहीं है। किन्तु मैं चलूँगी। साहस अपने-आप आयगा—ताकत भी आ जायगी।

सुदर्शना : नहीं, तुझे मैं नहीं ले जा सकती—तेरे पास रहने से मुझे बड़ी ग्लानि होगी—वह मैं नहीं सह सकूँगी।

सुरंगमा : रानी-माँ, आपका भला-बुरा सब मैंने अपने ऊपर ओढ़ लिया है। मुझे पराई बनाकर आप नहीं रख सकेंगी—मैं तो जाऊँगी ही।

गान-२२

तुम्हारे प्रेम में मैं सभी की कलंकभागी होऊँगी।
सारे कंलकों से कलंकित होऊँगी।
तुम्हारे पथ के काँटे चुनूँगी, तुम्हारी धूल भरी सेज पर
अपना आँचल बिछाऊँगी, तुम्हारे अनुराग में पगकर।
मैं विधान मानती हुई शुचि आसन लिये-लिये न फिरूँगी;
जिस पंक में तुम्हारे चरण पड़ेंगे, उसी की छाप वक्ष पर लूँगी!

९

(सुदर्शना के पिता कान्यकुब्ज-राज और मंत्री)

कान्यकुब्ज : उसके आने से पहले ही मुझे सब खबर मिल गयी।

मन्त्री : राज-कन्या नगर के बाहर नदी-तट पर खड़ी हैं। उन्हें अभ्यर्थनापूर्वक लाने के लिए लोक-जन भेज दूँ।

कान्यकुब्ज : हतभागिनी स्वामी का त्याग करके आ रही है, अभ्यर्थना करके क्या मैं उसकी इस लज्जा की घोषणा करूँगा? अन्धकार होने दो। पथ पर जब कोई न रहेगा तब वह छिपकर आ जायगी।

मन्त्री : महल में उसके रहने की व्यवस्था कर दी जाय।

कान्यकुब्ज : कुछ भी नहीं करना होगा। वह अपनी इच्छा से ही एकेश्वरी रानी का अपना पद छोड़कर आयी है—यहाँ राजमहल में उसे दासी के काम पर नियुक्त होकर रहना होगा।

मन्त्री : उसके मन को बहुत क्लेश होगा।

कान्यकुब्ज : उस कष्ट से उसे बचाने की चेष्टा करूँ तो पिता नाम के योग्य न रहूँगा।

मन्त्री : जैसा आपका आदेश होगा वैसा ही किया जायगा।

कान्यकुब्ज : वह मेरी कन्या है, यह बात किसी तरह प्रकट न होने पाये—नहीं तो बड़ा भारी अनर्थ होगा।

मन्त्री : महाराज, आप अनर्थ की आशंका क्यों करते हैं।

कान्यकुब्ज : नारी जब अपनी प्रतिष्ठा से भ्रष्ट होती है तब संसार में वह भयंकर विपदा बनकर दिखायी देती है। तुम नहीं जानते आज अपनी इसी कन्या से मुझे कितना डर लग रहा है—वह अपने साथ शनि को लेकर मेरे घर आ रही है।

१०

अन्तःपुर

सुदर्शना : जा, जा सुरंगमा तू जा। मेरे भीतर गुस्से की एक आग जल रही है। मैं किसी की नहीं सह सकती। लेकिन तू ऐसी शान्त बनी रहती है। इससे मुझे और गुस्सा आता है।

सुरंगमा : किस पर गुस्सा करती हो, देवी!

सुदर्शना : यह मैं नहीं जानती—किन्तु मेरी इच्छा होती है, सब-कुछ जन-भुन कर राख हो जाय। इतनी बड़ी रानी का पद क्षण-भर में ठुकराकर जो चली आयी सो क्या ऐसे कोने में छिपकर झाड़ू-बुहारी करने के लिए। कहीं आग नहीं लग जायगी? धरती नहीं काँप उठेगी? मेरा पतन क्या हरसिंगार के फूल की तरह झर जाना भर है? क्या वह नक्षत्र के पतन की तरह अग्निमय होकर दिग्दिगंत को चीर कर नहीं रख देगा!

सुरंगमा : दावानल जल उठने से पहले घुमड़-घुमड़कर धुँधुआता रहता है। अभी समय नहीं हुआ।

सुदर्शना : रानी की महिमा को धूल में मिलाकर मैं बाहर चली आयी। और कोई नहीं है जो इसमें मेरी बराबरी कर सके। अकेली—मैं अकेली हूँ। मेरे इतने बड़े त्याग को ग्रहण कर लेने के लिए कोई क्या एक पाँव भी नहीं बढ़ायगा?

सुरंगमा : आप अकेली नहीं हैं—अकेली नहीं हैं।

सुदर्शना : सुरंगमा, तुमसे मैं सच कहती हूँ, मुझे पाने के लिए ही उसने महल में आग लगायी थी। इस पर भी मैं क्रोध नहीं कर सकी—भीतर-ही-भीतर आनन्द से मेरा हृदय काँप उठा था। इतना बड़ा अपराध, इतना बड़ा साहस। उसी साहस ने मुझमें भी साहस जगा दिया, उसी आनन्द में मैं अपना सब-कुछ ठुकराकर चली आ सकी। किन्तु यह सब क्या केवल मेरी कल्पना थी? आज कहीं उसका कोई चिह्न क्यों नहीं दीखता?

सुरंगमा : आप जिसकी बात मन-ही-मन सोचती हैं, आग उसने नहीं लगायी थी—आग लगायी थी कांचीराज ने।

सुदर्शना : भीरु! डरपोक! ऐसा मनमोहक रूप—किन्तु उसके भीतर मनुष्य नहीं था। ऐसे निकृष्ट प्राणी को लेकर अपने साथ कितना बड़ा धोखा किया मैंने! उफ़, कितनी लज्जा! लेकिन सुरंगमा, तेरे राजा को क्या यह उचित नहीं था कि अभी भी मुझे लौटा ले जाने के लिए आते? (सुरंगमा उत्तर नहीं देती) तू सोचती है कि मैं लौट जाने के लिए अधीर हो उठती हूँ? कभी नहीं! राजा के आने पर भी मैं लौटकर नहीं जाती। किन्तु उन्होंने एक बार रोका तक नहीं—चले जाने के लिए द्वार सब खुले ही रहे। और बाहर का नंगा सूखा रास्ता—क्या मुझ रानी के लिए उसे भी कोई वेदना नहीं हुई! वह भी तेरे राजा की तरह ही कठिन था—राह का दीनतम भिखारी उसके लिए जैसा था मैं भी वैसी ही थी। भला तू चुप क्यों रह गयी। बोल न, तेरे राजा का यह कैसा व्यवहार है?

सुरंगमा : यह तो सभी जानते हैं हमारे राजा निष्ठुर हैं—कठोर हैं। उन्हें क्या कभी कोई विचलित कर सका है?

सुदर्शना : तब तू उन्हें दिन-रात क्यों पुकारती रहती है?

सुरंगमा : वह सदैव ऐसे ही पर्वत की तरह अचल और कठोर बने रहें। मेरे होने से, मेरी प्रार्थनाओं से वह ज़रा भी डगमग न हों! मेरा दुःख मेरा ही रहे लेकिन उस कठोर की ही सदा जय हो!

सुदर्शना : सुरंगमा, देख तो, खेतों के पार पूर्व दिशा में मानो धूल उड़ रही है।

सुरंगमा : हाँ, ऐसा ही दीखता है।

सुदर्शना : वह देख, रथ की ध्वजा-सी नहीं दीखती?

सुरंगमा : हाँ, ध्वजा ही तो है।

सुदर्शना : तब तो आ रहे है। आखिरकार लौट आये!

सुरंगमा : कौन आ रहे हैं?

सुदर्शना : और कौन? तेरे राजा। कैसे रह सकते थे? इतने दिन चुप बैठे रहे यही अचरज है।

सुरंगमा : नहीं, यह हमारे राजा नहीं हैं।

सुदर्शना : है कैसे नहीं? तू तो जैसे सब जानती है। ऐसे ही बड़े कठोर हैं तेरे राजा, किसी तरह विचलित ही नहीं होते! देखूँ कैसे नहीं विचलित होते हैं भला! मैं जानती थी कि दौड़े आयेंगे। किन्तु याद रख सुरंगमा, मैंने उन्हें कभी नहीं बुलाया। तेरे राजा मेरे सामने किस प्रकार अपनी हार मानते हैं, अब तू ही देख लेना। सुरंगमा, जा एक बार बाहर जाकर देख आ ज़रा।

(सुरंगमा का प्रस्थान)

राजा के आकर मुझे बुलाने से ही क्या मैं जाऊँगी? कभी नहीं। मैं नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी!

(सुरंगमा का प्रवेश)

सुरंगमा : देवी, यह हमारे राजा नहीं हैं।

सुदर्शना : नहीं हैं? सच कह रही है तू! अब भी मुझे लेने नहीं आये?

सुरंगमा : नहीं, हमारे राजा ऐसे धूल उड़ाते नहीं आते। वह कब आते हैं, इसकी किसी को आहट भी नहीं मिलती।

सुदर्शना : तब यह शायद...

सुरंगमा : कांचीराज के साथ वही आया है।

सुदर्शना : उसका नाम क्या है, जानती है?

सुरंगमा : उसका नाम है सुवर्ण।

सुदर्शना : तब तो वही आ रहा है। मैं तो यही सोच रही थी मैं मानो कचरे की तरह बाहर फेक दी गयी हूँ और मुझे कोई नहीं लेगा—किन्तु मेरा वीर तो मेरा उद्धार करने आ रहा है! तू क्या सुवर्ण को जानती थी?

सुरंगमा : मै जब बाप के घर थी तब वह जुआरियों के दल मे...

सुदर्शना : नहीं, नहीं, मैं उसकी कोई बात तेरे मुँह से नहीं सुनना चाहती! वह मेरा वीर है, मेरी रक्षा करनेवाला है, उसका परिचय मै अपने-आप पाऊँगी! लेकिन सुरंगमा, तेरे राजा कैसे है, यह सोच तो सही! इस हीनता से भी मेरा उद्धार करने नहीं आये। मुझे अब और दोष नहीं दे सकेगी। मै यहाँ दिन-रात गुलामी करती हुई चिरकाल तक उसकी प्रतीक्षा करती हुई न बैठ सकूँगी। तुझ-जैसी दीनता दिखाना मेरे बस का नहीं है। अच्छा सच बता, तू अपने राजा को बहुत प्यार करती है न...?

(सुरंगमा का गान)

गान-२३

मैं केवल तुम्हारी दासी हूँ।
यह बात कैसे होठों पर लाऊँ कि तुम्हे प्यार करती हूँ?
गुण मुझमे होता तो संसार मे आदर भी मिलता—
मै तो बिना दाम बिकी श्रीचरणों की दासी हूँ।

११

(शिविर का दृश्य)

कांची : (कान्यकुब्ज के दूत से) अपने राजा से जाकर कहो कि हम उनका आतिथ्य ग्रहण करने नहीं आये। हम राज्य को लौट जाने के लिए बिलकुल तैयार हैं। केवल यहाँ की दासीशाला से सुदर्शना का उद्धार करके उसे ले जाने के लिए रुके है।

दूत : महाराज, स्मरण रखिए कि राज-कन्या अपने पितृगृह मे ही है।

कांची : कन्या जब तक कुमारी रहती है तभी तक पितृगृह मे उसका आसरा रहता है।

दूत : किन्तु पति-कुल के साथ भी तो उसका सम्बन्ध होता है।

कांची : वह सम्बन्ध छोड़कर ही वह आयी है।

दूत : जीवन रहते वह सम्बन्ध तोड़ा नहीं जा सकता। बीच-बीच में झटके लगते रहते हैं, किन्तु टूट तो वह कभी सकता ही नहीं।

कांची : इसके लिए संकुचित होने की जरूरत नहीं है। क्योंकि उनके स्वामी स्वयं उन्हें लौटा ले जाने के लिए आये हैं। राजन्!

सुवर्ण : क्या, महाराज!

कांची : आपकी रानी के पितृगृह में दासी नियुक्त किये जाने पर आप क्या स्थिर रह सकते हैं?

सुवर्ण : मैं ऐसा कायर नहीं हूँ।

दूत : यह यदि आप लोगों की परिहास की बात न हो तो फिर राजभवन में आतिथ्य स्वीकार करने में दुविधा किस बात की!

कांची : राजन्!

सुवर्ण : क्या महाराज!

कांची : आप क्या अपनी रानी को भीख में माँगकर घर ले जायँगे?

सुवर्ण : ऐसा कभी हो सकता है?

दूत : तब आपकी क्या इच्छा है?

कांची : यह भी क्या बताना होगा।

सुवर्ण : जी! और वह तो आप समझ ही सकते हैं।

कांची : महाराज अगर सहज ही अपनी कन्या को हम लोगों के हाथ समर्पित नहीं करेंगे तो क्षत्रिय-धर्म के अनुसार हम बलपूर्वक उन्हें ले जायँगे, यही हमारा अन्तिम निर्णय है।

दूत : महाराज, हमारे राजा को भी क्षत्रिय-धर्म का पालन करना होगा। स्पर्धा भरी बातें सुनकर ही वे आपको कन्या नहीं सौंप सकेंगे।

कांची : ऐसा उत्तर सुनने के लिए तैयार होकर ही हम आये हैं, यह जाकर अपने राजा से कह दो! (दूत का प्र स्थान)

सुवर्ण : कांचीराज, यह तो दुःसाहसी प्रतीत हो रहा है।

कांची : अगर ऐसा ही करना न हो तो ऐसे काम में हाथ लगाने का सुख क्या?

सुवर्ण : कान्यकुब्जराज से तो डर नहीं भी हो सकता है—मगर...

कांची : अगर-मगर से डरने चले तो फिर दुनिया में निरापद जगह ढूँढ़े से भी न मिलेगी!

सुवर्ण : सच कहूँ, महाराज, अगर-मगर कहीं दिखायी नहीं देते; किन्तु उनसे बच भागने की जगह संसार में नहीं है।

कांची : अपने मन में डर हो तभी इस अगर-मगर और किन्तु-परन्तु का बल और बढ़ जाता है।

सुवर्ण : **आप ही सोच देखिए : उद्यान में क्या काण्ड हुआ था। आपने पूरी नाकेबन्दी करके ही तो सारा काम तमाम किया था, उसमें भी न जाने कहाँ से आकर यह** अगर घुस गया। राजा तो वहीं हैं; मैंने सोचा था उन्हें नहीं मानूँगा; किन्तु न मानने का कोई उपाय ही नहीं रहा।

कांची : भय से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। तब वह उल्टा-सीधा समझ लेता है। उस दिन जो घटित हुआ वह तो अकस्मात् हुआ।

सुवर्ण : आप जिसको अकस्मात् कहते हैं मैं उसी को अगर-मगर कहता हूँ—किसी तरह उससे बचकर चल सकें तभी बचाव हो सकता है।

(सैनिक का प्रवेश)

सैनिक : महाराज, कौशलराज, अवन्तिराज और कलिंग के राजा सैन्य लेकर आ रहे है, ऐसा संवाद मिला है। (प्रस्थान)

कांची : जिसका भय था, वही हुआ। सुदर्शना के पलायन का समाचार फैल गया है। अब सभी एक साथ जोड़-तोड़ करने लगेंगे, जिससे सभी की चेष्टा व्यर्थ हो जायगी।

सुवर्ण : अब छोड़िए महाराज, ये सब अच्छे लक्षण नहीं हैं। मुझे तो निश्चय जान पड़ता है कि यह भेद की बात हमारे राजा ने ही सर्वत्र फैला दी है।

कांची : क्यों इससे उनको क्या लाभ?

सुवर्ण : यही कि लालची लोग आपस में मार-काट नोंच-खसोट करते रहेंगे और बीच में जिनका धन है, वह स्वयं ले जायँगे।

कांची : अब अच्छी तरह समझ रहा हूँ कि तुम्हारे राजा क्यों कभी किसी के सामने नहीं आते। डर के मारे सारे लोग उन्हें हर जगह देखते रहे, यही उनकी चाल है। किन्तु मैं अब भी कहता हूँ कि तुम्हारे राजा आदि से अन्त तक निरे धोखे की टट्टी है।

सुवर्ण : किन्तु महाराज, मुझे छोड़ दीजिए?

कांची : तुम्हें नहीं छोड़ सकता—इस काम में तो तुम्हारी विशेष जरूरत है।

(सैनिक का प्रवेश)

सैनिक : महाराज, विराट, पांचाल और विदर्भ के राजा भी आये हैं। उन्होंने नदी के उस पार शिविर डाला है। (प्रस्थान)

कांची : आरम्भ में हम सबको मिलकर काम करना होगा। पहले कान्यकुब्ज के साथ युद्ध हो जाय फिर कुछ-न-कुछ उपाय किया जायगा।

सुवर्ण : उस उपाय में अगर मुझे न घसीटे तो मैं निश्चिन्त हो सकता हूँ। मैं बहुत हीन व्यक्ति हूँ। मेरे द्वारा...

कांची : देखो जी भण्डराज, उपाय चीज़ ही हीन है। सीढ़ी हो या रास्ता हो, वह पैरों के नीचे ही रहता है। उपाय अगर उच्च श्रेणी का हो तो उसे काम में लाते भी बहुत सोचना पड़ता है। तुम्हारे-जैसे आदमी से काम निकालने में सुविधा

यही है कि किसी तरह का पाखण्ड करने की आवश्यकता नहीं होती। वरना अपने मन्त्री तक के साथ परामर्श करने में चोरी को भी लोक-हित कहे बिना सुनने में अच्छा नहीं मालूम होता।

सुवर्ण : मगर मैंने तो देखा है कि मन्त्री महोदय बात का असली मतलब समझ ही लेते हैं।

कांची : इतना-सा भाषा-तत्त्व भी वह जानता तो उसे मन्त्री न बनाकर गोशाला का भार सौंपता! मगर अब चलूँ, राजाओं को एक बार मोहरों की तरह चला आऊँ—सभी अगर राजा की चाल चले तो शतरंज का खेल नहीं चल सकता!

१२

अन्तःपुर

सुदर्शना : क्या युद्ध चल रहा है?

सुरंगमा : हाँ, अब भी चल रहा है।

सुदर्शना : युद्ध मे जाने से पूर्व पिता ने आकर मुझसे कहा, तू एक जने के हाथ से छूटकर आयी और सात जनों को साथ खींचती लायी। मेरी इच्छा होती है कि तेरे सात टुकड़े करके इन जनों के बीच बाँट दूँ। सचमुच पिता वैसा कर देते तो अच्छा होता।

सुरंगमा : क्या रानी?

सुदर्शना : तेरे राजा में यदि रक्षा करने की शक्ति होती तो निश्चिन्त बैठे रह सकते।

सुरंगमा : रानी, मुझे क्या कहती हो। राजा की ओर से उत्तर देने की शक्ति क्या मुझमें है? अगर वह उत्तर देगे तो स्वयं ऐसा उत्तर देंगे कि किसी को कुछ समझने को बाक़ी नहीं रहेगा और अगर नहीं देगे तो सभी को चुप रह जाना होगा। मै जानती हूँ कि मैं कुछ नहीं समझती, इसीलिए कभी उनकी बातों पर विचार करने नहीं बैठती।

सुदर्शना : युद्ध मे किसने साथ दिया है, यह तो बताओ?

सुरंगमा : सातों राजाओं ने।

सुदर्शना : और किसी ने नहीं?

सुरंगमा : सुवर्ण ने इस जोड़तोड़ से पहले ही छिपकर भागने की कोशिश की थी—कांचीराज ने उसे शिविर में बन्दी करके रखा है।

सुदर्शना : इससे तो मैं मर जाती तो अच्छा था! किन्तु राजा, ओ राजा, मेरे पिता की रक्षा के लिए यदि तुम आ ही जाते तो तुम्हारा ही यश बढ़ता, घटता नहीं! मेरे अपराध का दण्ड उन्हें क्यों मिले?

सुरंगमा : संसार मे हम कोई अकेले नहीं हैं रानी! अच्छा-बुरा सबको बाँटकर लेना

होता है। इसीलिए तो डर होता है, वर्ना अकेले को किसका डर?

सुदर्शना : देख, सुरंगमा, मैं जब से यहाँ आयी हूँ कई बार हठात् ऐसा जान पड़ता है मानो मेरी खिड़की के नीचे वीणा बज रही है।

सुरंगमा : होगा। हो सकता है कोई बजाता हो।

सुदर्शना : वहाँ बड़ा घना वन है—मैं बाहर उझक-उझककर कई बार देखने की चेष्टा भी करती हूँ; किन्तु ठीक से कुछ देख नहीं पाती।

सुरंगमा : हो सकता है कोई पथिक छाया में बैठकर विश्राम करता हो और वीणा बजाता हो।

सुदर्शना : हो सकता है। किन्तु मुझे याद आता है अपना वही महल का वातायन। मै सान्ध्यवेला मे सज-धजकर वहाँ खड़ी होती थी और हमारे उस दीप-विहीन वास-गृह के अन्धकार मे से गान के बाद गान, तान के बाद तान फ़व्वारे की फुहार की तरह उच्छ्वसित होती हुई मेरे सामने कई तरह के रंग भरती हुई बिखर-बिखर जाती थी! वह गान ही तो न जाने किस अन्धकार के भीतर से आकर किस अन्धकार की ओर मुझे खींच ले जाता था!

सुरंगमा : आह, रानी, कैसा अन्धकार था वह! उसी अन्धकार की तो मैं दासी हूँ।

सुदर्शना : मेरे साथ तू वहाँ से क्यों चली आयी?

सुरंगमा : इसी दुलार की आशा मे कि हमारे राजा आकर हमें हाथ पकड़कर लौटा ले जायँगे।

सुदर्शना : नहीं, नहीं, वे नहीं आयँगे—उन्होंने हमे बिलकुल छोड़ दिया है। और छोड़ते भी कैसे नहीं? मैंने कुछ कम अपराध तो नहीं किया।

सुरंगमा : अगर वे छोड़ ही सके तो फिर उनकी और ज़रूरत नहीं। बल्कि तब वे हैं ही नहीं। तब हमारा वह अन्धकार बिलकुल सूना है—उसके भीतर से कभी कोई वीणा नहीं बजी—किसी ने पुकारा नहीं... सब धोखा है!

(दरबान का प्रवेश)

सुदर्शना : कौन हो तुम?

दरबान : मैं इसी प्रासाद का दरबान हूँ।

सुदर्शना : क्या समाचार है, जल्दी बताओ!

दरबान : हमारे महाराज बन्दी हो गये हैं।

सुदर्शना : बन्दी हो गये हैं। हाय माँ वसुन्धरा! (मूर्च्छा)

१३

(बन्दी कान्यकुब्जराज, दूसरे राजगण और सुवर्ण)

कांची : राजगण, रणक्षेत्र का काम समाप्त हुआ?

कलिंग : कहाँ समाप्त हुआ। वीरत्व का पुरस्कार ग्रहण करने से पहले और भी एक

बार वीरत्व का परिचय देना होगा।

कांची : महाराज, हम लोग यहाँ जयमाल नहीं लेने आये हैं—वरमाला लेने आये हैं।

विदर्भ : वह माला क्या जयलक्ष्मी के हाथ से नहीं लेनी होगी?

कांची : नहीं, महाराज, पुष्पधनु के अन्तःपुर में ही वह माला गूँथी जा रही है। यदि आप रक्त से सने हाथों से उसे छीनना चाहेंगे तो उसके फूल धूल में बिखर जायेंगे।

कलिंग : किन्तु महाराज पंचशर हम सातों के बीच निर्णय कैसे करेंगे?

कांची : और इस प्रकार सात जनों के बीच निपटारा तो रणचण्डी भी नहीं कर सकती।

कौशल : कांचीराज, आपका प्रस्ताव क्या है, साफ़-साफ़ कहिए!

कांची : मेरा प्रस्ताव यही है कि स्वयंवर-सभा में राजकन्या जिसके गले में माला डाल दे इस वसन्त की सफलता उसी को मिले।

विदर्भ : यह प्रस्ताव उत्तम है। मेरी इसमे सहमति है।

सभी राजा : हमारी भी सहमति है।

कान्यकुब्ज : राजगण, या तो मेरा वध कीजिए, या मैं द्वंद्व युद्ध के लिए आप सबको ललकारता हूँ। आप आकर मुझसे लड़िए—मुझे यों जीवित मृत्यु के हाथ न सौंपिये!

कांची : आपकी कन्या पति-कुल त्याग आयी है। उससे अधिक दुःख तो हम आपको नहीं दे रहे हैं। अभी मैंने जो प्रस्ताव किया है इससे तो उनको सम्मान ही प्राप्त होगा।

कौशल : कल ही शुभ लग्न मे स्वयंवर का समय निश्चित किया जाय।

कांची : यही ठीक है।

विदर्भ : तो फिर हमलोग आयोजन मे लगें।

कांची : कलिंगराज, बन्दी अभी आपके आश्रय में ही रहें।

(काचीराज को छोड़कर अन्य राजाओं का प्रस्थान)

कांची : अरे, भण्डराज!

सुवर्ण : क्या आदेश है?

कांची : अब सारे महारथी हट जायेंगे। अब शिखण्डी को आगे करके बढ़ना होगा।

सुवर्ण : महाराज की बात ठीक-ठीक समझ नहीं सका।

कांची : वहाँ तुम्हें मेरा छत्रधर होकर बैठना होगा।

सुवर्ण : किंकर इसके लिए प्रस्तुत है, किन्तु इससे महाराज का क्या उपकार होगा।

कांची : सुवर्ण, देख रहा हूँ कि तुम्हारी बुद्धि कम है। इसीलिए तुममें अहंकार भी कम है। रानी सुदर्शना ने तुम्हें किन आँखों से देखा है यह बात अभी तक तुम्हारे मन में नहीं बैठी है। जो हो, राजसभा में वह छत्रधर के गले में तो माला डाल नहीं सकेंगी, और अधिक दूर जाने के लिए भी उनका मन नहीं करेगा, इसलिए जैसे भी होगा, उनकी माला मेरे ही राज-छत्र की छाया में आकर पड़ेगी।

सुवर्ण : महाराज, मेरे सम्बन्ध में यह जो सब निर्मूल कल्पना आप कर रहे हैं यह बड़ी भयानक कल्पना है। दुहाई है आपकी, मुझे इस मिथ्या विपत्ति-जाल में न फँसायें—मुझे मुक्ति दें।

कांची : काम पूरा होते ही तुम्हें मुक्ति देने में क्षण-भर भी विलम्ब नहीं करूँगा। उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर उसके उपाय को चिरस्मरणीय बनाकर कोई नहीं रखता।

१४
(सुदर्शना और सुरंगमा)

सुदर्शना : फिर तो स्वयंवर-सभा में मुझे जाना ही होगा? अन्यथा पिता की प्राण-रक्षा न हो सकेगी!

सुरंगमा : कांचीराज ने तो ऐसा ही कहा है।

सुदर्शना : राजा की यह बात क्या उचित है? उन्होंने क्या अपने मुँह से ऐसा कहा है।

सुरंगमा : नहीं उनका दूत सुवर्ण आकर कह गया है।

सुदर्शना : धिक्, धिक्कार है मुझे!

सुरंगमा : साथ-ही, उन्होंने कुछ सूखे फूल देकर मुझसे कहा, अपनी रानी से जाकर कहना, वसन्त-उत्सव की यह यादगार बाहर से जितनी मुरझाती जा रही है अन्तर में उतनी ही नयी होकर खिल रही है।

सुदर्शना : चुप रह, मुझे और मत जला!

सुरंगमा : वह देखिए सभा में सब राजा बैठे हुए हैं। वह जिनके शरीर पर कोई आभरण नहीं है लेकिन मुकुट पर फूल-माला चिपटी हुई है, वही हैं कांची के राजा जिनके पीछे सुवर्ण छत्र धारण किये खड़ा है।

सुदर्शना : वही है सुवर्ण! तुम सच कहती हो?

सुरंगमा : हाँ रानी, मैं सच कह रही हूँ।

सुदर्शना : उसी को मैंने उस दिन देखा था? नहीं नहीं... वह तो मैंने प्रकाश और अन्धकार, समीर और सुरभिसिक्त और ही कुछ देखा था, वह नहीं, वह नहीं!

सुरंगमा : सभी तो यही कहते हैं कि वह देखने में सुन्दर है।

सुदर्शना : ऐसे सुन्दर पर भी क्या मन जाता है! मेरी इन पापिन आँखों को किसी चीज़ से धोना होगा कि यह ग्लानि धुल जाय!

सुरंगमा : उन्हें उसी कालेपन में डुबाकर धोना होगा। उसी हमारे राजा के सब रूप डुबा देने वाले रूप में। रूप में जो कालिख आँखों में लग गयी है वह धुल जायगी।

सुदर्शना : लेकिन सुरंगमा, ऐसी भूल में मनुष्य आखिर पड़ता कैसे है?

सुरंगमा : जितना कि वह भूल से उबर सके।

प्रतिहारी : (प्रवेश करते हुए) स्वयंवर-सभा मे राजा प्रतीक्षा कर रहे हैं। (प्र स्थान)

सुदर्शना : सुरंगमा, मेरे अवगुण्ठन की चादर तो ले आ। (सुरंगमा का प्र स्थान) राजा, मेरे राजा तुमने मुझे छोड़ दिया है, यह तुमने न्याय ही किया है। किन्तु मेरे अन्तर की कथा क्या तुम नहीं जानोगे (सीने में छिपी हुई कटार) (निकालकर) मेरी देह कलुषित हुई है—इस देह को आज मैं सबके समक्ष धूल मे लिटा दूँगी—वैसे मेरे हृदय में कोई दाग नहीं लगा, यह क्या छाती चीरकर आज तुम्हें न बताती जा सकूँगी? तुम्हारे मिलन का वही अँधेरा कक्ष मेरे हृदय के भीतर आज सूना पड़ा है—उसका द्वार और किसी ने नहीं खोला, ओ मेरे प्रभु! वह खोलने क्या तुम अब नहीं आओगे? द्वार के पास तुम्हारी वीणा क्या और न बजेगी? तब आये, मृत्यु ही आये—वह तुम्हारे समान ही काली है, तुम्हारे समान ही सुन्दर—तुम्हारे समान ही वह मन हरना जानती है... वह तुम ही हो, तुम्हीं!

गान-२४

इस अँधेरे का अपने अतल अन्धकार में डुबा दो,
ओ अन्धकार के स्वामी।
आओ निविड, गम्भीर, जीवन के पार से
मेरे अतर मे उतर आओ।
यह देह-मन लय हो जाये, खो जाये,
मेरी वासना-विकृति, मेरी इच्छा-धारा इन चरणों
मे आकर थम जाय—
निर्वासन मे बँधी हूँ मै दुर्वासना की डोर मे,
ओ अन्धकार के स्वामी।
सब बन्धनों से मुझे अपने साथ बाँध लो, मै बन्धन-कामी हूँ।
ओ मेरे प्रेय, मेरे श्रेय, मेरे परम,
सब झर जाये, सब भर जाये, वह परम आवे,
और यह 'मै' मर जाये—
ओ अन्धकार के स्वामी!

१५

(स्वयंवर-सभा)

विदर्भ : कांचीराज, आपने तो कोई आभरण ही नहीं पहने!

कांची : कोई आशा नहीं है इसीलिए। आभरणों से हार की लज्जा दुगुनी हो जायगी।

कलिंग : जितने आभरण हैं, देखता हूँ कि सब छत्रधर ने ही पहने हैं।

विराट : इसके द्वारा कांचीराज यह प्रचार करना चाहते हैं कि बाहरी शोभा घटिया होती है। उनके पौरुष के अभिमान ने उन्हें अपनी देह पर और कोई आभरण ही नहीं धारण करने दिया!

कौशल : मैं उनकी चालाकी समझता हूँ। इतने आभरणधारियों के बीच अपनी आभरण-हीनता के द्वारा ही वह अपनी महिमा प्रमाणित करना चाहते हैं।

पांचाल : यह क्या उन्होंने ठीक किया है! यह सभी तो जानते है कि रमणी की आँखें पतंग की तरह होती हैं—आभरणों की दीप्ति पर सबसे पहले टूटती है।

कलिंग : और कितनी देर होगी!

कांची : अधीर न हो कलिंग-राज, देर का फल मीठा ही होता है!

कलिंग : फल मिलना निश्चित होता तो देर सही जाती। भोग की आशा अनिश्चित है तभी तो मै दर्शन की आशा से उत्सुकहूँ।

कांची आपकी तो नयी जवानी है, इस उम्र मे आशा को बारम्बार छोड़ देने पर भी वह प्रगल्भा नायिका की भाँति लौट-लौट जाती है। हमारे तो वे दिन नहीं रहे।

कलिंग किन्तु शुभ लगन की घड़ी तो बीती जा रही है।

कांची · कोई चिन्ता नहीं, दुर्लभ दर्शन के लिए शुभ ग्रह भी प्रतीक्षा करेंगे। और अगर उनको इतना बोध न भी हो तो प्रिय दर्शन मे अशुभ ग्रहो की दृष्टि भी प्रसन्न हो उठेगी!

विदर्भ . विराट-राज, आपने यात्रा कब आरम्भ की थी?

विराट मै तो शुभ मुहूर्त देखकर ही चला था। ज्योतिषी ने कहा था कि यात्रा सफल होगी ही।

पांचाल . हम सभी तो शुभ योग देखकर चले थे। मगर कंजूस विधाता ने फल तो एक से अधिक रखा नहीं।

कौशल क्या जाने शुभ ग्रहों का काम इस फल का त्याग करवाना ही हो।

कांची . यह क्या उदासीनों की-सी बात करते हैं कौशल-राज? फल त्याग करने के लिए इतने आयोजनों की क्या ज़रूरत थी!

कौशल : ज़रूरत तो थी ही। कामना किये बिना तो त्याग नहीं किया जाता। कांचीराज हमारे आसन अभी-अभी मानो काँप गये—क्या भूकम्प हो रहा है!

कांची : भूकम्प! हो सकता है।

विदर्भ : या कि और किसी राजा के सेना आ धमकी है!

कलिंग : वह भी हो सकता है। किन्तु तब तो दूत से हमे संवाद मिल गया होता।

विदर्भ : मुझे तो यह अपशकुन जान पड़ता है।

कांची : भय की आँखों से तो सभी शकुन अपशकुन ही दीखते है।

विदर्भ : अदृष्ट से तो भय होता ही है और वहाँ वीरत्व काम नहीं आता।

पांचाल : विदर्भ-राज, आज के शुभ कार्य के बारे मे हमे दुविधा मे न डालिये!

कांची : अदृष्ट जब दृष्ट होगा तभी उससे समझ लिया जायगा।

विदर्भ : तब क्या जाने समय हो या न हो। मुझे आशंका हो रही है मानो कोई—

कांची : इस मानो की कोई बात न कीजिए—वह हमारी ही सृष्टि होकर हमारा ही विनाश करता है।

कलिंग : बाहर क्या बाजा बज रहा है?

पांचाल : हाँ, हाँ, बाजा ही जान पड़ता है।

कांची : तब फिर क्या—निश्चय ही रानी सुदर्शना है। विधाता इतनी देर बाद हमारा भाग्य-फल लेकर आये हैं—यह उन्हीं के पैरों का शब्द है। (मुड़कर) सुवर्ण, ऐसे संकुचित होकर अपने को मेरी ओट में छिपाकर मत रखो। तुम्हारे हाथ में मेरा राज-छत्र भी काँप रहा है।

(योद्धा के वेश में बुढ़ऊ दादा का प्रवेश)

कलिंग : यह क्या है? कौन है?

पांचाल : बिना बुलाये आनेवाला यह कौन है।

विराट : बड़ा हौसला है इसका। कलिंगराज, आप उसे वहीं रोक दीजिए।

कलिंगराज : आप लोग सब मुझसे बड़े हैं—आपके सम्मुख मेरा आगे बढ़ना शोभा न देगा।

विदर्भ : सुन ही लें कि इसे क्या कहना है।

दादा : क्या राजा आये हैं?

विदर्भ : (चौंककर) राजा?

पांचाल : कौन राजा?

कलिंग : कहाँ के राजा।

दादा : हमारे राजा।

विराट : तुम्हारे राजा।

कलिंग : कौन?

कौशल : कौन है वह?

दादा : आप तो सभी जानते है कि वह कौन है। वह आये है।

विदर्भ : आये हैं?

कौशल : किसलिए आये हैं?

दादा : उन्होंने आप सबको बुलाया है।

कांची : ओ हो! बुलाया है! कैसे बुलाया है?

दादा : उनके बुलावे को जो जैसे ग्रहण करना चाहे, उनकी ओर से कोई बाधा नहीं है—वे तो हर तरह के स्वागत के लिए तैयार हैं।

विराट : तुम कौन हो?

दादा : मै उनके सेनापतियों मे से एक हूँ।

कांची : सेनापति? झूठ! डर दिखाने आये हो? तुम समझते हो कि छद्म-वेश मे तुम्हे

पहचाना नहीं? मैं तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ—तुम, और सेनापति!

दादा : आपने मुझे ठीक ही पहचाना है। मुझ-जैसा निकम्मा और कौन होगा भला! फिर भी मुझे ही आज उन्होंने सेनापति का वेश पहनाकर भेजा है—बड़े-बड़े वीरों को घर बिठाकर।

कांची : अच्छा, उपयुक्त समारोह मे उनके बुलावे का सम्मान रखने के लिए ही हम जायेंगे। किन्तु अभी एक ज़रूरी काम है। उसके सपाप्त होने तक तुम्हें प्रतीक्षा करनी होगी।

दादा : वह जब बुलावा भेजते हैं तब और प्रतीक्षा नहीं करते।

कौशल : मै उनका आह्वान स्वीकार करता हूँ। मैं अभी जाऊँगा।

विदर्भ : कांचीराज, अब प्रतीक्षा करने की बात ठीक नहीं जान पड़ती। मैं भी चला।

कलिंग : आप लोग प्रवीण हैं, मैं भी आपका अनुसरण करूँगा।

पांचाल : अरे कांचीराज, पीछे मुड़कर देखिये आपका राज-छत्र धूल में पड़ा है! आपका छत्रधर कब भाग गया, आपको पता भी नहीं लगा!

कांची : अच्छा राजदूत, मै भी चलता हूँ—किन्तु सभा मे नहीं, रण-क्षेत्र मे।

दादा : तो रण-क्षेत्र मे ही हमारे प्रभु के साथ आपका परिचय होगा। वह भी उत्तम प्रशस्त स्थान है।

विराट : सुनिये हम सब शायद एक काल्पनिक डर से भाग रहे है—जान पड़ता है अन्त मे अकेले कांचीराज की ही जीत होगी।

पांचाल यह भी हो सकता है। फल जब प्रायः हाथ मे आ गया तब डरकर उसे छोड़ जाना ठीक नहीं है।

कलिंग : कांचीराज के साथ सहयोग करना ही अच्छा है। वह जो इतना साहस कर रहे है तो क्या कुछ सोचे-समझे बिना ही कर रहे है?

१६

(सुदर्शना और सुरंगमा)

सुदर्शना : युद्ध तो समाप्त हो गया। अब मेरे राजा कब आयेंगे?

सुरंगमा यह तो नहीं कह सकती—बैठी बाट देख रही हूँ।

सुदर्शना : सुरंगमा हृदय के भीतर आनन्द ऐसे काँप रहा है कि वेदना होती है। लज्जा मे भी मरी जा रही हूँ। मुँह कैसे दिखाऊँगी?

सुरंगमा अब की बार बिलकुल हार मानकर उनके पास जाइये तब और लाज नहीं होगी।

सुदर्शना : यह स्वीकार तो करना ही होगा कि सदा के लिए मेरी हार हो गयी है, किन्तु इतने दिनों तक गर्व करके उनके निकट सबसे अधिक प्यार का दावा करती आयी हूँ न, वह सहसा छोड़ नहीं पा रही हूँ। सभी कहते थे कि मुझमें अपार रूप है,

अनेक गुण हैं। सभी कहते थे कि मुझ पर राजा के अनुग्रह का अन्त नहीं है—इसलिए सबके सामने नीचा होते हुए मुझे इतनी लज्जा का बोध हो रहा है।

सुरंगमा : अभिमान मिटे बिना तो लज्जा भी नहीं मिटेगी।

सुदर्शना : उनसे प्यार पाने की इच्छा तो किसी तरह मन में मिटना नहीं चाहती!

सुरंगमा : सब मिट जायगी रानी! केवल एक ही इच्छा रह जायगी—अपने को निवेदन करने की इच्छा।

सुदर्शना : वही अँधेरे कक्ष की इच्छा—जिसमें देखना नहीं है, सुनना नहीं है, चाहना नहीं है, केवल गहराई में अपने को छोड़ देना है। सुरंगमा, तू यही आशीर्वाद दे कि—

सुरंगमा : यह आप क्या कह रही हैं रानी! मैं क्या आशीर्वाद दूँगी!

सुदर्शना : सभी के सामने झुककर मैं आशीर्वाद लूँगी। सभी कहते थे कि राजा ने कभी किसी को इतना प्रसाद नहीं दिया। यही सुन-सुनकर मेरा हृदय इतना कठोर हो गया था कि मैं राजा को भी ठोकर लगा गयी। इतनी कठोर हो गयी कि अब झुकने में भी लाज लगती है। इस लज्जा को काटना ही होगा—अब मेरी सारी पृथ्वी के आगे झुकने की घड़ी आ गयी है। किन्तु राजा क्यों अभी तक मुझे लेने नहीं आये? और किसके लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सुरंगमा : मैंने तो कहा कि हमारे राजा निष्ठुर हैं—बड़े निष्ठुर!

सुदर्शना : सुरंगमा, तू जा एक बार उनकी खबर तो लेकर आ!

सुरंगमा : कहाँ से उनकी खबर पाऊँगी सो तो मैं कुछ जानती ही नहीं। दादा को बुला भेजा है—उनके आने पर शायद उनसे कुछ संवाद मिल सके।

(बुढऊ दादा का प्रवेश)

सुदर्शना : सुना है आप हमारे राजा के बन्धु हैं। मेरा प्रणाम ग्रहण कीजिए! मुझे आशीर्वाद दीजिये!

दादा : क्या करती हो रानी! मैं किसी का प्रणाम नहीं लेता। मेरे साथ सबका हास-परिहास भर का सम्बन्ध है।

सुदर्शना : तो अपनी वही हँसी दिखा दीजिये—मुझे सुसंवाद दे जाइये! बताइये, मेरे राजा मुझे लेने कब आयेंगे?

दादा : यह तो बड़ा मुश्किल सवाल तुमने पूछ डाला! अब अपने बन्धु की भाव-गति मैं ही समझ नहीं पाता तो उसके बारे में बताऊँगा क्या? वैसे युद्ध तो समाप्त हो गया। लेकिन वह कहाँ हैं, इसका कोई पता नहीं है।

सुदर्शना : कहीं चले गये हैं?

दादा : कहीं कोई आहट तो मिलती नहीं।

सुदर्शना : चले गये हैं? तुम्हारे बन्धु ऐसे बन्धु हैं?

दादा : इसीलिए लोग उनकी निन्दा भी करते हैं और सन्देह भी। लेकिन हमारे राजा

उनकी परवाह नहीं करते।

सुदर्शना : चले गये? हाय, कितने कठोर, कैसे निष्ठुर—एकदम पत्थर, एकदम वज्र! मैंने पूरे हृदय के ज़ोर से उन्हे हिलाना चाहा—हृदय फट गया, किन्तु वह नहीं हिले। दद्दा, ऐसे बन्धु के साथ तुम्हारी कैसे निभती है?

दादा : मैंने उन्हे पहचान जो लिया है। सुख और दुःख, दोनों रूपों में उन्हें पहचान लिया है—अब वह मुझे और रुला नहीं सकते।

सुदर्शना : मुझे भी क्या वह नहीं पहचानने देंगे?

दादा : क्यों नहीं—वरना इतना दुःख क्यों दे रहे हैं? वह अच्छी तरह पहचान कराकर ही छोड़ेंगे, वह आसानी से छोड़नेवाले नहीं।

सुदर्शना : अच्छा, मैं भी तो देखूँ उनमें और कितनी निष्ठुरता है! इसी खिड़की के पास मैं चुपचाप पड़ी रहूँगी—एक डग भी नहीं हिलूँगी—देखूँ वह कैसे नहीं आते!

दादा : बहन, तुम्हारी उम्र अभी कम है—तुम हठ करके बहुत दिन पड़ी रह सकती हो—किन्तु मेरा तो एक क्षण चला जाने से भी लगता है भारी नुकसान हो गया। मै पाऊँ या न पाऊँ, मुझे तो खोजने जाना ही होगा।

(प्रस्थान)

सुदर्शना : नहीं चाहिए, नहीं चाहती मैं! सुरंगमा, मुझे तेरे राजा नहीं चाहिए—किसलिए यह युद्ध करने आये थे? क्या मेरे लिए! एकदम नहीं तो फिर क्या केवल वीरता दिखाने के लिए?

सुरंगमा : वह दिखाने की इच्छा अगर उनकी होती तो ऐसे दिखाते कि किसी को और सन्देह न रहता। दिखाया ही कहाँ अभी?

सुदर्शना : जा, जा, चली जा—तेरी बात मुझसे नहीं सही जाती। इतना नीचा दिखाकर भी साध नहीं मिटी! सारी दुनिया के लोगों को दिखाकर, मुझे यहाँ फेंककर चले गये?

१७

(नागरिकों का दल)

पहला : अरे भई इतने राजाओं ने जुटकर लड़ाई ठानी हमने सोचा था खूब तमाशा होगा; किन्तु देखते-देखते न जाने यह क्या हो गया कि कुछ समझ में ही नहीं आया।

दूसरा : देखो न, उनमे आपस मे ही गोल-माल हो गया। किसी को किसी पर भरोसा ही नहीं रहा।

तीसरा : उनकी एक राय जो नहीं हो सकी। कोई आगे बढ़ना चाहता था तो कोई पीछे हटना। कोई इधर जाता था, तो कोई उधर। ऐसे मे क्या खाक लड़ाई होती है।

पहला : उनकी आँखे लड़ाई की ओर थोड़े ही थीं—वे सब एक-दूसरे को ताक रहे थे ।

दूसरा : हर कोई यही सोच रहा था कि मैं तो लड़ मरूँगा और उसका फल भोग करेगा कोई और ।

तीसरा : किन्तु कांचीराज तो लड़े भी थे यह तो मानना ही होगा ।

पहला : वह तो हारकर भी हार नहीं मान रहे थे, और अन्त में घातक अस्त्र ठीक उनकी छाती में आकर लगा ।

तीसरा : उससे पहले तो मानो उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह पग-पग पर हारते जा रहे है ।

पहला : दूसरे राजा तो उन्हें छोड़कर कुछ इस तरह भागे कि—कौन कहा गया, कुछ पता ही नहीं है ।

दूसरा : किन्तु मैंने सुना है कि कांचीराज मरे नहीं ।

तीसरा : नहीं चिकित्सा से बच गये; किन्तु उनकी छाती पर हार का जो निशान रह गया वह तो इस जीवन में मिटने का नहीं ।

पहला : दूसरे राजा भी भागकर बच नहीं सके। सभी पकड़े गये। किन्तु उनके साथ यह न्याय कैसा?

दूसरा : मैंने सुना है कि सभी राजाओं को दण्ड मिला, केवल कांची के राजा को विचारक ने अपने आसन के दहिने पार्श्व में बिठाकर अपने हाथों उन्हे राज-मुकुट पहना दिया ।

तीसरा : यह तो किसी तरह समझ में नहीं आया ।

दूसरा : हाँ, यह फ़ैसला तो सुनने में बड़ा बेमेल जान पड़ता है ।

पहला : सो तो है। अपराध तो जो कुछ था, कांची के ही राजा का था। ये सब तो लोभ और भय के बीच एक बार आगे बढ़ते थे, एक बार पीछे हटते थे ।

तीसरा : यह तो वैसा ही हुआ कि बाघ को तो छोड़ दिया गया और उसकी दुम काट ली गयी ।

दूसरा : मैं यदि विचारक होता तो क्या कांची को अछूता छोड़ देता उसको तो हर चिह्न पर दिखाई पडता ।

तीसरा : हम क्या जानें भाई, बड़े-बड़े विचार-कर्ता थे—उनकी बुद्धि तो निराली ही होती है ।

पहला : उनमें बुद्धि नाम की कोई चीज़ होती भी है? उनकी तो केवल मर्जी होती है। कोई टोकने वाला तो होता नहीं ।

दूसरा : जो कहो, भाई, शासन का भार हमारे हाथों में होता तो निश्चय ही इससे कहीं अच्छी तरह चला सकते ।

तीसरा : यह भी क्या कहने की ज़रूरत है ।

१८
(बुढ़ऊ दादा और कांचीराज)

दादा : यह क्या कांचीराज, आप यहाँ कहाँ?

कांची : तुम्हारे राजा ने मुझे रास्ते पर ही रख छोड़ा है।

दादा : उनका ऐसा ही स्वभाव है!

कांची : और तब से खुद कहीं दिखाई नहीं देते।

दादा : वह भी उनका एक कौतुक है।

कांची : किन्तु मुझे ऐसे कब तक टालेंगे? जब मैं किसी तरह उन्हें राजा मानना ही नहीं चाहता था, तब न जाने कहाँ से आँधी की तरह आकर पल-भर में मेरी ध्वजा-पताका तोड़-ताड़कर धूल में मिला दी; और आज जब मैं उनके निकट हार मानने के लिए गली-गली भटकता फिरता हूँ तब कहीं दिखाई नहीं देते?

दादा : वह जो हों, वह चाहे जितने बड़े राजा क्यों न हो, जो उनके आगे हार गया, उससे उन्हे हार माननी ही होगी। किन्तु राजन्, आप इतनी रात गये क्यों भटक रहे हैं?

कांची : यह इतनी-सी लज्जा अभी नहीं छोड़ सका। कांची का राजा थाल में मुकुट रखकर तुम्हारे राजा का मंदिर ढूँढ़ता हुआ भटक रहा है। उसे जब लोग दिन के प्रकाश में देखेंगे तब तो हँसेंगे?

दादा : हाँ, लोग तो ऐसे ही होते हैं। जो उन्हे देखकर आँखों से आँसू बहाने लगते हैं, उसी को देखकर अन्दर हँसते है।

कांची : किन्तु दादा, तुम यह क्या कर रहे हो? उसी उत्सव के छोकरों को यहाँ भी जुटा लाये हो? किन्तु वहाँ जो तुम्हारे पीछे-पीछे घूमते रहते थे उन्हें तो नहीं देख रहा हूँ।

दादा : हमारे शम्भू और सुँघन की टोली? वे तो लड़ाई में मारे गये।

कांची : मारे गये?

दादा : हाँ, वे मुझसे बोले, दादा, पंडित लोग जो कहते है वह हमारी समझ में कुछ नहीं आता, और तुम जो गान गाते हो उसके साथ भी हम सुर नहीं मिला पाते। लेकिन एक काम तो हम कर ही सकते हैं—हम मर सकते हैं। हमें युद्ध में ले चलो, हम जीवन सार्थक कर आयें। तो जैसी उनकी बात, वैसा ही उनका काम। सबसे आगे जाकर खड़े हो गये, और सबसे पहले प्राण गँवा बैठे।

कांची : तब तो सीधे रास्ते चलकर इन सारे बुद्धिमानों से आगे निकल गये, और क्या। अब इन छोकरों की टोली के साथ क्या बाल-लीला हो रही है?

दादा : इस बार का बसन्त-उत्सव अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग ढंग का हो रहा है, इसलिए सभी हिस्सों में मैं इन्हे घुमाता हुआ फिर रहा हूँ। उस दिन

उद्यान में आग जल उठी थी—रण-भूमि में भी खूब जमी, वह सब तो हो चुका—आज फिर हम लोगों के लिए महामार्ग का शुभदिन है। आज घरों में रहनेवाले लोगों को बाहर निकाल लाने के लिए दक्षिण-पवन की तरह दल-बल लेकर निकला हूँ। अरे, भई उठाओ तो जरा अपने उसी द्वार पर आघात देने के गान का सुर!

गान-२५

तुम्हारे अवगुण्ठित कुण्ठित जीवन के द्वार पर आज वसन्त
आया है,
उसकी अनदेखी न करो।
आज हृदय-दल खोल दो, अपना-पराया भूल जाओ।
इस संगीत-मुखर गगन में अपनी गन्ध की लहर उड़ा दो!
दिशा भूलकर बाहर भुवन में राशि-राशि माधुरी बिखेरो!
वन के पल्लव-पल्लव में आज निविड़ वेदना सिहर रही है,
दूर गगन में किसकी बाट जोहती वसुन्धरा आज सज रही है।
मेरे प्राणों में मलयानिल बहता है, न जाने किनका द्वार खटखटाता है,
यह सौरभ-विह्वला रजनी धरा पर न जाने किसके चरणों में जागती है,
हे सुन्दर, वल्लभ, कान्त, तुम्हारा गम्भीर आह्वान किसके लिए है?

१९

(निर्जन पथ पर सुदर्शना और सुरंगमा)

सुदर्शना : बच गयी सुरंगमा, मैं बच गयी। हार मानी, तब जाकर बच पायी। ओह कितना कठोर था मेरा अभिमान; किसी तरह गलता ही नहीं था। मेरे राजा क्या मेरे पास आ जायेंगे? मैं ही तो उनके पास जाऊँगी, यह बात किसी तरह अपने मन को समझा ही नहीं पा रही थी। सारी रात उसी खिड़की के नीचे धूल में पड़ी-पड़ी रोती रही—दक्षिण पवन मेरे भीतर की वेदना की तरह हू-हू करता रहा और कृष्ण चतुर्दशी की अँधेरी रात के चारों पहर का फल पाकू पक्षी पुकारता रहा—मानो अंधकार ही रोता रहा हो!

सुरंगमा : आह! कल की रात तो ऐसा लगता था कि किसी भी तरह समाप्त ही नहीं होगी!

सुदर्शना : किन्तु कहने से तू विश्वास नहीं करेगी, उसी के बीच बार-बार मुझे लगता था कि कहीं उनकी वीणा बज रही है। जो इतना निठुर है, उसके कठोर हाथ भी

क्या ऐसा विनती का स्वर बजा सकते हैं। बाहर के लोग तो मेरा असम्मान ही देखकर चले गये—किन्तु गोपन रात का वह सुर मेरे हृदय को छोड़कर और किसी ने नहीं सुना! वह वीणा तूने भी सुनी थी सुरंगमा, या कि वह मेरा स्वप्न ही था!

सुरंगमा : वह वीणा सुनूँगी, इसीलिए तो तुम्हारे साथ-साथ रही! अभिमान को गला देने वाला सुर एक न एक दिन बजेगा, यह जानकर कान लगाये बैठी थी।

सुदर्शना : उन्हीं की बात रही—मुझे राह की भिखारिणी बनाकर छोड़ा। भेंट होने पर यही बात उनसे कहूँगी कि मैं ही आयी हूँ, तुम्हारे आने की राह देखती बैठी नहीं रही—कहूँगी कि आँसू बहाती-बहाती आयी हूँ—दुर्गम पथों की धूल फाँकती आयी हूँ। यह गर्व भी मैं नहीं छोड़ूँगी।

सुरंगमा : किन्तु यह गर्व भी नहीं टिकेगा रानी! क्योंकि आपके आने से पहले वही आये थे, नहीं तो किसकी मजाल थी कि आपको बाहर निकालकर पथ पर ले आता?

सुदर्शना : हाँ, वह तो शायद आये थे—मैंने आहट पायी थी। किन्तु विश्वास नहीं कर सकी। जब तक अभिमान किये बैठी रही तब तक लगता रहा कि वह भी मुझे छोड़ गये हैं। अभिमान को बहाकर जैसे ही मैंने बाहर निकलकर पथ पकड़ा वैसे ही जान पड़ा कि वह भी साथ बाहर आये है, राह के साथ-ही-साथ मैंने उन्हे भी पाना आरम्भ कर दिया। और अब मेरे मन मे कोई सोच नहीं है। उनके लिए सहा हुआ जो यह दुःख है, यह दुःख ही मुझे उनके साथ मिलाता है, इतना बीहड़ रास्ता मेरे पैरों के आघात से जैसे किसी मधुर सुर मे बज उठता है, यही मानो मेरी वीणा है—मेरी दुःख की वीणा—इसी वेदना के गान पर वह इन कठोर पत्थरों पर, इस सूखी धूल पर स्वयं उतर आते हैं और मेरा हाथ पकड़ लेते है—वैसे ही हाथ पकडते है जैसे उस मेरे अँधेरे कक्ष में पकड़ लेते थे—सहसा चौंककर सारा शरीर कंटकित हो उठता था। यह भी कुछ वैसा ही है। किसने कहा कि वह नहीं हैं? सुरंगमा, तू क्या समझ पा रही है कि वह छिपकर आ गये हैं।

(सुरंगमा का गान)

गान-२६

अन्धकार मे मेरे दोनों हाथों को गहा है तुमने
कब तुम आ गये, नाथ, मृदु चरणों मे ?
मैंने समझा था कि तुम्हे खो दिया, जीवन-स्वामी,
किन्तु मुझे तुम नहीं खोओगे यह आज की रात मैंने समझ लिया !
जिस रात मैंने अपने हाथों दिया बुझा दिया,
उसी घड़ी तुम अपना ध्रुव-तारा जलाते हो !

तुम्हारे पथ पर मेरा चलना जब शेष हुआ, तब देखा—
तुम्हीं स्वयं मेरे पथ पर छिपकर साथ चल रहे हो !

सुदर्शना : अरे वह कौन है? देख तो सुरंगमा, इतनी रात में इस अँधेरे पथ पर और भी एक पथिक चल रहा है!

सुरंगमा : रानी माँ, यह तो कांची के राजा दीख पड़ते हैं।

सुदर्शना : कांची के राजा!

सुरंगमा : डरिये मत, रानी माँ!

सुदर्शना : डर? डरूँगी क्यों? मेरे डरने के दिन गये!

कांचीराज : (प्रवेश करके)) माँ, तुम भी चल रही हो क्या? मैं भी इसी रास्ते का पथिक हूँ; मुझसे आप बिलकुल भय न करें।

सुदर्शना : अच्छा ही हुआ, कांचीराज; हम दोनों साथ-साथ उनके पास जा रहे हैं यह ठीक ही हुआ! घर छोड़कर बाहर निकलते ही आपसे मेरी भेंट हुई थी—आज घर लौटते समय वही मुहूर्त हमारे लिए ऐसा शुभ संयोग हो उठेगा, यह पहले कौन सोच सकता था!

कांची : किन्तु देवी, आप पैदल चल रही हैं यह आपको शोभा नहीं देता। यदि अनुमति हो तो अभी रथ मँगाया जा सकता है।

सुदर्शना : नहीं, नहीं, ऐसी बात न कहिए—जिस पथ से उनसे दूर चली आयी थी उसी पथ की सारी धूल को पैरों से रौंदती हुई लौटूँगी, तभी मेरा राह चलना सार्थक होगा। रथ पर बिठाकर ले जाना तो मुझे धोखा देना होगा।

सुरंगमा : महाराज, आप भी तो आज धूल पर चल रहे हैं। इस पथ पर तो कभी हाथी-घोड़े-रथ किसी के नहीं देखे।

सुदर्शना : जब रानी थी तब केवल सोने-चाँदी पर ही पाँव रखा करती थी—आज उनकी धूल पर चलकर अपना वह भाग्य-दोष दूर कर सकूँ। आज मेरे पग सने धूल-माटी के राजा के साथ इस धूल-माटी में पद-पद पर मेरा मिलन हो रहा है, इस सुख की बात और कौन जानता है!

सुरंगमा : रानी माँ, वह देखिये, पूर्व दिशा की ओर देखिये, भोर हो रहा है। और देर नहीं है रानी माँ! उनके प्रासाद का सोने का शिखर दिखायी पड़ रहा है।

गान-२७

भोर हो गया, पथ शेष हुआ
वह सुनो, लोक-लोकान्तर में उठ रहा है आलोक का गान !
रात-भर जागने से क्लान्त ओ पथिक, तुम धन्य हुए,
मर-मर कर धन्य हुए धूल से घूसर प्राण !
वन की गोद मे समीरण जागा है ।
मधु-भिक्षु कुञ्ज द्वार पर जुट गये हैं ।

तुम्हारी यात्रा पूरी हुई, आँसू पोंछ डालो—
लज्जा-भय झर गये, मान-अभिमान डूब गया !
भोर हो गया

(बुढ़ऊ दादा का प्रवेश)

दादा : भोर हो गया। बहन, भोर हो गया।

सुदर्शना : आपके आशीर्वाद से पहुँच गयी दद्दा—पहुँच गयी।

दादा : किन्तु हमारे राजा का रंग-ढंग देखा? न रथ, न बाजा, न कोई समारोह!

सुदर्शना : क्या कहते हैं आप, समारोह नहीं? वह देखिये सारा आकाश लाल हो रहा है। फूलों की गन्ध के स्वागत से समीर बिलकुल परिपूर्ण है।

दादा : वह होगा। किन्तु हमारे राजा जितने निठुर हैं हम तो वैसे नहीं हो सकते। हमें तो कष्ट हो रहा है कि आप इस दीन वेश में राजभवन में जा रही हैं। यह हम कैसे सह सकते हैं? ज़रा रुकिए, मैं दौड़कर आपकी रानी की पोशाक ले आता हूँ।

सुदर्शना : नहीं, नहीं, नहीं। वह रानी का वेश उन्होंने मुझसे सदा के लिए छुड़ा दिया है। सभी के सम्मुख उन्होंने मुझे दासी का वेश पहनाया है—मैं बच गयी. बच गयी। मैं आज उनकी दासी हूँ—जो कोई भी उनके हैं, मैं आज उन सबसे नीचे हूँ।

दादा : तुम्हारी यह दशा देखकर तुम्हारे शत्रु तुम्हारा उपहास करेंगे, वह हम कैसे सह सकेंगे?

सुदर्शना : शत्रुओं का परिहास अक्षय रहे—वह मुझ पर धूल फेंकते रहें। आज इस अपवाद-वेला में वह धूल ही तो मेरे लिए अंगराग है।

दादा : तब और तो कुछ कहने को नहीं है। अब हमारे वसन्त-उत्सव का अन्तिम खेल ही हो—फूलों के पराग अब रहे, दक्षिण पवन अब धूल ही उड़ाये! आज सब मिलकर धूलि धूसर होकर ही प्रभु के पास जायँगे। जाकर देखेंगे कि वह भी धूल से सने हुए बैठे हैं। क्योंकि, आप क्या सोचती हैं, उन्हें लोग छोड़ देते हैं? जो भी रुकता है मुट्ठी-दो मुट्ठी धूल ही उन पर फेंक देता है—और वह उस धूल को झाड़ते तक नहीं!

कांची : दद्दा, अपने उस धूल के खेल में मुझे मत भूल जाना! मुझे भी इस राज-वेश को धूल से ऐसा रँग लेना होगा कि पहचाना ही न जा सकूँ।

दादा : उसमें देर नहीं लगेगी, भाई! जहाँ उतरकर आये हो, वहाँ तुम्हारा मिथ्या मान सब अपने-आप पुँछ गया है। यहाँ देखते-देखते रंग बदल जायगा। और इन हमारी रानी को भी देखो—वह अपने ऊपर बड़ा क्रोध कर रही थीं—सोच रही थीं न कि गहने फेंककर अपने भुवन-मोहन रूप की अवज्ञा करेंगी, किन्तु अपमान भरी ठोकरों से वह रूप और निखर उठा है—मानो उसे अब कुछ भी छिपाकर नहीं रख सकता। हमारे राजा का स्वयं रूप से कोई

सम्पर्क नहीं है न, तभी तो इस विचित्र रूप को वह इतना प्यार करते हैं, यही रूप तो उनके हृदय का अलंकार है! उस रूप ने अपने गर्व का आवरण हटा दिया है—आज हमारे राजा के कक्ष में इस समय वीणा कौन से सुर में बज उठी होगी, यह सुनने के लिए प्राण छटपटा रहे हैं।

सुरंगमा : वह देखो सूर्य निकल आया।

२०

(अँधेरा कक्ष)

सुदर्शना : प्रभु जो दुलार तुमने मुझ पर से हटा लिया था वह फिर लौटाकर मुझे न दो। मैं तुम्हारे चरणों की दासी हूँ, मुझे सेवा का अधिकार दो!

राजा : मुझे सहन कर सकोगी?

सुदर्शना : क्यों नहीं, अवश्य ही! अपने प्रमोद वन में अपनी रानी के महल में मैंने तुम्हें देखना चाहा था। इसलिए तुम्हे इतना विरूप देखा है —वहाँ पर तो तुम्हारे दास का अधम दास भी आँखों को तुमसे सुन्दर दीखता है! तुम्हें वैसे देखने की मेरी तृष्णा अब बिलकुल मिट गयी है। तुम सुन्दर नहीं हो, प्रभु सुन्दर नहीं हो—तुम अनुपम हो।

राजा : तुम्हारे भीतर ही मेरी उपमा है।

सुदर्शना : यदि है तो वह भी अनुपम है। मेरे भीतर तुम्हारा प्रेम है, उस प्रेम मे तुम्हारी ही छाया पड़ती है। वहीं तुम अपना रूप स्वय देख पाते हो। वह मेरा कुछ नहीं है, वह तुम्हारा है।

राजा : आज इस अँधेरे कक्ष के द्वार मैं बिलकुल खोल देता हूँ—यहाँ की लीला पूरी हो गयी। आओ अब मेरे साथ आओ, बाहरी चलो आओ—प्रकाश में!

सुदर्शना : बाहर आने से पहले अंधकार के प्रभु को, अपने निष्ठुर, अपने भयानक को प्रणाम कर लूँ!

५

लाल कनेर

[इसकी घटना जिस नगर मे घटी है उसका नाम है यक्षपुरी। यहाँ के मजदूर मिट्टी के नीचे से सोना निकालने के कार्य मे नियुक्त है। यहाँ का राजा एक अत्यन्त जटिल जाल के आवरण के अन्तराल मे रहा करता है। महल मे जहाँ उस जाल का आवरण है वही स्थान इस नाटक का एकमात्र दृश्य है। उसी आवरण के बाहर की ओर सभी घटनाएँ घटती है।]

(नंदिनी और किशोर, खदान खोदनेवाला बालक)

किशोर : नंदिन, नंदिनी, नंदिनी!

नंदिनी : मुझे इस तरह चिल्ला-चिल्लाकर क्यों पुकार रहा है किशोर! मैं क्या सुन नहीं सकती?

किशोर : जानता हूँ, तू सुन सकती है। लेकिन तुझे पुकारना अच्छा लगता है। तुम्हे और फूल चाहिएँ? अच्छा, तो मैं आऊँ।

नंदिनी : जा, जा, अभी काम पर लौटा जा, देर न कर!

किशोर : सारा दिन तो सिर्फ़ सोने का ताल ही खोदता रहता हूँ। ज़रा-सा समय उसी मे से चुराकर तेरे लिए फूल ले आने का जो मौका पाता हूँ तो ऐसा लगता है मानो प्राण मिल गये।

नंदिनी : अरे किशोर, वे अगर जान गये तो तुझे सज़ा देंगे।

किशोर : तुम्हीं ने तो कहा था कि जैसे भी हो तुम्हें लाल कनेर चाहिए ही। मुझे इस काम मे मे बड़ा मज़ा आता है। लाल कनेर यहाँ आसानी से नहीं मिलता। बहुत खोज-पूछ करने पर एक ही पेड़ पा सका हूँ, वह यहाँ के जंजाल के पीछे है।

नंदिनी : तो मुझे दिखा दे, मैं जाकर खुद फूल चुन लाऊँगी।

किशोर : ऐसी बात न बोलो नंदिनी, इतनी निष्ठुर मत बनो! उस पेड़ को मेरी एक-मात्र गोप बात की तरह छिपा रहने दो। विशू तुम्हे गान सुनाया करता है,

वह गान उसका अपना होता है, आज से मैं तुम्हें फूल दिया करूँगा, ये मेरे अपने फूल होंगे।

नंदिनी : मगर यहाँ के लोग तुझे दण्ड जो देते हैं। देखकर मेरी छाती फट जाती है!

किशोर : उस दुःख से मेरे फूल और भी अधिक मेरे अपने होकर खिलते हैं; वे मेरे दुःख के धन हैं।

नंदिनी : किन्तु तुम लोगों के ये दुःख मैं कैसे सहूँगी?

किशोर : कैसा दुःख? नंदिनी, मैं एक दिन तेरे लिए प्राण दूँगा, यही बात कितनी बार मन-ही-मन सोचा करता हूँ।

नंदिनी : तुमने तो मुझे इतना दिया, पर मैं तुझे क्या दूँ, बता तो किशोर?

किशोर : तू? तू मुझे वचन दे कि मेरे ही हाथ से रोज सबेरे फूल लिया करेगी।

नंदिनी : अच्छा, यही सही। लेकिन तू ज़रा सम्हलकर चल!

किशोर : ना, मैं सम्हलकर नहीं चलूँगा, नहीं चलूँगा। उनकी मार की नाक के ऊपर से तेरे लिए रोज फूल लेकर आ धमकूँगा।

[प्रस्थान]

(अध्यापक का प्रवेश)

अध्यापक : नंदिनी, रुको, जाना नहीं।

नंदिनी : क्या है अध्यापक!

अध्यापक : बार-बार इस तरह चकाचौंध लगाकर चली क्यों जाती हो? जब तुमने चित्त को झकझोर दिया है तो ज़रा रुक कर बोलते जाने में क्या हर्ज है? तनिक ठहर मैं तुझसे दो बातें तो कर लूँ।

नंदिनी : तुम्हें मेरी क्या ज़रूरत है?

अध्यापक : ज़रूरत की बात तुमने एक ही कही। उधर ज़रा नज़र फिराओ। हमारे खुदाई करनेवाले मजूरों के दल पृथ्वी की छाती चीरकर ज़रूरत का बोझ सिर पर धारण किये कीड़ों की तरह खदान से बाहर निकल रहे हैं। इस यक्षपुरी में हमारे पास जो कुछ धन है वह उसी धूल की नाड़ी का धन है— सोना! किन्तु सुन्दरी, तुम जो सोना हो वह तो धूल का सोना नहीं है, वह तो प्रकाश का सोना है। ज़रूरत के बंधन में उसे कौन बाँध सकेगा?

नंदिनी : बार-बार यह एक ही बात कहा करते हो। अच्छा मुझे देखकर तुम्हें इतना अचरज क्यों होता है अध्यापक?

अध्यापक : सवेरे फूल के वन में जो प्रकाश आता है उसमे अचरज की कोई बात नहीं, किन्तु पक्की दीवार की दरार से जो प्रकाश आता है उसकी बात ही कुछ और होती है। यक्षपुरी मे तुम वही अचरज भरी रोशनी हो। अच्छा, बताओ तो सही, तुम यहाँ के बारे में क्या सोचती हो?

नंदिनी : मैं हैरान होकर देखती हूँ कि सारा शहर मिट्टी के नीचे सिर घुसेड़कर अँधेरे में

टटोल रहा है। पाताल में खदान खोदकर तुम लोग यक्ष का धन निकाल लाते हो। परन्तु वह तो बहुत दिनों का मेरा धन है, धरती ने उसे कब्र दे रखी थी।

अध्यापक : हम लोग उसी मरे धन की शव-साधना करते हैं। उसके प्रेत को वश में करना चाहते हैं। सोने के ताल में यदि ताल-बेताल को बाँध सकेंगे तो सारी पृथ्वी मुट्ठी में कर लेंगे।

नंदिनी . और फिर तुम लोगों ने अपने राजा को एक अद्‌भुत लाल की दीवार की ओट में बाँध रखा है; तुम्हें डर है कि कहीं यह बात खुल न जाय कि तुम्हारा राजा भी आदमी है। तुम्हारी उस खदान के अंधकार के ढक्कन को तोड़कर उसमें प्रकाश उँडेल देने की इच्छा होती है। उसी प्रकार जी में आता है कि इस भद्दे जाल को तोड़कर उस बेचारे मनुष्य का उद्धार करूँ।

अध्यापक : हमारे मरे धन के प्रेत की जैसी भयंकर शक्ति है वैसा ही भयंकर प्रताप है हमारे मनुष्यता-छने राजा का भी।

नंदिनी : ये बस तुम्हारी गढ़ी हुई बातें हैं।

अध्यापक : गढ़ी हुई तो हैं ही। नंगे आदमी का कोई परिचय नहीं है? बना-सँवारकर तैयार किये हुए कपड़े से ही कोई राजा है, कोई रंक है। चलो मेरे घर में। तुम्हें तत्त्व की बातें समझाने में बड़ा आनन्द आता है।

नंदिनी : तुम्हारे खुदाई के मजूर जिस प्रकार खान खोदते-खोदते मिट्टी के नीचे डूबते ही जा रहे हैं, उसी प्रकार दिन-रात तुम पोथी-पत्र में गर्त खोदते ही जा रहे हो। मुझे ले जाकर बेकार समय क्या नष्ट करोगे?

अध्यापक : हम लोग ठोस अवकाश-रहित बिल के पतिंगे हैं, घने काम मे डूबे हुए हैं। तुम खुले समय के आकाश की संध्या-तारा हो, तुम्हें देखकर हमारे पंख फड़फड़ाने लगते है। आओ मेरे घर मे। तुम अपने को लेकर थोड़ा समय नष्ट करने दो मुझे।

नंदिनी : ना, ना, इस समय नहीं। मै आयी हूं तुम्हारे राजा को उसके अपने घर मे देखने।

अध्यापक . वह तो जाल की ओट मे रहता है, तुम्हें घर में घुसने नहीं देगा।

नंदिनी . मै जाल की बाधा नहीं मानती, मै घर के भीतर घुसने आयी हूं।

अध्यापक : जानती हो नंदिनी, मै भी एक जाल के पीछे हूं। मुझमें भी मनुष्य का बहुत कुछ छूट गया है, सिर्फ़ पंडित-भर जगा हुआ है। हमारा राजा जैसा भयंकर राजा है मै भी वैसा ही भयंकर पंडित हूं।

नंदिनी : तुम मेरे साथ मज़ाक कर रहे हो। तुम तो भयंकर नहीं लगते। एक बात पूछूँ, ये लोग मुझे यहाँ ले आये, पर रंजन को साथ क्यों नहीं लाये भला?

अध्यापक : सभी चीज़ों को टुकड़े-टुकड़े करके ले आना ही इनका दस्तूर है। मगर मैं पूछता हूं कि इस जगह के मरे धन के बीच अपने प्राणों के धन को क्यों ले आना चाहती हो?

नंदिनी : मेरे रंजन को ले आवें तो इनके मरे पंजर में प्राण नाच उठेंगे।

अध्यापक : अकेली नंदिनी को ले आकर ही यक्षपुरी के सरदार हतबुद्धि हो गये हैं, रंजन को लाने से उसका क्या होगा?

नंदिनी : वे जानते ही नहीं कि वे कैसे विचित्र हैं! उनके बीच विधाता यदि एक अच्छी-सी हँसी हँस दे तो उनकी नींद टूट सकती है। रंजन विधाता की वही हँसी है

अध्यापक : देवता की हँसी सूर्य का प्रकाश है, उससे बर्फ पिघलती है, किन्तु पत्थर नहीं गलता। सरदारों को गलाने के लिए ताकत चाहिए।

नंदिनी : मेरे रंजन की ताकत तुम्हारी शंखिनी नदी के समान है। उस नदी की ही तरह वह जिस प्रकार हँस सकता है उसी प्रकार तोड़-फोड़ भी सकता है। अध्यापक, तुम्हें आज के दिन की एक गुप्त खबर दूँ। आज रंजन के साथ मेरी मुलाकात होगी।

अध्यापक : कैसे समझीं?

नंदिनी : होगी, होगी, मुलाकात होगी। खबर जो आयी है।

अध्यापक : सरदार की आँख बचाकर किस रास्ते खबर आ सकती है भला?

नंदिनी : जिस रास्ते वसन्त के आने की खबर आती है उसी रास्ते से। उसमें लगा हुआ है आकाश का रंग और हवन की लीला!

अध्यापक : अर्थात् आकाश के रंग में, पवन की लीला में उड़ती-उड़ती खबर आ पहुँची है!

नंदिनी : जब रंजन आयगा तो दिखा दूँगी कि उड़ती खबर किस प्रकार मिट्टी पर आ पहुँचती है।

अध्यापक : रंजन की बात चलते ही नंदिनी के मुख की बातें रुकने का नाम नहीं लेना चाहतीं। जाने भी दो, मेरे पास तो वस्तु-तत्त्व विद्या है, उसी के गह्वर में घुस पड़ता हूँ। अब हिम्मत नहीं होती। (थोड़ी दूर जाकर फिर लौट आता है) नंदिनी, एक बात तुमसे पूछूँ, यक्षपुरी से तुम डरती नहीं?

नंदिनी : डरने की क्या बात है?

अध्यापक : ग्रहण के सूर्य से लोग डरा करते हैं, पूर्ण सूर्य से कोई नहीं डरता। यक्षपुरी ग्रहण-भगीपुरी है। सोने की खदान रूपी राहु ने उसे निगल लिया है। वह स्वयं पूर्ण नहीं है, किसी को पूर्ण रहने भी नहीं देना चाहती। मैं तुमसे कहता हूँ तुम यहाँ मत रहो। तुम जब चली जाओगी तो ये खदानें और भी मुँह बाये हमारी ओर ताकती रहेंगी। फिर भी कहता हूँ, भाग जाओ! जहाँ के लोग डकैती करके माता वसुंधरा के आँचल को टुकड़े-टुकड़े करके कुचल नहीं देते, वहीं रंजन को लेकर सुखपूर्वक रहो। (कुछ दूर जाकर फिर लौटता है) नंदिनी, तुम्हारे हाथ में वह जो लाल कनेर का कंगन है उसमें से एक फूल निकालकर दोगी?

नंदिनी : क्यों, तुम क्या करोगे?

अध्यापक : कितनी ही बार सोचा है कि तुम जो लाल कनेर का कंगन पहनती हो, उसका कुछ अर्थ है।

नंदिनी : मैं तो उसका अर्थ नहीं जानती।

अध्यापक : शायद तुम्हारा भाग्यपुरुष जानता है। उस लाल आभा में एक भय-मिश्रित रहस्य है, केवल माधुर्य नहीं।

नंदिनी : मुझमें भय?

अध्यापक : विधाता ने सुन्दर के हाथों रक्त की तूलिका दी है। पता नहीं, इस लाल रंग से तुम कौन-सा लेख लिखने आयी हो। मालती थी, मल्लिका थी, चमेली थी—सब छोड़कर तुमने इसी फूल को क्यों चुन लिया? जानती हो, मनुष्य इसी प्रकार अनजान में अपना भाग्य चुन लेता है।

नंदिनी : रंजन कभी-कभी मुझे दुलराकर कनेर कहा करता है, मामूल नहीं क्यों। मुझे ऐसा लगता है कि रंजन के प्रेम का रंग लाल है, मैंने उसी रंग को गले मैं पहना है, वक्ष-स्थल पर धारण किया है, हाथ में पहन रखा है।

अध्यापक : तो मुझे उसका एक फूल भर दे दो, सिर्फ़ एक क्षण का दान! मैं उस रंग के तत्त्व को समझने की चेष्टा करूँ।

नंदिनी : यह लो, रंजन की अवाई की खुशी में यह फल मैंने तुम्हें उपहार दिया।

[अध्यापक का प्रस्थान]
(खदान के मजूर गोकुल का प्रवेश)

गोकुल : एक बार मुँह फिराओ तो भला। तुम्हें समझ ही नहीं सका। कौन हो तुम?

नंदिनी : मुझे जो कुछ देख रहे हो उसके सिवा मैं और कुछ नहीं हूँ। समझने की तुम्हें क्या है?

गोकुल : समझे बिना अच्छा नहीं लगता। यहाँ राजा तुम्हें किस काम के लिए ले आये हैं?

नंदिनी : बिना काम—बस यूं ही।

गोकुल : तुम्हारे पास जैसे कोई मन्तर है! सबको तुमने वश में कर लिया है! सत्यानाशी हो तुम! जो लोग तुम्हारा यह सुन्दर मुख देखकर भूलेंगे, वे मरेंगे। देखूँ भला तुम्हारी माँ मे वह क्या झल रहा है?

नंदिनी : लाल कनेर की मंजरी।

गोकुल : उसका मतलब?

नंदिनी : उसका कोई मतलब नहीं।

गोकुल : मैं तुम्हारा बिलकुल विश्वास नहीं करता। यह कैसा जाल तुमने फैलाया है! दिन बीतते-न-बीतते कोई-न-कोई एक आफ़त तुम ज़रूर ले आओगी, इसीलिए इतना सिंगार किया है। भयंकरी हो तुम, भयंकरी!

नंदिनी : मैं तुम्हें इतनी भयंकर क्यों लगती हूँ?

गोकुल : देखकर जान पड़ता है तुम लाल रोशनी की मशाल हो। जा रहा हूँ बेवकूफ़ों को समझाकर यह कह देने—'सावधान, सावधान, सावधान!'

(प्रस्थान)

नंदिनी : (जाल के दरवाज़े पर धक्का मारती है) सुन रहे हो?

नेपथ्य से : सुन रहा हूँ नन्दा! लेकिन बार-बार मत पुकारो, मेरे पास समय नहीं है, बिलकुल नहीं।

नंदिनी : आज मेरा मन खुशी से भरा है। उसी खुशी को लेकर तुम्हारे घर में आना चाहती हूँ।

नेपथ्य से : नहीं, घर में नहीं। जो कुछ कहना हो, बाहर से ही कहो।

नंदिनी : कुन्द-फूल की माला गूँथकर लायी हूँ, पद्म-पत्रों के दोने में।

नेपथ्य से : खुद पहन लो।

नंदिनी : मुझे नहीं फबती, मेरी माला कनेर की है।

नेपथ्य से : मैं पर्वत की चोटी की तरह हूँ। शून्यता ही मेरी शोभा है।

नंदिनी : उस चोटी के वक्ष-स्थल से भी झरना झरा करता है, तुम्हारे गले में भी हार लहरायेगा। जाल खोल दो, मैं भीतर आऊँगी।

नेपथ्य से : आने नहीं दूँगा, जो कहना हो शीघ्र बोलो, समय नहीं है।

नंदिनी : दूर का वह गान सुन रहे हो?

नेपथ्य से : कैसा गान?

नंदिनी : पौष का गान। फसल पक गयी है। कटनी होगी, यह उसी का गान है—

गान—१

पौष तुम्हें बुला रहा है; आ जाओ आ जाओ ! आज उसकी
डलिया पकी फसल से भर गयी है, आहा कैसा सुन्दर है यह !
देखते नहीं, पौष की धूप पके धान की सुन्दरता को आकाश में
फैलाये दे रही है ।

गान—२

दिव्धुँए धान के खेतों में हवा के नशे से मतवाली हो उठी हैं ।
मिट्टी के आँचल पर धूप का सोना बिखर पड़ा है ।
आहा, कैसी विचित्र शोभा है ।
तुम भी निकल जाओ राजा, तुम्हें मैं मैदान की ओर ले चलूँगी—

गान—३

मैदान की वंशी की ध्वनि सुन-सुनकर आकाश आनन्दित हो उठा

है । कौन है जो आज घर में रहना चाहेगा । द्वार खोलो, द्वार खोलो ।

नेपथ्य से : मैं मैदान जाऊँगा? वहाँ मैं किस काम आऊँगा?

नंदिनी : मैदान का काम तुम्हारी इस यक्षपुरी के काम से कहीं अधिक सहज है ।

नेपथ्य से : सहज काम ही मेरे लिए कठिन होता है, कभी तालाब भी फेन के नूपुर पहननेवाले झरने के समान नाच सकता है? जाओ, जाओ, अब कुछ न कहो, समय नहीं है ।

नंदिनी : अद्भुत है तुम्हारी शक्ति! जिस दिन तुमने मुझे अपने भण्डार में घुसने दिया था, उस दिन तुम्हारे सोने के ताल को देखकर मुझे बिलकुल आश्चर्य नहीं हुआ था, किन्तु जिस विराट् शक्ति के बल पर अनायास ही उसे लेकर पहाड़ को चेटी की तरह सजा रहे थे, वही देखकर मैं मुग्ध हो गयी थी । तो भी पूछती हूँ राजा, सोने का पिंड क्या तुम्हारे हाथों के अचरज-भरे छन्द से उसी प्रकार चंचल हो उठता है जिस प्रकार धान का खेत हो सकता है? अच्छा राजा, बताओ तो भला, पृथ्वी का यह मरा धन दिन-रात उलटते-पलटते रहते हो, तुम्हें डर नहीं लगता?

नेपथ्य से : क्यों, डर काहे का?

नंदिनी : पृथ्वी हमारे प्राणों की वस्तु को प्रसन्न होकर स्वयं देती है, किन्तु जब उसकी छाती चीरकर मेरे हाड़ को ऐश्वर्य कहकर छीन लाते हो, तब तुम अँधेरे में से एक अन्धे राक्षस का शाप ले आते हो । देखते नहीं, यहाँ सभी कैसे-कैसे झुँझलाए हुए-से लगते हैं ।

नेपथ्य से : शाप?

नंदिनी : हाँ, खून-खच्चर, लूट-खसोट का शाप?

नेपथ्य से : उस शाप की बात मैं नहीं जानता । इतना जानता हूँ कि हम शक्ति लेकर आते हैं । मेरी शक्ति देखकर तुम खुश होती हो नंदिनी?

नंदिनी : बड़ी खुशी होती है । इसीलए तो कहती हूँ कि उजाले में निकल जाओ, धरती पर पाँव रखो ताकि धरती भी खुश हो जाय ।

गान—४

धान की फुनगियों पर ओस लगने से आलोक की प्रसन्नता जाग उठी है ।
आहा, पृथ्वी की खुशी आज उसके हृदय में समा नहीं रही है,
वह देखो, वह आनन्द उछल रहा है !
आहा, कैसी विचित्र शोभा है !

नेपथ्य से : नंदिनी, क्या तुम्हें मालूम है कि विधाता ने रूप की माया के अन्तराल में तुम्हें अनुपम बना रखा है? उसमें से छीनकर तुम्हें मुट्ठी में करना चाहता हूँ, पर

पकड़ नहीं पाता, मैं तुम्हें उलट-पुलटकर देखना चाहता हूँ, और न देख सका तो तोड़-फोड़ देना चाहता हूँ।

नंदिनी : तुम क्या कह रहे हो?

नेपथ्य से : तुम्हारे उस लाल कनेर की जो आभा है, महज उस आभा को निचोड़कर मैं अपनी आँखों में अंजन क्यों नहीं कर पाता? मामूली-सी कई पँपड़ियों ने आँचल से उसे ढक रखा है। ऐसी ही बाधा तुममें भी है—कोमल है, इसलिए कठोर है ! अच्छा नंदिनी, साफ़-साफ़ बताओ, तुम मुझे क्या समझती हो?

नंदिनी : यह और किसी दिन बताऊँगी। आज तो तुम्हारे पास समय नहीं है। आज जाती हूँ।

नेपथ्य से : नहीं नहीं, जाओ मत! मुझे क्या समझती हो, बताती जाओ।

नंदिनी : कितनी ही बार तो कहा है, तुम्हें आश्चर्यमय समझती हूँ। अपने प्रकाण्ड हाथों से प्रचंड ज़ोर के साथ तुम फूलते-फूलते ऊपर उठे हो, ठीक तूफ़ान के आगे-आगे चलने वाले बादल की तरह जिसे देखकर मेरा मन नाच उठता है।

नेपथ्य से : रंजन को देखकर भी तो तुम्हारा मन नाच उठता है, वह भी क्या—

नंदिनी : रहने दो उस बात को। तुम्हें तो समय नहीं है।

नेपथ्य से : समय है, सिर्फ़ बताती चली जाओ !

नंदिनी : उस नाच का ताल और तरह का है, तुम नहीं समझ सकोगे।

नेपथ्य से : समझूँगा। मैं समझना चाहता हूँ।

नंदिनी : सारी बात खोलकर नहीं समझा सकती। मैं जा रही हूँ।

नेपथ्य से : रुको ज़रा। बताओ मैं अच्छा लगता हूँ या नहीं?

नंदिनी : हाँ, खूब अच्छे लगते हो।

नेपथ्य से : रंजन की तरह?

नंदिनी : घूम-फिरकर एक ही बात। ये सारी बातें तुम नहीं समझते।

नेपथ्य से : कुछ-कुछ समझता हूँ। मैं जानता हूँ रंजन के साथ मेरा अन्तर क्या है। मेरे अन्दर ज़ोर-ही-ज़ोर है, रंजन में जादू है।

नंदिनी : जादू किसे कहते हो?

नेपथ्य से : समझाकर कहूँ? पृथ्वी के निचले तले में पिंडीभूत पत्थर है, लोहा है, सोना है, यहाँ ज़ोर की मूर्ति रहती है। उपरले तले में ज़रा-सी कच्ची मिट्टी है, उस पर उगी है घास, खिले हैं फूल—वहीं जादू का खेल है। मैं दुर्गम के बीच से हीरा ले जाता हूँ, मणि-माणिक ले आता हूँ, लेकिन सहज के बीच से प्राण के उस जादू को नहीं ला पाता।

नंदिनी : तुम्हारे पास इतना है तो भी बराबर इस प्रकार लोभी की तरह बातें क्यों किया करते हो?

नेपथ्य से : मेरे पार जो कुछ है, सब बोझ हो गया है। सोना जमाते रहने से वह पारस पत्थर थोड़े ही हो जाता है। —शक्ति को जितना भी क्यों न बढ़ाऊँ वह यौवन तक नहीं उठ सकती है। इसलिए पहरा बैठाकर तुम्हें बाँधना चाहता हूँ, रंजन की तरह मेरे पास यौवन होता तो तुम्हें खुली रखकर ही बाँध सकता। इसी तरह बंधन की रस्सी गाँठ देते-देते दिन कट गये। हाय रे हाय, सब-कुछ बँधता है, केवल आनन्द नहीं बाँधता।

नंदिनी : तुमने तो खुद को ही जाल में बाँध रखा है, तब फिर क्यों इस प्रकार छटपटा रहे हो, कुछ समझ में नहीं आता।

नेपथ्य से : तुम नहीं समझ सकोगी। मैं एक विशाल रेगिस्तान हूँ—मरुभूमि। तुम्हारे समान एक-एक छोटी-सी घास की तरफ़ हाथ फैलाकर चिल्ला रहा हूँ—मैं तप्त हूँ, मैं क्लान्त हूँ। प्यास की जलन से इस रेगिस्तान ने न जाने कितनी उपजाऊ ज़मीनों को चाट डाला है, लेकिन इससे रेगिस्तान का ही फैलाव बढ़ता गया है, एक मामूली-सी कमजोर घास में जो प्राण है उसे वह अपना नहीं सका है।

नंदिनी : तुम्हें देखकर तो ऐसा नहीं लगता कि तुम क्लान्त हो। मैं तो तुम्हारी ज़बरदस्त ताकत ही देख रही हूँ।

नेपथ्य से : नंदिनी, एक दिन दूर देश में मेरे ही-जैसा एक क्लान्त पहाड़ दिखायी पड़ा था। बाहर से मैं समझ ही नहीं सका कि उसके सभी पत्थर भीतर-भीतर व्यथित हो उठे हैं। एक दिन बड़ी रात गये भयंकर आवाज़ सुनाई पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानो किसी दैत्य का दुःस्वप्न उमड़-घुमड़कर एकाएक फट पड़ा हो। सवेरे क्या देखता हूँ कि पहाड़ भूकम्प से ढह पड़ा है। शक्ति का भार अनजाने में किस तरह आदमी को पीस देता है, यह बात उस पहाड़ को देखकर ही समझ सका था। और तुममे एक बात है—ठीक इससे उल्टी।

नंदिनी : मुझे क्या देख रहे हो?

नेपथ्य से : विश्व की वंशी में नाच का जो छंद बजा करता है, वही छंद।

नंदिनी : कुछ समझ नहीं सकी।

नेपथ्य से : उस छन्द में वस्तु का विपुल भार हल्का हो जाता है। उस छन्द में ग्रह-नक्षत्रों के दल भिखारी नट-बालकों की भाँति आसमान के कोने-कोने में नाचते फिर रहे हैं। उसी नाच के छन्द में तुम इतनी सहज हो गयी हो नंदिनी, इतनी सुन्दर! मेरी तुलना में तुम कितनी-सी हो, फिर भी मैं तुमसे ईर्ष्या करता हूँ।

नंदिनी : तुमने अपने को सबसे छीनकर वंचित कर रखा है, सहज होकर सबकी पकड़ के भीतर क्यों नहीं आते ?

नेपथ्य से : अपने को गुप्त रखकर विश्व के बड़े-बड़े माल-खज़ानों की मोटी मोटी रकमें चुराने बैठा हूँ। लेकिन जो दान विधाता के हाथ की मुट्ठी में बन्द है उस दान तक तुम्हारी चम्पे की कली-सरीखी उँगलियाँ जितना पहुँच सकती हैं, मेरे

सारे शरीर की ताकत भी उतने तक नहीं पहुँच पातीं। विधाता की वह बँधी मुट्ठी मुझे खोलनी ही पड़ेगी।

नंदिनी : तुम्हारी ये सब बातें मैं अच्छी तरह समझ नहीं सकती; मैं चली।

नेपथ्य से : अच्छा, चली जाना—लेकिन खिड़की से मैं अपना हाथ बढ़ा रहा हूँ, तुम एक बार अपना हाथ इस पर रखो तो।

नंदिनी : ना, ना तुम्हारा सब-कुछ छोड़कर सिर्फ़ एक हाथ निकलने से मुझे डर लगता है।

नेपथ्य से : सिर्फ़ एक हाथ से पकड़ना चाहता हूँ, इसीलिए सभी मेरे पास से भाग जाते हैं। लेकिन सब-कुछ से अगर तुम्हें पकड़ना चाहूँ तो तुम धराई दोगी नंदिनी?

नंदिनी : तुमने तो मुझे घर में आने ही नहीं दिया तब यह सब क्यों कह रहे हो?

नेपथ्य से : अपनी अवकाश-हीनता की उल्टी धारा में ठेलकर मैं तुम्हें घर नहीं ले आना चाहता। जिस दिन अनुकूल हवा पाल में लगेगी और तुम अनायास ही आ जाओगी उसी दिन प्रवेश का शुभ लग्न होगा। वह हवा अगर तूफ़ान की हवा हो, तो भी अच्छा है। अभी समय नहीं आया है।

नंदिनी : मैं तुमसे कहे देती हूँ राजा, उस हवा को रंजन ले आयेगा। वह जहाँ जाता है वहीं साथ में छुट्टी लिये जाता है।

नेपथ्य से : तुम्हारा रंजन जिस छुट्टी को ढोता फिरता है उसे लाल कनेर के मधु से कौन भरे रहता है, यह क्या मैं नहीं जानता? नंदिनी, तुमने तो मुझे खाली छुट्टी की खबर दी है, उसे भरने के लिए मैं मधु कहाँ पाऊँगा?

नंदिनी : तो फिर आज मैं जाऊँ।

नेपथ्य से : नहीं, इस बात का जवाब दिये जाओ।

नंदिनी : रंजन को देखकर ही जान सकोगे कि छुट्टी मधु से कैसे भर उठती है। वह बहुत सुन्दर है।

नेपथ्य से : सुन्दर का जवाब सुन्दर ही पाता है। असुन्दर जब जवाब छीन लेना चाहता है तो वीणा का तार बजता नहीं, टूट जाता है। अब नहीं, जाओ, जल्दी चली जाओ—नहीं तो आफ़त आ सकती है।

नंदिनी : जाती हूँ, किन्तु कहे जाती हूँ, आज मेरा रंजन आयेगा, आयेगा, तुम उसे रोक नहीं सकोगे, किसी प्रकार नहीं।

[प्रस्थान]

(खदान के मजूर फागूलाल और उसकी स्त्री का प्रवेश)

फागूलाल : मेरी शराब तुमने कहाँ छिपा रखी है चन्द्रा? निकालो !

चंद्रा : सो क्या? सुबह-सुबह शराब की ही बात?

फागूलाल : आज छुट्टी का दिन है। कल उन लोगों का मारण-चंडी का व्रत था। आज ध्वजा-पूजा होगी और उसी के साथ अस्त्र-पूजा भी।

चंद्रा : क्या कह रहे हो? वे भी देवी-देवता मानते हैं क्या?

फागूलाल : नहीं देखा तुमने? उनका शराब का भण्डार, अस्त्रशाला और मंदिर बिलकुल सटे हुए हैं।

चंद्रा : तो तुम्हें छुट्टी मिली है इसीलिए शराब चाहिए। गाँव में रहते थे तो परब की छुट्टी को तो—

फागूलाल : वन की चिड़िया छुट्टी पाती है तो उड़ती है, और पिंजड़े में बन्द रहती है तो उड़ा देने पर सिर कूटकर मर जाती है। यक्षपुरी में काम-काज की अपेक्षा छुट्टी ही एक बला है।

चंद्रा : छोड़ दो ना काम, चलो घर चलें।

फागूलाल : तुम्हें शायद मालूम नहीं, घर का रास्ता बन्द है।

चंद्रा : बन्द क्यों होगा?

फागूलाल : क्योंकि हमारे घर से इन लोगों को कोई मुनाफ़ा नहीं है।

चंद्रा : हम क्या उनकी ज़रूरत से कसके चिपका दिये गये हैं? हममें फ़ालतू कुछ भी नहीं है?

फागूलाल : हम लोगों का विशू पगला कहा करता है कि पूरा बनकर रहना बकरे को खुद के लिए ही ज़रूरी है; जो लोग उसे खाते हैं वे उसकी हड्डी-पसली, खुर-पूँछ अलग करके ही खाते हैं। यहाँ तक कि वह जब कसाई के खूँटे के पास म्याँ-म्याँ करके चिल्लाता है, उसे भी वे लोग बेकार कहकर ही एतराज किया करते हैं। वह देखो विशू पगला गाना गाता-गाता इधर ही आ रहा है।

चंद्रास : अचानक कुछ दिनों से उसके गले में गान खुल गया है।

फागूलाल : यही तो देख रहा हूँ।

चंद्रा · उसे नंदिनी लगी है, उसने इसके प्राण भी खींचे हैं, गान भी।

फागूलाल : इसमें अचरज क्या है?

चंद्रा : नहीं, अचरज कुछ भी नहीं है। अजी, तुम भी सावधान रहो, किसी दिन तुम्हारे गले से भी गान निकाल लेगी—उस दिन मुहल्ले वालों की क्या दशा होगी? मायाविनी माया जानती है। आफत लायेगी।

फागूलाल : विशू की आज आफ़त तो नहीं आयी है। यहाँ आने के बहुत पहले से वह नंदिनी को जानता है।

चंद्रा : (विशू को पुकारकर) अरे समधी, सुनते जाओ, सुनते जाओ। कहाँ चले? गान सुननेवाले यहाँ एकाध मिल सकते हैं, बिलकुल नुकसान ही नहीं होगा।

[विशू का प्रवेश और गान]

गान—५

कौन थे, तुम मेरी स्वप्न-नौका के नाविक/पाल में नशीली हवा

लगी, पागल प्राण गाता हुआ चल पड़ा/मुझे भुलावा दे जाओ/
अपने नैया खेकर मुझे अपने सुदूर घाट की ओर ले चलो ।

चंद्रा : तब कोई आशा नहीं है। हम लोग तो बहुत नज़दीक हैं।

गान— ६

विशू : मेरी सारी चिन्ताएँ झूठी हैं/मेरा सब-कुछ पीछे रह जाय/तुम अपना घूँघट खोल दो/अपनी आँखें उठाकर देखो/अपनी हँसी से मेरे प्राण आच्छादित कर लो !

चंद्रा : तुम्हारी स्वप्न-नौका की उस लड़की को मैं जानती हूँ।

विशू : बाहर से कैसे जानोगी? मेरी नैया के भीतर से तो तुमने देखा नहीं।

चंद्रा : कहे देती हूँ, वह एक दिन नाव डुबा देगी—वही तुम्हारे दुलार की नंदिनी!

[खदान-मजूर गोकुल का प्रवेश]

गोकुल : देखो विशू, वह तुम्हारी नंदिनी अच्छी नहीं जँचती।

विशू : क्यों, क्या किया उसने?

गोकुल : कुछ किया नहीं, इसीलिए तो खटका लगता है। यहाँ का राजा खामखा उसे क्यों यहाँ ले आया है? उसका रंग-ढंग कुछ समझ में नहीं आता।

चंद्रा : समधी, यह हमारे दुःख की जगह है, यहाँ आकर वह आठों पहर सुन्दरीगिरी करती फिरेगी, यह हम नहीं देख सकतीं।

गोकुल : हमारा तो सीधे-सादे मोटे-सोटे चेहरे में विश्वास है, ज़रा-भारी-भरकम और वज़नदार होना चाहिए।

विशू : दिक्कत यह है कि यक्षपुरी की हवा सुन्दर के प्रति अवज्ञा सिखा देती है। सुन्दर तो नरक में भी है, पर वहाँ रहनेवाले उसे समझ नहीं पाते, यही तो उसकी सबसे बड़ी सज़ा है।

चंद्रा : अच्छा, तुम्हारी ही सही। मान लिया हम लोग मूर्ख ही हैं, परन्तु जानते हो, यहाँ का सरदार भी उसे फूटी आँखों नहीं देख पाता?

विशू : देखो चंद्रा, ऐसा न हो कि सरदार की फूटी आँखों की छूत तुम्हें भी लग जाय। यह छूत लगी तो हमें देखकर भी तुम्हारी आँखें लाल हो जायेंगी। अच्छा फागू, तेरा क्या खयाल है?

फागूलाल : साफ कहता हूँ दादा! नंदिनी को जब देखता हूँ तो अपनी ओर देखने पर शर्म मालूम होती है। उसके सामने मुँह से बात ही नहीं निकलती।

गोकुल : विशू भाई, उस लड़की ने तुम्हारा मन भुला दिया है, इसीलिए तुम देख नहीं सकते कि कैसी कुलच्छनी है वह। यह बात समझने में बहुत देर नहीं लगेगी, मैं कहे रखता हूँ।

फागूलाल : विशू भैया, तुम्हारी समधिन जानना चाहती है कि हम लोग शराब क्यों पीते हैं?

विशू : स्वयं विधाता की कृपा से चारों ओर मदिरा की ही जय-जयकार है, यहाँ तक कि तुम्हारी आँखों के उस कटाक्ष में भी। हम अपनी इस भुजा से काम जुगाया करते और तुम अपनी भुजलताओं के बंधन से मदिरा जुगाया करती हो। जानती हो समधिन, जीवलोक में मजूरी करनी पड़ती है और उसे भूलना भी पड़ता है। मदिरा न हो तो उसे भुलायगा कौन?

चंद्रा : और नहीं तो क्या! तुम्हारे-जैसे जनम के मतवालों के ऊपर विधाता की दया का कोई पार-आर नहीं है। शराब का भाण्ड एकदम उलट दिया है।

विशू : एक तरफ भूख और प्यास चाबुक मार रही हैं, कलेजे में आग लगाये दे रही हैं, काम करो। दूसरी तरफ़ वन की हरियाली ने माया फैला दी है, धूप के सोने ने माया बखेर दी है, वे चित्र में मस्ती ले आ दे रहे हैं, कहते हैं—छुट्टी, छुट्टी, छुट्टी!

चंद्रा : इसी को शराब कहते हैं क्या?

विशू : प्राणों की शराब! नशा हल्का है मगर खुमारी दिन-रात लगी हुई है। सुबूत देता हूँ। इस राज में आया और पाताल में सेंध मारने के काम में लग गया। सहज शराब का नसीब होना दूभर हो गया। इसीलिए तो अन्तरात्मा बाजारू शराब से मतवाला बना घूम रहा है। जब सहज ही साँस लेने में बाधा पड़ती है, तभी आदमी हाँफने लगता है।

गान—७

तेरे प्राणों का रस तो सूख गया है/तो फिर तू मरण-रस से प्याला भर ले/चिताग्नि को पिघलाकर ढाला गया है/जो समस्त ज्वालाओं की ज्वाला मिटा देता है/अपनी ठहाके की हँसी से वह समस्त शून्य को रंगीन बना देता है।

चंद्रा : चलो ना समधी, भाग चलें हम !

विशू : उस नीले चँदोवे के नीचे खुली शराब के अड्डे पर! राह बन्द है। इसीलिए तो इस क़ैदखाने की शराब पर जो असल में चोरी का माल है, हमारा खिंचाव इतना ज्यादा है। हमारे पास न तो आकाश है, न अवकाश है; इसीलिए बाहर घण्टे की सारी हँसी और गान को, सूर्य के उजाले को बड़ा करके एक घूँट तरल आग के रूप में चुआ लिया है। जैसी ही ठोस गुलामी है, वैसी ही घनी छुट्टी भी।

गान—८

तेरा सूर्य गहन मेघ के नीचे था/तेरा दिन बेकाम के काम में ही नष्ट हो गया/तो फिर लुप्तिरूपी नसे की चरम-संगिनी/अंधकार-रात्रि ही क्यों न आ जाय/और दिग्भरम के नशे से/तेरी क्लातं आँखों को ढँक दे।

चंद्रा : कुछ भी कहो समधी, यक्षपुरी में तुम्हीं लोगों में मस्ती आयी है। यह औरतें तो कुछ भी नहीं बदलीं।

विशू : बदलीं नहीं तो क्या? तुम लोगों का फूल सूख गया है अब सोना-सोना करके प्राण हाँफ रहा है।

चंद्रा : कभी नहीं।

विशू : मैं कहता हूँ, हाँ वह अभागा फागू बारह घंटे के बाद और भी चार घंटे सिर कूटता है; इसका कारण न फागू जानता है, न तुम जानती हो, अन्तर्यामी जानते हैं। तुम्हारे सोने के स्वप्न भीतर-ही-भीतर उसे चाबुक मारते हैं, यह चाबुक सरदार के चाबुक से भी कड़ा है।

चंद्रा : अच्छा, भाई अच्छा। अब चलो न यहाँ से देस लौट जायें।

फागूलाल : अच्छा भाई विशू, तुम तो एक दिन पोथी पढ़-पढ़कर आँख खराब करने बैठे थे, तुम्हें भला हमारे-जैसे मूर्खों के साथ कुदाल पकड़वा दिया, सो कैसे हुआ?

चंद्रा : इतने दिनों से हूँ, समधी से इस सवाल का जवाब नहीं वसूल किया जा सका।

फागूलाल : और मज़े की बात यह है कि बात सभी को मालूम है।

विशू : क्या मालूम है, सुनूँ भला?

फागूलाल : हमारी खबर लेने के लिए उन्होंने तुम्हें चर बनाकर रखा था।

विशू : तुम यह सब जानते थे तो मुझे जीता क्यों छोड़ दिया।

फागूलाल : यह भी जानते हैं कि यह काम तुमसे हुआ नहीं।

चंदरा : क्यों समधी, ऐसे आराम के काम में भी नहीं टिक सके?

विशू : आराम का काम कहती हो, एक जीती-जागती देह के पीछे पीठ के फोड़े की तरह लगे रहने को? मैंने कहा, 'तबीयत ठीक नहीं लग रही है, देस जा आऊँगा।' सरदार बोले, 'आह, इतना कमज़ोर शरीर लेकर देस जा भी कैसे सकोगे? फिर भी कोशिश करके देखो।' कोशिश करके देख लिया। मालूम हुआ कि यक्षपुरी के कौर मे घुस जाने पर उसका बाया हुआ मुँह बन्द हो जाता है, फिर तो उसके पेट में जाने के सिवा और कोई रास्ता रह ही नहीं जाता। आज मैं उसके उसी आशा और आलोकहीन पेट में गायब हो गया हूँ। अब तुममें-मुझमें फर्क इतना ही है कि सरदार तुम्हारी जितनी अवज्ञा करता है, मेरी उससे कहीं अधिक। केले के फटे पत्ते की अपेक्षा फूटी हाँडी पर आदमी की अवहेलना ज्यादा होती है।

फागूलाल : कुछ परवाह नहीं, विशू दादा, हम तो तुम्हें सिर-माथे लिये ही हैं।

विशू : बात फूटते ही मार डाला जाऊँगा। जहाँ तुम सबों का दुलार जात्ता है वहीं सरदार की आँख पहुँचती है। सुनहरा मेंढक जितना ही मकमकाकर काले मेंढक का स्वागत करता है, उतना ही वह साँप के कानों तक पहुँचता है।

चंद्रा : तुम लोगों का काम कब खत्म होगा?

विशू : पन्ने में दिन का अन्त तो लिखा नहीं। एक दिन के बाद दो दिन, दो दिन के बाद तीन दिन— खदान काटते ही जा रहे हैं—एक हाथ के बाद दो हाथ, दो हाथ के बाद तीन हाथ। ताल का ताल सोना काट लेते हैं—एक ताल के बाद दो ताल, दो ताल के बाद तीन ताल। यक्षपुरी में अंक-पर-अंक क़तार बाँधकर चले 'हैं, किसी अर्थ तक नहीं पहुँचते। इसीलिए उनके यहाँ आदमी नहीं, संख्या है। फागू भाई, तुम क्या हो?

फागूलाल : पीठ के कपड़े पर निशान है; मैं ४७ फ हूँ।

विशू : मैं ६९ ङ। गाँव में आदमी था, यहाँ आकर दस-पचीस का छक हो गया हूँ। छाती पर जुए का खेल चल रहा है।

चंद्रा : समधी, सोना तो उनके बहुत हो गया, अब और की क्या ज़रूरत है?

विशू : ज़रूरत नामक चीज़ का कोई अन्त है? खाने की ज़रूरत नहीं है, पेट भरने पर उसका अन्त मिल जाता है; नशे की ज़रूरत नहीं है, इस कारण उसका अन्त भी नहीं है; वे सोने के ताल भी तो शराब हैं, हमारे यक्षराज्य की ठोस शराब! नहीं समझीं?

चंद्रा : ना!

विशू : शराब का प्याला लेकर हम भूल जाते हैं कि हम भाग्य की सीमा में बँधे हैं। समझते हैं, हमारी छुट्टी अबाध है! यहाँ के मालिकों के मन में भी सोने का ताल हाथ में आते ही ऐसा ही मोह लगता है। वह सोचता है कि सर्वसाधारण की मिट्टी का खिंचाव उस तक नहीं पहुँचता, और फिर वे असाधारण के आसमान में भी उड़ते हैं।

चंद्रा : नवान्न का समय आया ही समझो। गाँव-गाँव में उसकी तैयारी हो रही है। पैरों पड़ती हूँ, चलो घर चलें। एक बार हम सब लोग अगर सरदार से—

विशू : स्त्री-बुद्धि से तुमने शायद अभी भी सरदार को नहीं पहचाना?

चंद्रा : क्यों उसे देखने से तो मुझे अच्छा ही—

विशू : हाँ हाँ, बहुत अच्छा, 'जगर मगर तन जोति!' घड़ियाल के दाँत हैं, बड़े कायदे से प्रत्येक खाँज पर जाते हैं। मकरराज स्वयं चाहें तो भी नहीं निकाल सकते।

चंद्रा : वह देखो सरदार आ रहे हैं।

विशू : हो चुका! उसने हमारी बात ज़रूर सुनी है।

चंद्रा : क्यों हमने ऐसा तो कुछ नहीं कहा जिससे—

विशू : नहीं जानतीं समधिन, बातें हम करते हैं, मानी वे लगाते हैं। इसलिए किस बात की टीका किस छप्पर में आग लगा देगी, कोई नहीं जानता।

(सरदार का प्रवेश)

चंद्रा : सरदार दादा !

सरदार : क्या बात है नातिन, समाचार तो अच्छे हैं न?

चंद्रा : एक बार घर जाने की छुट्टी दो।

सरदार : क्यों? रहने की जो कोठरियाँ दी हैं वे तो बहुत अच्छी हैं, घर से कहीं अधिक अच्छी। सरकारी खर्च से चौकीदार तक का इन्तजाम कर रखा है। क्यों जी ६९ ङ! तुम्हें इसके बीच देखने से ऐसा लगता है जैसे सारस बगलों के दल को नाच सिखाने आये हैं।

विशू : सरदार जी, तुम्हारे मज़ाक से तबीयत खिलती नहीं पाँवों में नाचने की ताकत होती तो यहाँ से समेटकर दौड़ लगाता। तुम्हारे इलाके में नचाने का रोजगार कितना खतरनाक है इस बात के मोटे-मोटे उदाहरण मैंने देखे हैं। अब तो ऐसा हुआ कि सीधी चाल चलते भी पैर काँपने लगते हैं।

सरदार : नातिन, एक अच्छी खबर है। इन लोगों को अच्छी बातें सुनाने के लिए कीनाराम गोसाईं को बुलवाया है। इन लोगों से प्रणामी वसूल होने पर खर्चा निकल आयेगा। गोसाईं जी से ये लोग रोज साँझ को—

फागूलाल : ना, ना, सरदार, यह नहीं होने का। आजकल साँझ को शराब पीकर हम बुत्त बने रहते हैं, कोई उपदेश सुनाने आया तो खून-खराबी हो जायेगी।

विशू : चुप, चुप, फागूलाल !

(गोसाईं का प्रवेश)

सरदार : यह लो, नाम लेते ही गोसाईं जी आ पहुँचे। प्रणाम करता हूँ महाराज ! हमारे इन 'कारीगर बेचारों का दिल कमजोर है, बीच-बीच में चंचल हो उठता है। इनके कान में जरा शान्ति-मंत्र फूँक दें—बड़ी जरूरत है !

गोसाईं : इनकी बात कह रहे हो? आहा, ये तो साक्षात् कच्छप-अवतार हैं ! इन्होंने अपने-आपको बोझ के नीचे दबा रखा है, तभी तो संसार टिका हुआ है। सोचने से रोमांच होता है ! हाँ बाबा ४७ फ, एक बार विचार देखो तो, हम जिस मुख से नाम-कीर्तन करते हैं उस मुख के लिए अन्न कौन जुगाता है? तुम्हीं लोग न? जिस राम नाम से मेरा शरीर पवित्र हो रहा है उसे तुमने ही तो एड़ी-चोटी का पसीना एक करके बनाया है। यह कोई मामूली बात है ! मेरा आशीर्वाद है—तुम लोग सदा अचल रहो, तभी भगवान् की दया भी तुम्हारे ऊपर अचल होकर विराजेगी। हाँ बाबा, एक बार दिल खोलकर बोलो तो—हरे राम हरे राम राम-राम हरे-हरे! भगवान् तुम्हारा सब बोझ हल्का कर दें ! हरिनाम ही 'आदावन्ते च मध्ये च !'

चंद्रा : आहा, कितना मीठा लग रहा है, बाबा, बहुत दिनों से ऐसी

बात नहीं सुनी। ज़रा चरनों की धूल तो दो महाराज !

फागूलाल : अब तक चुप्पी साधे था, पर अब नहीं रह सकता। सरदार, ठीक करें इतनी बड़ी फिजूलखर्ची काहे के लिए भला? प्रणामी वसूल करना चाहते हो कर लो, मगर पाखंड नहीं सहा जाएगा।

विशू : अरे फागूलाल, पगलाया तो खैर नहीं, चुप-चुप?

चंद्रा : तुम नरलोक-परलोक दोनों खाने बैठे हो? तुम्हारी क्या गति होगी? ऐसी कुबुद्धि तो पहले तुममें नहीं थी। मैं ठीक देख रही हूँ, तुम लोगों को उस नंदिनी की हवा लगी है।

गोसाईं : कुछ भी कहो, सरदार, ऐसी सरलता हमने नहीं देखी ! पेट और मुँह बिलकुल एक! इन्हें हम क्या सिखायेंगे, इन्हीं से तो बहुत-कुछ सीखना है। समझे?

सरदार : हाँ, समझ गया। यह भी समझ रहा हूँ कि उत्पात कहाँ से शुरू हुआ है। इनका भार मुझे ही लेना पड़ेगा। महाराज, बल्कि उस मुहल्ले में हरिनाम सुना आवें। वहाँ करातियों ने कुछ गोल-माल शुरू किया है

गोसाईं : किस मुहल्ले की ओर कहा, सरदार?

सरदार : वो उस ट-ठ-महाल में। वहाँ का मुखिया है ११ ट। ६५ ण जहाँ रहता है न, उसकी बायीं ओर वह महाल खतम हो जाता है।

गोसाईं : हाँ बाबा, न-महाल अब भी नटखटपन में मशगूल है, लेकिन ण-महाल वाले मधुर रस में बहुत-कुछ डूब चले हैं। उनके काम प्रायः मंत्र लेने लायक हालत में आ गये हैं। तो भी और कई महीने उस मुहल्ले में पलटन रखने की ज़रूरत पड़ेगी, क्योंकि लिखा ही है, 'नाहं करातप परो रिपुः'। पलटन वालों के दबाव से अहंकार का दमन होता है, फिर हम लोगों की पारी आती है। अच्छा, तो फिर चलता हूँ।

चंद्रा : प्रभु, आशीर्वाद करो कि इन्हें सुबुद्धि हो, इन गलतियों का बुरा न मानना।

गोसाईं : कोई डर नहीं है, माँ लछमी, ये सब ठंडे हो जायेंगे।

(प्रस्थान)

सरदार : क्यों जी, ६९ ङ, तुम्हारे उस मुहल्ले वालों का मिजाज़ कुछ कैसा-कैसा देख रहा हूँ?

विशू : हो सकता है। गोसाईं जी ने इन्हें कच्छप-अवतार कहा है। किन्तु शास्त्र के मत से अवतार बदलते भी हैं। कच्छप अचानक बराह हो जाते हैं और हड्डी की मोटी खोल की जगह दाँत निकल आते हैं, सबर की जगह गुर्राहट पैदा हो जाती है।

चंद्रा : विशू समधी, ज़रा रुको। सरदार दादा, मेरी अरदास न भूलना।

सरदार : बिलकुल नहीं, सुन लिया है, याद रखूँगा।

(प्रस्थान)

चंद्रा : देखा? सरदार कितना भला आदमी है। सबके साथ हँसकर ही बोलता है।

विशू : घड़ियाल के दाँत में शुरू में हँसी होती है, बाद में काट।

चंद्रा : काटने की कौन-सी बात है इसमें भला!

विशू : तुम नहीं जानतीं, इन्होंने ठीक किया है कि अब से कारीगरों के साथ उनकी स्त्रियाँ नहीं आ सकेंगी।

चंद्रा : क्यों?

विशू : उनके हिसाब से हम संख्यारूप में ही खाते में जगह पाते हैं। लेकिन संख्या के अंक के साथ नारी के अंक का योग गणितशास्त्र में नहीं मिलता।

चंद्रा : कहते क्या हो! उनके स्त्रियाँ नहीं हैं? वे क्या कहती हैं।

विशू : वे भी सोने के ताल की शराब से बेहोश हैं। नशे में वे अपने पतियों को बहुत पीछे छोड़ गयी हैं। हम लोग उनकी नजरों में पड़ते ही नहीं।

चंद्रा : अच्छा समधी, तुम्हारे घर तो स्त्री थी उनका क्या हुआ? बहुत दिनों से उसकी कोई खबर नहीं मिली।

विशू : जब तक गुप्तचर के ऊँचे ओहदे पर बहाल रहा उतने दिन उसे सरदारनियों के दुतल्ले पर ताश खेलने का न्यौता मिलता रहा। परन्तु जब फागूलाल के दल में आ भिड़ा तो उधर का न्यौता बंद हो गया। उसी गुस्से से मुझे छोड़कर वह चली गयी।

चंद्रा : छी छी! ऐसा भी पाप करना था!

विशू : इस पाप का फल भोगने के लिए वह अगले जनम में सरदारनी होकर जनम लेगी।

चंद्रा : विशू समधी वह देखो, कौन हैं, धूमधाम से चली हैं। क़तार की क़तार मोरपंखियाँ हैं, हाथियों के हौदों की झालर देख रहे हो? कैसा जगर-मगर हो रहा है! उनके साथ-साथ कैसे-कैसे घुड़सवार हैं। भालों की फलक पर मानो एक-एक टुकड़ा सूर्य की रोशनी का गोला लिये जा रहे हैं।

विशू : वही तो सरदारनियाँ ध्वजा-पूजा के भोज में चली हैं।

चंद्रा : अहा, क्या धूमधाम का जुलूस है! और कैसे सुन्दर चेहरे हैं! अच्छा समधी, अगर तुमने काम न छोड़ दिया होता तो तुम भी उनके दल में इसी धूमधाम के साथ निकलते और तुम्हारी वह स्त्री—

विशू : हाँ, हम दोनों की भी यही दशा होती।

चंद्रा : अब क्या लौटने का रास्ता नहीं है? एकदम बन्द हो चुका है?

विशू : ना, है—पनारे के भीतर से।

नेपथ्य से : पागल भाई!

विशू : क्या है पगली!

फागूलाल : लो, तुम्हारी नंदिनी की पुकार आयी। आज अब विशू दादा को नहीं पाया जा सकता।

चंद्रा : तुम लोग अब विशू दादा की आशा मत रखो। अच्छा समधी, किस आशा पर उसने तुम्हें भुला रखा है?

विशू : दुःख से भुलाया है।

चंद्रा : समधी, तुम बात उलटकर क्यों बोला करते हो?

विशू : तुम सब नहीं समझ सकोगी। वह ऐसा दुःख है जिसे भूलने के समान दुःख दुनिया में नहीं है।

फागूलाल : विशू दादा, साफ़ बात किया करो, नहीं तो बड़ा गुस्सा आंता है।

विशू : अच्छा कहता हूँ, सुनो नजदीक की चीज़ को हथियाने के लिए जो वासन जनित दुःख होता है वह पशु का दुःख है और दूर की चीज को पाने के लिए आकांक्षाजनित जो दुःख होता है, वह मनुष्य का होता है। मेरे उस चिरन्तन दुःख के पूर का प्रकाश नंदिनी में प्रकट होता है।

चंद्रा : ये सब बातें मैं नहीं समझती, समधी एक बात समझती हूँ कि जिस स्त्री को तुम लोग जितना कम समझते हो वह तुम्हें उतना ही अधिक खींचती है। हम लोग सीधी-सादी हैं, हमारा मोल कम है, तो भी, और चाहे जो हो, हम तुम्हें सीधे रास्ते लिये चलती हैं। लेकिन आज कह सकती हूँ यह छोकरी तुम्हें अपनी लाल कनेर की माला में फॉसकर सत्यानाश की ओर खींच ले जायगी।

[चद्रा और फागूलाल का प्रस्थान]

(नंदिनी का प्रवेश)

नंदिनी : पागल भाई, आज सवेरे दूर के रास्ते से वे पौष का गान गाते हुए मैदान की ओर जा रहे थे, सुना था तुमने?

विशू : मेरा सवेरा क्या तेरे सवेरे जैसा है जो गान सुन सकूँगा? वह तो थकी रात का झाड़ फेंका हुआ जूठन है!

नंदिनी : आज मौज में आकर सोचा कि यहाँ के परकोटे पर चढ़कर उनके गान में मैं भी जुट जाऊँ। पर कहीं रास्ता न पा सकी, इसलिए तुम्हारे पास चली आयी हूँ।

विशू : मैं तो परकोटा नहीं हूँ।

नंदिनी : हो; तुम्हीं मेरे परकोटा हो, तुम्हारे पास आती हूँ तो ऊँची उठकर बाहर को देखती हूँ।

विशू : तुम्हारे मुँह से यह बात सुनकर आश्चर्य होता है।

नंदिनी : क्यों?

विशू : जब से यक्षपुरी में घुसा तब से अब तक यही मालूम होता था कि मैंने अपना

आकाश ही खो दिया है, अब वह नहीं मिलने का। ऐसा जान पड़ता था कि वहाँ के टुकड़े मनुष्य के साथ मुझे एक ही ढेंकी में कूटकर ये लोग एक पिंड के रूप में तैयार कर चुके हैं; इसमें कहीं भी दरार नहीं है, पोलापन नहीं है। ऐसे ही समय तुमने आकर मेरी ओर इस प्रकार ताका कि मुझे लगा, मानो मुझमें अब भी प्रकाश दिखायी देता है।

नंदिनी : पागल भाई, इस चारों ओर से बन्द गढ़ में सिर्फ़ तुममें और मुझमें एक आकाश बचा हुआ है। बाकी और सबमें बंद हो गया है।

विशू : आकाश बचा हुआ है, इसलिए तुम्हें गाना सुना सकता हूँ।

गान—९

तुम्हें गान सुनाऊँगा/इसीलिए तो जगा रखती हो/ओ नींद उड़ाने वाली !/ हृदय को चौंकाकर इसलिए तो पुकारती हो/ओ दुःख जगाने वाली ! अँधेरा धिर आया/पक्षी घोंसलों में आ गये नैया किनारे लगी/सिर्फ़ मेरा हृदय विराम नहीं पा रहा है/ओ (मेरी) दुःख जगानेवाली !

नंदिनी : विशू पागल, तुम मुझे 'दुःख जगानेवाली' कहते हो?

विशू : तुम मेरे समुद्र के अगम पार की दूती हो। जिस दिन आयी उसी दिन मेरे हृदय के खारे जल की हवा में धक्का मार दिया।

गान—१०

मेरे काम-काज की बीच में/रुलाई के झूले को तुमने तो रुकने ही नहीं दिया ! मुझे छूकर, मेरे प्राणों को अमृत रस से भरकर/तुम हट जाया करती हो/जान पड़ता है, तुम मेरी व्यथा की ओट में खड़ी रहती हो ओ दुःख जगानेवाली !

नंदिनी : तुम्हें एक बात बताऊँ पगले! जिस दुःख का गान तुम गाते हो, मैं उसकी बात पहले नहीं जानती थी।

विशू : क्यों, रंजन के पास से?

नंदिनी : नहीं। दोनों हाथ से दो डाँड पकड़कर वह मुझे तूफान की नदी पार करा देता है; जंगली घोड़े का अयाल पकड़कर जंगल के भीतर से दौड़ा ले जाता है; उछलते हुए बाघ की भौंहों के बीच तीर मारकर मेरा डर दूर करके वह हँसा करता है। हमारी नगाई नदी के स्रोत में कूदकर वह जिस प्रकार प्रवाह में उथल-पुथल मचा देता है, उसी तरह मुझे भी लेकर उथल-पुथल मचाता रहता है। प्राणों की बाजी लगाकर, अपना सब कुछ दाँव पर रखकर वह हार-जीत का खेल खेलता है। उस खेल में उसने मुझे जीत लिया है। एक दिन तुम भी तो उसी में थे, किन्तु न जाने क्या सोचकर उस बाजी के खेल की भीड़ में से तुम अकेले निकल पड़े। जाते समय जाने किस तरह मेरी ओर तुमने ताका था, मैं ठीक

समझा नहीं सकी। इसके बाद बहुत दिनों तक कोई खबर नहीं मिली। अच्छा, तुम कहाँ चले गये थे, बताओ तो?

गान—११

विशु: ओ चाँद, दुःख के सागर में/आँखों के पानी का ज्वार उमड़ आया इस पार और उस पार के किनारों में/आपस में कानाफूसी होने लगी/मेरी नैया पहचाने हुए घाट पर बँधी थी/उसका बंधन खुल गया/उसे हवा में उड़ाता हुआ/न जाने किस अन-पहचाने घाट को ले चला है!

नंदिनी : उस अनचीन्हे के किनारे से इस यक्षपुरी की खुदाई के काम में तुम्हें कौन घसीट लाया?

विशू : एक स्त्री। अचानक तीर की चोट खाकर उड़ती चिड़िया जिस प्रकार मिट्टी में गिर जाती है, उसी प्रकार उसने मुझे धूल में गिरा दिया है; मैं अपने को भूल गया था।

नंदिनी : वह तुम्हें कैसे छू सकी?

विशू : जब प्यासे को पानी मिलने की आशा नहीं रह जाती तो मरीचिका उसे सहज ही भुला देती है। इसके बाद आदमी दिङ्मूढ़ हो जाता है, अपने-आपको ख़ोज नहीं पाता। एक दिन मैं पश्चिम ओर की खिड़की से मेघों की स्वर्णपुरी देख रहा था, वह देख रही थी सरदार के महल की सोने की चोटी। मुझसे कटाक्ष करके बोली, 'मुझे वहाँ ले चलो, देखूँ तुम्हारी ताक़त कितनी है।' मैंने दर्प के साथ कहा, 'ले जाऊँगा'। उसे सोने की चोटी के नीचे ले आया। तब मेरा नशा टूटा!

नंदिनी : अब मैं आ गयी हूँ, तुम्हें यहाँ से निकालकर ले जाऊँगी। सोने की बेड़ी तोड़ दूँगी।

विशू : तुमने जब यहाँ के राजा तक को हिला दिया है तब तुम्हें कौन रोक सकता है? अच्छा तुम उससे डरती नहीं?

नंदिनी : इस जाल के बाहर से डर लगता है, लेकिन मैंने तो भीतर जाकर देखा है।

विशू : कैसा देखा तुमने?

नंदिनी : देखा है मनुष्य ही, लेकिन प्रकाण्ड। माथा सातमंजिले महल के सिंहद्वार की तरह है। दोनों भुजाएँ किसी दुर्गम दुर्ग के लोहे के अर्गल की भाँति हैं। ऐसा जान पड़ा जैसे रामायण-महाभारत में से उतर पड़ा हो कोई।

विशू : घर के भीतर जाकर क्या देखा?

नंदिनी : उसके बाएँ हाथ पर बाज बैठा हुआ था, उसे दाँड़ पर बैठाकर वह मेरे मुँह की ओर ताकता रहा। फिर जिस तरह बाज के पंखों को उँगली से सहला रहा था,

उसी प्रकार मेरा हाथ लेकर धीरे-धीरे सहलाता रहा। जरा देर बाद अचानक पूछ बैठा, 'तुम मुझसे डरती नहीं?' मैंने कहा, 'बिल्कुल नहीं !' फिर खुले केशों में उसने दोनों हाथ उलझा दिये और फिर कुछ देर तक आँखें मूँदे बैठा रहा।

विशू : तुम्हें कैसा लगा?

नंदिनी : अच्छा लगा—कैसा बताऊँ? वह जैसे हजार बरस का पुराना बरगद का पेड़ हो और मैं मानो नन्हीं-सी चिड़िया हूँ। उसकी डाल की किसी टहनी पर ज़रा झूल लूँ तो निश्चय ही उसकी मज्जा में आनन्द लगेगा। उस अकेले प्राण को इतनी-सी खुशी देने की इच्छा होती है।

विशू : फिर उसने क्या कहा?

एक बार झमककर उठ पड़ा और अपनी भाले की फलक-जैसी आँखें मेरे मुँह पर रखकर बोल उठा—'मैं तुम्हें जानना चाहता हूँ।' मुझे कैसा-कैसा लगा, सारा शरीर सिहर उठा। मैं बोली, 'जानने को क्या है? मैं क्या तुम्हारी पोथी हूँ?' उसने कहा—'पोथी में जो है सब जानता हूँ, तुम्हें नहीं जानता।' इसके बाद जाने कैसा हो उठा। बोला—'रंजन की बात मुझे बताओ। उसे किस प्रकार प्यार करती हो?' मैंने जवाब दिया—'पानी के भीतर की पतवार जिस प्रकार ऊपर के आसमान के पाल को प्यार करती है—पाल में हवा का गात लगा करता है और पतवार में तरंगों का नाच।' किसी बड़े चटोर लड़के की तरह एकटक देखता हुआ वह चुप-चाप सुनता रहा। अचानक चौंककर बोल उठा—उसके लिए प्राण दे सकती हो?' मैं बोली—'हाँ, अभी तुरंत।' वह गरजकर मानो गुस्से में भरा हुआ चिल्ला उठा—'कभी नहीं।' मैंने कहा—'हाँ, प्राण दे सकती हूँ।' 'उसमें तुम्हारा क्या फ़ायदा है?' मैं बोली—'नहीं जानती।' तब वह छटपटाकर बोल उठा—'जाओ, मेरे घर से चली जाओ ! जाओ, काम का हर्ज मत करो।' मैं उसका मतलब ठीक-ठीक नहीं समझ सकी।

विशू : वह सभी बातों का साफ़ अर्थ जानना चाहता है। जो बात उसकी समझ में नहीं आती वह उसे व्याकुल कर देती है, इसी से वह गुस्सा कर जाता है।

नंदिनी : पागल भाई, उसके ऊपर तुम्हें दया नहीं आती?

विशू : जिस दिन उस पर विधाता की दया होगी उसी दिन वह मरेगा।

नंदिनी : नहीं, नहीं, तुम्हें मालूम नहीं कि जीते रहने के लिए वह किस प्रकार प्राण देने को उतारू है।

विशू : उसके जीवित रहने का क्या अर्थ है यह बात तुम आज ही देख सकोगी।

नंदिनी : वह देखो पागल भाई, वह छाया! निश्चय ही सरदार ने छिपकर हमारी बातें सुनी हैं।

विशू : यहाँ तो चारों ओर सरदार की ही छाया दिखती रहती है। बचकर चलने का उपाय क्या है? सरदार तुम्हें कैसा लगता है?

नंदिनी : **उसके समान मरी चीज़ मैंने देखी ही नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि जंगल से काटकर लाया हुआ बेंत है। पत्ता नहीं, जड़ नहीं, मज्जा में रस नहीं, सूखकर लचलचा रहा है।**

विशू : **अभागे ने और के प्राणों को सज़ा देने के लिए ही प्राण दिया है!**

नंदिनी : **चुप रहो, सुन लेगा।**

विशू : **चुप रहने को भी तो वह सुन सकता है, इससे आफ़त और चढ़ जाती है। जब मैं खुदाई करनेवालों के साथ रहता हूँ, बातचीत में सरदार से बचकर चला करता हूँ। इसीलिए उन्होंने मुझे बिना प्रयोजन का जीव समझकर ही अब तक बचा रहने दिया है। अपने डँडे से भी मुझे नहीं छूते। लेकिन पगली, तेरे सामने मेरा मन बढ़-बढ़कर बातें करने लगता है, सावधान रहने से घृणा होती है।**

नंदिनी : **नहीं-नहीं, तुम विपत्ति को बुलाकर मत ले आओ।**

[सरदार का प्रवेश]

सरदार : क्यों जी ६९ ङ, सबके साथ तुम्हारी प्रणय-लीला चलती रहती है, चुनाव-विचार एकदम नहीं है?

विशू : यहाँ तक कि तुम्हारे साथ भी शुरू हो चली थी, चुनाव-विचार के कारण रुक गयी।

सरदार : आखिर बातचीत का विषय क्या है?

विशू : किस प्रकार तुम्हारे इस किले से निकल भगा जाय, इसी बात पर विचार कर रहे हैं।

सरदार : क्या कह रहे हो, तुम्हारी हिम्मत इतनी बढ़ गयी है? क़बूल करते भी डर नहीं लगा?

विशू : सरदार, तुम मन-ही-मन तो सब-कुछ जानते हो। पिंजड़े के पक्षी सींखचों को जो ठुकराया करते है वे ऐसा दुलार के कारण तो नहीं करते। यह बात क़बूल की तो क्या, न की तो क्या!

सरदार : दुलार नहीं करते यह तो जानी हुई बात है, लेकिन क़बूल करते डरते नहीं, यह बात हाल ही में कई दिनों से जान पड़ने लगी है !

नंदिनी : सरदार जी, तुमने कहा था कि रंजन को ले आ दोगे। कहाँ—तुमने बात तो नहीं रखी?

सरदार : आज उसे देख सकोगी।

नंदिनी : यह मुझे मालूम था। तो भी तुमने आज्ञा दी है, जय हो तुम्हारी! यह लो कुन्द पुष्प की माला।

विशू : छी छी, माला को तुमने नष्ट कर दिया। रंजन के लिए क्यों नहीं रखा उसे?

नंदिनी : उसके लिए माला है।

सरदार : ज़रूर है, वह गले में झूल रही है, वही न? जयमाला कुन्द के फूलों की है क्योंकि वह हाथ का दान है और वरमाला लाल कनेर की है, वह हृदय का दान है। ठीक है, ठीक है, हाथों का दान हाथोंहाथ चुका दो, नहीं तो सूख जायगा; हृदय का दान जितनी ही प्रतीक्षा करेगा, उतना ही उसका दाम बढ़ेगा।

[प्रस्थान]

नंदिनी : (खिड़की के पास) सुन रहे हो?

नेपथ्य से : क्या कहना चाहती हो, बोलो!

नंदिनी : एक बार खिड़की के पास आकर खड़े तो हो जाओ।

नेपथ्य से : लो, यह खड़ा हो गया।

नंदिनी : मुझे अंदर आने दो, बहुत-सी बातें करनी हैं।

नेपथ्य से : बार-बार क्यों झूठ-मूठ का अनुरोध करती हो। अभी भी समय नहीं हुआ। तुम्हारे साथ वह कौन है? रंजन का जोड़ीदार है क्या?

विशू : ना राजा, मैं रंजन की वह उल्टी पीठ हूँ जिधर रोशनी नहीं पड़ती। मैं अमावस हूँ।

नेपथ्य से : नंदिनी से तुम्हारा क्या काम है? नंदिनी, यह आदमी तुम्हारा कौन होता है?

नंदिनी : यह मेरा साथी है, मुझे गाना सिखाता है। इसी ने तो वह 'प्रेम करता हूँ' गान सिखाया है।

नेपथ्य से : यही तुम्हारा साथ है? यदि अभी इसका और तुम्हारा साथ छुड़ा दूँ तो क्या होगा?

नंदिनी : यह क्या ! तुम्हारे गले की आवाज़ कैसी हो गयी? ज़रा रुको। तुम्हारा क्या कोई साथी नहीं है?

नेपथ्य से : मेरा साथी? दुपहरी के सूरज का कोई साथी होता है?

नंदिनी : अच्छा रहने दो यह बात। ओ माँ, यह तुम्हारे हाथ में क्या है?

नेपथ्य से : एक मरा मेंढक।

नंदिनी : उसे लेकर क्या करोगे?

नेपथ्य से : यह मेंढक एक दिन एक पत्थर के कोटर में घुसा था। तीन हज़ार साल तक उसी की ओट मे टिका रहा। मैं इस मेंढक से यही रहस्य सीख रहा था कि इसी प्रकार कैसे टिका रहा जा सकता है। कैसे जीवित रहा जा सकता है, यह बात उसे नहीं मालूम ! आज ऐसा लगा कि ज्यादा दिनों तक यों सीखते रहना ठीक नहीं है, इसीलिए मैं ने पत्थर का पर्दा तोड़ दिया, हमेशा टिके रहने से इसे मुक्ति दे दी। तुम्हें क्या यह खबर अच्छी नहीं मालूम होती?

नंदिनी : मेरे चारों ओर से भी आज तुम्हारा यह पत्थर का क़िला खुल जायगा। मैं जानती हूँ आज रंजन के साथ मेरी मुलाकात होगी?

नेपथ्य से : तब मैं तुम दोनों को एक साथ देखना चाहता हूँ।

नंदिनी : जाल की ओट से, अपने चश्मे से होकर, तुम नहीं देख सकोगे।

नेपथ्य से : घर में बैठाकर देखूँगा।

नंदिनी : इससे क्या होगा?

नेपथ्य से : मैं जानना चाहता हूँ।

नंदिनी : तुम जानने की बात कहते हो तो फिर डर कैसा?

नेपथ्य से : क्यों?

नंदिनी : जान पड़ता है, जिस चीज़ को मन से नहीं जाना जाता, प्राणों से समझा जाता है, उस पर तुम्हें दरद नहीं है।

नेपथ्य से : ऐसी चीज़ का विश्वास करने की हिम्मत नहीं होती, खटका लगा रहता है कि कहीं ठगा न जाऊँ। अच्छा, तुम जाओ, समय बर्बाद मत करो। नहीं, नहीं, ज़रा रुको। तुम्हारे केशों से लाल कनेर का गुच्छा गालों पर लटक आया है। मुझे दे दो।

नंदिनी : इससे क्या होगा?

नेपथ्य से : उस फूल के गुच्छे को देखता हूँ और ऐसा लगता है जैसे मेरे ही रक्त प्रकाश का शनिग्रह फूल का रूप धारे आया है। कभी-कभी जी में आता है, तुम्हारे पास से छीनकर इसके टुकड़े-टुकड़े कर दूँ। फिर सोचता हूँ, नंदिनी यदि किसी दिन अपने हाथों वह माला मेरे सिर पर पहना दे तो—

नंदिनी : तो क्या होगा?

नेपथ्य से : तो फिर शायद मैं सहज ही मर सकूँगा।

नंदिनी : कोई है जो उस लाल कनेर को बहुत चाहता है; मैंने उसी को याद करके इन फूलों को कान का झुमका बनाया है।

नेपथ्य से : तो फिर कहे देता हूँ, ये फूल मेरे भी शनिग्रह है, और उसके भी शनिग्रह है।

नंदिनी : छी-छी, ऐसी बात क्या कह रहे हो! अब मैं जाऊँ!

नेपथ्य से : कहाँ जाओगी?

नंदिनी : तुम्हारे किले के दरवाज़े के पास बैठी रहूँगी।

नंदिनी : रंजन जब उस रास्ते आयगा तो देखेगा कि मैं उसी का इन्तज़ार कर रही हूँ।

नेपथ्य से : मैं रंजन को पीसकर अगर धूल में मिला दूँ और उसे ज़रा भी पहचाना न जा सके!

नंदिनी : आज तुम्हें क्या हो गया है? मुझे झूठ-मूठ डर क्यों दिखा रहे हो।

नेपथ्य से : झूठ-मूठ डर? तुम नहीं जानतीं—मैं भयंकर हूँ।

नंदिनी : अचानक यह तुम्हारा कैसा भाव बदल गया? सब तुमसे डरते हैं—क्या यही देखने में तुम्हें मज़ा आता है? हमारे गाँव का श्रीकंठ रामलीला में राक्षस बनता है; जब उसका संवाद होता है तो बच्चे डर से आतंकित हो उठते हैं इस पर वह बहुत खुश होता है। तुम्हारी भी यही हालत है। मेरे मन में कैसा लगता है सच बताऊँ? गुस्सा तो नहीं करोगे?

नेपथ्य से : कैसा लगता है, बताओ भला!

नंदिनी : यहाँ के आदमियों का कारोबार ही डर दिखाना है । इसीलिए तुम्हें जाल से घेरकर बड़ा अजीब-सा बना रखा है उन्होंने। इस हौवा की तस्वीर बनने में तुम्हें लाज नहीं लगती?

नेपथ्य से : क्या कहती हो नंदिनी?

नंदिनी : इतने दिन तक जिन्हें तुम डराते आ रहे हो, वे एक दिन डरने से शर्मायेंगे। मेरा रंजन यदि यहाँ होता तो तुम्हारी नाक के सामने चुटकी बजाकर मर जाता, पर डरता नहीं।

नेपथ्य से : हिमायत तो कम नहीं है तुम्हारी! इतने दिनों तक तोड़-मरोड़कर जो कुछ मैंने तहस-नहस किया है, उसी पुंजीभूत पहाड़ों की चोटी पर तुम्हें खड़ी करके दिखाने की इच्छा कर रही है। फिर भी—

नंदिनी : फिर भी क्या?

नेपथ्य से . फिर मैं अपना अन्तिम तोड़ना तोड़ दूं! अनार के दाने फटफ़टाकर जिस तरह दस अंगुल की फॉक से अपना रस निकाल देते हैं, उसी प्रकार मैं अपने इन दो हाथों से—जाओ चली जाओ! अभी भाग जाओ, अभी !

नंदिनी : मैं यह खड़ी हूँ, क्या कर सकते हो, करो। इस तरह भद्दे ढंग से क्यों गरज रहे हो?

नेपथ्य से : मै कितना अद्भुत निष्ठुर हूँ, उसका समूचा प्रमाण तुम्हें देने की इच्छा हो रही है। मेरे घर में से कभी तुमने कोई आर्त्तनाद नहीं सुना?

नंदिनी : सुना है। किसका आर्त्तनाद है वह?

नेपथ्य से : मैं सृष्टिकर्त्ता की चातुरी तोड़ा करता हूँ। विश्व के मर्मस्थल में जो कुछ छिपा हुआ है, उसे छीन लेना चाहता हूँ। उन्हीं छिने प्राणों की रुलाई है वह। पेड़ से यदि आग चुराना हो तो उसे जला देना होता है। नंदिनी, तुम्हारे भीतर भी आग है—लाल आग। एक दिन जलाकर उस आग को निकाले बिना छुटकारा नहीं।

नंदिनी : क्यों तुम इतने निष्ठुर हो?

नेपथ्य से : मैं या तो प्राप्त करूँगा या नष्ट कर दूँगा। जिसे मै पा नहीं सकता उस पर दया नहीं कर सकता। उसे तोड़ देना भी एक तरह का पाना ही है।

नंदिनी : यह क्या! इस तरह मुक्का बाँधकर हाथ क्यों निकाल रहे हो?

नेपथ्य से : अच्छा, खींच लेता हूँ, तुम भाग जाओ, जैसे कबूतर बाज की छाया से भागता है, उसी तरह।

नंदिनी : अच्छा जाती हूँ, तुम्हे अब नहीं चिढ़ाऊँगी!

नेपथ्य से : सुनो, सुनो, लौट आओ! नंदिनी... नंदिनी!

नंदिनी : क्या कहते हो?

नंदिनी : सामने तुम्हारे मुँह पर और आँखों में जीवन की लीला खेल रही है और पीछे तुम्हारे

काले केशों की धारा में ही मृत्यु का निस्तब्ध झरना है। मेरे ये दोनों हाथ उस दिन उसमें डूब मरने का आराम पा गये थे। और कभी मैंने मृत्यु के माधुर्य को इस प्रकार नहीं सोचा था। इन गुच्छे-के-गुच्छे काले केशों के नीचे मुँह छिपाकर सोने की बड़ी इच्छा हो रही है। तुम नहीं जानतीं मैं कितना थका हूँ।

नंदिनी : तुम क्या कभी सोते नहीं?

नेपथ्य से : सोते डर लगता है।

नंदिनी : तुमको मैं वह 'प्रेम करता हूं' गान पूरा सुना दूँ—

गान—१२

प्यार करता हूँ प्यार करता हूँ/इसी में पास और दूर/जल और स्थल में बंशी बजा करती है/आकाश में किसके हृदय में पीड़ा हो रही है/ दिंगत में किसकी काली आँखें/आँखों के पानी से बही जा रही हैं।

नेपथ्य से : बस बस, रहने दो, अब मत गाओ।

नंदिनी :

गान—१३

उसी सुर में समुद्र के किनारे बंधन खुल जाता है/अतुल रोदन हिल उठता है/उसी सुर के अकारण ही/मन में भूले हुए गान की बात/भूले हुए दिनों की हँसी और रुलाई याद आ जाती है।

नंदिनी : पागल भाई, वह देखो, मेरे मेढक को फेंककर वह जाने कब भाग गया है। वह गान सुनते डरता है।

विशू : उसकी छाती में जो बूढ़ा मेंढक सब तरह के सुरों की छूत बचाकर बैठा हुआ है, वह जब गान सुनता है तो मर जाना चाहता है। इसीलिए उसे डर लगता है। पगली, आज तेरे मुख पर एक दीप्ति देख रहा हूँ; तेरे मन में किस भावना का अरुणोदय हुआ है—मुझे नहीं बतायेगी?

नंदिनी : मेरे मन में यह खबर आ पहुँची है कि आज रंजन निश्चय ही आयगा।

विशू : पता है यह पक्की खबर किस तरफ से आयी है।

नंदिनी : सुनो बताती हूँ। मेरी खिड़की के सामने अनार की डाल पर रोज़ नीलकंठ पक्षी आकर बैठता है। मैं संध्या समय रोज़ ध्रुव तारे को प्रणाम करके कहती हूँ कि उसके पंख में यदि एक पर उड़कर मेरे घर में आये तो समझूँगी कि मेरा रंजन आयेगा। आज सबेरे उठते ही देखा कि उत्तरी हवा में उड़ता हुआ एक पर मेरे बिछौने पर आ गिरा है। यह देखो, उस पर को मैंने अपने आँचल में बाँध रखा है।

विशू : यही तो देख रहा हूँ, और देखता हूँ आज तुमने माथे पर बिंदी भी लगा रखी है।

नंदिनी : भेंट होने पर इस पर को मैं उसकी शिखा में पहना दूँगी।
विशू : लोग कहते हैं, नीलकंठ के पंख में विजय-यात्रा का शुभ चिह्न होता है।
नंदिनी : रंजन की विजय-यात्रा मेरे हृदय के भीतर से होकर चलेगी।
विशू : पगली, अब मैं अपने काम पर जाऊँ।
नंदिनी : नहीं, आज मैं तुमको काम नहीं करने दूँगी।
विशू : तो बता, क्या करूँ?
नंदिनी : गान गाओ।
विशू : कौन-सा गान?
नंदिनी : राह देखने का गान।
विशू : (गाता है)

गान—१४

उसने शायद युग-युग से मुझे चाहा था/वही शायद मेरे रास्ते के किनारे बैठा हुआ है/आज मानो मुझे याद आ रहा है/कि न जाने कब/किस अस्फुट प्रदोष-वेला में उसे आँखों देखा था/वही मानो मेरे रास्ते के किनारे आ बैठा है/आज आलोक-संगीत के साथ उस चाँद का वरण होगा/और रात के मुख का अन्धकार इशारे से खुल जायेगा/शुक्ल रात्रि में उसी आलोक में/घड़ीभर में भेंट होगी और सभी आवरण खिसक जायेंगे/वही मानो मेरे रास्ते के किनारे बैठा हुआ है।

नंदिनी : पागल, जब तुम गाते हो तो मुझे ऐसा मालूम होता रहता है, तुम्हे मुझसे बहुत-कुछ पाना था, पर मैं कुछ भी नहीं दे सकी।
विशू : तेरा यही कुछ भी नहीं देना मैं अपने सिर माथे चढ़ा चला जाऊँगा। थोड़ा-बहुत देने की कीमत पर गान नहीं बेचूँगा। इस समय तू कहाँ जायेगी?
नंदिनी : रास्ते के किनारे, जहाँ से रंजन आयेगा। वहीं बैठी रहकर फिर तुम्हारा गान सुनूँगी।

[दोनों का प्रस्थान]

(सरदार और मुखिया का प्रवेश)

सरदार : नहीं, इस मुहल्ले में रंजन को किसी तरह आने नहीं दिया जा सकता।
मुखिया : उसे दूर रखने के लिए ही तो वज्रगढ़ की सुरंग मे काम करने को ले गया था।
सरदार : फिर क्या हुआ?
मुखिया : किसी प्रकार उससे पार नहीं पाया गया। वह कहता, हुकुम मानकर काम करने का अभ्यास मुझे नहीं है।

सरदार : अभ्यास शुरू कराने में अभी क्या दोष है?

मुखिया : यह कोशिश भी की गयी। बड़ा सरदार कोतवाल को लेकर आया। लेकिन इस आदमी को डर-भय तो कहीं है ही नहीं, गले में ज़रा-सा शासन करने का स्वर आया नहीं कि ठठाकर हँस दिया। पूछने पर कहता है गंभीरता मूर्ख का स्वाँग है, मैं उसी को हटाने आया हूँ।

सरदार : उसे सुरंग के भीतर दल के साथ क्यों नहीं भिड़ा दिया?

मुखिया : भिड़ा देता, सोचा था कि दबाव में पड़कर वह मान जायेगा। लेकिन हुआ उल्टा। ऐसा मालूम होने लगा कि खुदाई के मजूरों पर से भी दबाव कम हो गया। उनको भी मतवाला बना दिया, बोला—आज हम लोगों का खुदाई-नाच होगा।

सरदार : खुदाई-नाच? इसका क्या मतलब?

मुखिया : रंजन ने तान छेड़ दी, मजूरों ने कहा—ढोल कहाँ मिलेगा? उसने कहा—ढोल नहीं तो कुदाल तो है। फिर कुदाल पर ताल पड़ने लगे; सोने की पिंड लेकर कैसी विचित्र लुकौवल चलने लगी! बड़े मुखिया खुद आये, बोले—'यह कैसा तुम्हारे काम का ढंग है?' रंजन बोला—'काम की रस्सी मैंने खोल दी है, उसे खींचकर नहीं चलना होगा, वह नाचता हुआ चलेगा।'

सरदार : देखता हूँ, यह आदमी पागल है।

मुखिया : वज्र पागल! कहता हूँ, कुदाल पकड़ो। जवाब देता है, उससे अधिक काम होता यदि तुम एक सारंगी ला देते।

सरदार तुम लोग उसे वज्रगढ़ ले गये थे, वहाँ से वह कुबरगढ़ कैसे चला आया?

मुखिया . क्या जाने, मालिक। उसे ज़ंजीरों से तो कसकर बाँधा गया था। थोड़ी देर बाद देखता हूँ, न जाने कैसे बिछलाकर निकल आया है—उसके शरीर को कुछ भी दबाकर नहीं रख सकता। और वह बात-बात मे साज बदल लेता है, चेहरा बदल लेता है। उसकी ताकत अचरज-भरी है। यदि वह कुछ दिन और रहा तो खुदाई के मजूर भी बंधन नहीं मानेंगे।

सरदार : वह क्या? वह रंजन ही है न? रास्ते से गाना गाता हुआ चला है। कहीं से एक टूटी सारंगी जुटा ली है। हिमाकत तो देखो, इसे छिपाने की भी कोशिश तक नहीं की है!

मुखिया . यही तो! न जाने कब गारद की भीत काटकर निकल आया है। जादू जानता है।

सरदार : जाओ, इस बार पकड़ो उसे। खयाल रखो, इस मुहल्ले में नंदिनी के साथ उसकी मुलाकात किसी प्रकार न होने पावे।

मुखिया : देखते-देखते उसका दल भारी होता जा रहा है। कभी हम लोगों समेत सबको नचा देगा!

(छोटे सरदार का प्रवेश)

सरदार : कहाँ चले हो?

छोटा सरदार : रंजन को बाँधने।

सरदार : तुम क्यों? मझले सरदार कहाँ हैं?

छोटा सरदार : उसे देखकर उन्हें ऐसा मज़ा आया कि उसके बदन पर हाथ देना ही नहीं चाहते। कहते हैं—उसकी हँसी देखकर समझ पाता हूँ कि हम सरदार लोग कितने अद्‌भुत हो गये हैं।

सरदार : सुनो, उसे बाँधना होगा। राजा के घर में भेज दो।

छोटा सरदार : वह तो राजा के बुलावे को मानना ही नहीं चाहता।

सरदार : उसे कह दो कि राजा उसकी नंदिनी को सेवादासी बनाकर रखे हुए है।

छोटा सरदार : लेकिन राजा यदि—

सरदार : सोच-विचार की कोई ज़रूरत नहीं, चलो मैं स्वयं जाता हूँ।

[सबका प्रस्थान]

(अध्यापक और पुराणवागीश का प्रवेश)

पुराणवागीश : भीतर यह कैसा प्रलय-काण्ड हो रहा है, बताओ तो? बड़ा भयंकर शब्द हो रहा है जो!

अध्यापक : जान पड़ता है राजा अपने ऊपर खुद ही बिगड़ पड़ा है, इसीलिए, अपनी ही तैयारी की हुई किसी चीज़ को तोड़-फोड़ रहा है।

पुराणवागीश : जान पड़ता है, बड़े-बड़े खंभे भड़भड़ाकर गिरे जा रहे हैं।

अध्यापक : हमारे उस पहाड़तले से लगा हुआ उसी की बराबर एक तालाब था, उसी में शंखिनी नदी का पानी इकट्ठा हुआ करता था। एक दिन उसकी बायीं ओर का ऊँचा टीला झुक गया और जमा हुआ पानी पागल के अट्टहास की तरह खिलखिलाता हुआ बाहर निकल गया। कुछ दिन से राजा को देखकर जान पड़ता है कि उसके संचय-सरोवर के पत्थर में भी चाड़ लगा है। उसका ताला भीतर-ही-भीतर खधर गया है।

पुराणवागीश : वस्तुवागीश, यह किस स्थान में मुझे ले आये हैं और यहाँ करना क्या है?

अध्यापक : जगत् मे जो कुछ जानने को है, उस सब-कुछ को वह जानने के द्वारा ही आत्मसात् करना चाहता है। मेरी वस्तु-तत्त्व-विद्या को तो उसने प्रायः सब-का-सब ढलवा लिया है, अब रह-रहकर बिगड़ उठता है और कहता है—'तुम्हारी विद्या तो सेंध मारने की साबर से एक दीवार तोड़कर उसके पीछे एक और दीवार निकालती रही है। किन्तु प्राण-पुरुष का भीतरी महल कहाँ है?' मैंने सोचा, उसे कुछ दिनों के लिए पुराण-चर्चा में भुलवा रखा जाये—मेरी थैली तो झाड़ ली जा चुकी है, अब पुरावृत्त की पाकेटमारी चले। देख रहे हो कौन चली जा रही है?

पुराणवागीश : एक लड़की, धानी रंग की साड़ी पहने हुए।

अध्यापक : पृथ्वी की प्राणों-भरी खुशी को अपने सारे शरीर में खींच लिया है, इस हमारी नंदिनी ने। इस यक्षपुर में सरदार हैं, मुखिया हैं, खुदाई करनेवाले मज़दूर हैं, मेरे-जैसा पंडित है, कोतवाल है, जल्लाद है, मुर्दाफ़रोश है, सभी मज़े में मिल गये हैं, किन्तु वह एकदम बेमेल है। चारों ओर है हाट का हो-हल्ला, वह है सुर-बँधा तम्बूरा। एक-एक दिन उसके चले जाने की हवा से ही मेरी वस्तु-चर्चा का जाल फट जाता है। उसी के फाँक में से मेरा ध्यान जंगली चिड़िया का तरह हुश करक निकल भागता ह।

पुराणवागीश : कहते क्या हो! तुम्हारी पक्की हड्डी भी ठकठका उठती है क्या?

अध्यापक : जानने के आकर्षण की अपेक्षा जब प्राण का आकर्षण ज्यादा हो जाता है, तभी पाठशाला से भागने की प्रवृत्ति में सँभालकर बाहर हो जाती है।

पुराणवागीश : अच्छा, अब बताओ तुम्हारे राजा से कहाँ भेंट होगी?

अध्यापक : भेंट होने का उपाय नहीं है। उसी जाल की ओट से बातचीत होगी।

पुराणवागीश : क्या कहा, जाल की ओट से?

अध्यापक : और नहीं तो क्या। घूँघट की ओट से जिस तरह रसालाप होता है उस ढंग का नहीं, एक छली हुई बात—बीन-बराकर शुद्ध की हुई। उसके घर की गाय शायद दूध देना नहीं जानती, एकदम मक्खन देती है।

पुराणवागीश : बेकार बातें छोड़कर असली बात वसूल कर लेना ही तो पंडित का अभिप्राय होता है।

अध्यापक : किन्तु विधाता का नहीं। उन्होंने असली चीज़ की सृष्टि ही की है बेकार चीज़ों का चालन करने के लिए। वे सम्मान देते हैं फल की गुठली को और प्रेम देते हैं उसके गूदे को।

पुराणवागीश : आजकल देखता हूँ तुम्हारा वस्तु-तत्त्व धानी रंग की ओर दौड़ पड़ा है। किन्तु अध्यापक, तुम अपने इस राजा को बरदाश्त कैसे कर पाते हो?

अध्यापक : सच बताऊँ? मैं उसे प्यार करता हूँ।
कहते क्या हो तुम!
तुम नहीं जानते, वह इतना बड़ा है कि उसके दोष भी उसे नष्ट नहीं कर सकते।

[सरदार का प्रवेश]

सरदार : अजी वस्तुवागीश, चुन-चुनकर इसी आदमी को ले आये हो। इनकी विद्या का ब्यौरा सुनकर ही हमारा राजा बिगड़ उठा है।

अध्यापक : सो क्यों?

सरदार : राजा कहता है कि पुराण नाम की कोई चीज़ है ही नहीं, वर्तमान काल ही सिर्फ़ बढ़ता चल रहा है।

पुराणवागीश : पुराण यदि नहीं है तो फिर भी कैसे है? पीछे यदि न हो तो सामने रह ही क्या सकता है?

सरदार : राजा कहते हैं, महाकाल नवीन को सामने प्रकाशित करता हुआ चल रहा

है! इस बात को पंडित दबा देता है और कहता है महाकाल पुरातन को अपने पीछे ढोये लिये जा रहा है।

अध्यापक : नंदिनी के निविड़ यौवन की छाया-वीथिका में नवीन की मायामृगी को राजा चकित भाव से देख सके हैं, किन्तु पकड़ नहीं सके हैं, और बिगड़ उठे हैं मेरे वस्तु-तत्त्व के ऊपर।

(नंदिनी का तेज़ी से प्रवेश)

नंदिनी : सरदार, सरदार यह क्या ! वे कौन हैं !

सरदार : सुनो नंदिनी, जब घोर रात होगी तब तुम्हारे कुन्द फूल की माला पहनूँगा। जब अँधेरे में मेरा रुपये में बारह आना ही अस्पष्ट चलेगा उस समय शायद फूल की माला मुझे फबेगी।

नंदिनी : उधर देखो, कैसा भयानक दृश्य है! प्रेतपुरी का दरवाजा खुल गया है क्या? पहरेदारों के साथ वे कौन चले हैं, वे जो राजा के महल के खिड़की-दरवाज़ों से निकले आ रहे हैं?

सरदार : उनको हम राजा का जूठन कहते हैं।

नंदिनी : क्या मतलब?

सरदार : मतलब एक दिन तुम भी समझोगी, आज रहने दो।

नंदिनी : किन्तु कैसे चेहरे हैं ये? ये क्या मनुष्य हैं? उनमें मांस-मज्जा, मन-प्राण, क्या कुछ है?

सरदार : शायद नहीं।

नंदिनी : किसी दिन था !

सरदार : शायद था।

नंदिनी : अब कहाँ चला गया?

सरदार : वस्तुवागीश, समझा सको तो समझा दो, मैं चला।

[प्रस्थान]

नंदिनी : वह क्या है ! उन छाया-मूर्तियों में पहचाने मुखड़े देख रही हूँ। वे दोनों तो अवश्य ही हमारे अनूप और उपमन्यु हैं। अध्यापक, वे लोग हमारे पड़ोसी गाँव के बाशिंदे हैं। दोनों भाई सिर के जितने लम्बे हैं शरीर से उतने ही मजबूत भी; लोग इन्हें ताल-तमाल कहा करते हैं। आषाढ़ चतुर्दशी को हमारी नदी में नाव-दौड़ खेलने आये थे। हाय-हाय छाती फटती है, किसने इनकी यह दशा कर रखी है? वह तो शकलू दिख रहा है, तलवार के खेल में सबके आगे माला पाता था। अ-नू-प, शकलू—इधर देखो इधर मैं नंदिनी, ईशानी पाड़ा की तुम्हारी नंदिनी। सिर उठाकर देखा भी नहीं। हमेशा के लिए सिर नीचा हो गया है। अरे वह कौन है? कंकु? हाय रे, उसके जैसे लड़के को भी ईख की तरह चूस लिया है। बड़ा शैतान था; जिस घाट में पानी ले आने जाती उसी के

पास ढालू किनारे पर बैठा रहता। ऐसा भान करता मानो तीर चलाने के लिए सरकंडे लेने आ गया है। शैतानी करके मैंने उसे कितना दुःख दिया है। अरे ओ कंकू, ज़रा मेरी ओर घूमकर ताक। हाय-हाय, मेरे इशारे पर जिसका रक्त नाच उठता था, उसने मेरी पुकार पर जवाब तक नहीं दिया? बुझ गयी है मेरे गाँव की सब रोशनी, बुझ गयी! अध्यापक, लोहा घिस गया है, सिर्फ़ काला मोरचा ही बाकी है? ऐसा क्यों हुआ?

अध्यापक : नंदिनी, जिधर रास्ता है उसी तरफ तुम्हारी नज़र जाती है। इस बार लौ की ओर भी देखो, देखोगी कि उसकी जीभ लपलपा रही है।

नंदिनी : तुम्हारी बात मैं नहीं समझ सकती।

अध्यापक : राजा को तो देखा है? उसकी मूर्ति देखकर, सुना है कि तुम्हारा मन मुग्ध हो गया है।

नंदिनी : जरूर हुआ है। वह जो अद्‌भुत शक्ति का चेहरा है।

अध्यापक : वह अद्‌भुत जिसका जमा है, यह किम्भूत उसी का खर्च है। ये छोटे-छोटे सब जलकर होते रहते हैं राख और वह बड़ा जलता रहता है लौ के रूप में। यही है बड़ा होने का तत्त्व।

नंदिनी · वह तो राक्षस का तत्त्व है।

अध्यापक . तत्त्व पर बिगड़ना फ़िजूल है। वह अच्छा भी नहीं होता, बुरा भी नहीं होता। जो होता है सो होता है, उसके विरुद्ध जाओ तो होने के ही विरुद्ध जाओगी।

नंदिनी : यही यदि मनुष्य का होने का रास्ता है, तो नहीं चाहता मैं होना—मैं उन छाया-मूर्तियों के साथ चली जाऊँगी—मुझे रास्ता दिखा दो।

अध्यापक : रास्ता दिखाने का जब दिन आयेगा तो ये लोग ही दिखा देंगे, उसके पहले रास्ता जैसी कोई बला नहीं है। देखो न, पुराणवागीश न जाने कब धीरे-से खिसक पड़े हैं, सोचते हैं—माँगकर बच जायँगे। कुछ आगे जाकर ही समझ सकेंगे कि घेरे का जाल यहाँ से लेकर बहुत योजन दूर तक खूँटियों में बँधा है। नंदिनी, नाराज़ हो रही हो तुम? तुम्हारे कपोल पर लाल कनेर का गुच्छा आज प्रलय-संध्या के मेघ के समान दीख रहा है।

नंदिनी : (खिडकी को धक्का मारकर) सुनो, सुनो!

अध्यापक : किसे बुला रही हो तुम?

नंदिनी : जाल के कुहासे से ढके हुए तुम्हारे राजा को।

अध्यापक : भीतर के किवाड़ बन्द हो गये हैं, आवाज़ नहीं सुन सकेगा।

नंदिनी : विशू पागल, पागल भाई!

अध्यापक : उसे क्यों बुला रही हो?

नंदिनी : वह अब तक लौटा नहीं, मुझे बड़ा डर लग रहा है।

अध्यापक : ज़रा पहले तुम्हारे ही साथ तो देखा था उसे।

नंदिनी : सरदार ने कहा कि रंजन को पहचनवाने के लिए उसकी बुलाहट हुई। मैं

साथ जाना चाहती थी, जाने नहीं दिया। वह किसकी चीख सुनाई दे रही है।

अध्यापक : जान पड़ता है उस पहलवान की है।

नंदिनी : वह कौन है?

अध्यापक : वही, वह जगद्विख्यात गज्जू पहलवान; जिसका भाई भजन हिमाकत करके राजा से कुश्ती लड़ने आया था; फिर तो उसकी लँगोटी का एक धागा भी कहीं दिखायी नहीं दिया। उसी गुस्से से गज्जू भी ताल ठोकता आया। मैंने शुरू में ही उससे कह दिया था कि इस राज्य में सुरंग खोदने आना चाहते हो आओ, मरते-मरते भी कुछ दिन जीते रहोगे और अगर मर्दानगी हो तो एक क्षण भी नहीं बर्दाश्त की जायेगी। वह स्थान बहुत कठिन है।

नंदिनी : दिन-रात इस आदमी बुझानेवाले जाल की खबरदारी करके ये लोग क्या कुछ भी अच्छे रह पाते हैं?

अध्यापक : अच्छे का सवाल इसमें नहीं है, रहने का सवाल है। इनका यह रहना इतने भयंकर रूप से बढ़ गया है कि लाख-लाख आदमियों पर यदि दबाव न पड़े तो इनके इस भार को सम्हालेगा कौन?

नंदिनी : रहना ही होगा? मनुष्य होकर रहने के लिए यदि मरना ही हो तो उसमें दोष क्या है?

अध्यापक : फिर वही गुस्सा? उसी लाल कनेर की झंकार! बड़ी मधुर है, फिर भी जो सत्य है वह सत्य है। रहने के लिए मरना है, ऐसे कहने में तुम्हें सुख मिलता हो तो कह लो। किन्तु रहते वही लोग हैं जो कहते हैं कि रहने के लिए मरना होगा। तुम लोग कहती हो इससे मनुष्य में चूक हो जाती है; पर गुस्से के कारण भूल जाती हो कि यही मनुष्यत्व है। बाघ को खाकर बाघ बड़ा नहीं होता। वह सिर्फ़ मनुष्य को खाकर फूल उठता है।

(पहलवान का प्रवेश)

नंदिनी : आहा, किस तरह ढुलकता-ढिमलता आ रहा है। पहलवान, यहीं सो रहो। अध्यापक, देखो ना, कहाँ इसे चोट लगी है?

अध्यापक : बाहर से चोट का निशान देख नहीं सकोगी।

पहलवान : दयामय प्रभो, ऐसा हो कि मैं जीवन में एक दिन के लिए शक्ति पाऊँ, सिर्फ़ एक दिन के लिए ही सही!

अध्यापक : काहे वास्ते भाई!

पहलवान : सिर्फ़ उस सरदार की गर्दन मरोड़ देने के लिए।

अध्यापक : सरदार ने तुम्हारा क्या किया है?

पहलवान : सब-कुछ उसी ने तो किया है। मैं तो लड़ना ही नहीं चाहता था। आज कहता फिरता है कि मेरा ही दोष था।

अध्यापक : क्यों भई, उसमें उनका क्या स्वार्थ है?

पहलवान : यदि समस्त पृथ्वी को शक्तिहीन कर दें तभी वे निश्चिन्त होंगे। दयानिधान

भगवान् ऐसा करो कि एक दिन उसकी दोनों आँखें उखाड़कर फेंक सकूँ, उसकी जीभ खींचकर निकाल बाहर करूँ।

नंदिनी : तुम्हें कैसा लग रहा है पहलवान?

पहलवान : ऐसा जान पड़ता है कि शरीर भीतर से पोला हो गया है। ये लोग जाने कहाँ के दानव हैं, जादू जानते हैं; सिर्फ़ जोर ही नहीं, साहस तक सोखते हैं। यदि किसी उपाय से एक बार—हे कल्याणमय हरि, आः यदि एक बार—तुम्हारी दया होने से क्या नहीं हो सकता ! सरदार की छाती में यदि एक बार दाँत गड़ा सकूँ !

नन्दिनी : अध्यापक, इसे तुम पकड़ो, हम दोनों मिलकर इसे घर पर ले चलें।

अध्यापक : मुझमें साहस नहीं है नंदिनी ! यहाँ के नियमानुसार इसमें अपराध होगा।

नंदिनी : मनुष्य को मरने देने में अपराध नहीं होगा?

अध्यापक : जिस अपराध का दण्ड देनेवाला कोई नहीं है, वह पाप हो सकता है किन्तु अपराध नहीं। नंदिनी, इन सब में से तुम एकबारगी निकल आओ। जड़ की मुट्ठी बाँधकर पेड़ मिट्टी के नीचे हरण शोषण का कार्य करता है, किन्तु वहाँ फूल तो नहीं खिला सकता। फूल खिलता है ऊपर की डाल में, आकाश की ओर। ओ लाल कनेर, हमारी मिट्टी के नीचे की खबर लेने मत आओ। हम टकटकी लगाये बैठे हैं कि ऊपर की हवा में तुम्हारा झूला झूलना देखेंगे। वह सरदार आ रहा है। तो फिर मैं हटूँ। वह यह नहीं सह सकता कि मैं तुम्हारे साथ बातें करूँ।

नंदिनी : मेरे ऊपर इतना गुस्सा क्यों?

अध्यापक : अन्दाज़ से कह सकता हूँ। तुमने भीतर-ही-भीतर उसके मन के तार को खींचा है; सुर जितना ही नहीं मिल रहा है, बेसुर उतना ही तीव्र होकर चीख उठता है।

[प्रस्थान]

(सरदार का प्रवेश)

नंदिनी : सरदार!

सरदार : नंदिनी, तुम्हारे उस कुन्द फूल की माला को देखकर गोसाईं जी की दोनों आँखें... लो वे खुद आ रहे हैं। प्रणाम! प्रभु वह माला नंदिनी ने मुझे दी थी।

(गोसाईं जी का प्रवेश)

गोसाईं : अहा, शुभ्र प्राणों का दान! भगवान् के शुभ्र कुन्द पुष्प! विषयी जन के हाथ में पड़कर भी उसकी शुभ्रता म्लान नहीं हुई, इसी से तो पुण्य की शक्ति और पापी के परित्राण की आशा देख पाता हूँ।

नंदिनी : गोसाईं जी, इस आदमी की कोई व्यवस्था कीजिए। इसके जीवन का बाक़ी कितना-सा रह गया है।

गोसाई : सब ओर से विचारकर जिस मात्रा में इसका जीना ज़रूरी है हमारे सरदार निश्चय ही उतना जीवित रखेंगे। किन्तु वत्स , यह सब आलोचना तुम्हारे मुँह

से श्रुतिकटु लगती है। हम पसन्द नहीं करते।

नंदिनी : इस राज्य में जीवित रखने का भी मात्रा- विचार क्या है?

गोसाईं : क्यों नहीं है? पार्थिव जीवन सीमाबद्ध है न? इसीलिए हिसाब समझकर उसका बँटवारा करना होता है। हमारी श्रेणी के लोगों पर भगवान् ने दुस्सह उत्तरदायित्व का बोझ लाद दिया है, उसको ढोने के लिए हमारे हिस्से में प्राण का सारांश कुछ अधिक मिलना चाहिए। ये लोग कुछ कम जियें तो भी काम चल जायगा, क्योंकि उनका भार करने के लिए ही हम लोग जीते हैं। यह क्या उनके लिए कम बचाव है?

नंदिनी : गोसाईं जी, भगवान् ने तुम्हारे ऊपर इनका कौन-सा उपकार करने का बड़ा भारी भरकम बोझ लाद दिया है?

गोसाईं : जो प्राण सीमाबद्ध नहीं है उसमें हिस्सा बँटाने के लिए किसी के साथ किसी के झगड़े की कोई ज़रूरत ही नहीं है, हम गोसाईं लोग उसी प्राण का रास्ता दिखाने आए हैं। इसी से यदि वे सन्तुष्ट रहें तभी हम उनके शुभचिंतक हैं।

नंदिनी : तब क्या यह आदमी अपने सीमाबद्ध प्राण को लेकर इसी तरह अधमरा होकर पड़ा रहेगा?

गोसाईं : पड़ा क्यों रहेगा भला? क्यों सरदार, क्या कहते हो?

सरदार : ठीक कहते हैं आप , अपा पड़ा क्यों रहने दूँगा ! आज से अपने जोर से चलने की उसे ज़रूरत ही नहीं होगी। हम अपने ही ज़ोर से उसे चलाते फिरेंगे। अरे गज्जू!

पहलवान् : क्या प्रभु!

गोसाईं : हरि-हरि, इसी बीच उनका गला खासा महीन हो उठा है। अपने नाम-कीर्तन के दल में उसे खींच सकूँगा, ऐसा लगता है।

सरदार : ह-क्ष मुहल्ले के मुखिया के घर में तेरा डेरा हुआ है, चला जा वहीं।

नंदिनी : यह कैसी बात! वह चलेगा कैसे!

सरदार : देखो नंदिनी, आदमी चलाना ही हम लोगों का व्यवसाय है। हम जानते हैं कि आदमी जहाँ जाकर गोबर बटकाकर पड़ा रहता है वहाँ थोड़ा ज़ोर मारने से और भी थोडी दूर जा सकता है। जाओ गज्जू!

पहलवान : जो हुकुम।

नंदिनी : पहलवान, मैं भी जाती हूँ मुखिया के घर, वहाँ तुम्हें देखनेवाला कोई नहीं है।

पहलवान : नहीं नहीं, रहने दो, सरदार गुस्सा करेगा ।

नंदिनी : मैं सरदार के गुस्से से नहीं डरती।

पहलवान : मैं डरता हूँ, दुहाई है मेरी विपदा मत बढ़ाओ।

[प्रस्थान]

नंदिनी : सरदार, जाओ मत, कहते जाओ मेरे विशू पागल को कहाँ ले गये हो?

सरदार : मैं ले जानेवाला कौन होता हूँ। मेघ को हवा उड़ा ले जाती है, इसे यदि दोष समझो तो हवा से पूछो कि उसे ठेलता कौन है?

नंदिनी : यह कैसा सत्यानाशी देश है जी! तुम भी आदमी नहीं हो और जिन्हें चलाते हो वे भी आदमी नहीं हैं? तुम लोग हवा हो, वे मेघ हैं? गोसाईं, तुम ज़रूर जानते हो। बताओ मेरा विशू पागल कहाँ है?

गोसाईं : मैं ज़रूर जानता हूँ। जो जहाँ रहते हैं सब भले के लिए ही।

नंदिनी : किसके भले के लिए?

गोसाईं : सो तुम नहीं समझोगी। आः छोड़ो, छोड़ो, वह मेरी जय-माला है। लो वह टूट गयी! ऐ सरदार, तुम लोगों ने जो इस लड़की को—

सरदार : न मालूम कैसे वह यहाँ के नियमों के फाँक में जगह पा गयी है! खुद हमारे राजा—

गोसाईं : अजी देखो, इस बार मेरा राम-नामा तक फाड़ डालेगी, आफ़त है ! मैं चला ।

[प्रस्थान]

नंदिनी : सरदार, तुम्हें बताना ही पड़ेगा। बताओ मेरे विशू पगले को कहाँ ले गये हो?

सरदार : विचारशाला में उसकी बुलाहट हुई है—इससे अधिक कुछ कहने को नहीं है। मुझे छोड़ो, बहुत काम पड़े हैं।

नंदिनी : मैं स्त्री हूँ, इसलिए तुम मुझसे नहीं डरते? विद्युत्-शिखा के हाथों इन्द्र अपना वज्र भेज देते हैं। मैं वही वज्र लेकर आयी हूँ, तुम्हारी सरदारी का स्वर्ण-शिखर टूटेगा।

सरदार : तो सच्ची बात तुमको बता जाऊँ। विशू की आफ़त तुम्हीं ने बुलायी है ।

नंदिनी : मैंने?

सरदार : हाँ, तुमने ही। इतने दिन तक कीड़े की तरह चुपचाप मिट्टी के नीचे गड्ढा खोदकर वह चल रहा था, उसे मरने के लिह पंख फड़फड़ाना तुम्हीं ने सिखाया है, तुम्हीं ने, ओ इन्द्रदेव की आग! बहुतों को इसमें ढकेलोगी, तब अन्त में तुममें-हममें समझौता होगा। ज्यादा देर नहीं है।

नंदिनी : वही हो, किन्तु एक बात बताते जाओ, मेरे साथ रंजन की भेट होने दोगे या नहीं?

सरदार : हर्गिज़ नहीं।

नंदिनी : हर्गिज़ नहीं? देखूँगी कितनी ताकत है तुममें ! उसके साथ मेरा मिलना होकर ही रहेगा। ज़रूर होगा, और आज ही। तुम्हें बताए देती हूँ।

[सरदार का प्रस्थान]

नंदिनी : (खिड़की को धक्का मारकर) राजा, ओ राजा, सुनो! तुम्हारी विचारशाला कहाँ है? मैं तुम्हारे इस जाल के पर्दे को तोड़ दूँगी। वह कौन—वह कौन है!

यह किशोर दीख रहा है। बोल तो किशोर, तुझे मालूम है हमारा विशू कहाँ है?

किशोर : हाँ नंदिनी, अभी उसके साथ तुम्हारी भेंट होगी; दिल मजबूत कर रखो। पता नहीं पहरेदारों के मालिक ने मेरी सूरत देखकर इतनी दया क्यों दिखायी मेरे अनुरोध पर इसी रास्ते विशू को ले जाने को राजी हुआ है।

नंदिनी : पहरेदारों का मालिक! तो क्या—

किशोर : हाँ वह देखो, आ रहा है।

नंदिनी : यह क्या, तुम्हारे हांथ में हथकड़ी! पागल भाई, तुम्हें ये लोग इस तरह कहाँ ले चले हैं?

(विशू को लिये हुए पहरेदारों का प्रवेश)

विशू : डर नहीं है, कुछ डर की बात नहीं है! पगली, इतने दिन बाद मेरी मुक्ति हुई है।

नंदिनी : क्या कहते हो, कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

विशू : जब डर के मारे पद-पद पर विपत्तियों को सम्हालता हुआ चलता था तब मैं छूटा हुआ था। उस मुक्ति के समान बंधन और कुछ नहीं है।

नंदिनी : तुमने क्या दोष किया है कि वे तुम्हें बाँधे लिये जा रहे हैं?

विशू : इतने दिनों बाद आज सच्ची बात कह दी थी।

नंदिनी : इसमें दोष क्या हुआ?

विशू : कुछ नहीं।

नंदिनी : तो फिर इस प्रकार बाँधा क्यों?

विशू : इसमें नुकसान क्या हुआ ? सत्य में मैंने मुक्ति पायी है—यह बंधन इसी बात का सत्य-साक्षी है।

नंदिनी : वे तुम्हें पशु की तरह बाँधकर लिये जा रहे हैं, उन्हे खुद लज्जा नहीं लग रही? छी-छी, वे भी तो आदमी ही हैं।

विशू : उसके भीतर जो प्रकाण्ड पशु बैठा हुआ है—मनुष्य के अपमान से उनका सिर नीचा नहीं होता, सिर्फ़ भीतर के पशु की पूँछ फूलती रहती है, हिलती रहती है?

नंदिनी : आहा, पागल भाई, तुम्हें इन्होंने मारा भी है क्या? तुम्हारे शरीर पर ये छाले कैसे हैं?

विशू : चाबुक से मारा है, जिस चाबुक से कुत्तों को पीटते हैं.. उसी से। जिस रस्सी से यह चाबुक तैयार हुआ है उसी रस्सी के सूत से इनके गोसाईं की जयमाला भी तैयार हुई है । जब ये लोग ठाकुर का नाम जपते हैं तब इस बात को भूल जाते हैं, पर ठाकुर याद रखते हैं।

नंदिनी : मुझे भी तुम्हारे साथ ऐसे ही बाँध ले जायें भाई मेरे! तुम्हारी इस मार में से मैं भी कुछ हिस्सा यदि न पाऊँ तो आज से मुँह में अन्न नहीं रुचेगा।

किशोर : विशू, यदि मैं कोशिश करूँ तो वे ज़रूर तुम्हारे बदले मुझे ले जा सकते हैं। तुम ऐसी ही अनुमति दो।

विशू : तू यह पागल-सरीखी बात कर रहा है।

किशोर : सज़ा तो मुझे तकलीफ़ देने से रही। मेरी उमर कम है, मैं खुशी-खुशी सह लूँगा।

नंदिनी : नहीं-नहीं किशोर, तू ऐसी बात मत कह!

किशोर : नंदिनी, आज मैंने काम में कोताही की है, उनको इसकी खबर लग गयी है। मेर पीछे उन्होंने कुत्ता लगा रखा है। वे मेरा जो अपमान करेंगे उससे यह सज़ा मुझे बचा लेगी।

विशू : नहीं किशोर, अब पकड़े जाने से काम नहीं चलेगा, एक जोखिम से भरा काम करना है। रंजन यहाँ आ गया है, जैसे हो उसे बाहर निकालना होगा। यह कोई आसान काम नहीं है।

किशोर : नंदिनी, तो फिर मैं विदा हुआ। रंजन के साथ भेंट होने पर तुम्हारी कौन-सी बात उसे बताऊँगा!

नंदिनी : कुछ नहीं उसे वह लाल कनेर का गुच्छा दे देना, इसी से मुझे जो कुछ कहना है, सब कहा जायेगा।

[किशोर का प्रस्थान]

विशू : इस बार रंजन से तुम्हारा मिलन हो !

नंदिनी : अब मुझे मिलन में सुख नहीं मिलेगा। यह बात में कभी भूल न सकूँगी कि तुम्हें खाली हाथों विदा किया था। और वह बेचारा बालक किशोर है उसने ही मुझसे क्या पाया भला!

विशू : मन में तुमने जो आग जला दी है उसके प्रकाश में उसके अन्तर का सारा धन प्रकट हो गया है और चाहिए ही क्या? याद है न, वह नीलकण्ठ की पाँख रंजन के चूड़े में पहना देनी है.....

नंदिनी : वह क्या है, मेरी छाती के आंचल में?

विशू : पगली, फसल कटने का वह गान सुन रही है?

नंदिनी : सुन रही हूँ प्राण रो उठते हैं।

विशू : अब मैदान की लीला समाप्त हुई, खेत का मालिक पकी फसल लेकर घर चला। चलो प्रहरी, अब अधिक देर करना ठीक नहीं—

गान—१५

फसल का अन्तिम समय है/अब इसे काट लो और गट्ठर बाँध ले चलो/ जो काटने लायक नहीं उसे छोड़ दो/मिट्टी के साथ मिलकर उसे मिट्टी हो जाने दो।

[सब का प्रस्थान]

(चिकित्सक और सरदार का प्रवेश)

चिकित्सक : राजा अपने ऊपर आप ही बिगड़ पड़ते हैं, यह रोग बाहर का नहीं है, मन का है।

सरदार : इसका निदान क्या है?

चिकित्सक : कोई ज़बरदस्त-सा धक्का। या तो वह किसी दूसरे राज्य के साथ हो या नहीं तो फिर अपनी ही प्रजा के उत्पीड़न में लगा देना।

सरदार : यानी अगर वे और किसी का नुकसान नहीं कर सकेंगे तो अपना ही कर बैठेंगे।

चिकित्सक : वे बड़े आदमी हैं बड़े। बच्चे सरीखे खेला करते हैं। एक खेल से जब नाराज़ होते हैं तब अगर और एक खेल न जुगा दिया जाय तो अपना ही खिलौना तोड़ देते हैं, लेकिन तैयार रहो अब ज़्यादा देर नहीं है।

सरदार : लक्षण देखकर मैंने आगे से ही सब तैयारी कर रखी है। किन्तु हाय-रे-हाय, दुःख की क्या बताऊँ! हमारी स्वर्गपुरी उस समय जैसे ऐश्वर्य से भर उठी थी, वैसा और कभी नहीं हुआ था, ठीक उसी समय अच्छा तुम जाओ, मैं सोच कर देखता हूँ!

[चिकित्सक का प्रस्थान]

(मुखिया का प्रवेश)

मुखिया : सरदार-महाराज ! आपने बुलाया है? मैं ही महाल का मुखिया हूँ।

सरदार : ३२१ तुम्हीं हो न?

मुखिया : क्या ग़ज़ब की याददाश्त है मालिक की ! मेरे-जैसे अपात्र को भी आप नहीं भूलते।

सरदार : गाँव से मेरी स्त्री आ रही है। तुम्हारे महाल के पास डाक बदलेगी। शीघ्र ही यहाँ पहुँचा देना होगा।

मुखिया : मुहल्ले में बैलों की मरकी पड़ी है, गाड़ी खींचने के लिए बैलों का अभाव है। खैर देखा जायगा, खुदाई करनेवाला मज़दूरों को जोत दिया जायगा।

सरदार : जानते हो न, कहाँ जाना होगा? बागान-बाड़ी में जहाँ सरदारों का भोज है।

मुखिया : जाता हूँ, लेकिन एक बात बताता जाऊँ। जरा का इधर दें। वह जो ६९ ङ है जिसे लोग-बाग़ विशू पागल कहते हैं उसके पागलपन को ठिकाने लगाने का वक्त आ गया है।

सरदार : क्यों? तुम्हारे यहाँ उत्पात करता है क्या?

मुखिया : मुँह से नहीं, भाव-भंगी से !

सरदार : अब कोई चिन्ता नहीं। समझे?

मुखिया : ऐसा? तो फिर ठीक है। और एक बात वह जो ४७ फ है, ६९ ङ से कुछ ज्यादा मिलता-जुलता है।

सरदार : मैंने यह भी लक्ष्य किया है।

मुखिया : मालिक का लक्ष्य तो ठीक ही है. फिर भी चारों ओर नज़र रखनी पड़ती है कि नहीं, इसीलिए दो-एक छूट भी सकते हैं। यही देखिए ना, हमारा ९५, गाँव के नाते मेरा फुफुआ-ससुर होता है—अपनी पसली की हड्डियों से सरदार-महाराज के झाड़ूबरदार का खड़ाऊँ बना देने को तैयार है, स्वामिभक्ति देखकर

स्वयं उसकी सहधर्मिणी भी लज्जा से सिर नीचा कर लेती है और फिर भी आज तक—

सरदार : उसका नाम बड़ी बही में चढ़ गया हे।

मुखिया : चलो, इतने दिनों की सेवा सार्थक हुई। उसे सावधानी के साथ खबर सुनानी होगी, उसे मिरगी का रोग भी है, अचानक—

सरदार : अच्छा तो, सो सब होता रहेगा, तुम जल्दी करो।

मुखिया : और एक आदमी की बात कहनी है—होता तो वह मेरा अपना सगा साला ही है, लेकिन उसकी माँ जब मर गयी तो मेरी घरवाली ने उसे अपने हाथों पाल-पोसकर बड़ा किया है, तो भी जब मालिक का नमक—

सरदार : उसकी बात कल होगी, तुम दौड़कर चले जाओ।

मुखिया : मझले सरदार बहादुर वह आ रहे हैं। उन्हें मेरी ओर से ज़रा समझा दें हुजूर। मेरे ऊपर उनकी नेक नजर नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि जब मालिक लोगों के इलाके में ६९ ङ आया-जाया करता था, तभी उसने मेरे नाम—

सरदार : नहीं-नहीं, किसी दिन उसे तुम्हारा नाम लेते नहीं सुना। ।

मुखिया : वही तो उसकी चालाकी है। जो नामी आदमी है उसका नाम दबाकर ही तो उसे मारा जाता है। छल-बल से, इशारे से, लगालगी करना तो अच्छा नहीं है। हमारे ३३ को यही रोग है। उसको और कोई काम तो है नहीं, गाहे-ब-गाहे मालिकों की मंडली में उसका जाना-आना लगा ही हुआ है। डर लगता है, न जाने कब किसके नाम क्या लगा बैठे! और फिर उन हजरत के घर की खबर अगर—

सरदार : आज अब समय नहीं है, जल्दी जाओ।

मुखिया : तो राम-राम सरदार। (लौटकर) एक बात! उसे टोले का ८८ उस दिन महज़ तीस रुपये पर घुसा, लेकिन दो साल जाते-न-जाते आज उसकी आमदनी ऊपरी परनामी समेत अधिक नहीं तो डेढ़-दो हज़ार माहवार तो होगी ही। हुजूर लोगों का मन सीधा है, देवतों का-सा भोला दिल है, स्तुति सुनकर ही भूल जाते हैं। साष्टांग प्रणाम की घटा देखकर ही—

सरदार : अच्छा-अच्छा, ये बातें कल होंगी।

मुखिया : मेरे तो हुजूर, दया-धरम है, मैं उसकी रोटी मारने को नहीं कहता, किन्तु उसे खजाने के काम में रखना ठीक हो रहा है कि नहीं, सो एक बार सोच देखें। हमारा विष्णुदत्त उसकी रग-रग का हाल जानता है, उसे बुलाकर—

सरदार : आज ही बुलाऊँगा, तुम जाओ!

मुखिया : हुजूर, मेरा मँझला लड़का अब लायक हो गया है। प्रणाम करने आया था, तीन दिन तक चक्कर काटकर दर्शन न पाकर लौट गया है। बड़े मन के दुःख में है सरकार। हुजूर के भोग के लिए मेरी पतोहू के हाथ की तैयार की हुई साँची कुम्हड़े की—

सरदार : अच्छा, परसों आने को कहो। भेंट होगी।

[मुखिया का प्रस्थान]
(मंझले सरदार का प्रवेश)

मझला सरदार : नाच वाली और बजनियों को बगीचे में भेजकर आ रहा हूँ।

सरदार : और रंजन का वह कितनी दूर तक—

मझला सरदार : यह सब काम मुझसे नहीं होते। छोटे सरदार ने खुद अपनी इच्छा से अपने ऊपर उसका भार लिया है। अब तक उसका—

सरदार : राजा क्या—

मझला सरदार : राजा निश्चय ही नहीं समझ सके। दस जनों में मिलकर उसे—किन्तु इस तरह राजा को धोखा देना मैं तो उचित नहीं समझता।

सरदार : राजा के प्रति हमारा जो कर्तव्य है उसी के लिए राजा को धोखा देना ज़रूरी होता है। उसकी जवाबदेही मेरी है। लेकिन अब इस लड़की को बिना विलम्ब—

मझला सरदार : नहीं-नहीं, ये बातें मेरे साथ नहीं। जिस मुखिया पर वह भार डाला गया है वह उपयुक्त आदमी है, कैसा भी गंदगी-भरा काम क्यों न हो, वह एकदम नहीं हिचकता।

सरदार : केनाराम गोसाईं क्या रंजन की बात जानता है?

मझला सरदार : अन्दाज़ पर सभी जानता है, साफ जानना नहीं चाहता।

सरदार : सो क्यों?

मझला सरदार : कहीं 'नहीं जानता' कहने का रास्ता बन्द न हो जाय, इसीलिए।

सरदार : बन्द अगर हो ही गया तो क्या?

मझला सरदार : नहीं समझे? हम लोगों का तो सिर्फ़ एक ही चेहरा है—सरदार का चेहरा। किन्तु उसकी एक पीठ की ओर गुसाईं का चेहरा है, दूसरी ओर सरदार का। रामनामी ज़रा-सी उलझी नहीं कि वह फाँस बन जाती है। इसीलिए सरदार धर्म का पालन अपने से ही छिपाकर करना होता है, ऐसा करने से नाम-जप के समय ज्यादा दिक्कत नहीं होती।

सरदार : नाम-जप छोड़ ही देता तो क्या होता?

मझला सरदार : लेकिन इधर उसका मन तो धर्मभीरु है, रक्त चाहे जैसा हो। इसीलिए, स्पष्ट भाव से नाम-जप और अस्पष्ट भाव से सरदारी करने से वह स्वस्थ रहता है। वह है, इसीलिए हमारा देवता आराम में है, उसका कलंक ढका हुआ है, नहीं तो उसका चेहरा साफ़-सुथरा नहीं दीखता।

सरदार : मझले सरदार, मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे रक्त के साथ भी सरदारी के रक्त का मेल अभी तक नहीं बैठा।

मझला सरदार : रक्त सूखते ही यह बला जाती रहेगी, अब भी यह आशा है। लेकिन आज भी मैं तुम्हारे उस ३२१ को बर्दाश्त नहीं कर सकता। जिसे दूर से चिमटे से

पकड़ने पर भी घिन-सी लगती है उसी को जब हवा में सुहृद कहकर छाती से लगाना पड़ता है तब किसी भी तीर्थ के जल से हज़ार स्नान करने पर भी अपने को पवित्र समझना कठिन हो जाता है। वह देखो, नंदिनी आ रही है।

सरदार : चले आओ मझले सरदार!

मझला सरदार : क्यों डर काहे का है?

सरदार : तुम्हारा विश्वास नहीं; मुझे मालूम है तुम्हारी आँखों में नंदिनी का नशा छाया हुआ है।

मझला सरदार : लेकिन तुम्हें नहीं मालूम कि तुम्हारी आँखों में भी कर्तव्य से साथ कुछ थोड़ा-सा लाल कनेर का रंग मिला हुआ है, इसीलिए उसकी लालिमा इतनी भयंकर हो उठी है।

सरदार : होगा। मन की बात मन खुद भी नहीं जानता। तुम चले आओ मेरे साथ।

[दोनों का प्रस्थान]

(नंदिनी का प्रवेश

नंदिनी : देखते-देखते सिंदूरी बादलों से आज की गोधूलि लाल हो उठी। यही क्या हम.दोनों के मिलन का रंग है? मेरा सिंदूर ही मानो सारे आसमान में फैल गया है! (खिड़की को धक्का मारकर) जब तक नहीं सुनोगे, तब तक दिन-रात यहीं पड़ी रहूँगी।

(गोसाई का प्रवेश)

गोसाईं : किसे ठेल रही हो?

नंदिनी : तुम्हारे उस अजगर को, जो ओट में छिपा हुआ आदमी निगला करता है।

गोसाईं : हरि! हरि!! भगवान् जब छोटे को मारना चाहते हैं तो उसके छोटे मुँह में बड़ी बात बैठा देते हैं। देखो, नंदिनी तुम विश्वास करो, मैं तुम्हारी मंगल-कामना करता हूँ।

नंदिनी : इससे मेरा मंगल नहीं होगा।

गोसाईं : आओ मेरे ठाकुर-घर में तुम्हें हरिनाम सुनाऊँ।

नंदिनी : सिर्फ़ नाम लेकर मैं क्या करूँगी?

गोसाईं : मन में शान्ति पाओगी।

नंदिनी : यदि मैं शान्ति पाऊँ तो मुझे धिक्कार है। मैं इस दरवाजे पर इन्तज़ार करती बैठी रहूँगी।

गोसाईं · देवता की अपेक्षा मनुष्य पर तुम्हारा विश्वास अधिक है?

नंदिनी : तुम्हारा वह ध्वज-दण्ड का देवता कभी नर्म नहीं होगा। लेकिन जाल की ओट मे बैठा हुआ आदमी क्या सदा-सर्वदा जाल में ही बँधा रहेगा? जाओ, जाओ जाओ! मनुष्य का प्राण नोचकर उसे नाम-जप से भुलवाना ही तुम्हारा रोजगार है।

[गोसाई का प्रस्थान]

(फागूलाल और चन्द्रा का प्रवेश)

फागूलाल : विशू तो तुम्हारे साथ आया था वह इस समय कहाँ है? सच-सच बताओ।

नंदिनी : उसे गिरफ़्तार करके ले गये हैं।

चंद्रा : राक्षसी, तूने ही उसे पकड़वा दिया है, तू उनकी चर है।

नंदिनी : कौन-सा मुँह लेकर तुम ऐसी बात कह सकीं?

चंद्रा : नहीं तो यहाँ तेरा क्या काम है? बस सबका मन लुभाती घूमती-फिरती है!

फागूलाल : यहाँ सभी सबको संदेह की नज़रों से देखते हैं, लेकिन फिर भी मैं तुम्हारे ऊपर विश्वास करके आया हूँ। मन-ही-मन तुम्हें—अच्छा जाने भी दो इस बात को। लेकिन आज न जाने कैसा लग रहा है!

नंदिनी : लगता होगा! मेरे साथ आकर ही वह आफ़त में फँस गया। तुम लोगों के साथ रहते वह सुरक्षित था, यह बात उसने खुद कही।

चंद्रा : तब क्यों उसे फुसला लायी सत्यानाशी!

नंदिनी : क्या करूँ, उसने कहा था कि मुझे मुक्ति चाहिए।

चंद्रा : अच्छी मुक्ति दी है उसे!

नंदिनी : मैं तो उसकी सारी बात समझ नहीं पाती चंद्रा! उसने मुझसे क्यों कहा कि विपत्ति के बीच डूब जाने पर मुक्ति मिलती है? फागूलाल, जो आदमी सुरक्षित होने की मार से मुक्ति चाहता है उसे मैं बचाऊँ कैसे?

चंद्रा : मैं यह सब नहीं समझती। उसे यदि लौटा नहीं ला सकी तो तू मरेगी, मरेगी! तेरे इस सुन्दर मुखड़े को देखकर मैं नहीं भूलती।

नंदिनी : मैं तुम लोगों के साथ जाऊँगी।

फागूलाल : क्या करने?

नंदिनी : तोड़ने के लिए।

चंद्रा : बहुत तोड़ चुकी मायाविनी! अब और की ज़रूरत नहीं।

(गोकुल का प्रवेश)

गोकुल : सबसे पहले इस डाइन को जलाकर मारना होगा।

चंद्रा : मारोगे? उसे इसकी सज़ा पूरी न होगी। जिस रूप के बल पर वह सत्यानाश किया करती है उस रूप को बिगाड़ दो। खुरपे से जैसे घास छील देते हैं उसी तरह उसका रूप छीलकर फेंक दो।

गोकुल : सो कर सकता हूँ। एक बार इस हथौड़ी के घुमाव...

फागूलाल : खबरदार! उसके बदन पर जो हाथ लगाया तो...

नंदिनी : फागूलाल, तुम रुको। यह डरपोक है। मुझसे डरता है, इसीलिए मुझे मारना चाहता है। मैं उसकी मार से नहीं डरती। क्या कर सकता है, कर ले कायर!

गोकुल : फागूलाल, अब भी तुम नहीं चेते! सरदार को तुम दुश्मन समझते हो! जो हो,

जो दुश्मन है उसे मैं श्रद्धा करता हूँ, परन्तु तुम्हारी इस मिठमुँहिया सुन्दरी...

नंदिनी : सरदार को श्रद्धा करते हो! तलवे को तलवे का कीचड़ जैसे श्रद्धा करता है! जो गुलाम है, वह श्रद्धा नहीं कर सकता।

फागूलाल : गोकुल, तुम्हें अपना पौरुष दिखाने का समय आ गया है, लेकिन लड़की पर नहीं, चलो मेरे साथ।

[फागूलाल, चंद्रा और गोकुल का प्रस्थान]

(आदमियों के एक दल का प्रवेश)

नंदिनी : क्यों जी, तुम लोग कहाँ जा रहे हो?

एक : ध्वजा-पूजा का नैवेद्य लेकर जा रहे हैं।

नंदिनी : रंजन को देखा है?

दो : उसे पाँच दिन पहले एक बार देखा था, फिर नहीं देखा। उनसे पूछो, शायद वे बता सकें।

नंदिनी : वे कौन हैं?

तीन : वे सरदार के भोज में शराब ले जा रहे हैं।

[इस दल का प्रस्थान]

(दूसरे दल का प्रवेश)

नंदिनी : अरे लाल टोपी वाले, तुमने रंजन को देखा है?

चार : उस दिन रात को शंभू मुखिया के घर देखा था।

नंदिनी : इस समय वह कहाँ है?

पाँच : वह जो सरदारिनों के भोज में साज लेकर जा रहे हैं, उनसे पूछो। वे ऐसी बहुतेरी बातें सुन सकते हैं जो हमारे कानों तक नहीं पहुँचतीं।

[इस दल का प्रस्थान]

(तीसरे दल का प्रवेश)

नंदिनी : क्यों जी, रंजन को इन्होंने कहाँ ले जाकर रखा है, तुम्हें मालूम है?

एक : चुप, चुप!

नंदिनी : तुम ज़रूर जानते हो, मुझे बताना ही पड़ेगा।

दो : हमारे कान में जो कुछ घुसता है वह मुँह से नहीं निकलता और इसीलिए हम टिके हुए हैं। वे जो हथियारों का बोझ लेकर आ रहे हैं, उनसे पूछो।

[इस दल का प्रस्थान]

(चौथे दल का प्रवेश)

नंदिनी : अजी जरा रुको। बताते जाओ, रंजन कहाँ है?

एक : सुनो बताता हूँ। मुहूरत हो आया है। ध्वजा-पूजा के लिए राजा को निकलना

पड़ेगा। उन्हीं से पूछो। हम लोग शुरू का जानते हैं आखिर का नहीं।

[प्रस्थान]

नंदिनी : (खिड़की पर धक्का मारकर) समय हो गया है, द्वार खोलो!

नेपथ्य से : तुम फिर असमय में आयी हो। अभी जाओ, जाओ!

नंदिनी : इन्तज़ार करने का समय नहीं है, मेरी बात सुननी ही पड़ेगी।

नेपथ्य से : क्या कहना है, बाहर से ही कहकर चली जाओ!

नंदिनी : बाहर से मेरी बात का सुर तुम्हारे कानों तक नहीं पहुँच पाता।

नेपथ्य से : आज ध्वजा-पूजा का दिन है, मेरा मन विक्षिप्त मत करो। पूजा में व्याघात होगा। जाओ, जाओ, अभी जाओ!

नंदिनी : मेरा डर जाता रहा है, इस तरह तुम खदेड़ नहीं सकते। मैं भले ही मर जाऊँ, लेकिन दरवाज़ा खुलवाये बिना यहाँ से मैं हिलती नहीं।

नेपथ्य से : शायद तुम रंजन को चाहती हो? सरदार से कह दिया है, वह अभी उसे ला देगा! पूजा के लिए जाने लगूँ तो दरवाज़े पर खड़ी न रहना। नहीं तो विपद् आयेगी।

नंदिनी : देवता को समय का अभाव नहीं है, वे पूजा के लिए युग-युगान्तर तक इन्तज़ार कर सकते हैं। मनुष्य का दुःख तो मनुष्य का सहारा चाहता है। उसके पास बड़ा कम समय होता है।

नेपथ्य से : मैं थका हूँ, बुरी तरह थका हूँ। ध्वजा-पूजा में जाकर थकान मिटा आऊँगा। मुझे कमज़ोर मत बनाओ। इस समय तुमने बाधा डाली तो रथ के पहिये के नीचे धुर्रा उड़ जायगा तुम्हारा!

नंदिनी : मेरी छाती पर से भले ही पहिया निकल जाये, मैं नहीं हिलने वाली।

नेपथ्य से : नंदिनी, तुमने मेरे यहाँ प्रश्रय पाया है, इसीलिए नहीं डरतीं। लेकिन आज डरना ही होगा।

नंदिनी : मैं चाहती हूँ कि जैसे सबको डर दिखाते फिरते हो वैसे ही मुझे भी डराओ। तुम्हारे प्रश्रय से घृणा है मुझे।

नेपथ्य से : घृणा करती हो? स्पर्धा चूर्ण-विचूर्ण हो जायेगी। मैं तुम्हें अपना परिचय दे दूँगा. ऐसा समय आ गया है।

नंदिनी : परिचय की ही प्रतीक्षा में हूँ, खोलो द्वार। (द्वार का खुलना) यह क्या! यह कौन पड़ा हुआ है, रंजन-जैसा देख रही हूँ जैसे।

राजा : क्या कहा, रंजन? रंजन! यह रंजन कभी नहीं हो सकता।

नंदिनी : हाँ राजा, यही तो मेरा रंजन है।

राजा : उसने अपना नाम क्यों नहीं बताया? इतनी हिमाकत के साथ क्यों आया?

नंदिनी : जागो रंजन, देखो मैं आयी हूँ तुम्हारी सखी। राजा, वह क्यों नहीं रहा?

राजा : धोखा दिया है। तुझे इन सबों ने धोखा दिया है। अनर्थ हो गया! मेरा अपना ही यंत्र मुझे नहीं मानता। कौन है रे, बुला सरकार को। बाँधकर ले आ उसे।

नंदिनी : राजा, रंजन को जगा दो। सब कहते हैं तुम जादूगर हो, उसे जगा दो!

राजा : मैंने यमराज से जादू सीखा है। जगा नहीं सकता, जागरण मिटा सकता हूँ।

नंदिनी : तो मुझे भी उसी नींद में सुला दो! मैं नहीं सह सकती। यह कैसा सत्यानाश कर दिया तुमने?

राजा : मैंने यौवन को मारा है—इतने दिन से अपनी सारी ताकत लगाकर केवल यौवन को मारता आया हूँ। मुझे मेरे यौवन का अभिशाप लगा है।

नंदिनी : उसने क्या मेरा नाम नहीं बताया?

राजा : इस तरह बताया था कि मैं सह नहीं सका। अचानक मेरी रग-रग में जैसे आग सुलग गयी हो।

नंदिनी : (रंजन के प्रति) वीर मेरे, यह नीलकण्ठ का पर तुम्हारी चूड़ा पर मैंने पहना दिया। आज से तुम्हारी विजय-यात्रा शुरू हुई है। उस यात्रा की वाहन मैं हूँ। आहा, यह उस लाल कनेर की मंजरी इसके हाथों में है। तब तो किशोर ने उसे देखा था। वह कहाँ गया? राजा, कहाँ गया वह बालक?

राजा : कौन बालक?

नंदिनी : जिसने रंजन को यह मंजरी दी थी?

राजा : अजीब लड़का था वह। लड़की की तरह तो उसका अदनार मुख था, किन्तु बातें बड़ी उद्धत थीं। हिमाकत तो देखो, वह मेरे ऊपर टूट पड़ने को आया हुआ था।

नंदिनी : फिर क्या हुआ? क्या हुआ उसका? बोलो, क्या हुआ? तुम्हें बताना ही पड़ेगा चुप क्यो हो?

राजा : वह बुद्बुद् की तरह लुप्त हो गया।

नंदिनी : राजा अब समय हो गया।

राजा : काहे का समय?

नंदिनी : मेरी सारी शक्ति के साथ तुम्हारी लड़ाई होगी।

राजा : मेरे साथ लड़ोगी तुम? तुमको तो मैं इसी क्षण मार सकता हूँ।

नंदिनी : उसके बाद प्रत्येक क्षण मेरा वह मरना तुम्हें मारता रहेगा। मेरे पास कोई अस्त्र नहीं है, मेरा अस्त्र मृत्यु है।

राजा : तो फिर पास आओ। मेरे ऊपर विश्वास करने की हिम्मत है? चलो मेरे साथ। आज मुझे अपना साथी बना लो, नंदिनी !

नंदिनी : कहाँ जाना होगा?

राजा : मेरे विरुद्ध लड़ाई करने, किन्तु मेरे ही हाथों में हाथ रखकर भी समझ नहीं पायी तुम? वह लड़ाई शुरू हो गयी है। यह मेरी ध्वजा, मैं तोड़ देती हूँ इसका दण्ड और तुम फाड़ डालो इसका केतन। मेरे ही हाथों में तुम्हारा हाथ आकर मुझे मारे। मार डाले, अच्छी तरह मिटा डाले! इसी में मुक्ति है!

दल के आदमी : महाराज यह क्या अनर्थ है, कैसी उन्मत्तता है! आपने हमारी यह ध्वजा

तोड़ दी। हमारे देवता की ध्वजा तोड़ डाली आपने। पृथ्वी को और दूसरी ओर स्वर्ग को बेध डाला है। वही हमारा परम पवित्र ध्वज-दण्ड! पूजा के दिन यह कैसा घोर पाप है ! चल रे चल हम सरदारों को यह खबर पहुँचा दें।

[प्रस्थान]

राजा : अब भी बहुत-कुछ तोड़ना बाक़ी है, तुम भी चलोगी मेरे साथ, नंदिनी प्रलय-पथ में मेरी दीप-शिखा!

नंदिनी : मैं चलूँगी।

[फागूलाल का प्रवेश]

फागूलाल : विशू को वो किसी तरह नहीं छोड़ेंगे। यह कौन है? यह राजा है क्या! डाकिनी, अब इसके साथ परामर्श चल रहा है! विश्वासघातिनी !

राजा : तम्हें क्या हो गया है? क्या करने निकले हो?

फागूलाल : बंदीशाला का दरवाज़ा तोड़ने। मरेंगे, लेकिन लौटेंगे नहीं।

राजा : लौटेंगे क्यों! तोड़ने के रास्ते तो मैं भी चला हूँ। वह देखो उसका पहला चिह्न—मेरी तोड़ी हुई ध्वजा, मेरी अन्तिम कीर्ति।

फागूलाल : नंदिनी, मैं ठीक-ठीक नहीं समझ सका। हम सीधे-सादे आदमी हैं, दया करो, हमें धोखा मत दो। तुम तो हमारे घर की लड़की हो।

नंदिनी : फागू भाई, तुमने तो मृत्यु का ही प्रण किया है। धोखा खाने में तो कुछ भी बाक़ी नहीं रखा है!

फागूलाल : नंदिनी, तब तुम भी हमारे हाथ चलो!

नंदिनी : मैं तो इसीलिए बची हूँ। फागूलाल, मैंने रंजन को तुम सबके बीच ले आना चाहा था। वह देखो, आ गया है मेरा वीर—मृत्यु को झुठलाकर ।

फागूलाल : सर्वनाश! वही क्या रंजन है? निःशब्द पड़ा हुआ है।

नंदिनी : निःशब्द नहीं है। मृत्यु में उसका अपराजित कण्ठ मैं सुन रही हूँ। रंजन जी उठेगा, वह कभी मर नहीं सकता!

फागूलाल : हाय री नंदिनी, मेरी सुन्दरी! इसीलिए क्या तू इतने दिनों से बाट जोह रही थी, हमारे इस अंध नरक में?

नंदिनी : उसके आने की राह देख रही थी, वह तो आ गया है, वह फिर आने की तैयारी करेगा, वह फिर आयेगा। चंद्रा कहाँ है फागूलाल?

फागूलाल : वह गोकुल को लेकर सरदार के वहाँ रोने-धोने गयी है। सरदार पर उसका अगाध विश्वास है। लेकिन महाराज तुमने ग़लत तो नहीं समझा? हम लोग तुम्हारी ही बंदीशाला तोड़ने निकले हैं।

राजा : हाँ मेरी ही बंदीशाला। तुम-हम दोनों मिलकर काम करेंगे। यह काम अकेले तुम्हारे वश का नहीं है।

फागूलाल : सरदार ने खबर पायी नहीं कि रोकने पहुँचेंगे।

राजा : उनके साथ मेरी लड़ाई है।

फागूलाल : सेना वाले तुम्हें मानेंगे नहीं।

राजा : अकेला लड़ूँगा। साथ में तुम लोग तो हो ही।

फागूलाल : जीत सकोगे?

राजा : मर तो सकूँगा न। इतने दिन बाद मरने का मतलब समझ सका हूँ—मैं बच गया हूँ?

फागूलाल : राजा, गर्जन सुन रहे हो?

राजा : वह देख रहा हूँ, सरदार सेना लेकर आ रहा है। इतनी जल्दी कैसे यह संभव हुआ? पहले से ही तैयार था, सिर्फ़ मैं ही नहीं जानता था। मुझे धोखा दिया है! मेरी ही शक्ति से बाँधा है मुझे।

फागूलाल : मेरा दल-बल तो अभी आया नहीं।

राजा : सरदार ने ज़रूर उन्हें रोक रखा है। वे अब नहीं आ सकेंगे।

नंदिनी : मन में था कि वे विशू पगले को मेरे पास पहुँचा देंगे। सो क्या अब संभव नहीं है?

राजा : उपाय नहीं है। घाट-बाट रोकने में सरदार-जैसा उस्ताद मैंने किसी को नहीं देखा।

फागूलाल : तो फिर चलो नंदिनी, तुम्हें सुरक्षित जगह में पहुँचा आऊँ, फिर जो होना होगा, सो होगा। सरदार ने तुम्हें देखा तो खैर नहीं है।

नंदिनी : अकेली मुझको ही सुरक्षापूर्ण निर्वासन में भेजोगे? फागूलाल, तुमसे तो सरदार अच्छा है। उसी ने मेरी जय-यात्रा का पथ खोल दिया है। सरदार! देखो, उसने बरछे की नोक पर मेरी कुंद-फूल की माला झुला रखी है। उस माला को मैं अपनी छाती के रक्त के लाल कनेर के रंग का बना जाऊँगी। सरदार ने मुझे देख लिया है। जय, रंजन की जय!

[तेजी से प्रस्थान]

राजा : नंदिनी!

(अध्यापक का प्रवेश)

फागूलाल : कहाँ दौड़े जा रहे हो अध्यापक?

अध्यापक : किसी ने बताया—राजा इतने दिन बाद चरम प्राण का संधान पाकर निकल पड़ा है। मैं भी पोथी-पत्रा फेंककर साथ देने चला आया।

फागूलाल : राजा, वह तो मरने गया, उसने नंदिनी की आवाज़ सुनी है।

अध्यापक : उसका जाल फट गया है। नंदिनी कहाँ है?

फागूलाल : वह सबके आगे है। अब तो उस तक पहुँचना मुश्किल है।

अध्यापक : अभी तो पहुँचा जा सकता है। अब वह तरह नहीं दे सकती। उसे पकड़ूँगा।

[प्रस्थान]

(विशू का प्रवेश)

विशू : फागूलाल, नंदिनी कहाँ है?

फागूलाल : तुम कैसे आये ?

विशू : हमारे कारीगरों ने बंदीशाला तोड़ दी है। वे उधर लड़ने जा रहे हैं! मैं नंदिनी को खोजने आया हूँ। वह कहाँ है?

फागूलाल : वह सबके आगे चली गयी है।

विशू : कहाँ?

फागूलाल : अन्तिम मुक्ति में।

विशू : वहाँ तो रंजन है !

फागूलाल : धूल में देख रहे हो उसके रक्त की रेखा?

विशू : समझ गया! वही इन दोनों के परम मिलन की रक्त-राखी है! इसके बाद अकेले महायात्रा का मेरा समय आ गया। खूब संभव है, मेरी पगली मेरा गान सुनना चाहेगी! आ रे भाई, अब लड़ाई पर चल।

फागूलाल : नंदिनी की जय!

विशू : नंदिनी की जय!

फागूलाल : और वह देखो, धूल में लोट रहा है, उसके लाल कनेर का कंगन! दाहिने हाथ से न जाने कब खिसक पड़ा है! आज अपनी कलाई सूनी कर वह चली गयी।

विशू : मैंने उससे कहा था कि उसके हाथ से कुछ लूँगा नहीं, किन्तु लेना पड़ा यह उसका आखिरी दान।

[प्रस्थान]

(दूर गान सुनाई देता है)

गान—१६

पौष तुम्हें बुला रहा है/आ जाओ, आ जाओ/उसकी पकी फसल की डलिया पर/धूल का आँचल छा गया है।

सौजन्य : रवीन्द्र भवन, विश्वभारती, शान्तिनिके

खण्ड चार

निबन्ध

१

जीवन-स्मृति

शिक्षारम्भ

हम तीन लड़के एक साथ बड़े हो रहे थे। मेरे दोनों साथी मुझसे दो साल बड़े थे। उन्होंने जब गुरु महाशय के यहाँ पढ़ाई शुरू की, मेरी शिक्षा भी उसी समय शुरू हुई, लेकिन उसकी बात मुझे याद भी नहीं है।

केवल इतना याद आता है, "जल पड़े पाता नड़े।" तब तक 'कर, खल' आदि हिज्जे के तूफ़ान को काटकर हम लोग किनारे लग चुके थे। उन दिनों मैं पढ़ रहा था, "जल पड़े पाता नड़े।" मेरे जीवन की यही आदिकवि की प्रथम कविता है। उस दिन का आनन्द आज भी जब याद आता है कि कविता मे तुक नाम की चीज क्यों इतनी ज़रूरी होती है। तुक है इसीलिए बात खत्म होकर भी खत्म नहीं होती—उसका वक्तव्य जब समाप्त हो जाता है तब भी उसकी झंकार समाप्त नहीं होती—तुक को ही लेकर कान के संग मन का खेल चलता रहता है। इसी तरह बार-बार उस दिन मेरी समस्त चेतना मे पानी बरसने लगा, पत्ते हिलने लगे।

इसी बचपन की और एक बात मेरे मन में बैठी हुई है। हमारे एक बहुत पुराने खजांची थे, कैलाश मुखर्जी नाम था उनका। वह हमारे घर के एक आत्मीय-जैसे थे। बड़े दिल्लगीबाज आदमी थे। सबके साथ उनकी हँसी-दिल्लगी चलती रहती थी। घर मे हाल के आए हुए जमाई को अपने हँसी-मजाक से वह तंग कर डालते। मरने के बाद भी उनकी यह दिल्लगीबाजी कम नहीं हुई, ऐसा लोग कहते हैं। एक समय हमारे बड़े लोग प्लैंचेट की मदद से परलोक के साथ सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा मे लगे हुए थे। एक दिन उनके प्लैंचेट की पेंसिल की रेखा मे कैलाश मुखर्जी का नाम दिखाई दिया। उनसे पूछा गया, 'तुम जहाँ हो वहाँ की व्यवस्था कैसी है, जरा बताओं तो।' जवाब आया, 'जो बात मैंने मरकर जानी है उसको आप लोग ज़िन्दा रहते हुए धोखेधड़ी से जान लेना चाहते हैं ? सो नहीं होने का।'

वही कैलाश मुखर्जी हमारे बचपन में बड़ी तेजी से एक पद्यबद्ध कहानी सुनाकर हमारा जी बहलाया करते थे। उस कहानी का प्रधान नायक मै था और उसमे एक भावी नायिका के निःसंशय मिलन की आशा बड़े उज्ज्वल ढंग से वर्णित थी। यह जो भुवनमोहिनी वधू भविष्य की गोद को आलोकित करती हुई विराज रही थी, कहानी सुनते-सुनते उसके चित्र से मन बहुत उत्सुक हो उठता। सिर से पैर तक उसके अमूल्य अलंकारों की जो तालिका मिलती थी और मिलनोत्सव के अभूतपूर्व समारोह का जो वर्णन सुनने को मिलता, उसके अनेक वयस्क समझदार व्यक्तियों का मन चंचल हो सकता था—लेकिन बालक का मन जो पागल हो उठता था और

आँखों के सामने अद्‌भुत, रंग-बिरंगे, मन को सुख देने वाले चित्र देख पाता था, उसका मूल कारण थी, जल्दी-जल्दी बोले गये उन अनर्गल शब्दों की छटा और छन्दों का झूला। बचपन के साहित्य रस-भोग की यही दो स्मृतियाँ अब भी मेरे मन में हैं—और मुझे याद आ रही है, 'बृष्टि पड़े टापुर टुपुर नदेय ऐलो बान।' यह कड़ी ही जैसे शैशव का 'मेघदूत' थी।

इसके बाद जो बात याद आ रही है वह है स्कूल जाने की सूचना। एक दिन मैंने देखा, दादा और उम्र में मुझसे बड़े मेरे भानजे सत्य स्कूल गये, लेकिन मेरी गिनती स्कूल जाने वाले लड़कों में नहीं हुई। उच्च स्वर में रोने के अलावा अपनी योग्यता के प्रचार का और कोई उपाय मेरे हाथ में न था। इसके पहले कभी गाड़ी पर नहीं चढ़ा था, घर के बाहर भी नहीं निकला था। इसलिए जब सत्य स्कूल के रास्ते का भ्रमण-वृत्तांत अतिशयोक्ति अलंकार के साथ रोज अत्यन्त उज्ज्वल ढंग से सुनाना शुरू करता तो मेरा मन किसी तरह घर में पड़े रहने को न होता। हम लोगों के जो शिक्षक थे उन्होंने मेरा मोह भंग करने के लिए एक जोरदार तमाचे की तरह यह सारगर्भ बात कही थी, "तुम अभी स्कूल जाने के लिए जिस तरह रो रहे हो, न जाने के लिए इससे कहीं ज्यादा तुम्हें रोना पड़ेगा।" उस शिक्षा का नाम-गाम, चेहरा-मोहरा कुछ भी मुझे याद नहीं है, लेकिन वह गुरु-वाक्य और गुरुतर तमाचे का आघात आज भी अच्छी तरह मुझे याद आ रहा है। ऐसी बड़ी अचूक भविष्यवाणी जीवन में और कभी मैंने नहीं सुनी।

रोने के ज़ोर से मैं समय से पहले ही ओरियण्टल सेमीनरी में भर्ती हुआ। वहाँ मैंने क्या कुछ सीखा वह तो याद नहीं है, लेकिन एक शासन-प्रणाली की बात मन में है। पाठ न सुन सकने पर लड़के को बेंच पर खड़ा करके उसके दोनों फैले हुए हाथों पर क्लास की बहुत-सी स्लेटें इकट्ठी करके धर दी जातीं। इस प्रकार की धारणा-शक्ति का अभ्यास बाहर से भीतर की ओर संचारित हो सकता है या नहीं यह मनस्तत्त्वविदों के सोचने की बात है।

इस तरह बहुत शिशु वयस में ही मेरी पढ़ाई शुरू हुई। नौकरों के बीच जिस तरह की किताबें प्रचलित थीं उन्हीं को लेकर मेरी साहित्य-चर्चा का सूत्र-पात हुआ। उनमें चाणक्य श्लोक का बंगला अनुवाद और कृत्तिवास की रामायण ही मुख्य है। वही रामायण पढ़ने की एक दिन की तस्वीर मेरे मन में स्पष्ट रूप से आ रही है।

उस दिन बादल छाये हुए थे, घर के बाहरी हिस्से में रास्ते के किनारे-किनारे जो लम्बा बरामदा चला गया था मैं उसी में खेल रहा था। याद नहीं क्यों, सत्य ने मुझको डराने के लिए, हठात् 'पुलिसमैन-पुलिसमैन' की गुहार लगायी। पुलिसमैन के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में बड़ी मोटी-सी एक धारणा मेरे मन में थी। मैं जानता था, किसी को अपराधी कहकर उनके हाथ में देते ही, जिस तरह मगर अपने आरी-जैसे दाँतों में शिकार को फँसाकर पानी के भीतर खींच ले जाता है, उसी तरह अभागे को पकड़कर अतल-अगाध थाने में गायब हो जाना ही पुलिस-कर्मचारी का स्वाभाविक ढंग है। इसी प्रकार की निर्मल शासन-विधि से छुटकारा निरपराध बालक को कहाँ मिलेगा यह न सोच पाने के कारण मैं फौरन घर के भीतर दौड़ा। वह लोग मेरा पीछा कर रहे हैं इस अंधे भय से मेरी समस्त पीठ में एक सनसनी-सी दौड़ गयी। जाकर माँ को अपनी आसन्न विपत्ति की सूचना दी, लेकिन उससे माँ में किसी विशेष उत्कंठा का संचार हुआ हो ऐसा कोई लक्षण नहीं दिखायी दिया। लेकिन मैंने बाहर जाना खतरे से खाली नहीं समझा। दीदी माँ

की रिश्ते की एक काकी कृत्तिवास की जो रामायण पढ़ती थीं वही मार्बुल कागज चढ़ी हुई फटे-चिथे मलाट वाली मैली-सी किताब मैं गोद में लेकर माँ के कमरे के दरवाज़े के पास बैठकर पढ़ने लगा। सामने अन्तःपुर के आँगन में चारों तरफ एक चौकोर बरामदा था, उसी बरामदे में मेघाच्छन्न आकाश से तीसरे पहर की ढलती हुई रोशनी आ रही थी। रामायण के किसी करुण वर्णन से मेरी आँखों से आँसू टपक रहे हैं यह देखकर दीदी माँ ज़बरदस्ती मेरे हाथों से किताब छीन ले गयीं।

घर-बाहर

हमारे बचपन में भोग-विलास का सरंजाम नहीं था, इतना कहना काफ़ी होगा। मोटे रूप में तब की जीवन-यात्रा आज की तुलना में कहीं ज्यादा सीधी-सादी थी। उस समय के भद्र समाज के लोगों की मान-रक्षा के उपकरणों को देखकर आज का समाज लज्जा के मारे उनसे हर प्रकार का सम्बन्ध अस्वीकार करना चाहेगा। यही तो उस काल की विशेषता थी और फिर हमारे घर में तो विशेष रूप से लड़कों की बहुत देख-रेख या ले-लपक करना एकदम नहीं था। सच तो यह है कि यह ले-लपक वाली बात अभिभावकों के अपने सन्तोष के लिए उनकी अपनी तृप्ति के लिए होती है, बच्चों के लिए नहीं, और न बच्चों को उससे कोई मतलब ही होता है।

हम लोग नौकरों के शासन में थे। अपने काम को आसान करने के लिए उन लोगों ने हमारा हिलना-डुलना एक तरह से बन्द कर दिया था। उस दिशा में बंधन चाहे जितना कठिन हो, अनादर स्वयं एक बड़ी स्वाधीनता है—उसी स्वाधीनता में हमारा मन मुक्त था। खिलाने-पहनाने, सजाने-बजाने के जरिये हमारे चित्त को चारों ओर से जकड़ नहीं दिया गया था।

हमारे खान-पान में शौक़ीनी की गंध भी न थी। कपड़े-लत्ते इतने साधारण थे कि आज के लड़कों के सामने उनकी फेहरिस्त रखने से इज़्ज़त जाने का डर है। दस साल की उम्र होने से पहले कभी किसी दिन किसी कारण से मोजा मैंने नहीं पहना। जाड़े के दिनों में एक सादे कपड़े के ऊपर और भी एक सादा कपड़ा ही काफ़ी था। इसके लिए मैंने किसी दिन भाग्य को बुरा-भला नहीं कहा। हाँ, हमारे घर का दर्जी नियामत ख़लीफ़ा उपेक्षा के भाव से जब हमारे कुर्ते में जेब लगाना आवश्यक समझता तो इसका हमें दुःख होता—क्योंकि ऐसा लड़का तो किसी अकिंचन भिखारी के घर भी पैदा नहीं होता जिसके पास अपनी जेब में रखने के लिए कुछ-न-कुछ चल-अचल सम्पत्ति न हो। विधाता की कृपा से शिशु के ऐश्वर्य के सम्बन्ध में धनी और निर्धन दोनों के घरों में कुछ खास अन्तर दिखाई नहीं पड़ता। हमारे पास एक जोड़ा चट्टी-जूता रहता था; लेकिन दोनों पाँव जहाँ रहते हैं वहाँ नहीं। हर कदम के साथ हम उनको आगे-आगे ठोकर मारते हुए चलते; जिससे यातायात के समय पैर चलाने की अपेक्षा जूते को इतना अधिक चलाया जाता कि पादुका-सृष्टि का उद्देश्य पग-पग पर व्यर्थ हो जाता।

हमसे जो लोग बड़े थे उनकी गति-विधि, वेश-भूषा, आहार-विहार, आमोद-प्रमोद बातचीत सब-कुछ हमसे बहुत दूर थी। उसका आभास हमको मिलता था, लेकिन सामीप्य नहीं। आजकल के लड़कों ने बड़े लोगों को छोटा कर दिया है, कहीं भी उनको कोई बाधा नहीं

है और माँगने पर उनको सब-कुछ भी मिल जाता है। हम लोग इतनी आसानी से कुछ भी न पाते थे। छोटी-से-छोटी चीज़ें भी हमारे लिए दुर्लभ थीं, बड़े होने पर कभी मिलेंगी इसी आशा में उन सबको दूर भविष्यत् के हाथों में समर्पित करके हम बैठे हुए थे। उसका फल यह हुआ था कि उन दिनों जो कुछ भी मिल जाता उसका रस पूरा-पूरा हम गार लेते थे, छिलके से लेकर गुठली तक कुछ भी फेंका न जाता। आजकल के सम्पन्न घरों के बच्चों को देखता हूँ, उनको सहज ही सब-कुछ मिल जाता है इसीलिए वह उसके बारह आने को आधा दाँत मारकर ही छोड़ देते हैं—उनकी पृथ्वी का अधिकांश उनके लेखे अपव्यय में नष्ट हो जाता है।

घर के बाहरी हिस्से के दुतल्ले में दक्षिण-पूर्वी कोने के कमरे में नौकरों के बीच हमारा दिन कटता।

हमारा एक नौकर था, उसका नाम था श्याम। श्याम वर्ण दोहरे शरीर का लड़का था, सिर पर लम्बे-लम्बे बाल। उसका घर खुलना ज़िले में था। वह मुझको कमरे के एक निर्दिष्ट स्थान में बैठाकर मेरे चारों ओर खड़िया से एक घेरा बना देता और गंभीर चेहरा बनाकर तर्जनी दिखाकर कह जाता कि इस घेरे के बाहर तुम निकले नहीं कि भारी विपत्ति में फँसे। यह विपत्ति आधिभौतिक है कि आधिदैविक, मैं स्पष्ट समझ न पाता; लेकिन मन में डर ज़रूर समा जाता। घेरे के बाहर निकलते ही सीता का कैसा सर्वनाश हुआ था यह मैंने रामायण में पढ़ा था इसीलिए उस घेरे को नितांत अविश्वासी के समान उड़ा नहीं पाता था।

खिड़की के नीचे ही एक पक्का तालाब था। उसके पूरब में दीवार से लगा हुआ एक बड़ा-सा चीनी वटवृक्ष था—दक्षिण की ओर नारियल के पेड़ों की पंक्ति थी। घेरे का बंदी मैं खिड़की की साँकल खोलकर प्रायः सारा दिन उस तालाब को किताब में किसी छपी हुई तस्वीर की तरह देखते-देखते काट देता। सवेरा होते ही देखता, पड़ोसी लोग एक-एक करके नहाने आ रहे हैं। उनमें से कौन कब आयेगा यह मैं जानता था। प्रत्येक के स्नान की विशेषता तक से मैं परिचित था। कोई तो दोनों कानों में उंगली ठूँसकर झट-पट कई डुबकियाँ लगाकर चला जाता, कोई डुबकी न लगाकर गमछे में पानी लेकर अपने सिर पर डालता रहता, कोई पानी के ऊपरी हिस्से की गंदगी को हटाने के लिए बार-बार दोनों हाथों से पानी काटकर एकाएक फुर्ती से डुबकी मारता, कोई ऊपर की सीढ़ी से ही, बेधड़क छपाक से पानी के भीतर कूद पड़ता, कोई पानी में उतरते-उतरते एक लंबी-साँस के साथ कई श्लोक दुहरा जाता, कोई बहुत व्यस्त भाव से किसी प्रकार स्नान पूरा करके घर लौटने के लिए उत्सुक दिखाई पड़ता, किसी में लेश-मात्र भी व्यस्तता न होती, बड़े आराम से धीरे-धीरे स्नान करके, देह पोंछकर, कपड़ा उतारकर, धोती की चुन्नट को दो-तीन बार फटकारकर, बगीचे से कुछ फूल चुनकर, मृदु-मंद दोलायमान गति से स्नान-स्निग्ध शरीर के आनंद को हवा में बिखेरते हुए घर की ओर उनकी यात्रा होती। इसी तरह दोपहर हो जाती, एक बज जाता। धीरे-धीरे तालाब का घाट सूना हो जाता, निस्तब्ध। केवल हंस और बगुले पूरे समय डुबकी मारकर छोटे-छोटे घोंघे चुनकर खाते और चोंच हिलाते हुए बड़े व्यस्त भाव से पीठ के पंख साफ करते रहते।

पुष्करिणी के निर्जन हो जाने पर उसी बरगद की छाँह मेरे मन पर पूरी तरह अधिकार कर लेती। उसकी जड़ के चारों तरफ़ फैली हुई बहुत-सी सोरें एक विचित्र अन्धकारमयी जटिलता

की सृष्टि करती थीं। उसी कुहासे के बीच, संसार के उसी एक अस्पष्ट कोने में जैसे भ्रम के कारण विश्व का नियम ठिठक-सा गया हो। संयोग से उसी जगह जैसे स्वप्न-युग का एक अद्भुत साम्राज्य विधाता की आँख बचाकर आज भी दिन की रोशनी के बीच बाकी रह गया है। मन की आँखों से मैं उस जगह पर किसको देखता और उनके क्रिया-कलाप कैसे होते, आज स्पष्ट भाषा में बतला सकना असम्भव है। इसी वट को सामने रखकर एक दिन मैंने लिखा था—

निशिदिश दाँड़िये आछो माथायें लये जट,
छोटो छेलेटि मने कि पड़े ओ गो प्राचीन बट।

लेकिन हाय वह बट अब कहाँ है ! जो तालाब इस वनस्पति के अभीष्ट देवता का दर्पण था वह भी अब नहीं है, जो लोग स्नान करते थे उनमें से भी अनेक इसी अन्तर्हित वटवृक्ष की छाया का ही अनुसरण कर गये हैं। और वही बालक आज बड़ा होकर, अपने चारों ओर नाना प्रकार की जटाएँ छितराकर भीषण जटिलताओं के बीच सुदिन और दुर्दिन की धूप-छाँह का लेखा-जोखा कर रहा है।

हमें घर के बाहर जाना मना था, यहाँ तक कि घर के भीतर भी हम सब जगह जहाँ जी चाहे जा-आ नहीं सकते थे। इसीलिए मैं विश्व-प्रकृति को लुक-छिपकर देखता था। 'बाहर' कहकर जो एक अनंत-प्रसारित पदार्थ था वह मेरे लिए अप्राप्य था, लेकिन उसका रूप, शब्द, गंध खिड़की-दरवाजे की अनेक दरारों और संधियों के बीच से इधर-उधर से आकर मुझे छू जाता और मैं चौंक पड़ता। वह जैसे ईंट-पत्थर की बाधाओं के बीच से तरह-तरह के इशारे करके मेरे साथ खेलने की चेष्टाएँ करता। वह मुक्त था, मै बंदी था—मिलन सम्भव नहीं था इसीलिए प्रणय का आकर्षण प्रबल था। आज वह खड़िया से खींची हुई लक्ष्मण-रेखा पुँछ गयी है लेकिन फिर भी घेरा मिटा नहीं है। दूर अब भी दूर है, बाहर अब भी बाहर ही है। बड़ा होकर जो कविता लिखी थी, वही याद आ रही है—

खाँचार पाखि छिल सोनार खाँचाटिते,
बनेर पाखि छिल बने।
एकदा कि करिया मिलन हम दोंहें,
की छिल विधातार मने।
बनेर पाखि बले, 'खाँचार पाखि' आय,
बनेते याइ 'दोंहे मिले।'
खाँचार पाखि बले, 'वनेर पाखि' आय,
खाँचाय था कि निरिबिले।
वनेर पाखि वले, 'ना'
आमि शिकले धरा नाहि दिब।'
खाँचार पाखि बले, 'हाय'
आमि केमने बने बाहिरिब।'

हमारी हवेली के भीतर की छत की मुँडेर मेरे सिर से ऊपर थी। जब जरा खड़ा हुआ और नौकरों का शासन थोड़ा शिथिल हो गया, जब घर में नयी बहू आयी, और अवकाश के संगी के

रूप में मुझे उसके निकट प्रश्रय मिलने लगा, तब किसी-किसी दिन दोपहर को उस छत पर पहुँच जाता। उस समय घर में सब लोगों का खाना-पीना खत्म हो जाता, गृह-कर्म थम जाता; अन्तःपुर विश्राम में निमग्न होता, गीली साड़ियाँ छत की कार्निस से झूलती रहतीं, आँगन के कोने में पड़े हुए जूठे भात पर कौवों की सभा जुटी होती। इसी निर्जन अवकाश में, दीवारों की दरार के भीतर से इस पिंजरे के पंछी के साथ उस वन के विहग की परस्पर चोंच में चोंच डालकर बातें होतीं। खड़ा होकर देखता रहता—दिखाई पड़ती हमारी हवेली के भीतर वाले बगीचे के नारियल के पेड़ों की कतार। उन्हीं के बीच से दिखाई पड़ता 'शिंगी-बागान तालाब' और उसी तालाब के किनारे हमको दूध देने वाली तारा ग्वालिन की गोशाला थी, और दूर पर दिखाई पड़तीं पेड़ों की फुनगियों से मिली हुई कलकत्ता शहर की तरह-तरह की छोटी-बड़ी, ऊँची-नीची छतों की कतारें, जो दोपहर की धूप मे अपने निखार की छिटकाती हुई पूर्व-दिगंत की पाण्डुवर्ण नीलिमा के बीच दौड़ती चली गयी है। उन सब दूर-दूर के घरों की छतों पर बना हुआ एक-एक कमरा दूर से ही दिखाई पड़ता, ऐसा लगता कि जैसे वे अपनी निश्चल तर्जनी उठाकर, आँखें बंद करके अपने भीतर का रहस्य संकेतों की भाषा में मुझको बतलाने की चेष्टा कर रहे हों। भिखारी जिस तरह महल के बाहर खड़े होकर राज-भंडारों में बंद संदूकों में एक-से-एक रत्न-माणिक की कल्पना करता है मैं भी उसी तरह उन अनजान घरों को ऊपर से नीचे तक कैसे-कैसे खेल-तमाशों और कैसी स्वाधीनता से भरा हुआ समझता था, यह मैं बतला नहीं सकता। सिर के ऊपर आकाश-व्यापी तीक्ष्ण प्रकाश था, उसी के दूरतम प्रदेश से उन कोठों की सूक्ष्म-तीक्ष्ण पुकार मेरे कानों में पुहँचती और 'शिंगी-बागान' के पास की गली से दोपहर में सोये हुए निस्तब्ध घरों के सामने से बिसाती लय-सुर के साथ 'लो चूड़ी लो, खिलौना लो' की हाँक लगा जाता—और उससे मेरा मन उदास हो उठता।

पितृदेव अक्सर यों ही इधर-उधर घूमा करते, कभी घर पर न रहते। तीसरे तल्ले पर उसका कमरा बंद रहता। साँकल खोलकर, हाथ अन्दर डालकर, सिटकिनी खींचकर दरवाजा खोलता, और उनके कमरे के दक्षिणी हिस्से में एक सोफ़ा था—उसी पर चुपचाप बैठकर पढ़कर हुए मेरी दोपहर कटती। एक तो बहुत दिन का बंद कमरा, दूसरे प्रवेश निषिद्ध, फलस्वरूप उसमें रहस्य की एक भारी गन्ध थी। उसके बाद ही सामने की सूनी खुली हुई छत पर चिलचिलाती हुई धूप फैली होती, उससे भी मन उदास हो जाता। इसके अलावा एक और आकर्षण था। तब तक शहर के सब घरों में पानी का नल लग गया था। तब तक नयी महिमा की उदारता से बंगाली मुहल्ले में भी उनकी कृपणता शुरू नहीं हुई थी। शहर के उत्तर और दक्षिण में उनकी कृपा समान रूप से थी। उसी पानी के नल के सतजुग में तीसरे तल्ले पर भी मेरे पिता के नहाने के कमरे में पानी पहुँचता था। झँझरी खोलकर समय न होने पर भी मैं जी खोलकर नहा लेता था। वह नहाना आराम के लिए नहीं, सिर्फ अपनी इच्छा की लगाम छोड़ देने के लिए होता। एक ओर मुक्ति थी और दूसरी ओर बंधन की आशंका, इन्हीं दो के मेल से कम्पनी के पानी-कल की धारा मेरे मन पर पुलक-शर बरसाती।

बाहर का सम्पर्क मेरे लिए कितना ही दुर्लभ क्यों न हो, बाहर का आनन्द शायद किसी कारण मेरे लिए सहज था। उपकरण बहुत होने से मन कुंठित हो जाता है, वह केवल बाहर की ओर ही आँख लगाये बैठा रहता है और यह भूल जाता है कि आनन्द की लहर में बाहर की

अपेक्षा भीतर का आयोजन ही अधिक बड़ा है। शिशु-काल में मनुष्य की पहली शिक्षा वही है। तब उसका सम्बल अल्प और तुच्छ होता है लेकिन आनन्द-लाभ के लिए उससे अधिक और किसी चीज की उसको जरूरत नहीं होती। दुनिया में जो अभागे बच्चे खेल की चीजें कम पाते हैं उनका खेल धूल-मिट्टी हो जाता है।

घर के भीतर हम लोगों का जो बाग था उसको बाग कहना बात को बहुत कुछ बढ़ाकर कहना होगा। एक बड़ा नींबू (पोमेलो), एक बेर का पेड़, एक विलायती आमड़ा और एक पाँत नारियल के पेड़ों की, यही उसका स्वरूप था। बीच में था एक गोल पक्का चबूतरा। उसकी दरारों में से घास और तरह-तरह की वनस्पतियों ने अनधिकार प्रवेश करके अपनी विजय-पताका गाड़ रखी थी। जो फूल के पौधे अनादर पाने पर भी मरना नहीं चाहते वही माली के नाम को कलंक से बचाते हुए निरभिमान भाव से यथा-शक्ति अपना कर्तव्य पूरा करते रहते। उत्तर के कोने में ढेंकीघर था, वहाँ गृहस्थी के कार्यों के बीच-बीच अन्तःपुरिकाएँ जुटातीं। कलकत्ता में जनपदीय जीवन की सम्पूर्ण पराजय स्वीकार करके यह ढेंकीघर न जाने किस दिन चुपचाप मुँह ढाँककर अन्तर्धान हो गया। आदि-मानव का स्वर्गोद्यान हमारे इस बगीचे से अधिक सुसज्जित था, मैं ऐसा विश्वास नहीं करता। क्योंकि आदि-मानव का स्वर्ग-लोक आवरणहीन था—आयोजनों द्वारा उसने अपने को ढक नहीं लिया था। ज्ञान-वृक्ष का फल खाने के बाद से जब तक कि वह उस फल को पूरी तरह हजम नहीं कर लेता तब तक मनुष्य की साज-सज्जा की आवश्यकताएँ बढ़ती ही जा रही हैं। हवेली के भीतर का यह बगीचा हमारा वही स्वर्ग का बगीचा था—मेरे लिए वही काफ़ी था। मुझे अच्छी तरह याद है, शरद काल की भोर वेला में नींद टूटते ही मैं इसी बगीचे में पहुँच जाता। घास-पत्ती में से एक शिशिर में पगी हुई गंध आती और स्निग्ध नवीन सूर्य को लेकर हमारी पूरब की दीवार के ऊपर से नारियल के पत्तों की काँपती हुई झालर के नीचे प्रभात आकर अपना मुँह आगे बढ़ा देता।

हमारे घर के उत्तरी हिस्से में और एक खण्ड भूमि पड़ी हुई है, आज तक हम लोग उसको गोलघर कहते हैं। इस नाम से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में वहाँ पर साल-भर का अनाज गोल-गोल ढेर बनाकर रखा जाता होगा—तब शहर और गाँव छोटी उम्र के भाई-बहन की तरह बहुत-कुछ एक-सा चेहरा लेकर सामने आते थे, आज दीदी के साथ भाई का मेल खोज पाना ही कठिन है।

छुट्टी के रोज़ सुयोग पाकर मैं इस गोलघर में पहुँच जाता। मैं खेलने के लिए जाता था, यह कहना कठिन न होगा। खेल से अधिक इस जगह का ही खिंचाव मेरे लिए ज्यादा था। इसका कारण क्या था, यह बतलाना कठिन है। शायद घर के एक कोने में एक निभृत खाली पड़ी हुई जगह होने के कारण ही मेरे लिए उसमें न जाने कैसा एक रहस्य था। वह हमारे रहने की जगह न थी, व्यवहार में आने वाला घर न था, काम की जगह भी वह न थी, वह तो घर के बाहर था, दैनंदिन प्रयोजन की कोई छाप उस पर न थी, वह एक शोभाहीन अनावश्यक परती ज़मीन थी, कोई वहाँ फूल के पौधे भी नहीं लगाता था, इसीलिए उस उजाड़ जगह के बारे में जो मनचाही कल्पना कर लेने में बच्चे के मन को कोई बाधा न होती। रखवालों के शासन में ज़रा-सी साँस पाकर जिस दिन किसी तरह उस जगह पहुँच पाता वह दिन छुट्टी-जैसा मालूम होता।

घर में और भी एक जगह थी, वह कहाँ थी, मैं आज तक पता नहीं लगा पाया हूँ। मेरी समवयस्का, खेल की संगिनी एक लड़की उसको 'राजा की हवेली' पुकारती थी। कभी-कभी उसके मुँह से मैं सुनता, 'आज मैं वहाँ गयी थी।' लेकिन ऐसा सुयोग एक दिन भी नहीं हुआ कि मैं भी उसके साथ जा पाता। वह बड़ी अद्‌भुत जगह थी, वहाँ खेल जैसा अद्‌भुत होता था खेल की सामग्री भी वैसी ही अनूठी रहती। ऐसा लगता है कि वह पास है, पहले या दूसरे तल्ले पर वही एक जगह थी, लेकिन किसी तरह वहाँ जा न पाता था। कितनी बार उस लड़की से मैंने पूछा था, 'राजा की हवेली क्या हमारे घर के बाहर है?' उसने कहा था, 'नहीं इस घर में है।' मैं विस्मित होकर बैठकर सोचता, घर का एक-एक कोना तो मैंने देखा है लेकिन वह जगह कहाँ है। राजा कौन है यह मैंने किसी दिन पूछा भी नहीं, राजस्व कहाॅ है वह आज तक अनजान रह गया है—केवल इतना जान पाया कि हमारे घर में ही वह 'राजा की हवेली' है।

बचपन के दिनों की ओर जब देखता हूँ तब सबसे ज्यादा यही बात मन में आती है कि तब यह दुनिया और यह जीवन रहस्य से भरा हुआ था। सब जगह-जैसा ऐसा कुछ था जो अकल्पनीय था और कब उसे देखा जा सकेगा उसका कोई ठिकाना नहीं, यही बात रोज़ मन में जागती। प्रकृति जैसे हाथ की मुट्ठी बन्द करके हँसती हुई पूछती, 'बतलाओ तो इसमें क्या है?' क्या नहीं हो सकता, यह मैं निश्चयपूर्वक कह न पाता।

मुझे अच्छी तरह याद है, दक्षिण के बरामदे के एक कोने में शरीफे का एक बीज गाड़कर मैं रोज़ उसमें पानी देता। उस बीज से पेड़ भी हो सकता है यह बात सोचकर मेरे मन में बड़ा विस्मय और कुतूहल जागता। शरीफे के बीज से आज भी अंकुर निकलता है, लेकिन उसके साथ-साथ मन में विस्मय अब अंकुरित नहीं होता। यह शरीफे के बीज का दोष नहीं, मन का ही दोष है। गुणदादा के बगीचे के क्रीड़ा-शैल से जो पत्थर चोरी करके हम अपने पढ़ने के कमरे के एक कोने में नकली पहाड़ बनाने में जुट गये थे—उसी के बीच-बीच फूलों के पौधों के बीज गाड़कर उनकी अतिशय सेवा का ऐसा उपद्रव किया था कि वे अगर चुप थे तो इसीलिए कि पेड़-पौधे थे, और मर जाने में उनको देर न लगती। इस पहाड़ के प्रति हमारे मन में कैसा आनन्द और कैसा विस्मय था, उसको बतला पाना सम्भव नहीं। हमारे मन में विश्वास था कि हमारी सृष्टि गुरुजनों के लिए भी निश्चय ही आश्चर्य की सामग्री होगी, उस विश्वास की परीक्षा लेने के लिए हम लोग जिस रोज गये उसी रोज हमारे कमरे के कोने का पहाड़ अपने पेड़-पौधों समेत न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया। स्कूल के कमरे का कोना पहाड़ बनाने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है, इसकी शिक्षा इस प्रकार अकस्मात् और कठोर रूप में पाकर हमें बहुत दुःख हुआ था। हमारे खेल-तमाशे के साथ बड़ों की इच्छा का ऐसा अन्तर होगा, इसे याद करके कमरे से हटाये गये पत्थरों का बोझ हमारे मन पर आकर बैठ गया।

उन दिनों इस पृथ्वी नाम की वस्तु का रस कैसा निविड़, कैसा गहरा था, यही बात बार-बार मन में आती है। क्या मिट्टी, क्या पानी, क्या पेड़-पौधे, क्या आकाश, सब जैसे उन दिनों हमसे बात करते—मन को किसी तरह उदासीन न रहने देते। पृथ्वी को केवल ऊपर से हम देखते हैं, उसके भीतरी स्तर को नहीं देख पाते, इस बात का आघात न जाने कितने दिन तक मेरे मन को लगता रहा, मैं बतला नहीं सकता। किसी उपाय से धरती के ऊपर वाले इस मटमैले रंग के

मलाट को खोलकर फेंका जा सकता है, इसके कितने ही प्लैन मैने मन में ठहराये थे। मैं सोचता कि अगर एक के बाद एक कई बाँस ठोक-ठोककर गाड़ दिये जायँ तो इस तरह बाँसों के गड़ जाने पर धरती के गहरे-से-गहरे स्तर का परिचय एक तरह से पाया जा सकता है। माघोत्सव के उपलक्ष्य में हमारे आँगन के चारों तरफ लकड़ी के खम्भों की कतार गाड़कर उसमें झाड़ लटकाये जाते। माघ की प्रतिपदा से ही इसके लिए आँगन की मिट्टी कटनी शुरू हो जाती। सभी जगह उत्सव के उपक्रम का आरम्भ बच्चों के लिए अत्यन्त कुतूहलपूर्ण होता है लेकिन मेरे लिए विशेष रूप से इस मिट्टी काटने में एक खिंचाव था। हर साल ही मैंने मिट्टी को काटे जाते देखा है—देखा है कि गड्ढा बड़ा होते-होते धीरे-धीरे पूरा आदमी उस गड्ढे के भीतर समा गया है, तो भी उसमें किसी बार ऐसा कुछ दिखायी नहीं दिया जो किसी राजा या मंत्री के पुत्र की पाताल-यात्रा सफल कर सके, तब भी हर बार मुझको ऐसा लगता कि जैसे किसी रहस्य-मंजूषा का ढक्कन उठाया जा सकता है। मुझे ऐसा लगता कि बस जरा सा और खोदने से ही काम हो जायेगा—लेकिन साल के बाद साल बीतते गये, वह 'बस जरा-सा' और किसी बार खोदा नहीं गया। परदे को थोड़ा-सा खींचा तो गया, लेकिन उठाया नहीं गया। मैं सोचता, बड़े लोग तो इच्छा करने से ही सब-कुछ करा सकते हैं, तब क्यों वह लोग नीचे तक पहुँचे बिना इस तरह बीच में ही थमकर बैठ जाते हैं—हम जैसे बच्चों की आज्ञा अगर मानी जाती तो पृथ्वी का गूढ़तम संवाद इस प्रकार उदासीन भाव से मिट्टी के नीचे दबा न रहने पाता और, जहाँ आकाश की नीलिमा है उसी के पीछे आकाश का समस्त रहस्य है, यह विचार भी मन को धक्का देता। जिस दिन 'बोधोदय'[१] पढ़ाने के उपलक्ष्य में पंडित महाशय ने कहा, आकाश का वह नीला गोलक, उस तक पहुँचने में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है, तब मन में कैसा एक असम्भव आश्चर्य जागा था। उन्होंने कहा था, "सीढ़ी के ऊपर सीढ़ी लगाकर ऊपर उठते जाओ, तुम्हारे सिर के लिए कहीं कोई रुकावट नहीं है।" मैंने सोचा कि सीढ़ी के बारे में वे अनावश्यक कृपणता कर रहे हैं। मैंने केवल सुर चढ़ाकर कहना शुरू किया, और सीढ़ी, और सीढ़ी, और सीढ़ी, बाद को जब पता चला कि सीढ़ी की संख्या बढ़ाने से कोई लाभ नहीं तब मैं स्तंभित होकर बैठकर सोचने लगा और मेरे मन में आया कि यह एक ऐसा आश्चर्यजनक संवाद है जो पृथ्वी पर वे ही जानते हैं जो मास्टर मोशाइ हैं, दूसरा कोई नहीं जानता।

नामल स्कूल

मैं जब ओरियण्टल सेमीनरी में पढ़ता था तब केवल मात्र छात्र होकर रहने का जो हीनता-बोध है उसको मिटाने का एक उपाय मैंने ढूँढ़ा था। अपने बरामदे के एक खास कोने में मैंने भी एक क्लास खोल रखी थी। रेलिंग ही मेरे छात्र थे। घड़ी हाथ में लेकर और चौकी पर उनके सामने बैठकर मैं मास्टरी करता। उन रेलिंगों में कौन अच्छा लड़का है और कौन बुरा वह भी बिलकुल तय हो गया था। यहाँ तक कि नेक रेलिंग और बदमाश रेलिग, समझदार रेलिंग और बुद्धू रेलिंग उन सबकी मुखश्री का अन्तर मैं जैसे स्पष्ट रूप से देख पाता। दुष्ट रेलिंगों पर

---

१. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-प्रणीत

बार-बार मेरी लाठी पड़ने से उनकी ऐसी दुर्दशा हो गयी थी कि अगर उनमें जान होती तो वे जान देकर छुटकारा पा लेते। लाठी की चोट से उनकी शक्ल जितनी ही बिगड़ती जाती उनके ऊपर मेरा गुस्सा उतना ही बढ़ता जाता। मैं समझ ही न पाता था कि किस उपाय से उनको यथेष्ट दण्ड दिया जा सकता है। अपने उस नीरव क्लास पर मैंने कैसी भयंकर मास्टरी की है, इसकी गवाही देने के लिए आज कोई बचा नहीं है। उस समय के मेरे उन काठ के बने छात्रों के स्थान पर आज लोहे के रेलिंग भरती हो गये हैं—मेरे बाद के लोगों में उनकी मास्टरी का भार आज भी किसी ने ग्रहण नहीं किया है और करता भी तो उस समय की शासन-प्रणाली से आज कोई फल न होता मैंने खूब देखा है, शिक्षकों की दी हुई थोड़ी-सी भी विद्या सीखने में बच्चे बड़ा विलम्ब करते हैं, लेकिन शिक्षकों की भाव-भंगी सीख लेने में उनको कोई कष्ट नहीं होता। शिक्षादान की क्रिया में जो सब अविचार, अधैर्य, क्रोध, पक्षपात था, दूसरे शिक्षणीय विषयों की अपेक्षा कहीं अधिक सहज रूप में मैंने उन्हें अपना लिया था। संतोष की बात इतनी ही है कि काठ के रेलिंग-जैसे नितांत मौन और अचल पदार्थ को छोड़कर और किसी चीज़ के ऊपर उस सब बर्बरता का प्रयोग करने का उपाय उस दुर्बल अवस्था में मेरे हाथ न था; लेकिन रेलिंग-कक्षा के साथ छात्रों की कक्षा का अन्तर काफ़ी होते हुए मुझमें और संकीर्ण-चित्त शिक्षकों के मनोविज्ञान में लेश मात्र भी अन्तर न था।

मेरा खयाल है मैं ओरियण्टल सेमीनरी में बहुत दिन न रहा। उसके बाद नार्मल स्कूल में भरती हुआ। तब मेरी उम्र बहुत कम थी। एक बात मुझे याद आती है। विद्यालय का कार्य शुरू होने के पहले गैलरी में सब लड़के बैठकर गाने के सुर में तरह-तरह की कविताओं का पाठ किया करते थे। शिक्षा के साथ-साथ लड़कों के मनोरंजन का भी थोड़ा-बहुत आयोजन होना चाहिए, इसके पीछे यही भाव था। लेकिन गाने सब अंग्रेजी में होते थे, उनके सुर भी वैसे ही होते थे—मैं कुछ समझ न पाता था कि हम कौन-सा मंत्र पढ़ रहे हैं और कौन-सा अनुष्ठान कर रहे हैं। हर रोज इसी एक निरर्थक घिसे-पिटे कार्य में योग देना हमारे लिए सुखकर न था। तो भी स्कूल के कर्त्ता-धर्त्ता उन दिनों की किसी एक थियरी का सहारा लेकर खूब निश्चिन्त थे कि वे लड़कों के आनन्द का आयोजन कर रहे हैं; लेकिन प्रत्यक्ष रूप से लड़कों की ओर देखकर उसके फलाफल का विचार करना बिलकुल निरर्थक समझते थे। जिस प्रकार उनकी थियरी के अनुसार आनन्द पाना लड़कों का एक कर्त्तव्य था, उसी प्रकार न पाना अपराध था। इसीलिए जिस अंग्रेज़ी किताब से उन्होंने अपनी थियरी ली थी उसी से सब अंग्रेज़ी गाने लेकर वे बहुत निश्चिन्तता अनुभव करते थे। हमारे मुँह में वह अंग्रेजी किस भाषा का रूप ले लेती थी, इसकी आलोचना शब्द-तत्त्वविदों के लिए निस्संदेह मूल्यवान होगी। केवल एक लाइन मुझे याद आ रही है—

क्लोकी पुलोकी सिंगिल मेलालिं मेलालिं मेलालिं

बहुत सोचने-विचारने पर इसके मूल का थोड़ा-बहुत उद्धार कर सका हूँ—लेकिन 'क्लोकी' किसका रूपान्तर है यह मैं आज तक समझ नहीं सका। बाकी अंश मेरी समझ में यह था—

Full of glec, singing merrily merrily merrily.

धीरे-धीरे नार्मल स्कूल की स्मृति जहाँ धुँधलके को पार करके 'अधिक साफ़' हुई वहाँ उसका कोई अंश तनिक भी मधुर नहीं। लड़कों के साथ अगर मैं मिल-जुल पाता तो विद्या सीखने का दुःख उतना असह्य न जान पड़ता। लेकिन वह किसी तरह सम्भव नहीं हुआ। अधिकांश लड़कों का संस्पर्श इतना अशुचि और अपमानजनक था कि छुट्टी के समय मैं नौकर को लेकर दुतल्ले के रास्ते की ओर की एक खिड़की के पास सबसे अलग बैठकर काट देता। मन-ही-मन हिसाब लगाता, एक साल, दो साल, तीन साल—और न जाने कितने साल इसी तरह काटने होंगे। शिक्षकों में एक की बात मुझे याद आती है। वह ऐसी कुत्सित भाषा का व्यवहार करते थे कि उनके प्रति अश्रद्धा से मैं उनके किसी प्रश्न का उत्तर न देता। वर्ष-भर उनकी क्लास में मैं सब लड़कों के पीछे चुपचाप बैठा रहता। जब पढ़ाई चलती होती उस समय मैं पृथ्वी की अनेक दुरूह समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा किया करता। एक समस्या मुझे याद है। अस्त्रहीन होने पर भी शत्रु को किस प्रकार युद्ध में हराया जा सकता है, यही मेरी गहरी चिंता का विषय था। उस क्लास की पढ़ाई-लिखाई की गुंजन-ध्वनि के बीच बैठकर मैं बराबर इसी चीज के बारे में सोचा करता, यह आज भी मुझे याद है। मैं सोचता, कुत्ते, बाघ आदि हिंस्र जन्तुओं को खूब अच्छी तरह लिखा-पढ़ाकर पहले उन्हें युद्ध-क्षेत्र में अगर पाँतें बनाकर खड़ा कर दिया जाय तो लड़ाई की महफ़िल बड़े मज़े में जम सकती है, फिर अपने बाहु-बल से काम में जुटने पर विजय प्राप्त करना बिलकुल असाध्य न होगा। मन-ही-मन इस अत्यन्त सहज ढंग की रण-सज्जा का चित्र मेरी कल्पना में उभरता तो युद्ध-क्षेत्र में अपने पक्ष की विजय बिलकुल सुनिश्चित दिखाई पड़ती। जब हाथ में कार्य न था तब काम के अनेक अद्भुत सहज उपाय मैंने ढूँढ़ निकाले थे। जब काम करने का समय आया तो देखता हूँ कि जो कठिन था वह अब भी कठिन ही है, जो दुस्साध्य था वह अब भी दुस्साध्य ही है। इसमें कुछ असुविधा अवश्य है, किन्तु उसको सहज बनाने की चेष्टा करने पर असुविधा और सात गुनी बढ़ जाती है।

इसी तरह उस क्लास में जब एक साल कट गया तब मधुसूदन वाचस्पति के सामने हमारी बंगला की वार्षिक परीक्षा हुई। मुझे सब लड़कों से ज़्यादा नम्बर मिले। हमारी क्लास के शिक्षक ने अधिकारियों को जाकर बतलाया कि परीक्षक ने मेरे साथ पक्षपात किया है। मेरी परीक्षा दुबारा हुई। इस बार स्वयं सुपरिन्टेण्डेण्ट परीक्षक के पास चौकी लेकर बैठे। सौभाग्यवश इस बार भी मुझे उच्च स्थान मिला।

कविता-रचना का आरम्भ

मेरी उम्र तब सात-आठ साल से ज़्यादा न होगी। मेरे एक भांजे श्रीयुत ज्योतिप्रकाश उम्र में मुझसे काफ़ी बड़े थे। वह उन दिनों अंग्रेज़ी साहित्य में प्रवेश करके खूब उत्साह के साथ 'हैमलेट' की स्वगत-उक्तियों का पाठ किया करते थे। मेरे-जैसे बच्चों को कविता लिखना सिखाने के लिए उन्हें एकाएक क्यों उत्साह हुआ, मैं नहीं कह सकता। एक रोज दोपहर के समय अपने कमरे में मुझे ले जाकर उन्होंने कहा, 'तुमको पद्य लिखना होगा।' यह कहकर उन्होंने मुझको पयार छंद में चौदह अक्षरों के योगायोग की रीति-पद्धति समझा दी।

अब तक मैंने पद्य नाम की चीज़ को सिर्फ़ छपी हुई किताबो में देखा था। कहीं कट-कुट नहीं, सोचना-विचारना नहीं, किसी जगह मर्त्यजनोचित दुर्बलता का कोई चिह्न न दिखाई पड़ता था। यह पद्य स्वयं अपनी चेष्टा से लिखा जा सकता है, ऐसी कल्पना करने का भी साहस मुझको न होता था। एक दिन हमारे घर मे चोर पकड़ा गया। बहुत डरते-डरते, लेकिन तो भी बड़े कौतूहल के साथ मैं उसको देखने गया। मैंने देखा कि वह बिलकुल साधारण आदमी-जैसा ही है। ऐसी हालत में दरबान ने जब उसको मारना शुरू किया तो मेरे मन में बड़ी गहरी पीड़ा हुई। पद्य के सम्बन्ध में भी मेरी ऐसी ही दशा हुई। थोड़े से शब्दों को अपने हाथ में लेकर उनका जोड़-तोड़ मिलाने से जब वही प्यार हो गया तो पद्य-रचना की महिमा के सम्बन्ध में मेरा मोह और टिक न सका। आज देखता हूँ पद्य बेचारे के ऊपर भी मार सही नहीं जाती। बहुत बार दया भी आती है, लेकिन मारे बिना काम भी नहीं चलता; हाथ खुजलाने लगता है। चोर की पीठ पर भी कितने लोगों के कितने लात-घूँसे न पड़े होंगे।

भय जब एक बार टूट गया तब फिर मुझे कौन रोक सकता था। किसी कर्मचारी की कृपा से मैंने एक नीले कागज़ की बही जुटायी। उसमें अपने हाथ से पेंसिल से बहुत-सी छोटी-बड़ी लाइनें खींचकर बड़े-बड़े कच्चे अक्षरों में मैंने पद्य लिखना शुरू किया।

हिरन का बच्चा नये सींग निकलने के समय जिस तरह इधर-उधर धक्का मारता चलता है, नूतन काव्योद्गम को लेकर मैंने भी उसी तरह उत्पात मचाना शुरू किया। विशेषतः मेरे दादा ने मेरी इन सब रचनाओं का गर्व अनुभव करते हुए श्रोताओं को इकट्ठा करने के उत्साह में लोगों की नाक में दम कर दिया। मुझे याद आता है, एक दिन इकतल्ले पर हमारी जमींदारी-कचहरी के कर्मचारियों के सामने कवित्व की घोषणा करके हम दोनों भाई बाहर निकल रहे थे, उसी समय उन दिनों के 'नेशनल पेपर' के एडिटर श्रीयुत नवगोपाल मित्र ने सबको छोड़कर केवल हमारे घर मे पदार्पण किया था। दादा ने फ़ौरन उनको गिरफ्तार करके कहा, 'नवगोपाल बाबू, रवि ने कविता लिखी है, सुनिए न!' सुनाने मे देरी नहीं हुई। काव्य-ग्रंथावली का बोझ तब तक भारी नहीं हुआ था। कवि-कीर्ति अनायास ही उन दिनों कवि के कुरते की हर पाकेट मे फिरती रहती थी। तब मैं स्वयं ही लेखक था, मुद्रक था, प्रकाशक था, ये तीनों ही रूप एक मे मिले हुए थे। केवल विज्ञापन देने के काम मे मेरे दादा मेरे सहयोगी थे। मैंने कमल पर एक कविता लिखी थी, वही मैंने ड्योढ़ी के सामने खड़े होकर उत्साहित उच्च कंठ मे नवगोपाल बाबू को सुना दी। उन्होंने कुछ हँसकर कहा, ' बहुत अच्छी बनी है, लेकिन उस 'द्विरेफ' शब्द का क्या मतलब है।'

'द्विरेफ' और भ्रमर' दोनों ही तीन अक्षरों के थे, भ्रमर शब्द का इस्तेमाल करने से छंद का कोई अनिष्ट न होता। मुझे याद नहीं है कि मैंने वह दुरूह शब्द कहाँ से पाया। सारी कविता में उसी शब्द पर मेरी आशा, मेरा भरोसा सबसे ज्यादा था। दफ़्तरखाने के कर्मचारियों के बीच निश्चय ही उस शब्द का विशेष फल मुझे मिला था। लेकिन नवगोपाल बाबू को उससे मै तनिक भी डिगा न पाया। यहाँ तक कि वह हँस पड़े। मुझे पक्का विश्वास हो गया कि नवगोपाल बाबू समझदार आदमी नहीं हैं। उनको फिर कभी मैंने कविता नहीं सुनायी। उसके बाद मेरी उम्र बहुत बढ़ी; लेकिन कौन समझदार है और कौन नहीं; इसकी परख करने की प्रणाली में कोई खास

परिवर्तन हुआ हो ऐसा मुझे नहीं लगता । जो हो, नवगोपाल बाबू हँसे ज़रूर, लेकिन 'द्विरेफ' शब्द मधुपान-मत्त भ्रमर के ही समान अपने स्थान पर अविचलित रहा।

पितृ देव

मेरे जन्म के कई साल पहले से पिताजी प्रायः देशाटन में ही लगे रहते थे। यह भी कह सकते है कि बचपन में वे हमारे लिए अपरिचित थे। बीच-बीच में वे कभी अकस्मात् घर आ जाते, अपने साथ बाहरी नौकर लेकर आते, उनसे दोस्ती करने के लिए मेरे मन में बड़ी उत्सुकता जागती। एक बार लेनू नाम का एक पंजाबी छोकरा उनके साथ आया था। उसने हम लोगों से जैसा आदर पाया वह स्वयं रणजीतसिंह के लिए भी कम न ठहरता। एक तो वह ग़ैर-बंगाली, ऊपर से पंजाबी—इसी चीज़ ने हमारे मन को चुरा लिया था। पुराणों के भीम-अर्जुन के प्रति जैसी श्रद्धा थी, इस पंजाबी जाति के प्रति भी मेरे मन में वैसा ही कुछ संभ्रम का भाव था। ये लोग योद्धा होते हैं— किसी-किसी लड़ाई में ये लोग हारे ज़रूर हैं; लेकिन उसको भी हमने इनके शत्रुओं का अपराध ही माना है। उसी जाति के लेनू को अपने घर में पाकर मैंने खूब गर्व का अनुभव किया था। भाभी के कमरे में शीशे से ढका हुआ एक खिलौना जहाज़ था, उसमें चाभी देते ही रंगीन कपड़े की लहरें फूल उठतीं और जहाज़ ऑरगन बाजे के साथ झूले की तरह हिलने-काँपने लगता। बहुत अनुनय-विनय करके इस अद्‌भुत वस्तु को भाभी से माँगकर मैं अक्सर बीच-बीच मे इस पंजाबी को चकित कर दिया करता। घर मे पिंजरे में बंद था इसलिए जो कुछ विदेश का था, जो कुछ दूर देश का था, वही मुझे बड़ी जोर से खींचता। इसीलिए लेनू को लेकर मै बहुत व्यग्र हो जाया करता। इसी कारण से ग्राब्रिएल नाम का एक यहूदी अपनी घुण्डीदार यहूदी पोशाक पहनकर जब इत्र बेचने आता तो मेरे मन में बड़ी सिहरन-सी होती, और झोले-झोली वाला, ढीला-ढाला, मैला पायजामा पहने हुए लम्बा-तड़ंगा काबुली वाला भी मेरे लिए भय-मिश्रित रहस्य की सामग्री था।

जो हो, पिता जब आते तो हम केवल दूर दूर से उनके नौकरों-चाकरों के बीच घूम-घूमकर अपना कौतूहल मिटाते। उनके पास पहुँचना संभव न होता।

मुझे अच्छी तरह याद है, हम लोगों के बचपन में एक बार कभी अंग्रेज सरकार के चिरंतन जूजू रूसियों द्वारा भारत-आक्रमण की आशंका लोगों के मुँह से अक्सर सुनायी पड़नी थी। किसी हितैषिणी आत्मीया ने मेरी माँ को इस आसन्न विप्लव की संभावना के बारे में नमक-मिर्च लगाकर बतलाया था। पिता उन दिनों पहाड़ पर थे। तिब्बत पार करके हिमालय के न जाने किस दर्रे से होकर रूसी लोग सहसा धूमकेतु के समान सामने आ जायँगे, यह कौन बतला सकता है। इसको लेकर माँ के मन में बड़ा उद्वेग हुआ। घर में किसी ने निश्चय ही उनकी इस व्यग्रता का समर्थन नहीं किया। इसीलिए माँ ने वयस्क लोगों की सहायता पाने की चेष्टा में हताश होकर अंततः इस बालक का आश्रय लिया। मुझसे कहा, 'रूसियों की खबर देते हुए पिता को एक चिट्ठी लिखो तो!' माँ के उद्वेग को वाणी देते हुए पिता के पास वही मेरी पहली चिट्ठी थी। चिट्ठी कैसे लिखी

जाती है, क्या करना होता है, मैं कुछ न जानता था। दफ़्तरखाने के महानंद मुंशी की शरण में गया। लिखा मैंने ठीक ही था इसमें संदेह नहीं, लेकिन जमींदारी दफ़्तर की सरस्वती जिस जीर्ण कागज़ के शुष्क पद्म-दल पर विहार करती है, भाषा में उसी की गंध लिपटी हुई थी। इस चिट्ठी का जवाब मुझे मिला था। उसमें पिता ने लिखा था—डरने की कोई बात नहीं है, मैं खुद ही रूसियों को मार भगाऊँगा। इस प्रबल आश्वासन-वाणी से भी माँ का रूसियों का भय दूर हुआ हो ऐसा नहीं लगा—लेकिन पिता के संबंध में मेरा साहस खूब बढ़ गया। उसके बाद से मैं रोज़ ही उनको चिट्ठी लिखने के लिए महानंद के दफ़्तर में हाज़िर होने लगा। बालक के उपद्रव से अस्थिर होकर कई दिन महानंद ने खुद ही मजमून लिख दिया। लेकिन डाक-महसूल के लिए क्या हो? मैं सोचता था कि महानंद के हाथ में चिट्ठी देते ही उसके संबंध में मुझे और कुछ सोचने की जरूरत नहीं है—चिट्ठी अनायास यथास्थान जा पहुँचेगी। कहने की जरूरत नहीं कि महानंद की उम्र मुझसे कहीं ज्यादा थी। ये चिट्ठियाँ हिमालय की चोटी तक नहीं पहुँचीं।

बहुत दिनों बाहर रहने के बाद पिता कुछ दिनों के बाद जब कलकत्ता आते तो उनके प्रभाव से जैसे सारा घर भर उठता और गूँजने लगता। मैं देखता कि बड़े लोग चोगा पहनकर, साफ़-सुथरे होकर, मुँह में पान होने पर उसे बाहर ही थूककर उनके सामने जाते थे। सभी लोग बहुत सावधान होकर चलते थे। रसोई में पीछे कहीं त्रुटि न हो इस भय से माँ स्वयं रसोईघर में जाकर बैठतीं। बुड्ढा कीनू हरकारा अपनी तमगे वाली पगड़ी और साफ़ अचकन पहनकर दरवाज़े पर हाज़िर रहता। हम लोग पीछे बरामदे में दौड़-भाग, धौल-धप्पा करके उनके आराम में विघ्न न डालें इसके लिए पहले से ही हमको सावधान कर दिया जाता था। हम धीरे-धीरे चलते थे, धीरे-धीरे बोलते थे, ज़ोर से बोलने का हमको साहस नहीं होता था।

एक बार पिता हम तीन लोगों का उपनयन कराने के लिए आये। वेदान्त-वागीश[१] के साथ बैठकर उन्होंने वैदिक मंत्रों में से उपनयन का अनुष्ठान स्वयं चुन लिया। कई रोज़ तक दालान में बैठकर बेचाराम बाबू[२] ने हर रोज़ हम लोगों से ब्राह्म धर्म ग्रंथ में संगृहीत उपनिषद् के मंत्रों की विशुद्ध रीति से बार-बार आवृत्ति करवा ली। यथासंभव प्राचीन वैदिक पद्धति से ही हम लोगों का उपनयन हुआ। सिर मुँडाकर, कान में कुंडल पहनकर हम तीनों ब्राह्मण-बटुक तीसरे तल्ले के एक कमरे में तीन दिन के लिए बंद कर दिये गये। उसमें हम लोगों को बड़ा मज़ा आया। हम लोगों ने एक-दूसरे के कान का कुण्डल पकड़कर बड़ी खींच-तान की। बायें हाथ का तबला कमरे के एक कोने में पड़ा हुआ था—बरामदे में खड़े होकर जब हम देखते कि नीचे के तल्ले पर कोई नौकर चला जा रहा है तो उस तबले को धपाधप पीटने लगते—वह मुँह ऊपर उठाकर हम लोगों को देखता और फ़ौरन सिर नीचा करके अपराध की आशंका से भाग खड़ा होता। वस्तुतः गुरु-गृह में ऋषि-बालकों के जिस कठोर संयम में दिन काटने की बात कही जाती है, हमारे दिन ठीक वैसे नहीं कटते थे। मेरा विश्वास है कि प्राचीन काल के तपोवन का अन्वेषण करने पर हमारे-जैसे लड़के न मिलते ऐसी बात नहीं है, वह सब-के-सब बहुत अच्छे-भले लड़के थे, इसका कोई प्रमाण नहीं है। शारद्वत और शार्ंगरव की उम्र जब दस-बारह साल की थी तब

---

१. आनन्दचन्द्र भट्टाचार्य (बाद में, वेदान्तवागीश)।

२.बेचाराम चट्टोपाध्याय।

उन्होंने केवल वेद-मंत्र का उच्चारण करके अग्नि में आहुति डालते हुए दिन काटे थे, यह बात अगर किसी पुराण में लिखी हो तो उस पर आदि से अंत तक विश्वास करने के लिए हम बाध्य नहीं हैं—क्योंकि शिशु-चरित्र नामक पुराण सब पुराणों से अधिक पुराना है। उसके समान प्रामाणिक शास्त्र किसी भाषा में लिखा नहीं गया।

नूतन ब्राह्मण होने के बाद गायत्री-मंत्र का जाप करने की एक अजब सनक मन मे सवार हुई। मैं विशेष यत्न से एकाग्र मन होकर वह मंत्र जपने की चेष्टा करता। मंत्र ऐसा नहीं था कि उस उम्र में मैं उसका तात्पर्य ठीक से ग्रहण कर सकता। मुझे अच्छी तरह याद है मैं 'भूर्भुवःस्वः' इस अंश को लेकर अपने मन को खूब दौड़ाने की चेष्टा करता। क्या समझता, क्या सोचता यह स्पष्ट रूप से बतलाना कठिन है; लेकिन इसमें संदेह नहीं कि बात का मतलब समझना आदमी के लिए सबसे बड़ी चीज़ नहीं है। शिक्षा का सबसे बड़ा अंग समझा देना नहीं है, मन पर चोट लगाना है। इस आघात के भीतर से जो चीज बज उठती है उसकी व्याख्या करने के लिए अगर किसी लड़के को कहा जाय तो वह बिलकुल बच्चों-जैसी कोई बात होगी। लेकिन वह मुँह से जो कुछ कह पा रहा है उससे कहीं अधिक उसके मन में बज रहा है जो लोग विद्यालय से शिक्षार्जन करके केवल परीक्षा के द्वारा फल का निर्णय करना चाहते हैं कि उन्हें इस चीज़ की कोई खबर नहीं होती। मुझे याद आता है, बचपन में मैं बहुत-सी चीज़ें नहीं समझता था, लेकिन उनसे मेरे मन में बड़ी हलचल-सी पैदा हो जाती थी। मैं जब बहुत छोटा था मूलाजोड़ में गंगा के किनारे बगीचे में बादलों के छाये होने के समय बड़े दादा छत पर एक दिन 'मेघदूत' का पाठ कर रहे थे, उसको समझने की मुझको ज़रूरत नहीं हुई और समझना संभव भी नहीं था—उनका आनंदमय आवेगपूर्ण छंद-उच्चारण ही मेरे लिए काफ़ी था। बचपन में जब मैं अंग्रेज़ी नहीं के बराबर जानता था तब बहुत-सी तस्वीरों वाली एक किताब Old Cuniosity Shop लेकर मैंने आदि से अंत तक पढ़ी थी। पन्द्रह आना बात मैं समझ नहीं सका था—बिलकुल धुँधली-सी न जाने कैसी एक तस्वीर मन के विविध रंगों से रँगकर मैने खड़ी की थी। अगर मैं परीक्षक के हाथ में पड़ता तो निश्चय ही बड़ा-सा एक सुन्ना मुझे मिलता। लेकिन मेरे लिए वह पढ़ना उतना बड़ा शून्य न था। एक बार बचपन में पिता के साथ बोट में घूमते समय उनकी किताबों में एक बड़ी पुरानी फ़ोर्ट विलियम की प्रकाशित 'गीतगोविन्द' की प्रति मुझे मिली थी। बाङ्ला-अक्षरों में छपी हुई। छंद के अनुसार उसके पदों का भाव नहीं किया गया था, गद्य के समान एक लाइन के साथ दूसरी लाइन जुड़ी हुई थी। मैं तब संस्कृत बिलकुल भी न जानता था। बाङ्ला अच्छी जानता था इसीलिए बहुत-से शब्दों का अर्थ समझ लेता था। उस 'गीतगोविन्द' को मैंने कितनी बार पढ़ा है, बतला नहीं सकता। जयदेव जो कुछ कहना चाहते हैं वह कुछ भी मैंने नहीं समझा, लेकिन छद और कथा को मिलाकर मेरे मन में जिस चीज़ की सृष्टि हुई वह मेरे लिए सामान्य नहीं। मुझे याद है, ' निभृत निकुंज गृहम् गतया निशि रहसि निलीय वसन्तम् '—यह लाइन मेरे मन में एक अद्भुत सौन्दर्य का उद्रेक करती—छंद की झंकार की दृष्टि से ' निभृत निकुंज गृहम् ' यही एक बात मेरे लिए काफी थी। वह पुस्तक गद्य के ढंग पर छपी हुई थी इसलिए जयदेव के विभिन्न छंदों को स्वयं अपनी चेष्टा से खोज लेना पड़ता—यही मेरे लिए सबसे बड़े आनंद का काम था। जिस दिन मैं ' अहह कलयामि वलयादि मथिभूषणम् हरि विरह दहन वहनेन बहुदूषणम् ' —इस

पद को ठीक तरह से यथा-स्थान यति देकर पढ़ सका, उस दिन मैं कितना खुश हुआ था ! जयदेव सम्पूर्ण तो खैर क्या समझता, असम्पूर्ण समझने का जो अभिप्राय होता है उतना भी मैं न समझता था, लेकिन तो भी सौन्दर्य से मेरा मन इस तरह भर उठा था कि आदि से अन्त तक पूरा 'गीत-गोविन्द' मैंने एक कापी में नक़ल कर लिया था। और कुछ बड़े होने पर 'कुमार संभव' का यह श्लोक :

मन्दाकिनी निर्झरशीकराणां
बोढा मुहुः कम्पित देवदारुः ।
यद्वायुरन्विटमृगैः किरातै
रासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्ह : ।

पढ़कर एक दिन मन जैसे पागल हो उठा था । और कुछ नहीं समझा, केवल 'मदाकिनी-निर्झरशीकर' और 'कंपितदेवदारुः' इन्हीं दो को लेकर मेरा मन खो-सा गया था । समस्त श्लोक का रस लेने के लिए मन व्याकुल हो उठा । जब पंडित महाशय ने पूरे का मतलब समझा दिया तो मन खराब हो गया । हिरन की खोज में लगे हुए किरात के सिर पर जो मोर का पंख है हवा उसी को चीर रही है, यह सूक्ष्मता मेरे मन को बहुत पीड़ा देने लगी । जब पूरा नहीं समझता था तभी अच्छा था

जिन लोगों को अपना बचपन अच्छी तरह याद होगा वही इस बात को समझेंगे कि शुरू से लेकर आखिर तक सब-कुछ स्पष्ट रूप से समझ लेना ही सबसे बड़ा लाभ नहीं है। हमारे देश के कथावाचक इस बात को समझते थे इसीलिए उनके कथा कहने में बड़े-बड़े कान भर देने वाले संस्कृत के शब्द रहते हैं और ऐसी दार्शनिक बातें भी बहुत-सी रहती हैं जिन्हें श्रोता लोग कभी स्पष्ट रूप से समझ नहीं पाते; लेकिन हाँ उनका आभास जरूर पा जाते हैं—इस आभास पाने का मूल्य कम नहीं है। जो लोग शिक्षा का हिसाब जमा-खर्च की खतौनी करके रखते हैं वही हर चीज को बहुत खींच-तान करके देखते हैं कि जो कुछ दिया गया वह समझा गया कि नहीं। बच्चे और वे जो बहुत शिक्षित नहीं हैं, ज्ञान के जिस स्वर्ग-लोक में रहते हैं वहाँ मनुष्य न समझकर ही पाता है—उस स्वर्ग से जब पतन होता है तभी समझकर पाने के दुःख के दिन आते हैं। लेकिन यह बात भी पूरी तरह सच नहीं है संसार में न समझकर पाने का रास्ता ही सदा सबसे बड़ा रास्ता है। वह रास्ता एकदम बंद हो जाने से दुनिया के हाट-बाज़ार बंद नहीं हो जाते यह सच है , लेकिन समुद्र की लहरों पर जाने का फिर कोई ढंग नहीं रह जाता, पर्वत के शिखर पर चढ़ना असंभव हो उठता है।

इसीलिए मैं कह रहा था गायत्री-मंत्र का कोई तात्पर्य मैं उस उम्र में समझता होऊँ ऐसी बात नहीं है; लेकिन मनुष्य के अंतर में ऐसा कुछ है जो पूरा-पूरा न समझने से भी चलता है। इसीलिए मुझे एक दिन की बात याद आती है—एक रोज़ अपने पढ़ने के कमरे में पक्की मेज़ के एक कोने में बैठकर गायत्री का जाप करते-करते सहसा मेरी दोनों आँखें भर आयीं और आँसू टपकने लगे। आँसू क्यों टपक रहे हैं यह मैं स्वयं तनिक भी न समझ सका। इसलिए कठिन परीक्षक के हाथ में पड़ने पर मैं मूर्ख के समान ऐसा-वैसा कोई एक कारण बतला देता जिसका गायत्री-मंत्र से कोई

संबंध नहीं है। सच बात तो यह है कि अंतर के अंतःपुर में जो व्यापार चलता रहता है सब समय उसकी खबर बुद्धि के क्षेत्र में नहीं पहुँचती।

हिमालय-यात्रा

जनेऊ के उपलक्ष्य में सिर मुँडाने पर बड़ी चिन्ता मुझे यह हुई कि स्कूल कैसे जाऊँगा। गौ-जाति के प्रति फिरंगियों के लड़कों का आंतरिक आकर्षण चाहे जैसा हो, ब्राह्मणों के प्रति तो उनकी भक्ति न थी। अतः घुटी हुई खोपड़ी पर वे और कुछ बरसायें या न बरसायें हँसी-दिल्लगी तो बरसायँगे ही।

ऐसी दुश्चिन्ता के समय एक रोज़ तीसरे तल्ले के कमरे में मेरी पुकार हुई। पिता ने पूछा, 'मैं उनके साथ हिमालय जाना चाहता हूँ या नहीं।' 'चाहता हूँ' यह बात अगर मैं चिल्लाकर आसमान को फाड़कर कह सकता तो वह मन के भाव के उपयुक्त उत्तर होता। कहाँ बंगाल एकेडेमी और कहाँ हिमालय।

घर से यात्रा के लिए निकलते समय पिता ने अपनी पुरानी रीति के अनुसार घर के सब लोगों को अपने साथ दालान में बिठाकर उपासना की। गुरुजनों को प्रणाम करके मैं पिता के साथ गाड़ी पर चढ़ा। अपनी उम्र-भर में यही पहली बार मेरे लिए पोशाक बनी थी। किस रंग का कैसा कपड़ा होगा, इसके सम्बन्ध में पिता ने स्वयं आदेश दिया था। सिर के लिए ज़री के काम की एक गोल मखमल की टोपी बनी थी। वह मेरे साथ में थी, क्योंकि मुड़े सिर पर टोपी पहनने में मुझे मन-ही-मन आपत्ति थी। गाडी में बैठते ही पिता ने कहा, 'लगा लो!' पिता के साथ कपड़े-लत्ते की सफ़ाई-सुथराई में किसी प्रकार की कोई त्रुटि सम्भव न थी। लज्जित होकर मुझे सिर पर टोपी लगानी ही पड़ी। रेलगाड़ी में जरा-सा मौका मिलने पर टोपी उतारकर रख लेता; लेकिन पिता की दृष्टि एक बार भी न चूकती और मुझे फ़ौरन टोपी को सिर पर रख लेना पड़ता।

छोटी-बड़ी सब बातों में पितृदेव की समस्त परिकल्पना और कार्य बिलकुल ठीक ढंग से होता है। वह अपने मन में कोई चीज धुँधली रख ही न सकते थे और उनके कामों में भी जैसे-तैसे कुछ भी कर लेने की गुंजाइश न रहती थी। उनके प्रति दूसरों का और दूसरों के प्रति उनका समस्त कर्तव्य अत्यन्त सुनिर्दिष्ट था। हमारा जातिगत स्वभाव काफ़ी ढीला-ढाला है। थोड़ा-बहुत इधर-उधर होने को हम लोग विचार के योग्य समझते ही नहीं। इसीलिए उनके साथ व्यवहार में हम सबको बहुत भयभीत और सतर्क रहना पड़ता। उन्नीस-बीस होने से कुछ खास क्षति नहीं भी हो सकती; लेकिन उससे व्यवहार में जो थोड़ी-सी भी गड़बड़ी होती है वही उनको अखरता। वह जो कुछ संकल्प करते उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को मन की आँखों से स्पष्टरूपेण प्रत्यक्ष कर लेते। इसीलिए किसी काम-काज में कौन-सी चीज़ कहाँ पर ठीक रहेगी, कौन कहाँ बैठेगा, किसके ऊपर किस काम का कितना भार रहेगा सब-कुछ आदि से अन्त तक वह अपने मन में ठीक कर लेते और फिर किसी चीज़ में थोड़ा-सा भी इधर-उधर न होने देते। इसके बाद वह काम हो जाने पर बहुत-से लोगों से उसका विवरण सुनते। प्रत्येक के वर्णन को मिलाकर और अपने मन में उसका जोड़-तोड़ बैठाकर वह उस घटना को स्पष्ट रूप में देखने की चेष्टा करते।

इस सम्बन्ध में हमारे देश का जातिगत धर्म बिलकुल भी उनका न था। उनके संकल्प में, चिन्ता में, आचरण में और अनुष्ठान में तिल-भर भी शिथिलता की गुंजाइश न रहती। इसीलिए हिमालय-यात्रा में जितने दिन मैं उनके पास रहा, एक ओर मुझको बहुत स्वाधीनता थी दूसरी ओर समस्त आचरण अलंघ्य रूप में निर्दिष्ट था। जिस जगह पर वह छूट देते वहाँ कभी कोई बाधा न डालते और जहाँ नियम से बाँधते वहाँ रत्ती-भर साँस न रखते।

यात्रा के आरम्भ में पहले कुछ दिन बोलपुर में रहने की बात थी। कुछ दिन आगे पिता-माता के साथ सत्य वहाँ गया था। उससे भ्रमण-वृत्तान्त जो सुना था, उन्नीसवीं शताब्दी का किसी भद्र घर का लड़का कभी उसका विश्वास ही न कर सकता। लेकिन तब तक मैंने संभव-असंभव की सीमा-रेखा को ठीक से पहचान रखना सीखा ही न था। कृत्तिवास, काशी-रामदास इसमें मेरी कोई सहायता न करते। रंग-बिरंगी बच्चों की किताबों और तस्वीरों से भरे हुए बच्चों के पत्रों ने सच-झूठ के बारे में हमको पहले से सावधान नहीं कर दिया था। संसार में कड़े नियमों का जो एक उत्पात है उसे हम सबको स्वयं ठोकर खाकर सीखना पड़ा था।

सत्य ने कहा था, विशेष दक्षता न रहने पर रेलगाड़ी में चढ़ना एक भयंकर संकट है—पाँव फिसला और जान की खैर नहीं। उसके बाद जब गाड़ी चलना शुरू करती है तो अपनी सारी ताकत लगाकर बैठना चाहिए, नहीं तो ऐसा जबरदस्त धक्का लगता है कि आदमी कहीं का कहीं फिंक जाय; पता-ठिकाना भी न लगे उसका। मैं स्टेशन पहुँचा तो मन में काफ़ी डर समाया हुआ था। लेकिन जब मैं गाड़ी में बहुत आसानी से चढ़ गया तो मेरे मन में संदेह हुआ कि शायद अभी गाड़ी पर चढ़ने की असल क्रिया पूरी होने को बाक़ी है। फिर जब गाड़ी बहुत सहज ढंग से चल पड़ी और तब भी कहीं किसी विपत्ति का आभास नहीं मिला तो मन में बड़ा दुःख हुआ।

गाड़ी भागती रही, पेड़ों की क़तार की हरी-नीली किनारी से लगा हुआ लम्बा-चौड़ा मैदान और छाया से ढके हुए गाँव रेलगाड़ी के दोनों ओर चित्रों के दो झरनों के समान तेज़ी से भागने लगे कि जैसे मरीचिका की बाढ़ आ रही हो। शाम को हम लोग बोलपुर पहुँचे। पालकी पर चढ़कर मैंने आँख बंद कर लीं। कल सवेरे बोलपुर में सारा विस्मय इकबारगी मेरी जगी हुई आँखों के सामने खुल जायगा, यही मेरी इच्छा थी—साँझ के झुटपुटे में कुछ-कुछ आभास अगर मुझे मिल गया तो कल के अखण्ड आनन्द में रसभंग होगा।

मैं भोर में उठकर काँपते हुए हृदय से बाहर आकर खड़ा हुआ। मेरे पूर्ववर्ती भ्रमणकारी ने मुझसे कहा था, पृथ्वी के अन्य स्थानों और बोलपुर में एक बड़ा अन्तर यह है कि कोठी से रसोईघर जाने के रास्ते में किसी प्रकार का कोई आवरण न होने पर भी शरीर में धूप-वर्षा कुछ भी नहीं लगती। इस अद्‌भुत रास्ते को खोजने के लिए मैं बाहर निकला। पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य न होगा कि आज तक वह रास्ता मुझे नहीं मिला।

हम सब शहराती लड़के हैं, कभी धान का खेत देखा नहीं और ग्वाल-बाल की कहानियाँ किताबों में पढ़कर उनका खूब मनोहर रूप अपनी कल्पना के पर्दे पर आँक रखा था। सत्य से मैंने सुना था कि बोलपुर के मैदान के चारों तरफ़ धान के खेत लहराते हैं और वहाँ ग्वाल-बाल के साथ खेलना एक रोज की घटना है। धान के खेत से चावल इकट्ठा करके, भात पकाकर चरवाहों के साथ इकट्ठे बैठकर खाना, यह खेल का विशेष अंग है।

व्याकुल होकर चारों ओर देखा। हाय रे, उस मरु-प्रान्तर में धान की खेत कहाँ! ग्वाल-बाल संभव है चरागाहों में कहीं रहे हों, लेकिन वह ग्वाल-बाल ही हैं इस रूप में उनको पहचानने का कोई उपाय न था।

जो नहीं देखा उसका खेद मिटने में देर नहीं लगी— जो देखा वही मेरे लिए काफी साबित हुआ। यहाँ नौकरों का शासन न था। उस प्रान्तर-लक्ष्मी ने दिगंत में नीली रेखाओं का एक घेरा मात्र खींच रखा था, उससे मेरे अबाध संचरण में कोई विघ्न न होता।

मैं तब बहुत छोटा था, लेकिन तो भी पिता ने कभी मुझको जहाँ जी चाहे घूमने से नहीं रोका। बोलपुर के मैदान में जगह-जगह वर्षा की जल-धारा ने बालू-मिट्टी को काटकर सतह के नीचे से लाल कंकड़ और तरह-तरह के पत्थर जड़ी हुई छोटी-छोटी टेकड़ियाँ, गुहा-गह्वर, नदी-नाले की रचना कर दी थी जिससे बालखिल्यों के देश की भूमि का वृत्तांत सामने आ जाता था। यहाँ इस तरह के गड्ढों को 'खोयाई' कहते हैं। मैं यहाँ से अपने कुर्त्ते के पल्ले में तरह-तरह के पत्थर बटोरकर पिता के सामने उपस्थित करता। उन्होंने मेरे इस अध्यवसाय को तुच्छ कहकर एक दिन भी उसकी उपेक्षा नहीं की। वह बहुत हौसला बढ़ाते हुए कहते, 'कैसे सुन्दर हैं, वाह, यह सब तुम्हें मिले कहाँ !' मैं कहता, 'ऐसे और भी न जाने कितने हैं हज़ारों, मैं रोज़ ला सकता हूँ !' वह कहते, 'ऐसा हो तो क्या कहना, उन पत्थरों से तुम मेरे इस 'पहाड़' को सजा दो।'

एक तालाब खोदने की कोशिश की गयी थी, लेकिन उसकी मिट्टी को बहुत सख्त जानकर काम को बीच ही में छोड़ दिया गया। उसी अधूरे गड्ढे की मिट्टी दाहिनी तरफ़ पहाड़ का अनुकरण करते हुए ऊँचा-सा स्तूप तैयार हुआ था। वहाँ पर सवेरे मेरे पिता चौकी पर उपासना में बैठते। उनके सामने पूरब के क्षितिज से सूर्योदय होता। इसी पहाड़ को पत्थर से सजाने के लिए उन्होंने मुझे प्रेरित किया था—मेरा उत्साह बढ़ाया था। बोलपुर छोड़कर आते समय इस पत्थर के ढेर को संग लेकर नहीं आ सका इसका बहुत बड़ा दुःख मेरे मन में था। बोझा होने मात्र से उसको ढोने की जो ज़िम्मेदारी आ जाती है और महसूल देना पड़ता है, उसकी बात तब मैं न समझता था। मैंने संचय किया है इसीलिए उसके साथ अपने संबंध की रक्षा कर पाऊँगा ऐसा कोई अधिकार नहीं है, यह बात आज भी ठीक से समझ में नहीं आती। मेरी उस दिन की एकाग्र मन की प्रार्थना पर विधाता ने यदि मुझे वर दिया होता कि 'इन पत्थरों का बोझ तुम हमेशा-हमेशा ढोओगे' तो उस बात को लेकर मैं आज इस तरह हँस न पाता।

गड्ढे के बीच एक जगह बहुत ढेर-सा पानी जमा होता था। यह पानी अपने चारों ओर की मेड़ लाँघकर झिर-झिर करके बालू के बीच से बहता। बहुत छोटी-छोटी मछलियाँ उस जल-कुण्ड के मुख के पास उस स्रोत को तैरकर पार करने की धृष्टता करतीं। मैंने पिता से जाकर कहा, 'बड़ी सुन्दर जल की धारा देखकर आ रहा हूँ, वहाँ से हम लोगों के नहाने और पीने के लिए पानी लाया जाय तो बहुत अच्छा हो।' उन्होंने मेरे उत्साह में योग देते हुए कहा, 'ठीक तो कहते हो, बहुत अच्छा होगा।' और आविष्कार करनेवाले को पुरस्कृत करने के लिए वहीं से पानी ले आने की व्यवस्था कर दी। मैं जब-तब उसी टूटे-फटे तालाब की ऊँची-नीची जगहों में किसी अनूठी वस्तु की खोज में फिरता रहता। इस क्षुद्र अज्ञात राज्य का मैं लिविंग्सटन था। वह जैसे किसी दूरबीन के उल्टे तरफ़ का देश हो। नदी-पहाड़ जैसे छोटे-छोटे थे, बीच-बीच में

यहाँ-वहाँ जंगली जामुन, जंगली खजूर आदि भी वैसे ही नाटे-बौने थे। मेरी खोजी हुई छोटी नदी की मछलियाँ भी वैसी ही थीं—और खोजनेवाले के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं।

पिता कदाचित् मेरी सावधानता-वृत्ति को उन्नत करने के लिए मेरे पास दो-चार आने पैसे रखकर कहते कि हिसाब रखना होगा, और अपनी सोने की घड़ी को चाबी देने का भार भी उन्होंने मुझ पर ही रखा। इसमें जिस क्षति की संभावना थी उसकी चिन्ता उन्होंने नहीं की; मुझको दायित्व की दीक्षा देना ही उनका अभिप्राय था। सवेरे जब वह घूमने के लिए बाहर निकलते तो मुझको साथ ले लेते। रास्ते में भिखारी को देखकर उसे भीख देने के लिए मुझको कहते। अंत में उनके सामने जमा-खर्च का हिसाब मिलाते समय किसी तरह भी न मिलता। एक दिन तो पूँजी बढ़ गयी। उन्होंने कहा, 'लगता है तुम्हीं को अपना कैशियर बनाना पड़ेगा, तुम्हारे साथ में मेरे रुपये बढ़ जाते हैं।' मैं बड़े नियमित रूप से यत्नपूर्वक उनकी घड़ी में चाबी देता। यत्न ज़रा ज्यादा ज़ोर से ही करता, कुछ ही दिनों में घड़ी मरम्मत के लिए कलकत्ता भेजनी पड़ी।

उम्र बढ़ने पर जब काम की ज़िम्मेदारी मिली और उसका हिसाब पिताजी के सामने देना पड़ता, उस दिन की बात मुझे याद आ रही है। उन दिनों वे पार्क स्ट्रीट मे रहते थे। हर महीने की दूसरी और तीसरी तारीख को मुझे हिसाब पढ़कर सुनाना होता। तब वह खुद न पढ़ पाते थे। पिछले महीने और पिछले साल के साथ तुलना करके आय-व्यय का सारा विवरण उनके सामने रखना पड़ता। पहले तो वह मोटी-मोटी रकमें सुन लेते और मन-ही-मन उसको जोड़-घटा लेते। किसी रोज अगर उन्हें मन-ही-मन हिसाब में कुछ असंगति मालूम होती तो छोटी-छोटी रकमें सुनानी पड़तीं। किसी-किसी दिन ऐसा भी हुआ है कि हिसाब मे जहाँ कहीं कोई कमज़ोरी रहती वहाँ मैं उनकी नाराज़गी बचाने के लिए उसको दबा गया हूँ, लेकिन कभी वह दबा नहीं रह सका। हिसाब का मोटा नक्शा वह अपने मन की पटिया पर आँक लेते। जहाँ कहीं कोई दरार पड़ती वहीं वह उसे पकड़ लेते। इसीलिए महीने के वह दो दिन विशेष चिन्ता के दिन होते। मैं पहले ही कह आया हूँ कि मन में सब चीज़ों को स्पष्ट करके देख लेना उनका स्वभाव था—वह चाहे हिसाब की रकम हो या प्राकृतिक दृश्य हो या अनुष्ठान का आयोजन हो। शांतिनिकेतन का नया मंदिर आदि बहुत-सी चीजें उन्होंने अपनी आँखों से न देखी थीं। लेकिन जो कोई शांतिनिकेतन देखकर उनके पास गया, उनमे से एक-एक के मुँह से विवरण सुनकर उन्होंने उन अप्रत्यक्ष वस्तुओं को मन में पूरी तरह आँके बिना छोड़ा नहीं। उनकी स्मरण-शक्ति और धारणा-शक्ति असाधारण थी। इसलिए जो कुछ एक बार मन में ग्रहण कर लेते उससे कभी किसी हालत में उनका मन इधर-उधर न होता।

भगवत् गीता में पिताजी को पसन्द आनेवाले श्लोक चिह्नित थे। उन्हीं सबको बाङ्ला अनुवाद समेत कापी करने के लिए मुझको दिया था। घर पर मैं नगण्य बालक था, यहाँ मेरे ऊपर इन सब बड़े-बड़े कामों का भार रखा गया, इसका गौरव मैं खूब बढ़ा-चढ़ाकर अनुभव करने लगा।

इस बीच उस छिन्न-विच्छिन्न नीली बही को विदा करके मैंने एक जिल्द-बँधी हुई लेट्स डायरी पा ली थी।अब तक काफी काग़ज़ और बाह्य उपकरणों द्वारा कवित्व की इज़्ज़त बनाये रखने की ओर मेरी दृष्टि जा चुकी थी। सिर्फ़ कविता लिखना नहीं, अपनी कल्पना के सम्मुख अपने

को कवि के रूप में खड़े करने की चेष्टा जन्म ले चुकी थी। इसीलिए बोलपुर में जब कविता लिखता तो बगीचे के एक कोने में एक छोटे-से नारियल के पेड़ के नीचे मिट्टी पर पाँव फैलाकर बैठे हुए कापी भरना मुझको बहुत अच्छा लगता। ऐसा अनुभव होता कि हाँ, यह ठीक कवियों-जैसी बात है। तृणहीन, कंकड़-पत्थर की सेज पर बैठकर धूप की गर्मी में 'पृथ्वीराज की पराजय' नामक एक वीर-रसात्मक काव्य मैंने लिखा था। उसका प्रचुर वीर-रस भी उक्त काव्य को विनाश के हाथों से बचा नहीं सका। उसका उपयुक्त वाहन वह जिल्द बँधी हुई लेट्स डायरी भी अपनी बड़ी बहन उस नीली बही के पीछे-पीछे कहाँ चली गयी उसका पता-ठिकाना किसी को नहीं मालूम।

बोलपुर से निकलकर साहेबगंज, दानापुर, इलाहाबाद, कानपुर आदि स्थानों में रुकते-रुकाते हम लोग अमृतसर पहुँचे।

रास्ते में एक घटना घटी थी जो आज भी मुझे अच्छी तरह याद रह गयी है। किसी एक बड़े स्टेशन पर गाड़ी रुकी। टिकट-चैकर ने आकर हमारे टिकट देखे। एक बार मेरे चेहरे की ओर ताका। कुछ संदेह उसके मन में हुआ लेकिन बोलने का साहस न कर सका। थोड़ी देर बाद और एक आदमी आया— दोनों हमारे डब्बे के दरवाज़े के सामने आपस में कुछ खुस-फुस करके चले गये। तीसरी बार शायद खुद स्टेशन-मास्टर आया। मेरे हाफ़ टिकट की जाँच करके उसने पिता से पूछा, 'इस लड़के की उम्र क्या बारह साल से ज्यादा नहीं है?' पिता ने कहा, 'नहीं।' तब मेरी उम्र ग्यारह साल थी। उम्र को देखते हुए मेरी बाढ़ निश्चय ही कुछ ज्यादा थी। स्टेशन-मास्टर ने कहा, 'इसके लिए पूरा किराया देना होगा।' मेरे पिता की दोनों आँखें जलने लगीं। उन्होंने बक्से में से उसी दम नोट निकालकर उसे दे दिये। किराये के रुपये काटकर जब वह बाक़ी रुपये लौटाने के लिए आया तो उन्होंने वह रुपये लेकर फेंक दिये और रुपये प्लेटफ़ार्म के पत्थर के फ़र्श पर जा पड़े और झन-झन करके बज उठे। स्टेशन-मास्टर बहुत लज्जित होकर चला गया—रुपया बचाने के लिए झूठ बात बोलेंगे इस संदेह की क्षुद्रता ने उसका सिर नीचा कर दिया।

अमृतसर का गुरु-दरबार मुझे सपने की तरह याद आता है। मैं कई रोज सवेरे-सवेरे पिताजी के साथ पैदल तालाब के बीच बने हुए उस सिख-मंदिर में गया। वहाँ बराबर भजन चलता रहता। मेरे पिता उन सिख उपासकों के बीच बैठकर कभी-कभी सहसा सुर-में-सुर मिलाकर उनके भजन में योग देते—अन्य भाषा-भाषी के मुँह से अपना यह वंदना-गान सुनकर वे लोग अत्यंत उत्साहित होकर उनका सम्मान करते। लौटते समय पिताजी मिश्री के टुकड़े और हलुआ ले आते।

एक बार पिताजी ने गुरु दरबार के एक गवैये को घर लाकर उससे भजन सुने थे। मैं समझता हूँ कि उसको जो पुरस्कार दिया गया था उससे कम पाकर भी वह खुश ही होता। इसका नतीजा यह हुआ कि हमारे घर पर गाना सुनाने वाले उम्मीदवार इतने ज़्यादा आने लगे कि उनका रास्ता रोकने के लिए कड़े बन्दोबस्त की ज़रूरत पड़ी। घर में आने की सुविधा न पाकर उन्होंने सरकारी रास्ते पर आकर आक्रमण शुरू किया। हर रोज़ सवेरे पिता मुझको साथ लेकर घूमने के लिए निकलते। इसी समय क्षण-क्षण पर सहसा हमारे सामने तानपूरा कंधे पर रखे हुए गवैये

आ खड़े होते। जो पक्षी शिकारी से अपरिचित नहीं है जिस तरह वह किसी के कंधें पर बंदूक़ की नली देखकर चौंक उठता है, रास्ते पर दूर कहीं किसी कोने में तानपुरे के तूंबे को देखकर हमारी भी वही हालत होती। लेकिन शिकार इतना सयाना हो गया था कि उनके तानपूरे की आवाज़ बिलकुल उल्टा काम करती— वह हमें और भी दूर भगा देती, शिकारी हमारे ऊपर अपना जाल न फेंक पाता।

साँझ होने लगती तो पिता बगीचे के सामने बरामदे में आकर बैठ जाते। तब उन्हें ब्रह्म-संगीत सुनाने के लिए मेरी पुकार होती। चाँद ऊपर उठ रहा है, पेड़ों की छाया में से चाँदनी आकर बरामदे में गिर रही है—मैं विहाग में गाना गा रहा हूँ—

तुमि बिना के प्रभु संकट निवारे
के सहाय भव-अंधकारे—

वह निस्तब्ध होकर, सिर झुकाये हुए, हाथ जोड़कर गोद में रखे बैठे सुनते रहते—शाम की वह तस्वीर आज भी मुझे याद आ रही है।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मेरी लिखी हुई दो पारमार्थिक कविताएँ श्रीकंठ बाबू से सुनकर पिताजी हँसे थे। उसके बाद बड़े होने पर फिर एक रोज़ मैं उसका बदला लेने में समर्थ हुआ। उस बात का यहाँ उल्लेख करने को मेरा जी चाह रहा है।

एक बार माघोत्सव में सवेरे और शाम मैंने बहुत-से गाने तैयार किये थे। उनमें एक गाना था— 'नयन तोमारे पाय न देखिते, रयेछ नयने नयने।'

पिताजी उस समय चिन्सुरा में थे। वहाँ पर मुझे और ज्योति दादा को बुला भेजा गया। हारमोनियम पर ज्योति दादा को बैठाकर उन्होंने मुझसे नये गीत एक के बाद एक गाने के लिए कहा। कोई-कोई गीत मुझे दो बार भी गाना पड़ा।

गाना खत्म होने पर उन्होंने कहा, 'देश का राजा अगर देश की भाषा जानता और साहित्य का आदर करने की उसे समझ होती तो कवि को उसने पुरस्कार दिया होता। राजा की ओर से जब इसकी कोई संभावना नहीं है तब मुझी को यह काम करना पड़ेगा।' यह कहकर उन्होंने पाँच सौ रुपये का एक चेक मेरे हाथ में दिया।

पिताजी मुझको अंग्रेजी पढ़ाने के खयाल से Peer Panly's Tales जैसी कई कताबें अपने साथ ले गये थे। मुझे पढ़ाने के लिए उनमें से बेंजामिन फ्रैंकलिन का जीवन-वृत्तांत उन्होंने चुन लिया। उन्होंने सोचा था, जीवनी बहुत-कुछ कहानी-जैसी लगेगी और उसको पढ़कर मेरा लाभ होगा। लेकिन जब पढ़ाने बैठे तो उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। बेंजामिन फ्रैंकलिन बहुत ही समझदार, सुबुद्ध आदमी था। उसकी हिसाबी-किताबी व्यावहारिक धर्म-नीति की संकीर्णता मेरे पिताजी को कष्ट पहुँचाती है। वे कहीं-कहीं पढ़ाते-पढ़ाते फ्रैंकलिन की घोरतर सांसारिक विज्ञता के दृष्टांतों और उपदेश-वाक्यों से बहुत खिन्न हो उठते और उनका प्रतिवाद किये बग़ैर उनसे न रहा जाता।

इसके पहले 'मुग्धबोध' कंठस्थ करने के अलावा संस्कृत पढ़ाई की और कोई चर्चा न हुई थी। पिताजी ने मुझको एकबारगी 'ऋजु पाठ' द्वितीय भाग पढ़ाना शुरू किया और उसके साथ-साथ उपक्रमणिका के शब्द-रूप कंठस्थ करने के लिए दिये। बाङ्ला हम लोगों को इस

तरह पढ़नी पड़ी थी कि उसी से हमारी संस्कृत शिक्षा का काम बहुत-कुछ आगे बढ़ गया था। एकदम शुरू से ही वह मुझे यथासाध्य संस्कृत में रचना करने के लिए उत्साहित करते। मैं जो कुछ पढ़ता उसी के शब्दों को उलट-पलटकर लम्बे-लम्बे समासों में बाँधकर जहाँ-तहाँ अपनी इच्छा से अनुस्वार लगाकर देव-भाषा को दानवों के योग्य बना देता। लेकिन पिताजी ने एक दिन भी मेरे इस अद्‌भुत दुस्साहस का उपहास नहीं किया।

इसके अलावा वह सरल अंग्रेज़ी में लिखे हुए प्राक्टर के ज्योतिष ग्रन्थ से अनेक विषय मौखिक रूप से ही मुझे समझा देते, मैं उन्हें बंगला में लिखता।

अपने पढ़ने के लिए उन्होंने जो किताबें साथ ली थीं उनमें एक ऐसी थी जो मेरी आँख में बहुत गड़ती। दस-बारह खण्डों में जिल्द बाँधा हुआ बृहदाकार गिबन का रोम। उसको देखकर ऐसा न लगता था कि उसमें कुछ रस भी है। मैं मन-ही-मन सोचता, मुझे तो दबाव में पड़कर बहुत-सी चीजें पढ़नी पड़ती हैं क्योंकि मैं लड़का हूँ, बचने का उपाय नहीं है—लेकिन ये तो न पढ़ना चाहें तो न पढ़ें तब क्यों यह कष्ट उठाते हैं।

अमृतसर में हम लोग प्रायः महीने भर रहे। वहाँ से चैत्र महीने के अंत में डलहौजी पहाड़ की यात्रा की गयी। अमृतसर में समय अब नहीं कट रहा था। हिमालय का आह्वान हमको अस्थिर कर रहा था।

जब हम लोग डाँड़ी में बैठकर पहाड़ पर चढ़ रहे थे उस समय पहाड़ की घाटी और मैदान में तरह-तरह की चैती फसल की पंक्ति-पंक्ति और स्तर-स्तर में सौंदर्य दहक रहा था। हम लोग सवेरे ही दूध-रोटी खाकर बाहर निकल जाते और तीसरे पहर डाकबँगले को लौटते। सारे दिन हमारी इन दो आँखों के लिए आराम न था—मुझे यही डर लग रहा था कहीं ऐसा न हो कि कोई चीज़ छूट जाय। जहाँ पहाड़ के किसी कोने में, रास्ते के किसी मोड़ पर पल्लव-भाराच्छन्न-समुदाय घनी छाया किये खड़ा है और ध्यानमग्न वृद्ध तपस्वियों की गोद के पास लीलामयी मुनि-कन्याओं के समान दो-एक झरनों की धारा उस छायातल से होकर, काई से ढके हुए काले पत्थरों के शरीर को धोती हुई, घने ठंडे अंधकार के निभृत नेपथ्य से कल-कल करती हुई झर रही है, वहीं डाँडी वाले डाँडी उतारकर आराम करते। मैं लुब्ध भाव से मन-ही-मन सोचता, इन सब जगहों को छोड़कर हमें जाना क्यों पड़ रहा है ! यहीं रुक जाते तो क्या था !

नये परिचय की यही एक बड़ी सुविधा है। मन तब तक यह नहीं जान पाता कि ऐसी चीज़ें और भी बहुत-सी हैं। यह जान पाते ही हिसाबी मन तन्मयता के खर्च में कटौती करने की चेष्टा करता है। जब मन हर चीज़ को नितांत दुर्लभ मानकर ग्रहण करता है तभी वह अपनी कंजूसी को अलग करके पूरा मूल्य देता है। इसीलिए मैं हर रोज़ कलकत्ता के रास्तों से गुज़रते हुए कल्पना किया करता हूँ कि मैं विदेशी हूँ। तभी समझ पाता हूँ कि देखने की चीज़ें बहुत-सी हैं, जिन्हें मैं देख नहीं पाता तो केवल इसलिए कि मन उनका मूल्य चुकाने के लिए तैयार नहीं है। इसी कारण देखने की भूख मिटाने के लिए लोग विदेश जाते हैं।

पिताजी ने अपने कैश-बाक्स को रखने की ज़िम्मेदारी मुझे दे दी थी। इसके लिए मैं ही योग्यतम व्यक्ति हूँ, ऐसा मानने के लिए कोई कारण न था। रास्ते के खर्च के लिए उसमें बहुत रुपये रहते। किशोरी चाचाजी के हाथ में देकर वे निश्चिन्त रह सकते थे लेकिन मेरे ऊपर ज़िम्मेदारी

डालना ही उसका उद्देश्य था। डाकबँगले पर पहुँचकर एक दिन मैंने वह बक्सा उनके हाथ में न देकर कमरे की मेज पर रख दिया था, इसके लिए उन्होंने मुझको डाँटा था।

डाकबँगले पर पहुँचकर पिताजी बाहर चौकी पर बैठते। साँझ झुक आने पर पहाड़ के स्वच्छ आकाश मे तारे अद्भुत स्पष्ट दिखायी पड़ते और पिताजी उन ग्रह-नक्षत्रों को मुझे पहचनवाकर उनके संबंध मे मुझे बतलाते।

बकरोटा में हमारा घर एक पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर था। वह बैसाख का महीना था, लेकिन ठंड बहुत ज्यादा थी; इतनी कि रास्ते के जिस हिस्से में धूप न पड़ती थी वहाँ तब तक बर्फ़ जमी होती थी।

यहाँ भी किसी विपत्ति की आशंका से पिताजी ने किसी दिन मुझे अपनी इच्छानुसार पहाड़ में घूमने-फिरने से नहीं रोका।

हमारे घर के नीचे एक मैदान में लम्बा-चौड़ा कैल का जंगल था। उसी जंगल में मैं अकेला अपनी लोहे के मूठ वाली लाठी लेकर प्रायः घूमने जाता। वनस्पति विराट् दैत्यों के समान अपनी लम्बी-चौड़ी छाया लिये खड़े हैं। उनका इतने सौ वर्षों का प्रशस्त प्राण है, लेकिन एक अभी कल का अति क्षुद्र मानव-शिशु निस्संकोच उनके शरीर को रगड़ता हुआ घूमता फिर रहा है और वह लोग एक बात भी नहीं कह सकते। वन की छाया के बीच प्रवेश करने-मात्र से मानो उनका एक विशेष स्पर्श मुझे मिलता। जैसे साँप के शरीर की-सी एक घनी शीतलता हो और जंगल की ज़मीन पर फैले हुए सूखे पत्तों के ऊपर छाया और आलोक का खेल ऐसा लग रहा था कि जैसे किसी दैत्याकार आदिम सरीसृप के शरीर की विचित्र रेखावली हो।

मेरे सोने का कमरा एक किनारे था। रात में बिस्तर पर लेटकर काँच की खिड़की के भीतर से तारों की धुँधली रोशनी में पर्वत-शिखरों की पीताभ तुषार-दीप्ति देखने को मिलती। किसी-किसी रोज़ मालूम नहीं कितनी रात गये मैं देखता कि पिताजी शरीर पर एक लाल शाल डाले हाथ में एक मोमबत्ती लिये चुपचाप घूम रहे हैं। काँच से घिरे हुए बाहर के बरामदे में बैठकर उपासना करने जा रहे हैं।

फिर और एक नींद के बाद मै यकायक देखता कि पिताजी मुझको ठेलकर जगा रहे हैं। रात का अँधेरा अब भी पूरी तरह दूर नहीं हुआ है। उपक्रमणिका में से 'नरः नरौ नराः' कंठस्थ करने के लिए मेरा यही समय निर्दिष्ट था। सर्दी के समय कम्बलों की सुखद गर्मी में से इस प्रकार उठाकर बाहर कर दिया जाना बड़ा कष्ट पहुँचाता।

सूर्योदय के समय जब पिताजी अपनी सवेरे की उपासना के अंत में एक कटोरा दूध पी चुकते तो मुझे अपने पास खड़ा करके उपनिषदों के मंत्र-पाठ द्वारा और एक बार उपासना करते।

इसके बाद मुझे लेकर बाहर घूमने निकल जाते। उनके संग मैं क्या घूम पाता, अनेक वयस्क लोगों के भी बस की बात यह न थी। मैं रास्ते के बीच में ही उनका साथ छोड़कर कोई बटिया पकड़कर अपने घर पहुँच जाता।

पिताजी के लौटने पर करीब घंटे भर तक अंग्रेज़ी की पढ़ाई चलती; उसके बाद दस बजे बर्फीले ठंडे पानी से स्नान। इससे किसी तरह छुट्टी न मिल सकती थी, किसी नौकर की हिम्मत न थी कि उनके आदेश के विरुद्ध घड़े में गरम पानी मिला दे। मुझे उत्साहित करने के लिए वह

बतलाते कि अपने यौवन-काल में वह भी कैसे दुःसह ठंडे पानी से नहाया करते थे।

दूध पीना मेरे लिए एक और तपस्या थी। मेरे पिता ढेर सारा दूध पीते थे। मैं इस पैतृक दुग्धपान-क्षमता का अधिकारी हो पाता कि नहीं, कहना कठिन है। लेकिन मैं पहले ही बतला चुका हूँ किन कारणों से मेरा खान-पान का अभ्यास बिलकुल उल्टी दिशा में चला था। उनके साथ मुझे बराबर दूध पीना पड़ता। मैंने नौकरों की शरण ली। वह लोग मेरे प्रति दया करके या अपने प्रति ममतावश कटोरे में दूध की अपेक्षा फेन की मात्रा बढ़ा देते।

दोपहर को खाने के बाद पिताजी एक बार फिर मुझे पढ़ाने के लिए बैठते; लेकिन वह मेरे लिए असाध्य होता। भोर बेला की टूटी हुई नींद अपने अकाल व्याघात का बदला लेती। मैं नींद के मारे बार-बार ढुलक-ढुलक जाता। मेरी हालत समझकर पिताजी मुझे छुट्टी दे देते और उनके छुट्टी देते ही नींद न जाने कहाँ भाग जाती। फिर मैं होता और देवातात्मा नगाधिराज हिमालय।

मैं रोज ही दोपहर को लाठी हाथ में लेकर अकेले एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर चला जाता, पिताजी कभी इसके बारे में कोई चिन्ता या उद्वेग व्यक्त न करते। उनके जीवन के अंतिम दिनों तक मैंने यही देखा है कि वह किसी तरह हम लोगों की स्वतंत्रता में बाधक नहीं होना चाहते थे। उनकी रुचि और मत के विरुद्ध मैंने बहुत-से काम किये हैं—वह चाहते तो डाँटकर उनका निवारण कर सकते थे, लेकिन कभी उन्होंने ऐसा किया नहीं। जो कर्तव्य है वह हम अपनी इच्छा से करेंगे, इसके लिए वह इंतजार करते। सत्य को और सुन्दर को हम बाहर से ग्रहण करें, इससे उनके मन को तृप्ति न मिलती। वे जानते थे कि जब तक सत्य से प्यार नहीं किया जाएगा तब तक उसे ग्रहण ही नहीं किया जा सकता। वे यह भी जानते थे कि एक बार सत्य से दूर चले जाने पर भी किसी दिन सत्य के पास लौटा जा सकता है; लेकिन कृत्रिम शासन में सत्य को निरुपाय होकर अथवा अंधे ढंग से मान लेने पर सत्य के पास लौटने का रास्ता बंद हो जाता है।

अपने यौवनारम्भ में एक बार मैंने सोचा था कि मैं बैलगाड़ी से ग्राण्ड ट्रंक रोड पकड़कर पेशावर तक जाऊँगा। मेरे इस प्रस्ताव का किसी ने अनुमोदन नहीं किया और इसमें आपत्ति की बातें अनेक थीं। लेकिन अपने पिताजी से मैंने जैसे ही यह बात कही उन्होंने जवाब दिया, 'यह तो बड़ी अच्छी बात है। रेलगाड़ी से घूमना भी कोई घूमना है।' यह कहकर वह मुझे बतलाने लगे कि उन्होंने किस-किस तरह पैदल और घोड़ागाड़ी आदि सवारियों से भ्रमण किया है। इसमें मुझ पर कोई कष्ट या विपत्ति पड़ सकती है, इसकी चर्चा भो उन्होंने नहीं की।

और एक बार जब मैं आदि समाज के सेक्रेटरी पद पर अभी हाल ही में नियुक्त हुआ था, मैंने पार्क स्ट्रीट वाले मकान मे जाकर पिताजी को बतलाया था कि 'आदि ब्राह्म समाज की वेदी पर ब्राह्मण को छोड़कर अन्य किसी वर्ण के आचार्य नहीं बैठते, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। उन्होंने फ़ौरन मुझसे कहा, 'ठीक तो कहते हो। अगर तुमसे हो सके तो ज़रूर इसका प्रतिकार करना।' उनका आदेश मिल जाने पर मैने देखा कि प्रतिकार करने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैं केवल अपूर्णता देख पाता हूँ मगर पूर्णता की सृष्टि नहीं कर सकता। आदमी कहाँ हैं। ठीक आदमियों को बुला सकूँ, ऐसा ज़ोर कहाँ है। तोड़कर उसकी जगह कुछ गढ़ूँ, इसका उपकरण कहाँ है। जब तक ठीक आदमी स्वयं आकर न जुटें तब तक एक बँधा-टिका नियम ही ठीक है,

ऐसा उनका विचार था। लेकिन क्षण-भर के लिए भी किसी विघ्न की बात उठाकर उन्होंने मुझे मना नहीं किया। जिस तरह वे पहाड़ों में मुझे अकेले घूमने देते थे, उसी तरह उन्होंने सत्य के पथ पर भी सदा मुझे अपना गंतव्य निर्णय करने की स्वाधीनता दी है। मैं भूल करूँगा इसका उन्हें कोई डर न था, कष्ट पाऊँगा इसकी उन्हें चिन्ता न थी। उन्होंने हमारे सामने जीवन का आदर्श रखा था; लेकिन शासन का डण्डा कभी नहीं उठाया।

पिताजी के साथ मैं बहुत बार घर के बारे में बातें करता। घर से किसी की चिट्ठी आते ही मैं उन्हें दिखलाता। निश्चय ही उन्हें मुझसे ऐसी बहुत-सी तस्वीरें मिलतीं, जो किसी दूसरे से मिलनी कठिन थीं।

बड़े दादा या मँझले दादा के पास से कोई चिट्ठी आने पर वे मुझे पढ़ने के लिए देते। उनको किस तरह चिट्ठी लिखनी होगी, इसकी शिक्षा इसी तरह मुझे मिली थी। बाहर के इन सब क़ायदे-कानूनों के बारे में शिक्षा देना वे विशेष आवश्यक समझते थे।

मुझे अच्छी तरह याद है, मँझले दादा की किसी चिट्ठी में था कि वे 'कर्म-क्षेत्र की गलफाँसी' के मारे एड़ी, रगड़-रगड़कर मर रहे हैं—उस जगह के कई वाक्य लेकर पिताजी ने मुझसे उनका अर्थ पूछा था। मैंने जिस तरह अर्थ किया था वह उनके मन के अनुकूल न था—उन्होंने दूसरा अर्थ किया। लेकिन मेरी ऐसी धृष्टता थी कि मैंने उस अर्थ को स्वीकार करना न चाहा। उसे लेकर बड़ी देर तक उनके साथ मेरी बहस चलती रही और कोई होता तो निश्चय ही उसने मुझे डाँटकर चुप कर दिया होता ; लेकिन उन्होंने धैर्य के साथ मेरे सब प्रतिवादों को सहते हुए मुझे समझाने की चेष्टा की थी।

मेरे साथ वह बहुत-सी हँसी-दिल्लगी की बातें करते। उनके मुँह से मैं तब रईसी-अमीरी की बहुत-सी कहानियाँ सुनता। ढाका के कपड़े की किनारी से उनका शरीर छिलता है इस कारण उन दिनों के शौक़ीन लोग किनारी फाड़कर फेंक देते थे तब कपड़ा पहनते थे—यह सब कहानियाँ उन्हीं के मुँह से मैंने सुनी हैं। ग्वाला दूध में पानी मिलाता है इस कारण दूध की देख-रेख के लिए नौकर नियुक्त हुआ, फिर उसके काम की देख-रेख के लिए दूसरा आदमी नियुक्त हुआ। इस तरह देख-रेख करनेवालों की संख्या जितनी ही बढ़ती गयी दूध उतना ही पनीला और कौए की आँख-जैसा स्वच्छ नीला होता गया—और जवाब तलब किये जाने पर ग्वाले ने बताया कि निगरानी करनेवाले अगर और बढ़ाये गये तो अगत्या दूध में घोंघे, झिनुक और चिंगड़ी मछली दिखाई देंगी। पहली बार उनके मुँह से यह कहानी सुनकर मुझे बहुत मज़ा आया था।

इस तरह कई महीने बीत जाने पर पिताजी ने अपने अनुचर किशोरी चाचा जी के साथ मुझको कलकत्ता भेज दिया।

अहमदाबाद में

भारती का दूसरा साल शुरू हुआ तो मँझले दादा ने प्रस्ताव किया कि वह मुझे विलायत ले जायँगे। पिताजी ने जब अपनी सम्मति दे दी तो अपने भाग्य-विधाता की इस एक और अयाचित कृपा पर मैं विस्मित हो उठा।

विलायत यात्रा के पहले मँझले दादा मुझे अहमदाबाद ले गये। वह जज थे। मेरी बड़ी भाभी और बच्चे तब इंग्लैंड में थे—इसलिए घर एक तरह से खाली था।

शाही बाग़ जज की कोठी थी। यह बादशाही ज़माने का महल है, बादशाह के लिए ही बना था। गर्मी के दिनों में क्षीण स्वच्छ साबरमती नदी इस महल की दीवार को छूती हुई अपनी बालू की शय्या के किनारे बह रही थी। उसी नदी के किनारे की ओर महल के सामने वाले हिस्से में एक बड़ी-सी खुली हुई छत थी। मँझले दादा कचहरी चले जाते। उस बड़े से मकान में मुझे छोड़कर और कोई न रहता। शब्द के नाम पर सिर्फ कबूतरों का मध्याह्न कूजन सुनाई पड़ता। तब मैं जैसे किसी अकारण कौतूहल से सूने कमरों में घूमता फिरता। एक बड़े कमरे की दीवार में लगी हुई आलमारियों में मँझले दादा की किताबें सज़ी हुई थीं। उनमें बड़े-बड़े अक्षरों में छपा हुआ बहुत-सी तस्वीरों वाला एक टेनिसन का काव्य-ग्रन्थ भी था। वह ग्रन्थ भी तब मेरे लिए इस राजमहल के समान ही नीरव था। मैं सिर्फ उसकी तस्वीरों में बार-बार चक्कर लगाता रहता। वाक्य एकदम न समझता होऊँ ऐसी बात न थी—लेकिन मेरे लिए वे वाक्य न होकर बहुत-कुछ कूजन के समान ही थे। लायब्रेरी में और भी एक किताब थी, वह था डाक्टर हेबर्लिन द्वारा संकलित श्रीरामपुर का छपा हुआ पुराना संस्कृत-काव्य-संग्रह। इन संस्कृत कविताओं को समझ पाना मेरे लिए असम्भव था। लेकिन वाक्यों की ध्वनि और छंदों की गति मुझको बहुत दिनों तक दोपहर के समय 'अमरु शतक' के मृदग की थाप-जैसे गम्भीर श्लोकों के चक्कर लगवाती रही। इस शाहीबाग के महल की सबसे ऊपर की मंज़िल में एक छोटे-से कमरे मे मैं रहता था। एक छत्ता-भर मधुमक्खियाँ ही मेरे इस कमरे की साझीदार थीं। रात को मैं उसी निर्जन कमरे में सोता—किसी-किसी दिन उस अँधेरे कमरे में दो-एक मधुमक्खियाँ छत्ते से निकलकर मेरे बिस्तर पर आ गिरतीं—जब मैं करवट बदलता तो उन्हें भी बहुत अच्छा न लगता और मेरे लिए भी उनका तीखापन काफी अप्रिय होता। शुक्ल पक्ष की गहरी रात में उसी नदी की ओर की बड़ी छत पर अकेले घूमते रहना भी मेरा एक मन का काम था। इसी छत पर रात के समय घूमते हुए मैंने स्वयं अपने दिये हुए सुर में अपने पहले गीतों की रचना की। उनमें 'बलि ओ आमार गोलापबाला' गीत आज भी मेरे काव्य-ग्रन्थ मे अपना स्थान रखता है।

मैं अंग्रेजी में बहुत ही कच्चा था इसलिए सारा दिन डिक्शनरी लेकर तरह-तरह की अंग्रेज़ी किताबें पढ़ना मैंने शुरू किया। बचपन से ही मेरा एक अभ्यास था, पूरी-पूरी बात न समझ पाने पर भी उससे मेरे पढ़ने में कोई बाधा न होती। थोड़ा-बहुत जो कुछ समझता उसी को लेकर अपने मन में कोई एक तस्वीर खड़ी करके मेरा काम अच्छा-खासा चल जाता। इस अभ्यास के भले-बुरे दोनों तरह के फल मैं आज तक भोग रहा हूँ।

विलायत में

इस तरह अहमदाबाद और बम्बई मे लगभग छः महीने बिताकर हमने विलायत की यात्रा की। मैंने अशुभ क्षण मे विलायत-यात्रा की चिट्ठियाँ पहले आत्मीय स्वजनों को और फिर भारती में भेजनी शुरू कर दी थीं। आज उन सबको ग़ायब कर देना मेरे वश की बात नहीं है।

इन चिट्ठियों में अधिकांशतः लड़कपन की बहादुरी दिखलाई देती है। अश्रद्धा व्यक्त करके, आघात करके, तर्क करके रचना की आतिशबाज़ी छोड़ने का यह एक प्रयास था। श्रद्धा करना, ग्रहण करना, प्रवेश-लाभ करना इसकी शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है और विनय द्वारा ही सबसे अधिक अधिकार फैलाया जा सकता है—यह बात कच्ची उम्र में मन समझना न चाहता था। अच्छा लगना, प्रशंसा करना, यह जैसे पराजय हो, दुर्बलता हो—इसलिए केवल खोंचा मारकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने की यह चेष्टा आज मेरे लिए हास्यकर हो सकती थी अगर उसके उद्धतपन और वक्रता मेरे लिए कष्ट का कारण न होती।

यह कहा जा सकता है कि बचपन से ही बाहर की पृथ्वी के साथ मेरा संबंध न था। ऐसी हालत में एकाएक सत्रह साल की उम्र में विलायत के जन-समुद्र में पड़ जाने पर एक बार अच्छी तरह डूबने और पानी पी जाने की आशंका थी। लेकिन मेरी मँझली भाभी उन दिनों बच्चों को लेकर ब्राइटन में रहती थीं—उनके आश्रय में पहुँचकर विदेश का पहला धक्का मेरे शरीर में नहीं लगा।

जाड़े का मौसम आ गया था। एक दिन रात को मैं आग के पास बैठकर गप-शप कर रहा था कि बच्चों ने आकर उत्तेजना के स्वर मे कहा, 'बरफ गिर रही है।' बाहर जाकर देखा—कड़ाके की सर्दी, आकाश मे धवल चाँदनी छिटकी हुई, पृथ्वी सफेद बर्फ से ढकी हुई। मैंने हमेशा से पृथ्वी का जो रूप देखा था वह रूप यह न था—यह तो जैसे एक सपना था या ऐसा ही कुछ—पास की सब चीज़ें जैसे बहुत दूर चली गयी थीं, कि जैसे शुभ्रकाय निश्चल तपस्वी गहरे ध्यान में डूबा हुआ हो। अकस्मात् घर से बाहर होते ही ऐसा अद्‌भुत विराट् सौन्दर्य मैंने और कभी नहीं देखा।

भाभी के यत्न और बच्चों के विचित्र उत्पात-उपद्रव के आनन्द में दिन अच्छी तरह कटने लगे। बच्चे मेरे अद्‌भुत अंग्रेज़ी उच्चारण को सुनकर खूब मुस्कराते। उनके और सब खेलों में मुझे कोई बाधा न थी, उनके इसी खेल में मैं पूरे मन से योग न दे पाता था। Warm शब्द में a का उच्चारण o की तरह है और Worm शब्द में o का उच्चारण a की तरह है—यह चीज़ किसी तरह सहज ज्ञान से जानने की नहीं है, यह मैं कैसे उन बच्चों को समझाता। अभागा मैं उनकी हँसी का निशाना बना जरूर, लेकिन सच तो यह है कि उसका असल निशाना बनना चाहिए अंग्रेजी उच्चारण-विधि को। इन दो छोटे बच्चों को बहलाने के लिए, उन्हें हँसाने के लिए मैं हर रोज तरह-तरह के उपाय ढूँढ़ निकालता। बच्चों को बहलाने की इस आविष्कार-बुद्धि की जरूरत उसके बाद भी अनेक बार पड़ी है—अब भी वह ज़रूरत मिटी नहीं है। लेकिन उस शक्ति का वैसा प्राचुर्य मैं अब अपने भीतर अनुभव नहीं करता। बच्चों को अपना हृदय दे देने का मौक़ा वहीं पहली बार मुझे अपने जीवन में मिला था। इसीलिए दान का आयोजन ऐसे विचित्र ढंग से पूर्ण होकर व्यक्त हुआ।

लेकिन मैंने समुद्र के इस पार के कमरे से निकलकर समुद्र के उस पार के कमरे में जा पहुँचने के लिए तो यात्रा की नहीं थी। बात थी कि पढ़ूँगा-लिखूँगा, बैरिस्टर बनकर अपने देश लौटूँगा। लिहाज़ा मैं ब्राइटन के एक पब्लिक स्कूल में भरती हो गया। विद्यालय के अध्यक्ष मेरे चेहरे की तरफ़ देखते ही बोल उठे, 'वाह-वाह, तुम्हारा सिर तो बहुत शानदार है।' (What a

Splendid Head You Heaue) यह छोटी-सी बात जो मेरे मन में रह गयी है उसका कारण यही है कि घर में मेरा घमंड तोड़ने के लिए जो लोग बराबर लगे रहते थे उन्होंने विशेष रूप से मुझे यह बात समझा दी थी कि मेरा मस्तक और चेहरा दुनिया के बहुत-से लोगों की तुलना में किसी तरह मध्यम श्रेणी में गिना जा सकता है। मैं आशा करता हूँ कि पाठक इसे मेरा गुण ही समझेंगे कि मैंने उनकी बात पर पूरी तरह विश्वास कर लिया था और मैं अपने संबंध में सृष्टिकर्ता की तरह-तरह की कृपणता का दुःख अनुभव करते,हुए मौन रहता था। इस तरह धीरे-धीरे उनके मत के साथ विलायत वालों के मत का पार्थक्य दो-एक बातों में देखकर बहुत बार मैंने गंभीर होकर सोचा है कि हो सकता है दोनों देशों के सोचने के ढंग और आदर्श बिलकुल भिन्न हों।

ब्राइटन के इस स्कूल की एक चीज़ देखकर मैं विस्मित हुआ था—छात्र लोग मेरे साथ ज़रा भी कठोर व्यवहार न करते थे। बहुत बार वह लोग मेरी जेब में संतरा, सेब वगैरह फल ठूँसकर भाग जाते। मैं विदेशी था, शायद इसीलिए मेरे प्रति उनका ऐसा आचरण था। मैं तो ऐसा ही समझता हूँ।

इस स्कूल में भी मेरी पढ़ाई ज़्यादा दिन नहीं चली— यह स्कूल का दोष न था। उन दिनों तारक पालित महाशय इंगलैण्ड में थे। उन्होंने समझ लिया कि इस तरह मेरा कुछ नहीं बनेगा। उन्होंने मँझले दादा से कहकर सबसे पहले मुझे लंदन ले जाकर एक घर में अकेला छोड़ दिया। वह घर रीजेण्ट पार्क के सामने ही था। उन दिनों बहुत तेज़ सर्दी पड़ रही थी। सामने के बाग़ के पेड़ों में एक भी पत्ता न था—बरफ से ढकी हुई आड़ी-तिरछी पतली डाले लिये हुए वह कतार-के-कतार पेड़ आकाश की ओर देखते हुए बस खड़े थे—उन्हें देखकर मेरी हड्डियाँ तक जैसे सर्दी से काँप जातीं। हाल के आये हुए प्रवासी से लिए सर्दी के दिनों में लंदन-जैसा निर्मम स्थान और कोई नहीं है। आस-पास कोई परिचित नहीं, रास्ता भी ठीक से पहचाना हुआ नहीं। अकेले घर में चुपचाप बैठकर बाहर की तरफ़ ताकते रहने के दिन एक बार फिर जीवन में लौट आये, लेकिन बाहर तब मनोरम न था, उसकी भौंहें चढ़ी हुई थीं, आसमान का रंग धुला-धुला-सा था, रोशनी मुर्दे की आँख की पुतली की तरह बुझी-बुझी-सी थी, दसों दिशाएँ जैसे हर ओर से तम को दबा रही हों, संसार में उदार आमंत्रण नहीं है। घर में असबाब नहीं के बराबर था। संयोग से न जाने क्यों एक हारमोनियम था। दिन जब जल्दी से ही अँधेरा हो जाता तो वही बाजा अकेले बैठा बजाता रहता। कभी-कभी भारतवर्ष के कुछ लोग मुझसे मिलने के लिए आते। उनसे मेरा परिचय बहुत थोड़ा ही था। लेकिन जब वह लोग विदा लेकर उठकर चले जाते तो मेरी इच्छा होती थी कि उनका कोट पकड़कर फिर उन्हें घर के भीतर खींच लूँ।

इस घर में रहते समय एक सज्जन मुझे लैटिन पढ़ाने के लिए आते थे। वह बहुत ही दुबले-पतले आदमी थे—शरीर पर का कपड़ा बहुत फटा-पुराना शीतकाल के नग्न पेड़ों की ही तरह, जैसे वह भी अपने को सर्दी के हाथ से बचा न पाते हों। उनकी उम्र कितनी थी मैं ठीक नहीं जानता; लेकिन यह तो उनको देखने से ही पता चल जाता था कि वह अपनी उम्र से ज़्यादा बूढ़े हो गये हैं। किसी-किसी रोज़ मुझको पढ़ाते समय उन्हें जैसे बात ही खोजे न मिलती और वह लज्जित हो उठते। उनके परिवार के सब लोग उन्हें पागल समझते थे। एक विचार उनके मन में अच्छी तरह बैठ गया था। वह कहते कि दुनिया के किसी-किसी युग में एक ही समय में

भिन्न-भिन्न देशों के मानव-समाज में एक ही भाव दिखाई देता है, निश्चय ही सभ्यता के स्तर-भेद के अनुसार उसका वायुमण्डल एक ही रहता है, यह नहीं कि आपस के मिलने-जुलने से एक ही भाव सब जगह फैल जाता है, जहाँ यह मिलना-जुलना नहीं होता वहाँ भी यह बात पायी जाती है। अपने इस मत को प्रमाणित करने के लिए वह तथ्य-संग्रह कर रहे थे और लिख रहे थे। इधर घर में अन्न नहीं, देह पर कपड़ा नहीं। उनकी लड़कियों को उनके विचार के प्रति तनिक भी श्रद्धा न थी और सम्भवतः वह इस पागलपन के लिए हमेशा उनको बुरा-भला कहती रहती थीं। किसी-किसी दिन उनके चेहरे को देखकर समझ में आता कि उन्हें कोई अच्छा प्रमाण मिला है और उनका लिखना बहुत काफ़ी आगे बढ़ा है। मैं उस दिन उसी विषय की बात उठाकर उनके उत्साह को और भी बढ़ाता। और फिर किसी-किसी दिन वह बहुत दुःखी होकर आते—कि जैसे जो भार उन्होंने ग्रहण किया है उसको अब और उठा नहीं पा रहे हैं। उस दिन पढ़ाई में पग-पग पर बाधा खड़ी होती, दोनों आँखें न जाने किस शून्य की ओर ताकती रहतीं, मन को किसी तरह वह प्रथम पाठ्य लैटिन व्याकरण की ओर खींचकर न ला पाते। इस भाव के बोझ से और लिखने की ज़िम्मेदारी से झुके हुए, उस भूख के मारे व्यक्ति को देखकर मुझे बहुत ही पीड़ा होती। मैं अच्छी तरह समझता था कि इनसे मुझे अपनी पढ़ाई में प्राय कोई सहायता न मिलेगी; लेकिन तो भी मेरा मन किसी तरह उन्हें विदा कर देने के लिए तैयार न होता। जितने दिन मैं उस घर में रहा वे दिन उसी तरह लैटिन पढ़ने का छल करते हुए कटे। विदा लेते समय जब उनका वेतन चुकाने लगा तो उन्होंने करुण स्वर में मुझसे कहा, 'मैंने तुम्हारा वक्त बरबाद करने के सिवा और क्या किया है, कोई काम तो मैंने किया नहीं, मैं वेतन तुमसे न ले सकूँगा।' मैंने बड़ी मुश्किल से उन्हें वेतन लेने पर राजी किया था। मेरे उन लैटिन-शिक्षक ने अपनी बात प्रमाण के साथ मेरे सामने नहीं रखी थी, लेकिन आज तक मैं उस बात का अविश्वास नहीं कर पाता। अब भी मेरा यही विश्वास है कि सब आदमियों के मन के साथ मन का एक अखण्ड गहरा सबंध रहता है, एक जगह पर उसकी जिस शक्ति की कोई क्रिया होती है दूसरी जगह भी वह रहस्यमय ढंग से फैले बिना नहीं रहती।

यहाँ से पालित महाशय मुझे बार्कर नाम के एक शिक्षक के घर पर ले गये। वे अपने घर पर ही छात्रों को परीक्षा के लिए तैयार करते थे। उनके घर पर उनकी नेक पत्नी को छोड़कर और कुछ न था, जो मन को आकर्षित करता। ऐसे शिक्षक को छात्र क्यों मिल जाते हैं यह तो मैं समझ सकता हूँ, इसीलिए कि उसमें बेचारे छात्रों की पसंद का सवाल नहीं पैदा होता—लेकिन ऐसे आदमी को पत्नी कैसे मिल जाती है, यह सोचकर मेरा मन व्यथित हो उठता है। बार्कर की पत्नी की सान्त्वना की सामग्री थी एक कुत्ता—लेकिन जब बार्कर की इच्छा अपनी पत्नी को दण्ड देने की होती तो वह उस कुत्ते को ही कष्ट देते। इस तरह इस कुत्ते को लेकर मिसेज बार्कर ने अपनी वेदना का क्षेत्र और भी विस्तृत कर लिया था।

ऐसी हालत में जब बड़ी भाभी ने डेवनशायर में टार्की नगर से मुझको बुला लिया तो मैं बड़ी खुशी से दौड़कर वहाँ पहुँचा। वहाँ पर पहाड़ में, समुद्र में, फूल बिछे मैदानों में, चीड़ के वनों की छाया में दो खिलन्दड़ शिशु-संगियों के साथ मेरे दिन कितने मजे से कटे, यह मैं कैसे बतलाऊँ। दोनों आँखें जब मुग्ध हों, मन में आनंद हिलोरें ले रहा हो और अवकाश से भरे हुए

पूरे-पूरे दिन निष्कंटक सुख का भार लिये हुए प्रतिदिन अनंत निस्तब्ध नीले आकाश के समुद्र में जाकर मिल जाते हों, तब भी मन में कविता लिखने की प्रेरणा क्यों नहीं आती, यह बात सोच-सोच कर रोज मेरे मन को ठेस लगती थी। इसीलिए एक रोज हाथ में कापी लेकर, सिर पर छाता लगाकर नीले सागर में उठते हुए ज्वार के समय मैं कवि का कर्तव्य पूरा करने को पहुँचा। जगह मैंने अच्छी चुनी थी—क्योंकि वह न तो छन्द थी, न भाव। एक ऊँची चट्टान, चिर आतुर, समुद्र की ओर शून्य में झुकी हुई थी—सामने की फेन-रेखांकित तरल नीलिमा के झूले पर दिन का आकाश झूलता हुआ, तरंगों के मधुर गान में मुस्कराता हुआ, सो रहा था—पीछे चीड़ों की पाँतों की सुगंधित छाया वन-लक्ष्मी के आलस्य-स्खलित आँचल के समान बिखरी हुई थी। उसी चट्टान पर बैठकर मैंने 'भग्नतरी' नाम की एक कविता लिखी थी। समुद्र के पानी ने अगर वहीं आकर उसे डुबो दिया होता तो संभव है कि आज मैं बैठे-बैठे सोच सकता कि चलो, अच्छा ही हुआ। लेकिन वह रास्ता बंद हो गया है। दुर्भाग्य से आज भी वह सशरीर गवाही देने के लिए मौजूद है। ग्रंथावली से वह निर्वासित है, लेकिन जासूसी करने पर उसको खोज निकालना बहुत कठिन न होगा।

लेकिन कर्त्तव्य का प्यादा निश्चिन्त होकर नहीं बैठा। दुबारा पुकार हुई—और मैं फिर लंदन लौट गया। इस बार डॉक्टर स्काट नामक एक भद्र गृहस्थ के घर में मुझे आश्रय मिला। एक रोज़ शाम के वक्त अपना बोरिया-बदना लेकर मैं उनके घर में दाखिल हुआ। घर में केवल डॉक्टर हैं, जिनके बाल पक गये हैं। उनकी गृहिणी हैं और उनकी बड़ी लड़की। दो छोटी लड़कियाँ भारतवर्षीय अतिथि के आगमन की आशंका से घबराकर किसी संबंधी के घर भाग गयी हैं। शायद उनको जब खबर मिली कि मेरी ओर से किसी सांघातिक विपत्ति की जल्दी कोई आशंका नहीं है तो वे दोनों फिर लौट आयीं।

थोड़े ही दिनों में मैं इनके घर का-सा आदमी हो गया। मिसेज स्काट मुझे अपने लड़के-जैसा चाहतीं। उनकी लड़कियाँ जिस तरह दिल लगाकर मेरी देख-भाल करतीं वह किसी गहरे दोस्त के यहाँ भी मुश्किल था।

इस परिवार में रहते हुए मैंने एक बात समझी—मनुष्य की प्रकृति सब जगह एक-सी ही होती है। हम लोग बराबर कहते रहते हैं, और मैं भी ऐसा ही समझता था कि हमारे देश में पति-भक्ति की अपनी एक विशेषता है जो यूरोप मे नहीं है। लेकिन मैं तो अपने देश की साध्वी गृहिणियों की तुलना मिसेज स्काट से करने पर दोनों मे कोई खास अंतर नहीं पाता। उनका मन पति की सेवा मे पूरी तरह रमा हुआ था। मध्यवित्त गृहस्थ का घर, नौकर-चाकर भी नहीं थे, लगभग सब काम अपने हाथ से ही करना होता—इसीलिए पति का एक-एक छोटे-से-छोटा काम भी मिसेज स्काट अपने हाथ से करतीं। शाम के वक्त पति काम करके घर लौटेंगे, उसके पहले ही वह पति की आरामकुर्सी आग के पास रख देतीं और वहीं उनके रोयेंदार जूते खुद अपने हाथ से जमा देतीं। डाक्टर स्काट को क्या अच्छा लगता है और क्या नहीं लगता, कौन व्यवहार उन्हें प्रिय है या अप्रिय, यह चीज़ उनकी पत्नी एक क्षण के लिए भी न भूलतीं। सवेरे-सवेरे सिर्फ एक नौकरानी को लेकर ऊपर की मंज़िल से लेकर नीचे रसोई, सीढ़ी, यहाँ तक कि दरवाज़ों में लगे हुए पीतल के कुण्डों तक धो-माँजकर चमाचम कर देतीं। और फिर लोकाचार के अनेक

काम तो जैसे हैं ही। गृहस्थी के सब कामों को खत्म करके शाम के वक्त वह हम लोगों की पढ़ाई-लिखाई, गाने-बजाने में पूरी तरह हाथ बँटातीं, अवकाश के समय सबके दिल-बहलाव का इन्तजाम करना, यह भी तो गृहिणी के कर्त्तव्य का ही अंग है।

लड़कियों को लेकर किसी-किसी दिन शाम के वक्त मेज चलाई जाती। हम कुछ लोग मिलकर एक तिपाई को हाथ लगाये बैठे रहते और तिपाई सारे घर में पागल की तरह दौड़ती फिरती। धीरे-धीरे यह हाल हो गया कि हम लोग जिस चीज़ में हाथ लगाते वही हिलने लगती। मिसेज स्काट को यह चीज बहुत अच्छी भी न लगती थी। वह कभी-कभी बहुत गम्भीर होकर सिर हिलाकर कहतीं, 'मुझे लगता है, यह ठीक बात नहीं है।' लेकिन तो भी वह हम लोगों के इस खिलवाड़ को कभी रोकती नहीं, सह लेतीं इस अनाचार को। एक रोज डॉक्टर स्काट की लम्बी टोपी पर हाथ रखकर जब हम उसको चलाने लगे तो वह घबरायी हुई भागी आयीं और बोलीं 'नहीं-नहीं, वह टोपी तुम लोग नहीं चला सकते।' उनके पति की टोपी के साथ एक क्षण के लिए शैतान का सम्पर्क हो, यह वे न सह सकीं।

इन सब चीजों में जो एक बात मुझे साफ़ दिखाई देती थी वह थी अपने पति के प्रति उनकी भक्ति। अपने को विसर्जित कर देनेवाली उस मधुर नम्रता को याद करके मैं स्पष्ट रूप से यह समझ सका कि स्त्री के प्रेम की स्वाभाविक परिणति भक्ति होती है। जहाँ उनके प्रेम को अपने विकास में कोई बाधा नहीं होती, वहाँ वह अपने-आप भक्ति पर ही आकर रुकता है। जहाँ भोग-विलास के आयोजन बहुत होते हैं, जहाँ आमोद-प्रमोद ही दिन-रात घेरे रहते हैं, वहाँ यह प्रेम विकृत हो जाता है, वहाँ स्त्री की प्रकृति अपने पूर्ण आनन्द को नहीं प्राप्त होती।

कई महीने इस तरह कट गये। मँझले दादा के देश लौटने का समय आ गया। पिताजी ने लिख भेजा था, मुझको भी उन्हीं के संग लौटना होगा। इस प्रस्ताव से मैं खुश हो उठा। भीतर-ही-भीतर देश का आलोक, देश का आकाश मुझे पुकार रहा था। विदा लेते समय मिसेज स्काट ने मेरे दोनों हाथ पकड़कर रोते-रोते कहा, 'तुम्हें अगर इस तरह चले ही जाना था तो तुम इतने थोड़े दिनों को आये ही क्यों?' —लंदन का वह घर अब नहीं है—इस डाक्टर-परिवार का कौन परलोक और कौन इहलोक में कहाँ चला गया, इसकी कोई खबर मुझे नहीं; लेकिन वह घर मेरे मन में आज भी वैसे-का-वैसा प्रतिष्ठित है।

एक बार जाड़े के दिनों में टनब्रिजवेल्स शहर के रास्ते से गुजरते हुए मैंने एक आदमी को राह के किनारे खड़े देखा। उसके फटे जूतों के भीतर से पैर दिखाई पड़ रहा था, पैर में मोजा न था। भीख माँगना मना है इसलिए उसने मुझसे कुछ कहा नहीं, बस थोड़ी देर मेरे चेहरे की ओर ताकता रहा। मैंने उसको जो सिक्का दिया वह उसकी आशा से कहीं ज्यादा था। मैं कुछ दूर आगे बढ़ गया तो वह भागा हुआ आया और बोला, 'महाशय, आपने भूल से मुझे एक गिन्नी दे दी है।' कहकर वह सिक्का उसने मुझे लौटा देना चाहा। यह घटना शायद मुझे याद भी न रहती लेकिन ऐसी ही एक और भी घटना हुई थी। शायद टार्की स्टेशन पर जब मैं पहली बार पहुँचा तो कुली ने मेरा सामान ले जाकर बग्घी पर चढ़ा दिया। रुपयों की थैली खोलने पर मुझे पैनी-जैसी कोई चीज नहीं मिली, बस एक-आध क्राउन था—वही उसके हाथ में देकर मैंने गाड़ीवान को चलने के लिए कहा और गाड़ी चल पड़ी। थोड़ी देर बाद देखता हूँ कि वही कुली गाड़ी के

पीछे-पीछे भागा आ रहा है और आकर गाड़ीवान को गाड़ी रोकने के लिए कह रहा है। मैंने मन-ही-मन सोचा कि वह मुझे अनजान विदेशी समझकर कुछ माँगने आ रहा है। गाड़ी रुकने पर उसने मुझसे कहा, 'आपने शायद पैनी समझकर मुझको आधा क्राउन दे दिया है।'

जितने रोज़ मैं इंग्लैंड में रहा, किसी ने वहाँ मुझे धोखा नहीं दिया, यह मैं न कह सकूँगा—लेकिन वह याद रखने की चीज़ नहीं है। और उसको बड़ा करके देखना अन्याय होगा। मेरे मन में यह बात खूब अच्छी तरह बैठ गयी है कि जो आदमी अपना विश्वास नहीं खोता वही दूसरे का विश्वास करता है। हम बिलकुल विदेशी थे, अपरिचित थे, जब चाहे धोखा देकर भाग सकते थे—लेकिन तब भी वहाँ दूकानों में, बाज़ारों में किसी ने हम पर कोई संदेह नहीं किया।

जितने दिन मैं विलायत में रहा शुरू से लेकर आखिर तक एक प्रहसन मेरे प्रवास के साथ जुड़ा रहा। भारतवर्ष के एक ऊँचे अंग्रेज अफसर की विधवा-स्त्री के साथ मेरा परिचय हुआ था। वह प्यार से मुझे 'रूबी' कहकर बुलाती थीं। उनके पति की मृत्यु पर उनके एक भारतवर्षीय मित्र ने अंग्रेजी मे एक विलाप-गान की रचना की थी। उसके भाषा-नैपुण्य और कवित्व-शक्ति के सम्बन्ध मे अधिक कुछ मैं नहीं कहना चाहता। मेरे दुर्भाग्य मे उस कविता में ऐसा एक उल्लेख था कि वह विहाग रागिनी में गायी जायेगी। एक दिन उन्होंने मुझको पकड़ा, 'इस गाने को तुम विहाग मे गाकर मुझको सुनाओ।' मैंने बहुत भलमनसी में आकर उनके अनुरोध की रक्षा की थी। उस अद्भुत कविता के साथ विहाग सुर का मेल कितना हास्यास्पद था, इसे समझाने के लिए मुझे छोड़कर दूसरा कोई वहाँ न था। वह महिला हिन्दुस्तानी सुर मे अपने पति की शोक-गाथा सुनकर खूब खुश हुई। मैंने सोचा, चलो यहीं बात खत्म हुई—लेकिन खत्म नहीं हुई।

निमंत्रण-सभाओं में अक्सर ही मेरी भेट उस विधवा रमणी से होती। खाने के बाद जब सब निमंत्रित स्त्री-पुरुष जमा होते तो वे मुझसे वही विहाग गाने के लिए अनुरोध करतीं—और लोग सोचते, भारतीय संगीत का शायद एक अनूठा नमूना सुनने को मिलेगा। सब मिलकर बड़े विनयपूर्वक अनुरोध मे योग देते, महिला की जेब से वही छपा हुआ कागज बाहर आता—मेरे कान की लवें जलने लगतीं। मैं सिर झुकाये-झुकाये झेंपते हुए गले से गाना शुरू करता और स्पष्ट रूप से इस बात को समझ लेता कि इस शोक-गाथा का फल मुझे छोड़कर और किसी के लिए इतना शोचनीय नहीं। गाना खत्म होने पर दबी हुई हँसी के बीच मे सुनता, 'Thank you very much How interesting!' और तब उस जाड़े में भी मेरा शरीर पसीना-पसीना होने लगता। इस सज्जन की मृत्यु मेरे लिए इतनी बड़ी एक दुर्घटना बन जायेगी, यह मेरे जन्म के समय या उनकी मृत्यु के समय कौन सोच सकता था।

इसके बाद जब मैं डॉक्टर स्काट के घर मे रहकर लंदन यूनिवर्सिटी में पढ़ने लगा तो कुछ दिन के लिए उन महिला के साथ मेरा मिलना-जुलना बन्द हो गया था। लंदन से बाहर थोड़ी दूर पर उनका मकान था। उसी मकान मे आने के लिए वह अक्सर मुझे चिट्ठी भेज-भेजकर अनुरोध करतीं। मैं शोक-गाथा के डर से किसी तरह राजी न होता। आखिरकार एक दिन उनका अनुरोध से भरा हुआ एक तार मुझे मिला। तार जिस वक्त मिला, मैं कालेज जा रहा था। इधर,

कलकत्ता लौटने का समय भी पास आ गया था। मैंने सोचा, यहाँ से जाने के पहले उस विधवा के अनुरोध को पूरा करूँगा।

कालेज से मैं घर न जाकर सीधा स्टेशन गया। वह दिन बड़ा मनहूस था। खूब सर्दी थी, बर्फ़ गिर रही थी, कुहरे से आसमान ढका हुआ था। मुझे जिस स्टेशन जाना था, वही इस लाइन का अन्तिम स्टेशन था—लिहाज़ा मैं निश्चिन्त होकर बैठ गया। गाड़ी से कब उतरना होगा, यह पता लगाने की भी मैंने कोई जरूरत न समझी।

मैंने देखा, सारे स्टेशन दाहिनी तरफ़ पड़ रहे थे। लिहाजा मैं दाहिनी तरफ़ की खिड़की से सटकर गाड़ी के लैम्प की रोशनी में एक किताब पढ़ने लगा। थोड़ी ही देर में साँझ हो गयी और अँधेरा छाने लगा—बाहर कुछ भी दिखाई न पड़ता था। लदन से जो कुछ यात्री आये थे वे सब अपने-अपने स्टेशन पर एक-एक करके उतर गये।

गतव्य स्टेशन के ठीक पहले वाले स्टेशन को छोड़कर गाड़ी चली। एक बार किसी जगह गाड़ी रुकी। खिड़की से मुँह निकालकर मैंने देखा, चारों तरफ अँधेरा था। आदमी नहीं, रोशनी नहीं, प्लेटफार्म नहीं, कुछ भी नहीं। जो लोग भीतर रहते है वही असली बात नहीं जान पाते रेलगाड़ी क्यों अ-स्थान, अ-समय रुक जाती है, रेल की सवारियाँ कैसे जान सकती है। लिहाजा मैंने फिर पढ़ने मे मन लगाया। थोड़ी देर बाद गाड़ी पीछे हटने लगी—मन-ही-मन मैंने समझ लिया कि रेलगाड़ी के चरित्र को समझने की चेष्टा करना व्यर्थ है। लेकिन जब मैंने देखा कि मैं जिस स्टेशन को छोड़कर गया था उसी स्टेशन पर गाड़ी आकर रुक गयी है तो फिर मैं उदासीन न रह सका। स्टेशन के एक आदमी से मैंने पूछा, अमुक स्टेशन कब आयगा? उसने कहा वहीं से तो यह गाड़ी अभी-अभी चली आ रही है। घबराकर मैंने पूछा, कहाँ जा रही है? उसने कहा, लदन। मैं समझा, शटल गाड़ी है यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ, यही काम है इसका। अचकचाकर मैं वहीं उतर पड़ा। पूछा, उत्तर की गाड़ी कब मिलेगी? उसने कहा, आज रात नहीं। मैंने पूछा, आस-पास कहीं कोई सराय है? उसने कहा, पाँच मील के घेरे मे कोई भी नहीं।

सबेरे दस बजे खाना खाकर निकला था। इस बीच पानी भी नहीं छुआ, लेकिन जब वैराग्य छोड़कर दूसरा कोई रास्ता न हो तो निर्वृत्ति ही सबसे सीधी पड़ती है। मोटे ओवरकोट के बटन गले तक अच्छी तरह बन्द करके स्टेशन के लैम्पपोस्ट के नीचे बेंच पर बैठकर एक किताब पढ़ने लगा। वह किताब थी स्पेन्सर की Data of Ethics अभी हाल मे ही प्रकाशित हुई थी। जब कोई दूसरा चारा न था तब मैंने यही कहकर अपने मन को समझाया कि इस तरह की किताब मनोयोगपूर्वक पढ़ने के लिए ऐसा भरपूर अवकाश और कभी न मिलेगा।

थोड़ी देर बाद पोर्टर ने आकर कहा, आज एक स्पेशल है—आध घन्टे मे आ जायगी। यह सुनकर मन में ऐसी स्फूर्ति जगी कि फिर मैं Data of Ethics मे जी न लगा सका।

यहाँ सात बजे पहुँचने की बात थी वहाँ पहुँचते-पहुँचते साढ़े नौ बज गये। गृहस्वामिनी ने कहा, 'यह क्या रवी, क्या मामला है?' मैंने अपने अद्भुत भ्रमण का वृत्तान्त बहुत गर्वपूर्वक उन्हें सुनाया हो, ऐसी बात नहीं है।

तब तक वहाँ के निमन्त्रित लोग डिनर समाप्त कर चुके थे। मेरे मन मे धारणा थी कि जब मेरा अपराध स्वेच्छा से किया अपराध नहीं था तो उसके लिए मुझे गुरुतर दण्ड भी नहीं सहना

पड़ेगा—विशेषकर जब कि एक स्त्री कर्ता-धर्ता है। लेकिन हिन्दुस्तान में काम किये हुए बड़े अंग्रेज अफसर की विधवा स्त्री ने मुझसे कहा, 'आओ रुबी, एक प्याला चाय पियो।'

मैं कभी चाय नहीं पीता, लेकिन पेट की आग बुझाने में वह प्याली थोडी-बहुत सहायता कर सकती है। यह सोचकर मैंने दो-एक गोल बिस्कुटों के साथ वह कड़ी चाय ज्यों-त्यों निगल ली। बैठक में आकर मैंने देखा, बहुत-सी बूढ़ी औरतें जमा हैं। उनमें एक सुन्दरी युवती भी थी, वह अमेरिकन थी और इस समय गृहस्वामिनी के युवक भतीजे के साथ विवाह के पहले का उसका पूर्वराग चल रहा था। घर की गृहिणी ने कहा, 'चलो अब नाच शुरू किया जाय।' मेरा नाचना व्यर्थ था और शरीर और मन की अवस्था भी नृत्य के अनुकूल न थी। लेकिन दुनिया में जो बड़े भलेमानुस लोग होते हैं वे असम्भव को भी सम्भव कर दिखाते हैं। तभी तो उन्हीं युवक-युवती के लिए आयोजित इस नृत्य-सभा में मैंने दस घण्टे के उपवास के बाद दो टुकड़े बिस्कुट खाकर तीन काल-उत्तीर्ण प्राचीन रमणियों के साथ नृत्य किया।

लेकिन मेरे कष्टों का अन्त अब भी नहीं हुआ। निमन्त्रण-कर्त्री ने मुझसे पूछा, 'आज तुम रात कहाँ गुजारोगे?' इस सवाल के लिए मैं बिलकुल तैयार न था और जब ठगा-सा उनके मुँह की तरफ़ ताकता रह गया तो उन्होंने कहा, 'रात के दो पहर बीत जाने पर यहाँ की सराय बन्द हो जाती है, इसलिए और देर न करके इसी दम तुम्हें वहाँ चले जाना चाहिए।' सौजन्य का एकदम अभाव न था—सराय मुझको खुद नहीं खोजनी पड़ी। लालटेन लेकर एक नौकर ने मुझे सराय में पहुँचा दिया।

मैंने सोचा, कौन जाने शाप में वरदान छिपा हो—सम्भव है यहाँ खाने की व्यवस्था हो। मैंने पूछा, आमिष हो, निरामिष हो, बासी हो, कुछ भी खाने को मिलेगा क्या? उन्होंने कहा, पीने के लिए जितना चाहो मिल सकता है, खाना नहीं है। तब मैंने सोचा, निद्रादेवी का हृदय कोमल है, वह खाना भले न दे सके, विस्मृति अवश्य देगी। लेकिन उस रात उन्होंने भी अपनी गोद में, जो सारी दुनिया को समेटे हुए है, मुझे जगह न दी। बलुए पत्थर के फर्श वाले उस कमरे में सनसनाती सर्दी थी, एक पुरानी खाट और एक जरा-जीर्ण मुँह धोने की मेज—यही कमरे का कुल असबाब था।

सवेरे इंग-भारती विधवा ने नाश्ते के लिए मुझे बुला लिया। अंग्रेज़ी दस्तूर के हिसाब से जिसे ठंडा खाना कहते है उसी का आयोजन था। अर्थात् पिछली रात के भोज का बचा-खुचा आज ठंडा-ठंडा खाया गया। इसी का अगर थोड़ा-बहुत हिस्सा कल गर्म या कुनकुनी शक्ल मे मिलता तो दुनिया मे किसी का कोई बड़ा नुकसान न होता—और मेरा नृत्य वंशी मे फँसी हुई मछली के नृत्य-जैसा दयनीय न होता।

खाने के बाद निमन्त्रण-कर्त्री ने कहा, 'जिन्हे गाना सुनाने के लिए मैंने तुमको बुलवाया था वह बीमार हैं, बिस्तर पर पड़ी हैं, कमरे के बाहर खड़े होकर तुम्हे गाना होगा।' सीढ़ी पर मुझे खड़ा कर दिया गया। बन्द दरवाजे की तरफ उँगली से इशारा करते हुए गृहिणी ने कहा, 'उसी कमरे में हैं वह।' मै उसी अदृश्य रहस्य की ओर मुँह किये खडा-खड़ा शोक का गान विहाग रागिनी में गाने लगा। उसके बाद रोगिणी की क्या हालत हुई इसकी खबर मुझे न तो लोगों से मिली और न अखबारों से।

लंदन लौटकर दो-तीन दिन मैंने बिस्तर पर पड़े-पड़े अपनी निरकुश भलमनसी का

प्रायश्चित्त किया। डॉक्टर की लड़कियों ने कहा, 'तुम्हारी दुहाई है, हम तुम्हारे पैर पड़ती हैं, इस निमन्त्रण-काण्ड को हमारे देश के आतिथ्य का नमूना मत समझना। यह तुम्हारे हिन्दुस्तान के नमक का गुण है।'

प्रभात-संगीत

मैं गंगा के किनारे बैठकर सध्या-संगीत के अलावा कुछ-कुछ गद्य भी लिखता। पर वह भी कोई बँधा हुआ लिखना नही था—वह भी ऐसा ही था, जो मन चाहे लिखना। बच्चे जिस तरह खेल मे पतग उड़ाते हैं, यह भी कुछ-कुछ वैसा ही था। मन के राज्य मे जब बसंत आता है तब छोटी-छोटी अल्पायु वाली रंगीन भावनाएँ उड़ने लगती हैं, उनकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता। उन्ही को पकड़ रखने का ख्याल मुझे अवकाश के दिनों मे आया था। असल बात यह है कि उन दिनो मै इसी मनक की डगर पर चल पड़ा था—मन छाती फुलाकर कहता था, मेरी जो इच्छा होगी वही लिखूँगा——क्या लिखूँगा इसका खयाल नहीं था, लेकिन मैं ही लिखूँगा यही एक-मात्र प्रेरणा थी। ये छोटे-छोटे गद्य-लेख एक समय 'विविध प्रसंग' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे——प्रथम संस्करण के बाद ही उन्हे समाधि दे दी गयी, द्वितीय संस्करण के रूप मे नयी जिन्दगी का पट्टा उन्हे नहीं दिया गया।

मेरा खयाल है कि इन्ही दिनों मैंने 'बउ ठाकुरानीर हाट' के नाम से एक बड़ा उपन्यास लिखना शुरू किया था।

इस तरह कुछ समय गंगा के किनारे कट जाने के बाद ज्योति दादा ने कुछ दिनों के लिए चौरंगी मे अजायबघर के पास दस नम्बर सदर स्ट्रीट मे मकान लिया था। मैं उनके साथ था। यहाँ भी थोड़ा-थोड़ा करके 'ठाकुरानीर हाट' और वैसे ही थोड़ा-थोड़ा करके 'सध्या-संगीत' लिख रहा था। तभी एकाएक मुझमे न जाने कैसा उलट-पलट हो गया।

एक दिन तीसरे पहर के बाद मैं जोड़ासाँको वाले मकान की छत पर घूम रहा था। दिन ढलने की उदासी मे सूर्यास्त की आभा के जुड़ जाने से उस रोज की आसन्न सध्या मेरे लिए विशेष रूप से मनोहर हो उठी थी। मैं मन-ही-मन सोचने लगा, परिचित जगत् के ऊपर से यह जो तुच्छता का आवरण यक-ब-यक उठ गया यह क्या केवल साँझ के धुँधलके का जादू है? नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं स्पष्ट देख रहा था, इसका असल कारण यह है कि मुझमे ही साँझ आ गयी है—मुझको ही उसने ढक लिया है। दिन के प्रकाश मे मै ही जब बहुत उत्कट हो उठता था तब जो कुछ भी मै देखता-सुनता, उस सबको मै खुद समेट लेता ढक लेता। अब वहीं मैं दूर हट आया हूँ इसीलिए ससार को उसके स्वरूप मे देख रहा हूँ। वह स्वरूप कभी तुच्छ नही कहा जा सकता—वह आनदमय है, सुन्दर है। फिर मै बीच-बीच मे अपने-आपको स्वेच्छा से दूर हटाकर संसार को दर्शक के समान देखने की चेष्टा करता और तब मेरा मन खुश हो उठता। मुझे याद है मैंने एक दिन घर के किसी आत्मीय को समझाने की कोशिश की थी कि दुनिया को किस तरह से देखने पर उसे ठीक से देखा जा सकता है और उसके साथ-साथ खुद अपना बोझ भी हल्का हो सकता है—और मैं इसमे तनिक भी सफल हो सका था, यह भी जानता हूँ। इसी समय मुझे अपने जीवन का एक बोध मिला, जिसे मै आज तक नहीं भूल सका हूँ।

सदर स्ट्रीट का रास्ता जहाँ पर जाकर खत्म हो गया है वहाँ पर शायद फ्री स्कूल के बाग

के पेड़ दिखाई पड़ते थे। एक दिन सवेरे बरामदे में खड़ा होकर मैंने उसी ओर देखा। उस समय उन पेड़ों की पत्तियों के बीच से सूरज उड़ रहा था। देखते-देखते एक पल में मेरी आँखों से जैसे एक पर्दा-सा हट गया। मैंने देखा, विश्व-संसार एक अद्भुत महिमा से ढका हुआ है और सभी जगह आनन्द और सौन्दर्य हिलोरें ले रहा है। मेरे हृदय की परत-परत में एक जो विषाद का आवरण था उसे जैसे एक पल में चीरकर मेरा समस्त अन्तरतम एकबारगी विश्व के आलोक से भर उठा। उसी दिन 'निर्झरेर स्वप्रभंग' कविता निर्झर के समान ही फूटकर बह चली थी। लिखना समाप्त हो गया, लेकिन तो भी संसार के आनन्द रूप पर पर्दा नहीं पड़ा। तब यह हुआ कि मेरे लिए फिर कोई भी और कुछ भी अप्रिय नहीं रहा। उसी दिन या उसके अगले दिन एक घटना घटी जिससे स्वयं मुझे आश्चर्य हुआ। एक आदमी था, जो कभी-कभी मुझसे इस तरह के सवाल पूछा करता, 'अच्छा श्रीमान्, आपने क्या ईश्वर को कभी अपनी आँखों से देखा है?' मुझे मानना पड़ता कि नहीं देखा है—तब वह कहता, 'मैंने देखा है।' मैं अगर पूछता, 'देखकर कैसा लगा? तो वह जवाब देता, 'आँखों के सामने बिजबिजाते रहते हैं।' ऐसे आदमी के साथ दार्शनिक आलोचना में समय बिताना सदा प्रीतिकर नहीं हो सकता। विशेषतः उन दिनों मैं प्रायः लिखने की झोंक में रहता। लेकिन आदमी भला था इसलिए मैं रोक-टोक न पाता, सब-कुछ सह लेता।

इस बार दोपहर को जब यह आदमी आया तो मैंने बहुत आनन्दित होकर उससे कहा, 'आओ आओ।' वह कैसा अबोध और अद्भुत ढंग का आदमी था कि जैसे उसके बाहरी आवरण सब खुल गये हों। मैं जिसको देखकर खुश हुआ और जिसकी अभ्यर्थना मैंने की वह उसके भीतर का आदमी था—उससे मेरा विरोध नहीं है, आत्मीयता है। उसे देखकर जब मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ, मन में यह विचार नहीं आया कि मेरा समय नष्ट होगा तो मुझे बहुत खुशी हुई—मुझे लगा कि जैसे मेरा यह मिथ्या जाल कट गया है, इतने दिन मैंने इस प्रसंग में बार-बार अपने को जो कष्ट दिया वह बिलकुल असंगत और अनावश्यक था।

मैं बरामदे में खड़ा रहता, रास्ते में जो भी कुली-मजूर चलते-फिरते दिखाई पड़ते उनका चलना-फिरना, शरीर का गठन, चेहरा-मोहरा, सब-कुछ मुझे बहुत अद्भुत लगता, सभी जैसे संसार-सागर के ऊपर लहरों की तरह बहे चले जा रहे हैं। मैं बचपन से केवल आँख से देखने का अभ्यस्त था, आज जैसे मैंने एकाएक पूरी चेतना से देखना शुरू किया। मैं जब सड़क पर एक युवक को दूसरे युवक के कंधे पर हाथ रखकर हँसते-हँसते सहज भाव से जाते देखता तो मेरा मन उसे एक सामान्य घटना के रूप में ग्रहण न कर पाता—विश्व-जगत् की अछोर गहराई में जो अशेष रस का उत्स चारों ओर हँसी का झरना बिखेर रहा है मैं जैसे उसी को देख पाता।

कोई साधारण काम करते समय मनुष्य के अंग-प्रत्यंग में जो गति-वैचित्र्य दिखाई पड़ता है उस पर मैंने कभी इसके पहले ध्यान न दिया था—अब क्षण-क्षण पर समस्त मानव-देह की गति का संगीत मुझे मुग्ध कर लेता। इन सबको मैं अलग-अलग करके समग्र रूप में देखता। इसी क्षण पृथ्वी पर सर्वत्र अनेकानेक बस्तियों में अनेकानेक कार्य-प्रयोजनों में करोड़ों आदमी लगे हुए हैं, चल रहे हैं, फिर रहे हैं—इस संसार-व्यापी समग्र मानव के शरीर की चंचलता को व्यापक भाव से एक रूप में देखकर मुझे एक महान् सौन्दर्य-नृत्य का आभास मिलता। मित्र के साथ

मित्र हँस रहा है, बच्चे को लेकर माँ दुलरा रही है, एक गाय दूसरी गाय के पास खड़ी होकर उसका शरीर चाट रही है, इनमे जो एक अंतहीन अपरिमेयता है वही मेरे मन को विस्मय के आघात से जैसे पीड़ा पहुँचाने लगी। इस समय मैंने जो लिखा था—

हृदय आजि मोर केमने गेल खुलि,
जगत आसि सेथा करिछे कोलाकुलि—

यह कवि-कल्पना की अत्युक्ति न थी। वस्तुतः मैंने जो कुछ अनुभव किया था उसे व्यक्त करने की शक्ति मुझमे न थी।

कुछ समय तक मेरी ऐसी ही बेसुध आनन्द की अवस्था रही। इसी समय ज्योति दादा और दूसरों ने तय किया कि वे लोग दार्जिलिंग जायेंगे। मैंने सोचा, मेरे लिए भी यही अच्छा है—सदर स्ट्रीट मे शहर की भीड़-भाड़ मे मैंने जो कुछ देखा उसी को हिमालय के उदार शैल-शिखर पर और भी अच्छी तरह, और भी गहरे पैठकर देख सकूँगा। कम-से-कम इतना मैं जान सकूँगा कि इस दृष्टि से हिमालय अपने-आपको कैसे व्यक्त करता है।

लेकिन सदर स्ट्रीट के उस तुच्छ घर की ही जीत हुई। हिमालय के ऊपर चढ़कर जब मैंने ताका तो यकायक पाया कि अब वह दृष्टि नही है। बाहर से मैं असल चीज कुछ पा सकूँगा, यह सोचना ही शायद मेरा अपराध था। नगाधिराज चाहे जितने बड़े, जितने गगनचुंबी क्यो न हो, वे कुछ भी उठाकर हाथ पर नहीं धर सकते लेकिन जो देने वाला है वह गली मे ही एक क्षण मे विश्व-संसार दिखा सकता है।

मै देवदार के जगलो मे घूमा, झरनो के किनारे बैठा, उसके जल मे स्नान किया, कचनश्रृंगा की मेघ-मुक्त महिमा की ओर ताकता बैठा रहा—लेकिन जहाँ मैंने यह समझा था कि पाना सरल होगा वहीं मुझे खोजने पर भी कुछ नहीं मिला। परिचय मिला, लेकिन और कुछ देख नही पाया। रत्न देख रहा था सहसा वह बन्द हो गया और अब मैं डिबिया देख रहा था। लेकिन डिबिया के ऊपर कैसी ही मीनाकारी क्यों न हो उसको गलती से खाली डिबिया-मात्र मानने की आशंका नहीं रही।

प्रभात-संगीत का गान थक गया और बस उसकी सुदूर प्रतिध्वनि के रूप में मैंने 'प्रतिध्वनि' नाम की एक कविता दार्जिलिंग में लिखी थी वह ऐसी दुरूह हो गयी थी कि एक बार दो मित्रों ने बाजी लगाकर उसके अर्थ-निर्णय का भार लिया था। हताश होकर उनमें से एक व्यक्ति उसका अर्थ मुझसे समझ लेने के लिए चुपके से मेरे पास आया था। मेरी सहायता से वह बेचारा बाजी जीत सका हो ऐसा मुझे नहीं लगता। इसमे अच्छी बात इतनी ही थी कि दोनो में से किसी को हारा हुआ रुपया देना नहीं पड़ा। हाय रे, जिस दिन मैंने कमल पर और वर्षाकालीन सरोवर पर कविता लिखी थी उस साफ-सुथरी रचना का दिन कितनी दूर चला गया।

कुछ समझाने के लिए तो कोई कविता लिखता नहीं। हृदय की अनुभूति कवि के भीतर से आकार लेने की चेष्टा करती है इसलिए कविता सुनकर जब कोई कहता है, 'समझा नहीं' तो बड़ी मुश्किल होती है। कोई अगर फूल सूँघकर कहे 'कुछ समझा नहीं' तो उसको यही कहना पड़ता है कि इसमें समझने के लिए कुछ भी नहीं है, यह तो केवल गंध है। जवाब सुनता हूँ, यह तो मैं भी समझता हूँ लेकिन खामखाह यह गंध क्यों। इसका मतलब क्या है?' इसके

जवाब में या तो आदमी चुप हो जाय या खूब घुमा-फिराकर यह कहे कि प्रकृति के भीतर का आनन्द इस प्रकार गंध के रूप में प्रकट हो रहा है। लेकिन मुश्किल यही है कि आदमी को जो बात लेकर कविता लिखनी होती है उस बात का मतलब होना है और इसीलिए तो छंद-बंध आदि अनेक उपायों से बात कहने की स्वाभाविक पद्धति को उलट-पुलटकर कवि को बहुत कौशल करना पड़ता है जिससे बात का भाव बड़ा होकर यथासंभव बात के अर्थ को ढक ले सके। यह भाव दर्शन भी नहीं है, विज्ञान भी नहीं है, कोई काम की चीज भी नहीं है, वह तो आँख के पानी और मुँह की हँसी की तरह केवल भीतर का चेहरा है। उसके साथ तत्त्व-ज्ञान, विज्ञान या अन्य कोई बुद्धिसाध्य चीज़ मिला सको तो मिलाओ, लेकिन वह बहुत गौण रहता है। डोंगी में बैठकर नदी पार करते समय तुम अगर मछली पकड़ सको तो यह तुम्हारी बहादुरी होगी, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वह नदी पार करने की नाव मछली पकड़ने की डोंगी है—उस नाव में मछली नहीं भेजी जा रही है, इसके लिए माँझी को गाली देना अन्याय होगा।

मेरी 'प्रतिध्वनि' कविता बहुत पहले की लिखी हुई है — उस पर किसी की नज़र नहीं पड़ती इसीलिए मुझे किसी के सामने उसकी जवाबदेही नहीं करनी पड़ती। वह भली-बुरी जैसी भी हो यह बात मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि जान-बूझकर पाठकों को धोखा देने के लिए यह कविता नहीं लिखी गयी और न चकमा देकर कोई गंभीर तत्त्व-कथा ही उसमें डाल देने की कोशिश की गयी है।

असल बात यह है कि हृदय में एक जो व्याकुलता जागी थी उसी ने अपने को व्यक्त करना चाहा था। जिस चीज के लिए व्याकुलता थी उसका और कोई नाम न खोज पाने पर मैंने उसको प्रतिध्वनि कहा था :

ओगो प्रतिध्वनि
बुझि आमि तोरे भालोबासि
बुझि आर कारेओ बासि ना।

विश्व के केन्द्र-स्थल में वह किस गाने की ध्वनि जाग रही है—प्रिय मुख से, विश्व की समस्त सुन्दर सामग्रियों से टकराकर जिसकी प्रतिध्वनि हमारे भीतर आ रही है। हम लोग शायद किसी वस्तु को नहीं बल्कि उसी प्रतिध्वनि को प्यार करते हैं; क्योंकि यह बात देखी गयी है कि एक समय हम जिस चीज़ की तरफ़ ताकते भी नहीं दूसरे समय वही चीज़ हमारे समस्त तन को बेसुध कर देती है।

इतने दिन तक संसार को केवल बाहरी दृष्टि से देखता रहा था इसीलिए उसका समग्र आनन्द-रूप नहीं देख सका। एक दिन अचानक मेरे हृदय के एक गहरे केन्द्रस्थल से जैसे एक आलोक-रश्मि मुक्त होकर जब सारे विश्व पर छा गयी तब उस संसार को केवल घटना-पुंज के रूप में देखना संभव नहीं रहा और मैंने उसको ऊपर से नीचे तक परिपूर्ण रूप में देखा। इसी से एक अनुभूति मेरे मन में आयी थी कि हृदय की किसी एक गहरी गुफा से सुर की धारा आकर देश-काल पर बिखर गयी है—और प्रतिध्वनि के रूप में समस्त देश-काल से टकराकर वही आनंद-स्रोत में लौटी जा रही है। उस असीम की ओर मुड़े हुए मुँह की प्रतिध्वनि भी हमारे मन को सौन्दर्य से व्याकुल करती है। गुणी जब पूर्ण हृदय के उद्गम से गाना छेड़ देता है तो वह भी

एक आनंद है और जब उसी गाने की धारा फिर उसके हृदय को लौटती है तो वह एक दुगुना आनंद होता है। विश्व-कवि का काव्य-गान जब आनंदमय होकर उन्हीं के चित्त में लौट जाता है तब उसी को अपनी चेतना के ऊपर से बह जाने देकर हम लोग संसार के अंतिम परिणाम को जैसे अनिर्वचनीय रूप में जान पाते हैं। जहाँ हमें यह उपलब्धि होती है वहीं हमारी प्रीति जगती है, वहाँ हमारा मन भी उस असीम की ओर अभिमुख आनंद-स्रोत के खिंचाव से पागल होकर उसी दिशा में अपने को छोड़ देना चाहता है। सौन्दर्य की व्याकुलता का तात्पर्य यही है। जो सुर असीम से निकलकर सीमा की ओर आता है वही सत्य है, वही मंगल है, वह नियम से बँधा हुआ है, उसका आकार निर्दिष्ट है, उसी की जो प्रतिध्वनि ससीम से असीम की ओर पुनः लौटती है वही सौन्दर्य है, वही आनंद है। उसको धरने-उठाने-छूने की परिधि में ले आना असंभव है। इसीलिए वह इस तरह घर छुड़वाकर आवाराओं की तरह भटकाती है। 'प्रतिध्वनि' कविता में मेरे मन की यही अनुभूति रूपक और गान में व्यक्त होने की चेष्टा कर रही है। उस चेष्टा का फल स्पष्ट हो उठेगा ऐसी आशा नहीं की जा सकती; क्योंकि चेष्टा स्वयं अपने-आपको स्पष्ट रूप से नहीं जानती थी।

और कुछ उम्र बढ़ने पर मैंने प्रभात-संगीत के संबंध में एक पत्र लिखा था, उसका एक अंश यहाँ उद्धृत करता हूँ :

'जगते केह नाइ सबाइ प्राणे मोर—'

वह एक वयस् की विशेष स्थिति है। जब हृदय पहले-पहल जाग्रत होकर दोनों बाँहें बढ़ा देता है तब ऐसा लगता है कि जैसे वह समस्त संसार को अपने भीतर समेट लेना चाहता है—जिस तरह से वह बच्चा, जिसके दाँत नये-नये निकले हैं, समझता है कि वह समस्त विश्व-संसार को अपने गाल में ठूँस सकता है।

'धीरे-धीरे यह बात समझ में आती है कि मन सचमुच क्या चाहता है और क्या नहीं चाहता। तब तक परिव्याप्त हृदय-वाष्प संकीर्ण सीमा का सहारा लेकर जलना और जलाना शुरू करता है। एकबारगी सारे संसार की माँग कर बैठने से कुछ भी नहीं मिलता, अंत में किसी एक चीज में पूरे जी-जान से लगने पर ही असीम के भीतर प्रवेश करने का सिंहद्वार मिलता है। प्रभात-संगीत मेरी अन्तर-प्रकृति का पहला बहिर्मुख उच्छ्वास है इसीलिए उसमें और किसी बात का कोई सोच-विचार नहीं है।'

प्रथम उच्छ्वास का एक साधारण-सा व्याप्त आनंद क्रमशः हमको विशेष परिचय की ओर ठेल ले जाता है—जैसे गड्ढे का पानी धीरे-धीरे नदी बनकर बाहर निकलना चाहता है—और तब पूर्वराग अनुराग में परिणत हो जाता है। वस्तुतः एक प्रकार से अनुराग पूर्वराग की अपेक्षा संकीर्ण होता है। वह एक ग्रास में सब-कुछ न लेकर धीरे-धीरे खण्ड-खण्ड करके चखता रहता है। तब प्रेम एकाग्र होकर अंश में समग्र का, सीमा में असीम का उपभोग कर पाता है। तब उसका चित्त प्रत्यक्ष-विशेष के बीच होकर अप्रत्यक्ष-अशेष में अपने-आपको प्रसारित कर देता है। तब वह जो कुछ पाता है वह केवल उसके अपने मन का एक अनिर्दिष्ट भावानंद नहीं होता—बाहर के साथ, प्रत्यक्ष के साथ एकाकार होकर उसके हृदय का भाव सर्वांगीण सत्य हो उठता है।

मोहित बाबू की ग्रंथावली में प्रभात-संगीत की कविताओं को 'निष्क्रमण' नाम दिया गया है; क्योंकि वह हृदय के अरण्य से निकलकर विश्व में पहली बार आने की वार्ता है। इसके बाद सुख-दुःख आलोक-अंधकार के बीच होकर गुज़रने वाले संसार-पथ के यात्री इस हृदय के साथ एक-एक करके, खण्ड-खण्ड करके नाना सुरों और नाना छंदों में विचित्र भाव से विश्व का मिलन होता है। अंततः इस चित्र-विचित्र बँधे हुए घाट के भीतर से परिचय की धारा बहती-बहती निश्चय ही फिर कभी एक बार असीम व्याप्ति में जा पहुँचेगी, लेकिन वह व्याप्ति अनिर्दिष्ट आभास की व्याप्ति नहीं पूर्ण सत्य की परिव्याप्ति होगी।

बचपन से ही विश्व-प्रकृति के साथ मेरा खूब ही सहज और गहरा संबंध था। हवेली के भीतर वाले नारियल के सभी पेड़, उनमें से एक-एक, मेरे निकट परम सत्य थे। नार्मल स्कूल से चार बजे लौटकर गाड़ी से उतरते ही मैंने देखा कि हमारे घर की छत के पीछे घने कजरारे बादल घिरे हुए हैं—मन उसी क्षण एक गहरे उल्लास में आकर जैसे खुल गया। उस क्षण की बात आज भी मैं भूल नहीं सका। सवेरे जागने के साथ ही समस्त पृथ्वी का जीवनोल्लास अपने खेल के संगी के रूप में मेरे मन को पुकारकर बाहर निकाल लेता, दोपहर को समस्त आकाश और प्रहर जैसे तीव्र होकर अपनी गहराई में मुझे डुबो देता और रात का अँधेरा मायापथ का जो गुप्त दरवाज़ा खोल देता उससे संभव-असंभव की सीमा को लाँघकर मेरा मन परियों की कहानियों के अद्भुत राज्य के सात समुद्र तेरह नदी पार करके दूर कहीं निकल जाता। इसके बाद एक रोज़ जब यौवन के पहले उन्मेष में हृदय अपनी खूराक की माँग करने लगा तब बाहर के साथ जीवन के सहज योग में बाधा उपस्थित हुई। तब व्यथित हृदय को घेरकर मन ने भीतर-ही-भीतर घूमना शुरू किया—चेतना तब अपने भीतर ही आबद्ध हो गयी। इस प्रकार रुग्ण हृदय के कारण भीतर के साथ बाहर का जो सामंजस्य टूट गया, मैंने जिस तरह अपना सदा-सदा का सहज अधिकार खो दिया, संध्या-संगीत में उसी की वेदना व्यक्त होना चाहती है। आखिरकार एक दिन वह बंद दरवाजा न जाने किस धक्के से एकाएक टूट गया और तब मैंने जो कुछ खो दिया था उसे फिर पा लिया। सिर्फ़ पा ही नहीं लिया, वियोग के व्यवधान के बीच होकर और भी अधिक पूर्ण रूप में पा लिया। सहज को दुरूह करके जब पाया जाता है तभी पाना सार्थक होता है। इसीलिए अपने बचपन के विश्व को प्रभात-संगीत में जब मैंने फिर पाया तब और भी अधिक पाया। इस प्रकार प्रकृति के साथ सहज मिलन, विच्छेद और पुनर्मिलन के बीच होकर जीवन का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ। समाप्त हुआ कहना झूठ होगा। यह अध्याय एक बार फिर और भी कुछ विचित्र रूप से शुरू होकर, एक बार और भी कुछ दुरूहतर समस्या के बीच होकर वृहत्तर परिणति की ओर पहुँचने लगा। जीवन मे व्यक्ति विशेष अपना एक अध्याय पूरा करने आया है—एक-एक पर्व मे उसके चक्र का घेरा बढ़ता जाता है—हर घेरा अलग-सा जान पड़ता है, लेकिन ग़ौर से देखा जाय तो केन्द्र एक ही रहता है।

जिन दिनों मैं संध्या-संगीत लिख रहा था उन दिनों खण्ड-खण्ड गद्य 'विविध प्रसंग' के नाम से प्रकाशित हो रहा था। और जब 'प्रभात-संगीत' लिख रहा था या शायद उसके कुछ बाद से उस प्रकार के गद्य-लेख 'आलोचना' नामक ग्रंथ में संगृहीत होकर छपे थे। इन दो गद्य-ग्रंथों में जो अंतर आ गया था, उसे पढ़कर देखने पर लेखक के मन की गति का निर्णय करना कठिन न होगा।

जहाज का ढाँचा

अख़बार में न जाने कौन-सा एक विज्ञापन देखकर एक दिन दोपहर को ज्योति दादा नीलाम में गये और वहाँ से लौटकर ख़बर दी कि उन्होंने सात हजार रुपये देकर जहाज़ का ढाँचा खरीदा है। अब उसके ऊपर इंजन लगाकर, कमरा बनाकर एक पूरा जहाज़ बनाना होगा।

देश के लोग कलम चलाते हैं, ज़बान चलाते हैं लेकिन जहाज़ नहीं चलाते, शायद इसी बात का क्षोभ उनके मन में था। एक दिन उन्होंने देसी दियासलाई जलाने की कोशिश की थी, तीली बहुत घिसने पर भी जली नहीं, देसी करघा चलाने के लिए भी उनका उत्साह था, लेकिन वह करघा केवल एक अँगोछा पैदा करके हमेशा के लिए बंद हो गया। उसके बाद स्वदेशी के सिलसिले में जहाज़ चलाने के विचार से उन्होंने आव देखा न ताव, जहाज़ का एक ढाँचा खरीद लिया; वह ढाँचा एक दिन भर उठा सिर्फ़ इंजन या कमरे से नहीं—ऋण से और सर्वनाश से भी। लेकिन तब भी यह बात ध्यान में रखनी होगी कि इन सब चेष्टाओं की हानि चाहे उन्होंने अकेले ही उठायी हो, लेकिन उसका जो भी लाभ था वह निश्चय ही देश के खाते में आज भी जमा है। दुनिया में इस तरह के बेहिसाबी अव्यावहारिक लोग ही बार-बार देश के कर्मक्षेत्र में निष्फल अध्यवसाय की बाढ़ लाते रहते हैं, वह बाढ़ अकस्मात् आती है और वैसे ही अकस्मात् चली जाती है, लेकिन हर बार परत की परत उर्वर मिट्टी जो छोड़ जाती है वही देश की धरती को प्राण देती है—उसके बाद जब फसल का दिन आता है तब उनकी बात किसी को याद नहीं रहती, लेकिन सारी जिंदगी जो हानि ही उठाते रहे हैं, मृत्यु के बाद की इस हानि को भी वे अनायास ही स्वीकार कर सकेंगे।

एक ओर विलायती कम्पनी और दूसरी ओर वह अकेले—उन दोनों में वाणिज्य-नौ युद्ध उत्तरोत्तर कैसा प्रचण्ड हो उठा था शायद आज भी खुलना-बारीशाल के लोगों को याद होगा। होड़ के मारे एक के बाद दूसरा जहाज तैयार हुआ, हानि-पर-हानि बढ़ती गयी और आय का अंक धीरे-धीरे क्षीण होते-होते टिकट के मूल्य में आकर पूरी तरह लुप्त हो गया—बारीशाल-खुलना की स्टीमर लाइन में सतयुग आना शुरू हुआ। इतना ही नहीं कि यात्री भाड़ा दिये बिना आने-जाने लगे, बिना पैसे मिठाई खाना भी उन्होंने शुरू किया। ऊपर से बारीशाल के स्वयंसेवक लोग स्वदेशी-कीर्तन गाकर, कमर बाँधकर, यात्री बटोरने में लग गये, लिहाजा जहाज़ में यात्रियों का तो अभाव नहीं रहा, लेकिन बाकी सारे अभाव बढ़ते चले गये, कम कौन कहे। अंक शास्त्र में स्वदेश-हितैषिता का उत्साह घुसने की राह नहीं पाता—कीर्तन चाहे जितना जमे, उत्तेजना चाहे जितनी बढ़े, गणित अपना पहाड़ा भूल नहीं सकता—लिहाजा तीन तिरिक के नौ ठीक ताल पर टिड्डे की तरह कूद-कूदकर ऋण के रास्ते पर आगे बढ़ने लगा।

अव्यावहारिक भावुक लोगों का एक अभिशाप यह है कि लोग उन्हें झट पहचान लेते हैं, लेकिन वे लोग आदमी को नहीं पहचान पाते और वह जो पहचान नहीं पाते इतना सीखने-भर के लिए बहुत खर्च लगता है और उससे भी ज्यादा देर लगती है; और वह शिक्षा इस जीवन में उनके काम नहीं आ पाती। यात्री लोग जब मुफ़्त मिठाई खा रहे थे तब ज्योति दादा के कर्मचारी तपस्वी की तरह उपवास कर रहे हों, इसका कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ा। लिहाज़ा यात्रियों के लिए भी जल-पान की व्यवस्था थी, कर्मचारी भी उससे वंचित न थे; लेकिन सबसे बड़ा लाभ रहा ज्योति

दादा का—वह था उनका इस सब हानि को स्वीकार करना।

उन दिनों खुलना-बारीशाल नदी-पथ की प्रतिदिन की इस जय-पराजय की खबर और चर्चा के मारे हमारी उत्तेजना का अन्त न था। आखिरकार एक रोज़ खबर आयी कि उनका 'स्वदेशी' नामक जहाज़ हावड़ा ब्रिज से टकराकर डूब गया है। इस प्रकार जब उन्होंने अपने साध्य की सीमा को अच्छी तरह पूरा-पूरा लाँघ लिया, अपने पास कुछ भी बाकी नहीं रखा, तभी उनके व्यवसाय की इतिश्री हुई।

मृत्यु-शोक

इसी बीच घर में एक के बाद एक की मृत्यु-घटनाएँ घटीं। इसके पहले कभी मैंने मृत्यु को अपनी आँखों से नहीं देखा था। माँ की जब मृत्यु हुई तब मेरी उम्र कम थी। बहुत दिनों से वह रोग में पड़ी थी, कब उनके लिए जीवन-संकट उपस्थित हुआ, यह मैं जान भी न सका। अब तक जिस कमरे में हम लोग सोते थे उसी कमरे में अलग एक पलंग पर माँ सोती थीं। लेकिन उनके रोग के समय एक बार कुछ दिनों के लिए उन्हें बोट पर गंगा में घुमाने के लिए ले जाया गया। उसके बाद लौटकर वह अंतःपुर के तीसरे तल्ले वाले कमरे में रहने लगीं। जिस रात उनकी मृत्यु हुई हम लोग सो रहे थे, उस समय रात के कितने बजे थे, मुझे पता नहीं। एक पुरानी नौकरानी घबरायी हुई हमारे कमरे में आयी और चीख मारकर रो उठी, 'कु पता है रे, तेरा सब कुछ लुट गया!' तभी बड़ी भाभी जल्दी-जल्दी उसको डाँटकर कमरे से बाहर घसीट कर ले गयी—उस गहरी रात में अकस्मात् हमारे मन को गुरुतर आघात न लगे उन्हें यही आशंका थी। बुझते चिराग की धुँधली रोशनी में थोड़ी देर के लिए जागकर हमारा दिल बैठ गया; लेकिन क्या हुआ है, यह हम लोग ठीक से समझ नहीं सके। सवेरे उठकर जब माँ के मरने की खबर सुनी तब उस बात का अर्थ पूरा-पूरा मैं ग्रहण नहीं कर सका। बाहर बरामदे में आकर मैंने देखा कि उनकी सुसज्जित देह आँगन में खाट पर लिटायी हुई है। लेकिन मृत्यु भयंकर होती है इसका कोई प्रमाण उस देह से न मिलता था—उस दिन प्रभात के आलोक में मृत्यु का जो रूप मैंने देखा वह सुख की नींद-जैसा ही प्रशांत और मनोहर था। जीवन से जीवन के अंत का अंतर स्पष्ट रूप से दिखायी न पड़ता था। लेकिन जब उनकी लाश लेकर लोग घर के सदर दरवाज़े से बाहर चले गये और हम उनके पीछे-पीछे श्मशान की ओर चले तभी जैसे शोक की आँधी ने एकबारगी आकर मन के भीतर को इसी एक हाहाकार से भर दिया कि अब इस घर के इस दरवाज़े से माँ फिर कभी अपने जीवन-भर की इस गृहस्थी के बीच आकर अपने आसन पर न बैठेंगी। साँझ हो गयी, हम लोग श्मशान से लौट आये, गली के मोड़ पर आकर तीसरे तल्ले पर पिता के कमरे की ओर मैं ताकता रहा—वह तब भी अपने कमरे के सामने बरामदे में चुपचाप उपासना पर बैठे हुए थे।

घर में जो छोटी बहू थीं, उन्हीं ने मातृहीन बच्चों का भार लिया। उन्हीं ने हम लोगों को खिलाकर, पहनाकर, सदा अपने पास रखकर हम लोगों को जो कुछ अभाव हुआ था उसे भुला रखने के लिए दिन-रात चेष्टा की। जो क्षति पूरी न होगी, जिस विच्छेद का प्रतिकार नहीं है, उसको भूलने की क्षमता प्राण-शक्ति का एक प्रधान अंग है—बचपन में वही प्राण-शक्ति नयी और प्रबल

रहती है, तब वह किसी आघात को गंभीरता से ग्रहण नहीं करती, स्थायी रेखाओं में आँककर नहीं रखती। इसीलिए जीवन में पहली बार जब मृत्यु ने अपनी काली छाया डालते हुए प्रवेश किया, तब वह अपनी कालिमा को चिरंतन न करके छाया के ही समान एक दिन निःशब्द पैरों से चली गयी। बाद को बड़े होने पर जब बसंत-प्रभात में मुट्ठी-भर अधखिले बड़े-बड़े बेले के फूल चादर की खूँट में बाँधकर मैं पागल की तरह फिरा करता था—उन्हीं कोमल चिकनी कलियों से जब माथे को सहलाता तो हर रोज मुझे अपनी माँ की शुभ्र उँगलियों की याद हो आती—मैं कलियों से रूप से देख पाता कि उन सुंदर उँगलियों की पोर में जो स्पर्श था वही स्पर्श प्रतिदिन इन बेले के फूलों में निर्मल होकर प्रस्फुटित हो आया है, जगत् में उसका अंत नहीं है—इसीलिए हम भूलते भी हैं और याद भी रखते हैं।

लेकिन २४ साल की उम्र में मृत्यु से मेरा जो परिचय हुआ वह स्थायी परिचय था। वह उसके बाद के प्रत्येक वियोग के शोक के साथ मिलकर आँसुओं की माला को और लम्बा करके गूँथता रहा है। शिशु वयस का छोटा-सा जीवन बड़ी-बड़ी मृत्यु को भी अनायास किनारे सरकाकर आगे बढ़ जाता है—लेकिन उम्र बढ़ने पर मृत्यु को इतने सहज ढंग से चकमा देकर आगे बढ़ जाना संभव नहीं होता। इसीलिए उस दिन के समस्त दुःसह आघात को अच्छी तरह छाती फैलाकर लेना पड़ा था।

तब तक मैं नहीं जानता था कि जीवन में कहीं कोई छोटी-सी दरार भी है, मैं समझता था कि पूरा जीवन हास्य-रुदन से बिलकुल घना बुना हुआ है। उसको लाँघकर और कुछ दिखाई न पड़ता इसीलिए उसको बिलकुल चरम जानकर मैंने ग्रहण किया था। ऐसे समय में न जाने कहाँ से मृत्यु ने आकर इस अत्यंत प्रत्यक्ष जीवन के एक हिस्से में जब क्षण-भर में दरार डाल दी तब मन में न जाने कैसा विस्मय हुआ था। चारों ओर पेड़-पौधे, मिट्टी-पानी, चाँद-सूरज, ग्रह-तारे उसी तरह निश्चित सत्य के समान विराज रहे थे, लेकिन उन्हीं के बीच उन्हीं के समान जो निश्चित सत्य था—यहाँ तक कि देह, प्राण, हृदय, मन के सहस्रमुख स्पर्श से जिसको उन सबसे अधिक सत्य जानकर मैंने अनुभव किया था वही निकट का व्यक्ति जब इतनी आसानी से एक पल में स्वप्न की तरह शून्य में मिल गया तब सारे संसार की ओर ताककर मन में ऐसा लगा, यह कैसा अद्भुत आत्मखण्डन है! जो है और जो नहीं रहा, इन दोनों के बीच कैसे मेल बैठाऊँ।

जीवन के इस रन्ध्र में होकर जो एक अतल-स्पर्श अंधकार ज्योतित हो गया, वही मुझे दिन-रात अपनी ओर खींचने लगा। मैं घूम-फिरकर केवल उसी जगह आकर खड़ा हो जाता और उसी अंधकार की ओर ताकता रहता और खोजता रहता—जो चला गया उसके स्थान पर क्या है। शून्यता को मनुष्य किसी प्रकार भीतरी मन से विश्वास नहीं करता। जो नहीं है वही मिथ्या है, जो मिथ्या है वही नहीं है। इसीलिए जो कुछ मैं नहीं देख रहा हूँ उसमें देखने की चेष्टा, जो नहीं पा रहा हूँ उसमें पाने की खोज किसी तरह थमना नहीं चाहती। पेड़-पौधों को अंधकार की दीवार से घेरने पर उनकी समस्त चेष्टा जिस तरह अंधकार को जैसे भी हो प्रकाश में सिर ऊँचा करने के लिए पैर की उँगलियों पर जोर देकर बार-बार यथाशक्ति खड़ी हो उठती है—उसी तरह मृत्यु ने जब मन के चारों ओर अचानक एक 'नहीं है'—अंधकार की दीवार खड़ी कर दी है तब समस्त मन-प्राण दिन-रात दुस्साध्य चेष्टा करके उसी के भीतर से केवल 'है'—आलोक के

संसार में बाहर आने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन जब अँधेरे में कुछ भी सूझ न रहा हो तब उस अंधकार को ही पार करने का रास्ता खोजना, इसके बराबर दुःख और क्या हो सकता है।

तो भी इसी दुःसह दुःख के भीतर से मेरे मन में हर क्षण एक आकस्मिक आनंद की हवा बहने लगी, उससे मुझे स्वयं आश्चर्य होता। निश्चय ही, जीवन बिलकुल अविचलित नहीं है; दुःख की इस वाणी से ही मन का बोझ हल्का हो गया। हम लोग निश्चल सत्य की पथरीली दीवार में हमेशा के लिए बन्दी नहीं हैं, इस विचार से मैं भीतर-ही-भीतर प्रसन्न होने लगा। जिसे पकड़ा था उसको छोड़ना ही पड़ा, इस चीज़ को क्षति की ओर से देखने पर मुझे जिस प्रकार वेदना हुई थी उसी प्रकार उसी क्षण उसको मुक्ति की ओर से देखने पर मुझे एक उदात्त शांति का बोध हुआ। संसार का विश्व-व्यापी विपुल भार जीवन-मृत्यु के हानि-लाभ में अपने-आपको सहज ही नियमित करके चारों ओर केवल प्रवाहित होता रहा है, वह भार बँधकर किसी को कहीं चाँपे न रखेगा—एकेश्वर जीवन की निष्ठुरता किसी को भी न सहनी पड़ेगी—यह बात एक अद्‌भुत नये सत्य के रूप में उस दिन मैंने पहली बार जानी थी।

उसी वैराग्य के भीतर से प्रकृति का सौन्दर्य और भी गहरे रूप में रमणीय हो उठा था। कुछ दिनों के लिए जीवन के प्रति मेरी अंधी आसक्ति एकदम चली गयी थी शायद इसीलिए चारों ओर के आलोकित नीले आकाश में पेड़-पौधों का हिलना मेरी आँसुओं से धुली हुई आँखों में और भी अधिक माधुर्य की वर्षा करता। संसार को समग्र रूप में और सुन्दर रूप में देखने के लिए जिस दूरी की ज़रूरत है, मृत्यु ने वही दूरी पैदा कर दी थी। मैंने निर्लिप्त भाव से अलग खड़े होकर मृत्यु की बृहत् पटभूमि पर संसार के चित्र को देखा और समझा कि वह बहुत ही मनोहर है।

उसी समय और भी कुछ दिनों के लिए मेरे मन की स्थिति और बाहर का आचरण कुछ वैरागी-जैसा दिखाई दिया था। संसार की लोक-लौकिकता को परम सत्य मानकर उसी के अनुशासन में बराबर चलने के विचार से मुझे हँसी आती। ये सब चीज़ें जैसे मुझे छूती ही न थीं। कौन मेरे बारे मे क्या सोचेगा, यह चिन्ता कुछ दिनों तक मुझे बिलकुल न सताती थी। धोती के ऊपर शरीर पर सिर्फ एक मोटी चादर और पैर में चट्टी पहनकर कितनी ही बार मैं थैकर के यहाँ किताब खरीदने गया हूँ। खाने-पीने की व्यवस्था भी बहुत-कुछ बेढंगी-सी थी। कुछ दिनों तक मैं जाड़ा, गर्मी, बरसात हर मौसम में तीसरे तल्ले के बाहर वाले बरामदे में सोता था, वहाँ आकाश के तारों से मेरी आँखें चार हो पातीं और भोर के आकाश से मेरा साक्षात्कार होने में देर न लगती।

ये सारी चीज वैराग्य की कृच्छ्र-साधना हों, ऐसी बात न थी। यह तो जैसे मेरे लिए छुट्टी का समय था, बेंत हाथ में लिये हुए संसार रूपी गुरु महाशय को जब मैंने नितांत खोखला पाया तो पाठशाला के प्रत्येक छोटे-छोटे शासन को भी चकमा देकर मैं मुक्ति का आनंद लेने की ओर प्रवृत्त हुआ। किसी रोज़ सवेरे नींद से उठते ही अगर देखूँ कि पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण यक-ब-यक आधा हो गया है, तो क्या बहुत सावधानी से सरकारी रास्ता पकड़कर चलने की इच्छा होगी। ऐसा अगर हो तो निश्चय ही मैं हरिसन रोड के चौमंज़िले मकानों को यों ही फलाँगता चलूँ और मैदान में हवा खाने के समय अगर आक्टरलोनी 'मॉनुमेंट' सामने आ पड़े तो उसके भी बगल से निकलने की प्रवृत्ति न हो और मैं धायँ से उसको भी लाँघकर पार हो जाऊँ। सचमुच यही हाल

था—पाँव के नीचे से जीवन का खिंचाव कम होते ही मैंने बँधा रास्ता एकदम छोड़ देने का ढंग निकाल लिया था।

मकान की छत पर अखण्ड गहरे अंधकार के मृत्यु-राज्य में किसी शिखर पर फहराती हुई एक पताका, उसके काले पत्थर के तोरण-द्वार पर अंकित कोई एक अक्षर या किसी एक चिह्न को देखने के लिए मैं जैसे सारी-सारी रात ऊपर अंधे की तरह दोनों हाथों से टटोलता रहता। और फिर सवेरे के वक्त जब मेरे उसी बाहर बिछे हुए बिस्तर पर भोर का प्रकाश आकर पड़ता तो मैं आँखें मलकर देखता कि जैसे मेरे मन के चारों ओर का आवरण घुलता जा रहा है, कुहासा फट जाने पर पृथ्वी, नदी, पहाड़, अरण्य जिस तरह झलमला उठते है उसी तरह जीवन-लोक की हर तरफ़ फैली हुई तस्वीर मेरी आँखों को ओस से नहायी हुई नयी और सुन्दर दिखाई पड़ी है।

यह रचना सबसे पहले अगस्त १९११ से जुलाई १९२२ तक (भाद्र १३१८ से श्रावण १३१९ तक) 'प्रवासी' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई थी। जुलाई १९१२ में इसका पुस्तक रूप में प्रकाशन हुआ। पुस्तक का चित्रांकन गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था। सन् १९६० में 'विश्वभारती' ने इसका पुनर्मुद्रण किया। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'माई रेमिनिसेन्सेज' शीर्षक से मेकमिलन द्वारा प्रकाशित हुआ है।

२

आश्रम का स्वरूप और विकास

जिस समय मेरे छुटपन के दिन थे, उस समय के स्कूलों की रीति-प्रकृति और उस समय के शिक्षकों-छात्रों के आचरण मेरे लिए बिलकुल ही दुस्सह हो उठे थे। उन दिनों की शिक्षा-विधि में कोई रस नहीं था। पर मेरी असहिष्णुता का कारण एकमात्र यही नहीं था। कलकत्ता शहर में मैं लगभग बंदी-अवस्था में ही था। पर घर के इस बंधन में भी कोई-न-कोई अवकाश निकल ही आता था और उसके रास्ते बाहर की प्रकृति के साथ मेरा एक आनन्द-सम्बन्ध उत्पन्न हो गया था। घर के दक्षिणवाले पोखरे के पानी में शाम-सवेरे की छायाएँ इस पार उस पार आया-जाया करती थीं, हंस तैरते थे, पानी में डुबकियाँ लगाकर सितुए निकालते थे, आषाढ़ के जल-भरे नीलवर्ण मेघ पाँत-पाँत खड़े नारियल-वृक्षों की चोटियों पर पुञ्ज के पुञ्ज उमड़कर वर्षा का गम्भीर समारोह लाते थे। दक्षिण की ओर जो बाग था, उसके नाना रंगों में एक के बाद एक ऋतु का आमंत्रण उत्सुक दृष्टि के रास्ते मेरे हृदय तक पहुँचता था।

आशा है कि घोर-से-घोर शहरी लोगों को भी यह समझाने की जरूरत न होगी कि शिशु-जीवन के साथ विश्व-प्रकृति का यह आदिम-कालीन योग प्राण-मन के विकास के लिए कितना अनमोल है! जब स्कूल ने नीरस पाठ्य, कठोर शासन-विधि और प्रभुता-प्रेमी शिक्षकों की निर्विचार, अन्यायपूर्ण निर्ममता के द्वारा विश्व और बालक के उस मिलन के वैचित्र्य को कुचल डाला था और इस प्रकार उसके दिनों को निर्जीव, निरालोक और निष्ठुर बना डाला था, उस समय प्रतिकार-हीन वेदना में मन का व्यर्थ विद्रोह मन-ही-मन एकान्त भाव से चञ्चल हो उठा था। जब मैं तेरह बरस का हुआ तो शिक्षा-विभाग की दण्ड-श्रृंखला को छिन्न करके बाहर निकल आया। उसके बाद जिस विद्यालय में दाखिल हुआ, उसे यथार्थ में विश्वविद्यालय कहा जा सकता है। वहाँ मुझे कोई छुट्टी नहीं मिलती थी, क्योंकि मेरी छुट्टी अविश्राम काम करने में ही थी। किसी-किसी दिन रात के दो बजे तक पढ़ता रहता था। अप्रखर आलोक के उस युग में रातों को सारा मुहल्ला निस्तब्ध हो जाया करता था। बीच-बीच में सिर्फ़ एक ही आवाज़ सुनाई पड़ती थी : श्मशान-यात्रियों के कण्ठ से निकला 'हरि बोल'! रेंड़ के तेल के दिये की दो बातियों में से एक बाती बुझा दिया करता था। इससे दीप-शिखा का तेज तो मन्द पड़ जाता था, पर उसके प्रकाश की आयु-वृद्धि हो जाती थी। कभी-कभी अन्तःपुर से बड़ी दीदी आ पहुँचती थीं और ज़बरदस्ती मेरी पुस्तक छीनकर मुझे बिस्तरे पर भेजती थीं। उस समय मैंने जिन पुस्तकों को पढ़ने की कोशिश की थी, उन्हें मेरे हाथों में देखकर किसी-किसी गुरुजन को स्पर्धा भी होती थी। शिक्षा के कारागार

से निकल आने पर जब मैंने शिक्षा की स्वाधीनता पायी थी, उस समय काम तो बहुत-बहुत बढ़ गया था, पर भार घट गया था।

शिक्षा के सम्बन्ध में जो मत मेरे मन में न जाने कितने समय तक सक्रिय रहा है, वह मोटे तौर से यह है कि शिक्षा दैनन्दिन जीवन-यात्रा का निकट अंग होगी, उसके साथ सुर में सुर और ताल में ताल मिलाकर चलेगी, 'क्लास'-नामधारी पिंजरे की चीज़ नहीं होगी। और जो विश्व-प्रकृति प्रतिनियत प्रत्यक्ष-परोक्ष भाव से हमारे शरीर और मन में शिक्षा का विस्तार करती है, वह भी इसी के साथ मिलित होगी। प्रकृति के इस शिक्षालय का एक अंग है पर्यवेक्षण और दूसरा परीक्षण। और इसका सबसे बड़ा काम है प्राणों में आनन्द का संचार। यह तो हुई बाह्य प्रकृति की बात। इसके अतिरिक्त देश की अपनी एक अन्तःप्रकृति भी है। उसका भी एक विशेष रस है, रंग है, ध्वनि है। भारतवर्ष का जो चिरकालिक चित्र है, उसका आश्रय संस्कृत भाषा में है। इस भाषा के तीर्थ-पथ से हम देश की चिन्मय प्रकृति का स्पर्श पायेंगे, उसे अपने अन्तर में ग्रहण करेंगे। शिक्षा का यही लक्ष्य मेरे मन में दृढ़ भाव से घर किये हुए था। अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से हम नाना प्रकार के ज्ञातव्य विषय जान ले सकते हैं, और वे बहुत ही ज़रूरी भी हैं। पर संस्कृत भाषा का एक आनन्द है जो हमारे मन के आकाश को रञ्जित करता है—उसमें एक गम्भीर वाणी है, जो विश्व-प्रकृति की ही तरह हमें शान्ति और हमारे चिन्तन को मर्यादा देती है।

जिस शिक्षा-तन्त्र के प्रति मेरी श्रद्धा है, उसकी भूमिका यही है।

× × ×

जिसे तपोवन का बाह्य अनुकरण कहा जा सकता है, वह तो हमारे लिए अग्राह्य है। कारण, आज के युग में वह असंगत है, मिथ्या है। उसके भीतर जो सत्य है, उसी को हमें आधुनिक जीवन-यात्रा के आधार पर प्रतिष्ठित करना है।

उसके कुछ ही समय पहले पितृदेव ने शान्तिनिकेतन आश्रम को जन-साधारण के नाम पर उत्सर्ग कर दिया था। उनका संकल्प यह था कि आश्रम के अतिथि दो-तीन दिन यहाँ रहकर आध्यात्मिक शान्ति की साधना कर सकें। इसके लिए उपासना-मन्दिर, पुस्तकालय और अन्यान्य व्यवस्था यथोचित कर रखी गयी थी।

× × ×

शान्तिनिकेतन आकर ही मैं अपने जीवन में पहले-पहल विश्व-प्रकृति के बीच उन्मुक्त हो सका था। यहाँ उपनयन के ठीक बाद पहुँचा था। उपनयन-संस्कार के अनुष्ठान में भूर्भुवःस्वर्लोक में चेतना को परिव्याप्त करने की जो दीक्षा पितृदेव से मिली थी, यहाँ पर वही दीक्षा मुझे विश्व-देवता से मिली। प्रथम वय में ही यदि यह सुयोग मुझे नहीं मिला होता तो मेरा जीवन नितान्त ही अपूर्ण रह जाता। पितृदेव के किसी निषेध या शासन ने मुझे वेष्टित नहीं किया। सुबह के समय बस थोड़ी देर के लिए उनसे अंग्रेजी और संस्कृत सीखता और फिर दिन भर के लिए मेरी अबाध छुट्टी ही छुट्टी रहती। तब तक बोलपुर शहर इतना फूला-फैला नहीं था। तब तक चावल कल के धुएँ ने आकाश को कलुषित और उसकी दुर्गन्ध ने मलय-पवन को मलमय नहीं किया था। मैदान के बीचों-बीच में लाल मिट्टी की जो पगडंडी निकल गयी है, उस पर लोगों की आवाजाही नाममात्र को ही होती थी। बाँध का पानी पूरा फैला हुआ रहता था। बाढ़-पाँकी

मिट्टी वाली खेती की ज़मीन ने उसे चारों ओर से धकेल-धकेल कर कोने में दुबक जाने को मजबूर नहीं किया था। उसके पश्चिम वाले ऊँचे तट पर घने ताड़-वृक्षों की श्रेणी तब भी अक्षुण्ण थी। कँकरीली धरती पर वर्षा की जलधारा से खुद कर जो आँके-बाँके ऊँचे-नीचे रजवाहों से रास्ते बन जाते हैं और जिसे खोवाई कहते हैं, वे खोवाइयाँ नाना जाति-वर्णों और नाना आकृतियों के पत्थरों से परिकीर्ण थीं। किसी पर सिरा-कटे पत्ते की छाप होती तो कोई लम्बे रेशेवाली लकड़ी के टुकड़े की तरह लगती; किसी पर स्फटिक के-से दाने सजे होते तो कोई अग्नि-गलित मसृणता लिये होता।

× × ×

मैंने भी सारी-सारी दुपहरी खोवाइयों में घुसकर भाँति-भाँति के पत्थरों का संग्रह किया है। धन-उपार्जन के लोभ से नहीं, बल्कि पत्थर-उपार्जन के उद्देश्य से ही। मैदान का पानी सिमट-सिमट कर एक जगह पर खोवाई के ऊपरी करारे से छोटे झरने के रूप में झरा करता था। जहाँ पर यह झरना गिरता था, वहाँ एक छोटा-सा जलाशय बन गया था। उसका उजलौहाँ घँघोला-सा-पानी मेरे जैसों के डुबकियाँ लगा-लगाकर स्नान करने योग्य यथेष्ट गहरा तो था ही। उस डबरे से उपट-उतरा कर स्वच्छ जल के क्षीण स्रोत नाना शाखा-प्रशाखाओं में झिर-झिर करते बह निकले थे और उन स्रोतों में छोटी-छोटी मछलियाँ तैरती हुई उजानी की ओर चढ़ा करती थीं। मैं इन जलधाराओं का अनुसरण करता हुआ उस शिशु-भूविभाग की नयी-नयी बालखिल्य गिरिनदियों का आविष्कार करने निकला करता था।

× × ×

खोवाइयों में जहाँ-तहाँ मिट्टी जमा हो गयी थी और उस पर बौने-बौने से बनजामुन और बनखजूर उग आये थे। कहीं-कहीं घने काम उपज कर काफ़ी लम्बे-लम्बे हो गये थे। ऊपर दूर के मैदानों में ढोर चरते थे। कहीं संथाल खेत जोतते थे तो कहीं पथहीन प्रान्तर में बैलगाड़ी आर्त्त स्वर में चरर-मरर करती चली जाती थी। लेकिन खोवाइयों के इन गह्वरों में कहीं कोई प्राणी नहीं होता था। धूप-छाँही में चित्र-विचित्र बना लाल ककरों का यह निभृत जगत् न फल देता है, न फूल देता है, न फसल उगाता है। यहाँ किसी जीव-जन्तु का वास भी नहीं होता। यहाँ पर सिर्फ एक ही चीज दिखाई देती है और वह है किसी आर्टिस्ट विधाता का कोई जैसा-तैसा चित्र आँकने का शौक। ऊपर मेघहीन नीला आकाश धूप से पाण्डुर हो उठता है, और नीचे भाँति-भाँति की आँकी-बाँकी बन्धुर रेखाओं पर मोटी कूची से लाल कंकारों का रंग भरा जाता है। सृष्टिकर्त्ता के लड़कपने के अलावा इसमें और कोई भी विशेषता दिखाई नहीं पड़ती। इसकी रचना के छन्द का तुक बालक के खेल के साथ ही मिलता है। इसके पहाड़, इसकी नदियाँ, इसके जलाशय, इसके गुहागह्वर आदि सभी चीजे बालक-मन के परिमाप के अनुसार ही बनी हैं।

× × ×

आज शान्तिनिकेतन में छितवन का जो अति-प्राचीन वृक्ष-युगल मालती-लता से आच्छन्न है, किसी ज़माने में उसके अतिरिक्त यहाँ के इतने बड़े मैदान में और कहीं कोई वृक्ष नहीं था। छितवन का यह जोड़ा डाकुओं का अड्डा था। शिथिल राष्ट्र-शासन के उस युग में इसकी छाँहों तले न जाने कितने छाया-प्रत्याशी थके बटोहियों ने धन या प्राण या दोनों गँवाये होंगे।

कभी इस छितवन-युगल की छाँह को देखकर दूर-पथ-यात्री पथिक विश्राम की आशा से यहाँ आया करते थे। मेरे पितृदेव भी रायपुर के भुवन सिंह के घर का नेवता पूर कर पालकी पर सवार इधर से लौट रहे थे, तो सुनसान नंगे मैदान के बीच खड़े इस वृक्ष-युगल का आह्वान उनके प्राणों को छू गया था और यहाँ पर शान्ति पाने की प्रत्याशा में उन्होंने यह ज़मीन रायपुर के सिंह-परिवार से दान के रूप में ले ली थी। फिर उन्होंने यहाँ पर एक एकमंजिला मकान बनवाकर और रुक्ष रिक्त भूमि मे अनेक वृक्ष लगवाकर इसे साधना-स्थल बना लिया था और जब-तब साधना के लिए यहाँ आकर आश्रय लिया करते थे।

× × ×

पहले-पहल उस बाल-वय में यहाँ की प्रकृति का जो आमंत्रण मुझे मिला था—यहाँ के अनवरुद्ध आकाश और मैदान ने, दूर से प्रतिभात नीलाभ शाल-श्रेणी और ताल-श्रेणी के समुच्च शाखा-पुञ्जों की श्यामला शान्ति ने जो संदेश मुझे दिया था, वह तभी से स्मृति की सम्पदा के रूप में मेरे स्वभाव का स्थायी अंग बन गया है। उसके बाद मैंने इस आकाश और इस प्रकाश मे साँझ-सवेरे पितृदेव की पूजा का नीरव निवेदन देखा है, उसकी गहरी गम्भीरता देखी है। तब यहाँ पर और कुछ भी नही था, न इतने पेड-पौधे थे न लोगों की और कामों की ऐसी भीड थी। थी केवल इस दूर-व्यापी निस्तब्धता मे एक निर्मल महिमा।

× × ×

उसके बाद उस समय का बालक जब यौवन के प्रौढ-विभाग मे प्रविष्ट हो चुका था, तब उसे बालकों की शिक्षा के लिए तपोवन की तलाश हुई। पर ऐसा तपोवन वह और कहीं, दूर कहीं, ढूँढने जाता ही क्यों? मैं पिता के पास पहुँचा। उनसे मैंने यह निवेदन किया शान्तिनिकेतन तो इस समय लगभग शून्य अवस्था मे है, वहाँ यदि एक आदर्श विद्यालय स्थापित कर सका तो उसे सार्थकता मिल सकती है। उन्होंने सुनते ही बड़े उत्साह के साथ अनुमति दे दी।

× × ×

उसके बाद सिर्फ हमारी इच्छा ही नहीं, काल का धर्म भी काम करता रहा है। उसने कितने परिवर्तन ला दिये हैं, कितनी गयी आशाएँ और व्यर्थताएँ, कितने ही सुहृदों के अकल्पनीय आत्मनिवेदन और कितने अनजाने लोगों की अकारण शत्रुता, कितनी मिथ्या निन्दाएँ और अतिरञ्जित प्रशंसाएँ, आर्थिक और पारमार्थिक कितनी ही दुस्साध्य समस्याएँ आदि उसने उपहार में दी हैं! पारितोषिक मिले या न मिले, पर अपनी क्षति तो अपने साध्य की सीमा तक कर ली है—अन्त में क्लान्त देह और जीर्ण स्वास्थ्य को देखते हुए मेरी भी बिदाई का दिन आ ही पहुँचा है—इतने दिनों तक ऐसे सुदीर्घ, कठोर और दुर्गम पथ पर जिन्होंने मुझे चलाया है, उन्हें प्रणाम करके विदा लेता हूँ। इतने दिनों की इस साधना की विफलता तो बाहर प्रकट होती है, पर इसकी सफलता का, इसकी सार्थकता का सम्पूर्ण प्रमाण अलिखित इतिहास के अदृश्य अक्षरों में ही निहित रह जाता है।

प्रथम प्रकाशन आश्विन १३४९ ब

भान् १ वैशाख १८८० शक

३

भारतवर्ष में इतिहास की धारा

समस्त विश्व की व्यवस्था में निःश्वास और उच्छ्वास, निमेष और उन्मेष, निद्रा और जागरण का क्रम बँधा हुआ है। एक बार भीतर की ओर, तो दूसरी बार बाहर की ओर झुकने-उठने की क्रिया निरंतर चलती रहती है। रुकने और चलने के अविरत योग से ही विश्व की गतिक्रिया सम्पन्न होती है। विज्ञान कहता है, वस्तु-मात्र छिद्रयुक्त है—अर्थात् 'है' और 'नहीं' की समष्टि में ही उसका अस्तित्व है। आलोक और अंधकार, प्रकाशन और आच्छादन, छन्द की रक्षा करते हुए चलते हैं, वे सृष्टि को विच्छिन्न नहीं करते; बल्कि उसे ताल के अनुसार आगे बढ़ाते हैं।

जब हम घड़ी की ओर देखते हैं तब यदि मिनट और घंटों की सुइयों पर विशेष ध्यान दें तो ऐसा लगता है कि वे या तो अविराम चलती जा रही हैं या बिलकुल ही नहीं चल रही हैं। लेकिन सेकंड की सुई पर ध्यान दें तो हम देखते हैं कि वह टिक-टिक करती हुई रुक-रुककर आगे बढ़ती है।

दोलक, जो एक बार बाईं ओर रुककर दाहिनी ओर जाता है और फिर दाहिनी ओर रुककर बाईं ओर पलटता है, वह भी सेकंड-सुई के ताल और लय के अधीन होता है। विश्व की कार्य-प्रणाली में हम केवल मिनट का काँटा देखते हैं। यदि सेकंड का काँटा देख पाते तो हम अनुभव करते कि विश्व प्रति निमिष रुकता है और चलता है, उसकी अविराम तान में क्षण-प्रतिक्षण लय का उतार-चढ़ाव है। सृष्टि के द्वंद्व-दोलक की एक ओर 'हाँ' है, दूसरी ओर 'नहीं', एक ओर 'ऐक्य' है दूसरी ओर 'द्वैत' एक ओर 'केन्द्राभिमुख' शक्ति है दूसरी ओर 'केन्द्र-विमुख' शक्ति। इस विरोध का समन्वय करने के लिए हम तर्कशास्त्र में कितने ही असाध्य मतवाद गढ़ते हैं। लेकिन सृष्टि-शास्त्र में ये विरोधी शक्तियाँ अपने-आप मिल जाती हैं और विश्व-रहस्य को अनिर्वचनीय बना देती हैं।

शक्ति यदि अकेली हो तो वह अपने एकाकी बल से लम्बी रेखा बनाती हुई उद्धत वेग से सीधी चलती रहे, दाएँ-बाएँ मुड़कर भी न देखे। लेकिन शक्ति को जगत् में एकाधिपत्य नहीं दिया गया, उसका एक जोड़ा है जिसके साथ वह बँधी हुई है। और उन दोनों के विरोध से विश्व की प्रत्येक वस्तु नम्र हो जाती है, वर्तुलाकार और सुसम्पूर्ण हो जाती है। सीधी लाइन की समाप्ति हीनता, उसकी तीव्र-तीक्ष्ण, कृशता विश्व-प्रकृति में नहीं है, वर्तुल की सुन्दर-पुष्ट परिसमाप्ति ही विश्व के लिए स्वाभाविक है। एकाग्र शक्ति की सीधी रेखा से सृष्टि नहीं हो सकती। वह केवल भेद सकती है। किसी चीज को धारण नहीं कर सकती, घेर नहीं सकती। वह बिलकुल रिक्त है, प्रलय की रेखा है। उसमें रुद्र के प्रलय-पिनाक की तरह एक ही सुर है, संगीत नहीं है। इसीलिए शक्ति जब एकांगी होती है तो वह विनाश का कारण हो जाती है। दो शक्तियों के योग

से ही विश्व का छन्द जीवित रहता है। हमारा यह जगत्-काव्य मित्राक्षर है—उसके पदों में जोड़ियों का मिलन है।

विश्व-प्रकृति मे यह छंद जैसा स्पष्ट और बाधाहीन है वैसा मानव-प्रकृति में नहीं। आकुंचन और प्रसारण के तत्त्व उसमे भी हैं, लेकिन उनके सामंजस्य की रक्षा हम आसानी से नहीं कर पाते। विश्व के गान मे ताल सहज है, मनुष्य के गान मे ताल दीर्घ साधना की सामग्री है। हम कई बार द्वंद्व के एक पक्ष की ओर इतना अधिक झुक जाते हैं कि दूसरे पक्ष की ओर लौटने में देर हो जाती है। इससे ताल टूट जाता है, और प्राणपण से भूल सुधारने का प्रयत्न करते-करते पसीने मे चूर होकर हमे उठना पड़ता है। एक ओर 'आत्म' दूसरी ओर 'पर', एक ओर 'अर्जन' दूसरी ओर 'वर्जन', एक ओर 'सयम' दूसरी ओर 'स्वाधीनता', एक ओर 'आचार' दूसरी ओर 'विचार' मनुष्य को खींचते रहते हैं। इन दो विरोधी शक्तियो का ताल बचाकर सम पर पहुँचने की शिक्षा ही मनुष्यत्व की शिक्षा है। इस ताल-अभ्यास का इतिहास ही मनुष्य का इतिहास है। भारत के इतिहास में यह ताल-साधना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

ग्रीस, रोम, बॅबिलन इत्यादि सभी प्राचीन सभ्यताओं में शुरू से ही जाति-सघात था। इस जाति-सघात के वेग में मनुष्य दूसरों के बीच मे गुजरकर फिर अपने-आपमे पूरी तरह जागृत हो उठता है। इस तरह के सघात से ही मनुष्य रूढ़ि से ऊपर उठकर यौगिक विकास-लाभ करता है, और इसी को सभ्यता कहते हैं।

भारतीय इतिहास का पर्दा उठते ही पहले अंक में हम आर्य-अनार्य का प्रचड जाति-सघात देख पाते हैं। इस सघात के प्रथम, प्रबल वेग मे अनार्यो के प्रति आर्यो में जो विद्वेष उत्पन्न हुआ उसी के प्रभाव में आर्यजाति के लोग आपस मे सयत हो सके, एक हो सके।

इस तरह से एक होना आवश्यक भी था। भारत मे आर्यों का प्रवेश एकदम से नहीं हुआ—समय-समय पर छोटे-छोटे दलो मे वे आते रहे। उन सबके गोत्र, देवता, मत्र एक नहीं थे। बाहर से यदि कोई प्रबल आघात उन पर न होता तो आर्य-उपनिवेशो का देखते-ही-देखते शाखा-प्रतिशाखाओं में विभाजन हो जाता। वे अपने-आपको एक न समझते, अपने बाह्य भेदों पर ही अधिक ध्यान देते। उन्हे दूसरो के साथ सघर्ष करना पड़ता, तभी आर्य अपने-आपको उपलब्ध कर सके।

विश्व के सभी पदार्थो की तरह सघात के भी दो पक्ष है – इसके एक पक्ष मे विच्छेद है, दूसरे पक्ष में मिलन। इस सघात की प्रथम अवस्था में अपने वर्ण की रक्षा के लिए आर्यों में आत्म-संकोचन की प्रवृत्ति थी। लेकिन यह असभव था कि इतिहास की धारा वहीं रुक जाती। विश्व-छंद के नियमानुसार एक दिन इतिहास को आत्म-प्रसारण के पथ पर चलकर मिलन की ओर अग्रसर होना पड़ा।

अनार्यों के साथ जब उनका सघर्ष चल रहा था उस समय आर्य-समाज में कौन-से वीर थे, यह हम नहीं जानते। भारत के महाकाव्यों में उनके चरित्र का कोई विशेष वर्णन नहीं है। हो सकता है कि जनमेजय के सर्पयज्ञ की कथा में प्राचीन युग के किसी प्रचंड युद्ध का इतिहास छिपा हो। वंश-परंपरागत शत्रुता की प्रति-हिंसा के लिए सर्प-उपासक अनार्य नागजाति का सदा के लिए ध्वंस करने का दारुण उद्योग जनमेजय ने किया था। इस पौराणिक कथा में आर्यों और

अनार्यों का संघर्ष व्यक्त हुआ है। लेकिन राजा जनमेजय कों इतिहास में कोई विशेष गौरव प्राप्त नहीं हुआ। इसके विपरीत जिन्होंने अनार्यों के साथ आर्यों का मिलन कराने का सफल प्रयत्न किया। उनकी हमारे देश में आज तक अवतार के रूप में पूजा की गयी है। प्राचीन काल में आर्य-अनार्य का योग-बन्धन एक महान् उद्योग का अंग था। रामायण में इस उद्योग के कर्णधारों के रूप में हम तीन क्षत्रियों को देखते हैं—जनक, विश्वामित्र और रामचन्द्र। इन तीनों में केवल व्यक्तिगत योग नहीं था, एक गम्भीर अभिप्रायजन्य योग भी था। हम देखते हैं कि रामचन्द्र के जीवन में विश्वामित्र दीक्षादाता थे; और विश्वामित्र ने रामचन्द्र के सामने जो लक्ष्य स्थापित किया था वह उन्होंने राजा जनक से प्राप्त किया था।

हो सकता है कि कालगत इतिहास की दृष्टि से जनक, विश्वामित्र और रामचन्द्र को समसामयिक कहना ठीक न हो, पर भागवत-इतिहास की दृष्टि में ये तीनों व्यक्ति परस्पर निकटवर्ती थे। आकाश के युग्म नक्षत्र को यदि पास से देखा जाय तो बीच के व्यवधान उन्हें अलग कर देते हैं; लेकिन नक्षत्रों का जोड़ा दूर से स्पष्ट दिखाई देता है। राष्ट्रीय इतिहास के आकाश में भी इस तरह के अनेक युग्म नक्षत्र हैं। काल-व्यवधान की दृष्टि से देखने पर उनका ऐक्य ओझल हो जाता है, लेकिन एक आन्तरिक योग का आकर्षण उन्हें मिलाये रखता है। इसलिए जनक-विश्वामित्र-रामचन्द्र में काल का योग न होते हुए भी भाव का योग हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

इस तरह भागवत-इतिहास में व्यक्ति धीरे-धीरे भाव का स्थान ग्रहण करता है। ब्रिटिश पुराण-कथा में राजा आर्थर इसी तरह के व्यक्ति हैं। राष्ट्रीय चित्त में उन्होंने व्यक्ति-रूप त्यागकर भाव-रूप धारण किया है। वैसे ही जनक और विश्वामित्र आर्य इतिहास से उत्पन्न एक विशेष भाव के प्रतीक बन गये हैं। मध्ययुगीन योरोप में क्षत्रियों के सामने जो एक विशेष 'क्रिश्चन' आदर्श था उसी से प्रेरित होकर राजा आर्थर प्रतिपक्ष के विरुद्ध लड़ते हैं। उसी तरह भारतीय इतिहास में दीर्घकाल तक किये गये उस घोर संग्राम का आभास मिलता है जिसके लिए क्षत्रियों को धर्म और आचरण के एक विशेष आदर्श ने प्रोत्साहित किया था। इस संग्राम में ब्राह्मण ही उनके मुख्य विरोधी थे, इस बात का प्रमाण है।

उस समय के नवक्षत्रियों का क्या दृष्टिकोण था, इसको पूरी तरह से समझना आज हमारे लिए असंभव है। संघर्ष और जय-पराजय के बाद जब सभी पक्षों में समझौता हो गया तब समाज के बीच विरोध के विषय पृथक् नहीं रहे। संघर्ष के घाव शीघ्रातिशीघ्र भर जायें, यही चेष्टा सब लोग करने लगे। उस समय नये दल के आदर्श को स्वीकार करते हुए ब्राह्मणों ने देश में फिर अपना स्थान ग्रहण किया। फिर भी ब्राह्मण-क्षत्रिय के आदर्श में जो प्रभेद था उसका थोड़ा-बहुत आभास हमें मिलता है। यज्ञ-विधियों की विद्या कुल-केन्द्रित थी। आर्यों के प्रत्येक कुल में, एक कुलपति का आश्रय लेकर, विशेष स्तवन-मंत्र निर्धारित हुए और देवताओं को सन्तुष्ट करने का विशेष विधि-विधान निर्मित और रक्षित हुआ। जिन लोगों को इन सब बातों की जानकारी थी, उनके लिए यह सम्भव हुआ कि पुरोहित का काम करते हुए विशेष रूप से यश और धन प्राप्त कर सकें। इस तरह धर्म-कार्य एक पेशा बन गया—जो कृपण के धन की तरह—साधारण लोगों की पहुँच के बाहर था। यह सब मंत्र और विद्यानुष्ठान विशेष विधियों में

बँधे हुए थे, और उनका प्रयोग करने का भार स्वभावतः एक विशेष श्रेणी के लोगों पर था। जो लोग आत्मरक्षा, युद्ध और देश-विजय के कार्य में व्यस्त रहते थे वे इस भार को ग्रहण न कर सके, क्योंकि इसमें दीर्घ अध्ययन और अभ्यास की आवश्यकता थी। यदि इन सब विधियों की रक्षा करने का भार एक विशेष श्रेणी के लोग अपने ऊपर न लेते तो कुल-परम्परा विच्छिन्न हो जाती और पुरखों के साथ योग-धारा नष्ट होकर समाज की श्रृंखला टूट जाती। इसीलिए जहाँ समाज का एक वर्ग युद्ध और शासन के अध्यवसायों में लगा था, वहाँ दूसरा एक वर्ग वंश के प्राचीन धर्म और अन्य स्मरणीय मूल्यों को विशुद्ध तथा अविच्छिन्न रखने के लिए विशेष रूप से प्रवृत्त हुआ।

लेकिन जब किसी विशेष वर्ग के ऊपर इस तरह के कार्य का भार पड़ता है, तब समस्त देश के चित्त-विकास और धर्म-विकास की एकतानता में बाधा पड़ती है। वह विशेष वर्ग धर्म-विधियों को संकीर्ण स्थान में अवरुद्ध कर देता है, सारे देश के मन की अग्रगामिनी गति के साथ उसका सामंजस्य नहीं रहता। क्रमशः अचेतन रूप से यह सामंजस्य-विनाश इस सीमा तक पहुँच जाता है कि अन्त में क्रान्ति के अतिरिक्त समन्वय-साधना का कोई उपाय नहीं रह जाता। इस तरह एक समय जब ब्राह्मण आर्यों की परम्परागत प्रथाओं और पूजा-पद्धतियों पर अधिकार जमा रहे थे, और समस्त क्रिया-कांड को क्रमशः जटिल बना रहे थे, उस समय दूसरी ओर क्षत्रिय सर्व प्रकार की प्राकृतिक और मानवीय बाधाओं में संग्राम करते-करते विजयोल्लास के साथ अग्रसर हो रहे थे।

उस समय क्षत्रिय समाज ही आर्यों के लिए प्रधान मिलन-क्षेत्र था। शत्रुओं से युद्ध करते हुए जो लोग रणभूमि में साथ-साथ प्राण देने के लिए प्रस्तुत थे, उनमें जैसा मिलन सम्भव था वैसा किसी और वर्ग में नहीं था। मृत्यु के सम्मुख जो लोग एकत्र होते हैं वे पारस्परिक भेदों को महत्व नहीं देते। सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में मंत्रों, देवताओं और यज्ञ-कार्यों की अलग-अलग रक्षा करना क्षत्रियों का व्यवसाय नहीं था। वे मानव-जीवन के कठिन और असमतल क्षेत्र में नये-नये घात-प्रतिघात के बीच पले थे। इसलिए प्रथामूलक, बाह्यानुष्ठानगत प्रभेद क्षत्रिय-हृदय में सुदृढ़ नहीं हुए। आत्मरक्षा और उपनिवेश-विस्तार के सन्दर्भ में आर्यों का ऐक्यसूत्र क्षत्रियों के ही हाथ में था। इस तरह किसी समय क्षत्रियों ने समस्त अनैक्य के अन्तर्गत जो सत्य पदार्थ है, उसका अनुभव किया। इसलिए ब्रह्मविद्या विशेष रूप से क्षत्रियों की विद्या हो उठी। ऋक्, यजु, साम प्रभृति को अपरा विद्या घोषित किया गया, और होम, यज्ञ प्रभृति जिस कार्मकाड को ब्राह्मणों ने यत्नपूर्वक रक्षा की थी उसे निष्फल और त्याज्य बताया गया। इससे स्पष्ट देखा जा सकता है कि पुरातन-नूतन का विरोध उन दिनों चल रहा था।

समाज में जब कोई प्रबल, संक्रामक भावना जाग उठती है तो वह किसी बंधन को नहीं मानती। आर्य-जाति का ऐक्यबोध जब परिस्फुट हो उठा तो समाज में सर्वत्र इस अनुभूति का संचार होने लगा कि देवताओं के नाम चाहे अलग-अलग हों, सत्य एक है। अतएव विशेष देवता को किसी विशेष स्तवन या विधि से सन्तुष्ट करके कोई विशेष फल प्राप्त किया जा सकता है, यह धारणा समाज से दूर होने लगी। अलग-अलग दलों में जो उपासना-भेद था वह भी स्वाभाविक रूप से कम होने लगा। फिर भी क्षत्रियों में ही ब्रह्मविद्या को विशेष रूप से अनुकूल

आश्रय मिला, और इसीलिए ब्रह्मविद्या को राजविद्या कहा गया। ब्राह्मण-क्षत्रिय का यह प्रभेद सामान्य नहीं है; यह बाह्य-पक्ष और आन्तरिक-पक्ष का प्रभेद है। जब हमारी दृष्टि बाहर की ओर मुड़ती है, हम केवल बहुत्व और विचित्रता को देख पाते हैं; जब दृष्टि अन्तर्मुखी होती है हम 'एक' को देख सकते हैं। जब हम बाह्यशक्ति को देवता मानते हैं, तब तरह-तरह के मंत्र-तंत्र और बाह्य प्रक्रियाओं द्वारा उस देवता को अपना पक्षपाती बनाने की चेष्टा करते हैं। इसलिए बाहर की विविध शक्तियों को जब देवताओं का स्थान मिलता है तब बाह्य अनुष्ठान हमारे लिए धर्म-कार्य बन जाता है। और अनुष्ठानों के प्रभेद तथा उनकी गूढ़ शक्ति के अनुसार हम फल के तारतम्य की कल्पना करते हैं।

इस तरह समाज और आदर्श दोनों में ही ब्राह्मण-क्षत्रिय में जो भेद उत्पन्न हुआ उसका मूर्त स्वरूप हम दो देवताओं में देख सकते हैं—प्राचीन, वैदिक मन्त्र-तन्त्र और क्रियाकांड का देवता है ब्रह्मा और नये वर्ग का देवता है विष्णु। ब्रह्मा के चार मुख चार वेद हैं। वह सदा के लिए ध्यानरत है, स्थिर है। विष्णु के चार हाथ क्रियाशील हैं, नये-नये क्षेत्रों में मंगल की घोषणा करते हैं, ऐक्यचक्र को प्रतिष्ठित करते हैं, विश्व-शासन को प्रचारित और सौन्दर्य को विकसित करते हैं।

देवताओं का जब बाह्य वासत्व होता है तब मनुष्य के साथ उनके आत्मीय सम्बन्ध की अनुभूति नहीं होती, उनके साथ हमारा सम्बन्ध केवल कामना और भय पर आधारित होता है। स्तवन द्वारा देवताओं को अपने वश में करके हम उनसे धन माँगते हैं, दीर्घ आयु और शत्रु-पराभव माँगते हैं। हम इस आशंका से अभिभूत रहते हैं कि यदि हमारे यज्ञ-अनुष्ठान में कोई त्रुटि हुई तो देवतागण अप्रसन्न होंगे और हमारा अनिष्ट होगा। कामना और भय से प्रेरित यह पूजा बाह्य पूजा है परकीय पूजा है। देवता जब हमारे हृदय की सम्पदा हो जाते हैं, तभी आन्तरिक पूजा आरम्भ होती है। और यही भक्तिमय पूजा है।

भारतवर्ष की ब्रह्मविद्या में हम दो धाराएँ देखते हैं — निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म, अभेद और भेदाभेद। यह ब्रह्मविद्या कभी सम्पूर्ण रूप से एक की ओर झुकती है, कभी वह द्वैत को मानकर उसी द्वैत के बीच एक को देखती है। बिना 'दो' को माने पूजा नहीं होती, और बिना 'दो के बीच 'एक' को माने भक्ति नहीं होती। द्वैतवादी यहूदियों का दूरवर्ती देवता भय का देवता था, शासन और नियम का देवता था। 'नये टेस्टामेंट' में जब उसने मानव के साथ एक होकर आत्मीयता स्वीकार कर ली, तब वह प्रेम और भक्ति का देवता हो गया। वैदिक देवता जब मनुष्य से पृथक् थे तब उनकी पूजा अवश्य चलती थी। लेकिन परमात्मा और जीवात्मा जब आनन्द की अचिन्त्य रहस्य-लीला में 'एक' होते हुए भी 'दो', और 'दो' होते हुए भी 'एक' होते हैं, तभी अन्तरतम देवता की भक्ति की जाती है। इसलिए ब्रह्मविद्या के आनुषंगिक रूप से ही भारतवर्ष में प्रेम और भक्ति का धर्म आरम्भ हुआ। इस भक्ति-धर्म का देवता विष्णु है।

संघर्ष के बाद वैष्णव धर्म को ब्राह्मणों ने अपना लिया। लेकिन आरम्भ में उन्होंने वैसा नहीं किया। इस बात के कुछ प्रमाण अभी अवशिष्ट हैं। ब्राह्मण भृगु ने विष्णु के वक्ष पर पदाघात किया था—इस कहानी में विरोध का इतिहास निहित है। वेदों में भृगु को यज्ञकर्ताओं और यज्ञ-फलभागियों का आदर्श माना गया है। पूजा के आसन पर जब ब्रह्मा का स्थान विष्णु

को मिला तब यज्ञ-क्रिया-कांड के युग को पीछे छोड़कर भक्ति-धर्म के युग ने पदार्पण किया। इस संधि-काल में एक बहुत बड़ा तूफान आया। और ऐसे तूफान का आना अपेक्षित भी था। जिनके हाथ में क्रियाकांड का अधिकार था, और जिन्होंने इस अधिकार द्वारा समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त किया था, वे आसानी से पीछे हटने के लिए तैयार नहीं थे।

यह भक्ति-धर्म या वैष्णव-धर्म विशेष रूप से क्षत्रिय-प्रवर्तित था। इस बात का एक प्रमाण यह है कि क्षत्रिय श्रीकृष्ण को हम इस धर्म के गुरु के रूप में देखते हैं, और श्रीकृष्ण के उपदेशों में वैदिक मंत्र और आचार के विरुद्ध आघात का परिचय मिलता है। इसी का दूसरा प्रमाण यह है कि प्राचीन भारत के पुराणों में जिन दो व्यक्तियों को विष्णु का अवतार मानकर स्वीकार किया गया है वे दोनो क्षत्रिय हैं—श्रीकृष्ण और श्रीरामचन्द्र। इससे स्पष्ट देखा जाता है कि क्षत्रिय-वर्ग का यह भक्ति-धन श्रीकृष्ण के उपदेश की तरह रामचन्द्र के जीवन द्वारा भी प्रचारित हुआ है। वृत्तिगत भेद से आरम्भ होकर ब्राह्मण-क्षत्रिय मे जो चित्तगत भेद-निर्माण हुआ था वह यहाँ तक बढ़ गया कि वह सामाजिक विप्लव की आग उगलने लगा। वशिष्ठ-विश्वामित्र की कहानी मे इस क्रांति का इतिहास निबद्ध है।

इस इतिहास मे ब्राह्मण-पक्ष ने वशिष्ठ का और क्षत्रिय-पक्ष ने विश्वामित्र का आश्रय लिया। मैं पहले कह चुका हूँ कि सभी ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर विरोधी दल मे हों ऐसी बात नहीं थी। ऐसे भी अनेक राजा थे जो ब्राह्मणों के पक्षपाती थे। कहा जाता है कि ब्राह्मणों की विद्या विश्वामित्र से पीड़ित होकर रो रही थी, हरिश्चन्द्र उसकी रक्षा करने के लिए उद्यत हुए, लेकिन अन्त मे राज्य, सम्पदा सब-कुछ खोकर विश्वामित्र के सामने उन्हें हार माननी पड़ी।

इस तरह के दृष्टान्त और भी हैं। प्राचीन काल की इस महाक्रांति के एक प्रधान नेता श्रीकृष्ण थे, जिन्होंने कर्मकाड की निरर्थकता से समाज को मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया। एक दिन उन्होंने पाडवों की सहायता से जरासंध का वध किया। यह राजा जरासंध तत्कालीन क्षत्रियों का शत्रु था; उसने अनेक क्षत्रिय राजाओं को बंदी बनाया था और कष्ट दिया था। भीम और अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण ने जब जरासंघ के घर में प्रवेश किया तब उन्हें ब्राह्मणों का छद्मवेश धारण करना पड़ा। इस ब्राह्मण-पक्षपाती और क्षत्रिय-विरोधी राजा का श्रीकृष्ण ने जो पाण्डवों द्वारा वध कराया वह केवल एक आकस्मिक घटना नहीं है। उस समय श्रीकृष्ण को लेकर दो दलों का निर्माण हुआ था। इन दो दलों को समाज में एक करने की इच्छा से युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ किया उस समय विरोधी दल के प्रतिनिधि शिशुपाल ने श्रीकृष्ण का अपमान किया। इस यज्ञ में सारे ब्राह्मणों और क्षत्रियों, आचार्यों और राजाओं के बीच श्रीकृष्ण को ही सर्वप्रधान मानकर अर्घ्य दिया गया था। इस यज्ञ में वे ब्राह्मणों के पदक्षालन के लिए नियुक्त थे। इस बात का बाद में जिस तरह बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया उससे ब्राह्मण-क्षत्रियों का विरोध स्पष्ट देखा जाता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में शुरू से ही यह सामाजिक संघर्ष देखा जा सकता है। यहाँ एक ओर श्रीकृष्ण का पक्ष था, दूसरी ओर श्रीकृष्ण का विरोधी पक्ष। विरुद्ध पक्ष के सेनापतियों में ब्राह्मण द्रोणाचार्य अग्रगण्य थे। कृप और अश्वत्थामा भी मामूली लोग नहीं थे।

इसलिए हम देख सकते हैं कि आरम्भ में ही भारतवर्ष के दोनों महाकाव्यों का मूल विषय था यही प्राचीन सामाजिक संघर्ष—अर्थात् समाज के भीतर नूतन और पुरातन का विरोध। यह

स्पष्ट है कि रामायण के युग में रामचन्द्र ने नये वर्ग का समर्थन किया। वशिष्ठ का सनातन धर्म रामचन्द्र का कुलधर्म था। वशिष्ठ-वंश ही उनका चिरपुरातन पुरोहित वंश था। फिर भी रामचन्द्र ने अल्प अवस्था में ही वशिष्ठ के विरुद्ध विश्वामित्र का अनुसरण किया। वास्तव में वशिष्ठ के बदले स्वयं राम के गुरु बनकर विश्वामित्र ने रामचन्द्र को उनके पैतृक अधिकार से वंचित किया था। राम ने जो पथ अपनाया उसके विषय में दशरथ की सम्मति नहीं थी, लेकिन विश्वामित्र के प्रबल प्रभाव के सामने उनकी आपत्ति टिक न सकी। आगे चलकर इस काव्य में राष्ट्रीय समाज के बृहत् इतिहास की स्मृति एक विशेष राजवंश की पारिवारिक घटनाओं में व्यक्त हुई। उस समय दुर्बल चित्त, वृद्ध राजा के स्त्रैण भाव को ही राम के वनवास का कारण बताया गया।

रामचन्द्र ने एक नया मार्ग अपनाया था, इस बात का एक और प्रमाण है। जिस भृगु ब्राह्मण ने विष्णु के वक्ष पर पदाघात किया था उसी के वंश में परशुराम का जन्म हुआ था। परशुराम ने क्षत्रिय-विनाश का व्रत लिया था। रामचन्द्र ने क्षत्रियों के इस कट्टर शत्रु को निरस्त्र कर दिया। निष्ठुर ब्राह्मण वीर का वध न करके राम ने उसे अपने वश में किया, इसी से हम समझ सकते हैं कि उन्होंने ऐक्य-साधन का व्रत ग्रहण किया और वीर्य तथा क्षमाशीलता से ब्राह्मण-क्षत्रियों का विरोध दूर करने का यत्न किया था। राम के जीवन मे सभी कार्यो मे इस उदार, वीर्यशाली सहिष्णुता का परिचय मिलता है।

विश्वामित्र ही राम को जनक के घर ले गये थे, और विश्वामित्र के निर्देशन में ही उन्होंने जनक की भू-कर्षण-जात कन्या को धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार किया था। इस इतिहास को घटनामूलक समझने की आवश्यकता नहीं है; इसे हम भावमूलक ही समझते हैं। इसके बीच यदि हम तथ्य ढूँढ़ें तो शायद हमे निराशा होगी, लेकिन सत्य इसमें अवश्य मिलेगा।

मूल कथा यह है कि जनक क्षत्रिय राजा थे। उन्हीं के आश्रय से ब्रह्मविद्या विकसित हो रही थी। यह विद्या केवल उनके ज्ञान का विषय नहीं थी बल्कि उनके समस्त जीवन से उसे रूप मिला था। अपने राज्य-संसार मे विविध कर्मों के केन्द्र-स्थल पर उन्होंने इसी ब्रह्मज्ञान की अविचलित रूप से रक्षा की थी, साथ ही यह बात भी इतिहास मे विख्यात है। चरम ज्ञान और भक्ति के प्रात्यहिक जीवन के छोटे-बडे सभी कर्मो का आश्चर्यजनक योगसाधन—इसी से भारत मे क्षत्रियों ने सर्वोच्च कीर्ति-लाभ किया। जो लोग क्षत्रियो के अग्रणी थे उन्होंने त्याग को ही भोग का लक्ष्य और कर्म को ही मुक्ति-लाभ का श्रेष्ठ उपाय माना था।

जनक एक ओर ब्रह्मज्ञान का अनुशीलन करते थे और दूसरी ओर अपने हाथ से हल चलाते थे। इसी से हम जान सकते है कि कृषि-विस्तार द्वारा आर्य सभ्यता का विकास क्षत्रियों के व्रतों मे से एक था। किसी दिन पशु-पालन ही आर्यो की उपजीविका का विशेष साधन था। धेनुए अरण्याश्रमवासी ब्राह्मणों की प्रधान सम्पदा मानी जाती थीं। वनभूमि मे गोपालन आसान होता है। तपोवन मे जो लोग शिष्य बनकर आते थे उनका एक मुख्य काम यह था कि वे गुरु की धेनुओं का पालन करते। लेकिन बाद में एक दिन रणविजयी क्षत्रियों ने आर्यावर्त से अरण्य-बाधा को दूर किया, और तब से पशु-संपद् के बदले कृषि-संपद् महत्त्वपूर्ण हो गयी। अमेरिका में योरोपीय उपनिवेशकारों ने जब अरण्य का उच्छेद किया और कृषि-विस्तार के लिए क्षेत्र प्रशस्त किया उस समय मृगयाजीवीनी अरण्यवासियों ने पग-पग पर उनका विरोध किया।

उसी तरह भारत में भी अरण्यवासियों और कृषकों में विरोध था, और इससे कृषि का काम विपद्‌जनक हो उठा था। जो लोग खेती के लिए जमीन तैयार करने जंगल जाते थे उनका काम आसान नहीं था।

जनक मिथिला के राजा थे, इसी से हम जान सकते हैं कि आर्य उपनिवेशों की सीमा आर्यावर्त के पूर्वप्रान्त तक जा पहुँची थी। उस समय दुर्गम विंध्याचल के दक्षिण की ओर अरण्य ज्यों-का-त्यों था, और वहीं द्राविड़ सभ्यता प्रबल होकर आर्यों की प्रतिद्वंद्वी हो गयी। रावण ने अपने पराक्रम से इन्द्र और अन्य वैदिक देवताओं को परास्त करके, आर्यों के यज्ञों में विघ्न डालकर अपने देवता शिव को विजय दिलाई थी। पृथ्वी के सभी समाजों में एक विशेष अवस्था में यह विश्वास देखने मे आता है कि युद्ध में विजय अपने विशेष देवता के प्रभाव से ही होती है। किसी पक्ष का पराभव उस पक्ष के देवता का पराभव माना जाता है। रावण ने आर्य देवताओं को परास्त किया, यह लोकश्रुति हमारे देश मे प्रचलित है। और इसका अर्थ यह है कि रावण ने अपने राजत्वकाल मे वैदिक देवताओं के उपासकों का बार-बार पराभव किया।

इस अवस्था मे आर्य समाज के सामने यह प्रश्न उठा था कि शिव का 'हरधनु' कौन तोड़गा। शिवोपासकों के प्रभाव का सामना करते हुए जो वीर दक्षिण खण्ड में आर्यों की कृषिविद्या और ब्रह्मविद्या को पहुँचा सके उसी को इस योग्य माना गया कि क्षत्रियों के आदर्श राजा जनक की मानस-कन्या के साथ विवाह करे। विश्वामित्र रामचन्द्र को 'हरधनु-भंजन की उसी दुःसाध्य परीक्षा मे ले गये थे। राम जब वन मे जाकर अनेक प्रबल शैव वीरों को निहित कर सके तभी वे 'हरधनु' तोड़ने की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सीता के साथ पाणिग्रहण करने के अधिकारी हुए। उस समय के अनेक वीर राजा सीता को ग्रहण करने के लिए उद्यत थे, लेकिन वे हरधनु न तोड़ सके और इसलिए राजर्षि जनक की कन्या को प्राप्त करने के गौरव से वंचित होकर उन्हे लौट जाना पड़ा। लेकिन इस दुःसाध्य व्रत का अधिकारी कौन होगा, इस बात के संधान में क्षत्रिय तपस्वीगण लगे रहे। एक दिन विश्वामित्र का यह संधान रामचन्द्र मे सार्थक हुआ।

रामचन्द्र जब विश्वामित्र के साथ चले तब वे तरुण अवस्था मे ही तीन बड़ी परीक्षाओं से उत्तीर्ण हो चुके थे। प्रथम, उन्होंने शैव राक्षसों को परास्त करके हरधनु तोड़ा था। द्वितीय, जो भूमि खेती के लिए अयोग्य होकर अहिल्या अर्थात् पाषाण—बनकर पड़ी थी, और इसी कारण दक्षिणापथ के प्रथम अग्रगामियों मे अन्यतम ऋषि गौतम ने जिस भूमि को पहले ग्रहण करके फिर अभिशप्त समझकर छोड़ दिया था, उसी पत्थर को सजीव करके रामचन्द्र ने अपने कृषि-नैपुण्य का परिचय दिया था।[१] तृतीय, क्षत्रियों के विरुद्ध ब्राह्मणों का जो विद्वेष प्रबल हो उठा था उसे भी क्षत्रिय-ऋषि विश्वामित्र के शिष्य ने अपने बाहुबल से परास्त किया था।

अकस्मात् युवराज के अभिषेक मे जो बाधा पड़ी और रामचन्द्र निर्वासित हुए, इसमें भी सम्भवतः उस समय की दो प्रबल शक्तियों का विरोध सूचित होता है। राम के विरुद्ध एक ऐसा

१ कुछ दिन पहले 'राक्षस-रहस्य' शीर्षक एक स्वाधीन चिन्तनपूर्ण निबन्ध की पाण्डुलिपि मैंने देखी। उसी में 'अहिल्या' शब्द की यह व्याख्या मुझे मिली। लेखक ने अपना नाम प्रकाशित नहीं किया है। उसके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

दल था जो निःसन्देह अत्यन्त प्रबल था और जिसका अन्तःपुर की रानियों पर विशेष प्रभाव था। वृद्ध दशरथ इस दल की उपेक्षा न कर सके। इसलिए अत्यन्त अनिच्छापूर्वक उन्हें अपने प्रियतम वीर पुत्र को निर्वासित करना पड़ा। इस निर्वासन में राम के वीरत्व में लक्ष्मण सहायक थे, और उनकी जीवन-संगिनी थी सीता। सीता को भी उन्होंने नाना विपत्तियों से और शत्रुओं के आक्रमणों से बचाया, और उसे वन-वनान्तर में, ऋषियों के आश्रमों और राक्षसों के आवासों के बीच ले गये।

आर्य-अनार्य के विरोध को विद्वेष के बीच जागृत रखकर युद्ध के द्वारा उसका समाधान करने का प्रयास अन्ततः बेकार था। प्रेम और मिलन के द्वारा, आन्तरिक रूप से मीमांसा करने पर, इतनी बड़ी समस्या भी आसान हो जाती है। लेकिन आन्तरिक मिलन इच्छा करने से ही नहीं होता। धर्म जब बाहर की वस्तु बन जाती है, अपने देवता को जब लोग विषय-सम्पत्ति की तरह नितान्त स्वकीय समझते हैं, तब मनुष्य-मनुष्य के मन का भेद किसी तरह दूर नहीं होता। ज्यू लोगों के साथ जेन्टाइल लोगों के मिलन का कोई रास्ता नहीं था, क्योंकि ज्यू 'जिहोवा' को विशेष भाव से अपनी जातीय सम्पत्ति मानते थे; उनकी यह धारणा थी कि 'जिहोवा' का समस्त अनुशासन, उनके द्वारा आदिष्ट समस्त विधि-निषेध 'ज्यू' जाति के ही लिए है। उसी तरह जब आर्य देवता और आर्य विधि-विधान विशेष जातिगत भाव से संकीर्ण हो गये तब आर्य-अनार्य के संघर्ष को मिटाने का एक ही मार्ग रह गया—अर्थात् दो पक्षों मे से एक का संपूर्ण विनाश। लेकिन क्षत्रियों के मन में देवता की धारणा जब विश्वजनीन हो गयी, जब बाहर के भेद-विभेद ही एकमात्र सत्य नहीं हैं, इस ज्ञान से मनुष्य की कल्पना को दैवी विभीषिकाओं से मुक्ति मिली, तभी आर्य-अनार्य के बीच वास्तविक मिलन-सेतु स्थापित होने की सम्भावना उत्पन्न हई। बाह्य क्रिया-कर्म के देवतागण आन्तरिक भक्ति के देवता हो गये और वे किसी विशेष शास्त्र, शिक्षा या जाति के बीच आबद्ध नहीं रहे।

क्षत्रिय रामचन्द्र ने एक दिन गुहक चाण्डाल को अपने मित्र के रूप मे स्वीकार किया था, यह जनश्रुति आज तक उनकी आश्चर्यजनक उदारता का परिचय देती आ रही है। परवर्ती युग के समाज ने 'उत्तर काण्ड' मे उनके इस चरित्र-माहात्म्य से ध्यान हटाना चाहा। शूद्र तपस्वी को रामचन्द्र ने वधदण्ड दिया, इस अपवाद पर ही बल देकर परवर्ती समाज-रक्षकों ने राम-चरित्र को अपने विचारपक्ष के अनुकूल बनाना चाहा। जिस सीता की राम ने सुख-दुःख मे रक्षा की थी, जिसे प्राण की बाज़ी लगाकर शत्रु के हाथों से छुड़ाया था, उस सीता का केवल सामाजिक कर्तव्य के अनुरोध से, निर्दोष होने पर भी उन्हे परित्याग करना पड़ा—'उत्तर काण्ड' में इस कहानी की सृष्टि की गयी। इससे स्पष्ट देखा जा सकता है कि आर्य-जाति के वीर-श्रेष्ठ, आदर्श चरित्र, पूज्य रामचन्द्र की जीवनी को सामाजिक आचार के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किसी दिन किया गया था। राम-चरित्र मे सामाजिक संघर्ष का जो इतिहास था उसके चिह्न यथासम्भव मिटाकर उसे परवर्ती काल में नये युग का सामाजिक आदर्श के अनुगत बनाया गया। उसी समय राम-चरित्र को गृह-धर्म और समाज-धर्म का आश्रय मानकर उस रूप में उसका प्रचार करने का प्रयत्न किया गया। किसी दिन रामचन्द्र स्वजाति को विद्वेष की संकीर्णता से प्रेम की व्यापकता की ओर ले गये थे, और इसी नीति के द्वारा एक विषम समस्या का समाधान करके देश में चिरकाल के लिए

वरणीद हो गये थे। लेकिन उनका यह कार्य विस्मृत होकर क्रमशः यही बात सामने आयी कि वे शास्त्रानुमोदित गार्हस्थ्य के आश्रय और लोकानुमोदित आचार के रक्षक थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक दिन जिस रामचन्द्र ने धर्मनीति और कृषिविद्या को नये पथ पर बढ़ाया था, परवर्ती काल में उन्हीं के चरित्र का पुराने विधि-बन्धनों के पक्ष में उपयोग किया गया। एक दिन जिन्होंने समाज के गति-पक्ष के लिए वीरता-प्रदर्शन किया था उन्हीं को स्थिति-पक्ष का वीर बताया गया। वस्तुतः रामचन्द्र के जीवन-काव्य में गति और स्थिति का सामंजस्य था, इसीलिए यह बात सम्भव हुई। फिर भी भारतवर्ष यह बात नहीं भूल सकता कि राम एक चाण्डाल के सुहृद, वानरों के देवता और विभीषण के मित्र थे। उनका गौरव इसमें नहीं है कि उन्होंने शत्रु का संहार किया, बल्कि इसमें कि उन्होंने शत्रु को अपना बनाया। आचारजन्य निषेध और सामाजिक विद्वेष की बाधाओं का उन्होंने अतिक्रमण किया। आर्य-अनार्य के बीच उन्होंने प्रीति का सेतु निर्माण किया।

मानव-विज्ञान का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि अनेक बर्बर जातियों मे किसी विशेष जन्तु को पवित्र मानकर उसकी पूजा की जाती है। अक्सर ये लोग अपने-आपको इसी विशेष जन्तु का वंशधर समझते हैं, और इस जन्तु का नाम जाति के नाम से जुड़ जाता है। भारतवर्ष मे इसी तरह नाग वंश का परिचय मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि रामचन्द्र ने किष्किधा मे जिस अनार्य जाति को अपने वश में किया था वह ऐसे ही किसी कारण से 'वानर' के नाम से परिचित हुई होगी। केवल वानर ही नहीं, रामचन्द्र के दल में 'भालू जाति' भी थी। वानर यदि अवज्ञा-सूचक उपाधि होती तो 'भालू' उपाधि और भी निरर्थक हो जाती।

रामचन्द्र ने वानरों को राजनीति के द्वारा नहीं, वरन् भक्ति-धर्म से अपने वश मे किया था। इस तरह हनुमान की भक्ति प्राप्त करके राम को देवता का स्थान मिला। पृथ्वी पर सर्वत्र यही देखा जाता है कि जो भी महात्मा बाह्य-धर्म के स्थान पर भक्ति-धर्म जागरित करता है वह स्वय पूजा का विषय बन जाता है। श्रीकृष्ण, ईसा, मुहम्मद, चैतन्य इत्यादि महापुरुष इसी बात के दृष्टान्त हैं। सिख, सूफी, कबीरपंथी—इन सभी लोगों मे हम देखते हैं कि जिनके आश्रय से भक्ति प्रकाशित होती है वे अनुवर्तियों की दृष्टि में देवत्व लाभ करते हैं। वे भगवान के साथ भक्त का अन्तरतम योग प्रस्थापित करते हैं और इसी क्रिया मे देवत्व तथा मनुष्यत्व के बीच जो रेखा है उसका अतिक्रमण करते हैं। इस तरह हनुमान और विभीषण रामचन्द्र के उपासक और भक्त वैष्णव के रूप में विख्यात हुए हैं।

रामचन्द्र धर्म के द्वारा अनार्यों पर विजय पाकर उनकी भक्ति के अधिकारी हुए। उन्होंने बाहु-बल से उन लोगों को परास्त करके राज्य-विस्तार नहीं किया। दक्षिण में उन्होंने कृषि-प्रधान सभ्यता और भक्ति-मूलक एकेश्वरवाद का प्रचार किया। उनके बोये हुए इस बीज का फल अनेक शताब्दियों तक भारतवर्ष उपभोग करता रहा। क्रमशः दाक्षिणात्य में दारुण शैव-धर्म ने भी भक्ति-धर्म का रूप ग्रहण किया। एक दिन दक्षिण मे ही ब्रह्मविद्या की दो धाराएँ निकलीं—भक्ति-स्रोत और अद्वैत ज्ञान का स्रोत—जिन्होंने सारे भारतवर्ष को प्लावित किया।

आर्यों के इतिहास में हमने संकोचन और प्रसारण के रूप देखे। मनुष्य का एक ओर उसका 'विशेषत्व' होता है और दूसरी ओर उसका 'विश्वत्व'। इन दोनों दिशाओं के आकर्षण ने भारत को किस तरह प्रभावित किया है इस बात का यदि हम निरीक्षण न करें तो हम भारतवर्ष को

समझ नहीं सकेंगे। किसी समय उसकी आत्म-रक्षण-शक्ति ब्राह्मणों के हाथ में थी और आत्म-प्रसारण-शक्ति क्षत्रियों के हाथ में। क्षत्रिय जब आगे बढ़े तो ब्राह्मणों ने उन्हें रोका। लेकिन बाधाओं को पार करते हुए जब क्षत्रिय समाज को विस्तार की दिशा में ले गये तब ब्राह्मणों ने फिर से नूतन को पुरातन के साथ बाँधकर समस्त को आत्मसात् कर लिया और उसकी सीमाएँ निर्धारित कीं। भारतवर्ष में ब्राह्मणों के इस काम की योरोपीय लोगों ने सर्वदा आलोचना की है। वे समझते हैं कि 'ब्राह्मण' नाम के एक विशेष व्यवसायी दल ने यह सब कराया है, अर्थात् समाज को आगे बढ़ने से रोका है। वे भूल जाते हैं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय में जातिगत भेद नहीं है, दोनों एक ही जाति की स्वाभाविक शक्तियाँ हैं। इंग्लैंड में समस्त ब्रिटिश जाति लिबरल और कंजरवेटिव इन दो शाखाओं में विभक्त होकर राजनीति का निर्देशन करती है। इन दो शाखाओं की प्रतियोगिता में विवाद भी है, कौशल भी है, शायद भ्रष्टाचार और अन्याय भी है। लेकिन इन दोनों सम्प्रदायों को एक-दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र रूप में देखना ठीक नहीं होगा। आकर्षण-शक्ति और विकर्षण-शक्ति की तरह ये दोनों बाहर से देखने पर विरोधी लगते हैं, लेकिन अन्दर से एक ही सृजनशक्ति के दो रूप हैं। इसी तरह भारतीय समाज में स्थिति और गति की स्वाभाविक शक्तियों ने दो अलग श्रेणियों का अवलम्बन करके इतिहास का सृजन किया है। इनमें से कोई पक्ष कृत्रिम नहीं है।

लेकिन यह अवश्य देखा जाता है कि भारतवर्ष मे स्थिति और गति के सम्पूर्ण सामंजस्य की रक्षा नहीं हुई। समस्त विरोध के बाद ब्राह्मणों ने ही समाज में प्राधान्य लाभ किया। इसे ब्राह्मणों के विशेष चातुर्य का परिणाम कहना इतिहास के विरुद्ध होगा। इसका वास्तविक कारण भारत की विशेष अवस्था मे ही मिल सकता है। भारत मे जिन जातियों का संघात हुआ, उसका आपस मे आत्यन्तिक विरोध था। उनके बीच वर्ण और आदर्श के भेद इतने तीव्र थे कि इस प्रबल विरुद्धता के आघात से भारत मे आत्मरक्षण-शक्ति ही अधिक बलवती हो उठी। आत्म-प्रसारण की दिशा मे जाने से अपने-आपको खो देने की सम्भावना थी। इसीलिए पग-पग पर समाज की सतर्कता-वृत्ति जागृत होती रही।

जो साहसी पर्वतारोही हिमाच्छादित आल्प्स के शिखरों पर चढ़ने की कोशिश करते हैं वे अपने-आपको रस्सी से बाँधकर अग्रसर होते हैं। चलते-चलते वे अपने को बाँधते हैं और बाँधते-बाँधते चलते हैं। वहाँ आगे बढ़ने का यही स्वाभाविक उपाय है, उसमें चालकों का कौशल नहीं है। जो बंधन कारागृह मे मनुष्य को जकड़कर रखता है वही बधन दुर्गम पर्वत-पथ पर आगे बढ़ने में उसकी मदद करता है। भारतवर्ष में भी समाज अपने-आपको रस्सी से बाँध-बाँधकर आगे बढ़ा है, क्योंकि अपने पथ पर अग्रसर होने के बदले पैर फिसलकर दूसरों का पथ नष्ट होने की आशंका उसके सामने थी। इसीलिए स्वाभाविक नियम से भारतवर्ष में आत्म-प्रसारण-शक्ति की अपेक्षा आत्म-रक्षण-शक्ति का अधिक विकास हुआ है।

रामचन्द्र के जीवन की चर्चा करते हुए हमने देखा कि एक दिन क्षत्रियों ने धर्म को ऐसे ऐक्य में उपलब्ध किया जिससे अनार्यों के विरोध का वे मिलन-नीति द्वारा अतिक्रमण कर सके। दो पक्षों का चिरन्तन संग्राम किसी भी समाज के लिए हितकर नहीं हो सकता—या तो एक पक्ष को मरना होगा, या दोनों पक्षों को मिलना होगा। भारत में धर्म का आश्रय लेकर इसी मिलन-कार्य

का आरम्भ किया गया। पहले तो इस धर्म और इस मिलन-नीति को रुकावटों का सामना करना पड़ा, लेकिन अन्त में ब्राह्मणों ने उसे स्वीकार किया और आत्मसात् कर लिया।

आर्यों और अनार्यों में जब थोड़ा-बहुत योग स्थापित हुआ तब अनार्यों के साथ धर्म के विषय में विचार-विनिमय करना भी आवश्यक हुआ। उस समय अनार्यों के देवता शिव के प्रति आर्य उपासकों का विरोध चल रहा था। इस संघर्ष में कभी आर्य विजयी होते थे तो कभी अनार्य। श्रीकृष्ण के अनुवर्ती अर्जुन को एक दिन किरातों के देवता शिव के सामने हार माननी पड़ी थी। शिवभक्त बाणासुर की कन्या उषा का कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध ने हरण किया था, और इस संग्राम में कृष्ण विजयी हुए थे। वैदिक यज्ञ में अनार्य शिव को देवता का स्थान नहीं दिया गया, इसीलिए शिव के अनार्य उपासकों ने यज्ञ में बाधा डाली। अन्त में वैदिक देवता रुद्र के साथ शिव को मिलाकर, और इस तरह उसे अपनाकर आर्यों-अनार्यों का यह धर्म-विरोध मिटाने का प्रयत्न किया गया। फिर भी जब अनेक देवताओं को माना जाता है तब उनमें से कौन बड़ा है और कौन छोटा, यह विवाद आसानी से नहीं मिटता। 'महाभारत' में रुद्र के साथ विष्णु के संग्राम का उल्लेख है। इस संग्राम में रुद्र ने विष्णु को श्रेष्ठ माना था।

'महाभारत' की समीक्षा करने से स्पष्ट देखा जा सकता है कि विरोध के बावजूद अनार्यों का रक्त-मिलन और धर्म-मिलन हो रहा था। इस तरह जब वर्णसंकर और धर्मसंकर होने लगा, समाज की आत्म-रक्षण-शक्ति ने सीमा-निर्णय करके बार-बार अपने-आपको बचाने का प्रयत्न किया। जिसका त्याग करना सम्भव नहीं था उसको ग्रहण करके एक वेष्टन में बाँध दिया गया। 'मनुस्मृति' में वर्णसंकर के विरुद्ध जो प्रयास है और मूर्ति-पूजा-व्यवसायी ब्राह्मणों के प्रति जो घृणा व्यक्त की गयी है उससे पता चलता है कि अनार्यों के साथ रक्त-मिश्रण और धर्म-मिश्रण स्वीकृत होने पर भी उसका विरोध बन्द नहीं हुआ था। इस तरह प्रसारण के दूसरे ही क्षण संकोचन की प्रवृत्ति से समाज ने बार-बार अपने-आपको कठोर बनाया है।

एक दिन इसी के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई जो दो क्षत्रिय राज-संन्यासियों के आश्रय से व्यक्त हुई। धर्म-नीति एक सत्य पदार्थ है, सामाजिक नियम-मात्र नहीं है। इस धर्म-नीति के आश्रय से ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है, सामाजिक बाह्य प्रथाओं के पालन से नहीं, यह धर्म-नीति मानव-मानव में किसी भेद को चिरन्तन सत्य नहीं मान सकती—इसी मुक्ति-वार्ता का प्रचार भारत में दो क्षत्रिय तपस्वियों ने—बुद्ध और महावीर ने—किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि देखते-ही-देखते प्राचीन संस्कारों और बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए इस मुक्ति-वार्ता ने सारे देश पर अधिकार कर लिया; और फिर दीर्घ काल तक भारत में क्षत्रिय आचार्यों के प्रभाव से ब्राह्मणों की शक्ति को अभिभूत किया।

यह बात सम्पूर्ण रूप से हितकर थी, ऐसा मैं बिलकुल नहीं कह रहा हूँ। इस तरह की एक पक्ष की एकान्तिकता से देश की प्राकृतिक अवस्था विचलित होती है और उसका स्वास्थ्य नष्ट होता है। इसलिए बौद्ध युग ने भारत को समस्त संस्कार-जाल से मुक्त करने के प्रयास में एक ऐसे दूसरे संस्कार-जाल में आबद्ध कर दिया जैसा कहीं और देखने में नहीं आता। इतने दिनों तक भारत में आर्यों-अनार्यों के मिलन में पग-पग पर संयम था। बीच-बीच में बाँध बनाकर प्रलय स्रोत को रोक दिया जाता था। आर्य-जाति अनार्यों से जो कुछ ग्रहण करती थी उसे आर्य

बनाकर अपनी प्रकृति के अनुगत कर लेती थी। इस तरह धीरे-धीरे एक प्राणवान राष्ट्रीय कलेवर का निर्माण हुआ जिससे आर्यों-अनार्यों के आन्तरिक मिलन की सम्भावना उत्पन्न हुई। निश्चय ही इस मिलन के बीच किसी समय बाह्यिकता की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी, अन्यथा इतना बड़ा संघर्ष उत्पन्न न होता, और यह संघर्ष बिना सैन्यबल का आश्रय लिये केवल धर्म की शक्ति से सारे देश को आच्छन्न न कर पाता। समाज की श्रेणी-श्रेणी में, और मनुष्य के अन्दर-बाहर, एक बहुत बड़े विच्छेद ने स्वास्थ्यकर सामंजस्य को नष्ट किया था। लेकिन इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी उतनी ही प्रबल हुई और उसने समाज की नींव को हिला दिया। रोग का आक्रमण जितना दारुण था, चिकित्सा का आक्रमण उतना ही सांघातिक सिद्ध हुआ।

अन्त में एक दिन जब बौद्ध-प्रभाव की आँधी शान्त हुई तो यह देखा गया कि समाज के सारे वेष्टन टूट चुके थे। जिस व्यवस्था के भीतर भारत का जाति-वैचित्र्य ऐक्यलाभ की चेष्टा कर रहा था वह व्यवस्था ही भूमिसात् हो गयी थी। बौद्ध धर्म ने ऐक्य के प्रयास से ही ऐक्य का नाश किया। भारत में अनैक्य की सारी प्रवृत्तियों ने निडर होकर सिर उठाया। जो बगीचा था वह जंगल हो गया।

किसी दिन भारतीय समाज में कभी ब्राह्मणों को और कभी क्षत्रियों को प्राधान्य मिलता था। फिर भी दोनों में एक जातिगत ऐक्य था इसलिए उस समय जाति-रचना का कार्य आर्यों के ही हाथ में था। लेकिन बौद्ध-प्रभाव के समय भारत के भीतर जो अनार्य थे उनके अतिरिक्त बाहर से भी अनार्यों ने पदार्पण किया और वे इतने प्रबल हो उठे कि आर्यों के साथ उनके सामंजस्य की रक्षा करना कठिन हो गया। जब तक बौद्ध धर्म शक्तिशाली था तब तक यह असामंजस्य अस्वास्थ्यकर रूप से व्यक्त नहीं हुआ। लेकिन बौद्ध-धर्म के दुर्बल होते ही यह असामंजस्य विचित्र और असंगत रूप से, आज़ाद होकर, देश पर छा गया।

अनार्य सारी बाधाओं को पार करके भारतीय समाज में आकर जम गये। उनके साथ भेद या मिलन बाहर की बात न रहकर समाज के बिलकुल अन्दर की समस्या हो उठी।

बौद्ध-प्रभाव की इस बाढ़ में आर्य-समाज में केवल ब्राह्मण सम्प्रदाय ही अपने को स्वतंत्र रख सका, क्योंकि आर्य जाति की स्वातन्त्र्य-रक्षा का भार चिरकाल से ब्राह्मणों के ही हाथ में था। बौद्ध-युग के मध्याह्नकाल में भी ब्राह्मण और श्रमण का भेद दूर नहीं हुआ। लेकिन अन्य सभी भेद समाज से लुप्तप्राय हो गये। उस समय क्षत्रिय जन-साधारण के साथ बड़े परिमाण में मिल-जुल गये।

अनार्यों के साथ विवाह-सम्बन्ध करने में क्षत्रियों में कोई रोक-टोक नहीं थी, यह बात उस समय के पुराणों से स्पष्ट हो जाती है। और इसलिए हम देखते हैं कि बौद्ध-युग के परवर्ती काल में अधिकतर राजवंश क्षत्रिय वंश नहीं थे।

उधर शक, हूण प्रभृति विदेशी अनार्यों के दल भारत में प्रविष्ट होकर समाज में अबाधित रूप से विलीन होने लगे। बौद्ध-धर्म की लहर से बाढ़ का पानी अन्दर आया, और अलग-अलग शाखाओं में विभक्त होकर समाज के मर्मस्थल तक पहुँचने लगा। उस समय की समाज-प्रकृति में प्रतिरोध की शक्ति बहुत कम थी, इस तरह जब धर्म-कर्म में अनार्य-सम्मिश्रण अत्यन्त प्रबल हो गया, और सब प्रकार की उच्छृंखलता के बीच संगति का कोई सूत्र नहीं रहा, तब समाज में

अंतर-स्थित आर्य-प्रकृति ने पीड़ित होकर अपने-आपको अभिव्यक्त करने के लिए समस्त शक्ति का प्रयोग किया। आर्य प्रकृति अपने-आपको खो चुकी थी, इसलिए अपने को स्पष्ट रूप से फिर से आविष्कृत करने के लिए वह उद्यत हुई।

हम कौन हैं, कौन-सी वस्तु हमारी है, इस सत्य को विश्लिष्टता के बीच ढूँढ़ने का महान् युग आ गया था। इसी युग में भारतवर्ष ने अपने-आपको पहचाना और अपनी सीमाओं को निर्धारित किया। अब तक बौद्ध-समाज के योग से भारतवर्ष पृथ्वी के दूर-दूर के प्रदेशों तक फैल गया था, इसलिए अपने कलेवर को स्पष्ट रूप से देख नहीं पाया था। आर्य-जनश्रुति में प्रचलित किसी प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट् के राज्य में भारत अपनी भौगोलिक सत्ता को निर्दिष्ट कर रहा था। उसके बाद सामाजिक अशान्ति से छिन्न-विच्छिन्न और बिखरे हुए सूत्रों को ढूँढ़कर उन्हें फिर से जोड़ने का प्रयत्न किया जाने लगा। संग्रहकर्ताओं का कार्य ही देश में प्रधान कार्य समझा जाने लगा। उस समय का व्यास नूतन की रचना में नहीं, बल्कि पुरातन के संग्रह में नियुक्त था। सम्भव है कि व्यास कोई विशेष व्यक्ति न रहा हो; वह समाज की एक शक्ति का प्रतीक है। आर्य-समाज की स्थिर प्रतिष्ठा कहाँ है, इसी का अन्वेषण वह करने लगा।

इसी प्रयास के अन्तर्गत व्यास ने वेदों का संग्रह किया। वैदिक काल में मंत्र और यज्ञानुष्ठान की प्रणाली को समाज ने यत्नपूर्वक सीखा था और सुरक्षित रखा था। फिर भी वह शिक्षणीय विद्या मात्र थी, और उस विद्या को भी सब लोग पराविद्या नहीं मानते थे। लेकिन एक दिन विश्लिष्ट समाज को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए ऐसे पुरातन शास्त्र को प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा गया, जिसके विषय में लोग अलग-अलग ढग से तर्क न कर सकें, जिसमें आर्य-समाज की प्राचीनतम वाणी हो, दृढ़ भाव से जिसका अवलम्बन करने पर विरोधी सम्प्रदाय एक हो सकें। इसीलिए वेद यद्यपि प्रात्यहिक व्यवहार से दूर हो गये थे, फिर भी सभी लोग उसे सहज स्वीकार कर सके—बल्कि हम यहाँ तक कह सकते हैं कि उनके दूरत्व ने ही एक तरह से उन्हें सर्वस्वीकृत बनाया। जो जाति विच्छिन्न हो गयी थी उसकी परिधि निर्णय करने के लिए एक दृढ़ केन्द्र को स्वीकार करना आवश्यक था। उसके बाद आर्य-समाज में जितनी भी जनश्रुतियाँ खण्डित रूप से चारों ओर बिखरी हुई थीं उन्हें एकत्रित करके 'महाभारत' के नाम से संकलित किया गया।

जिस तरह एक निश्चित केन्द्र आवश्यक था उसी तरह एक धारावाहिक परिधिसूत्र की भी जरूरत थी। यह परिधि-सूत्र ही इतिहास था। इसलिए व्यास के सामने एक और कार्य था। आर्य-समाज में बिखरी हुई जनश्रुतियों को उन्होंने एक किया। केवल जनश्रुति ही नहीं, आर्य-समाज में प्रचलित समस्त विश्वास, तर्क-वितर्क और नैतिक मूल्यों को एकत्रित करके जातीय समग्रता की एक विराट् मूर्ति को उन्होंने स्थापित किया। इसी को उन्होंने नाम दिया 'महाभारत'; इस नाम में ही तत्कालीन आर्य जाति की ऐक्य-उपलब्धि का प्रयास विशेष रूप से प्रकाशित है। आधुनिक पाश्चात्य संज्ञा के अनुसार 'महाभारत' को हम इतिहास न कहें। यह किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा रचित इतिहास नहीं है; यह एक जाति का स्व-रचित, स्वाभाविक, इति-वृत्तान्त है। यदि कोई बुद्धिमान व्यक्ति इन सब जन-श्रुतियों को आग में गला कर, उन्हें विश्लिष्ट करके, उनमें से एक तथ्यमूलक इतिहास की रचना करता तो आर्य-समाज के इतिहास का सत्य स्वरूप

हम न देख पाते। उस समय आर्य-जाति का इतिहास आर्यों के स्मृति-पट पर जिन रेखाओं से अंकित था उनमें से कुछ स्पष्ट थीं, कुछ लुप्त, कुछ सुसंगत थीं, कुछ परस्पर-विरोधी। 'महाभारत' में इन सभी की प्रतिलिपियाँ एकत्रित और सुरक्षित हैं। लेकिन 'महाभारत' में केवल जनश्रुतियों का ही बिना सोचे-समझे संकलन किया गया हो ऐसी बात नहीं है। 'आतशी' काँच[१] के एक ओर व्याप्त सूर्यालोक होता है और दूसरी ओर केन्द्रित किरणें। इसी तरह 'महाभारत' के एक ओर व्यापक जनश्रुति-राशि है और दूसरी ओर उन सबकी केन्द्रित ज्योति। यह ज्योति है 'भगवद्‌गीता'। ज्ञान, कर्म और भक्ति का इसमें जो योग है, वही भारत-इतिहास का चरम तत्त्व है। पृथ्वी के सभी देश अपने इतिहास के बीच किसी समस्या की मीमांसा करते हैं, किसी तत्त्व का निर्णय करते हैं। इतिहास में मनुष्य का चित्त किसी एक चरम तत्त्व का अनुसंधान और उसकी उपलब्धि करता है। लेकिन इस संधान को और इस सत्य को सभी देश स्पष्ट रूप से जान नहीं पाते। बहुत-से लोग सोचते हैं कि पथ का इतिहास ही इतिहास है—मूल अभिप्राय और चरम गम्यस्थान कुछ भी नहीं। लेकिन भारत ने एक दिन अपने समस्त इतिहास में एक चरम तत्त्व को देखा था। मनुष्य के इतिहास में ज्ञान, भक्ति और कर्म अक्सर स्वतंत्र भाव से अपने-अपने पथ पर चलते हैं—यहाँ तक कि वे कभी-कभी परस्पर विरोधी भी हो जाते हैं। ऐसा विरोध भारत में भी यथेष्ट था। और शायद इसीलिए उन तीनों का समन्वय वह स्पष्ट रूप से देख सका। मनुष्य के सभी प्रयास जहाँ आकर मिल जाते हैं, उसी चौराहे पर महाभारत ने चरम लक्ष्य का दीप जलाया। वही 'गीता' है। 'लॉजिक' की दृष्टि से योरोपीय पण्डितों को गीता में असंगतियाँ मिली हैं। इसमें सांख्य, वेदान्त और योग को एक स्थान पर लाया गया है जिससे इन पण्डितों के अनुसार यह जोड़ लगाई हुई चीज़ बन गयी है। उनका कहना है कि सांख्य और योग में ही 'गीता' का मूल तत्त्व है और उनके साथ वेदान्त को बाद मे किसी सम्प्रदाय ने जोड़ दिया है। हो भी सकता है कि मूल 'भगवद्‌गीता' का उपदेश सांख्य और योग के आधार पर किया गया हो। लेकिन महाभारत-सकलन के युग में इस मूल तत्त्व की विशुद्धता को सुरक्षित रखना प्रधान उद्देश्य नहीं था। सारे देश के चित्त को एक करके देखना ही उस समय की साधना थी। इसलिए जिस ग्रंथ मे तत्त्व के साथ जीवन को मिलाकर मनुष्य का कर्तव्य-पथ निर्दिष्ट किया गया है उसमें से वेदान्त को अलग रखना असम्भव था। सांख्य, योग और वेदान्त इन सभी तत्त्वों के केन्द्र-स्थल पर एक ही सत्ता है। वह केवल ज्ञान, भक्ति या कर्म का आधार नहीं है, वह परिपूर्ण मानव-जीवन की परम गति है। वहाँ तक पहुँचे बिना कोई भी वस्तु सत्य तक नहीं पहुँच सकती। इसलिए भारत के चित्त के समस्त प्रयास को उसी एक मूल सत्य में देखना ही 'महाभारत' को वास्तव में समझना है। गीता मे 'लॉजिक' का ऐक्य-तत्त्व सम्पूर्ण रूप से न हो, लेकिन उसमें एक वृहत् जातीय जीवन का अनिर्वचनीय ऐक्य-तत्त्व है। उसकी स्पष्टता और अस्पष्टता, संगति और असंगति के बीच यह गम्भीरतम उपलब्धि हम देख सकते हैं कि समस्त को ग्रहण करके ही सत्य बनता है। इस तरह एक स्थान पर गीता के सभी पक्ष मिल जाते हैं। यहाँ तक कि गीता ने यज्ञ को भी साधना-क्षेत्र

१ वह शीशा जिसमें से पार होकर जब सूर्य की किरणें एक स्थान से दूसरे स्थान पर केन्द्रित होती हैं तब उस स्थान पर आग जल उठती है।

में स्थान दिया है। लेकिन गीता में यज्ञ-कार्य ने एक ऐसी बड़ी भावना प्राप्त की है कि उसकी संकीर्णता दूर होकर वह विश्व की सामग्री बन गया है। जिस क्रिया-कलाप से मनुष्य आत्मशक्ति के द्वारा विश्वशक्ति को उद्बोधित करता है वही यज्ञ है। गीता की रचना यदि आजकल के किसी व्यक्ति ने की होती तो वह आधुनिक वैज्ञानिक अध्यवसाय में मनुष्य के उसी यज्ञ को देख पाता। जिस तरह ज्ञान के द्वारा अनन्त ज्ञान के साथ, कर्म के द्वारा अनन्त मंगल के साथ, और भक्ति के द्वारा अनन्त इच्छा के साथ योग होता है उसी तरह यज्ञ के द्वारा अनन्त शक्ति के साथ हमारा योग सम्भव है। इस तरह गीता में भूमा के साथ मनुष्य का योग सम्पूर्ण रूप से दिखाया गया है। जिस यज्ञ-काण्ड के द्वारा किसी दिन मनुष्य के प्रयास ने विश्वशक्ति के सिंहद्वार पर आघात किया था, उसे भी गीता ने किसी हद तक सत्य माना है। इतिहास की असंलग्नता में जिस तरह उस युग की प्रतिभा ने एक मूल सूत्र ढूंढ़ लिया उसी तरह वेदों मे से भी उसने एक सूत्र का निर्वाचन किया। यही है ब्रह्मसूत्र। इसमें भी व्यास की सफलता और कीर्ति दिखाई पड़ती है। उन्होंने जिस तरह एक ओर पार्थक्य को सुरक्षित रखा उसी तरह दूसरी ओर समष्टि को प्रत्यक्ष कराया। उनका संकलन केवल आयोजन ही नहीं, संयोजन भी है, केवल संचय नहीं परिचय भी है। वेदों के विविध मार्गों मे मानव-चित्त का एक संधान और एक लक्ष्य देखा जा सकता है, वही वेदान्त है। उसमे द्वैत का पक्ष भी है, अद्वैत का भी। यदि दोनो न हों तो एक भी पक्ष सत्य नहीं हो सकता। 'लॉजिक' को इसमे कोई समन्वय नहीं मिलता, इसलिए जहाँ इसमे समन्वय है वहाँ इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। व्यास के ब्रह्मसूत्र मे द्वैत-अद्वैत दोनों पक्षों की रक्षा की गयी है। इसलिए परवर्ती युगों मे 'लॉजिक' एक ही ब्रह्मसूत्र को विविध वाद-विवादों मे विरक्त कर सका। ब्रह्मसूत्र मे आर्य-धर्म के मूल तत्त्व द्वारा समस्त आर्य-धर्म-शास्त्र को एक प्रदीप मे आलोकित करने का प्रयास है। केवल आर्य-धर्म ही नहीं, समस्त मानव-धर्म का यही एक प्रदीप है।

इस तरह हम इस बात के लक्षण स्पष्ट देख सकते हैं कि तरह-तरह के विरोधो द्वारा पीड़ित आर्य-प्रकृति ने एक दिन अपनी सीमा निर्दिष्ट करके अपने मूल ऐक्य को उपलब्ध करने का उत्कट यत्न किया। आर्यजाति के विधि-निषेध, जो केवल स्मृतियो के रूप मे बिखरे हुए थे, संगृहीत और लिपिबद्ध किये जाने लगे।

हमने यहाँ जिस महाभारत-युग का विवेचन किया है उसे कालगत युग समझना ठीक नहीं होगा। उसे भावगत युग के रूप मे देखना होगा। अर्थात् उसे हम किसी संकीर्ण काल मे विशेष रूप मे निर्दिष्ट नहीं कर सकते। बौद्धयुग वास्तव मे कब आरम्भ हुआ, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इसमे सन्देह नहीं कि शाक्यमुनि के बहुत पहले से इसका आयोजन चल रहा था और उससे पहले भी दूसरे अनेक 'बुद्ध' हुए थे। यह एक भाव की परंपरा थी जो गौतम बुद्ध मे पूर्णतया परिणत हुई। इसी तरह महाभारत का युग कब आरम्भ हुआ, इसे निश्चित रूप मे स्थिर नहीं किया जा सकता। पहले ही कह चुका हूं कि समाज मे बिखरने और एकत्रित होने की क्रियाएं साथ-साथ चलती हैं—जैसे पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा। निश्चय ही इनमे पुरातन और नूतन पक्ष का विवाद प्रतिबिंबित है। एक पक्ष कहता है, परंपरागत मंत्र और कर्मकाण्ड अनादि हैं, और उनके विशेष गुणों द्वारा ही चरम-सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। दूसरा पक्ष कहता है, ज्ञान के अलावा मुक्ति का उपाय नहीं है। जिन ग्रंथों के आश्रय से ये दो मत आज प्रचलित हैं उनकी

रचना जब भी हुई हो, मतभेद अत्यन्त पुरातन हैं,इसमें संदेह नहीं। इसलिए अपनी सामग्री को संगृहीत और श्रेणीबद्ध करने की प्रवृत्ति, और दीर्घकाल तक विभिन्न पुराणों के संकलन से देश के प्राचीन पथ को निर्दिष्ट करने का प्रयास, किसी विशेष काल-सीमा में आबद्ध नहीं है। आर्य-अनार्यों के चिरन्तन सम्मिश्रण के साथ-साथ ही ये दो विरोधी शक्तियाँ भारत में चिरकाल से काम करती आ रही हैं।

किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि अनार्यों ने हमें कुछ नहीं दिया। वास्तव में प्राचीन द्राविड़ लोग सभ्यता की दृष्टि से हीन नहीं थे। उनके सहयोग से हिन्दू सभ्यता को रूप-वैचित्र्य और रस-गाम्भीर्य मिला। द्राविड़ तत्त्व-ज्ञानी नहीं थे। पर उनके पास कल्पना-शक्ति थी, वे संगीत और वास्तुकला में कुशल थे। सभी कलाविद्याओं में वे निपुण थे। उनके गणेश-देवता की वधू कला-वधू थी। आर्यों के विशुद्ध तत्त्वज्ञान के साथ द्राविड़ों की रस-प्रवणता और रूपोद्भाविनी शक्ति के मिलन से एक विचित्र सामग्री का निर्माण हुआ। यह सामग्री न पूरी तरह आर्य थी, न पूरी तरह अनार्य—यह हिन्दू थी। दो विरोधी प्रवृत्तियों के निरन्तर समन्वय-प्रयास से भारतवर्ष को एक आश्चर्यजनक सम्पदा मिली है। उसने अनन्त को अन्त के बीच उपलब्ध करना सीखा है, और भूमा को प्रात्यहिक जीवन की तुच्छता के बीच प्रत्यक्ष करने का अधिकार प्राप्त किया है। इसलिए भारत में जहाँ भी ये दो विरोधी शक्तियाँ नहीं मिल सकीं वहाँ मूढ़ता और अन्धसंस्कार की सीमा न रही, लेकिन जहाँ भी उनका मिलन हुआ वहाँ अनन्त के रसमय रूप की अबाधित अभिव्यक्ति हुई। भारत को एक ऐसी चीज मिली है जिसका ठीक से व्यवहार करना सबके वश में नहीं है, और जिसका दुर्व्यवहार करने से देश का जीवन गूढ़ता के भार से धूल में मिल जाता है। आर्य और द्राविड़, ये दो विरोधी चित्तवृत्तियाँ जहाँ सम्मिलित हो सकी है और वहाँ सौन्दर्य जगा है; जहाँ ऐसा मिलन सम्भव नहीं हुआ, वहाँ हम कृपणता और छोटापन देखते हैं। यह बात भी स्मरण रखनी होगी कि बर्बर अनार्यों की सामग्री ने भी एक दिन द्वार को खुला देखकर निःसकोच आर्य-समाज में प्रवेश किया था। इस अनधिकृत प्रवेश का वेदनाबोध हमारे समाज ने दीर्घ काल तक अनुभव किया।

युद्ध बाहर का नहीं, शरीर के भीतर का था। अस्त्र ने शरीर के भीतर प्रवेश कर लिया, शत्रु घर के अन्दर पहुँच गया। आर्य-सभ्यता के लिए ब्राह्मण अब सब-कुछ हो गये। जिस तरह वेद अभ्रान्त धर्म-शास्त्र के रूप से समाज-स्थिति का सेतु बन गया, उसी तरह ब्राह्मण भी समाज में सर्वोच्च पूज्य पद ग्रहण करने की चेष्टा करने लगे। तत्कालीन पुराणों, इतिहासों और काव्यों में सर्वत्र यह चेष्टा प्रबल रूप से बार-बार व्यक्त हुई है जिससे हम समझ सकते है कि यह प्रतिकूलता के विरुद्ध प्रयास था, धारा के विपरीत दिशा में यात्रा थी। यदि हम ब्राह्मणों के इस प्रयास को किसी विशेष सम्प्रदाय का स्वार्थ-साधन और क्षमता-लाभ का प्रयत्न माने, तो हम इतिहास को संकीर्ण और मिथ्या रूप में देखेंगे। यह प्रयास उस समय की संकट-ग्रस्त आर्य-जाति का आन्तरिक प्रयास था। आत्मरक्षा का उत्कट प्रयत्न था। उस समय समाज के सभी लोगों के मन में ब्राह्मणों का प्रभाव यदि अक्षुण्ण न होता तो चारों दिशाओं में टूटकर गिरनेवाले मूल्यों को जोड़ने का कोई उपाय न रह जाता।

इस अवस्था में ब्राह्मणों के सामने दो काम थे—एक, पहले से चली आ रही धारा की

रक्षा करना; और दूसरा, नूतन को उसके साथ मिलाना। जीवन-क्रम में ये दोनों काम अत्यन्त बाधाग्रस्त हो उठे थे, इसीलिए ब्राह्मणों की क्षमता और अधिकार को समाज ने इतना अधिक बढ़ाया। अनार्य देवता को वेद के प्राचीन मंच पर स्थान दिया गया। रुद्र की उपाधि ग्रहण करके शिव ने आर्य-देवताओं के समूह में पदार्पण किया। इस तरह भारतवर्ष में सामाजिक मिलन ने ब्रह्मा-विष्णु-महेश का रूप ग्रहण किया। ब्रह्मा में आर्य-समाज का आरम्भकाल था, विष्णु में मध्याह्नकाल, और शिव में उसकी शेष परिणति।

यद्यपि शिव ने रुद्र के नाम से आर्य-समाज में प्रवेश किया, फिर भी उसमे आर्य और अनार्य दोनों मूर्तियाँ स्वतंत्र हैं। आर्य के पक्ष से वह योगीश्वरी है—मदन को भस्म करके निर्वाण के आनन्द में मग्न। उसका दिग्वास संन्यासी के त्याग का लक्षण है। अनार्य के पक्ष से वह वीभत्स है—रक्तरंजित गजचर्मधारी, भाँग और धतूरे से उन्मत्त। आर्य के पक्ष से वह बुद्ध का प्रतिरूप है और इसलिए वह सर्वत्र बौद्ध मन्दिरों पर सहज ही अधिकार करता है। दूसरी ओर, वह भूत-प्रेत इत्यादि श्मशानचर विभीषिकाओं को, और सर्प-पूजा, वृषभ-पूजा, लिंग-पूजा और वृक्ष-पूजा को आत्मसात् करते हुए समाज के अन्तर्गत अनार्यों की सारी तामसिक उपासना को आश्रय देता है। एक ओर, प्रवृत्ति को शान्त करके निर्जन स्थान मे ध्यान और जप द्वारा उसकी साधना की जाती है; दूसरी ओर, चड़क पूजा इत्यादि विधियों से अपने-आपको प्रमत्त करके, और शरीर को तरह-तरह के क्लेश में उत्तेजित करके, उसकी आराधना होती है। इस तरह आर्य-अनार्य की धाराएँ गंगा-जमुना की तरह एक हुईं; लेकिन उसके दो रंग एक-दूसरे के समीप होकर पृथक् रहे। वैष्णव धर्म में कृष्ण के नाम का आश्रय लेकर जो समस्त कथाएं प्रविष्ट हुई वे पाण्डव-सखा, भागवतधर्म-प्रवर्त्तक, वीर-श्रेष्ठ, द्वारकावासी श्रीकृष्ण की कथाएं नहीं हैं। वैष्णव धर्म में एक ओर भगवद्गीता का विशुद्ध, उच्च धर्मतत्त्व है, दूसरी ओर, अनार्य ग्वालों में प्रचलित देवलीला की विचित्र कहानियाँ भी उसमे सम्मिलित हैं। शैव-धर्म का आश्रय लेकर जो चीज़ें इस धर्म में आयीं वे निराभरण और दारुण हैं। उनकी शान्ति और महत्ता, उनकी अचल स्थिति और उनका उद्दाम नृत्य, दोनों ही विनाश के भावसूत्र मे पिरोये हुए हैं। बाहर की ओर आसक्ति-बन्धनों का नाश; अन्दर की ओर 'एक' के बीच विलय—यही है आर्य सभ्यता का अद्वैत सूत्र, यही है 'नेति-नेति' का पक्ष। त्याग इसी का आभूषण है और श्मशान इसी का निवास-स्थान। वैष्णव धर्म का आश्रय लेकर जो लोक-प्रचलित पौराणिक कथाएँ आर्य-समाज में प्रतिष्ठित हुईं उनमें प्रेम, सौन्दर्य और यौवन की लीला है; प्रलय-पिनाक के स्थान पर बाँसुरी के स्वर हैं; भूत-प्रेत के स्थान पर वहाँ गोपियों का विलास है; वहाँ वृन्दावन का चिरवसन्त और स्वर्गलोक का चिरऐश्वर्य है। यही है आर्य सभ्यता का द्वैतसूत्र।

यहाँ एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। आभीर-सम्प्रदाय-प्रचलित कृष्णकथा वैष्णव धर्म में जो घुल-मिल गयी है उसका कारण यह है कि दोनों के परस्पर मिलन का एक सत्य-पथ था। नायक-नायिका सम्बन्ध को जीव और भगवान् के सम्बन्ध का रूपक पृथ्वी के कई देशों में स्वीकार किया गया है। आर्य वैष्णव-भक्ति इस तत्त्व को अनार्य कथाओं के साथ मिलाकर उन समस्त कथाओं को एक उच्च सत्य के बीच परखा गया। अनार्यों के चित्त में जो केवल रस-मादकता के रूप में था उसे आर्यों ने सत्य के बीच प्रतिष्ठित करके देखा। वह विशेष

जाति की एक विशेष पुराणकथा न रही। उसे सारे मानव-जाति के चिरन्तन आध्यात्मिक सत्य का रूपक माना गया। आर्य और द्रविड़ में मिलन से हिन्दू सभ्यता में सत्य के साथ रूप का अद्भुत योग हुआ। यहाँ ज्ञान और रस, एकता और वैचित्र्य, आंतरिक रूप से संयुक्त हुए।

आर्य-समाज पितृशासनतन्त्र पर आधारित है, अनार्य समाज मातृ-शासनतन्त्र पर, इसीलिए वेदों में स्त्री देवताओं को प्राधान्य नहीं मिला है। अनार्यों के प्रभाव के साथ आर्य-समाज में स्त्री देवताओं का प्रादुर्भाव होने लगा। इस विषय में भी समाज में काफ़ी विरोध उत्पन्न हुआ जैसा कि प्राकृत साहित्य में देखा जा सकता है। देवीतन्त्र में एक ओर हेमवती उमा की सुशोभना आर्य मूर्ति है, दूसरी ओर काली की विवसना, भीषण, कपालमंडित अनार्य मूर्ति है।

लेकिन अनार्यों के सभी आचारों, पूजा-पद्धतियों और कथाओं को आर्य-भाव के ऐक्यसूत्र में आद्योपान्त सम्मिलित करना किसी तरह सम्भव नहीं था। अनार्यों की सभी बातों को बचाते-बचाते बहुत-सी असंगतियाँ रह गयीं। इन समस्त असंगतियों का समन्वय नहीं हुआ—केवल काल-क्रम से लोग उनके अभ्यस्त हो गये। उस अभ्यास के कारण असंगतियाँ साथ-साथ पड़ी रहीं और उनको मिलाने का प्रयोजन-बोध भी न रहा। धीरे-धीरे यह नीति समाज मे प्रबल हुई कि जिसकी जैसी शक्ति और प्रवृत्ति हो वैसी ही पूजा और वैसे ही आचार वह ग्रहण करे। एक प्रकार से यह नीति पतवार को छोड़ देने की नीति थी। जब विरुद्ध चीज़ों को पास-पास रखना होता है, लेकिन उन्हें किसी तरह मिलाया नहीं जा सकता, तब ऐसी नीति के अलावा दूसरा उपाय नहीं रह जाता।

इस तरह बौद्ध-युग के अवसान के बाद समाज की नयी-पुरानी सभी विच्छिन्न वस्तुओं को लेकर ब्राह्मण—जैसे भी उनसे बन पड़ा उन्हें शृंखला-बद्ध करने लगे। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि शृंखला अत्यन्त कठोर बन जाती। जो चीज़ें वास्तव में स्वतन्त्र हैं, जो विविध जातियों और युगों की सामग्री हैं, उन्हें जब एक साथ बाँधा जाता है तब बन्धन को ज़ोर से कसना पड़ता है, क्योंकि जीव धर्म के नियमानुसार उन चीज़ों का अपने-आप योग-साधन नहीं होता।

भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक युग में जब आर्यों-अनार्यों का युद्ध हुआ तब दोनों पक्षों में प्रबल विरोध था। लेकिन इस प्रकार के विरोध में भी एक समकक्षता होती है। मनुष्य जिसके साथ लड़ाई करता है उसके प्रति तीव्र द्वेष होने पर भी मन से उसकी अवज्ञा नहीं कर सकता। इसीलिए क्षत्रिय अनार्यों के साथ लड़ते रहे और उनकी ओर आकर्षित भी होते रहे। 'महाभारत' में क्षत्रियों के विवाहों की सूची देखने से यह बात स्पष्ट होती है।

लेकिन बाद में जब विरोध तीव्र हो उठा अनार्य बाहर के लोग नहीं रहे—वे घर के अन्दर आ गये। उनसे युद्ध करने के दिन बीत चुके थे। इस अवस्था में विद्वेष ने घृणा का रूप धारण किया। अब यही एक हथियार था। घृणा के द्वारा मनुष्य को केवल दूर हटाकर ही नहीं रखा जाता, बल्कि जिसके साथ घृणा की जाती है उसका मन भी छोटा हो जाता है। वह भी अपनी हीनता के संकोच से समाज में कुण्ठित होकर रहता है—जहाँ रहता है वहाँ कोई अधिकार नहीं जताता। इस तरह जब समाज का एक भाग अपना छोटापन स्वीकार करता है, और अन्य एक भाग अपने आधिपत्य के मार्ग में कोई बाधा नहीं पाता, तब नीचे के भाग में जितनी ही अवनति होती है उसी मात्रा में ऊपर का भाग भी गिर जाता है। भारतवर्ष में आत्म-प्रसारण के युग में जो

अनार्य-विद्वेष था उसमें और आत्म-संकोचन के युग के विद्वेष में बहुत अन्तर था। पहले विद्वेष में मनुष्यत्व समतल भूमि पर खड़ा था, दूसरे विद्वेष में मनुष्यत्व नीचे गिरा। जिसको हम मारते हैं वह यदि पलटकर आघात करे तो इसमें मनुष्यत्व का मंगल है, लेकिन वह यदि चुपचाप आघात वहन करे तो इसमें दुर्गति है। वेदों में अनार्यों के प्रति जो विद्वेष व्यक्त हुआ है उसमें हम पौरुष देखते हैं; मनुसंहिता में शूद्रों के प्रति जो अन्याय और निष्ठुर अवज्ञा देखी जाती है उसमें कायरता के लक्षण हैं। मनुष्य के इतिहास में सर्वत्र यही होता आया है। जहाँ कोई एक पक्ष सम्पूर्ण रूप से प्रभुत्व प्राप्त करता है, जहाँ उसके समकक्ष या प्रतिपक्ष में कोई नहीं होता, वहाँ बन्धन तैयार होते हैं। वहाँ एकेश्वर प्रभु अपने प्रताप को चारों ओर सम्पूर्ण निर्बाध रूप से फैलाना चाहता है, और इस क्रिया मे उसका प्रताप नीचे झुक जाता है। वास्तव में मनुष्य जहाँ मनुष्य को घृणा करने का अप्रतिहत अधिकार पाता है वहाँ घृणा का मादक विष उनकी प्रकृति में प्रवेश करता है। ऐसा निदारुण विष मनुष्य के लिए दूसरा कोई नहीं हो सकता। आर्य और अनार्य, ब्राह्मण और शूद्र, योरोपीय और एशियायी, अमेरिकी और नीग्रो—जहाँ कहीं भी यह दुर्घटना घटी है वहाँ दोनों पक्षों की कापुरुषता ने राशिभूत होकर मनुष्य का सर्वनाश किया है। इस भयंकर घृणा से तो शत्रुता श्रेयस्कर है। ब्राह्मणों ने एक दिन सारे भारतीय समाज पर एकाधिपत्य प्राप्त किया और सबको समाज-विधि के कठिन बन्धन में बाँधा। इतिहास में स्वाभाविक रूप से ही आत्यन्तिक प्रसारण के युग के बाद आत्यन्तिक संकोचन का युग आया।

पहले किसी दिन समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दो ही शक्तियाँ थीं। इन दो विरोधी शक्तियों के योग से समाज की गति मध्यम पथ पर नियन्त्रित होती थी। लेकिन अब समाज में क्षत्रिय शक्ति न रही। अनार्य-शक्ति ब्राह्मण-शक्ति की प्रतियोगिता में खड़ी न हो सकी। ब्राह्मणों ने उसे उपेक्षापूर्वक स्वीकार किया और अपना जयस्तम्भ स्थापित किया।

इधर जिस वीर जाति ने बाहर से आकर 'राजपूत' के नाम से भारत के प्रायः सभी सिंहासनों पर अधिकार किया उन्हें भी ब्राह्मणों ने अन्य अनार्यों की तरह स्वीकार करके एक कृत्रिम क्षत्रिय जाति का निर्माण किया। ये क्षत्रिय-बुद्धि प्रकृति मे ब्राह्मणों के समकक्ष नहीं थे। प्राचीन आर्य क्षत्रियों की तरह वे समाज के सृष्टि-कार्य में अपनी प्रतिभा का प्रयोग न कर सके। केवल साहस और बाहुबल से ब्राह्मण-शक्ति के सहायक और अनुवर्ती होकर बन्धनों को दृढ़ करने में ही उन्होंने योग दिया।

ऐसी अवस्था में समाज का सन्तुलन ठीक नहीं रह सकता। आत्म-प्रसार का पथ अवरुद्ध हो जाता है। आत्म-रक्षण-शक्ति समाज को जकड़कर संकुचन की दिशा में ले जाती है। देश की प्रतिभा को स्फूर्ति नहीं मिल सकती। समाज का यह बन्धन एक कृत्रिम पदार्थ होता है; इस तरह रस्सी से बाँधकर उसका कलेवर संघटित नहीं हो सकता। देश में केवल वंशानुक्रम से सामयिक धर्म जीवित रहता है और जीवन-धर्म का ह्रास होता है। ऐसा देश चिन्ता और कर्म के क्षेत्रों में अयोग्य होकर सभी तरह से पराधीनता के लिए प्रस्तुत होता है। आर्य इतिहास के प्रथम युगों में, जब सामाजिक अभ्यास-प्रवणता बाहर की चीजों को जमा करके पथ को अवरुद्ध कर रही थी, समाज की चित्त-वृत्ति ने ऐक्य-पथ का सन्धान किया और 'बहु' की बाधाओं से अपने-आपको मुक्त किया। आज फिर समाज में ऐसा ही दिन आ गया है। आज बाह्य वस्तुएँ

और भी अधिक हैं, और भी असंगत हैं। वे हमारे देश के चित्त को भारग्रस्त कर रही हैं। समाज में बहुत दिनों से रक्षण-शक्ति का ही आधिपत्य रहा है। वह प्रत्येक वस्तु को बचाना चाहती है, जो टूट रहा है उसको जमा करती है, जो उड़ना चाहता है उसे पकड़कर रखती है। देश की जीवन-गति को अभ्यास का जड़ संचय रोकता है। वह मनुष्य के चिन्तन को संकीर्ण और कर्म को अवरुद्ध करता है। इस दुर्गति से हमें बचाने के लिए आज के दिन ऐसी चित्त-शक्ति की आवश्यकता है जो जटिलता के बीच से सरल को, बाह्यकता के बीच से आन्तरिकता को और विच्छिन्नता के बीच से एक को मुक्त करके बाहर निकाल सके। लेकिन हमारे दुर्भाग्य से समाज ने चित्तशक्ति को ही अपराधी ठहराकर हज़ारों जंजीरों से बाँधकर कारागृह में बन्द कर दिया।

फिर भी यह बद्ध चित्त बिलकुल ही चुपचाप नहीं रह सकता। समाज के आत्म-संकुचन और अचैतन्य के बीच उसके आत्मप्रसारण की उद्‌बोधन-चेष्टा बराबर जारी रहती है। भारत के मध्य युग में इस बात के दृष्टान्त देखे गये हैं। नानक, कबीर प्रभृति उपदेशकों ने इसी चेष्टा को रूप दिया है। कबीर की जीवनी और रचनाओं में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि उन्होंने भारत की समस्त बाह्य आवर्जना का अतिक्रमण करते हुए उसके अंतःकरण की श्रेष्ठ सामग्री को ही सत्य-साधना समझकर उपलब्ध किया था। इसीलिए कबीर के अनुयायियों को विशेष रूप से 'भारतपंथी' कहा गया है। उन्होंने ध्यान-योग से स्पष्ट देखा था कि बिखराव और असंलग्नता के बीच भारत किसी निभृत सत्य पर प्रतिष्ठित है। मध्ययुग में एक के बाद एक कबीर-जैसे आचार्यों का अभ्युदय हुआ। जो बोझ भारी हो उठा था उसे हल्का करना ही उनका एकमात्र प्रयास था। लोकाचार, शास्त्र-विधि और अभ्यास के रुद्ध द्वार पर आघात करके उन्होंने भारत को जगाने का प्रयत्न किया।

उस युग का अभी अवसान नहीं हुआ है। वही प्रयास अब भी चल रहा है। उसे कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि भारत के इतिहास में प्राचीन काल से यही देखा गया है कि उसके चित्त ने जड़त्व के विरुद्ध लगातार युद्ध किया है। भारत की समस्त श्रेष्ठ सम्पदा—उसके उपनिषद्, उसकी गीता, उसका विश्व-प्रेम-मूलक बौद्ध धर्म—इसी महायुद्ध की जयलब्ध सामग्री हैं। उसके श्रीकृष्ण और रामचन्द्र इसी महायुद्ध के अधिनायक हैं। ऐसा मुक्तिप्रिय भारतवर्ष दीर्घकाल के जड़त्व का बोझ सिर पर लेकर एक ही स्थान पर शताब्दियों तक निश्चल पड़ा रहेगा, यह बात प्रकृतिगत नहीं है। जड़त्व का यह बोझ उसके शरीर का अंग नहीं है, इसमें उनके जीवन का आनन्द नहीं है—यह एक बाह्य वस्तु है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ, 'बहुत्व' के बीच अपने-आपको बिखराना भारतवर्ष का स्वभाव नहीं है। वह 'एक' को प्राप्त करना चाहता है; इसलिए बाहुल्य को एकत्र मे संयत करना ही उसकी साधना है। भारत की अन्तरतम सत्य प्रकृति स्वयं उसे निरर्थक बाहुल्य के भीषण योग से बचाएगी। उसके इतिहास ने पथ को चाहे जितना बाधाग्रस्त कर रखा हो, उसकी प्रतिभा अपनी शक्ति से इस कठिन विघ्न-व्यूह को भेदकर बाहर निकलेगी। जितनी बड़ी समस्या है, उतनी ही बड़ी उसकी तपस्या होगी।

जो युग-युग से जमा होता आया है उसी के बीच डूबना भारत की चिर-साधना के विरुद्ध है—ऐसा करके भारत हार नहीं मानेगा। इस तरह हार मानना मृत्यु का पथ है। जो जहाँ आकर

बैठे वहीं अगर डटा रहे तो उसके कारण असुविधा तो सहनी पड़ती है, ऊपर से उसे खिलाना-पिलाना भी पड़ता है। देश की शक्ति परिमित होती है। यदि वह कहे : 'जो कुछ भी है और जो कोई भी आता है सभी का मैं निर्विचार पालन-पोषण करूँगा', तो इस तरह के रक्त-शोषण से उसकी शक्ति का क्षय होना अनिवार्य है। जो समाज निकृष्ट का भरण-पोषण करता है वह किसी सीमा तक उत्कृष्ट को उपवासी रखता है। मूढ़ के लिए मूढ़ता, दुर्बल के लिए दुर्बलता, अनार्य के लिए वीभत्सता, सभी की रक्षा करना समाज का कर्तव्य है—इस तरह की बातें सुनने मे बुरी नहीं लगतीं, लेकिन देश के प्राण-भण्डार से जब उसके लिए निर्वाह की सामग्री देनी पड़ती है तो देश मे जो कुछ श्रेष्ठ है उसका हिस्सा कम हो जाता है। इससे देश की बुद्धि दुर्बल और वीर्य मृतप्राय हो जाता है। नीच के प्रति प्रश्रय उच्च के प्रति वञ्चना है। इसे औदार्य कभी नहीं कहा जा सकता। यह तामसिकता है, और तामसिकता भारत की सत्य सामग्री नहीं है।

दुर्दिन के घोर अन्धकार मे भी भारत ने तामसिकता के सामने आत्म-समर्पण नहीं किया। दु:स्वप्नों के भार ने जब कभी उसके सीने पर बैठकर उसकी साँस रोकनी चाही, तब उस भार को दूर हटाकर सरल सत्य के बीच जाग उठने का प्रयत्न उसके चैतन्य ने अभिभूत दिशा मे भी सर्वदा किया है। आज हम जिस युग के बीच से गुज़र रहे है उसे बाह्य रूप से स्पष्ट नहीं देख सकते। फिर भी हम अनुभव करते हैं कि भारतवर्ष अपने सत्य को, अपने 'एक' को, अपने सामंजस्य को फिर से प्राप्त करने के लिए उद्यत है। नदी को कितने ही बाँधों से रोक दिया गया था, दीर्घ काल तक उसकी धारा रुक गयी थी—आज प्राचीर टूट चुकी है, स्थिर जल का महासमुद्र के साथ फिर से सम्पर्क हो रहा है, विश्व का ज्वारभाटा फिर से हमें स्पर्श कर रहा है। हम देखते हैं कि हमारे समस्त नये उद्योग सजीव, हृत्पिण्ड-चालित रक्त-स्रोत की तरह कभी विश्व की ओर झुकते हैं, कभी अपनी ओर वापस लौटते हैं। कभी अन्तर्राष्ट्रीयता हमारे प्रयास को घर छोड़कर बाहर निकलने को उद्यत करती है, तो कभी राष्ट्रीयता उसे वापस घर पहुँचाती है। कभी वह सर्वत्व के प्रति लोभ करके निजत्व का त्याग करना चाहता है, कभी वह देखता है कि ऐसा करने से निजत्व तो छूट जाता है लेकिन सर्वत्व प्राप्त नहीं होता। वास्तव मे जीवन-कार्य आरम्भ होने के यही लक्षण हैं। इसी तरह दोनों ओर से धक्के खाकर बीच का सत्य-पथ हमारे राष्ट्रीय जीवन मे स्पष्ट रूप से चिह्नित होगा और हम यह बात समझ सकेंगे कि अपने देश मे सर्व देशों को और सर्व देशों के बीच ही अपने देश को सत्य रूप से प्राप्त किया जा सकता है। और तभी हमें इस बात का निश्चित ज्ञान होगा कि अपने को त्याग करके दूसरों को चाहना जिस तरह निष्फल भिक्षुकता है उसी तरह दूसरों का त्याग करके अपने को सकुचित करना दारिद्र्य है, चरम दुर्गति है।

[वाई एम सी ए ओवर्टून हाल कलकत्ता में १६ मार्च, १९१२ को पठित। 'प्रवासी' (वैशाख, १३१९ बंगाब्द) अप्रैल १९१२ में प्रकाशित। जुलाई १९१६ में 'परिचय' पुस्तक में समाविष्ट।]

४

मानव-सत्य

[एक]

हमारी तीन जन्मभूमियाँ हैं, और तीनों एक-दूसरे से मिली हुई हैं। पहली जन्मभूमि है पृथ्वी—मनुष्य का वासस्थान पृथ्वी पर सर्वत्र है। ठण्डा हिमालय और गर्म रेगिस्तान, दुर्गम उत्तुंग पर्वत-श्रेणी और बंगाल की तरह समतल भूमि—सभी जगह मानव का निवास है। मनुष्य का वासस्थान वास्तव में एक ही है—अलग-अलग देशों का नहीं, सारी मानव-जाति का। मनुष्य के लिए पृथ्वी का कोई अंश दुर्गम नहीं—पृथ्वी ने उसके सामने अपना हृदय मुक्त कर दिया है।

मनुष्य का द्वितीय वासस्थान है स्मृतिजगत्। अतीत में पूर्वजों का इतिहास लेकर वह काल का नीड़ तैयार करता है—यह नीड़ स्मृति की ही रचना है। यह किसी विशेष देश की बात नहीं है, समस्त मानव-जाति की बात है। स्मृतिजगत् में मानव-मात्र का मिलन होता है। विश्व-मानव का वासस्थान एक ओर पृथ्वी है, दूसरी ओर सारे मनुष्यों का स्मृतिलोक। मनुष्य समस्त पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करता है और समस्त इतिहास में भी।

उसका तृतीय वासस्थान है आत्मलोक। इसे हम मानवचित्त का महादेश कह सकते हैं। यही चित्तलोक मनुष्यों के आन्तरिक योग का क्षेत्र है। किसी का चित्त संकीर्ण दायरे में आबद्ध है, किसी के चित्त में विकृति है—लेकिन एक ऐसा व्यापक चित्त भी है जो विश्वगत है, व्यक्तिगत नहीं। उसका परिचय हमें अकस्मात् ही मिल जाता है—किसी दिन अचानक वह हमें आह्वान देता है। मनुष्य आकस्मात् सत्य के लिए प्राण त्यागना चाहता है। साधारण व्यक्ति में भी देखा जाता है कि जहाँ वह स्वार्थ भूल जाता है, प्रेम करता है, अपने-आपको क्षति पहुँचाता है, वहाँ उसके मन का एक ऐसा पक्ष है जो 'सर्वमानव' के चित्त की ओर प्रवृत्त है।

मनुष्य विशेष प्रयोजनों के कारण घर की सीमाओं में बद्ध है, लेकिन महाकाश के साथ उसका सच्चा योग है। व्यक्तिगत मन अपने विशेष प्रयोजनों की सीमा में संकीर्ण होता है, लेकिन उसका वास्तविक विस्तार सर्वमानव-चित्त में है। वहाँ की अभिव्यक्ति आश्चर्यजनक है। एक आदमी के पानी में गिरते ही दूसरा उसे बचाने के लिए कूद पड़ता है। दूसरे की प्राण-रक्षा के लिए मनुष्य अपना प्राण संकट में डाल सकता है। जिसके लिए अपनी सत्ता ही सब-कुछ है वह कहेगा, 'अपनी जान है तो वंश का नाम है।' लेकिन ऐसा भी हम देखते हैं कि मनुष्य अपनी रक्षा को ही सबसे बड़ी चीज़ नहीं गिनता। इसका कारण यही है कि प्रत्येक मनुष्य की सत्ता दूसरों की सत्ता से जुड़ी हुई है।

मेरा जन्म ऐसे परिवार में हुआ जिसका धर्म-साधन एक विशेष प्रकार का था। उपनिषद्, मेरे पितृदेव की अभिज्ञता, और अन्य साधकों की साधना—इन सबसे मिलकर हमारी पारिवारिक साधना का निर्माण हुआ। मैं अपने पिता का कनिष्ठ पुत्र हूँ। जातकर्म से लेकर मेरे सभी संस्कार

वैदिक मंत्रों से अनुष्ठित हुए, यद्यपि वे ब्राह्ममत के अनुसार भी अवश्य थे। मैं स्कूल से भागनेवाला बालक था। जो भी जगह घिरी हुई होती है, वहाँ मेरा मन नहीं लगता। जो अभ्यास बाहर से लादा जाता है, उसे मैं ग्रहण नहीं कर पाता। लेकिन मेरे पितृदेव ने इस विषय में मेरी कभी भर्त्सना नहीं की। उन्होंने स्वयं स्वाधीनता के साथ पूर्वजों के संस्कारों का त्याग किया था। गम्भीर-से-गम्भीर जीवन-तत्त्व के सम्बन्ध में मैं आज़ादी से सोचता था। यह बात माननी होगी कि मेरा यह स्वातंत्र्य कभी-कभी उन्हें दुःख पहुँचाता था—फिर भी उन्होंने कभी कुछ कहा नहीं।

बचपन मे उपनिषदों के कई अंश, पुनरावृत्ति करते-करते, मुझे याद हो गये थे। उनमे से सभी तो मैं ग्रहण नहीं कर सका—श्रद्धा थी, लेकिन शायद भक्ति नहीं थी। उसी समय मेरा उपनयन हुआ। मुझे गायत्री मंत्र दिया गया—केवल मौखिक भाव से नहीं, मैंने इस मंत्र को बार-बार दुहराया है और पितृदेव से उसके ध्यान का अर्थ भी समझा है। मेरी आयु बारह वर्ष की रही होगी। इस मंत्र के विषय में चिन्तन करते-करते मुझे लगता कि विश्व के और मेरे अस्तित्व मे आत्मिकता है। भूर्भुवः स्वः—इस भूलोक के साथ, अन्तरिक्ष के साथ, मेरा अखण्ड योग है। इस विश्व ब्रह्माण्ड का आदि-अन्त जो ईश्वर है उसने ही हमारे मन मे चैतन्य जागरित किया है। चैतन्य और विश्व—अन्दर—बाहर, सृष्टि की ये दो धाराएँ मिली हुई हैं।

इस तरह ध्यान के द्वारा जिसको हम उपलब्ध करते हैं वह विश्वात्मा से और हमारी आत्मा से, चैतन्य के सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। इस तरह के विचारों के आनन्द से मेरे मन मे एक ज्योति जग उठी, यह बात मुझे स्पष्ट रूप से याद है।

जब मैं बड़ा हुआ—अठारह या उन्नीस वर्ष की आयु होगी, या शायद बीस भी हो—चौरंगी[1] मे अपने दादा के साथ रहने लगा। ऐसे दादा कभी किसी को न मिले होंगे—वे मित्र, भाई, सहयोगी, सभी कुछ थे।

उन दिनो तड़के उठने की प्रथा थी—मेरे पिता भी बहुत सवेरे उठते। मुझे याद है, एक बार पिता के साथ पहाड़ गया था—हम डलहौजी मे रहते थे। वहाँ कड़ी सर्दी थी। उस सर्दी मे भी वे तड़के ही हाथ मे दिया लेकर मेरे पलंग के पास आते और मुझे जगा देते। एक दिन मैं सवेरे उठकर चौरंगी के घर के बरामदे मे खड़ा था। उन दिनों वहाँ 'फ्री स्कूल' नाम की एक पाठशाला थी। रास्ते के उस पार ही स्कूल का अहाता दिखाई पड़ता था। मैंने देखा कि वहाँ पेड़ के पीछे से सूर्य उदित हो रहा है। जैसे ही पेड़ से सूर्य का आविर्भाव हुआ, मेरे मन का पर्दा खुल गया। मुझे लगा कि मनुष्य आजन्म एक आवरण लिये रहता है। उसी मे उसका स्वातंत्र्य है। इस स्वातंत्र्य का लोप होने से सामाजिक प्रयोजनों की पूर्ति मे असुविधा होती है। लेकिन उस दिन सूर्योदय होते ही मेरा आवरण दूर हुआ। मैंने सोचा, अब सत्य को मुक्त दृष्टि से देख पाया हूँ। दो मजदूर एक-दूसरे के कन्धों पर हाथ धरे, हँसते-हँसते चले जा रहे थे। उनको देखकर मैंने एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य का अनुभव किया। मन मे यह विचार नहीं उठा कि वे मामूली मजदूर थे। उस दिन मैंने उनकी अन्तरात्मा को देखा, जहाँ चिरकाल का 'मानव' है।

हम सुन्दर किसे कहते हैं ? बाह्य रूप से जो नगण्य लगता है उसका जब हम आन्तरिक

---

१. कलकत्ता का एक प्रमुख मार्ग, जो आधुनिकता का केन्द्र है। चौरंगी नाथ-सम्प्रदाय के एक 'गुरु' थे।

अर्थ देखते हैं तो वह सुन्दर लगता है। गाय के बछड़े के लिए गुलाब का फूल सुन्दर नहीं होता। मनुष्य के लिए वह सुन्दर है—उस मनुष्य के लिए जो उस फूल की पंखुड़ी नहीं, उसका डण्ठल नहीं, बल्कि उसकी समग्र आंतरिक सार्थकता ग्रहण करता है। पबना का ग्रामीण कवि जब रूठी हुई प्रणयिनी को मनाने के लिए 'एक रुपये का उपहार' लाने का प्रस्ताव करता है तो उस उपहार का दाम एक रुपये से कहीं अधिक हो जाता है। इस उपहार का—या गुलाब का आंतरिक अर्थ जब हम देख पाते हैं तभी वह सुन्दर हो जाता है। उस दिन मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने देखा, समस्त सृष्टि अपरूप है। मेरा एक मित्र था। बुद्धिमत्ता के लिए उसकी विशेष ख्याति नहीं थी। उसकी सुबुद्धि का एक दृष्टान्त देता हूँ। एक दिन उसने मुझसे पूछा, 'क्यों, ईश्वर को देखा है?' मैंने कहा, 'नहीं, मैंने तो नहीं देखा' वह बोला, 'मैंने देखा है' मैंने पूछा, 'किस तरह ?' उसने उत्तर दिया, 'क्यों? यह तो है—आँख के पास बिज-बिज कर रहा है।' जब भी यह मित्र आता, मैं समझता मुझे नाराज़ करने आया है। लेकिन उस दिन मुझे वह भी अच्छा लगा। मैंने खुद ही उसे पुकारा। उस दिन ऐसा लगा, उसकी बुद्धिहीनता आकस्मिक है; वह उसका चरम, चिरन्तन सत्य नहीं। उसको बुलाकर उस दिन मैं बहुत खुश हुआ। उस दिन वह 'अमुक' नहीं रहा। मैं जिस मानव-लोक में रहता हूँ, उसी में वह भी रहता है। तब मैंने सोचा, यही मुक्ति है। इसी अवस्था में मैं चार दिन रहा—चार दिन तक मैंने जगत् को सत्य के रूप से देखा। उसके बाद ज्योतिदा[1] ने कहा, 'दार्जिलिंग चलो'। वहाँ जाकर फिर मन पर पर्दा पड़ गया—फिर वही नगण्य, वही प्रात्यहिकता लेकिन उसके पहले कुछ दिन तक सबके बीच जिसे देखा था, उसके सम्बन्ध में आज तक मन में कोई संशय नहीं है। वह है अखण्ड मनुष्य, जो सब मनुष्यों के भूत-भविष्यत् में परिव्याप्त है—अरूप होते हुए भी सभी मनुष्यों के रूप में जिसका अन्तरतम आविर्भाव है।

[दो]

यही मेरे जीवन की प्रथम अभिज्ञता थी, जिसे आध्यात्मिक कहा जा सकता है। उस समय जिस भाव से मैं प्रभावित हुआ उसका स्पष्ट रूप मेरी उन दिनों की रचनाओं में—'प्रभात संगीत' की कविताओं में— देखा जा सकता है। वह भाव अपने-आप ही 'प्रभात संगीत'[2] में प्रकाशित हुआ। बाद में अगर सोच-विचार कर उस भाव के विषय में मैं लिखता तो उसका यथार्थ चित्र न मिलता। पहले ही से यह बताना उचित होगा कि 'प्रभात संगीतद की कविताओं को मैं यहाँ केवल उस समय की अपनी भावनाओं का चित्रण करने के लिए उद्धृत कर रहा हूँ—काव्य की दृष्टि से वे अत्यन्त सामान्य हैं। मेरे लिए उनका एकमात्र मूल्य यह है कि उन दिनों मेरे मन मे जो आनन्द उच्छ्वसित हुआ था वह उनमें व्यक्त हुआ है। भाव असंलग्न हैं, भाषा अपरिपक्व है—मानो उनमें मैं शब्दों को टटोलने की चेष्टा कर रहा हूँ : लेकिन 'चेष्टा' कहना ठीक न

१ अपने अग्रज ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर के लिए रवीन्द्रनाथ का स्नेह-सम्बोधन। ज्योतिरिन्द्रनाथ महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८४९-१९२५) के पाँचवे पुत्र थे और रवीन्द्रनाथ से १३ साल बड़े थे। ज्योतिरिन्द्रनाथ संगीत के बड़े प्रेमी थे और अनेक पुस्तकों के प्रणेता। रवीन्द्रनाथ ने अपनी 'जीवन स्मृति' और 'छेलेबेला' में उनका अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है।

२ रवीन्द्रनाथ का काव्य-संग्रह जो सन् १८८३ में प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ उन्होंने अपनी दसवर्षीया भतीजी इन्दिरा देवी (बाद में इन्दिरा देवी चौधुरानी) को समर्पित किया था।

होगा—चेष्टा उनमें नहीं है। मन ने बिना किसी यत्न के, जैसे बन पड़ा, अपने भाव व्यक्त किये हैं। साहित्य के आदर्श से विचार करने पर किसी संग्रह में स्थान पाने योग्य रचनाएँ ये नहीं हैं।

इन कविताओं को मैं झिझकते हुए सुना रहा हूँ, उत्साहपूर्वक नहीं। जो कविता मैं सबसे पहले पढ़ूँगा वह शायद उस अनुभव के बाद पहले ही दिन लिखी गयी थी जिसका मैंने अभी उल्लेख किया। लेकिन यह बात मैं बिलकुल निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि यह ठीक पहले ही दिन की रचना है। मेरे काव्य का इतिहास जिन्होंने देखा है वे जानते हैं कि रचना-काल के सम्बन्ध में मेरे वक्तव्यों पर निर्भर नहीं किया जा सकता। जो कुछ भी हो, यह उस समय की लिखी कविता है जब हृदय भावोच्छ्वास से व्याकुल हो उठा था। उसे आज की अभिज्ञता के साथ मिलाकर देखना होगा। मैंने कहा है कि हमारे एक ओर अहं है, दूसरी ओर आत्मा। अहं खण्डाकाश की तरह है—घर के अन्दर का आकाश है, जिसको लेकर विषय-कर्म, मामला-मुकदमा इत्यादि चलते हैं। उससे जुड़ा हुआ महाकाश है, जिसमे वैषयिकता नहीं है; वह आकाश असीम है, विश्वव्यापी है। 'मानवत्व' से जिस विराट् पुरुष की ओर संकेत होता है वह हमारे खंडाकाश मे भी है। हममे ही दो पक्ष हैं—एक हममे बद्ध है, दूसरा सर्वत्र व्याप्त है। ये दोनों संलग्न हैं, और इनको मिलाकर ही हमारी परिपूर्ण सत्ता बनती है; इसीलिए मैंने कहा है कि जब हम अहं को एकांगी भाव से पकड़कर रखते हैं तब हम मानव-धर्म से च्युत हो जाते हैं। तब हमारा उस महामानव से—विराट् पुरुष से—विच्छेद होता है जो हममे विद्यमान है :

मैंने जागकर देखा, अँधेरे में हूँ,
अपने आपमें बँधा हुआ हूँ।
मग्न हूँ अपने ही कल स्वर में,
जिसकी प्रतिध्वनि मेरे ही कानों में गूँज रही है।

यह है 'अहं', अपने-आपमें आबद्ध, जो असीम से च्युत होकर, अन्ध होकर, अन्धकार में पड़ा रहता है। मैंने अनुभव किया कि ऐसे ही अन्धकार में मैं था। वह स्वप्न जैसी दशा थी :

गहरी, अत्यन्त गहरी गुहा, घना अँधेरा
गहरी नींद में प्राण अकेला गीत गा रहा है
स्वप्न गीत के स्वर मेरे एकाकी हृदय में विलीन हो रहे हैं।

निद्रा में जो स्वप्नलीला है उसके साथ सत्य का योग नहीं। अमूलक, मिथ्या—तरह-तरह के नाम उसे देता हूँ। अहं की सीमाओं में आबद्ध जो जीवन है, वह है मिथ्या—उसमें दुःख, क्षति, विकृति है। जब अहं जाग पड़ता है और आत्मा को उपलब्ध करता है तो उसे नया जीवन मिलता है। कभी उसी अहं के क्रीड़ा-भवन में मैं गिरफ्तार था। अपने प्राण को ही मैंने पकड़ रखा था, वृहत सत्य रूप नहीं देखा था :

आज प्रभात की वेला में रविकिरणें
कैसे मेरे प्राण में समा गयीं!
गुहा के अँधेरे में कैसे प्रवेश किया
प्रभात-विहंग के संगीत ने !

न जाने कैसे, इतने दिन बाद
प्राण जाग उठा,
प्राण जाग उठा !
प्राण वारि छलक उठा
प्राण की वासना, प्राण का आवेग
अब अवरूद्ध नहीं रह सकते।

यह है उस दिन की बात जब अन्धकार से मैं आलोक में आया—बाहर के, असीम के आलोक में। उस दिन चेतना ने ऊपर उठकर भूमा में प्रवेश किया। कारागृह का द्वार खोलकर बाहर निकलने के लिए, जीवन की सारी विचित्र लीलाओं के साथ सम्मिलित होकर प्रवाहित होने के लिए, अन्त:करण व्याकुल था। उस प्रवाह की गति थी महान्, विराट् समुद्र की ओर। उसी को अब मैंने विराट् पुरुष कहा है। उसी महामानव में जाकर नदी मिलेगी—लेकिन सबके बीच से गुज़रते हुए। यह पुकार मैंने सुनी। । सूर्य-प्रकाश में जागकर मन व्याकुल हो उठा। यह आह्वान कहाँ से आया? यह महासमुद्र की ओर आकर्षित करता है, मानव-मात्र के भीतर होकर, संसार के भीतर होकर। भोग-त्याग किसी को भी यह अस्वीकार नहीं करता—सबका स्पर्श-बोध करके आखिर उस स्थान पर पहुँचता है जिसके प्रति मैंने कहा.

आज न जाने क्या हुआ, प्राण जाग उठा
दूर से मानो मैंने महासागर का गीत सुना।
उसी सागर की ओर हृदय दौड़ता है।
उसी के तट पर जाकर जीवन शेष होना चाहता है।

वहाँ जाने के लिए हृदय व्याकुल था। 'मानव धर्म' से सम्बन्धित मेरे भाषण की यही भूमिका है, इस महासागर को अब मैंने महामानव का नाम दिया है। समस्त मानव-जाति के भूत-भविष्यत्-वर्तमान को लेकर वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रतिष्ठित है। उसके साथ जा मिलने की ही यह पुकार है।

उस अनुभव के दो-चार रोज बाद मैंने 'प्रभात उत्सव' कविता लिखी। बात वही है, लेकिन कुछ अधिक स्पष्ट कही गयी है .

आज मेरा हृदय न जाने कैसे उन्मुक्त हो गया है !
जगत् पास आकर उसका आलिंगन करता है।
पृथ्वी पर जितने शत-सहस्र मनुष्य हैं
मेरे प्राण में आते हैं, हँसकर मुझसे गले मिलते हैं।

यह तो सभी मनुष्यो के हृदय की तरंगलीला है। मनुष्य-मनुष्य मे स्नेह, प्रेम और भक्ति के सम्बन्ध तो हैं ही लेकिन उन्हें जब हम विशेष रूप से देखते है, विशाल पृष्ठभूमि पर देखते हैं, तो ऐक्य और तात्पर्य का लाभ होता है। उस दिन दो मजदूरों की बात मैंने कही थी—उनमें जो आनन्द मैंने देखा वह सत्य का आनन्द था, जिसका उद्‌गम सार्वजनीन, सर्वकालीन चित्त की गहराइयों में

है। उसे देखकर मैं खुश हुआ—और उससे भी अधिक प्रसन्नता मुझे इसलिए हुई कि जिन लोगों में यह आनन्द मैंने देखा उन्हें मैं नगण्य समझता आया था। जिस क्षण उनमें मैंने विश्वव्यापी प्रकाश देखा, एक परम सौन्दर्य का अनुभव हुआ। इसी दिन मानवीय सम्बन्धों की विचित्र रसलीला, आनन्द और अनिर्वचनीयता का मुझे आभास मिला। वह आभास एक बालक के अनिपुण लेखन में व्यक्त हुआ—परिस्फुट रूप में नहीं; उस समय मैंने जो अनुभव किया, वही लिखा। मैंने बिलकुल ही मनमाना गीत गाया हो, ऐसी बात नहीं है। यह गीत दो घड़ी का नहीं है, यह अन्तहीन है। इसमें एक धारावाहिकता है, प्रत्येक मनुष्य के हृदय में इसकी अनुवृत्ति है। मेरे गान के साथ मनुष्य-मात्र का योगदान है—गान रुकने पर भी यह योग विच्छिन्न नहीं हो सकता.

कल गान का अन्त होगा इस विचार से
आज क्यों न गाऊँ—आज, जब प्रभात की किरनें फूटी हैं ?
यह किसकी हर्ष-ध्वनि है, तुम्हीं कहो।
आनन्द के स्रोत पर सब तैरते जा रहे हैं,
आनन्द में लीन हो रहे हैं।
धरती की ओर देखकर, नव-आनन्द के गीत गाते हुए,
मन को किसी और दिन की याद आ रही है।

विराट् आनन्द की धारा में सब-कुछ तरंगित है—यह बात बहुत दिन तक मैंने नहीं देखी थी लेकिन उस दिन देखी। मनुष्य के विविध सम्बन्धों में आनन्द का रस है। सब लोगों में यह जो आनन्द-रस है उसके द्वारा ही 'महारस' की अभिव्यक्ति होती है. 'रसो वै स' इसके खण्ड-खण्ड आविर्भाव में ही ब्रह्म को प्राप्त किया गया था। उस अनुभूति को व्यक्त करने के लिए मैं बेचैन था, लेकिन अच्छी तरह व्यक्त न कर सका। मैंने जो कुछ कहा असपूर्ण रूप में कहा।

'प्रभात-संगीत' की अन्तिम कविता की पंक्तियाँ हैं

आज मैं कोई बात नहीं कहूँगा—
आज मैं कोई गीत नहीं गाऊँगा।
देखो, आज भोर के समय कितने लोग आये हैं !
चारों ओर भीड़ लगी है,
सब अनिमेष मेरी ओर देख रहे हैं—
मेरा स्मितमुख देखकर सारा दुःख-शोक भूल गये हैं।
आज मैं गीत नहीं गाऊँगा।

इससे समझा जा सकता है, उस समय मेरा मन किस भाव से आविष्ट था, उसने किस सत्य का स्पर्श पाया था। जो कुछ है उस महामानव में जा मिलता है, और प्रतिध्वनि के रूप में वहाँ से लौटता है—रस-सौन्दर्य-मण्डित होकर। यह उपलब्धि मुझे अनुभूति से हुई, तत्त्वरूप में नहीं। उस समय एक बालक का मन जिस अनुभूति से आन्दोलित हुआ था, उसी की असम्पूर्ण अभिव्यक्ति 'प्रभात-संगीत' में है। बाद में ऑक्सफोर्ड में मैंने जो कहा वह तो चिन्तन का परिणाम था—अपने विचारों को अनुभूति से अलग करके, उन्हें अन्य तत्त्वों के साथ मिलाकर, युक्ति पर

आधारित करके कहा था। लेकिन उसका आरम्भ उसी अनुभूति में है। उस दिन मैंने जगत् के तुच्छ आवरण को हटते देखा, सत्य का अपरूप सौन्दर्य देखा। उसमें तर्क के लिए स्थान नहीं था—उस 'देखने' का सत्यरूप मैंने समझा। अभी तक मेरे मन में यह उत्कट लालसा है कि किसी शुभ मुहूर्त में विश्व के आनन्दरूप को फिर एक बार वैसी ही परिपूर्णता से देख सकूँ। यह जो बाल्यावस्था में एक दिन स्पष्ट देखा था उसी के बारे में उपनिषद् के ये शब्द मेरे होठों से बार-बार ध्वनित हुए हैं—'आनन्दरूपं अमृतं यद्विभाति'। उस दिन देखा, विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें रसस्पर्श न मिलता हो। जो प्रत्यक्ष देखा है उसके विषय में तर्क की क्या जरूरत है? स्थूल आवरण मर्त्य हैं, अन्तरतम आनन्दमय सत्ता अमर है।

[3]

वर्षा ऋतु में नहर जल से भरी रहती थी। जब वह सूख जाती, लोग उसके ऊपर चलकर इधर-उधर जाते। नहर के इस पार एक बाजार लगता, तरह-तरह के लोग वहाँ आते। अपने दुमंज़िले मकान से यह सब देखकर मैं खुश होता। लेकिन पद्मा नदी पर बोट में रहते हुए मैं जनता से दूर हो गया था। नदी का तट, कहीं-कहीं सूखी ज़मीन, तपती हुई बालू। जगह-जगह पानी जमा हो गया था, जहाँ पक्षी और जलचर चक्कर काटते। वहाँ जो कहानियाँ मैंने लिखीं उनमें पद्मा-तीर का वातावरण है। जब शहजादपूर[१] आता, ग्रामीण जीवन की झाँकी सामने आती, देहात के विविध कामों पर दृष्टि जाती। 'पोस्ट मास्टर', 'समाप्ति', 'छुट्टी' इत्यादि कहानियों में इसी वातावरण का प्रतिबिम्ब है। उनमें गाँव के अलग-अलग दृश्यों को कल्पना के द्वारा पूरा करके चित्र खींचे गये हैं।

उस समय की एक घटना मुझे याद है। सूखी हुई एक पुरानी नहर में पानी भर गया था। कीचड़ में धँसी हुई एक छोटी नाव एकाएक तैरने लगी। गाँव के लड़के नयी जलधारा की पुकार सुनकर खुश हुए—उन्होंने दिन मे दस-दस बार डुबकियाँ लगायीं।

दूसरी मंज़िल की खिड़की से मैंने सामने आकाश में नववर्षा के जलभरे बादल देखे, और नीचे बालक-मण्डली में प्राण का तरंगित कल्लोल। मेरा मन सहसा खुले द्वार से बाहर निकल पड़ा—कहीं दूर जाने के लिए। अत्यन्त निबिड़ रूप से हृदय को अनुभूति मिली—सामने मैंने देखी नित्यकालव्यापी अनुभवधारा, कितने प्राणों की विविध क्रीड़ाओं से मिलकर बनी हुई एक अखण्ड लीला। अपने जीवन में जिसका बोध करता हूँ, उपभोग करता हूँ और घर-घर लोगों की जो निरन्तर जीवनोपलब्धि चल रही है, वह सब एक विराट् अभिज्ञता में मिल जाती है। कितने नटों का अभिनय चल रहा है; उनमें से प्रत्येक की जीवन-यात्रा में सुख-दुःख की खण्डशः अभिव्यक्ति हो रही है—लेकिन समस्त अभिनय से एक नाट्यरस उत्पन्न होकर परमद्रष्टा में आविर्भूत हो रहा है—ऐसे परमद्रष्टा में जो 'सर्वानुभूः' है। इतने समय तक जीवन के सुख-दुःख की जिस अनुभूति ने मुझे विचलित किया था उसको एक नित्य साक्षी के पास खड़े होकर मैं देख सका।

१ पूर्वी बंगाल में ठाकुरों की जमींदारी में एक स्थान का नाम। यह जमींदारी पबना ज़िले मे थी, जो अब बाङ्ला देश में है।

इस तरह अपने से पृथक् करके जब मैं अंश को समग्र के बीच स्थापित कर पाया, तब अपने अस्तित्व का भार हल्का हो गया। किसी रसिक के साथ एक होकर मैं जीवन-लीला को सत्य रूप में देख सका। उस दिन का वह अनुभव मेरे लिए एक गम्भीर रहस्य बन गया।

मुक्ति का आनन्द मुझे मिला। स्नानगृह की ओर जाते-जाते बीच में खिड़की के पास मैं खड़ा हो गया था। वह क्षण अब मेरे लिए बृहत् हो उठा। मेरी आँखों से आँसू टपके—मेरी इच्छा हुई, किसी के सामने सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करूँ, भूमिष्ठ होकर किसी को प्रणाम करूँ। मेरे अन्तरंग का वह कौन-सा साथी है जिसने मेरी समस्त क्षणिकता को ग्रहण करके उसका अपनी नित्यता में समावेश किया है? मुझे ऐसा लगा कि मैंने अपने एक पक्ष को छोड़कर, दूसरे पक्ष की ओर जाकर, अपना परिचय पाया। 'एषोऽस्य परमानन्दः'। मेरे बीच 'यह' और 'वह' दोनों हैं—जब 'यह' 'वह' के पास पहुँचता है तभी उसे आनन्द मिलता है।

उस दिन अत्यन्त निकट से मैंने देखा कि मेरी सत्ता में उपलब्धि के दो पक्ष है। एक वह जिसको 'मैं' कहता हूँ—और उसके साथ जुड़ी हुई सब चीजें, मेरा संसार, मेरा देश, मेरा धन-मान, जिसको लेकर इतनी चिन्ता है, इतना प्रयास है। लेकिन एक परम पुरुष भी है जो इन सबके ऊपर अधिकार करता है, सबका अतिक्रमण करता है—वह नाटक-द्रष्टा भी है स्रष्टा भी, इसलिए वह सबसे संयुक्त है और सबके परे भी। अस्तित्व के इन दोनों पक्षों को सदा सम्मिलित रूप से मैं नहीं देख पाता। अपने-आपको विराट् से विच्छिन्न करके सुख-दुःख से आन्दोलित होता हूँ। मन की विचलता का कोई परिमाण नहीं रहता, और इससे मैं अपने और विराट् के बीच सामंजस्य नहीं देख पाता। कभी अचानक दृष्टि उधर जाती है, मुक्ति का स्वाद मिलता है। जब अहं अपनी ऐकान्तिकता भूल जाता है, तब वह सत्य को देखता है। 'जीवन देवता'-सम्बन्धी मेरी कविताओं में यह अनुभूति व्यक्त हुई है :

'हे अन्तरतम'

मेरे अन्तर में आकर क्या तुम्हारी सब प्यास मिट गयी है ? जिस परिमाण में मैं पूर्ण हूँ, विश्वभूमीन हूँ, उसी परिमाण से मैंने 'उसको' अपना बनाया है। 'उसके' साथ मेरा ऐक्य हुआ है। यही बात सोचकर मैंने कहा : 'मेरे बीच अपनी लीला को देखकर तुम कितने खुश हो !'

विश्वदेवता का आसन प्रत्येक जगत् में है—ग्रह-चन्द्र-तारों में है। जीवन-देवता विशेष रूप से जीवन के आसन पर है, प्रत्येक हृदय में उसका पीठ-स्थान है, प्रत्येक अनुभूति और अभिज्ञता में उसका केन्द्र है। बाउलों ने उसी को 'मन का मनुष्य' कहा है। इसी 'मन के मनुष्य' को, सर्व मनुष्यों के इसी जीवन-देवता को, मैंने अपनी 'Religion of Man' शीर्षक व्याख्यानमाला का विषय बना। इन व्याख्यानों को दर्शन के दृष्टिकोण से देखना उचित नहीं होगा। मतवाद का आकार उन्हें दिया गया, लेकिन वास्तव में उनमें केवल एक कवि के चित्त की अभिज्ञता है। यह आन्तरिक अभिज्ञता दीर्घकाल तक मेरे अन्दर प्रवाहित हुई है। उसे मेरी व्यक्तिगत चित्त-प्रकृति की विशेषता समझकर ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

जो सारे जगत् का भूमा है उसे उपलब्ध करने की साधना में कभी-कभी यह उपदेश मिलता है: 'लोकालय छोड़ो, गुहा में जाओ, अपनी सत्ता को, अपनी सीमा को, विलुप्त करके असीम में अन्तर्हित हो जाओ।' इस साधना के विषय में कुछ कहने का मुझे अधिकार नहीं है। लेकिन

मेरा मन जिस साधना को स्वीकार करता है वह कहती है—अपना त्याग न करो; अपने बीच ही उस महान् पुरुष को उपलब्ध करने का क्षेत्र है; वह निखिल मानव-जाति की आत्मा है। उसकी उपेक्षा करते हुए किसी अमानवीय या अतिमानवीय सत्य तक पहुँचने की बात यदि कोई करे तो उसे समझने की शक्ति मेरे पास नहीं है। मेरी बुद्धि मानवीय बुद्धि है, मेरा हृदय मानवीय हृदय है; मेरी कल्पना मानवीय कल्पना है। उसको मैं कितना ही परिमार्जित करूँ, है तो वह मानवचित्त। जिसे हम विज्ञान कहते हैं वह मानव-बुद्धि से ही प्रमाणित है, जिसे ब्रह्मानन्द कहते हैं वह भी मानव-चैतन्य में व्यक्त आनद है। इस बुद्धि में, इस आनन्द में, जिसको हम उपलब्ध करते हैं वह भूमा है—लेकिन वह 'मानवीय भूमा' है। उसके बाहर कुछ होना या न होना मनुष्य के लिए बराबर है। मनुष्य को विलुप्त करके ही यदि मुझे मुक्ति मिल सकती है, तो मैं मनुष्य हुआ ही क्यों?

किसी समय मैं अकेला बैठा प्राचीन मंत्रों को लेकर आत्मविलय की भावना से ध्यान करता था। पलायन करने की इच्छा मुझमें थी— और इससे बिलकुल ही शान्ति न मिली हो, ऐसी बात नहीं। इस तरह विक्षोभ से सहज ही निष्कृति मिलती थी। दुःख के समय इस भावना से मुझे सान्त्वना मिली, प्रलोभन से मेरी रक्षा हुई। लेकिन एक दिन ऐसा भी आया जब मैंने समस्त को स्वीकार किया, सबको, ग्रहण किया। मैंने देखा कि मानव-नाट्यमंच पर जो लीला चल रही है उसी का अंश मैं भी हूँ। सबको निकट से देखने को मैं छोटी चीज़ नहीं समझता। यह भी सत्य है। जीवन की जीवन-देवता से पृथक् करके देखना ही दुःख है, दोनों को संयुक्त रूप में देखना ही मुक्ति है।

[कमला भाषण-माला (कलकत्ता विश्वविद्यालय) के अन्तर्गत शान्ति-निकेतन में दिये गये तीन भाषणों में से अन्तिम। 'प्रवासी' (वैशाख-ज्येष्ठ १३४० बंगाब्द) १९३३ ई० में प्रकाशित। ये लेख 'मानुषेर धर्म' (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३३) में परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं।]

५

सत्य का आह्वान

परजीवी कीट या जन्तु दूसरे का रक्त-शोषण करके जीवित रहता है ! उसका देह-यन्त्र तो सदा बेचैन रहता है—अपनी शक्ति द्वारा खाद्य को अपने शरीर का उपकरण बना लेना। लेकिन ऐसा न करने से प्राणी-लोक में इन जन्तुओं का अधःपतन होता है—यह इनके आलस्य-पाप का दण्ड है। मनुष्य के इतिहास में भी यही बात लागू होती है। लेकिन परजीवी मनुष्य केवल वह नहीं है जो जड़भाव से दूसरे पर निर्भर रहे। जो व्यक्ति परम्परागत वस्तुओं से जकड़ा रहता है, जो बहती हुई धारा में निष्क्रिय भाव से आत्म-समर्पण करता है, वह भी परजीवी है। हमारे आन्तरिक पक्ष के लिए बाह्य-जगत् 'पराया' है। जब यह बाह्य-जगत् अभ्यास के जोर से हमें चलाता है तो हमारा अन्तःकरण निरुद्यम हो जाता है। ऐसी हालत में, मनुष्य में जो असाध्य को साध्य बनाने की आकांक्षा है, वह पूर्ण नहीं होती।

इस तरह के परासक्त प्राणी दुनिया में हैं। प्रचलित धारा में उनका शरीर तैरता रहता है। वे प्राकृतिक निर्वाचन सिद्धान्त के अनुसार जीवित रहते हैं या मर जाते हैं, आगे बढ़ते हैं या पीछे हटते हैं। उनके अन्तःकरण का विकास नहीं होता। वह सिकुड़ा हुआ रहता है। लाखों बरसों तब मधुमक्खी जिस तरह छत्ता बनाती आयी है वैसे ही बनाती है--उसमें लेश-मात्र फेर-फार करना उसके लिए सम्भव नहीं है। छत्ता तो त्रुटिहीन बनता है, लेकिन मधुमक्खी अपने अभ्यास के दायरे में आबद्ध हो जाती है। इस तरह के सभी प्राणियों के सम्बन्ध में प्रकृति के व्यवहार में साहस का अभाव दिखाई पड़ता है—ऐसा लगता है कि प्रकृति ने उन्हें अपने आँचल में सुरक्षित रखा है; उन्हें विपत्तियों के बचाने के लिए उनकी आन्तरिक गतिशीलता को ही प्रकृति ने घटा दिया है।

लेकिन सृष्टिकर्ता ने मनुष्य की जीवन-रचना में साहस का परिचय दिया है। उसके मानव के अन्तःकरण को बाधाहीन बनाया है; बाह्य रूप से उसे विवस्त्र, निरस्त्र और दुर्बल बनाकर उसके चित्त को स्वच्छन्दता प्रदान की है। इस मुक्ति से आनन्दित होकर मनुष्य कहता है : 'हम असाध्य को सम्भव बनायेंगे'—अर्थात् 'जो सदा से होता आया है और होता रहेगा, उससे हम सन्तुष्ट नहीं रहेंगे। जो कभी नहीं हुआ, वह हमारे द्वारा होगा। ' इसीलिए मनुष्य ने अपने इतिहास के प्रथम युग में जब प्रचंडकाय प्राणियों के भीषण नखदन्तों का सामना किया तो उसने हिरन की तरह पलायन करना नहीं चाहा, न कछुए की तरह छिपना चाहा। उसने असाध्य लगने वाले कार्य को सिद्ध किया—पत्थरों को काटकर नखदन्त निर्मित किये। प्रणियों के नखदन्त की उन्नति केवल प्राकृतिक निर्वाचन पर निर्भर होती है। लेकिन मनुष्य के ये भीषणतर नखदन्त उसकी अपनी सृष्टि-क्रिया से बने थे। इसलिए पत्थर की चट्टानों पर ही वह निर्भर रहा—पत्थर के

हथियारों को छोड़कर उसने लोहे के हथियार बनाये। इससे प्रमाणित होता है कि मानवीय अन्तःकरण संधानशील है, उसके चारों ओर जो कुछ है उस पर ही वह आसक्त नहीं हो जाता। जो उसके हाथ में नहीं है उस पर वह अधिकार करना चाहता है। पत्थर उसके सामने रखा है; लेकिन पत्थर से वह संतुष्ट नहीं। लोहा है धरती के नीचे, वहाँ से मानव उसे बाहर निकालता है। पत्थर को घिस-माँजकर हथियार बनाना आसान है, लेकिन उससे मानव को सन्तोष नहीं होता। लोहे को आग में गलाकर, साँचे में ढालकर, हथौड़े से पीटकर—सब बाधाओं को पार करके—उसने अपने अधीन बनाया। मनुष्य के अन्तःकरण का धर्म यही है कि वह परिश्रम से केवल सफलता नहीं बल्कि आनन्द भी प्राप्त करता है। वह ऊपरी सतह से गहराइयों तक पहुँचना चाहता है; प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष तक, सहज से कठिन तक, परनिर्भरता से आत्मकर्तृत्व तक, प्रवृत्ति की ताड़ना से विचार की व्यवस्था तक पहुँचना चाहता है। इसी तरह वह विजयी होता है।

यदि कुछ लोग ऐसा कहें : 'यह पत्थर का फलक हमारे दादा-परदादाओं का फलक है, इसको यदि हम छोड़ दें तो हमारी जाति नष्ट होगी'—तो इन शब्दों से उनके मनुष्यत्व की जड़ पर आघात लगेगा। उनके विचारों से जिसको वे 'जाति-रक्षा' कहते हैं वह सम्भव हो भी सकती है, लेकिन सबसे महान् 'जाति'—अर्थात् मनुष्य जाति की कुलीनता को चोट लगती है। जो लोग आज भी 'पत्थर के फलक' से ही सन्तुष्ट हैं उनको मनुष्य ने जाति से बाहर कर दिया है—वे जंगलों में छिपकर जीवन व्यतीत करते हैं। वे बाह्य परिस्थिति पर पूर्णतया निर्भर हैं, परम्परा की लगाम मे जकड़े हुए हैं, उनकी आँखों पर पट्टी पड़ी है। उन्हें आन्तरिक स्वराज्य नहीं मिला, इसीलिए बाह्य स्वराज्य के अधिकार से भी वे वंचित हैं। वे यह नहीं जानते कि मनुष्य को अपनी शक्ति से असाध्य को साध्य बनाना है; जो हुआ है उसी के बीच आबद्ध नहीं रहना है, वरन् जो नहीं हुआ उसकी ओर कदम बढ़ाना है—ताल ठोककर, छाती फुलाकर नहीं, आन्तरिक साधना की शक्ति से, आत्मशक्ति के उद्बोधन से।

तीस वर्ष पहले जब मैं 'साधना'[1] पत्रिका मे लिखा करता था, अपने देशवासियों से यही बात कहने की मेरी चेष्टा थी। उन दिनों अंग्रेजी-शिक्षित भारतवासी दूसरों से अधिकारों की भिक्षा माँगने मे व्यस्त थे। उस समय मैंने बार-बार यह समझाने का प्रयत्न किया था कि मनुष्य को अधिकार माँगने नहीं होता, अधिकार की सृष्टि करनी होती है। आन्तरिक पक्ष में ही मनुष्य कर्त्ता है, बाहर के लाभ से अन्दर की हानि हो सकती है। मैंने कहा था कि अधिकार से वंचित रहने का दुःख उतना भारी नहीं है जितना भारी हमारे सिर पर रखा हुआ आवेदन-पत्रिकाओं का थाल है। फिर जब 'बंगदर्शन'[2] के अंक हमारे हाथों मे आये, बंग-विभाजन के आर्त्तनाद से सारी बंगभूमि विचलित थी। क्षोभग्रस्त बंगाली उन दिनों मैनचेस्टर-निर्मित कपड़ों का परित्याग करके बम्बई के सौदागरों के लोभ को बढ़ावा दे रहे थे। अंग्रेजी सरकार के प्रति अप्रसन्नता ही

१. ठाकुर-परिवार के युवक सदस्यों द्वारा संचालित बाङ्ला मासिक पत्रिका।

२. बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा स्थापित बाङ्ला की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका। इसके प्रकाशन के चौथे और अन्तिम वर्ष सन् १८९४ में इसका सम्पादन रवीन्द्रनाथ ने किया था। इन चार वर्षों में पत्रिका में रवीन्द्रनाथ की लिखी एक-तिहाई से भी अधिक कहानियाँ छपी थीं।

इस 'वस्त्रवर्जन' का आधार था। इस आन्दोलन का प्रत्यक्ष लक्ष्य इंग्लैड था— भारत तो केवल उपलक्ष्य था; इसकी मूल उत्तेजना देशवासियों के प्रति प्रेम नहीं बल्कि विदेशियों के प्रति नाराज़गी थी। उस समय लोगों को सावधान करने के लिए यह समझना ज़रूरी था कि भारत में अंग्रेजों का राज्य एक बाहरी घटना है, लेकिन देश का अपना अस्तित्व एक आन्तरिक सत्य है। यही चिरसत्य है, बाहर की घटना तो 'माया' है। माया तभी विशाल रूप धारण करती है जब हम उसकी ओर समस्त मन-प्राण से ताकते रहते हैं—चाहे इस एकाग्रता के पीछे क्रोध हो या अनुराग। भक्तिभाव से किसी के पाँव पकड़ना आसक्ति ही है, लेकिन क्रोध से किसी के पाँव में दाँत गड़ाना भी तो आसक्ति ही है। 'नहीं चाहते, नहीं चाहते' कहते हुए हम किसी के ध्यान में लगे रहें तो भी हमारा हृदय रक्तवर्ण हो उठता है। माया अंधकार का तरह है, बाह्यशक्ति से उसका अतिक्रमण नही किया जा सकता। उसको पानी से धोने का प्रयत्न करें तो 'सात समुद्र तेरह नदी' सूखने पर भी कोई असर नहीं होगा। सत्य आलोक की तरह है, उसकी शिखा जलते ही हम देख पाते हैं कि माया का अस्तित्व वास्तविक नहीं है। तभी शास्त्र में कहा है:

'स्वल्पप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

भय है मन की नास्तिकता। उसे नकारात्मक रूप से परास्त नहीं किया जा सकता। उसका एक कारण समाप्त होते ही दूसरा उत्पन्न होता है और वह जीवित रहता है। धर्म सत्य है, मन की आस्तिकता है। उसके अल्पमात्र प्रभाव से प्रकाण्ड 'नहीं' की पराजय होती है। भारत में अंग्रेजों का आविर्भाव एक ऐसी सत्ता है जिसके कितने ही रूप हो सकते हैं। आज वह अंग्रेज की मूर्ति धारण कर रही है; कल किसी अन्य विदेशी का रूप और परसों स्वयं भारतवासी का निदारुण रूप उसमें देखा जा सकता है। यदि इस परतन्त्रता का हम तीर-कमान हाथ में लेकर पीछा करें, तो अपने आवरण बदल-बदल कर वह हमें थका देगी। लेकिन जब हम अपने देश के अस्तित्व को ही सत्य समझें और उसे प्राप्त करें तो बाहर की माया अपने-आप दूर होगी।

अपने देश में विश्वास एक ऐसी आस्तिकता है जिसके लिए साधना आवश्यक है। देश में जन्म लेने से ही देश को अपना समझना उन्हीं लोगों का काम है जो विश्व के बाह्य व्यवहार में दूसरों पर निर्भर हैं। मनुष्य का यथार्थ स्वरूप उसकी आत्म-शक्ति-सम्पन्न अन्तःप्रकृति में है। इसलिए मनुष्य अपने ज्ञान, कर्म, प्रेम और बुद्धि द्वारा जिस देश की सृष्टि करता है, वही उसका स्वदेश है। सन् १९०५ में मैंने बंगालियों को पुकारकर यही बात कही थी . 'आत्मशक्ति द्वारा देश का निर्माण करो। सृष्टि से जो उपलब्ध किया जाता है वही सत्य है।' विश्वकर्मा अपनी सृष्टि से अपने-आपको प्राप्त करता है। देश को पाने का अर्थ है, देश के बीच अपनी आत्मा को व्यापक भाव से उपलब्ध करना। जब हम चिन्तन, कर्म और सेवा द्वारा देश का निर्माण करते हैं तभी आत्मा को देश के बीच सत्य रूप से देख पाते हैं। देश मनुष्य के चित्त की सृष्टि है, इसीलिए देश में आत्मा की व्याप्ति है, उसकी अभिव्यक्ति है।

'स्वदेशी समाज' शीर्षक लेख में कई वर्ष पहले मैं इस प्रश्न की विस्तृत समीक्षा कर चुका हूँ कि जिस देश में हमने जन्म-ग्रहण किया है उसे सम्पूर्ण रूप से 'अपना' बनाने का क्या उपाय है। उस समीक्षा में त्रुटियाँ हो सकती हैं, लेकिन उसमें यह बात ज़ोरदार शब्दों में कही गयी है कि देश को दूसरों के हाथ से नहीं, बल्कि अपने ही औदासीन्य और अकर्मण्यता से बचाना है। देश की

उन्नति के लिए हम सर्वदा अंग्रेज़ी सरकार के दरवाज़े पर खड़े रहते हैं, तभी हमारी अकर्मण्यता बढ़ती रही है। अंग्रेज़ी सरकार की कीर्ति हमारी कीर्ति नहीं। वह बाह्य रूप से हमारा जो कुछ भी उपकार करे, आन्तरिक पक्ष से उससे हम अपने देश को खो देते हैं; आत्मा का मूल्य देकर हम सफलता प्राप्त करते हैं। याज्ञवल्क्य के शब्द हैं :

'न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कायायः पुत्र प्रियो भवति।।'

देश के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। देश हमारी आत्मा है, इसलिए ही वह हमें प्रिय है— जब यह बात हम जान लेते हैं, देश के सृष्टि-कार्य में पराये का मुँह जोहना हमें असह्य लगता है।

उस दिन मैंने देश के सामने जो बात कहने का प्रयत्न किया वह कोई नयी बात नहीं थी, और न उसमें कुछ ऐसा था जो स्वदेश-हितैषियों के कानों को कटु लगता किन्तु, चाहे और लोग भूल गये हों मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरी बातों से लोग बहुत नाराज हुए थे। मैं उन साहित्यिक गुण्डों का उल्लेख नहीं कर रहा हूँ जिनके लिए कटुभाषा एक व्यवसाय-सा हो गया है। कुछ गणमान्य, शिष्ट, शान्त लोग भी मेरी बातों मे अधीर हो उठे थे। इसके दो कारण थे—एक क्रोध, और दूसरा लोभ। । क्रोध की तृप्ति का साधन एक तरह का भोगसुख ही होता है। उन दिनों इस भोगसुख के नशे में हम चूर थे। हमने अपने मानसिक आनन्द के लिए कपड़ा जलाया, 'पिकेटिंग' की, जो लोग हमारे अपने मार्ग पर नहीं चले उनका रास्ता रोका, और अपनी भाषा में संयम का त्याग किया। इस अशिष्टता-प्रदर्शन के कुछ समय बाद एक जापानी सज्जन ने मुझसे पूछा : 'आप लोग शान्ति और दृढ़ता मे, धैर्यपूर्वक काम क्यों नहीं कर पाते? शक्ति को बेकार ही खर्च करना तो उद्देश्य-साधन का सदुपाय नहीं है?' इसके उत्तर में मुझे यही कहना पड़ा था कि उद्देश्य-साधन की उज्ज्वल भावना जब मन में होती है तो मनुष्य स्वभावतः आत्मसंयम करता है और अपनी समस्त शक्ति को उद्देश्य की दिशा में प्रयुक्त करता है। लेकिन जब क्रोध-तृप्ति की उन्मत्तता तारसप्तक तक पहुँचती है और उद्देश्य-साधन पीछे रह जाता है तब हम शक्ति बेकार खर्च कर डालते हैं और दिवालिये बन जाते हैं। जो कुछ भी हो, उन दिनों जब बंगाल के लोग कुछ समय के लिए क्रोध-तृप्ति का सुख भोग रहे थे, मैंने एक दूसरे पथ की बातें कीं, जिससे मुझे लोगो की नाराज़गी सहनी पड़ी। इसके अलावा लोगों मे लोभ भी था। इतिहास मे सभी देशों ने दुर्गम मार्ग पर चलकर दुर्लभ वस्तुओं को प्राप्त किया है, लेकिन हमें हर चीज़ आसानी से मिलेगी; हाथ जोड़कर, भीख माँगकर नहीं, आँखें लाल करके, अप्रसन्नता दिखाकर—इस भ्रम के आनन्द में उनें दिनों हमारा देश चूर था। अंग्रेज दूकानदार जिसे reduced price sale कहते हैं, वही सस्ते दाम का माल उस समय बंगालियों के भाग्य में था। जिसका सामर्थ्य कम होता है वह सस्तेपन का उल्लेख सुनते ही खुश हो जाता है; माल कैसा है, किस हालत में है। वह नहीं देखता; और यदि कोई व्यक्ति सन्देह व्यक्त करता है तो उसे वह मारने दौड़ता है। असल बात यह है कि उन दिनों हमारा ध्यान बाहर की माया पर केन्द्रित था। तभी उस समय के एक नेता ने कहा था: 'हमारा एक हाथ अंग्रेज़ सरकार की गरदन पर है, दूसरा हाथ उसके पाँव पर।' अर्थात् देश-कार्य के लिए कोई हाथ खाली नहीं था। उस समय और उसके परवर्ती युग में शायद

यह द्विधा मिट गयी है—कुछ लोगों के दोनों हाथ सरकार की गरदन पर है, अन्य लोगों के दोनों हाथ सरकार के पैरों पर। लेकिन इनमें से कोई पथ माया से मुक्ति नहीं दिलाता। कोई अंग्रेज़ों के दाहिने ओर है, कोई बाई ओर। कोई 'हाँ' कहता है, कोई 'नहीं'—लेकिन दृष्टि दोनों की अंग्रेज़ों पर ही है।

उस दिन चारों ओर से बंगदेश के हृदयावेग को ही उत्तेजित किया गया। लेकिन केवल हृदयावेग आग की तरह जलाकर खाक कर सकता है, सृष्टि नहीं कर सकता। मनुष्य का अन्तःकरण धैर्य, निपुणता और दूरदर्शिता के साथ इस आग में कठिन उपादानों को गलाकर अपने प्रयोजन की सामग्री तैयार करता है। देश के इस सृष्टिशील अन्तःकरण को उस दिन जागरित नहीं किया गया। इसीलिए इतने तीव्र हृदयावेग से कोई स्थायी परिणाम नहीं निकल सका।

यह जो हुआ उसका कारण बाहर नहीं, हमारे भीतर ही है, दीर्घकाल से हमारे धर्म और कर्म के एक ओर हृदयावेग रहा है, दूसरी ओर अभ्यस्त आचार। हमारा अन्तःकरण बहुत दिनों से निष्क्रिय रहा है, उसे डरा-धमकाकर दबाया गया है। इसलिए जब भी हमसे किसी ठोस काम की माँग की जाती है, हम झटपट हृदयावेग की शरण लेते है और तरह-तरह के जादू-मन्तरों की आवृत्ति से मन को मुग्ध करते है। मतलब यह हुआ कि देश-भर मे एक ऐसी अवस्था निर्मित की जाती है जो अन्तःकरण की सक्रियता के बिलकुल प्रतिकूल होती है।

अन्तःकरण की जड़ता से जो क्षति होती है उसे पूरा करना संभव नहीं होता—जब हम क्षतिपूर्ति करना चाहते हैं तो मोह का सहारा लेते हैं। कमज़ोर मन का लोभ अलादीन के चिराग़ का चमत्कार सुनते ही फड़क उठता है। सभी मानेंगे कि अलादीन के चिराग़-जैसी सुविधाजनक वस्तु दूसरी कोई नहीं हो सकती। इसमें केवल एक ही असुविधा है—यह वस्तु कहीं मिलती नहीं ! लेकिन जिस व्यक्ति में लोभ अधिक और सामर्थ्य कम है, वह स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कह पाता कि 'ऐसी कोई वस्तु नहीं है।' जैसे ही अलादीन के चिराग़ के अस्तित्व का विश्वास उसे कोई दिलाता है, उसका उद्यम जाग उठता है। उसका विश्वास यदि हम उससे छीनना चाहे तो वह चीत्कार करता है, कहता है कि उसका सबकुछ लुट गया।

बंग-विभाजन के उत्तेजनापूर्ण दिनों मे युवकों के एक दल ने राष्ट्र-क्रांति द्वारा देश में युगान्तर लाने का प्रयत्न किया। और जो कुछ भी हो, इस प्रलय-यज्ञ मे उन्होंने अपनी आहुति दी, इसके लिए वे वंदनीय हैं—केवल हमारे देश में ही नहीं, सभी देशों में। उनकी निष्फलता भी आत्मा की दीप्ति से उज्ज्वल है। परम त्याग और दुःख सहकर उन्होंने यह स्पष्ट देखा है कि जब तक राष्ट्र तैयार नहीं है तब तक क्रान्ति का प्रयत्न करना गलत मार्ग पर चलना है। यह मार्ग उचित मार्ग की तुलना में छोटा है, लेकिन उस पर चलकर हम लक्ष्य तक नहीं पहुँचते, रास्ते में दोनों पाँव काँटों से ज़ख्मी हो जाते हैं। प्रत्येक वस्तु का पूरा दाम देना होता है—यदि आधा ही दाम दिया गया तो रुपया भी जाता है और वस्तु भी नहीं मिलती। वे दुःसाहसी युवक समझते थे कि सारे देश के लिए यदि कुछ लोग आत्मोत्सर्ग करें तो क्रान्ति सफल होगी। उनके लिए इसमें सर्वनाश था, देश के लिए एक सस्ती बात। देश का उद्धार समस्त देश के अन्तःकरण से होना चाहिए, उसके एक अंश से नहीं। रेलगाड़ी के फ़र्स्ट क्लास का मूल्य कितना ही हो, वह कितना ही सुन्दर हो, अपने साथ के थर्ड क्लास को वह आगे नहीं बढ़ा सकता। मैं सोचता हूँ, ये युवक

अब समझ गये हैं कि राष्ट्र की सृष्टि देश के समग्र लोगों के सम्मिलित प्रयास से होती है— इस सृष्टि में सारे देश की हृदय-वृत्ति, बुद्धि और इच्छा-शक्ति व्यक्त होती है, यह योगलब्ध धन है। इस योग के द्वारा मनुष्य की सारी वृत्तियाँ अपनी सृष्टि के बीच संहत होकर रूपलाभ करती हैं। केवल राजनैतिक योग या आर्थिक योग सम्पूर्ण योग नहीं है—सभी शक्तियों का योग ज़रूरी है। दूसरे देशों के इतिहास में हम राजनैतिक घोड़े को ही सबसे आगे देखते हैं और सोचते हैं, इसी चतुष्पद के ज़ोर से सब लोग आगे बढ़ रहे हैं। हम यह भूल जाते हैं कि उसके पीछे 'देश' नाम की जो गाड़ी है उसके पहियों में पारस्परिक सामंजस्य है। उसके सभी हिस्सों को अच्छी तरह एक-दूसरों से जोड़ा गया है। इस गाड़ी के तैयार करने में केवल आग, हथौड़ी और पेंच-कब्ज़े ही नहीं लगे, इसके पीछे बहुत-से लोगों का दीर्घ चिन्तन, साधना और त्याग भी है।

ऐसे भी देश हैं जो बाह्यतः स्वाधीन हैं, लेकिन जब 'पोलिटिकल' वाहन उनको घसीटता है तो उनकी गाड़ी की गड़गड़ाहट से मोहल्ले भर की नींद उचट जाती है; धक्के के ज़ोर से सवारी की पीठ में कीलें चुभती रहती हैं; रास्ते में गाड़ी टूट जाती है; रस्सी से उसे बार-बार बाँधना पड़ता है। अच्छी हो या बुरी, उसके स्क्रू चाहे ढीले हों और पहिये टेढ़ें हों, है तो यह भी गाड़ी। लेकिन जो चीज़ घर-बाहर दोनों ही जगह टूट रही है, जिसमें समग्रता तो है ही नहीं,बल्कि स्वगत-विरोध है, उसे क्रोध, लोभ या और किसी प्रवृत्ति के बन्धन से बाँधकर ज़बरदस्ती खींचा जाय तो कुछ देर तक आगे बढ़ाया जा सकता है; लेकिन क्या ऐसी यात्रा को हम राष्ट्रदेवता की रथयात्रा कहेंगे ? प्रवृत्ति के बन्धन में कुछ दम भी है? घोड़े को अस्तबल में ही रखकर गाड़ी को ठीक करना ही क्या प्रथम आवश्यकता नहीं है? यमराज के द्वार से जो बंगाली युवक घर लौटे हैं उनकी बातें सुनकर और उनके लेख पढ़कर मुझे लगता है कि वे भी अब बात समझ गये हैं। अब वे कहते हैं, सबसे पहले हमें योग-साधना की ज़रूरत है—देश की चित्त की सारी शक्तियों का मिलन, उनकी परिपूर्णता-साधना का योग आवश्यक है। किसी बाह्य दबाव द्वारा यह सम्भव नहीं है, आन्तरिक प्रेरणा से, ज्ञानालोकित चित्त की आत्मोपलब्धि द्वारा ही सम्भव है। जो कुछ भी देश के अन्तःकरण से उद्‌बोधित और अभिभूत नहीं है उससे इस काम में बाधा पड़ेगी।

अपनी सृष्टि-शक्ति से देश को अपना बनाने का आह्वान बहुत बड़ा आह्वान है। वह किसी बाह्य अनुष्ठान की माँग नहीं है। मैं पहले ही कह चुका हूँ, मनुष्य मधुमक्खी की तरह नहीं है जो एक ही तरह का छत्ता बनाती है, न वह मकड़ी की तरह है जो एक ही 'पैटर्न' का जाल बुनती है। उसकी सबसे बड़ी शक्ति है उसका अन्तःकरण। मनुष्य का पूरा दायित्व अन्तःकरण के सामने है, अभ्यासपरता के सामने नहीं। यदि किसी लोभ से प्रेरित होकर मनुष्य से हम कहें : 'तुम विचार न करो, केवल काम करो', तो उसी मोह को हम प्रश्रय देंगे जिससे आज हमारे देश का विनाश हो रहा है। मानव-मन के सर्वोच्च अधिकार, अर्थात् विचार करने के अधिकार को अनुशासन और प्रथा के हाथों बेचकर इतने दिन तक हम आलसियों की तरह निश्चिंत बैठे रहे। हमने कहा : 'हम समुद्र-पार नहीं जायेंगे, क्योंकि मनु ने इसका निषेध किया है, मुसलमान के पास बैठकर भोजन नहीं करेंगे, क्योंकि यह शास्त्र के विरुद्ध है।' अर्थात् जिस प्रणाली में मानव-मन की ज़रूरत नहीं पड़ती, विचारहीन अभ्यासनिष्ठता से ही काम चल जाता है, उसी प्रणाली से हमारी जीवन-यात्रा का अधिकतर भाग सम्पन्न होता रहा है। जो मनुष्य सदा बाह्य आचार से ही चालित

होता है उसकी पगुता वैसी ही होती है जैसी कि प्रत्येक विषय में दास पर निर्भर रहने वाले मालिक की। आन्तरिक मनुष्य ही स्वामी है, वह जब बाह्य प्रथा पर पूर्णतया अवलम्बित होता है तब उसकी दुर्गति का कोई अन्त नहीं होता। आचार-संचालित मनुष्य कठपुतली की तरह है, बाध्यता की चरम सीमा तक वह पहुँच चुका है। परतंत्रता के कारखाने में उसका निर्माण हुआ है; इसलिए जब उसे एक चालक के हाथ से निष्कृति मिलती है तो किसी और चालक के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ता है। पदार्थ-विद्या में जिसे 'इनर्शिया' कहते हैं, उसी की साधना को जो पवित्र समझता है, ऐसे मनुष्य के लिए स्थावरता और जंगमता समान है; दोनों में से किसी में भी उसका अपना कर्तृत्व नहीं है। अन्तःकरण का जो जड़त्व सर्व प्रकार की क्षमता का कारण है उससे मुक्ति-लाभ का उपाय न तो परावलम्बन है न बाह्यानुष्ठान।

आज देश में जो आन्दोलन चल रहा है वह बंग-विभाजन के आन्दोलन से बहुत बड़ा है। उसका प्रभाव सारे भारतवर्ष पर पड़ रहा है। बहुत दिन तक हमारे नेताओं ने अंग्रेज़ी-शिक्षा-प्राप्त लोगों के अतिरिक्त किसी की ओर दृष्टिपात नहीं किया; उनके लिए 'देश' नाम की वस्तु वही थी जो अंग्रेज़ी इतिहास पुस्तकों में मिलती है। वह देश अंग्रेज़ी भाषा की वाष्प से निर्मित एक मरीचिका-जैसा था। उस मरीचिका में बर्क, ग्लड्स्टन, मेज़िनी, गैरीबाल्डी की अस्पष्ट प्रतिमाएँ ही दिखाई पड़ती थीं। उसमें प्रकृत आत्मयोग या देश के लोगों के प्रति यथार्थ सहानुभूति नहीं थी। ऐसे समय महात्मा गाँधी भारत के कोटि-कोटि गरीबों के द्वार पर आकर खड़े हुए। उन्होंने लोगों से उनकी अपनी भाषा में उनकी अपनी बातें कहीं। यह एक सत्य वस्तु थी, इसमें पुस्तकीय 'दृष्टान्त' नहीं थे। इसलिए उन्हें जो महात्मा का नाम दिया गया है वह सत्य नाम है। भारत के इतने लोगों को अपना आत्मीय समझने वाला और कौन है? आत्मा में जो शक्ति का भण्डार है वह सत्य का स्पर्श लगते ही उन्मुक्त हो जाता है। जैसे ही सत्य, प्रेम भारतवासियों के अवरुद्ध द्वार पर खड़ा होता है, वह द्वार खुल जाता है। चातुर्य पर आधारित राजनीति वन्ध्या है—इस बात की शिक्षा हमारे लिए बहुत दिन तक आवश्यक रही है। महात्मा के प्रसाद से आज हमने प्रत्यक्ष देखा है कि सत्य में कितनी शक्ति है। लेकिन चातुर्य है भीरु और दुर्बल लोगों का सहज धर्म—उसका विनाश करना हो तो उसे जड़ से काटना पड़ता है। आजकल बहुत-से बुद्धिमान लोग महात्मा के प्रयत्न को भी अपने राजनैतिक खेल की गुप्त चालों में शामिल करना चाहते हैं। उनका मन, जो मिथ्या से जीर्ण हो गया है, यह नहीं समझ पाता कि महात्मा के प्रेम से देश के हृदय में जो प्रेम छलक उठा वह कोई अवान्तर चीज़ नहीं है—उसमें ही मुक्ति है, उसमें ही देश अपने-आपको प्राप्त कर सकता है; अंग्रेज़ों का यहाँ होना-न-होना इस प्रेम के लिए गौण है। यह प्रेम स्वयं प्रकाश है, यह 'हाँ' है, किसी 'नहीं' के साथ यह बहस नहीं करना चाहता, क्योंकि उसे बहस करने की जरूरत नहीं है।

प्रेम की पुकार से भारत के हृदय में यह जो आश्चर्यजनक उद्बोधन हुआ है, उसका स्वर मैं भी समुद्र पार थोड़ा-बहुत सुन पाया था। बड़े आनन्द के साथ मैंने सोचा, इस उद्बोधन के दरबार में सभी को बुलाया जायगा, भारत की चित्तशक्ति के जो विचित्र रूप प्रच्छन्न हैं वे प्रकाशित होंगे। इसी को मैं मुक्ति समझता हूँ—प्रकाशन ही मुक्ति है। एक दिन भारत में बुद्धदेव ने सर्वभूतों के प्रति मैत्री का मंत्र अपनी सत्य-साधना से प्रकाशित किया था। उसके परिणामस्वरूप,

सत्य की प्रेरणा से, भारत का मनुष्यत्व-शिल्प-कला और विज्ञान के ऐश्वर्य में व्यक्त हुआ था। राजनैतिक पक्ष में उस दिन भी भारत ऐक्य-साधन के क्षणिक प्रयत्नों के बाद बार-बार विच्छिन्न हुआ था; लेकिन उसके चित्त को निद्रा और प्रच्छन्नता से मुक्ति मिली थी। इस मुक्ति में इतना बल था कि भारत अपने-आपको देश की छोटी सीमाओं से आबद्ध न रख सका। समुद्र और पर्वत-राशि के पास जिस दूर-देश को भी उसने स्पर्श किया उसी के चित्त को ऐश्वर्य प्रदान किया। आज कोई वणिक् या सैनिक यह काम नहीं कर सकता—ये पृथ्वी के जिस हिस्से को स्पर्श करते हैं वहाँ विरोध, पीड़ा और अपमान जगाते हैं, विश्व-प्रकृति की सम्पदा नष्ट कर देते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि लोभ सत्य नहीं, प्रेम ही सत्य है। प्रेम जो मुक्ति देता है वह आन्तरिक पक्ष से देता है; लेकिन लोभ जब स्वातंत्र्य के लिए चेष्टा करता है, बल-पूर्वक अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिए अस्थिर हो उठता है। बंग-विभाजन के दिनों में यह बात हमने देखी—उस समय हमने ग़रीबों को त्याग और दुःख स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, प्रेम द्वारा नहीं, बल्कि तरह-तरह के बाह्य दबाव डालकर। लोभ अल्प समय में ही एक विशिष्ट संकीर्ण फल प्राप्त करना चाहता है; लेकिन प्रेम का फल एक दिन का नहीं होता, कुछ दिनों का भी नहीं होता, प्रेम के फल की सार्थकता प्रेम के ही बीच होती है।

मैं इसी कल्पना के साथ घर लौटा कि बहुत दिनों के बाद हमारे देश में मुक्ति की वायु बहने लगी है। लेकिन यहाँ एक बात से मैं हताश हो गया हूँ; मैं देखता हूँ देश के मन पर एक विषम भार है। किसी बाह्य शक्ति की ताड़ना से सबको एक बात कहने और एक काम करने के लिए कठोर आदेश मिला है।

जब मैं कोई सवाल करना चाहता हूँ, सोचना चाहता हूँ, मेरे हितैषी व्याकुल होकर मेरा मुँह बंद करते हैं और कहते हैं : 'इस समय तुम कुछ मत कहो।' देश के वातावरण में एक प्रबल उत्पीड़न है—वह लाठी-छुरी का उत्पीड़न नहीं, उससे भी भयंकर है, क्योंकि वह अदृश्य है। आजकल जो किया जा रहा है उसके बारे में किसी के मन में तिल-मात्र संशय हो, और डरते-डरते वह अपना संदेह व्यक्त करे, तो फ़ौरन उसके विरुद्ध एक दमन-शक्ति तैयार हो उठती है। किसी अखबार में एक दिन विदेशी कपड़ा जलाने के सम्बन्ध में कुछ लिखा गया था। लेखक ने अत्यन्त मृदुल भाषा में अपनी आपत्ति का आभास-मात्र दिया था। सम्पादक का कहना है कि दूसरे ही दिन पाठक-मण्डली की अस्थिरता से वह स्वयं विचलित हो गया। जिस आग ने कपड़ा जलाया उसे कागज जलाने में कितने देर लगती। मैं देखता हूँ, एक पक्ष के लोग अत्यन्त व्यस्त हैं, दूसरे पक्ष के लोग अत्यन्त त्रस्त। लोग कह रहे हैं, सारे देश की बुद्धि पर पर्दा डालना चाहिए, और समस्त विद्या पर भी। केवल आज्ञाकारिता को पकड़े रहना चाहिए। लेकिन किसके प्रति आज्ञाकारिता ? मन्त्र के प्रति ? या अन्धविश्वास के प्रति ?

आखिर आज्ञाकारिता क्यों? फिर वही बात उठती है, लोभ और इन्द्रिय-प्रवृत्ति की बात। थोड़े समय में और सस्ते दाम पर अतिदुर्लभ धन प्राप्त करने का विश्वास देश में जाग रहा है। यह संन्यासी की मन्त्र-शक्ति से सोना उत्पन्न करने के विश्वास-जैसा है। इस विश्वास के प्रलोभन से मनुष्य अपनी विचार-बुद्धि पर अनायास ही तिलांजलि दे सकता है, और जो ऐसा करने के लिए राज़ी नहीं है उन पर क्रुद्ध होता है। बाहर के स्वातंत्र्य के नाम पर मनुष्य के आन्तरिक स्वातंत्र्य

को इस तरह विलुप्त करना आसान हो जाता है। सबसे अधिक शोचनीय बात तो यह है कि सभी लोगों के मन में यह विश्वास नहीं होता, फिर भी वे कहते हैं कि इस प्रलोभन से देशवासियों के एक विशेष दल को प्रेरित करके एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। इनके अनुसार जिस भारत का मन्त्र है 'सत्यमेव जयते नानृतम्', वह भारत स्वराज नहीं प्राप्त कर सकता। और मुश्किल यह है कि इस लोभ को एक नाम दिया गया है, पर उसकी व्याख्या नहीं की गयी। भय का कारण अस्पष्ट हो तो भय और बढ़ जाता है; उसी तरह लोभ का विषय अस्पष्ट होने से लोभ अधिक तीव्र हो जाता है क्योंकि इस अवस्था में कल्पना स्वच्छन्द होती है और प्रत्येक व्यक्ति उस लोभ विषय को अपनी इच्छानुसार रूप देता है। जिज्ञासा द्वारा उसे पकड़ने की कोशिश की जाय तो वह एक आवरण से हटकर दूसरे आवरण में जा छिपता है। इस तरह एक ओर लोभ के लक्ष्य को अनिर्दिष्टता द्वारा विशाल बनाया गया है और दूसरी ओर लक्ष्य-प्राप्ति की साधना के समय और उपाय की अत्यन्त संकीर्ण सीमाओं में निर्दिष्ट किया गया है। व्यक्ति के मन को मोहाविष्ट करके जब उससे कहा जाता है : 'अपनी बुद्धि-विद्या, प्रश्न-विचार सब छोड़ दो—केवल आज्ञाकारिता रहने दो', तब उसके राजी होने में देर नहीं लगती। किसी विशेष बाह्यानुष्ठान द्वारा शीघ्र ही स्वराज्य मिलेगा—एक विशेष महीने की विशेष तारीख को मिलेगा—यह बात देश के अधिकांश लोगों ने आसानी से, बिना तर्क किये, स्वीकार कर ली; हाथ में गदा लेकर तर्क को पराजित करने के लिए वे प्रवृत्त हुए; अर्थात् अपना बुद्धि-स्वातंत्र्य विसर्जित करके दूसरे के बुद्धि-स्वातंत्र्य को छीनने के लिए उद्यत हुए यह क्या अत्यन्त चिन्ताजनक बात नहीं है? क्या इसी भूत को भगाने के लिए हमने ओझा को नहीं ढूँढ़ा है? लेकिन भूत जब स्वयं ओझा के रूप में दिखायी देने लगे तब तो हमारी विपद् की सीमा न रहेगी।

महात्मा ने अपने सत्य-प्रेम से भारत का हृदय जीत लिया है और इसके लिए हम सब उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। इस सत्य की शक्ति को प्रत्यक्ष देखकर आज हम कृतार्थ हैं। चिरन्तन सत्य के बारे में हम पुस्तकों में पढ़ते हैं, उसकी चर्चा करते हैं, लेकिन जब उसे अपने सामने देखते हैं वह हमारे लिए पुण्य क्षण है। बहुत दिनों के बाद अकस्मात् हमें यह सुयोग मिला है। कांग्रेस तो हम रोज़ बना सकते हैं और भंग कर सकते हैं, भारत के प्रदेश-प्रदेश में अंग्रेजी भाषा में राजनैतिक भाषण देना भी हमारे लिए सरल है, लेकिन सत्य-प्रेम का वह स्वर्णदण्ड जिसके स्पर्श से सदियों के बाद चित्त जाग उठता, मोहल्ले की सुनार की दुकान में नहीं बनता। जिनके हाथ में यह दुर्लभ वस्तु देखी, उन्हें हम प्रणाम करते हैं।

लेकिन सत्य को प्रत्यक्ष देखने के बाद भी यदि उसके प्रति हमारी निष्ठा दृढ़ न हुई तो हमें फल क्या मिला? जिस तरह एक ओर हम प्रेम के सत्य को मानते हैं उसी तरह दूसरी ओर बुद्धि के सत्य को भी मानना होगा। कांग्रेस के द्वारा, या अन्य किसी बाह्य अनुष्ठान के द्वारा, देश का हृदय नहीं जागा—महान् अन्तःकरण के अकृत्रिम प्रेमस्पर्श से ही जागा है। आन्तरिक सत्य का यह प्रभाव जब आज तक हम स्पष्ट देख सकते हैं, तो स्वराज्य-प्राप्ति के समय भी क्या उसी सत्य पर हमारा विश्वास नहीं होगा? उद्बोधन के क्षण जिसे हमने माना उसे क्या कार्य-सम्पादन के समय हम विसर्जित कर देंगे?

मान लीजिए, मैं वीणा के उस्ताद को ढूँढ़ रहा हूँ। पूर्व-पश्चिम कितने ही लोगों की परीक्षा

की, लेकिन हृदय तृप्त नहीं हुआ। वे बातें खूब करते हैं, उनके पास कौशल काफ़ी है, रोज़गार भी यथेष्ट करते हैं—लेकिन उनकी बहादुरी से मन में प्रशंसा जाग सकती है, प्रेम नहीं। आखिर एक दिन अचानक ऐसा व्यक्ति मिलता है जिसके दो-चार मींड लगाते ही अन्तःकरण का आनन्द-स्रोत, जो अब तक बन्द था, क्षण-भर में फूट निकलता है। ऐसा क्यों होता है ? इसलिए कि उस्ताद के हृदय में जो आनन्दमयी शक्ति है वह सत्य वस्तु है; वह अपनी आनन्द-शिखा से हृदय-हृदय में आनन्द-दीप जलाती है। मैं समझ गया, यही उस्ताद है; मैंने उसे मान लिया। इसके बाद एक वीणा तैयार करना आवश्यक हो गया। लेकिन वीणा बनाने के लिए एक-दूसरे ही प्रकार का सत्य जरूरी है। उसके पीछे भी विचार, शिक्षा, वस्तुतत्त्व है, बड़ा अध्यवसाय है। इस समय यदि मेरे उस्ताद मेरी दीन अवस्था पर तरस खाकर कहें : 'बेटा, वीणा बनाना एक बड़ा आयोजन है, तुमसे वह नहीं होगा। इससे अच्छा तुम इस लकड़ी में तार बाँधकर उसी से झंकार उत्पन्न करते रहो। अमुक महीने की अमुक तारीख को यह लकड़ी ही वीणा बनकर बजने लगेगी; तो यह बात मैं नहीं मान सकता। वास्तव में मेरी अक्षमता पर दया प्रकट करना उस्ताद के लिए उचित नहीं है। उन्हें यही कहना चाहिए : 'इतनी आसानी से यह काम नहीं हो सकता।' वही तो मुझे समझा सकते हैं कि वीणा में एक ही तार नहीं होता, उसके उपकरण बहुत-से होते हैं, रचना-प्रणाली सूक्ष्म होती है, नियम में ज़रा-सी त्रुटि हो जाने पर वीणा बेसुरी बजती है; इसलिए तत्त्व और नियम का विचारपूर्वक पालन करना होगा। देश के हृदय की गहराई से प्रतिक्रिया बाहर निकालना ही उस्ताद का वीणा-वादन है। इस विद्या में प्रेम का सत्य कितना बड़ा है, यह हमने महात्माजी से विशुद्ध रूप से सीखा है और इस सम्बन्ध में उनके प्रति हमारी श्रद्धा सदा अक्षुण्ण रहे। लेकिन स्वराज्य-निर्माण का तत्त्व बहुत विस्तृत है, उसकी प्रणाली दुःसाध्य है, उसमें दीर्घ समय लगता है, उसमें आकांक्षा और हृदयावेग के साथ-ही-साथ तथ्यानुसंधान और विचार-बुद्धि की ज़रूरत है। उसके लिए अर्थशास्त्रज्ञों को विचार करना होगा, यन्त्रशास्त्रज्ञों को परिश्रम करना होगा, शिक्षातत्त्व और राज्यशास्त्र के विद्वानों को ध्यान देना होगा, काम करना होगा। अर्थात् देश के अन्तःकरण को सभी दिशाओं से पूर्ण उद्यम में जागृत होना पड़ेगा। देश के लोगों की जिज्ञासा-वृत्ति का निर्मल और स्वतंत्र रहना ज़रूरी है, किसी कठोर शासन से बुद्धि को भीरु और निश्चेष्ट नहीं होने देना है। इस तरह देश की वैचित्र्यपूर्ण शक्ति को समेटना और उसे काम में लगाना किसके लिए संभव है ? सभी लोगों की पुकार तो देश नहीं सुनता, इस बात की परीक्षा कई बार हो चुकी है। देश की पूरी शक्ति को देश-निर्माण के कार्य में आज तक कोई नियुक्त नहीं कर सका, इसीलिए हमारा इतना समय व्यर्थ गया। तभी इतने दिनों तक हम आशा करते रहे कि जिसके पास देश के लोगों को पुकारने का सत्य अधिकार है ऐसा व्यक्ति आकर प्रत्येक मनुष्य की आत्मशक्ति को कार्य में नियुक्त करेगा। किसी दिन भारत के तपोवन में हमारे दीक्षागुरु ने सत्यज्ञान के अधिकार से देश के सारे ब्रह्मचारियों को पुकारा था और कहा था :

यथापः प्रवतायन्ति यथा मासा अहर्जरम्।
एवं मा ब्रह्मचारिणो धात आयन्तु सर्वतः स्वाहा ।।

जिस तरह समस्त जल निम्न स्तर की ओर जाता है, जिस तरह सारे महीने संवत्सर की ओर जाते हैं, उसी तरह सभी दिशाओं से ब्रह्मचारीगण मेरे पास आयें, स्वाहा! उस दिन की इस

सत्यदीक्षा का फल अब तक पृथ्वी पर अमर है और उसका आह्वान अब तक विश्व के कानों तक पहुँचता है। आज हमारे कर्मगुरु उसी तरह देश की सारी कर्मशक्ति को आह्वान क्यों नहीं देंगे? क्यों नहीं कहेंगे—'आयन्तु सर्वतः स्वाहा', चारों दिशाओं से मेरे पास आओ? देश की समस्त शक्ति के जागरण में ही देश का जागरण है, और उसी में मुक्ति है। महात्माजी को विधाता ने सबको पुकारने की शक्ति दी है, क्योंकि उनमें सत्य है। यही तो हमारा शुभ अवसर है। लेकिन उन्होंने एक संकीर्ण क्षेत्र में लोगों को पुकारा। उन्होंने कहा : सब मिलकर केवल सूत कातो, कपड़ा बुनो। क्या यह पुकार 'आयन्तु सर्वत : स्वाहा'—जैसी है ? क्या वह नवयुग की महासृष्टि की पुकार है ? विश्व-प्रकृति ने जब मधुमक्खी को छत्ते की संकीर्ण जीवन-यात्रा में आमंत्रित किया तब लाखों मधुमक्खियों ने कर्म की सुविधा के लिए अपने-आपको कमज़ोर बना दिया। अपने को छोटा करके जो आत्मत्याग उन्होंने किया उसके द्वारा उन्होंने मुक्ति के विपरीत दिशा में जाने वाला पथ अपनाया, तब किसी देश के बहु-संख्यक लोग किसी लोभ या अनुशासन के कारण अन्धभाव से अपने-आपको कमज़ोर बनाते हैं, तब उनकी पराधीनता उनके अपने अन्तःकरण में होती है। चरखा चलाना बहुत सरल है, तभी सबके लिए वह साध्य है। लेकिन सरलता की पुकार मनुष्य के लिए नहीं, मधुमक्खी के लिए है। मनुष्य से जब उसकी समस्त शक्ति माँगी जाती है तभी वह आत्मप्रकाश का ऐश्वर्य प्रदर्शित कर पाता है। स्पार्टा ने विशेष लक्ष्य की ओर दृष्टि जमाकर, मनुष्य की शक्ति को संकीर्ण क्षेत्र में प्रबल बनाने का प्रयत्न किया था; लेकिन स्पार्टा की विजय नहीं हुई। एथेन्स ने मनुष्य की पूरी शक्ति को उन्मुक्त करके उसे परिपूर्णता देने का प्रयत्न किया; एथेन्स की विजय हुई, उसकी जयपताका आज तक मानव-सभ्यता के शिखर पर फहरा रही है। योरोप में सैन्यावासों और कारखानों में क्या मानव-शक्ति को कमज़ोर नहीं बनाया जा रहा है? क्या लोभ और उद्देश्य के लिए मनुष्यत्व को संकीर्ण नहीं किया जा रहा है? और क्या इसीलिए योरोपीय समाज में आज आनन्दहीनता घनीभूत नहीं हो रही? मनुष्य को बड़े यंत्र द्वारा भी छोटा बनाया जा सकता है, छोटे यंत्र द्वारा भी; इंजिन के द्वारा छोटा किया जा सकता है और चरखे द्वारा भी। जहाँ चरखा स्वाभाविक है वहाँ वह कोई हानि नहीं पहुँचाता, वरन् उपकार ही करता है। लेकिन मानव-मन वैचित्र्यपूर्ण है, इसलिए चरखा जहाँ स्वाभाविक नहीं है वहाँ उसमें सूत के साथ-साथ मन भी कतता जाता है। मन सूत से कम मूल्यवान वस्तु नहीं !

यह कहा गया है कि भारत में अस्सी प्रतिशत लोग खेती करते हैं और साल में छः महीने उन्हें कोई काम नहीं होता; उन्हें सूत कातने का प्रोत्साहन देने के लिए शिक्षित लोगों को भी चरखा चलाना चाहिए। पहले यह देखना है कि उपरोक्त कथन में तथ्य कहाँ तक है। वास्तव में किसान कितने दिनों तक बेकार रहते हैं; जब खेती बन्द रहती है तब किसान जिन उपायों से जीविकार्जन करते हैं उनकी तुलना में सूत कातना कहाँ तक लाभप्रद होगा—इन सभी बातों पर विचार करना आवश्यक है। खेती के अतिरिक्त जीविकार्जन के किसी अन्य उपाय में सारे किसानों को लगाने से देश का कल्याण होगा या नहीं, इसमें भी सन्देह है। किसी के अनुमान पर निर्भर होकर हम एक ऐसे मार्ग को नहीं अपना सकते जिसका सम्बन्ध जनसाधारण से है। विश्वसनीय प्रणाली से तथ्यों का अनुसन्धान करना आवश्यक है। उसके बाद ही उपाय के औचित्य के विषय में सोचना सम्भव होगा।

कुछ लोगों ने मुझसे कहा है : 'देश की चित्तशक्ति को हम चिरकाल के लिए संकीर्ण नहीं करना चाहते। यह संकीर्णता अल्प समय तक रहेगी।' लेकिन अल्प-काल के लिए भी संकीर्णता क्यों? इसलिए कि इस उपाय से हम अल्पकाल में स्वराज प्राप्त करेंगे? यह कहाँ का युक्तिवाद है ! अपना कपड़ा स्वयं तैयार करना—केवल यही तो स्वराज नहीं है। स्वराज हमारी वस्त्र-स्वच्छता पर तो प्रतिष्ठित नहीं है। उसका यथार्थ आधार हमारा मन है—मन ही अपनी 'बहुधा-शक्ति' द्वारा, आत्मशक्ति पर आस्था द्वारा, स्वराज की सृष्टि करता है। किसी भी देश में इस स्वराज-सृष्टि की क्रिया समाप्त नहीं हुई—किसी-न-किसी अंश में प्रत्येक देश में लोभ या मोह की प्रेरणा से बन्धन की अवस्था बाकी रह गयी है। लेकिन उस बन्धन-दशा का कारण मनुष्य का चित्त ही है। सभी देशों में निरंतर इस चित्त पर ही स्वातंत्र्य का दायित्व-भार पड़ता है। हमारे देश में भी चित्त के विकास पर ही स्वराज की स्थापना निर्भर है। उसके लिए कोई बाह्य क्रिया या फल नहीं, ज्ञान-विज्ञान चाहिए। देश के चित्त पर प्रतिष्ठित इस स्वराज को कुछ दिन चर्खे पर सूत कातकर ही हम प्राप्त करेंगे, इस कथन में तर्क कहाँ है? युक्ति के बदले उक्ति से काम कभी नहीं चलेगा। मनुष्य के मुँह से यदि हम दैववाणी सुनने लगें तो हमारे देश में पहले ही जो हज़ारों तरह के विनाशकारी रोग हैं, उनमें यह अन्यतम और प्रबलतम होगा। यदि एक बार हम यह सोच लें कि दैववाणी के अलावा और किसी बात से देश प्रभावित नहीं होता, तो थोड़े-से प्रयोजन के लिए दिन-रात दैववाणी ही प्रस्तुत करनी होगी—दूसरी कोई वाणी नहीं टिक सकेगी। जिन लोगों को हम युक्ति के बदले उक्ति से सन्तुष्ट करेंगे उन पर आत्मा के बदले किसी-न-किसी 'कर्ता' का ही अधिकार होगा। मैं मानता हूँ कि हमारे देश में दैववाणी, दैवी औषधि, बाह्य जगत् में दैवीक्रिया—इन सबका बड़ा प्रभाव है लेकिन इसीलिए यह और भी आवश्यक है कि स्वराज की बुनियाद डालते समय दैववाणी के आसन पर बुद्धिवाणी को बिठाया जाय, क्योंकि—जैसा मैं एक और प्रबन्ध में कह चुका हूँ—दैव ने स्वयं आधिभौतिक राज्य में बुद्धि का राज्याभिषेक कराया है। आज बाह्य जगत् में वही लोग स्वराज प्राप्त करके उस स्वराज की रक्षा कर सकेंगे जो आत्मबुद्धि के जोर से आत्म-कर्तृत्व उपलब्ध कर सकते हैं, और जो इस गौरव को किसी लोभ या मोह से दूसरों के हवाले करना नहीं चाहते। आज वस्त्र के अभाव से लज्जित और कातर देश में कपड़ों के ढेर जलाये जा रहे हैं—इसकी माँग किस वाणी ने की है? उसी दैववाणी ने? कपड़े के व्यवहार अथवा वर्जन के साथ अर्थशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस शास्त्र की भाषा में ही इस विषय पर देश से कुछ कहा जा सकता है। यदि बुद्धि की भाषा मान्य करने का हमारा अभ्यास बहुत दिनों से छूट गया है, तो और सब काम छोड़कर सबसे पहले इन अनभ्यास के विरुद्ध लड़ाई करनी होगी। यह अनभ्यास ही हमारा आदि अपराध (original sin) है। इस भूल को ही प्रश्रय देकर आज यह घोषणा की गयी है : 'विदेशी कपड़ा अपवित्र है, उसे जला डालो। अर्थशास्त्र को बहिष्कृत करके उसके स्थान पर धर्मशास्त्र को ज़बरदस्ती बिठाया गया है। अपवित्रता की बात धर्मशास्त्र के क्षेत्र में है, अर्थशास्त्र से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मिथ्या का वर्जन क्यों करना चाहिए? मिथ्या अपवित्र क्यों है? केवल इसलिए नहीं कि उससे हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता या अनिष्ट होता है; बल्कि इसलिए कि प्रयोजन सिद्ध हो या न हो, उससे हमारी आत्मा मलिन होती है। इसलिए यहाँ अर्थशास्त्र या राजनीति लागू नहीं होती, यहाँ

धर्मशास्त्र की वाणी ही प्रबल है। लेकिन किसी कपड़े के पहनने या न पहनने में यदि हम कोई भूल करते हैं तो यह अर्थशास्त्र, स्वास्थ्य विज्ञान या सौन्दर्य-तत्त्व की भूल है, धर्मशास्त्र की नहीं। इसके उत्तर में कुछ लोग कहते हैं: 'जो भूल देह-मन को दुःख पहुँचाती है, वह अधर्म है :' लेकिन मैं कहूँगा, भूल चाहे जैसी भी हो, उससे दुःख तो मिलेगा ही। ज्योमेट्री की भूल से रास्ता बिगड़ जाता है, दीवार टेढ़ी बनती है, पुल का निर्माण इस तरह से होता है कि उस पर रेल चले तो दुर्घटना निश्चित है! लेकिन इस भूल का संशोधन धर्मशास्त्र से नहीं हो सकता; छात्र की जिस नोटबुक में ज्योमेट्री की अशुद्धि हो उसे अपवित्र कहकर नष्ट करने से अशुद्धि का संशोधन नहीं होता—ज्योमेट्री के सत्य नियम के अनुसार उस भूल को सुधारना होगा। लेकिन मास्टर के मन में यह विचार उठ सकता है : 'यदि मैं इस नोटबुक को अपवित्र न कहूँ तो यह लड़का अपनी भूल नहीं मानेगा।' ऐसा विचार यदि मन में है, तो सबसे पहले किसी-न-किसी उपाय से मास्टर के इस चित्तगत दोष का संशोधन करना होगा, तभी छात्र को उचित शिक्षा मिलेगी।

कपड़ा जलाने का आदेश आज हमें मिला है। प्रथमतः, वह आदेश है केवल इसीलिए उसे मानना होगा, यह बात मैं स्वीकार नहीं कर सकता। आँखें बन्द करके आदेश मानने की विषम विपत्ति से देश को बचाने के लिए हमें युद्ध करना है। देश को एक आदेश से दूसरे आदेश तक ले जाना, उस आदेश-समुद्र के सात घाटों का पानी पिलाना, मुझे मंजूर नहीं; द्वितीयतः, जिसे जलाने का आयोजन चल रहा है वह कपड़ा मेरा नहीं है—जिन देशवासियों को कपड़े का अभाव है, उन्हीं का है। मैं उसे जलानेवाला कौन होता हूँ? यदि वे स्वयं कहें 'इसे जला दो' तो आत्महत्या का भार आत्मघाती पर ही पड़ेगा, हम पर नहीं। जो मनुष्य कपड़े का त्याग कर रहा है, उसके पास काफ़ी कपड़े हैं; और जिससे ज़बरदस्ती त्याग कराया जा रहा है वह कपड़े के अभाव से घर से बाहर नहीं निकल पाता। इस तरह के बलपूर्वक कराये गये प्रायश्चित से पाप का क्षालन नहीं होता। बार-बार कह चुका हूँ, और फिर कहता हूँ, कि बाह्य फल के लोभ से हम अपने मन को नहीं खो सकते। जिस यंत्र के दौरात्म्य से पृथ्वी पीड़ित है, उसका जब महात्माजी विरोध करते हैं तब मैं उनके साथ हूँ। लेकिन जो मोहमुग्ध, मंत्रमुग्ध आज्ञाकारिता देश के दैन्य और अपमान की जड़ है उसकी सहायता करते हुए मैं यंत्र के विरुद्ध लड़ाई नहीं करूँगा। उसी के विरुद्ध तो हमारा मुख्य संघर्ष है, उसको पराजित करके ही हमें अन्दर-बाहर स्वराज मिलेगा।

कपड़ा जलाना मुझे मंजूर है, लेकिन किसी उक्ति की ताड़ना से नहीं। काफ़ी सोच-विचार के बाद, यथोचित उपायों से, विशेषज्ञ प्रमाण-संग्रह करें और हमें समझा दें कि कपड़ा पहनने के विषय में हमारी जो अर्थशास्त्रमूलक भूलें हैं उन्हें दूर करने की कौन-सी उचित व्यवस्था हो सकती है। बिना प्रमाण या तर्क के मैं कैसे कह सकता हूँ कि किसी विशेष कपड़े को पहनने का आर्थिक अपराध उस कपड़े को जला डालने से दूर होगा—कैसे कह सकता हूँ कि दूर होने के बदले इससे अपराध की जड़ें और नहीं फैलेंगी, मैन्चेस्टर का फाँस और भी दृढ़ नहीं होगा? यह तर्क मैं विशेषज्ञ की हैसियत से नहीं बल्कि एक जिज्ञासु की हैसियत से प्रस्तुत कर रहा हूँ—मैं विशेषज्ञ नहीं हूँ। मैं यह नहीं कहता कि विशेषज्ञ का वचन वेद-वाक्य है; लेकिन सुविधा यही है कि विशेषज्ञ वेद-वाक्य की तरह बात करते ही नहीं, वे भरी सभा में हमारी बुद्धि को आह्वान देते हैं।

वह दिन आ गया है कि हम एक बात पर विचार करें—भारत को वर्तमान उद्बोधन सारी

पृथ्वी के उद्बोधन का अंग है। महायुद्ध की तूर्यध्वनि से नये युग का आरम्भ हुआ है। महाभारत में हम पढ़ते हैं, आत्म-प्रकाशन के पहले का काल अज्ञातवास का काल था। कुछ समय से पृथ्वी पर मानव-मानव में जो घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए हैं वे अब तक अज्ञात थे। इन सम्बन्धों का रूप बाह्य था, उसने हमारे मन में प्रवेश नहीं किया था। युद्ध के आधान से जब क्षण-भर के लिए सारी मानव-जाति विचलित हो उठी, तब ये सम्बन्ध छिपे नहीं रहे। एक दिन अचानक आधुनिक सभ्यता—अर्थात् पाश्चात्य सभ्यता—की दीवार काँप उठी। यह बात समझ में आयी कि इस कंपन का कारण स्थानिक या क्षणिक नहीं था, वह विश्वव्यापी था। मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध एक महादेश से दूसरे महादेश तक व्याप्त है; उसमें जब तक सत्य का सामंजस्य नहीं होगा यह कारण दूर नहीं होगा। जो भी देश अपने-आपको बिलकुल अलग रूप से स्वतंत्र देखेगा उसका वर्तमान युग से विरोध होगा, और उसे किसी तरह शांति नहीं मिलेगी। लोगों ने समझा कि अब से प्रत्येक देश जब अपने विषय में विचार करेगा तो उसके विचार का क्षेत्र दुनिया-भर में व्याप्त होगा। चित्त की इस विश्वोन्मुख वृत्ति को विकसित करना ही वर्तमान युग की शिक्षा-साधना है। कुछ दिनों से हम देख रहे हैं कि भारतीय राजनीति में एक मूलगत परिवर्तन हो रहा है। इसके पीछे भारत की राष्ट्रीय समस्या को विश्व-समस्या के अन्तर्गत करने का प्रयास है। युद्ध ने हमारे मन के सामने से एक पर्दा हटा दिया है—जो कुछ भी विश्व के लिए हितकर नहीं है, वह हमारे अपने स्वार्थ के विरुद्ध है, यह बात हमारा मन किताबों के पत्रों मे नहीं, प्रत्यक्ष व्यवहार में देख पाता है। और वह समझ लेता है कि जहाँ अन्याय है वहाँ बाह्य अधिकार होने पर भी सत्य-अधिकार नहीं हो सकता। बाह्य अधिकार को संकुचित करके भी यदि सत्य-अधिकार मिल सकता है तो इसमें लाभ ही है, नुकसान नहीं। मनुष्य की बुद्धि में यह जो विराट् परिवर्तन हुआ है, जिससे उसका चित्त संकीर्णता को छोड़कर भूमा की ओर जा रहा है, उसी से राजनीति में भी परिवर्तन आरम्भ हुआ है। इसमें असंपूर्णता है, बाधाएँ हैं—स्वार्थबुद्धि शुभबुद्धि पर आक्रमण करेगी ही—लेकिन यह सोचना अन्याय होगा कि स्वार्थ-बुद्धि ही पूरी तरह स्वाभाविक है, और शुभबुद्धि केवल चालाकी पर आधारित है। मैंने अपनी साठ वर्षों की अभिज्ञता से एक बात जान ली है—कपटता जैसी दुःसाध्य, और इसीलिए दुर्लभ, दूसरी कोई चीज़ नहीं है। नितान्त कपटी मनुष्य विरला होता है। वास्तव मे प्रत्येक मनुष्य मे किसी-न-किसी मात्रा में चारित्र्य का द्वैध होता है। हमारी बुद्धि के पास 'लॉजिक' का जो अधिकार है उससे दो विरोधी पदार्थों को एक-मात्र पकड़ना कठिन है; इसीलिए जब हम अच्छे के साथ बुरे को देखते है तो झटपट तय कर लेते हैं कि इनमें से जो अच्छा लगता है वह 'चातुर्य' मात्र है। आजकल पृथ्वी मे जो सर्वजनीय प्रचेष्टाएँ चल रही हैं उनमे पग-पग पर मानव-चरित्र का यही द्वैध दिखाई पड़ेगा। ऐसी अवस्था मे यदि हम मानव-चरित्र का अतीत के पक्ष में विचार करे, तो सोचेंगे कि स्वार्थबुद्धि ही यथार्थ है; क्योंकि पिछले युगों की नीति भेदबुद्धि की नीति रही है। लेकिन यदि हम उसे भविष्य के पक्ष से देखे तो शुभबुद्धि को ही यथार्थ समझेंगे; क्योंकि आगामी काल की प्रेरणा मनुष्य को संयुक्त करने की प्रेरणा है। जो बुद्धि सबको संयुक्त करती है वही शुभबुद्धि है। 'लीग ऑफ नेशन्स', भारतीय शासन-सुधार, इन सबमे भावी युग के सम्बन्ध मे पश्चिम की वाणी सुनायी पड़ती है। यद्यपि यह वाणी सत्य को पूर्णतया प्रकाशित नहीं करती फिर भी इसका प्रयास सत्य की ही ओर अभिमुख है।

आज इस विश्वचित्त-उद्‌बोधन के प्रभात में हमारी राष्ट्रीय प्रचेष्टा में यदि विश्व की सार्वजनीन वाणी न हो तो हमारी दीनता व्यक्त होगी। मैं नहीं कहता कि हमारे प्रस्तुत प्रयोजन के जो कार्य हैं,उन्हें हम छोड़ दें। लेकिन जब भोर का पक्षी जाग उठता है, उसका जागरण केवल आहार ढूँढ़ने के लिए नहीं होता—आकाश के आह्वान को उसके दो अथक पंख स्वीकार करते हैं; आलोक के आनन्द से उसके कंठ से गान फूट निकलता है। आज सर्वमानव के चित्त ने हमारे चित्त को पुकारा है। हमारा चित्त अपनी भाषा में उसे स्वीकार करे, क्योंकि आह्वान स्वीकार करने की क्षमता प्राणशक्ति का लक्षण है। किसी समय हमारी राजनीति दूसरों का मुँह ताकने की नीति थी; हम दूसरों के दोषों की तालिका बनाते थे, दूसरों को उनकी त्रुटियों की याद दिलाते रहते थे। आज जब हम अपनी राजनीति को परपरायणता से अलग करना चाहते हैं, हम फिर दूसरों के अपराधों की सूची बार-बार पढ़कर अपनी वर्जन-नीति का पालन-पोषण कर रहे हैं। इससे जो मनोभाव उत्तरोत्तर प्रबल हो रहा है, वह हमारे चित्ताकाश में रक्तिम धूल उड़ाकर हमारे चिंतन से विशाल जगत् को ओझल रख रहा है; प्रवृत्ति का जल्दी-से-जल्दी समाधान करने के लिए हमें उत्तेजित कर रहा है। समस्त विश्व के साथ जुड़े हुए भारत के विराट् रूप पर हमारी दृष्टि नहीं जाती, इसलिए हमारे कर्म और चिंतन से भारत का जो परिचय मिलता है वह हीन है, उसमें दीप्ति नहीं, उसमें हमारी व्यवसाय-बुद्धि ही प्रधान है। व्यवसाय-बुद्धि कभी किसी महान् वस्तु की सृष्टि नहीं करती। पाश्चात्य जगत् में आज इसका अतिक्रमण करके शुभबुद्धि को जगाने की आकांक्षा और उद्यम दिखाई देता है। मैंने वहाँ कितने ही लोग देखे हैं जो इसी संकल्प को हृदय में लेकर संन्यासी हो गये हैं, अर्थात् जो राष्ट्रीय बन्धनों को तोड़कर ऐक्य-साधना के लिए घर का त्याग करके बाहर निकल पड़े हैं, जो अपने अन्तःकरण में मनुष्य का आन्तरिक अद्वैत देख सके हैं। अंग्रेज़ों में भी ऐसे संन्यासी मैंने बहुत देखे हैं; उन्होंने राष्ट्रीय अहंकार से दुर्बलों को बचाने के लिए अपने देश-बांधवों के हाथ से आघात और अपमान निःसंकोच स्वीकार किया। फ्रांस में ऐसे संन्यासी देखे—इनमें रोमाँ रोला भी हैं—जिनका वहाँ के लोगों ने बहिष्कार किया है। योरोप के अख्यात प्रदेशों में भी मैंने ऐसे संन्यासी देखे हैं। योरोप के छात्रों में भी ऐसे लोग हैं; मानवता की ऐक्य-साधना से उनका मुखमण्डल दीप्तिमान है। वे भावी युग की महिमा के लिए वर्तमान युग के सारे आघात धैर्यपूर्वक वहन करना चाहते हैं, सारे अपमानों को वीरतापूर्वक क्षमा करना चाहते हैं। क्या केवल हम आज इस शुभ दिन की प्रभात वेला में दूसरों के अपराध ही स्मरण करेंगे? अपना राष्ट्रीय सृष्टिकार्य कलह के ऊपर प्रतिष्ठित करेंगे? क्या इस प्रभात में हम उस शुभबुद्धिदाता को स्मरण नहीं करेंगे 'य एकः'—जो एक है; 'अवर्णः'—जो वर्णहीन है, जिसमें स्याह-सफ़ेद का भेद नहीं, 'बहुधाशक्ति योगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति'—जो अपनी बहुशक्ति के योग से अनेक वर्णों के लोगों के लिए उनके अन्तर्निहित प्रयोजन का विधान करता है, क्या हम उसी से यह प्रार्थना नहीं करेंगे .—'न बुद्‌ध्या शुभया संयुनक्तु'—वह हम सबको शुभबुद्धि द्वारा संयुक्त करे?

[यूनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट हॉल में २९ अगस्त, १९२१ को पठित। १९२० में गाँधी जी द्वारा चलाए गये असहयोग आन्दोलन की समीक्षा।]

६

दुःख

संसार की व्यवस्था के विषय में जब भी हम सोचते हैं, एक प्रश्न हमें विचलित करता है और हमारे मन में सन्देह जागृत करता है : 'विश्व में दुःख क्यों है?' इस प्रश्न के कितने ही उत्तर दिये गये हैं। कोई कहता है कि दुःख हमारे जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का फल है। कोई इसे 'प्रथम मानव' के 'आदि पाप' का दण्ड बताता है। लेकिन हम कुछ भी कहें, दुःख अपनी जगह पर दुःख ही बना रहता है।

दुःख तो दुःख ही रहेगा। वह और कुछ हो भी नहीं सकता, क्योंकि उसका अस्तित्व सृष्टि-तत्त्व के साथ बँधा हुआ है। सृष्टि अपूर्ण है, और अपूर्णता ही दुःख है। पर यह अपूर्णता भी आखिर क्यों है? हम केवल यह कह सकते हैं कि अपूर्णता दुनिया के प्रारंभ से ही चली आ रही है। सृष्टि, अपूर्ण नहीं होगी, उसका देश-काल में विभाजन नहीं होगा, वह कार्य-कारण-शृंखला में आबद्ध नहीं होगा—इस तरह की विचित्र आशा के लिए मानव के मन मे जगह नहीं है।

यदि सृष्टि ऐसी न हो तो फिर 'पूर्ण' की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? उपनिषद् में कहा गया है कि जो कुछ प्रकाशित है वह ब्रह्म का अमृत-आनन्द रूप है। ब्रह्म की अनन्त इच्छा ही संसार के सभी तथ्यों में व्यक्त हो रही है। ब्रह्म के इस प्रकाश को उपनिषदों में तीन अलग-अलग दिशाओं से देखा गया है—जगत् में प्रकाश, मानव-समाज में प्रकाश और मानव-आत्मा में प्रकाश। ब्रह्म शान्त है, शिव है, अद्वैत है।

शान्त यदि अपने-आपमें ही निश्चल रहे, तो वह प्रकट कैसे हो? विश्व चंचल है, बराबर घूम रहा है। उसकी प्रचण्ड गति में ही ब्रह्म अपना शान्त रूप 'नियम' द्वारा व्यक्त करता है। जगत् के चांचल्य को 'शान्तं' धारण किये हुए है, इसीलिए वह 'शान्त' है। अन्यथा उसकी अभिव्यक्ति सम्भव न होती।

'अद्वैतम्' यदि पूर्णतया निश्चल रहे तो एकत्व का प्रकाश कैसे हो? संसार में अपने-पराये का भेद है। वैचित्र्य और भेद में ही, प्रेम के द्वारा, ब्रह्म अपना अद्वैत रूप प्रकट करता है। यदि प्रेम के माध्यम से समस्त भेदों में सम्बन्ध प्रतिस्थापित न होता तो 'अद्वैतम्' के प्रकाश का कोई आधार ही नहीं रह जाता।

जगत् अपूर्ण है, इसीलिए गतिशील है। मानव-समाज अपूर्ण है, तभी तो वह प्रयासोन्मुख है। और हमारा आत्म-ज्ञान भी अपूर्ण है, इसीलिए हम आत्मा को 'समस्त' से अलग जानते हैं।

वास्तव में दुनिया की गतिशीलता में ही शान्ति है। दुःख में, प्रयास में ही, सफलता है। भेद में ही प्रेम है।

इसीलिए हमें यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि अपूर्णता पूर्णता के विपरीत नहीं है, वरन् उसके विकास का एक रूप है। हाँ, शून्यता अवश्य पूर्णता के विपरीत है। गीत जब तक गाया जा रहा है, जब तक वह 'सम' पर आकर रुक नहीं गया, तब तक सम्पूर्ण न होते हुए भी पूर्णता का विरोधी नहीं है। उसके प्रत्येक टुकड़े में सारे गीत का आनन्द कल्लोलित है।

ऐसा न हो तो 'रस' कहाँ से हो? 'रसो वै सः'। ब्रह्म रस-स्वरूप है। अपूर्ण को वह बराबर परिपूर्ण किये रहता है, इसीलिए वह 'रस' है। सब-कुछ उसी से भरा-पूरा है। यही रस का रूप है, यही रस की प्रकृति है। इसीलिए जगत् की अभिव्यक्ति 'आनन्दरूपममृतम्' है, यही आनन्द का रूप है, यही आनन्द के अमरत्व का स्वभाव है। और इसीलिए यह अपूर्ण विश्व शून्य नहीं, मिथ्या नहीं। दुनिया की प्रत्येक शक्ति हमें अनिर्वचनीयता में डुबो रही है—यहाँ अतुलनीय रूप है, वेदना से ओत-प्रोत ध्वनि है, व्याकुल गन्ध है। आकाश से केवल हमारा शरीर ही घिरा हुआ नहीं है, हृदय भी विस्फारित है। सूर्य की किरणें दृष्टि को ही सार्थक नहीं करतीं, अन्तःकरण को भी उद्‌बोधित करती हैं। यहाँ किसी भी शक्ति या वस्तु का निरा अस्तित्व नहीं है। जो कुछ है मानव-मन को चैतन्य और मानव-आत्मा को सत्य प्रदान कर रहा है।

पद्‌मा नदी के नीरव, नील जल-स्रोत को हम जाड़े में देखते हैं। पीले, निर्जन तटों के बीच वह बहती चली जाती है—निःशब्द, निस्तरंग। यह क्या हो रहा है? यदि हम कहें 'नदी की धारा बह रही है' तो इससे कुछ भी व्यक्त नहीं होता। पद्‌मा की अद्‌भुत शक्ति, उसके विचित्र सौन्दर्य के विषय में हमने क्या कहा? कुछ भी नहीं। वचनातीत उस परम सत्ता को, उसके शब्दहीन संगीत और उसकी अपूर्व रूप-राशि को पद्‌मा की धारा किस गम्भीरता के साथ व्यक्त कर रही है! 'मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः'। यह है तो केवल पानी और मिट्टी। लेकिन जिस सत्ता का प्रकाशन हो रहा है, वह क्या है? वही आनन्दरूपममृतं, वही आनन्द का अमरत्व-रूप है।

उसी पद्‌मा नदी को हम वैशाख की आँधियों में ही देखते हैं। डूबते हुए सूरज की अरुणिमा बालू से धुँधली पड़ जाती है। आँधी नदी की धारा को बार-बार कँपाती है—काले घोड़े की मुलायम खाल-जैसी लगती है वह धारा। उस पार, वन-श्रेणी के ऊपर, क्षितिज को विदीर्ण करती हुई आँधी स्वयं ही जल-स्थल-आकाश के जाल में जकड़ जाती है। जिन बादलों को उसने विच्छिन्न किया था उनमें आप ही आवर्तित हो जाती है। यह उन्मत्त, दिशाहीन आँधी आखिर क्या चीज़ है? केवल हवा और बादल? बालू और धूल? जल और स्थल? नहीं। इन सब नगण्य पदार्थों में यह आँधी ब्रह्म के अपूर्ण रूप का दर्शन है। यही 'रस' है। वीणा की लकड़ी और तार नहीं, वीणा का संगीत है। इस आनन्द का परिचय है वही आनन्दरूपममृतम्।

मानव-जीवन में हम जो देखते हैं वह भी मनुष्य को कितना पीछे छोड़ गया है! रहस्य का कोई अन्त ही नहीं है। कैसे अनोखे रूप धारण करके, कितनी जातियों और राष्ट्रों के इतिहास में, कैसी अचिंत्य घटनाओं और असाध्य साधनों के बीच, मानव-शक्ति और प्रेम ने सीमा-बन्धनों को तोड़कर 'भूमा' को प्रत्यक्ष किया है! मानव में यही है आनन्दरूपममृतम्। ऐसा लगता है कि आकाश के आँगन में अनंत विश्व-महोत्सव का आयोजन है। कोई अपूर्णता के थाल सजा गया

है और हम सब पूर्णता के प्रीतिभोज में बैठे हैं। उस पूर्णता के कितने विचित्र रूप और कैसे विविध स्वाद हैं जिनसे प्रतिक्षण हमारे हृदय में एक अजीब चेतना जागृत हो रही है। ऐसा न हो तो रस-स्वरूप रसदान कैसे कर सकता? अपूर्णता के कठिन दर्द को लबालब भरते हुए यह रस उछला पड़ रहा है। दुःख का यह स्वर्ण-पात्र कठोर लगता है, पर क्या इसीलिए हम इसे तोड़ डालें और इतने बड़े रसभोज को व्यर्थ होने दें? नहीं, हम ऐसा नहीं करेंगे। परोसने वाली लक्ष्मी को पुकारकर हम यही कहेंगे : 'पात्र कठिन ही सही, तुम इसे भर दो। दुःख की कठोरता को पार करके आनन्द गले तक भरकर छलकता रहे।'

जिस तरह जगत् की अपूर्णता पूर्णता-विरोधी नहीं, बल्कि पूर्णता की ही अभिव्यक्ति है; उसी तरह अपूर्णता का साथी दुःख भी केवल दुःख नहीं, आनन्द भी है। दुःख भी आनन्दममृतं है, हालाँकि यह एक ऐसी बात है जिसे हम आसानी से कह नहीं पाते और जिसे प्रमाणित करना तो बहुत ही कठिन है।

अनन्त ग्रह-नक्षत्र-मंडल को अमावस्या का अंधकार प्रकट करता है। उसी तरह दुःख के घने अँधेरे में प्रवेश करके क्या आत्मा ने कभीआनन्द-जगत् का प्रकाश नहीं देखा? क्या मानव अकस्मात् कभी नहीं बोल उठा : 'मैं जान गया। दुःख का रहस्य समझ गया, अब कभी सन्देह न करूँगा !' परम दुःख की सीमा-रेखा पर क्या हमारे हृदय ने किसी शुभ घड़ी में अपनी आँखें नहीं खोलीं? क्या वहाँ मृत्यु और अमरत्व, दुःख और सुख एक नहीं हो जाते? उसी की ओर देखकर क्या ऋषियों ने नहीं कहा :

'यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।'

जिसकी छाया अमृत है उसी की छाया मृत्यु है, अन्य किस देवता की हम अर्चना करें?

वास्तव मे यह विषय उपलब्धि का है, तर्क का नहीं। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह अनुभूति विद्यमान है, तभी मानव दुःख की पूजा करता आया है—निरे संतोष की पूजा मानव ने कभी नहीं की। संसार में जिन लोगों को अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है वे दुःख के अवतार रहे हैं—सुख-चैन में जीवन बितानेवाले लक्ष्मी के दास कभी पूजनीय नहीं हुए, और न भविष्य में होंगे। यदि हम दुःख को हीन समझें, उसे अस्वीकार करें, तो यह हमारी दुर्बलता होतगी। दुःख के माध्यम से ही आनन्द की महत्ता को समझना चाहिए और मंगल को भी दुःख द्वारा ही सत्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

ध्यान रहे, अपूर्णता का गौरव ही दुःख है। दुःख ही मूलधन है, अपूर्णता की एकमेव सम्पदा है। दुःख के बीच हम सत्य की उपलब्धि करते हैं, और इसी में हमारा मनुष्यत्व है। मानव की क्षमता बहुत स्वल्प है, फिर भी ईश्वर ने उसे भिखारी नहीं बनाया। दुःख का भार वहन करके हम कुछ पाते हैं, हाथ पसारकर नहीं। सम्पत्ति तो जो कुछ है परमेश्वर की है, मानव की नहीं। लेकिन दुःख मानव का अपना है, बिल्कुल अपना। दुःख की दौलत ही ऐसी दौलत है जिसके आधार पर अपूर्ण मानव अपनी प्रतिष्ठा की सुरक्षा कर सकता है और पूर्ण ब्रह्म के साथ अपने सम्बन्ध पर गर्व कर सकता है। उसे कभी लज्जित नहीं होना पड़ता, जब तक दुःखनिधि उसके हाथ है। साधना हमें ईश्वर तक पहुँचाती है, तपस्या ब्रह्म तक। ईश्वर में पूर्णता है, पर हमारे पास भी कुछ है जिसका पूर्णता की ओर संकेत है—वही दुःख है। दुःख ही साधना है, तपस्या

है। उसी की निष्पत्ति है आनन्द, मुक्ति-लाभ, ईश्वर-ज्ञान।

यदि मानव ईश्वर को कुछ भेंट देना चाहे तो वह क्या देगा, क्या दे सकता है? ईश्वर का धन उसी को समर्पित करने में हमें तृप्ति नहीं मिल सकती। हम केवल दुःख-धन ही दे सकते हैं, जो कि हमारी निजी सम्पत्ति है। इस दुःख को ईश्वर पूर्ण करता है—आनन्द देकर, अपने-आपको देकर। मानव के घर का यह पात्र न होता तो ईश्वर अपनी सुधा का दान कैसे करता, अपना आनन्द उँडेलता कैसे?

हम यदि गर्व के साथ कुछ कह सकते हैं तो यही—दान में ही ऐश्वर्य सार्थक होता है। हे ईश्वर, आनन्द को दान करने की—हर्ष बरसाने की—तुम्हारी शक्ति ही तुम्हारी पूर्णता है। आनन्द अपने-आपमें बन्दी होकर सम्पूर्ण नहीं होता, अपने त्याग से ही सम्पूर्ण होता है। तुम्हारे इस स्वतःदान की परिपूर्णता को हम दुःख के द्वारा वहन कर रहे हैं, इसी पर हमें अभिमान है। यहीं तुम्हारा-हमारा मिलन है, तुम्हारे और हमारे ऐश्वर्य का संगम है। यहीं तुम अतीत न रहकर हमारे समीप आ जाते हो, अपने सूर्य-चंद्र-नक्षत्र-विजड़ित राज-सिंहासन से उतरकर हमारे दुःख के जीवन में आते हो—अपनी लीला सम्पूर्ण करने। हे सम्राट्, तुम हमारे दुःख के सम्राट् हो। हे दुःख के धनी, ऐसा उपाय करो कि जब अचानक आधी रात को तुम्हारे रथचक्र के निदान से समस्त पृथ्वी बलिपशु के हृदय की तरह काँप उठे, तो हम अपने जीवन में तुम्हारा जयजयकार कर सकें, तुम्हारे प्रचण्ड आविर्भाव का स्वागत कर सकें। उस महान् क्षण में भयभीत होकर यह न कहें 'नहीं, हम तुम्हें नहीं चाहते।' तुम्हें दरवाज़ा तोड़कर अन्दर न घुसना पड़े, बल्कि हम ही पूरी तरह सचेत होकर सिंह-द्वार खोल दें, तुम्हारे तेजोमय ललाट की ओर आँखें उठाकर देख सकें, और कह सकें, 'हे दारुण तुम हमारे प्रिय हो।'

कभी-कभी दुःख के विरुद्ध विद्रोह करते हुए हम कहते हैं, 'दुःख-सुख को हम समान समझेंगे।' सम्भव है कोई विशेष व्यक्ति इस हद तक उदासीन हो सके। अपने चित्त को इस तरह निष्प्राण बना सके। लेकिन दुःख-सुख तो किसी व्यक्ति के नहीं, पृथ्वी के सभी जीवों के लिए हैं। मेरे दुःख के लोप से जगत् का दुःख चला नहीं जाता। इसलिए दुःख को अपने में ही नहीं, उस विराट् रंगभूमि में देखना होगा जहाँ वह अपने वज्राघात से—अपने ताप से राष्ट्रों और राज्यों को गढ़ता रहा है; जहाँ उसने मानव-जिज्ञासा को कठिन मार्गों पर अग्रसर कराया है। इच्छाओं को दुर्जेय बाधा-विपत्तियों के बीच जीवित रखा है; जहाँ उसने मानवीय प्रयास को क्षुद्र सफलता से सन्तुष्ट नहीं होने दिया; जहाँ युद्ध-संघर्ष-दुर्भिक्ष उसके सहचर रहे हैं; जहाँ वह रुधिर-सरोवर में शान्ति के श्वेत कमल विकसित कराता आया है; जहाँ वह दैन्य के निर्दय ताप से पानी को सुखाकर बरसात के बादलों का निर्माण करता है, हलधर का रूप धारण करके अपने तीक्ष्ण हल से मानव-हृदय को जोतता है, उसी शत-शत रेखाओं में विदीर्ण करता है और अन्त में फल-फूल से परिपूर्ण करता है। उस रंगमंच पर दुःख के अन्त को परित्राण नहीं कहा जाता, बल्कि मृत्यु कहा जाता है। वहाँ जो अपनी इच्छा से दुःखाञ्जलि का अर्घ्य नहीं देता वह विडम्बित होता है।

मानव के इस दुःख में केवल आँसुओं का मृदुल वाष्प ही नहीं, हृद् का प्रखर तेज भी है। विश्व में तेजः पदार्थ है। मानव-चित्त में दुःख है। वही प्रकाश है, गति है, ताप है। वही टेढ़े-मेढ़े रास्तों से घूम-फिरकर समाज में नित्य नूतन कर्मलोक और सौन्दर्य-लोक का निर्माण करता है।

कहीं खुलकर तो कहीं छिपकर, दुःख के ताप ने ही मानव-संसार की वायु को धावमान रखा है।

इस दुःख को हम क्षुद्र नहीं समझेंगे। 'मस्तक उठाकर, सीना तानकर इसे स्वीकार करेंगे। इसकी शक्ति से हम भस्म नहीं होंगे, बल्कि अपने-आपको और कठिन रूप में गढ़ेंगे। दुःख की सहायता से अपने-आपको ऊपर उठाने के बदले यदि हम उसमें डूब जाएँ तो यह दुःख का अपमान होगा। जिसका भार सहने से जीवन सार्थक होता है उसी को आत्म-हत्या का साधन समझना दुःख-देवता के सामने अपराधी होना है। अस्तित्व की प्रतिष्ठा को समझने का दुःख के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। दुःख ही जगत् के पदार्थों का मूल्य है, जो कुछ आदमी ने रचा है दुख की सहायता से रचा है। जिसे हमने दुःख से नहीं पाया है वह हमारा अपना नहीं है। त्याग के द्वारा, दान, तपस्या दुःख के द्वारा ही गम्भीर आत्मबोध सम्भव है—सुख या आराम के द्वारा नहीं। दुःख का अतिरिक्त किसी उपाय से हम अपना आन्तरिक सामर्थ्य नहीं जान सकते। हम अपनी शक्ति को जितना ही कम लेखेंगे हमारी दृष्टि में आत्म को गौरव भी उतना ही कम होगा और उसी मात्रा में हमारा आनन्द भी उथला रह जायगा।

'रामायण' में कवि ने दुःख से ही राम, सीता, लक्ष्मण और भरत को गौरवान्वित किया है। 'रामायण' के काव्य-रस में मनुष्य ने आनन्द के मंगल-स्वरूप देखे हैं—ये स्वरूप दुःख ने ही धारण किये हैं। 'महाभारत' के सम्बन्ध में भी हम यही कह सकते हैं। इतिहास में जो कुछ भी महान् है, वीर्यशाली है, दुःखासन पर प्रतिष्ठित है। मातृ-स्नेह का मूल्य दुःख में है: पातिव्रत्य, शौर्य, पुण्य—सभी की गरिमा दुःख में है।

इस गरिमा को ईश्वर यदि हमसे छीन ले, यदि हमको वह सर्वदा आराम में ही निमग्न रखे तो सचमुच हमारी अपूर्णता लज्जास्पद हो जाय और उसकी मर्यादा जाती रहे। ऐसी दशा में किसी भी वस्तु को हम स्वार्जित न कह सकेंगे—जो कुछ है वह दान दी हुई भिक्षा-मात्र रह जायगी। आज ईश्वर के धान को हम खेती के परिश्रम से अपना बनाते हैं, ईश्वर के जल को ढोने के कष्ट से, ईश्वर की अग्नि को घर्षण के प्रयास से कमाते हैं। हमारी दैनंदिन आवश्यकताओं को सहज ही पूरा करके ईश्वर ने हमें अपमानित नहीं किया। उसकी दी हुई चीज़ों का जब हम एक विशेष ढंग से अर्जन करते हैं, तभी हम सही अर्थ में उन्हें 'पाते' हैं। यदि दुःख को ईश्वर वापस ले ले तो संसार में हमारा सारा स्वत्व निर्मूल हो जाय और हमारे हाथ में कोई अधिकार-पत्र न रहे। तब हमारी भावना यही होगी कि हम दाता के घर में हैं, न कि अपने घर में। यह हमारा चरम अभाव होगा—मानव के लिए दुःखाभाव से बड़ी क्षति कोई नहीं हो सकती।

उपनिषद् में कहा है:

'स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा सर्वम्सृजत यदिदं किञ्च।' उसने तप किया और जो कुछ भी है उसकी सृष्टि तप से की। ईश्वर का तप ही दुःख-रूप से पृथ्वी पर विराजता है। चाहे आन्तरिक जगत् में हो या बाह्य जगत् में, किसी भी चीज़ का सृजन हम तप से ही कर सकते हैं। जन्म का आधार वेदना है, त्याग के मार्ग से ही लाभ तक पहुँचा जा सकता है। जो कुछ अमर है, प्रयत्न की सीढ़ी पर चढ़कर आया है। इस तरह हम ईश्वर की तपस्या को वहन करते हैं। उसी तप का दाह नित नये रूप लेकर मानवीय अन्तःकरण में प्रकाशित होता है। यह तपस्या आनन्द का ही अंग है। इसीलिए एक अन्य पक्ष से उपनिषद् में कहा है:

'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।' आनन्द से ही प्राणी-मात्र की उत्पत्ति हुई है। आनन्द न हो तो पृथ्वी के इतने भारी दुःख का बोझ कोई सहता कैसे?

'कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।' किसान खेती करके फसल उगाता है—जितनी बड़ी उसकी तपस्या, उतना ही गंभीर उसका आनन्द होता है। चक्रवर्ती राजा का साम्राज्य-निर्माण महान् दुःख भी है, महान् आनन्द भी। देशभक्त अपनी प्राणाहुति से राष्ट्र को गढ़ता है—इसी में उसका चरम आनन्द है। ऐसी ही है प्रेमी की प्रियतम-साधना, ऐसा ही है ज्ञानी का ज्ञानार्जन।

ईसाई धर्मशास्त्र के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य के घर जन्म लिया, दुःख का भार वहन किया और पीड़ा का काँटों-भरा मुकुट अपने मस्तक पर रखा। मानव की एक-मात्र निजी सम्पत्ति जो दुःख है उसे प्रेम के साथ अपनाकर ईश्वर वेदना के संगम-तीर्थ पर मनुष्य से आ मिला है। दुःख को ईश्वर ने अपार आनन्द और मुक्ति के स्तर तक ऊँचा उठाया है। यही ईसाई धर्म का मूल-मंत्र है।

हमारे देश में भी एक ऐसा संप्रदाय है जिसके साधकों ने ईश्वर के दारुण, दुःखान्वित रूप को 'माँ' कहकर सम्बोधित किया है। इस रूप को सुखप्रद या कोमल बनाने की उन्होंने ज़रा भी कोशिश नहीं की। संहार-रूप में ही वे जननी-रूप देखते रहे हैं। क्लेश की विभीषिका में ही उन्होंने शिव-शक्ति मिलन को प्रत्यक्ष किया है।

केवल सुख-स्वातंत्र्य, शोभा-संपद् में ही ईश्वर का सत्य रूप देखना शक्ति के अभाव का भी द्योतक है और भक्ति की कमज़ोरी का भी। कुछ लोग धन को ही ईश्वर का प्रसाद मानते हैं। उनके लिए सौन्दर्य ही ईश्वर की मूर्ति है, सांसारिक सुख-साफल्य ही पुण्य का पुरस्कार है, दैवी आशीर्वाद है। ईश्वर की दया का वे एक ही पक्ष देखते हैं—नितान्त कोमल पक्ष। ऐसे लोग—जिनके लिए सुख एकमेव पूज्य वस्तु है—वास्तव में ईश्वरीय दया को अत्यन्त क्षुद्र और खण्डित रूप में ग्रहण करते हैं; क्योंकि वह दया उनके अपने लोभ, मोह और भीरुता का आधार बन जाती है।

किन्तु हे भीषण ! तुम्हारी दया और आनन्द की क्या कोई सीमा है? क्या वह इतनी संकुचित है कि हम उसे सुख-सम्पदा में, जीवन में, निरापद अस्तिव में ही देखें ? क्या हम दुःख, मृत्यु और आशंका को तुमसे अलग करके, तुम्हारे विरुद्ध खड़ा करके देखेंगे ? कभी नहीं ! हे पिता, तुम्हीं तो दुःख हो, संकट हो। हे माता, तुम्हीं मृत्यु हो, आशंका हो। तुम्हीं 'भयानां भयं भीषणं भीषणानां' हो।

'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णोः।'

सारे संसार को अपने ज्वलन्त मुख का ग्रास बना रहे हो। हे विष्णु, समस्त जगत् को तेज से ओत-प्रोत करती हुई तुम्हारी उग्र ज्योति प्रतप्त है। हे रुद्र,तुम्हारा दुःख-रूप और मृत्यु-रूप हम देखते हैं तभी तो दुःख और मृत्यु से मुक्त होकर तुम्हें प्राप्त करते हैं —वरना भयभीत होकर हम सब विश्व में ठोकरें खाते; विश्वास के साथ कोई भी अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से समर्पित न कर सका। जब हमारी ऐसी दशा होती है तब हम क्या करते हैं? तुम्हें 'दयामय' कहते हैं, तुमसे

करुणा की भीख माँगते हैं, तुम्हारे ही सामने तुम्हारे विरुद्ध अभियोग लगाते हैं, और तुम्हारे हाथ से रक्षा पाने के लिए रोते हैं, सो भी तुम्हारे ही आगे !

हे प्रचण्ड! हमारी प्रार्थना है, हमें वह शक्ति दो जिससे तुम्हारी दया को हम दुर्बलतावश एक ऐसी वस्तु न बना दें जो केवल आराम या क्षुद्र सुविधा का साधन हो। तुम्हें आंशिक रूप से स्वीकार करके हम अपनी ही प्रवंचना न करें।

नहीं, काँपते हृदय से, आँसूभरी आँखों से तुम्हें 'दयामय' नहीं कहेंगे। युग-युग में तुम मानव का उद्धार करते रहे हो। इस उद्धार का पथ दुःख का पथ है, आराम का नहीं। मानव-आत्मा पुकार रही है: 'अविरावीर्म एधि। ' हे आविः, मेरे सम्मुख तुम्हारा आविर्भाव हो। यह प्रकाश आसान नहीं है, यह प्राणान्तिक प्रकाश है। असत्य अपने को जलाकर खाक करता है तब कहीं सत्य में उज्ज्वल हो पाता है। मृत्यु अपने को विदीर्ण करके अमरत्व में खिल उठती है। हे आविः, ऐसा ही है तुम्हारा आविर्भाव—मानव के कर्म में, ज्ञान में, सामाजिक जीवन में। इसीलिए ऋषियों ने तुम्हें 'करुणामय' कहकर सम्बोधित नहीं किया, इसीलिए ऋषियों ने कहा 'रुद्र यत्ते दक्षिणमुखं तेन मां पाहि नित्यम्।' हे रुद्र, तुम्हारा जो प्रसन्न मुख है, उसके द्वारा हमारी रक्षा करो।

हे रुद्र, तुम हमारी रक्षा भय से, विपद् से, या मृत्यु से नही करते। तुम रक्षा करते हो जड़ता से, अन्धकार से। हे रुद्र, तुम्हारा प्रसन्न मुख हम उस समय नहीं देखते जब हम विलास में डूबे हुए, गर्व से मत्त, यश के मद में चूर या अकर्मण्यता की नींद से अलसाये होते हैं। लेकिन जब हम अज्ञान और अन्याय से संघर्ष करते हैं, जब हम सचाई को स्वीकार करने के लिए भय पर विजय पाते हैं, दुस्तर और कटु कार्य को अपने ऊपर लेने में हिचकते नहीं, जब किसी भी सुविधा या शक्ति को तुमसे बड़ा नहीं मानते—उसी समय, हे रुद्र, तुम्हारे प्रमुदित मुख-मंडल का तेज—आघात—अपमान-दरिद्रता-हिंसा के बीच—हमारे जीवन को गौरवान्वित करता है। उसी क्षण तुम्हारी प्रचण्ड भेरी मृत्यु-विपत्ति-संघर्ष से निनादित होती है और हमारे चित्त को जागरित करती है। ऐसा न हो तो सुख में हमे आनन्द न मिले, न धन में मंगल, न शान्ति में विश्राम।

हे भयंकर, हे प्रलयंकर, शंकर ! हे मयस्कर, हे पिता, हे बन्धु, हमें आशीर्वाद दो। हममें ऐसी शक्ति उत्तरोत्तर विकसित होती रहे जिससे हम तुम्हें ग्रहण कर सकें—जागृत मन से, उद्यत प्रयास से, अपराजित चित्त से। भय-दुःख-मृत्यु में भी तुम्हें पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकें—कभी कुंठित न हों, पराभूत न हों। जगाओ, हमें जगाओ। जो लोग और देश अपनी शक्ति-सम्पदा को सब-कुछ मानकर अन्धे हो उठे हैं, उन्हें भी तुम प्रलय के बीच क्षण-भर के लिए जागरित कर दोगे, और उस समय उद्धत ऐश्वर्य की दीवार तोड़कर तुम्हारी ज्योति प्रकाशित होगी। हे रुद्र, ऐसा करो कि उस ज्योति को हम अपना सौभाग्य समझ सकें ! जो अन्य लोग और देश अपनी शक्ति-सम्पदा को भूल गये हैं, अविश्वास, दीनता, जड़त्व में बेजान होकर पड़े हैं, उन्हें विपत्तियाँ विह्वल करेंगी, अन्याय, अत्याचार, आघात से उनकी नसें थरथरा उठेंगी। उस दुःसह दुःख के आगे भी हम अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर सकें, उसका स्वागत कर सकें। तुम्हारे उस भीषण आविर्भाव को देखकर कह सकें :

'अविरावीर्म एधि। रुद्र यत्ते दक्षिणभुखं तेम मां पाहि नित्यं'। दैन्य हमें भिखारी न बनाये,

बल्कि दुस्तर मार्गों का बटोही बनाये । अकाल और महामारी में मृत्यु की ओर न घसीटे, बल्कि अधिक प्रयत्नशील जीवन की ओर आकृष्ट करे। दुःख से शक्ति मिले, शोक से मुक्ति-लाभ हो। लोक-भय, राज-भय, मृत्यु-भय हमारी विजय के कारण हों। हे रुद्र, तुम्हारा प्रसन्न मुख हमारी रक्षा तभी करेगा जब संकट की कठोर परीषा में हमारा मनुष्यत्व उत्तीर्ण होगा। अशक्ति के प्रति अनुग्रह, आलस्य के प्रति प्रश्रय, कायरता के प्रति दया—इनसे परित्राण नहीं मिल सकता। ऐसी दया तो दुर्गति है, अपमान है, और—हे महाराज!—ऐसी दया तुम्हारी दया तो नहीं है!

[माघोत्सव (१३१४ बाङ्ला संवत्) जनवरी, १९०८ में दिया गया व्याख्यान इसकी रचना सिलाइदह मे हुई थी, जहाँ वे अपने सबसे छोटे बेटे शमीन्द्र की मृत्यु (नवम्बर, १९०७) की बाद रह रहे थे। 'बंग दर्शन' (फाल्गुन, १३१४) मार्च, १९०७ में प्रकाशित। १९०९ मे 'धर्म' पुस्तक में समाविष्ट।]

७

साहित्य का तात्पर्य

बाहर का जगत् हमारे मन के भीतर प्रवेश करके एक और ही जगत् बन जाता है। ऐसा नहीं है कि उसमें केवल बाहर के जगत् का रंग, आकृति, ध्वनि हो, उसके साथ-साथ हमारी पसंद-नापसंद, हमारा भय-विस्मय, हमारा सुख-दुःख जुड़ा रहता है—वह हमारी हृदय-वृत्ति के विविध रसों में अनेक प्रकार से आभासित हो उठता है।

इस हृदय-वृत्ति के रस में गलाकर हम बाहर के जगत् को विशेष रूप से अपना बना लेते हैं।

जिस प्रकार अनेक व्यक्तियों के उदर में पाचक रस पर्याप्त मात्रा में न रहने से वे बाहर के खाद्य को अच्छी तरह अपने शरीर की चीज़ नहीं बना पाते उसी तरह से जो लोग हृदय-वृत्ति के पाचक रस को पर्याप्त रूप में जगत् में प्रयुक्त नहीं कर पाते। वे बाहर के जगत् को भीतर का जगत्, अपना जगत्, मनुष्य का जगत् बनाकर नहीं ग्रहण कर पाते।

ऐसे-ऐसे जड़ प्रकृति के लोग हैं, जिनके हृदय में संसार के बहुत थोड़े विषयों के प्रति ही उत्सुकता रहती है, वे संसार में जन्म लेकर भी अधिकांश संसार से वंचित रहते हैं। उनके हृदय के झरोखे संख्या में कम और विस्तार में संकीर्ण होते हैं। इसीलिए वे विश्व में प्रवासी बनकर रहते हैं।

ऐसे भाग्यशाली लोग भी हैं जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र जागृत रहती है, प्रकृति के कक्ष-कक्ष में उनके लिए निमंत्रण होता है, लोकालय के भाँति-भाँति के आन्दोलन उनकी चित्त-वीणा को विभिन्न रागनियों से स्पंदित करते रहते हैं।

बाहर का विश्व इन लोगों के मन में हृदय-वृत्ति के विविध रसों में, रंगों में, साँचों में, नाना प्रकार से तैयार होता रहता है।

भावुक के मन का यह संसार बाहर के संसार की अपेक्षा मनुष्य का अधिक अपना होता है। वह हृदय की सहायता के मनुष्य के हृदय के लिए अधिक सुगम हो उठता है। वह हमारे चित्त के प्रभाव से जो विशेषता प्राप्त करता है वही मनुष्य के लिए सबसे अधिक उपादेय है।

इसलिए देखा जाता है कि बाहर के संसार और मानव के संसार में अंतर है। कौन सफ़ेद है, कौन काला; कौन बड़ा, कौन छोटा; मानव का संसार इसकी रत्ती-भर सूचना नहीं देता। कौन प्रिय है, कौन अप्रिय; कौन सुन्दर कौन असुन्दर; कौन अच्छा, कौन बुरा; मनुष्य का संसार यही बात अलग-अलग स्वरों में कहता है।

यह जो मनुष्य का संसार है यही हम सबके हृदय-हृदय में बहता आ रहा है, यह प्रवाह पुरातन है और नित्य नूतन। नयी-नयी इंद्रियों, नये-नये हृदयों के बीच होकर यह सनातन स्रोत हमेशा नया होता चलता है।

लेकिन इसको पाया जाय कैसे? इसको पकड़कर रखा जाय किस उपाय से? इस अनूठे मानस-जगत् को रूप देकर यदि बार-बार बाहर व्यक्त न किया जा सके तो यह सदा बनता और बिगड़ता रहता है।

लेकिन यह चीज नष्ट नहीं होना चाहती। हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए व्याकुल रहता है। इसी से चिरकाल से मनुष्य में साहित्य का आवेग मिलता है।

साहित्य का विचार करते समय दो चीज़ें देखनी होती हैं। पहली, विश्व पर साहित्यकार के हृदय का अधिकार कितना है; दूसरी, उसका कितना अंश स्थायी आकार में व्यक्त हुआ है।

इन दोनों में सब समय सामंजस्य नहीं रहता। जहाँ रहता है वहीं सोने में सुहागा है।

कवि की कल्पना-सचेतन हृदय जितना ही विश्व-व्यापी होता है, उतनी ही उनकी रचना की गहराई से हमारी परितृप्ति बढ़ती है। मानव-विश्व की सीमा फैलकर हमारा चिरंतन विहार-क्षेत्र उतनी ही विपुलता प्राप्त करता है।

लेकिन रचना-शक्ति की निपुणता भी साहित्य में अत्यन्त मूल्यवान है। क्योंकि जिसका सहारा लेकर वह शक्ति प्रकाशित होती है वह अपेक्षाकृत तुच्छ होते हुए भी बिलकुल नष्ट नहीं होती। यह शक्ति भाषा में, साहित्य में संचित होती रहती है। यह मानव की अभिव्यक्ति की क्षमता को बढ़ा देती है। इस क्षमता को पाने के लिए मनुष्य हमेशा से व्याकुल है। जिन कृतीजनों की सहायता से मनुष्य की यह क्षमता परिपुष्ट होती रहती है मनुष्य उन्हें यश देकर अपना ऋण चुकाने की चेष्टा करता है।

जो मानस-जगत् हृदय के भावों के उपकरण के भीतर बनता रहता है उसको बाहर व्यक्त करने का उपाय क्या है।

इसको इस तरह व्यक्त करना होगा जिससे हृदय के भावों का उद्रेक हो।

हृदय के भावों के उद्रेक के लिए बहुत-से साज-सरंजाम लगते हैं।

पुरुष का ऑफिस का कपड़ा सीधा-सादा होता है, वह जितना ही कम हो उतना ही काम के लिए उपयोगी होता है। स्त्रियों की वेश-भूषा, लाज-शरम, भाव-भंगिमा समस्त सभ्य समाजों में प्रचलित है।

स्त्रियों का काम हृदय का काम है। उन्हें हृदय देना होता है और हृदय अपनी ओर खींचना होता है; इसलिए उनका काम बिलकुल सीधा-सपाट, कटा-छँटा होने से नहीं चलता। पुरुष के लिए जैसे-का-तैसा होना आवश्यक है लेकिन स्त्री को सुन्दर होना चाहिए। पुरुष का व्यवहार मोटे रूप में सुस्पष्ट हो यही अच्छा है, लेकिन स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण-आभास-इंगित रहने चाहिए।

साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिए अलंकार, रूपक, छंद, आभास, इंगित का सहारा लेता है। दर्शन विज्ञान के समान निरलंकार होने से उसका काम नहीं चलता।

अपरूप को रूप के द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा करते समय वचन में अनिर्वचनीयता की

रक्षा करनी होती है। नारी में जैसे श्री और लज्जा होती है, साहित्य की अनिर्वचनीयता भी वही चीज़ है। उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता। वह अलंकार का अतिक्रमण करती है, वह अलंकार से आच्छन्न नहीं होती।

भाषा में इस भाषातीत को प्रतिष्ठित करने के लिए साहित्य भाषा में प्रधानतः दो चीज़ें मिलाता है, चित्र और संगीत।

जिसे बात से नहीं कहा जा सकता उसे चित्र से कहना पड़ता है। साहित्य में यह चित्र खींचने की सीमा नहीं है। उपमा, तुलना, रूपक द्वारा भाव प्रत्यक्ष हो उठना चाहते हैं। 'देखिवारे आँखि पाखि धाय' इस एक बात में बलरामदास ने क्या नहीं कह दिया? व्याकुल दृष्टि की व्याकुलता केवल वर्णन से कैसे व्यक्त होती? दृष्टि पंछी की तरह उड़ चली है, इस चित्र से अभिव्यक्ति की दारुण आकुलता एक क्षण में शांति पा लेती है।

इसके अलावा छंद में, शब्द में, वाक्य-विन्यास में साहित्य को संगीत का सहारा तो लेना ही पड़ता है। जिसे किसी तरह नहीं कहा जा सकता उसे इस संगीत के माध्यम से कहा जा सकता है। अर्थ-विश्लेषण करके देखने पर जो बात बहुत सामान्य जान पड़ती है वही संगीत के द्वारा व्यक्त होने पर असामान्य हो उठती है। बात में वेदना का संचार यह संगीत ही करता है।

अतः चित्र और संगीत ही साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देता है और संगीत भाव को गति देता है। चित्र देह है और संगीत प्राण।

लेकिन ऐसी बात नहीं है कि केवल मनुष्य का हृदय ही साहित्य में पकड़कर रखने की चीज़ है। मनुष्य का चरित्र भी ऐसी सृष्टि है जो जड़ सृष्टि के समान हमारी इंद्रियों की पकड़ में नहीं आती। 'रुके रहो' कहने से ही वह रुक नहीं जाता। मनुष्य के लिए वह परम कौतूहलजनक है लेकिन उसे पशुशाला के पशु के समान बाँधकर, कठघरे मे ठूँसकर ठहराकर देखने का सहज उपाय नहीं है।

यह जो पकड़ने-बाँधने से परे विचित्र है, इसको भी साहित्य अंतर्लोक से बाहर ले आकर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह बड़ा कठिन काम है, क्योंकि मानव-चरित्र स्थिर नहीं होता, सुसंगत नहीं होता, उसके अनेक अंश अनेक स्तर होते हैं, उसके भीतर-बाहर उन्मुक्त गतिविधि सहज नहीं होती। इसके अलावा उसकी लीला इतनी सूक्ष्म, इतनी अकल्पनीय, इतनी आकस्मिक होती है कि उसको पूरी तरह हमारे हृदय में बैठा सकना असाधारण क्षमता का काम है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि यही काम करते आये हैं।

अब अपने समस्त आलोच्य विषय को अगर एक बात में कहना हो तो कहना होगा कि साहित्य का विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र होता है।

लेकिन मानव-चरित्र कहना भी बात को जैसे बढ़ाकर कहना होगा। वस्तुतः बाह्य प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के हृदय में अनुक्षण जो आकार धारण करते हैं, जो संगीत ध्वनित करते रहते हैं, भाषा-रचित वही चित्र और वही गान साहित्य है।

भगवान् का आनंद प्रकृति में है, मानव-चरित्र में है, वह स्वयं अपनी सृष्टि कर रहा है। मनुष्य का हृदय भी साहित्य में अपनी सृष्टि करने की, अपने को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा का अंत नहीं है, यह विचित्र है। कविगण मानव-हृदय की इस चिरंतन चेष्टा के निमित्त मात्र हैं।

भगवान् की आनंद-सृष्टि अपने भीतर से निकलकर ही फैलती है, मानव-हृदय की आनंद-सृष्टि उसी की प्रतिध्वनि है। इसी जगत्-सृष्टि के आनंद गीत की झंकार हमारी हृदय-वीणा के तारों को दिन-रात स्पंदित करती रहती है, वही जो मानस-संगीत भगवान् की सृष्टि के प्रतिघात से हमारे हृदय में गूँजता रहता है वह सृष्टि का आवेग है, साहित्य उसी का विकास है। विश्व का निःश्वास हमारी चित्तवंशी में कौन-सी रागिनी बजा रहा है, साहित्य उसीको स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की चेष्टा करता है। साहित्य व्यक्ति-विशेष का नहीं होता, वह रचयिता का नहीं होता, वह दैव-वाणी है। जिस प्रकार बाह्य सृष्टि अपना भला-बुरा और अपूर्णता लिये हुए निरंतर व्यक्त होने की चेष्टा करती रहती है उसी प्रकार यह वाणी भी देश-देश में, भाषा-भाषा में हमारे भीतर से बाहर निकलने के लिए निरंतर चेष्टा करती रहती है।

[रवीन्द्रनाथ की गद्य-रचनाओं के चतुर्थ खण्ड के रूप में १९०७ में प्रकाशित। 'साहित्येर तात्पर्य' मासिक 'बंग दर्शन' में नवम्बर-दिसम्बर १९०३ (अग्रहायण १२१० बंगाब्द)में प्रकाशित हुआ था।]

८

विश्व-साहित्य

मेर ऊपर जिस विवेचना का भार रखा गया है उसको अंग्रेजी में आपने कम्पेरेटिव लिटरेचर नाम दिया है। बाङ्ला में मैं उसे विश्व-साहित्य कहूँगा ।

काम के बीच आदमी क्या बात कहता है, उसका क्या लक्ष्य है, उसकी क्या चेष्टा है, यह अगर समझना हो तो सारे इतिहास में मनुष्य के अभिप्राय का अनुसरण करना होगा। अकबर का राजस्व या गुजरात का इतिवृत्त या एलिज़ाबेथ का चरित्र, इस तरह से अलग-अलग करके देखने पर केवल खबर जानने के कौतूहल की निवृत्ति होती है। जो यह जानता है कि अकबर या एलिज़ाबेथ केवल निमित्त हैं, जो जानता है कि मनुष्य समस्त इतिहास के बीच से अपने गहरे-से-गहरे अभिशाप को अनेक प्रकार की साधनाओं, भूलों और संशोधनों द्वारा सिद्ध करने के लिए ही केवल चेष्टा करता है; जो यह जानता है कि मनुष्य सारी दिशाओं में सबके साथ बृहत् रूप में युक्त होकर अपने को मुक्ति देने का प्रयास करता रहा है, जो यह जानता है कि स्वतंत्र अपने को राजतंत्र में और राजतंत्र से गणतंत्र मे सार्थक करने के लिए जूझता-मरता रहा है—मानव विश्वमानव के बीच अपने को व्यक्त करने के लिए, व्यष्टि समष्टि के बीच अपने को उपलब्ध करने के लिए ही अपने-आपको बनाता-बिगाड़ता रहा है—वह व्यक्ति मनुष्य के इतिहास से लोकविशेष को नहीं, उसी चिरंतन मनुष्य के चिरंतन सचेष्ट अभिप्राय को देखने की ही चेष्टा करता है। वह केवल तीर्थ के यात्रियों को देखकर नहीं लौट आता, सभी यात्री जिस एक-मात्र देवता को देखने के लिए अनेकानेक दिशाओं से आते हैं उनका दर्शन करके घर लौटता है।

उसी तरह साहित्य में मनुष्य अपने आनन्द को किस तरह व्यक्त करता है, इस अभिव्यक्ति की चित्र-विचित्र मूर्ति मे मनुष्य की आत्मा अपना कौन-सा चिरंतन रूप दिखाना चाहती है, यही विश्व-साहित्य में सचमुच देखने की चीज़ है। वह अपने को रोगी या भोगी या योगी, किस परिचय से परिचित कराके आनन्द अनुभव करता है, जगत् में मनुष्य की आत्मीयता कितनी दूर तक सत्य हो उठी अर्थात् कितनी दूर तक सत्य उसका अपना हो उठा, यह जानने के लिए इसी साहित्य के जगत् में प्रवेश करना होगा। इसको कृत्रिम रचना कहकर जानने से काम नहीं चलेगा, यह एक जगत् है, इसका तत्त्व हममें से किसी व्यक्ति-विशेष के अधिकार में या उसका अधीन नहीं है, वस्तु जगत् के समान इसकी सृष्टि चलती ही रहती है तो उस असमाप्त सृष्टि के गहरे-से-गहरे स्थान में एक समाप्ति का आदर्श अचल रूप से वर्तमान रहता है।

सूर्य के भीतर की ओर वस्तुपिण्ड अपने को अनेकानेक कठिन रूपों में गढ़ता है, वह हम

देख नहीं पाते, लेकिन उसको घेरकर आलोक-मण्डल उसी सूर्य को विश्व के निकट व्यक्त कर देता है। यहीं पर वह अपने को केवल दान करता है, सबके साथ अपने को जोड़ता है। मनुष्य को यदि हम इसी तरह समग्र रूप से देख पाते तो उसको इसी प्रकार सूर्य के जैसा ही देखते। देखते कि उसका वस्तुपिण्ड भीतर-भीतर धीरे-धीरे नाना स्तरों में जमा होता जा रहा है और उसको घेरकर एक अभिव्यक्ति की ज्योतिर्मण्डली निरन्तर अपने को चारों ओर बिखेरकर आनन्द पा रही है। साहित्य को मनुष्य के चारों ओर उसी भाषा-रचित प्रकाश-मंडली के रूप मे एक बार देखो। यहाँ पर ज्योति की आँधी चल रही है, ज्योति का झरना फूट रहा है, ज्योति के वाष्प की टक्कर हो रही है।

नगर-बस्ती के रास्ते से चलते-चलते जब देख पाओ कि मनुष्य के पास अवकाश नहीं है—पंसारी दूकान चला रहा है, लोहार लोहा पीट रहा है, मजूर बोझा ढो रहा है, सेठ अपने खाते का हिसाब मिला रहा है—उसके साथ ही और एक चीज़ है जो तुम आँख से नहीं देख पा रहे हो। लेकिन एक बात मन-ही-मन देखो : इस रास्ते के दोनों ओर घर-घर में, दुकान-बाज़ार में, गली-गली में, कितनी शाखाओं-प्रशाखाओं में रस की धारा कितने रास्तों से होकर, कितनी मलिनता, कितनी संकीर्णता, कितनी ग़रीबी के ऊपर से होकर अपने को प्रसारित कर रही है, रामायण-महाभारत, कथा-कहानी, कीर्तन-पांचाली विश्व-मानव की हृदय-सुधा को प्रत्येक मनुष्य के निकट दिन-रात बाँट दे रही है, नितांत तुच्छ व्यक्तियों के क्षुद्र कार्यों के पीछे राम-लक्ष्मण आकर खड़े हैं, अँधेरे घर मे पंचवटी की करुणा-मिश्रित हवा बह रही है, मनुष्य के हृदय की सृष्टि, हृदय का प्रकाश, मनुष्य के कर्मक्षेत्र की कठोरता और दारिद्र्य को अपने सौंदर्य और मंगल के कंगन पहने हुए दो हाथ से घेरे हैं। समस्त साहित्य को, समस्त मनुष्यों के चारों ओर एक बार इसी तरह देखना होगा। देखना होगा कि मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को भाव की सत्ता मे अपने चारों ओर भी बहुत दूर तक बढ़ाकर ले गया। उसकी वर्षा के चारों ओर कितने गीतों की वर्षा, काव्यों की वर्षा, कितने मेघदूत, कितने विद्यापति फैले हुए हैं, अपने छोटे घर के सुख-दुःख को उसने कितने चंद्र-सूर्यवंशी राजाओं के सुख-दुःख की कहानी के बीच बड़ा कर लिया है। उसके घर की स्त्रियों को घेरकर गिरिजा-पार्वती की करुणा सदा डोलती रहती है, कैलाश के दरिद्र देवता की महिमा में उसने अपने दारिद्र्य-दुःख को फैला दिया है। इस तरह मनुष्य अनवरत अपने चारों ओर जो विकिरण सृष्टि करता है उसमें वह जैसे अपने को बाहर छितरा देता है, अपने को फैला देता है। जो मनुष्य अपनी स्थिति में संकीर्ण है वही मनुष्य अपनी भाव-सृष्टि द्वारा अपने को जिस प्रकार विस्तार देता है, वही साहित्य है, संसार के चारों ओर एक दूसरा संसार।

इस विश्व-साहित्य में मैं आपका पथ-प्रदर्शक बनूँगा, ऐसी बात सोचियेगा भी मत। अपने-अपने साध्य के अनुसार यह रास्ता हम सबको खुद ही तय करना होगा। मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि जिस प्रकार पृथ्वी मेरा खेत और तुम्हारा खेत और उनका खेत नहीं है, पृथ्वी को इस तरह से जानना अत्यंत ग्राम्य रूप में जानना है—उसी प्रकार साहित्य मेरी रचना, तुम्हारी रचना और उनकी रचना नहीं होता। हम लोग साधारणतः साहित्य को इस ग्राम्य ढंग से देखा करते हैं। उसी ग्राम्य संकीर्णता से अपने को मुक्ति देकर विश्व-साहित्य में विश्व-मानव को देखने का लक्ष्य हम स्थिर करेंगे, प्रत्येक लेखक की रचना में उसकी समग्रता को ग्रहण करेंगे और उसी

समग्रता में सारे मनुष्यों की अभिव्यक्ति-चेष्टा का सम्बन्ध देखेंगे, यह संकल्प स्थिर करने का समय आ गया है।

['विश्व-साहित्य' (तुलनात्मक साहित्य) 'बंग दर्शन' जनवरी १९०७ (माघ १३१३ बंगाब्द) में प्रकाशित हुआ था। राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् में दिये गये चार भाषणों में से एक।]

९

वास्तविकता

लोग कुछ भी ठीक से नहीं कर रहे हैं, संसार को जैसा होना चाहिए था वैसा नहीं हो रहा है, समय ख़राब है—ये सब दुश्चिन्ताएँ प्रकट करके आदमी बड़े आराम से पड़ा रहता है, उसके आहार-निद्रा में कोई बाधा नहीं पड़ती, यह चीज़ प्रायः देखने में आती है। दुश्चिन्ता की आग सर्दी की आग-जैसी उपादेय होती है; पास तो रहे, लेकिन शरीर में न लगे।

लिहाज़ा अगर कोई ऐसा कहे कि आजकल बंगाल के कवि जिस साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं उसमें वास्तविकता नहीं है, वह जनसाधारण के लिए उपयोगी नहीं है, उससे लोकशिक्षा का काम नहीं चलेगा, तो बहुत संभव है कि मैं भी देश की स्थिति के सम्बन्ध में उद्वेग प्रकट करके कहता, 'बात तो ठीक है,' और अपने-आपको इस दल के बाहर रखता।

लेकिन मेरा ही नाम लेकर यह बात कहने से दूसरों का चाहे जितना मनोरंजन हो, मैं उस मनोरंजन में खुले मन से योग नहीं दे सकता।

बात यह है कि कोहबर में दूल्हे और पाठकों की सभा में लेखक की प्रायः एक ही दशा होती है। दोनों ही के कान में बहुत-सी गालियाँ और दिल्लगी की आवाज़ें पड़ती हैं, जो कि उन्हें चुपचाप सहनी पड़ती हैं। उनको वे सहते हैं तो इसीलिए कि एक जगह पर उनकी जीत रहती है। कोई कितना ही सताये दूल्हे की दुल्हन को तो कोई छीन न ले जायगा और जो लेखक है उसकी रचना तो उसके पास रहेगी ही।

अतः अपने सम्बन्ध में मैं कुछ न कहूँगा। लेकिन इस अवसर पर साहित्य के बारे में सामान्य रूप से कुछ कहा जा सकता है। वह बिलकुल अप्रासंगिक न होगा। क्योंकि यद्यपि पहले नम्बर पर मेरी रचनाओं को ही सेशन सुपुर्द किया गया है तो भी ऐसा कुछ सुना जाता है कि आजकल के प्रायः सभी लेखकों का यही अपराध है।

वास्तविकता न रहना निश्चय ही एक बड़ा धोखा है। चीज़ कुछ भी न मिली मगर दाम दिया और खुश होकर हँसते-हँसते चले गये ऐसे तमाम हतबुद्धि लोगों के लिए पक्के-पोढ़े अभिभावक नियुक्त होने चाहिये। वही आदमी अभिभावक बनने के योग्य है जिसे कवि लोग कला-कौशल दिखाकर झट से ठग न सकें, जो कटाक्ष से समझ सकें कि वस्तु कहाँ पर है, और कहाँ पर नहीं है। अतः जो लोग अवास्तविक साहित्य के सम्बन्ध में देश को सतर्क कर रहे हैं वे लोग नाबालिग और नालायक पाठकों के लिए कोर्ट ऑफ वार्ड् खोलने का काम कर रहे हैं।

लेकिन समालोचक चाहे जितने ही बड़े विद्वान् क्यों न हों वे चिरकाल तक पाठकों को

अपनी गोद में लिये सँभालकर बैठे रहेंगे, यह चीज़ न तो धाय के लिए है और न उसकी गोद के बच्चे के लिए। पाठकों को अच्छी तरह से समझा देना चाहिए कि वस्तु क्या है और क्या नहीं है।

मुश्किल यही है कि वस्तु एक नहीं है और सब जगह हम एक ही वस्तु की खोज या चर्चा नहीं करते। मनुष्य की प्रकृति बहुमुखी होती है, उसकी आवश्यकताएँ अनेक प्रकार की होती हैं और इसीलिए उसे तरह-तरह की वस्तुओं की खोज करनी पड़ती है।

इस वक्त सवाल यही है कि साहित्य में हम किस वस्तु को खोजते हैं। उस्ताद लोग कहते हैं कि वह रस-वस्तु है। कहने की जरूरत नहीं कि यहाँ पर रस-साहित्य की ही बात हो रही है। यह रस ऐसी चीज है जिसकी वास्तविकता के सम्बन्ध में बहस छिड़ने पर हाथापाई तक की नौबत आ जाती है और एक पक्ष या दूसरे पक्ष के पटखनी खा जाने पर भी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते।

रस ऐसी चीज है जो रसिक की अपेक्षा रखती है, केवल अपने जोर से वह अपने को प्रमाणित नहीं कर सकती। संसार में विद्वान्, बुद्धिमान्, देशहितैषी, लोकहितैषी आदि भाँति-भाँति के अच्छे लोग हैं, लेकिन जिस प्रकार दमयन्ती ने सब देवताओं को छोड़कर नल के गले में माला डाली थी उसी प्रकार रसभारती स्वयंवर-सभा में और सबको छोड़कर केवल रसिक को खोजती रहती है।

आलोचक जी छाती फुलाकर ताल ठोककर कहते हैं, ' मैं ही तो हूँ वह रसिक। ' उनकी बात काटने का साहस नहीं होता; लेकिन अरसिक अपने को अरसिक समझता हो, संसार में ऐसी अभिज्ञता दिखाई नहीं पड़ती। मुझे कौन-सी चीज़ अच्छी लगी और कौन-सी अच्छी नहीं लगी, यही रस-परीक्षा की अंतिम मीमांसा होती है। इसीलिए साहित्य-समालोचन में विनय नहीं होती, उसी तरह साहित्य-समालोचना में कोई किसी तरह की पूँजी के लिए सब्र नहीं करता। क्योंकि समालोचक का पद एकदम निरापद होता है।

साहित्य की परख यदि इतनी ही अनिश्चित हो तो उन लोगों के लिए, जो साहित्य की रचना करते हैं, उपाय क्या है। झटपट वाला कोई उपाय मुझे नहीं दिखाई पड़ता। अर्थात् अगर वे कोई निश्चित फल जानना चाहें तो उस जानने का भार उन्हें अपने पड़पोते को देना होगा। नकद या विदाई जो कुछ उनके भाग्य में जुटे उसके ऊपर बहुत ज़ोर डालने से काम न चलेगा।

रस-विचार करते समय व्यक्तिगत और कालगत भूलों का संशोधन करने के लिए जब विचार्य पदार्थ को अनेक व्यक्तियों और दीर्घकाल के बीच से ले जाते हैं तभी संदेह मिटता है।

किसी कवि की रचना में साहित्य—वस्तु है कि नहीं इसकी परख करने वाले समझदार लोग कवि के समसामयिकों में निश्चय ही अनेक होंगे लेकिन वही इसके योग्य हैं कि नहीं इस बात का अंतिम निर्णय अधिकारपूर्वक घोषित करने पर ठगा जाना असंभव नहीं।

ऐसी स्थिति में लेखक को एक सुविधा यह रहती है कि वह उन्हीं लोगों को समझदार मान सकता है जो उसकी रचना को पसंद करते हैं। दूसरे पक्ष को अगर वे योग्य ही न समझें तो ऐसा कोई न्यायालय पास में नहीं है जहाँ इसके ख़िलाफ़ नालिश की जा सके। काल की अदालत में अवश्य इसका विचार चलता रहता है लेकिन उस दीवानी अदालत के समान दीर्घसूत्री अदालत अंग्रेज़ों के मुल्क में भी नहीं है। इस जगह पर कवि की ही जीत होती है, क्योंकि शुरू से उसी का ही दख़ल होता है। काल का पियादा जिस दिन उसकी ख्याति की चौहद्दी की खूँटी उखाड़ने

आयगा उस दिन समालोचक यह तमाशा देखने के लिए बैठा न रहेगा।

जो लोग आधुनिक बाङ्ला साहित्य में वास्तविकता की तलाश करके एकदम निराश हो गये हैं वे मेरी बात के जवाब में कहेंगे, "यह ठीक नहीं है तराजू-बटखरे से रस नाम की चीज़ को तोला नहीं जा सकता, लेकिन यह रस नामक पदार्थ किसी वस्तु का आश्रय लेकर ही तो प्रकट होता है। उसी जगह पर हम लोगों को वास्तविकता का विचार करने के लिए सुयोग मिलता है।

निस्संदेह रस का एक आधार होता है। उसे तोला जा सकता है इसमें भी संदेह नहीं। लेकिन क्या उसी वस्तुपिण्ड को तोलकर साहित्य के मूल्य की परख होगी।

रस में एक चिरंतनता होती है। मान्धाता के राज में मनुष्य ने जिस रस का उपयोग किया है आज भी वह खत्म नहीं हुआ। लेकिन वस्तु की दर बाज़ार के अनुसार इस वेला उस वेला बदलती रहती है।

अच्छा, मान लो मैं कविता को वास्तविक बनाने का लोभ अब और सँभाल नहीं पा रहा हूँ। मैं खोजने लगा कि देश में सबसे अधिक कौन-सी चीज़ वास्तविक हो उठी है। मैंने देखा कि ब्राह्मण-सभा देश में रेलवे-सिगनल के खम्भे के समान लाल-लाल आँखें करके अपने एक पैर पर ज़ोर देकर खूब अकड़कर खड़ी है। कायस्थ लोग जनेऊ पहनेंगे ही और ब्राह्मण-सभा उनकी जनेऊ छीनेगी ही, यह घटना बंगाल में विश्व की सब घटनाओं से अधिक बड़ी है। इसलिए अगर बंगाली कवि इसको अपने रचना में जगह न दे तो समझना होगा कि वास्तविकता के सम्बन्ध में उसकी चेतना अत्यंत क्षीण है। यह समझकर मैंने 'जनेऊ संहार' काव्य लिखा। उसका वस्तुपिण्ड वज़न में कम नहीं हुआ; लेकिन हाय रे, सरस्वती अपना आसन वस्तुपिंड के ऊपर रखेंगी या कमल के ऊपर।

यह दृष्टांत का एक प्रयोजन है। विचारकों के मत मे वास्तविकता किस चीज़ को कहते हैं, उसका एक सूत्र मेरी पकड़ मे आया है। मेरे ख़िलाफ़ एक फ़रियादी ने कहा है, मेरी समस्त रचनाओं में वास्तविकता का उपकरण थोड़ा-सा जो कहीं मिलता है तो वह 'गोरा' उपन्यास में।

गोरा उपन्यास मे क्या वस्तु है या नहीं है इस बात को उस उपन्यास का लेखक सबसे कम समझता है। लोगों के मुँह से मैंने सुना है कि उसमे प्रचलित हिंदुओं की अच्छी व्याख्या मिलती है। इससे अंदाजा करता हूँ कि वही वास्तविकता का एक लक्षण है।

वर्तमान समय मे कुछ विशेष कारणों से हिन्दू अपने हिन्दुत्व को लेकर भयंकर उग्र हो उठा है। उसके सम्बन्ध मे उसके मन का भाव अपनी सहज स्थिति में नहीं है। विश्व-रचना में यह हिन्दुत्व ही विधाता की चरम कीर्ति है और इसी सृष्टि में अपनी सब शक्ति ख़र्च करके अब वह और किसी चीज़ मे आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं—यही हमारा नारा है। साहित्य की वास्तविकता तौलते समय यही नारा बटखरा बन जाता है। कालिदास को हम अच्छा कहते हैं, क्योंकि उनके काव्य में हिन्दुत्व है। बंकिम को हम अच्छा कहते हैं, क्योंकि पति के प्रति हिन्दू-पत्नी का जो मनोभाव हिन्दू-शास्त्र-सम्मत है वह उनकी नायिकाओं में दिखायी पड़ता है, या निंदा करते हैं तो इसलिए कि वह चीज़ काफ़ी मात्रा में नहीं है।

अन्य देशों में भी ऐसा ही होता है। इंग्लैंड में इम्पीरियलिज्म का बुख़ार जब एक-एक घंटे

पर बढ़ रहा था तब अंग्रेज कवियों का एक दल काव्य में उसीकी रक्तवर्ण वास्तविकता का प्रलाप कर रहा था।

इसके साथ अगर तुलना की जाय तो वर्ड्सवर्थ की कविता में वास्तविकता कहाँ है,। उन्होंने विश्व-प्रकृति में जो एक आनन्दमय आविर्भाव देख पाया था उसके साथ—ब्रिटिश जनसाधारण की शिक्षा-दीक्षा, अभ्यास, आचार-विचार का क्या सम्बन्ध था। उसके भाव की रागिनी निर्जनवासी अकेले कवि की हृदय-बाँसुरी में बज उठी थी—अंग्रेजी की स्वदेशी हाट में तुलकर बिक सके ऐसा वस्तुपिंड उसमें क्या है, मैं जानना चाहता हूँ।

और कीट्स-शैली—इनके काव्य में वास्तविकता का निर्धारण किस आधार पर होगा। अंग्रेज़ों के जातीय चित्त के सुर के साथ सुर मिलाकर क्यों उन्होंने बख्शीश और वाहवाही पायी है। जो सब समालोचक साहित्य की हाट में वास्तविकता की दलाली करते रहते हैं उन्होंने वर्ड्सवर्थ की कविता का आदर किस प्रकार किया था, इतिहास इसे जानता है। शैली को उनके देश ने उस दिन अस्पृश्य-अंत्यज के समान घर में घुसने नहीं दिया और कोट्स को मृत्यु-बाण मारा।

और भी आधुनिक दृष्टांत टेनिसन है। वे विक्टोरिया-युग के प्रचलित लोकधर्म के कवि हैं। इसीसे उनका परभाव देश मे सर्वव्यापी था। लेकिन विक्टोरियन युग की वास्तविकता जितनी ही क्षीण होती जा रही है टेनिसन का आसन भी उतना ही संकीर्ण होता जा रहा है। उनका काव्य जिस गुण के कारण टिका रहेगा वह चिरंतन रस का गुण है, उसमे विक्टोरियन ब्रिटिश-वस्तु बड़ी मात्रा मे है इस कारण नहीं—वह स्थूल वस्तु हर रोज़ ढहती जा रही है।

हमारे समय के लेखकों का मोटा अपराध यही है कि हमने अंग्रेज़ी पढ़ी है। अंग्रेज़ी शिक्षा बंगालियों के लिए वास्तविक नहीं, अतः वह वास्तविकता का कारण भी नहीं है और इसीलिए अब का साहित्य देश के जनसाधारण को शिक्षा और आनंद नहीं दे पाता।

ठीक बात है। लेकिन देश के जिन लोगों ने अंग्रेज़ी नहीं सीखी उनकी तुलना में हमारी संख्या तो नगण्य है। उनकी क़लम तो कोई छीन नहीं लेता। हम केवल अपनी अवास्तविकता के ज़ोर से देश के सब वास्तविक लोगों के ऊपर जीत पा लेंगे, यह स्वाभाविक बात नहीं।

हो सकता है कि जवाब मैं सुनूँ कि हम लोग हार रहे है। जिन्होंने अंग्रेज़ी नहीं सीखी वही देश के वास्तविक सहित्य की सृष्टि कर रहे है, वही टिकेगा और उसीसे लोकशिक्षा होगी।

ऐसा ही हो तो फिर चिन्ता किस बात की। वास्तविक सहित्य, यथार्थवादी साहित्य का विपुल क्षेत्र और आयोजन देश-भर मे फैला हुआ है, उसके बीच मे यहाँ-वहाँ यथार्थवादी साहित्य एक क्षण भी टिक न सकेगा।

लेकिन उस बृहत् यथार्थवादी साहित्य को आँख से देख पाना कारगर होता, एक आदर्श मिलता। जब तक उसका परिचय नहीं है तब तक अगर ज़बरदस्ती उसको मान लूँ तो वह वास्तविक न होगा, काल्पनिक होगा।

लेकिन तो भी इधर अंग्रेज़ी पढ़े लोगों ने जिस साहित्य की सृष्टि की, उससे नाराज़ होकर उसको गाली देने पर भी वह बढ़ता जा रहा है, निंदा करने पर भी उसे अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता। यही यथार्थ का प्रकृत लक्षण है। यह जो कोई-कोई आदमी ख़ामख़ाह नाराज़ होकर

उसे उड़ा देने की कोशिश कर रहे हैं उसका भी कारण यही है कि यह स्वप्न नहीं, माया नहीं, यथार्थ है। तुमने देखा नहीं क्या, एंग्लों-इंडियन अख़बार अक्सर कहते हैं कि भारतवर्ष में बंगाली जाति को गिना ही नहीं जा सकता। उनकी बात की तेज़ी देखकर ही समझ में आ जाता है कि वे बंगालियों की विशेष रूप से गिनती कर रहे हैं, किसी तरह उन्हें भूल ही नहीं पाते।

अंग्रेज़ी शिक्षा ने पारस की तरह हमारे जीवन का स्पर्श किया, उसने हमारे भीतर के यथार्थ को ही जगाया। जो लोग इस यथार्थ से डरते हैं, जो लोग बँधे-टँके नियमों की ज़ंजीर को ही ठीक समझते हैं, वे अंग्रेज़ हों चाहे बंगाली, वे इस शिक्षा को भ्रम और इस व्याकरण को मिथ्या कहकर उड़ा देने का स्वाँग भरते हैं। उनका बँधा हुआ तर्क यही है कि एक देश का आघात दूसरे देश को सचेत नहीं करता। लेकिन दूर देश की दक्खिनी हवा देशांतर में साहित्य कुंज में फूलों को जगाती है, इतिहास इसका प्रमाण देता है। जहाँ से हो,जैसे हो, जीवन के आघात से जीवन जाग उठता है, मानव-चित्त का यह एक, चिरंतन सच्चा व्यापार है।

लेकिन लोक-शिक्षा का क्या होगा।

उस बात की जवाबदेही साहित्य की नहीं।

लोग अगर साहित्य से शिक्षा पाने की चेष्टा करें तो पा भी सकते हैं; लेकिन साहित्य लोगों को शिक्षा देने की बात ही नहीं सोचता। किसी देश में भी साहित्य ने स्कूल-मास्टरी का ज़िम्मा नहीं लिया। देश के सब लोग रामायण-महाभारत पढ़ते हैं, उसका कारण यह नहीं है कि वे किसानों की भाषा में लिखे हुए हैं या उनमें दुखियों, कंगालों की घर-गृहस्थी की बात वर्णित है। उसमें बड़े-बड़े राजाओं, बड़े-बड़े राक्षसों, बड़े-बड़े वीरों और बड़े-बड़े बन्दरों की बड़ी-बड़ी पूँछों की कहानी ही है। शुरू से लेकर आखिर तक सब-कुछ असाधारण है। साधारण लोगों ने अपनी गरज़ से इस साहित्य को पढ़ना सीखा है।

साधारण लोग मेघदूत, कुमारसंभव, शकुन्तला नहीं पढ़ते। बहुत संभव है कि दिङ्नागाचार्य ने इन कुछ पुस्तकों में यथार्थ का अभाव देखा था। मेघदूत की तो खैर बात ही नहीं। कालिदास स्वयं इन यथार्थवादियों के भय से एक जगह पर नितांत अकविजनोचित कैफ़ियत देने के लिए बाध्य हुए थे—'कामार्त्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाश्चेतनेषु।'

मैंने अकविजनोचित इसलिए कहा कि कविमात्र चेतन-अचेतन में सामंजस्य उत्पन्न कर देते हैं, क्योंकि वे विश्व के मित्र होते हैं, न्याय केअध्यापक नहीं। शकुन्तला का चतुर्थ अंक पढ़ने से ही फिर कुछ समझने को बाक़ी न रहेगा।

लेकिन मैं कहता हूँ कि यदि कालिदास का काव्य अच्छा हो तो वह भी आदमियों के लिए सब युगों के भंडार में संचित रहेगा—आज साधारण आदमी ने जो कुछ नहीं समझा उसे कल का साधारण आदमी हो सकता है कि समझे, कम-से-कम हम ऐसी आशा करते हैं। लेकिन कालिदास अगर कवि ने होकर लोकहितैषी होते तो वे शायद पाँचवीं शताब्दी की उज्जयिनी के किसानों की प्राथमिक शिक्षा के लिए उपयोगी पुस्तकें लिखते—ऐसा होता तो उसके बाद इतनी सब शताब्दियों की क्या दशा होती।

तुम क्या यह सोचते हो कि तब कोई लोकहितैषी नहीं था? जनसाधारण की नैतिक और जाठरिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है इस बात को सोचकर क्या किसी ने कोई पुस्तक नहीं

लिखी? लेकिन वह साहित्य है क्या? क्लास की पढ़ाई ख़त्म होते ही साल बीतते ही स्कूली किताबों की जो हालत होती है उनकी भी वही हालत हुई है अर्थात् स्वेद-कम्प-रोमांच के भीतर से होकर बिलकुल दशम दशा।

जो अच्छा है उसको पाने के लिए साधना करनी होगी—राजा के बेटे को भी करनी होगी, किसान के बेटे को भी। राजा के बेटे को इतनी सुविधा है कि उसके पास साधना करने के लिए समय है, किसान के बेटे के पास नहीं। लेक्नि वह सामाजिक व्यवस्था का तर्क है—अगर प्रतिकार कर सको तो करो, किसी को आपत्ति न होगी। उसके मारे तानसेन अपने मीठे सुर तैयार करने के लिए बैठा न रहेंगे। उनकी सृष्टि आनंद की सृष्टि है, वह जो है सो है, और किसी मतलब से वह और कुछ हो ही नहीं सकती। जो रस-पिपासु हैं वे यत्न करके सीखकर उन ध्रुपदों के गहरे मधुकोष में प्रवेश करेंगे। निश्चय ही जब तक जनसाधारण उस मधुकोष का रास्ता न जानेंगे तब तक तानसेन का गाना उनके निकट बिलकुल अयथार्थ बना रहेगा, यह बात माननी ही होगी। इसीलिए मैं कह रहा था कि कौन-सी चीज़ कहाँ पर खोजनी होगी, किस तरह खोजनी होगी, कौन उसे खोज पाने का अधिकारी है, यह तो मनमाने ढंग से एक बात कहकर प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं किया जा सकता।

तो फिर कवियों का सहारा क्या है? किसी एक चीज़ के ऊपर ज़ोर देकर उन्होंने उसके ऊपर अपना भार डाल दिया है। निश्चय ही डाल दिया है। वह है भीतर की अनुभूति और आत्म-प्रसाद। कवि यदि एक वेदनामय चैतन्य लेकर उत्पन्न होते हैं, यदि वे अपनी प्रकृति द्वारा ही विश्व-प्रकृति और मानव-प्रकृति के साथ आत्मीयता स्थापित करते हैं, यदि शिक्षा, अभ्यास, प्रथा, शास्त्र आदि जड़ आवरणों के भीतर से वे केवल दस जनों के नियम से विश्व के साथ व्यवहार नहीं करते, तो वे निखिल सृष्टि के संस्पर्श से जो कुछ अनुभव करेंगे उसकी नितांत यथार्थता के सम्बन्ध में उनके मन में कोई संदेह न रहेगा। उन्होंने विश्व-वस्तु और विश्व-रस को बिलकुल सम्मिलित रूप से अपने जीवन में उपलब्ध किया है, इसी में उनकी शाक्ति है। मैं पहले ही कह आया हूँ कि बाहर की हाट की वस्तु की दर बराबर उठती-गिरती रहती है—वहाँ पर अनेक मुनियों के मत होते हैं, तरह-तरह के लोगों की तरह-तरह की फ़र्माइशें होती हैं, विभिन्न युगों के विभिन्न फ़ैशन होते हैं। यथार्थ के उस शोर-गुल मे पड़कर कवि का काव्य हाट का काव्य हो जायगा। उनके हृदय में जो ध्रुव आदर्श है पूरो तरह उसके ही ऊपर निर्भर होने के अलावा कोई उपाय नहीं है। वह आदर्श हिन्दू का आदर्श या अंग्रेज़ का आदर्श नहीं है, वह लोकहित का और स्कूल-मास्टरी का आदर्श भी नहीं है। वह आनंदमय है और इसीलिए अनिर्वचनीय। कवि जानते हैं कि जो चीज उनके निकट इतनी सत्य है वह दूसरे किसी के लिए मिथ्या नहीं हो सकती। यदि किसी के लिए वह मिथ्या हो तो वह मिथ्या ही मिथ्या है— जो आदमी आँख बन्द किये हुए है उसके लिए प्रकाश जिस तरह मिथ्या है वैसे ही यह चीज़ भी मिथ्या है। काव्य की यथार्थता के सम्बन्ध में कवि के भीतर स्वयं जो प्रमाण है विश्व में भी वही प्रमाण है, कवि इस बात को जानता है। उस प्रमाण की अनुभूति सबको नहीं होती—इसीलिए विचारक के आसन पर जो चाहे बैठकर जैसी चाहे राय दे सकता है, लेकिन डिग्री जारी करने के समय वह राय चलेगी ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

•

कवि की स्वानुभूति के जिस उपादान की बात मैंने कही वह सब कवियों में सब समय विशुद्ध रहती हो ऐसा बात नहीं है। अनेक कारणों से वह कभी ढक उठती है, कभी विकृत हो जाती है, कभी नकद मूल्य के प्रलोभन में उसके ऊपर बाज़ार में चलने वाले आदर्शों की नक़ल पर कृत्रिम नक्शे काटे जाते हैं—इसीलिए उसका सब अंश चिरंतन नहीं होता और सब अंशों का समान आदर हो भी नहीं सकता। अतः कवि चाहे नाराज़ हों चाहे खुश, उनके काव्य पर विचार करना ही होगा—और जो लोग उनका काव्य पढ़ेंगे वे सभी उस पर विचार करेंगे—उस विचार में सब एकमत न होंगे। मोटे रूप में यदि वे अपने मन में सच्चा आत्म-प्रसाद पाते हों तो समझना चाहिए कि उन्हें अपना प्राप्य मिल गया। यह ठीक है कि पावनता से अधिक लोभ आदमी को ऊपरी आमदनी का होता है। इसीलिए बाहर, आस-पास, कोनों-अंतरों में इतना ज़्यादा हाथ फैलाना पड़ता है। वहीं पर संकट है। क्योंकि लोभ में पाप है, पाप में मृत्यु।

['सबुज पत्र' जुलाई-अगस्त १९१४ (श्रावण १३२२) मे प्रकाशित। उन दिनों बङ्गला जगत् मे 'साहित्य में यथार्थवाद' विषय पर विवाद चल रहा था, जिसमे रवीन्द्रनाथ पर निरन्तर प्रहार हो रहा था। यह निबन्ध अपनी सफ़ाई मे लिखा गया था।]

१०

गद्यकाव्य

कुछ ऐसे विषय हैं जिनकी जलवायु अत्यंत सूक्ष्म होती है, कुछ भी करो आसानी से वे पकड़ में नहीं आते। पकड़ने-छूने को लेकर तर्क द्वारा आघात-प्रतिघात चलता रहता है। लेकिन विषय-वस्तु जब अनिर्वचनीयता के कोठे में आकर बैठ जाती है तब यह किस तरह से समझाया जाय कि वह हृदयगम्य हुई या नहीं। उसके लिए अच्छा लगने, बुरा लगने की एक सहज क्षमता और विस्तृत अभिज्ञता होनी चाहिए। विज्ञान पर अधिकार करने के लिए साधना की आवश्यकता होती है। लेकिन रुचि एक ऐसी चीज है जिसके लिए कहा जा सकता है कि वह साधना से नहीं मिलती, उसको पाने का बँधा हुआ मार्ग 'न मेधया न बहुना श्रुतेन' होता है। अपनी सहज व्यक्तिगत रुचि के अनुसार मैं यह कह सकता हूँ कि यह चीज़ मुझे अच्छी लगती है।

इस रुचि में आकर जुड़ जाता है अपना स्वभाव, चिन्तन का अभ्यास, समाज का परिवेश और इच्छा। ये सब यदि भद्र, व्यापक और सूक्ष्मबोध-शक्तिमान हों तो उस रुचि को साहित्य-पथ के आलोक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन रुचि का शुभ सम्मिलन कहीं पर सत्य परिणाम पर पहुँचा है या नहीं इसको मानने के लिए भी दूसरी ओर रुचि-चर्चा का सच्चा आदर्श होना चाहिए। अतः रुचिगत विचार में एक अनिश्चयता रह जाती है। साहित्य-क्षेत्र मे युग-युग में इसके प्रमाण मिलते रहे हैं। विज्ञान-दर्शन के संबंध में जो आदमी यथोचित चर्चा नहीं करता वह बड़े नम्र ढंग से कहता है, 'मुझे कोई मत रखने का अधिकार नहीं है।' साहित्य और शिल्प में, रस-सृष्टि की सभा में, मत-विरोध का कोलाहल देखकर अततः हताश होकर कहने की इच्छा होती है। 'भिन्न रुचिहिं लोकः'। जहाँ पर साधना की कोई बात ही नहीं वहीं दम्भ का अन्त नहीं होता, और इसीलिए रुचिभेद के झगड़े को लेकर हाथापाई भी होती रहती है। इसीसे वररुचि की बात मन मे आती है, 'अरसिकेषु रसस्य निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख'। स्वयं कवि के निकट अधिकारी और अनधिकारी का प्रसंग सहज होता है। उसकी लिखी चीज़ किसे अच्छी लगी किसे नहीं लगी, इसी कसौटी पर वह श्रेणियाँ बना लेता है। इसीलिए हमेशा से पारखियों के साथ शिल्पियों का झगड़ा चलता आया है। इसमें संदेह नहीं कि स्वयं कवि कालिदास को भी इस बात के लिए दुःख उठाना पड़ा था। सुनते हैं कि मेघदूत में स्थूल हस्तावलेप के प्रति संकेत है। जिन सब कविताओं में प्रथागत भाषा और छंद का अनुसरण किया जाता है उनमें अन्ततः बाहर की ओर से पाठकों को चलने-फिरने में रुकावट नहीं होती। लेकिन कही-कहीं विशेष किसी रस के अनुसंधान में कवि को अभ्यास का पथ लाँघना पड़ता है। तब कुछ-न-कुछ समय के लिए पाठकों के आराम में बाधा पड़ती है इसीलिए वे नये रस को इस तरह भीतर ले आना अस्वीकार करते हैं और दंड देने की बात कहते हैं। जब तक

चलते-चलते पगडंडी नहीं बन जाती तब तक रास्ता बनानेवालों के विरुद्ध राहगीरों का एक झगड़ा खड़ा रहता है। इसी अशांति के समय कवि ढिठाई से कहता है, 'तुम्हारी अपेक्षा मेरा ही मत प्रामाणिक है।' पाठक कहते हैं भोजन प्रस्तुत करनेवाले की अपेक्षा उसका उपभोग करनेवाले का ही अधिकार ज्यादा होता है। लेकिन इतिहास में इस बात का प्रमाण नहीं मिलता; हमेशा देखा गया है कि नये की उपेक्षा करते-करते ही नये के स्वागत का पथ प्रशस्त हुआ है।

कुछ दिनों से मैंने कोई-कोई कविता गद्य में लिखनी शुरू की है। साधारण लोगों के निकट अभी से ही उसी समादर मिलने लगेगा, ऐसी आशा करना असंगत है, लेकिन मैं यह नहीं मान पाता कि तत्काल समादर न पाना ही उसकी निष्फलता का प्रमाण है। ऐसे द्वन्द्व के स्थल पर कवि आत्मप्रत्यय का सम्मान करने के लिए बाध्य है। मैं बहुत दिनों से रस-सृष्टि की साधना कर रहा हूँ, हो सकता है कि मैंने बहुतों को आनंद दिया हो; यह भी हो सकता है कि इसमें सफल नहीं हुआ। तो भी इस विषय में मेरी बहुत दिनों की संचित जो अभिज्ञता है उसकी दुहाई देकर मैं दो-एक बातें कहूँगा। आप मेरी सब बातें मान लेंगे ऐसी कोई दुराशा मेरे मन में नहीं है।

तर्क यह चल रहा है कि गद्य का रूप लेकर काव्य आत्मरक्षा कर सकता है कि नहीं। इतने दिन तक काव्य को जिस रूप में देखा गया है और उस देखने के साथ आनंद का जो सम्बन्ध है, गद्यकाव्य मे उसका व्यतिक्रम होता है। केवल प्रधान का व्यतिक्रम नहीं उसके स्वरूप में भी व्याघात हो रहा है। इस समय तर्क का विषय यह है कि काव्य का स्वरूप एकांतभाव से छंदोबंध सज्जा के ऊपर निर्भर करता है या नहीं। कुछ लोग सोचते हैं कि करता है, मैं सोचता हूँ कि नहीं करता। अलंकरण के बाहरी आवरण से मुक्त होकर काव्य सहज ही अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है, इस विषय में अपनी निजी अभिज्ञता से दृष्टांत दूँगा। आप सब जानते हैं कि मैंने जाबाला-पुत्र सत्यकाम की कहानी को आधार बनाकर एक कविता लिखी है। मैंने यह गल्प सहज गद्य की भाषा में छांदोग्य उपनिषद् मे पढ़ी थी और तत्काल उसे सच्चा काव्य मान लेने मे मुझे कोई बाधा नहीं हुई। उपाख्यान मात्र है— काव्य-विचारक इसको बाहर से देखकर काव्य के पर्याय में स्थान देने के लिए असम्भव हो सकते हैं क्योंकि यह अनुष्टुप, त्रिष्टुप या मंदाक्रांता छंद में तो रचा नहीं गया। मेरा कहना है कि इसीलिए वह श्रेष्ठ काव्य हो सका, दूसरे किसी आकस्मिक कारण से नहीं। यह सत्यकाम की कहानी अगर छंद मे बाँधकर रची जाती तो हल्की पड़ जाती।

सत्रहवीं शताब्दी में कुछ गुमनाम लेखकों ने ग्रीक और हिब्रू बाइबिल का अनुवाद अंग्रेज़ी में किया। यह बात माननी ही होगी कि सॉलोमन का गीत, डेविड की गाथा सच्चा काव्य है। इस अनुवाद की भाषा की अद्भुत शक्ति है। इनमें काव्य का रस और रूप निस्संदेह प्रस्फुटित कर दिया है। इन गीतों में गद्य छंद का जो मुक्त पदक्षेप है उसको यदि पद्य-प्रथा की ज़ंजीर में बाँधा जाता तो सब चौपट हो जाता।

यजुर्वेद में हम जिस उदात्त छंद का साक्षात्कार करते हैं उसको हम पद्य नहीं कहते, मंत्र कहते हैं। हम सभी जानते हैं कि पद्य का लक्ष्य है शब्द के अर्थ को ध्वनि के भीतर से मन की गहराई में ले जाना। वहाँ पर वह केवल अर्थवान ही नहीं ध्वनिमान भी होता है। मैं निस्संदेह कह सकता हूँ कि गद्य मंत्र की सार्थकता बहुतों ने मन के भीतर अनुभव की है, क्योंकि ध्वनि थम जाने पर भी उसकी गूँज नहीं थमती।

एक समय किसी असावधान क्षण में मैंने अपनी 'गीतांजलि' का अंग्रेज़ी गद्य में अनुवाद किया। विशिष्ट अंग्रेज़ साहित्यिकों ने मेरे अनुवाद को अपने साहित्य के अंग के रूप में ग्रहण कर लिया। यहाँ तक कि अंग्रेज़ी 'गीतांजलि' को उपलक्ष्य बनाकर इतनी प्रशंसा की गयी कि मैं उसको अत्युक्ति समझकर संकुचित हुआ था। मैं विदेशी था, मेरे काव्य में तुक या छंद का चिह्न तक न था, तब भी जब उन्होंने उसके भीतर सम्पूर्ण काव्य का रस पाया तो उस बात को मुझे स्वीकार करना ही पड़ा। मेरे मन में विचार आया था कि अंग्रेज़ी गद्य में मेरे काव्य को रूप देने से कोई क्षति नहीं हुई, बल्कि अगर पद्य में अनुवाद करता तो वह धिक्कार और अश्रद्धा का पात्र होता।

मुझे याद आता है कि एक बार मैंने श्रीमान् सत्येन्द्र से कहा था,'तुम छंद के राजा हो, एक बार ज़रा अछंद की शक्ति से, बाँध तोड़कर, काव्य के स्रोत को प्रवाहित तो करो !' सत्येन्द्र के समान विविध छंदों के सृष्टा बंगला में कम ही हैं। हो सकता है कि अभ्यास ने उनके रास्ते में रुकावट डाली हो, उन्होंने मेरे प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। मैंने स्वयं इस काव्य-रचना की चेष्टा की थी 'लिपिका' में, पर यह ठीक है कि मैंने पद्य के समान पद तोड़कर नहीं दिखाया। 'लिपिका' लिखने के बाद बहुत दिन तक फिर मैंने गद्यकाव्य नहीं लिखा। शायद साहस नहीं हुआ इसीलिए।

काव्य-भाषा का एक वज़न होता है, समय होता है, उसी को छंद कहते हैं। गद्य को ऐसी कोई चिन्ता नहीं होती, वह छाती फुलाकर चलता है। इसीलिए राष्ट्रनीति आदि दैनंदिन व्यवहार की चीज़ें प्रांजल गद्य में लिखी जा सकती हैं, लेकिन गद्य को काव्य के प्रवर्तन के लिए शिल्पित किया जाता है। तब वह काव्य की गति से ऐसी कुछ अभिव्यक्ति पाता है जो गद्य के दैनंदिन व्यवहार से परे है। गद्य है इसीलिए इसके भीतर अति-माधुर्य, अति-लालित्य की मादकता नहीं रह सकती। कोमल और कठोर के मिलने से एक संयत ढंग का भाईचारा पैदा होता है। नटी के नाच में शिक्षित, पटु, अलंकृत पदक्षेप होता है। दूसरी ओर सुघर चलनेवाली किसी तरुणी की चाल में संतुलन की रक्षा का एक स्वाभाविक नियम होता है। इस सहज सुन्दर चलन के ढंग में एक अशिक्षित छंद होता है, जो उसके रक्त में होता है, उसके मुँह में होता है। गद्य-काव्य की चाल भी ऐसी ही होती है—अनियमित उच्छृंखल गति नहीं, संयत पदक्षेप।

आज ही मैं मुहम्मदी पत्रिका देख रहा था, किसी सज्जन ने लिखा है कि रवि ठाकुर की गद्य-कविता का रस उन्हें अपने सादे गद्य में ही मिलता है। दृष्टांत-स्वरूप लेखक ने कहा है कि 'शेषेर कविता' में मूलतः काव्य-रस से अभिषिक्त गुण आ गया है। अगर ऐसा हो तब क्या ज़माने से बाहर निकलने के लिए काव्य की ज़ात गयी। यहाँ पर मेरा प्रश्न यह है कि हमने क्या ऐसा काव्य नहीं पढ़ा है जो गद्य का वक्तव्य कहता है जैसे कि ब्राउनिंग। और क्या ऐसा गद्य भी नहीं पढ़ा जिसमें कवि-कल्पना का आनंद मिलता है। गद्य और पद्य के बीच जेठ और अनुज-पत्नी का सम्बन्ध मैं नहीं मानता। मेरी समझ में वे भाई और बहन के समान होते हैं। इसी से जब मैं देखता हूँ कि गद्य में पद्य का रस और पद्य में गद्य का गाम्भीर्य, इन दोनों का सहज आदान-प्रदान होता है तो मैं इसमें आपत्ति नहीं करता।

रुचि-भेद को लेकर झगड़ा करने से कोई लाभ नहीं। इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने ऐसे अनेक गद्यकाव्य लिखे हैं जिनकी विषय-वस्तु को और किसी रूप में व्यक्त न कर सकता

था। उसमें एक सहज दैनंदिन भाव है, हो सकता है कि सज्जा न हो लेकिन रूप है और इसीलिए उनको सच्चे अर्थ में मैं काव्यगोत्रीय समझता हूँ। यह बात उठ सकती है कि गद्यकाव्य क्या है। मैं कहूँगा कि वह क्या है और कैसा है, यह मैं नहीं जानता। इतना जानता हूँ कि इसका काव्य-रस एक ऐसी चीज़ है जो युक्ति देकर प्रमाणित करने की नहीं। जो मुझको वचनातीत का आस्वाद देता है वह गद्य या पद्य किसी भी रूप में आये मैं उसे काव्य कहकर ग्रहण करने से मुँह न फेरूँगा।

[२९ अगस्त १९३९ को विश्वभारती के विद्यार्थियों को दिया गया भाषण। दिसम्बर १९२९ (पौष १३४६ मे 'प्रवासी' में प्रकाशित)]

११

रामायण[१]

मोटे रूप में काव्य के दो भाग किये जायें। किसी काव्य में अकेले कवि की कथा होती है और किसी काव्य में बृहत समुदाय की कथा होती है।

अकेले कवि की कथा का अभिप्राय यह नहीं है कि वह और किसी के लिए अधिगम्य नहीं है, ऐसा होता तो उसे पागलपन कहते। उसका अर्थ यही है कि कवि में वह क्षमता है जिससे उसके निजी सुख-दुःख, निजी कल्पना, निजी जीवन की अभिज्ञता के भीतर से होकर विश्व-मानव का चिरंतन हृदयावेग और जीवन की मर्मकथा अपने-आप बज उठती है।

जिस तरह से यह कवियों की एक श्रेणी है वैसे ही दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के भीतर से एक समग्र देश, एक समग्र युग अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को व्यक्त करके उसे मानव की चिरंतन सामग्री बना देता है।

इसी दूसरी श्रेणी के कवि को महाकवि की संज्ञा दी जाती है। समग्र देश की, समग्र जाति की सरस्वती इन्हें अपना आश्रय बना पाती है, ये लोग जो रचना करते हैं वह किसी व्यक्ति-विशेष की रचना नहीं जान पड़ती। ऐसा लगता है कि जैसे वह विशाल वनस्पति के समान देश की धरती से पैदा होकर उसी देश को आश्रय और छाया दे रही है। कालिदास की 'शकुन्तला' और 'कुमार सम्भव' में विशेष रूप से कवि के निपुण हाथों का परिचय हमको मिलता है। लेकिन रामायण, महाभारत को देखकर ऐसा लगता है कि जैसे वे गंगा और हिमालय के समान भारत के ही हों, व्यास-वाल्मीकि निमित मात्र हों।

सच तो यह है कि व्यास-वाल्मीकि किसी का नाम न था। वह तो एक उद्देश्य से किया हुआ नामकरण मात्र है। इसमें बडे विशाल दो ग्रन्थ, हमारे समस्त भारतवर्ष को समेटे हुए दो काव्य अपने रचनाकार कवियों के नाम खो बैठे हैं—कवि अपने काव्य में ऐसा छिप गया है।

हमारे देश में जिस तरह रामायण-महाभारत हैं, उसी तरह प्राचीन ग्रीस में इलियड और ओडीसी थे। वे समस्त ग्रीस के हृदय-कमल से उत्पन्न हुए थे और उसी में निवास करते थे। कवि होमर ने अपने देश-काल के कंठ को भाषा दी थी। वही वाक्य पानी के सोते की तरह अपने-अपने देश के निगूढ़ अंतस्तल से फूटकर सदा-सदा से उसको प्लावित करता रहा है।

किसी आधुनिक काव्य में ऐसी व्यापकता नहीं दिखाई पड़ती। मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में भाषा का गाम्भीर्य, छंद की महत्ता, रस की गहराई चाहे जितनी क्यों न हो वह देश का धन नहीं है, वह लायब्रेरी के आदर की सामग्री है।

---

१ श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन महाशय की 'रामायण कथा' की भूमिका-स्वरूप रचित।

अतः गिनती के कुछ प्राचीन काव्यों को एक ही श्रेणी में डालकर अगर उन्हें एक नाम देना हो तो महाकाव्य को छोड़कर और क्या नाम दिया जा सकता है? ये लोग प्राचीन कालों के देव-दैत्यों के समान महाकाय थे, इनकी जाति अब लुप्त हो गयी है।

प्राचीन आर्य-सभ्यता की एक धारा यूरोप में और एक धारा भारत में प्रवाहित हुई है। यूरोप की धारा मे दो महाकाव्यों ने और भारत की धारा में दो महाकाव्यों ने अपनी कथा और संगीत की रक्षा की है।

हम विदेशी हैं, हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि ग्रीस अपनी समस्त प्रकृति को अपने दोनों काव्यों मे व्यक्त कर पाया है या नहीं, लेकिन यह निश्चित है कि भारतवर्ष ने रामायण-महाभारत में अपना सब-कुछ डाल दिया, कुछ भी बाक़ी नहीं छोड़ा।

इसीलिए शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीत रही हैं लेकिन रामायण-महाभारत का स्रोत भारतवर्ष में तनिक भी नहीं सूखा है। प्रतिदिन गाँव-गाँव में, घर-घर में उन्हें पढ़ा जा रहा है, पंसारी की दूकान से लेकर राजा के महल तक सब जगह उन्हें एक-जैसा आदर मिलता है। धन्य हैं वे दोनों कवि जिनका नाम काल के महाप्रान्तर मे खो गया है लेकिन जिनकी वाणी कोटि-कोटि नर-नारियों के द्वार-द्वार पर आज भी शक्ति और शांति की धारा को पहुँचा रही है, शत-शत प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ गीली मिट्टी निरंतर ले आकर भारतवर्ष की हृदय-भूमि को आज भी उर्वर बना रही है।

ऐसी स्थिति मे रामायण-महाभारत को केवल महाकाव्य कहने से काम नहीं चलेगा, वे इतिहास भी हैं। घटनावली का इतिहास नहीं, क्योंकि वैसा इतिहास समय-विशेष का सहारा लेता है, रामायण-महाभारत भारतवर्ष का चिरंतन इतिहास हैं। अन्य इतिहास युग-युग में कितने परिवर्तित हुए लेकिन इस इतिहास मे परिवर्तन नहीं हुआ। भारतवर्ष की जो साधना है संकल्प है, उन्हीं का इतिहास इन दो विराट् काव्य-सौधों में चिरंतन सिंहासन पर विराजमान है।

इसी कारण रामायण-महाभारत की समालोचना अन्य काव्यों की समालोचना के आदर्श से पृथक् है। राम का चरित्र ऊँचा है कि नीच, लक्ष्मण का चरित्र हमें अच्छा लगता है कि बुरा, यह आलोचना काफ़ी नहीं है। मौन होकर श्रद्धा के साथ विचार करना होगा कि समस्त भारतवर्ष ने हजारों साल से इन्हें किस प्रकार ग्रहण किया है।

रामायण में भारतवर्ष क्या कह रहा है, रामायण में भारतवर्ष किस आदर्श को महान् कहकर स्वीकार कर रहा है, यही वर्तमान क्षेत्र में हमारे विनयपूर्वक विचार करने का विषय है।

वीर रस-प्रधान काव्य को ही 'एपिक' कहते हैं, ऐसी ही साधारणजनों की धारणा है। उसका कारण यह है कि जिस देश में, जिस काल में वीर रस के गौरव को प्रधानता मिली है उस देश और उस काल में स्वभावतः एपिक वीर रस-प्रधान हो गया है। रामायण में भी युद्ध-व्यापार यथेष्ट है, राम का बाहुबल भी सामान्य नहीं है लेकिन तो भी रामायण में जिस रस को सबसे अधिक प्रधानता मिली है वह वीर रस नहीं है। उसमें बाहुबल का गौरव घोषित नहीं हुआ, युद्ध घटना ही उसके वर्णन का मुख्य विषय नहीं है।

यह काव्य देवता की अवतार-लीला को लेकर ही रचा गया हो, ऐसी बात भी नहीं है। कवि वाल्मीकि के निकट राम अवतार न थे, वे मनुष्य ही थे, पंडित लोग इसको प्रमाणित करेंगे।

इस भूमिका में पांडित्य के लिए स्थान नहीं है। यहाँ पर मैं संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि कवि ने रामायण में मनुष्य के चरित्र का वर्णन न करके देवता के चरित्र का वर्णन किया होता तो उससे रामायण का गौरव घटता और उसका काव्यांश भी उसी अनुपात में मति-ग्रस्त होता। राम का चरित्र मनुष्य का चरित्र होने के नाते ही महिमा से मंडित है।

आदि कांड के प्रथम सर्ग में वाल्मीकि ने जब अपने काव्य के उपयुक्त नायक की खोज करते हुए गुणों का उल्लेख करके नारद से पूछा—

समग्रा रूपिणी लक्ष्मीः कमेकं संश्रिता नरम्

किस एक नर का आश्रय लेकर समग्रा लक्ष्मी ने रूप ग्रहण किया है, तो नारद ने कहा—

देवेष्वपि पश्यमि कश्चिदेभिर्गुणैर्यतं
श्रूयतां तु गुणैरेभिर्नोयुक्तो नरचंद्रमाः।

'ऐसा गुण-युक्त पुरुष देवताओं में तो मुझे दिखाई नहीं पड़ता इसलिए जिन नर-चंद्रमा में ये सब गुण हैं, उनकी कथा सुनो!'

रामायण उसी नरचंद्रमा की कथा है, देवता की कथा नहीं। रामायण में देवता ने अपने को छोटा करके मनुष्य नहीं बनाया, मनुष्य ही अपने गुण से देवता हो उठा है।

मनुष्य के ही चरम आदर्श की स्थापना के लिए भारत के कवि ने महाकाव्य की रचना की है और उस दिन से लेकर आज तक मनुष्य के इस आदर्श चरित्र का वर्णन भारत का पाठक-समाज बड़े आग्रह के साथ पढ़ता आ रहा है।

रामायण की प्रधान विशेषता यह है कि उसने घर की बात को ही बड़ा करके दिखाया है। पिता-पुत्र मे, भाई-भाई में, पति-पत्नी में जो धर्म का बंधन है, जो प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध है, रामायण ने उसे इतना महान् कर दिया है कि वह अत्यन्त सहज रूप में महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है। देश-विजय, शत्रु-विनाश, दो प्रबल विरोधी पक्षों में प्रचण्ड आघात-प्रतिघात, यही सब बातें साधारणतः महाकाव्य में आंदोलन और उद्दीपन का संचार करती हैं। लेकिन रामायण की महिमा राम-रावण युद्ध को लेकर नहीं है, वह युद्ध-घटना भी राम और सीता के दाम्पत्य प्रेम को ही उज्ज्वल करके दिखलाने का निमित्त मात्र है। पिता के प्रति पुत्र का आज्ञा-पालन, भाई के लिए भाई का आत्म-त्याग, पति-पत्नी में एक-दूसरे के लिए निष्ठा और प्रजा के लिए राजा का कर्तव्य कितनी दूर तक जा सकता है, रामायण इसी चीज़ को दिखलाती है। इस प्रकार व्यक्ति-विशेष के प्रधानतया घर के सम्पर्कों को किसी देश के महाकाव्य में इस तरह वर्णनीय विषय नहीं समझा गया।

इससे केवल कवि का परिचय नहीं, भारतवर्ष का परिचय मिलता है। इससे समझ में आयेगा कि गृह और गृहधर्म को भारतवर्ष कितना महत्व देता है। हमारे देश में गृहस्थ-आश्रम का जो इतना ऊँचा स्थान था, इस काव्य में उसी को प्रमाणित किया गया है। गृहस्थाश्रम हमारे अपने सुख के लिए सुविधा के लिए न था, गृहस्थाश्रम पूरे समाज को समेटकर रखता था और मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता था। गृहस्थाश्रम भारतवर्षीय आर्य समाज की भित्ति है। रामायण उसी गृहस्थाश्रम का काव्य है। उसी गृहस्थाश्रम धर्म को ही रामायण ने प्रतिकूल स्थितियों में डालकर वनवास के कष्टों के बीच विशेष गौरव प्रदान किया है। कैकेयी और मंथरा के कुचक्र

के कठोर आघात से अयोध्या का राजगृह बिखर गया, तो भी रामायण ने इस गृहस्थ धर्म की दुर्भेद्य दृढ़ता घोषित की है। बाहुबल नहीं, विजय की इच्छा नहीं, राष्ट्र-गौरव नहीं, शांत रस में डूबे हुए गृहस्थ धर्म को ही रामायण ने करुणा के अश्रुजल से अभिषिक्त करके उसे महान् वीरता के ऊपर प्रतिष्ठित किया है।

श्रद्धाहीन पाठक कह सकते हैं कि ऐसी अवस्था में चरित्र-वर्णन अतिशयोक्ति का रूप ले लेता है।

यथायथ की सीमा कहाँ पर है और कल्पना की कौन-सी सीमा लाँघने पर काव्य-कला अतिशयता पर पहुँच जाती है, इसका समाधान एक शब्द में नहीं हो सकता। जिन विदेशी समालोचकों ने कहा है कि 'रामायण में चरित्र-वर्णन अतिप्राकृत हुआ है' उनसे मैं यही कहूँगा कि प्रकृति-भेद से जो चीज एक के लिए अतिप्राकृत है वही दूसरे के लिए प्राकृत है। भारतवर्ष रामायण में अतिप्राकृत की अतिशयता नहीं देखता।

जहाँ पर जो आदर्श प्रचलित होता है उसे बहुत पीछे छोड़ आने पर वहाँ के लोगों को वह ग्राह्य ही नहीं होता। अपने श्रुति-यंत्र में हम जितनी संख्या वाले शब्द-तरंग का आघात उपलब्ध कर पाते हैं उसकी सीमा है, उस सीमा के ऊपर के सप्तक पर सुर को चढ़ा दिया जाय तो हमारे कान उसे ग्रहण ही नहीं करते। काव्य मे चरित्र और भावों की उद्‌भावना के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है।

अगर यह सच हो तो यह बात हजारों बरस से प्रमाणित हो गयी है कि रामायण की कथा में भारतवर्ष रंच-मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं देखता। इस रामायण-कथा से भारतवर्ष के आबाल-वृद्ध-वनिता, ऊँच-नीच सब लोग शिक्षा पाते हैं और शिक्षा ही नहीं आनंद पाते हैं, वे उसको केवल शिरोधार्य नहीं करते, हृदय मे स्थान देते हैं, वह उनका कोरा धर्मशास्त्र नहीं है, काव्य है।

राम जो एक ही समय में हमारे निकट देवता भी हैं और मनुष्य भी, रामायण जो एक ही समय में हमारी भक्ति भी पाती है और प्रीति भी, यह कभी संभव न होता यदि इस महाग्रन्थ का कवित्व भारतवर्ष के लिए केवल सुदूर कल्पनालोक की सामग्री होता—यदि हम उसे अपनी संसार-सीमा के भीतर भी पकड़ न पाते होते।

ऐसे ग्रन्थ को अगर दूसरे देश के समालोचक अपने काव्य-विचार के आदर्श के अनुसार अस्वाभाविक कहे तो इससे उनके देश के साथ तुलना करने पर भारतवर्ष की और भी एक विशेषता प्रकट होती है। भारतवर्ष रामायण मे अपनी मनचाही चीज़ पाता है।

रामायण और महाभारत को भी मैं विशेषतः इसी रूप मे देखता हूँ। इसके सरल अनुष्टुप छंद में भारतवर्ष का हृदय-पिंड सहस्रों वर्षों से स्पंदित होता आ रहा है।

मित्रवर श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन महाशय ने जब मुझसे रामायण-चरित्र की अपनी इस समालोचना की एक भूमिका लिखने का अनुरोध किया तो मैं अपनी अस्वस्थता और अवकाशहीनता के बावजूद इन्कार न कर सका। कवि-कथा की आवृत्ति भक्त की भाषा में करके उन्होंने अपनी भक्ति को चरितार्थ किया है। ऐसी पूजा के आवेग से भरी हुई व्याख्या ही मेरे विचार में समालोचना है, इसी उपाय से एक हृदय की भक्ति दूसरे हृदय में संचरित होती है। हमारी आजकल की समालोचना मोल-भाव का दूसरा नाम है, क्योंकि साहित्य अब बाजार की चीज़ बन

गया है। बाद को कहीं ऐसा न लगे कि हम ठगे गये इसलिए सब लोग चतुराई से मोल-तोल करने वालों का पल्ला पकड़ने को उत्सुक हैं। इस प्रकार के मोल-तोल की उपयोगिता अवश्य है, लेकिन तो भी मैं कहूँगा कि यथार्थ समालोचना पूजा होती है, समालोचक पुजारी-पुरोहित होता है, उसका काम बस इतना है कि वह अपने या सर्वसाधारण के भक्ति-विगलित विस्मय को वाणी देता है।

भक्त दिनेशचंद्र ने उसी पूजा-मंदिर के आँगन में खड़े होकर आरती शुरू की है। मुझको अचानक उन्होंने घण्टा हिलाने का भार दिया। एक किनारे खड़ा होकर मैं यही कर रहा हूँ। आडंबर चढ़ाकर उसकी पूजा को ढक लेने में मुझे संकोच होता है, मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि पाठकगण वाल्मीकि की रामचरित्र-कथा को केवल कवि के काव्य के रूप में न देखें, उसे भारतवर्ष की रामायण समझें। तब वे सच्चे अर्थों में रामायण द्वारा भारतवर्ष को और भारतवर्ष द्वारा रामायण को समझ सकेंगे। इस बात को याद रखें कि भारतवर्ष ने कोई ऐतिहासिक गौरव-कथा नहीं बल्कि परिपूर्ण मानव का आदर्श चरित्र सुनना चाहा था और आज तक वही सुनता आ रहा है, उसी अश्रांत आनंद से। यह उसने कभी नहीं कहा कि बात को बहुत बढ़ाकर कहा गया है और न यही कहा कि यह तो केवल काव्य-कथा है। भारतवासी के लिए उसके अपने घर के लोग इतने सत्य नहीं हैं जितने कि राम, लक्ष्मण, सीता उसके लिए सत्य हैं।

परिपूर्णता के प्रति भारतवर्ष की एक हार्दिक आकांक्षा रही है । इसीसे वह उसे यथार्थ सत्य से परे समझकर उसकी अवज्ञा नहीं करता, उसका अविश्वास नहीं करता। इसको भी वह यथार्थ सत्य के रूप में स्वीकार कर लेता है और इसी में उसे आनंद मिलता है। इसी परिपूर्णता की आकांक्षा को जगाकर और तृप्त करके रामायण के कवि ने भारतवर्ष के भक्त हृदय को सदा-सदा के लिए खरीद लिया है।

जो जाति खण्ड-सत्य को प्रधानता देती है, जो लोग यथार्थ का अनुसरण करने से नहीं थकते, जो लोग काव्य को प्रकृति का दर्पण-मात्र कहते हैं, उन्होंने संसार में बहुत-से काम किये हैं वे विशेष रूप में विशेष प्रकार से कृतार्थ हुए हैं, मानव-जाति उनके प्रति ऋणी है । दूसरी ओर जो लोग कहते हैं 'भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः' जो परिपूर्ण परिणति में समस्त खंडता की सुषमा, समस्त विरोधों की शांति पाने के लिए साधना करते रहे हैं—उनका ऋण भी कभी चुकाया न जा सकेगा। उनका परिचय लुप्त होने पर, उनका उपदेश विस्मृत हो जाने पर मानव-सभ्यता अपने धूल और धुँए से भरे हुए कारखाने की जनता के बीच निःश्वास-कलुषित, घुटे हुए आकाश में पल-पल पर पीड़ित होकर, दुर्बल होकर मरती रहेगी। रामायण उसी अखंड अमृत-पिपासुओं का शाश्वत परिचय सहन कर रहा है। इसमें जो भाई-भाई का स्नेह, जो सत्यपरता, जो पातिव्रत, जो प्रभु-भक्ति वर्णित हुई है उसके प्रति यदि हम सरल श्रद्धा और हृदय की भक्ति बनाये रख सकें तो हमारे कारखाने के झरोखे से महासमुद्र की निर्मल वायु भीतर आ सकेगी।

•

[जनवरी १९०४ (पौष १३१०) में 'बंग दर्शन' में प्रकाशित। डॉ. दिनेशचन्द्रसेन की 'रामायण-कथा, की भूमिका रूप में लिखित ।]

•

१२

शकुन्तला

शैक्सपियर के 'टैम्पेस्ट' नाटक के साथ कालिदास की 'शकुन्तला' की तुलना मन में सहज ही उठ सकती है। इनका बाह्य सादृश्य और आंतरिक विभिन्नता ध्यानपूर्वक विचार करने की चीज है।

निर्जनलालिता मिरांडा. के साथ राजकुमार फर्दीनंद का प्रणय तापसकुमारी शकुन्तला के साथ दुष्यंत के प्रणय के अनुरूप है। घटनास्थल में भी सादृश्य है, एक ओर समुद्र से घिरा हुआ द्वीप है और दूसरी ओर तपोवन।

इस प्रकार दोनों के आख्यान के मूल में साम्य दिखाई पड़ता है लेकिन काव्य-रस का स्वाद बिलकुल विभिन्न है, यह पढ़कर ही अनुभव कर पाता हूँ।

यूरोप के कविकुलगुरु गेटे ने मात्र एक श्लोक में शकुन्तला की समालोचना लिखी है; उन्होंने काव्य को खण्ड-खण्ड विच्छिन्न नहीं किया। उनका श्लोक दीये की बत्ती की लौ-जैसा छोटा है लेकिन वह दीपशिखा के समान ही समग्र शकुन्तला को एक क्षण में उद्‌भासित करके दिखा देता है। उन्होंने वह एक बात यह कही थी कि अगर कोई तरुणाई का फूल और प्रौढ़ावस्था का फल, स्वर्ग और मर्त्य, दोनों को एक साथ देखना चाहे तो उसे शकुन्तला में यह चीज़ मिलेगी।

बहुत-से लोग इसे कवि का उच्छ्‌वास-मात्र समझकर किंचित् उपेक्षा से उसे पढ़ते हैं। मोटे रूप में वे यह समझते हैं कि इसका मतलब है गेटे के मतानुसार शकुन्तला काव्य बहुत उपादेय है, लेकिन ऐसी बात नहीं। गेटे का यह श्लोक आनंद की अत्युक्ति नहीं, रसज्ञ का विचार है। इसमें एक विशेषता है। कवि ने विशेष रूप से कहा है कि शकुन्तला में एक गहरी परिणति का भाव है, फूल की फल में परिणति, मर्त्य की स्वर्ग में परिणति, स्वभाव की धर्म में परिणति। 'मेघदूत' में जिस प्रकार पूर्व-मेघ और उत्तर-मेघ हैं—पूर्व-मेघ में पृथ्वी के चित्र-विचित्र सौन्दर्य का पर्यटन करके उत्तर-मेघ में अलकापुरी के सनातन सौन्दर्य में पहुँचा जाता है—उसी प्रकार शकुन्तला में एक पूर्व-मिलन है और एक उत्तर-मिलन। प्रथम अंक के उसी मर्त्य लोक के चंचल सौन्दर्यमय रंग-भरे पूर्व-मिलन से स्वर्गतपोवन में शाश्वत आनंदमय उत्तर-मिलन तक की यात्रा ही 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक है। यह केवल किसी विशेष भाव की अवतारणा नहीं है, किसी विशेष चरित्र का विकास नहीं है, यह समस्त काव्य को एक लोक से दूसरे लोक में ले जाना है—प्रेम को स्वभाव-सौन्दर्य के देश से मंगल-सौन्दर्य के अक्षय स्वर्गधाम में पहुँचा देना है। मैंने इस प्रसंग के बारे में अपने एक अन्य निबंध में विस्तार से विचार किया है, अतः यहाँ पर उसकी पुनरुक्ति नहीं करना चाहता।

स्वर्ग और मर्त्य का यह जो मिलन है, कालिदास ने अत्यंत सहज भाव से उसे कर दिखाया

है। फूल को उन्होंने इतने स्वाभाविक ढंग से फल के रूप में फला दिया है, मर्त्य की सीमा को उन्होंने इस तरह स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि बीचे में कोई व्यवधान किसी को नहीं दिखाई पड़ता। प्रथम अंक में शकुन्तला के पतन में कवि ने मर्त्य लोक की मिट्टी की कोई चीज़ गुप्त नहीं रखी। उनमें वासना का प्रभाव कहाँ तक है इसको कवि ने दुष्यंत और शकुन्तला दोनों के व्यवहार में स्पष्ट रूप से दिखा दिया है। जवानी के पागलपन का हाव-भाव, लीला-चांचल्य, परम लज्जा के साथ प्रबल आत्म-अभिव्यक्ति का संघर्ष सब-कुछ कवि ने व्यक्त किया है। यह शकुन्तला की सरलता का निदर्शन है। अनुकूल अवसर पर इस भावावेश के आकस्मिक आविर्भाव के लिए वह पहले से प्रस्तुत न थी। उसने अपने दमन का, गोपन का उपाय नहीं कर रखा था। जो हिरनी व्याघ्र को नहीं पहचानती उसको तीर लगते क्या देर लगती है? शकुन्तला पंचशर को ठीक से पहचानती न थी, इसीलिए उसका मर्मस्थान अरक्षित था। वह न तो कंदर्प का अविश्वास करती थी और न दुष्यंत का। जिस प्रकार उस अरण्य में, जहाँ सदा ही शिकार होता रहता है, शिकारी को अपने-आपको और भी अधिक छिपाना पड़ता है, उसी प्रकार जिस समाज में स्त्री-पुरुष का सदा सहज रूप से मिलन होता रहता है वहाँ पर मीनकेतु को बहुत सावधानी से अपने-आपको छिपाकर काम करना पड़ता है। तपोवन की हिरनी जिस प्रकार अशंकित होती है, तपोवन की बालिका भी वैसी ही असतर्क है।

शकुन्तला का पतन जिस प्रकार अति सहज रूप में चित्रित हुआ है उसी प्रकार उस पतन के बावजूद उसके चरित्र की और भी गहरी पवित्रता, उसका स्वाभाविक अक्षुण्ण सतीत्व अत्यंत अनायास रूप में खिल उठा है। यह भी उसकी सरलता का परिचायक है। कमरे के अन्दर जो कृत्रिम फूल सजाकर रखा जाता है उसकी धूल रोज़ न झाड़ने से काम नहीं चलता। लेकिन जंगल के फूल की धूल झाड़ने के लिए आदमी नहीं रखना पड़ता—वह अनावृत रहता है, उसके शरीर मे धूल भी लगती है तो भी न जाने कैसे वह सहज ही अपनी सुन्दर निर्मलता को बचाये हुए चलता है। शकुन्तला को भी धूल लगी थी लेकिन यह वह स्वयं भी न जान पायी, वह जंगल की सरल मृगी के समान, निर्झर की जल-धारा के समान मलिनता के संस्पर्श में भी अनायास ही निर्मल है।

कालिदास ने अपनी इस आश्रम में पली हुई अंकुरितयौवना शकुन्तला को संशय-रहित स्वभाव के पथ पर छोड़ दिया है, आख़िर तक कहीं कोई बाधा उसके रास्ते मे नहीं खड़ी थी। दूसरी ओर उन्होंने उसको लाजवंती दु:खशीला नियमचारिणी सती-धर्म की आदर्शरूपिणी के रूप मे प्रस्फुटित किया है। एक ओर वह तरु-लता-फल-पुष्प के समान आत्मविस्मृत है, स्वभाव-धर्म की अनुगता है और दूसरी ओर उसकी आंतरिक नारी-प्रकृति संयत है, सहिष्णु है, वह एकाग्र तपः परायणा है, कल्याण-धर्म के शासन से पूरी तरह नियंत्रित है। कालिदास ने अपूर्व कौशल से अपनी नायिका को चपला और धैर्य के, स्वभाव और नियम के, नदी और समुद्र के ठीक मुहाने पर स्थापित करके दिखाया है। उसका पिता ऋषि है, उसकी माता अप्सरा, उसका जन्म व्रतभंग में हुआ, लालन-पालन तपोवन में। तपोवन ऐसा स्थान है जहाँ स्वभाव और तपस्या, सौन्दर्य और संयम एक जगह मिले हुए रहते हैं। वहाँ पर समाज का कृत्रिम विधान नहीं होता लेकिन तो भी धर्म का कठोर नियम विराजमान रहता है। गान्धर्व विवाह भी ऐसी ही चीज़ है—उसमें स्वभाव की उद्दामता भी है लेकिन साथ ही विवाह का सामाजिक बन्धन भी है। बन्धन और अबन्धन के

संगम पर स्थापित होकर ही शकुन्तला नाटक ने एक विशेष सौन्दर्य प्राप्त किया है। उनका सुख-दुःख, मिलन-वियोग सब-कुछ उन्हीं दोनों के आघात-प्रतिघात से होता है। शकुन्तला में दो विपरीत तत्त्वों के एकत्र समावेश की घोषणा गेटे ने अपनी समालोचना में क्यों की है, यह गहराई से देखने पर ही समझ में आता है।

'टैम्पेस्ट' में यह भाव नहीं है। रहे भी क्यों? शकुन्तला भी सुन्दरी है, मिरांडा भी सुन्दरी है, क्या इसीलिए दोनों की आँख-नाक में अविकल सादृश्य की आशा का जा सकती है? दोनों में अवस्था का, घटना का, प्रकृति का सम्पूर्ण अन्तर है। मिरांडा बचपन से जिस निर्जनता में पली थी, शकुन्तला के लिए वह निर्जनता न थी। मिरांडा एक-मात्र पिता के साहचर्य में बड़ी हुई है इसीलिए उसकी प्रकृति को स्वाभाविक रूप से विकसित होने का अवसर नहीं मिला। शकुन्तला समानवयसी सखियों के साथ बड़ी हुई है; पारस्परिक उत्ताप अनुकरण, भारों के आदान-प्रदान, हास-परिहास, बातचीत में उनका स्वाभाविक विकास हो रहा था। शकुन्तला यदि निरंतर कण्व मुनि के ही साथ रहती तो उसके विकास में बाधा होती, तब उसकी सरलता अज्ञता की पर्यायवाची होती और वह स्त्री-ऋष्यश्रृंग बन गयी होती। वस्तुतः शकुन्तला की सरलता स्वभावगत है और मिरांदा की सरलता बहिर्घटनागत। दोनों की स्थितियों में जो अन्तर है उसमें यही बात संगम थी। मिरांदा के समान शकुन्तला की सरलता अज्ञान द्वारा चारों ओर से सुरक्षित नहीं है। शकुन्तला का यौवन अभी हाल ही में विकसित हुआ है और उसकी छेड़-छाड़ करने वाली सखियाँ इस सम्बन्ध मे उसे भूला नहीं रहने देतीं, यह हमे पहले अंक में ही देखने को मिलता है। उसने लज्जा करना भी सीख लिया है। लेकिन यह सब बाहर की चीज़ें हैं। उसकी सरलता ज़्यादा गहरी है, उसकी पवित्रता अधिक आंतरिक है। कवि ने अंत तक दिखलाया है कि बाहर की कोई अभिज्ञता उसका स्पर्श नहीं कर पाती। शकुन्तला की सरलता आभ्यंतरिक है। यह नहीं कि वह दुनिया की कोई बात नहीं जानती, इसलिए कि तपोवन समाज से एकदम बाहर नहीं है, तपोवन में भी गृहस्थ धर्म का पालन होता था। बाहर के संबंध में शकुन्तला अनभिज्ञ अवश्य है, पर अज्ञ नहीं। लेकिन उसके हृदय मे विश्वास का सिंहासन है। उसी विश्वासनिष्ठ सरलता ने थोड़ी देर के लिए उसे पतित कर दिया है लेकिन हमेशा के लिए उसका उद्धार भी कर दिया है, दारुण-से-दारुण विश्वासघात के आघात में भी उसे धैर्य, क्षमा, कल्याण पर स्थित रखा है। मिरांडा की सरलता की अग्निपरीक्षा नहीं हुई, संसार-ज्ञान का आघात उसे नहीं लगा—हमने उसको केवल पहली अवस्था में देखा है, शकुन्तला को कवि ने पहली से लेकर अन्तिम अवस्था तक दिखलाया है।

ऐसे स्थान पर तुलनात्मक समालोचना व्यर्थ हो जाती है, हम भी इस बात को स्वीकार करते हैं। इन दोनों काव्यों को पास-पास रखने पर दोनों के साम्य की अपेक्षा उनका अन्तर और भी ज्यादा प्रकट हो जाता है। इस अंतर की विवेचना भी दोनों नाटकों को अच्छी तरह समझने में सहायक हो सकती है। हमने इसी आशा से इस निबन्ध को उठाया है।

मिरांडा को हम तरंगघातमुखर, ऊँचे-नीचे निर्जन द्वीप में देखते हैं लेकिन उस द्वीप-प्रकृति के साथ उसकी कोई घनिष्ठता नहीं है। जिस भूमि ने बचपन से उसको पाला है उस भूमि से उसको अलग करने पर किसी जगह उसको कोई तनाव अनुभव न होगा। वहाँ पर मिरांडा को आदमियों का साथ नहीं मिलता, यह अभाव ही केवल उसके चरित्र में प्रतिफलित हुआ है, लेकिन

वहाँ के समुद्र-पर्वत के साथ उसके अन्तःकरण का कोई भावात्मक योग हम नहीं देख पाते। निर्जन द्वीप को हम कवि के वर्णन में ही देखते हैं, मिरांडा के भीतर से नहीं देखते। यह द्वीप केवल काव्य के आख्यान के लिए आवश्यक है, चरित्र के लिए बहुत आवश्यक नहीं है।

शकुन्तला के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। शकुन्तला तपोवन का अंग है। तपोवन को दूर रखने से केवल नाटक के आख्यान को व्याघात नहीं पहुँचता, स्वयं शकुन्तला ही अपूर्ण हो जाती है। शकुन्तला मिरांडा के समान सबसे पृथक् नहीं है, वह अपने चारों ओर के परिवेश के साथ एकात्म भाव से जुड़ी हुई है। उसका मधुर चरित्र अरण्य की छाया और माधवीलता की पुष्पमंजरी के साथ व्याप्त और विकसित हुआ है, पशु-पक्षियों की सच्ची मैत्री के साथ गहरे ढंग से बँधा हुआ है। कालिदास अपने नाटक में जिस बाहरी प्रकृति का वर्णन करते हैं, उसे बाहर नहीं छोड़ देते, शकुन्तला के चरित्र में उसे प्रस्फुटित करते हैं। इसीलिए मैं कह रहा था कि शकुन्तला को उसके काव्यगत परिवेश से बाहर ले आना कठिन है।

फर्दीनन्द के साथ प्रणय-व्यापार में ही मिरांडा का प्रधान परिचय मिलता है और तूफान के समय टूटी हुई नाव के अभागों के लिए उसकी व्याकुलता में ही उसके व्यथित हृदय की करुणा व्यक्त होती है। शकुन्तला का परिचय इससे कहीं ज्यादा व्यापक है। दुष्यंत के दिखायी पड़ने के बहुत पहले ही उसका माधुर्य अनेक प्रकार से व्यक्त हो उठता था। उसकी हृदय-लतिका चेतन-अचेतन सबको स्नेह के ललित बन्धन से बड़े सुन्दर ढंग से बाँधती है। वह तपोवन के पेड़-पौधों को पानी देने के साथ-साथ बहन का स्नेह भी देती है। वह नवकुसुम यौवन जंगल की चाँदनी को स्नेह-भरी आँखों से अपने कोमल हृदय में ग्रहण करती है। शकुन्तला जब तपोवन छोड़कर अपने पति के घर जा रही है तब पग-पग पर उसे पीछे से कोई चीज खींचती है, पग-पग पर उसे वेदना होती है। वन से मनुष्य का वियोग इतना मर्मांतक और करुण हो सकता है यह चीज संसार के समस्त साहित्य मे केवल 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के चतुर्थ अंक में दिखायी पड़ती है। इस काव्य में जिस प्रकार स्वभाव और धर्म-नियम का मिलन होता है उसी प्रकार मनुष्य और प्रकृति का मिलन होता है। मैं सोचता हूँ कि वि-सदृशों में ऐसा एकांत मिलन का भाव भारतवर्ष को छोड़कर और किसी देश में सम्भव नहीं हो सकता।

'टैम्पेस्ट' में बाह्य प्रकृति ने एरियल के रूप में मनुष्य का आकार धारण किया है लेकिन तो भी वह मनुष्य की आत्मीयता से दूर ही रहता है। मनुष्य के साथ उसका सम्बन्ध अनिच्छुक सेवक का है। वह स्वाधीन होना चाहता है। लेकिन मानव-शक्ति द्वारा पीड़ित और आबद्ध होकर दास के समान रहता है। उसके हृदय में स्नेह नहीं है, आँख में आँसू नहीं हैं। मिरांडा का नारी-हृदय भी उसको स्नेह नहीं दे पाता। द्वीप से यात्रा करने के समय प्रासपेरो और मिरांडा के साथ एरियल की स्नेह-भरी विदाई की बातें नहीं होतीं। 'टैम्पेस्ट' में उत्पीड़न है, शासन है, दमन है शकुन्तला में प्रीति हैं, शांति है, सद्‌भाव है। 'टैम्पेस्ट' में प्रकृति मनुष्य का रूप धरकर भी उसके साथ हृदय के सम्बन्ध में बँध नहीं पाती, शकुन्तला में पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आत्म-भाव की रक्षा करते हुए भी मनुष्य के साथ मधुर आत्मीयता के सम्बन्ध में बँध गये हैं।

'शकुन्तला' के आरम्भ में ही जब धनुर्वाणधारी राजा के सामने यह करुण निषेध-वाणी गूँजी, ' भो-भो राजन् आश्रम मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः' तब काव्य का एक मूल स्वर बज

उठा। यह निषेध आश्रम-मृग के साथ-साथ तापस कुमारी शकुन्तला को भी करुणा के आच्छादन से ढक लेता है। ऋषि कहते हैं—

मृदु ए मृगदेहे ऐसे ना-शर।
आबुन देवे के है, फूलेर' पर!
कोथा हो महाराज, मृगेर प्राण !
कोथायै जेनो बाज तोमार बाण !

यह बात शकुन्तला पर भी ठीक उतरती है। शकुन्तला के प्रति भी राजा का प्रणय-शर-निक्षेप दारुण है ! प्रणय-व्यवसाय में राजा पक्का और कठिन खिलाड़ी है—कितना कठिन इसका परिचय अन्यत्र मिलता है—और इस आश्रम की पली हुई बालिका और अनभिज्ञता और सरलता बड़ी ही सुकुमार और करुण है। हाय, जिस प्रकार मृग कातर वाक्य द्वारा रक्षणीय है उसी प्रकार शकुन्तला भी है। 'द्वौ अपि अत्र आरण्यकौ'।

मृग के प्रति इस करुण वाक्य की प्रतिध्वनि मिटते-न-मिटते हम देखते हैं कि वल्कलवसना तापस-कन्या सखियों के साथ थालों में पानी भरने में लगी है, अपने तरु-भाई और लता-बहनों के बीच अपनी रोज की स्नेह-सेवा में लगी है। केवल वल्कलवसन में ही नहीं, भाव-भंगी मे भी शकुन्तला जैसे उन तरु-लताओं में से ही एक हो। इसी से दुष्यंत कहते हैं—

अधर किसलय-राँगिमा-आँका,
युगल बाहु जेन कोमल शाखा,
हृदयलोभनीय कुसुम-हेन,
तनुते यौवन फूटे छे जेन!

नाटक के आरम्भ में ही शांति-सौन्दर्य-संवलित ऐसा एक सम्पूर्ण जीवन निभृत पुष्प-पल्लवों के बीच दैनंदिन आश्रम-धर्म, अतिथि-सेवा, सखी-स्नेह और विश्ववात्सल्य को लिये हुए हमारे सामने दिखायी पड़ा। वह ऐसा अखण्ड है, ऐसा आनन्ददायक है कि हमको बस यही आशंका होती है, कहीं ऐसा न हो कि पीछे चोट लगने पर यह टूट जाय। दोनों बाँहें उठाकर दुष्यंत को रोकते हुए कहने की इच्छा होती है, तीर मत मारना, मत मारना—यह परिपूर्ण सौन्दर्य चूर मत कर देना !

जब देखते-देखते दुष्यंत-शकुन्तला का प्रणय प्रगाढ़ हो उठता है तब प्रथम अंक के अन्त में नेपथ्य में अकस्मात् आर्त्त स्वर उठता है, 'भो भो तपस्विगण, तुम लोग तपोवन के प्राणियों की रक्षा के लिए सतर्क रहो। मृगया-विहारी राजा दुष्यंत अब आया ही चाहते हैं !'

यह समूची तपोवन-भूमि का क्रन्दन है और उन तपोवन-प्राणियों में एक शकुन्तला भी है। लेकिन कोई उसकी रक्षा न कर सका।

उसी तपोवन से जब शकुन्तला जा रही है तब कण्व ने पुकारकर कहा, 'सन्निहित तपोवन तरुगण—

तोमादेर जल ना करि दान
जे आगे ना करित पान,
साथ छिलो जार साजिते तबु

स्नेहे पाताटि ना छिंड़ित कभु,
तोमादेर फुल फुटित जबे
जे जन मातित महोत्सवे,
पतिगृहे सेइ बालिका जाय,
तुमरा सकले देह विदाय!

चेतन-अचेतन सबके साथ ऐसी अन्तरंग आत्मीयता, ऐसा स्नेह और कल्याण का बंधन।

शकुन्तला ने कहा, 'हला प्रियम्वदे, आर्यपुत्र को देखने के लिए मेरा प्राण आकुल है तो भी आश्रम छोड़कर जाने के लिए मेरे पैर जैसे उठते ही नहीं।'

प्रियम्वदा ने कहा, 'केवल तुम्हीं तपोवन के विरह से कातर नहीं हो, तुम्हारे आसन्न वियोग में तपोवन की भी यही दशा है—

मृगेर गलि पड़े मुखेर तृण,
मयूर नाचे ना जे आर,
खसिया पड़े पाता लतिका हते
जेन से आँखि जलधार।

शकुन्तला ने कण्व से कहा, 'तात, यह जो कुटिया के किनारे विचरती हुई गर्भमंथरा मृग-वधू है, जब निर्विघ्न प्रसव करे तो यह प्रिय संवाद मुझ तक पहुँचाने के लिए तुम मेरे पास एक आदमी भेज देना !''

कण्व ने कहा, 'हरगिज न भूलूँगा।'

शकुन्तला ने पीछे से किसी के रोकने पर कहा, 'यह कौन मेरा कपड़ा पकड़ कर खींच रहा है।'

कण्व ने कहा,''वत्से,—

इंगुदिर तैल दिते स्नेह सहकारे
कुशक्षत हले मुख यार,
श्यामाधान्यमुष्टि दिये पालियाछ जारे
एक मृग पुत्र से तोमार।

शकुन्तला ने उससे कहा, 'और छौने, तू अब क्यों मुझ सहवास परित्यक्तांगिनी के पीछे-पीछे आ रहा है ! तुझे जनते ही जब तेरी माँ मर गयी थी तब से मैंने ही तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया है। मैं अब चली, तात मुझे देखेंगे, तू लौट जा !'

इस प्रकार सब तरु-लता मृग-पक्षियों से विदा लेकर रोते-रोते शकुन्तला तपोवन से चली गयी।

लता के साथ फूल का जैसा सम्बन्ध होता है तपोवन के साथ शकुन्तला का भी वैसा ही सम्बन्ध है।

'टैम्पेस्ट' नाटक का नाम जैसा है उसके भीतरी व्यापार भी वैसे ही हैं। मनुष्य और प्रकृति में विरोध, मनुष्य और मनुष्य में विरोध— और उस विरोध के मूल में क्षमता-लाभ का प्रयास। इसका तो आरम्भ ही विक्षोभ से होता है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में जिस प्रकार अनुसूया, प्रियम्वदा, कण्व, दुष्यंत हैं उसी प्रकार तपोवन की प्रकृति भी एक विशेष पात्र है। उस मूक प्रकृति को किसी नाटक में ऐसा प्रधान और ऐसा आवश्यक स्थान दिया जा सकता है यह मैं समझता हूँ कि संस्कृत-साहित्य को छोड़कर ओर कहीं दिखायी नहीं पड़ता। प्रकृति को मनुष्य का रूप देकर, उसके मुँह में बातचीत डालकर नाट्य-रूपक की रचना हो सकती है, लेकिन प्रकृति को प्रकृत बनाये रखकर उसे ऐसा सजीव, ऐसा प्रत्यक्ष, ऐसा व्यापक, ऐसा अंतरंग बना देना, उसके द्वारा नाटक में ऐसे काम करा लेना यह तो और कहीं मेरे देखने में नहीं आया। जहाँ पर बाह्य प्रकृति को दूर करके अलग करके सोचा जाता है—जहाँ पर मनुष्य अपने चारों ओर दीवार उठाकर संसार में सब जगह केवल व्यवधान की रचना करता रहता है वहाँ के साहित्य में इस प्रकार की सृष्टि सम्भव नहीं।

'उत्तररामचरित' में भी प्रकृति के साथ मनुष्य का आत्मीयवत् सौहार्द इसी प्रकार व्यक्त हुआ है। राजमहल में रहते हुए भी सीता का प्राण उसी जंगल के लिए रो रहा है। वहाँ तमसा नदी और वसंत-वन-लक्ष्मी उनकी प्रिय सखियाँ हैं, वहाँ मोर और हाथी के बच्चे उनके दत्तक पुत्र हैं और तरु-लताएँ उनका परिजन वर्ग है।

'टैम्पेस्ट' नाटक में मनुष्य अपने को मंगल भाव से प्रीतिपूर्वक विश्व में प्रसारित करके बड़ा नहीं होता, विश्व को छोटा करके, उसका दमन करके स्वयं अधिपति होना चाहता है। वस्तुतः आधिपत्य को लेकर द्वंद्व विरोध और प्रयास ही 'टैम्पेस्ट' का मूल भाव है। उसमें 'प्रास्पेरो' स्वराज्य का अधिकार छिन जाने पर मन्त्र-बल से प्रकृति-राज्य पर अपना कठोर आधिपत्य फैलाता है। उसमें जो थोड़े-से प्राणी आसन्न मृत्यु के हाथों से किसी प्रकार बचकर किनारे पहुँचते हैं उनमें भी इसी शून्य प्रायद्वीप के भीतर आधिपत्य को लेकर षड्यंत्र, विश्वासघात और गुप्त हत्या की चेष्टा होती है। परिणामतः उनकी निवृत्ति तो हुई लेकिन समाप्ति भी हुई, यह बात नहीं कह सकता। दानव-प्रकृति भय से, शासन से और अवसर के अभाव से पीड़ित केलिवन के समान मौन-स्तब्ध रही आयी, लेकिन उसके दाँतों में, नखों में विष बाक़ी रह गया। जिसकी जो प्राप्य सम्पत्ति थी वह उसे मिली। पर सम्पत्ति-लाभ तो बाह्य लाभ है, तह विषयी समुदाय का लक्ष्य हो सकता है पर काव्य का चरम परिणाम तो नहीं है।

'टैम्पेस्ट' नाटक का नाम जैसा है उसके भीतरी व्यापार भी वैसे ही हैं। मनुष्य और प्रकृति में विरोध, मनुष्य और मनुष्य में विरोध—और उस विरोध के मूल में क्षमता-लाभ का प्रयास। इसका तो आरम्भ ही विक्षोभ से होता है।

मनुष्य की अदम्य प्रवृत्ति इसी प्रकार तूफ़ान उठाती रहती है। इन सब प्रवृत्तियों को हिंस्त्र पशु के समान शासन, दमन, उत्पीड़न द्वारा संयत भी रखना पड़ता है। लेकिन इस प्रकार शक्ति द्वारा शक्ति की रोक-थाम, यह तो केवल परिस्थिति के अनुसार काम चलाने की एक प्रणाली है। हमारी आध्यात्मिक प्रकृति इसको परिणाम के रूप में स्वीकार नहीं कर पाती; सौन्दर्य के द्वारा, प्रेम के द्वारा, मंगल के द्वारा, पाप भीतर से बिलकुल विलुप्त-विलीन हो जायगा, यही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की आकांक्षा है। संसार में सहस्त्र बाधा है--व्यतिक्रम होते हुए भी इसके प्रति मानव-हृदय का एक लक्ष्य रहता है। साहित्य उसी लक्ष्य-साधन के निगूढ़ प्रयास को व्यक्त करता रहता है। वह अच्छे को सुन्दर, श्रेय को प्रिय और पुण्य को हृदय का धन बना देता है। फलाफल-निर्णय और विभीषिका द्वारा हमको कल्याण-पथ पर लगाये रखना बाहर का काम

है—वह दण्डनीति और धर्मनीति का विषय हो सकता है—पर उच्च साहित्य अंतरात्मा के भीतर का रास्ता ही पकड़ना चाहता है। वह स्वभाव-निःसृत अश्रुजल से कलंक को धोता है, आंतरिक घृणा से पाप को जलाता है और सहज आनंद से पुण्य की अभ्यर्थना करता है।

कालिदास ने भी अपने नाटक में कठोर प्रवृत्ति के दावानल को अनुतप्त चित्त के आँसुओं की वर्षा से बुझाया है। लेकिन उन्होंने व्याधि को लेकर बहुत अधिक विवेचना नहीं की, उन्होंने अपना आभास दिया है और देकर उस पर पर्दा खींच दिया है। संसार में ऐसे स्थल पर जो बात स्वभावतः हो सकती थी उसको उन्होंने दुर्वासा के शाप द्वारा होते दिखलाया है। ऐसा न किया होता तो यह चीज़ इतनी निष्ठुर और क्षोभजनक हो जाती कि उससे पूरे नाटक की पूरी शांति और सामंजस्य भंग हो जाता। 'शकुन्तला' में कालिदास ने जिस रस को अपना लक्ष्य बनाया है, उसकी रक्षा ऐसी प्रबल हलचल में न हो पाती। दुःख-वेदना को उन्होंने बराबर ही रखा है केवल वीभत्स कदर्यता को कवि ने ढक दिया है।

लेकिन कालिदास ने उस आवरण में इतना-सा एक छंद रहने दिया है जिससे पाप का आभास मिलता है। अब उसी बात को उठाता हूँ।

पंचम अंक में शकुन्तला का प्रत्याख्यान होता है। उस अंक के आरम्भ में ही कवि ने राजा की प्रणय-रंगभूमि की यवनिका थोड़ी देर के लिए ज़रा-सी सरका दी है। राजप्रेयसी हंसपादिका नेपथ्य में संगीतशाला में अकेली बैठी गा रही है—

नवमधुलोभी ओगो मधुकर,
चूतमंजरि चुमि
कमलनिवासे से प्रीति पेयेछ
केमने भुलिले तुमि!

राजा के अंतःपुर से आने वाला व्यथित हृदय का यह अश्रुसिक्त गान हमारे मन पर बड़ा आघात करता है। विशेष आघात इसलिए करता है कि उसके पहले ही शकुन्तला के साथ दुष्यंत की प्रेमलीला हमारे चित्त पर अधिकार कर चुकी रहती है। इससे पहले वाले अंक में ही शकुन्तला ऋषिवृद्ध कण्व का आशीर्वाद और अरण्य के सब प्राणियों और वनस्पतियों का मंगलाचरण ग्रहण करके बहुत ही स्निग्ध-करुण, बहुत ही पवित्र-मधुर भाव से पति के गृह की ओर यात्रा करती है। उसके लिए जिस प्रेम और जिस गृह का चित्र हमारे आशा-पटल पर अंकित हो उठता है परवर्ती अंक के आरम्भ में ही उस चित्र पर दाग़ लग जाता है।

विदूषक ने जब पूछा, 'इस गाने का अक्षरार्थ तुमने समझा क्या?' तो राजा ने हल्के से मुस्कराकर उत्तर दिया, 'सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः—हम केवल एक बार प्रणय करके छोड़ देते हैं, इसीलिए देवी वसुमति को लेकर हम इनकी प्रबल भर्त्सना के भागी बने हैं। सखे माधव्य, तुम मेरा नाम लेकर हंसपदिका से कहो कि तुमने बड़े निपुण ढंग से मेरी भर्त्सना की है...जाओ, चतुर नागर-वृत्ति से यह बात उनसे कहो!'

पंचम अंक के प्रारम्भ में राजा के चपल प्रणय का यह परिचय निरर्थक नहीं। इसके द्वारा कवि ने निपुण कौशल से दिखलाया है कि जो चीज़ दुर्वासा के शाप से घटित हुई थी उसका बीज स्वभाव में था। काव्य की दृष्टि से जिसको आकस्मिक बनाकर दिखाया गया है वह प्राकृतिक है।

चतुर्थ अंक से पंचम अंक में आते ही हम सहसा कुछ दूसरे ही वायुमंडल में पहुँच जाते

हैं। अब तक हम जैसे एक मानस-लोक में थे, वहाँ के नियम यहाँ के नियम नहीं हैं। उस तपोवन का सुर यहाँ के सुर से कैसे मेल खायगा ! वहाँ पर जो बात बड़े सहज-सुन्दर ढंग से अनायास हुई थी यहाँ पर उसकी क्या दशा होगी, यह सोचकर ही मन में आशंका जागती है। इसी से पंचम अंक के आरम्भ में ही जब हम देखते हैं कि नागर-वृत्ति के बीच हृदय यहाँ बहुत कठोर है, प्रणय बहुत जटिल है और मिलन का पथ सहज नहीं है तब हमारा उस वन का सौन्दर्य-स्वप्न टूटने-टूटने को हो जाता है। ऋषि-शिष्य शार्ङरव ने राजभवन में प्रवेश करके कहा, 'जैसे आग से घिरे हुए घर में आ पड़ा हूँ।' शारद्वन् ने कहा, 'तेल से चिपचिपाये हुए व्यक्ति को देखकर नहाये हुए व्यक्ति को, अशुचि व्यक्ति को देखकर शुचि व्यक्ति को, सोये हुए को देखकर जागे हुए को और बन्धन में जकड़े हुए व्यक्ति को देखकर स्वाधीन पुरुष को जैसा लगता है, इन सब विषयी लोगों को देखकर मुझे वैसा ही लग रहा है। —कि जैसे किसी दूसरे ही लोक में आ पड़े हों।' ऋषिकुमारों ने सहज ही इसको अनुभव कर लिया—पंचम अंक के आरम्भ में कवि ने अनेक प्रकार के आभासों द्वारा हमें इस बात के लिए तैयार कर लिया जिसमें शकुन्तला का प्रत्याख्यान अकस्मात् हमारे ऊपर बहुत अधिक आघात न करे। हंसपदिका का सरल करुण गीत इस क्रूर काण्ड की भूमिका बन जाता है। इसके बाद प्रत्याख्यान जब अकस्मात् वज्र की तरह शकुन्तला के सिर पर टूट पड़ा तब यह तपोवन की दुहिता, विश्वस्त हाथों के वाण से आहत मृगी के समान विस्मय से, त्रास से, वेदना से विह्वल होकर व्याकुल आँखों से ताकती रह गयी। तपोवन के फूलों पर आग गिर पड़ी। शकुन्तला को भीतर-बाहर छाया और सौन्दर्य से ढके रहने वाला जो एक तपोवन प्रत्यक्ष-परोक्ष ढंग से विराज रहा था वह इस वज्रपात से शकुन्तला के चारों ओर हमेशा के लिए ढह पड़ा। शकुन्तला बिलकुल अनावृत हो गयी। कहाँ हैं तात कण्व, कहाँ हैं माता गौतमी, कहाँ हैं अनुसूया प्रियम्वदा, कहाँ है उन सब तरु-लताओं, पशुपक्षिओं के साथ स्नेह का संबंध, माधुर्य का योग, वह सुन्दर शांति, वह निर्मल जीवन ! इस एक क्षण की प्रलय की चोट से शकुन्तला का कितना कुछ विलुप्त हो गया यह देखकर हम स्तम्भित हो जाते हैं। नाटक के पहले चार अंकों में जो संगीत-ध्वनि उठी थी वह एक मुहूर्त में ही निश्शब्द हो गयी।

उसके बाद शकुन्तला के चारों ओर कैसी गहरी स्तब्धता, कैसा विराट् सूनापन है। जो शकुन्तला अपने कोमल हृदय के प्रभाव से, अपने चारों ओर के विश्व को समेटकर सबको अपना बनाये रखती थी वह आज कैसी अकेली है ! अपने उस विराट् सूनेपन को शकुन्तला अपने एक-मात्र महान् दुःख के द्वारा पूर्ण करके जी रही है। कालिदास उसको कण्व के तपोवन में लौटा जो नहीं ले गये, यह उनके असामान्य कवित्व का परिचय है। पूर्व-परिचित वन-भूमि के साथ उसका पहले का मिलन अब संभव नहीं रहा। कण्व के आश्रम से यात्रा करते समय तपोवन के साथ शकुन्तला का केवल बाह्य विच्छेद हुआ था, दुष्यंत के भवन से लौटकर वह विच्छेद पूर्ण हो गया; वह शकुन्तला अब नहीं रही। अब विश्व के साथ उसका संबंध बदल गया, अब उसे उसके पुराने संबंधों के बीच स्थापित करने से असामंजस्य अत्यंत निष्ठुर भाव से प्रकट होता। इस समय इस दुखिनी के लिए उसके बड़े दुःख के उपयुक्त सूनापन आवश्यक है। सखीविहीन नये तपोवन में कालिदास ने शकुन्तला-विरह-दुःख की प्रत्यक्ष अवतारणा नहीं की। कवि ने नीरव रहकर शकुन्तला के चारों ओर की नीरवता और शून्यता हमारे हृदय में घनीभूत कर दी। कवि

यदि शकुन्तला को कण्व के आश्रम में लौटा ले जाकर इसी तरह चुप रह आते तो वह आश्रम ही कहानी कहता। वहाँ की तरु-लताओं का क्रन्दन, सखियों का विलाप अपने-आप हमारे हृदय में गूँजता रहता। किन्तु अपरिचित मारीच के तपोवन में सब-कुछ हमारे निकट स्तब्ध है, नीरव है, केवल विश्व-विरहित शकुन्तला का नियम-संयत धीर-गंभीर अपरिमेय दुःख हमारे मानस-नेत्रों के सामने ध्यानासन में विराजमान रहता है। इस ध्यानमग्न दुःख के सम्मुख कवि ने अकेले खड़े होकर अपने होठों पर तर्जनी रख ली है और इसी निषेध के संकेत से समस्त प्रश्न को नीरव कर दिया है और समस्त विश्व को दूर ठेल दिया है।

दुष्यंत अब अनुताप में जल रहा है। यही अनुताप समस्या है। इस अनुताप के भीतर से शकुन्तला को यदि न पाया जाता तो शकुन्तला को पाने का कोई गौरव न होता। हाथ बढ़ाने से ही जो पा लिया जाय उसे पाना नहीं कहते, पाना आसान नहीं है। यौवन के उन्माद के आकस्मिक तूफ़ान में शकुन्तला को एक क्षण में उड़ा ले जाने से उसको पूरी तरह पाया न जा सकता। पाने की उत्कृष्ट प्रणाली साधना है, तपस्या है। जो अनायास ही हाथ में आ गया था वह अनायास ही खो गया। जो आवेश की मुट्ठी में पकड़ा हुआ रहता है वह शिथिल भाव से स्खलित होकर गिर जाता है। इसीलिए कवि ने एक-दूसरे को यथार्थ रूप में चिरंतन रूप में पाने के लिए दुष्यंत और शकुन्तला को लम्बी कठिन तपस्या में प्रवृत्त किया। राज-सभा में प्रवेश करते ही दुष्यंत ने यदि तत्क्षण शकुन्तला को ग्रहण कर लिया होता तो शकुन्तला हंसपदिका के ही दल की एक और रमणी होकर उनके अंतःपुर के एक कोने में स्थान पा जाती। बहुवल्लभ राजा की ऐसी कितनी ही विलासिनी प्रेयसियाँ केवल क्षण-भर के सौभाग्य की स्मृति लिये हुए अनादर के अंधकार में अनावश्यक जीवन बिता रही हैं। संस्कृत् कृत् प्रणयोऽयं जनः।

शकुन्तला के सौभाग्य से ही दुष्यंत ने निष्ठुर कठोरता से उसको छोड़ दिया था। अपने ऊपर अपनी इसी निष्ठुरता के प्रतिघात से ही दुष्यंत शकुन्तला के सम्बन्ध में अब अचेतन न रह सका, दिन-रात परम वेदना के उत्ताप से शकुन्तला उसके विगलित हृदय के साथ घुलने-मिलने लगी, उसने उनके भीतर-बाहर को ओत-प्रोत कर दिया। ऐसी अभिज्ञता राजा के जीवन मे कभी न हुई थी, उन्हें यथार्थ प्रेम का उपाय और अवसर न मिला था। राजा थे इसीलिए इस सम्बन्ध में अभागे थे। उनकी इच्छा अनायास ही मिट जाती थी इसी से साधना का धन उनके हाथ नहीं लगा। इस बार विधाता ने कठिन दुःख के बीच फेंककर राजा को प्रकृत प्रेम का अधिकारी बनाया—अब से उनकी नागरिक-वृत्ति बिलकुल बंद हो गयी।

इस प्रकार कालिदास ने पाप को हृदय के भीतर से अपनी आग मे आप ही दग्ध किया है, बाहर से राख से ढँक नहीं दिया। समस्त अमंगल की समाप्ति पर अग्नि-सत्कार करके नाटक समाप्त हुआ है, पाठक का हृदय एक संशयहीन परिपूर्ण परिणति में शांति-लाभ करता है। बाहर से अकस्मात् बीज पड़ने से जो विष-वृक्ष उत्पन्न होता है उसको गहरे पैठकर भीतर से निर्मूल किये बिना उखाड़ा नहीं जा सकता। कालिदास ने दुष्यंत-शकुन्तला के बाहर के मिलन को दुःख से काटे हुए रास्ते सै ले जाकर भीतर के मिलन को सार्थक कर दिया। इसीलिए कवि गेटे कहते हैं कि तरुणाई का फूल और प्रौढ़ावस्था का फल, मर्त्य और स्वर्ग दोनों अगर कोई एक ही जगह पाना चाहे तो शकुन्तला में उसे पा सकता है।

•

'टैम्पेस्ट' में प्रॉस्पेरो फर्दीनन्द के प्रेम की कृच्छ्र-साधना द्वारा परीक्षा लेते हैं। लेकिन वह बाहर का क्लेश है। केवल काठ का बोझा ढोने से परीक्षा का अन्त नहीं होता। भीतर की किसी गर्मी और दबाव से अंगारा हीरा बन जाता है, कालिदास यह दिखलाते हैं। उन्होंने कालिमा को अपने भीतर से ही उज्ज्वल बनाया है, उन्होंने भंगुरता को दबा-दबाकर दृढ़ता दी है। शकुन्तला में हम अपराध की सार्थकता देख पाते हैं, संसार में विधाता के विधान में पाप भी कैसे मंगलकर्म में नियुक्त है, कालिदास के नाटक में हम उसका सुपरिणत दृष्टांत देखते हैं। अपराध के आघात से बचकर मंगल अपनी शाश्वत दीप्ति और शक्ति नहीं प्राप्त करता।

शकुन्तला को हम काव्य के आरम्भ में एक निष्कलुष सौन्दर्यलोक के बीच देखते हैं, वहाँ सरल आनन्द में वह अपनी सखियों और तरु-लता-मृग के साथ मिली हुई है। उसी स्वर्ग में अपराध ने अनजाने ही प्रवेश किया और कीड़े के कुतरे हुए फूल की तरह सौन्दर्य बिखर गया। और फिर लज्जा, संशय, दुःख, विच्छेद, अनुताप। और सबके अंत में विशुद्धतर, उन्नततर स्वर्गलोग में क्षमा, प्रीति और शांति। शकुन्तला को एक साथ ही Paradise Lost और Paradise Regained कहा जा सकता है।

पहला स्वर्ग बड़ा ही कोमल और आरक्षित है। यद्यपि वह सुन्दर भी है और सम्पूर्ण भी, लेकिन कमल के पत्ते पर पड़ी हुई ओस की बूँद की तरह जल्दी ही झर जाने वाला है। इस संकीर्ण सम्पूर्णता की सुकुमारता से मुक्ति पाना ही अच्छा है; यह सदा के लिए नहीं है और इसमे हमारी सर्वांगीण तृप्ति नहीं है, अपराध ने पागल हाथी की तरह आकर यहाँ की कमल के पत्तों की बाड़ तोड़ दी है; आलोड़न के विक्षोभ मे समस्त हृदय को मथ डाला। सहज स्वर्ग उतने ही सहज रूप मे नष्ट हो गया। बाक़ी रह गया साधना का स्वर्ग। अनुताप के द्वारा, तपस्या के द्वारा जब उस स्वर्ग को जीता गया तब और कोई शंका न रही। यह स्वर्ग शाश्वत है।

मनुष्य का जीवन भी ऐसा ही है। बच्चा जिस सरल स्वर्ग मे रहता है वह सुन्दर होता है, सम्पूर्ण होता है लेकिन छोटा होता है। प्रौढ़ावस्था की सब अस्थिरता और विक्षोभ, समस्त अपराधों का आघात और अनुताप का दाग़ जीवन के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। शिशु काल की शांति मे बाहर निकलकर संसार के विरोध-विप्लव के बीच पड़े बिना प्रौढ़ावस्था की परिपूर्ण शांति की आशा वृथा है। प्रभात की स्निग्धता को दोपहर की गर्मी जला डालती है तभी साँझ का लोक-लोकान्तरव्यापी विराम आता है। पाप से अपराध के क्षणभंगुर को तोड़ देता है और अनुताप से वेदना से चिरस्थायी को गढ़कर खड़ा कर देता है। शकुन्तला काव्य में कवि ने इसी स्वर्गच्युति से लेकर स्वर्गप्राप्ति तक सब-कुछ दिखलाया है।

विश्व-प्रकृति जैसे बाहर से प्रशांत और सुन्दर होती है लेकिन उसकी प्रचण्ड शक्ति दिन-रात भीतर-ही-भीतर काम करती रहती है, उसी का प्रतिरूप हम 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में देखते हैं। ऐसा अद्भुत संयम हमने और किसी नाटक मे नहीं देखा। प्रवृत्ति की प्रबलता को व्यक्त करने का अवसर मात्र पाते ही यूरोपीय कविगण जैसे पागल हो उठते हैं। प्रवृत्ति कितनी दूर तक जा सकती है इसे अतिशयोक्ति द्वारा व्यक्त करना उन्हें अच्छा लगता है। शेक्सपियर के 'रोमियो जूलियट' आदि नाटकों में इसके अनेकानेक दृष्टांत मिलते हैं। शकुन्तला के समान प्रशांत, गंभीर, संयत, सम्पूर्ण नाटक शेक्सपियर के नाटकों में एक भी नहीं। दुष्यंत-शकुन्तला के बीच जितना

प्रेमालाप है वह बहुत संक्षिप्त है, उसका अधिकांश आभास और इंगित में व्यक्त हुआ है, कालिदास ने कहीं भी रास छोड़ी नहीं। दूसरा कवि जहाँ पर लेखनी को दौड़ाने का अवसर खोजता उन्होंने वहीं पर उसको यकायक रोक दिया। दुष्यंत तपोवन से राजधानी लौटकर शकुन्तला की कोई खोज-खबर नहीं लेते। इस प्रसंग में विलाप-परिताप की बातें बहुत-सी हो सकती थीं लेकिन शकुन्तला के मुँह में कवि ने एक भी बात नहीं डाली। केवल दुर्वासा के प्रति आतिथ्य में असावधानी देखकर हम उस अभागिन की स्थिति की यथासंभव कल्पना कर सकते हैं। शकुन्तला के प्रति कण्व का एकांत स्नेह विदाई के समय कितने गांभीर्य और संयम के साथ कितने थोड़े से शब्दों में व्यक्त हुआ है। अनुसूया, प्रियम्वदा की सखी की विरहवेदना क्षण-क्षण पर दो-एक बातों में जैसे बाँध को लाँघने की चेष्टा करके फिर भीतर-ही-भीतर ठिठक जाती है। प्रत्याख्यान के दृश्य में भय, लज्जा, मान-अभिमान, अनुनय, भर्त्सना, विलाप सबकुछ है लेकिन कितने थोड़े में। जिस शकुन्तला ने सुख के समय सरल असंशय के साथ अपने को विसर्जित कर दिया था वह दुःख के समय, दारुण अपमान के समय अपनी हृदय-वृत्ति की अप्रगल्भ मर्यादा की रक्षा ऐसे अद्‌भुत संयम के साथ करेगी, यह किसने सोचा था। यह प्रत्याख्यान के बाद की नीरवता कितनी व्यापक है, कितनी गहरी। कण्व नीरव, अनुसूया-प्रियम्वदा नीरव, मालिनीतीरतपोवन नीरव और सबसे अधिक नीरव शकुन्तला। हृदय-वृत्ति में उथल-पुथल मचा देने का ऐसा अवसर क्या और किसी नाटक में इस प्रकार निश्शब्द उपेक्षित हुआ है। दुष्यंत के अपराध को दुर्वासा के शाप से ढाँक देना, यह भी कवि का संयम है। दुष्ट प्रवृत्ति की कठोरता को उन्मुक्त भाव से उच्छृंखल ढंग से दिखाने का जो प्रलोभन हो सकता था उसको भी कवि ने रोका। उनकी काव्य-लक्ष्मी ने उनको बरजते हुए कहा है—

न खलु न खलु 'वाणः सन्निपात्योह्यमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।

दुष्यंत ने जब काव्य मे विपुल विक्षोभ का कारण लेकर पागल होकर प्रवेश किया तब कवि के हृदय में यह ध्वनि उठी—

मूतो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारंगयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यंदनालोक भीतः।

तपस्या के मूर्तिमान विघ्न के समान गजराज ने धर्मारण्य में प्रवेश किया है—इस बार शायद काव्य का शांति-भंग होगा। कालिदास ने तभी धर्मारण्य के इस मूर्तिमान विघ्न को शाप के बंधन से संयत कर दिया : उन्होने इसे अपने पद्‌मवन के पंक को आलोड़ित नहीं करने दिया।

यूरोपीय कवि होता तो इस जगह सांसारिक सत्य की नक़ल करता, संसार में जैसा होता है ठीक वैसा ही नाटक में घटित कराता। शाप या अलौकिक व्यापार के द्वारा कुछ भी न ढकता। जैसे उनके ऊपर समस्त अधिकार केवल संसार का हो, काव्य का कोई अधिकार न हो। कालिदास संसार को काव्य से अधिक मान नहीं देते। हाट-बाट मे जो कुछ होता रहता है उसकी नक़ल करनी ही होगी, ऐसा दस्तावेज़ उन्होंने किसी को लिखकर नहीं दिया। लेकिन काव्य का शासन कवि को मानना ही होगा। काव्य की प्रत्येक घटना का मेल पूरे काव्य के साथ उन्हें बैठाना

ही होगा। उन्होंने सत्य की आंतरिक मूर्ति को अक्षुण्ण रखते हुए सत्य की बाह्य मूर्ति का मेल अपने काव्य-सौंदर्य के साथ बैठा लिया है। उन्होंने अनुताप और तपस्या को उज्ज्वल करके दिखाया है लेकिन पाप को तिरस्कार द्वारा किंचित् प्रच्छन्न कर दिया है। शकुन्तला नाटक शुरू से लेकर अन्त तक जो एक शांति, सौंदर्य और संयम से घिरा हुआ है, ऐसा न करने पर वह बिखर जाता। संसार की नक़ल तो ठीक उतर जाती लेकिन काव्य-लक्ष्मी को कठोर आघात लगता। कवि कालिदास की करुण, निपुण लेखनी द्वारा यह कभी सम्भव न था।

इस प्रकार कवि ने बाहर की शांति और सौंदर्य को कहीं भी लेशमात्र विचलित किये बिना अपने काव्य की आंतरिक शक्ति को निस्तब्धता के बीच सदा सक्रिय और सबल बनाये रखा है यहाँ तक कि उनके तपोवन की बाह्य प्रकृति भी सर्वत्र भीतर के कामों में योग देती है। कभी वह शकुन्तला की यौवन-लीला को अपनी लीला-माधुरी अर्पित करती है, कभी मंगल-आशीर्वाद के साथ अपना कल्याण-मर्मर मिला देती है। कभी वियोग के समय की व्याकुलता के साथ मूक विदा-वाक्यों की करुणा जोड़ देती है और अपूर्व मंत्र-बल से शकुन्तला के चरित्र में एक पवित्र निर्मलता, एक स्निग्ध माधुर्य की किरण बिखेर देती है। इस शकुन्तला काव्य में काफ़ी निस्तब्धता है लेकिन इसमे सबसे अधिक निस्तब्ध भाव से काम किया है कवि के तपोवन ने। यह काम 'टैम्पेस्ट' के एरियल के समान शासन में बँधी हुई दासता का बाह्य काम नहीं है, यह सौंदर्य का काम है, प्रीति का काम है, आत्मीयता का काम है, मन के भीतर का काम है।

'टैम्पेस्ट' में शक्ति है, शकुन्तला मे शांति है। 'टैम्पेस्ट' में शक्ति के द्वारा जय होती है, शकुन्तला मे मंगल के द्वारा सिद्धि होती है। 'टैम्पेस्ट' में आधे रास्ते एक दरार है, शकुन्तला का अवसान पूर्णता मे होता है। 'टैम्पेस्ट' की मिरांडा सरल माधुर्य से रची हुई है लेकिन उस सरलता का आधार अज्ञान और अनभिज्ञता है, शकुन्तला की सरलता अपराध और दुःख के गहरे परिचय के बाद धैर्य और क्षमा मे परिपक्व है, गंभीर और स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुसरण करते हुए मैं फिर कहता हूँ कि शकुन्तला मे आरम्भ के तरुण सौंदर्य ने मंगलमय चरम परिणति को प्राप्त होकर मर्त्य को स्वर्ग से मिला दिया है।

[अक्तूबर १९०२ (आश्विन १३०९) मे *'बंग-दर्शन'* मे प्रकाशित।]

१३

बुद्धदेव

जिसे मेरा हृदय सर्वश्रेष्ठ मानव जानता है, आज वैशाखी पूर्णिमा के दिन उसके जन्मोत्सव में अपना प्रणाम निवेदन करने आया हूँ। यह किसी विशेष उत्सव का उपकरण या अलंकार-मात्र नहीं है। जो अर्घ्य एकांत में बार-बार समर्पण कर चुका हूँ, वही आज यहाँ आपके सामने देता हूँ।

एक दिन बुद्धगया के मंदिर का दर्शन करने गया था। मन में यह विचार उठा था—जिसके चरण-स्पर्श से वसुधा पवित्र हुई वह जब इसी गया में भ्रमण कर रहा था क्यों न मैंने उस युग में जन्म ग्रहण किया, क्यों न समस्त शरीर और मन से उसका पुण्यप्रभाव प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर सका?

लेकिन फिर मैंने यह भी सोचा कि वर्तमान समय की परिधि अत्यन्त संकीर्ण है, क्षणिक घटनाओं के धूलि-चक्र से कलुषित है। इस संकुचित, मलिन युग मे उस महामानव को हम परिपूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं कर पाते। इतिहास ने बार-बार उसे प्रणाम किया है। बुद्धदेव के जीवन-काल में क्षुद्र मन की ईर्ष्या और विरोध का आघात उन पर हुआ था, उनके माहात्म्य को खर्व करने के लिए तरह-तरह का मिथ्या प्रचार किया गया था। सहस्त्रों लोगों ने उन्हे प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा। ये लोग बुद्धदेव का 'दूरत्व' अनुभव नहीं कर सके। उनकी अलौकिकता का बोध उन्हें यथार्थ रूप से नहीं हुआ, क्योंकि तब तक यथेष्ट समय नहीं बीता था। इसलिए सोचता हूँ कि तत्कालीन घटनाओं की अस्पष्टता के बीच उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया, यह अच्छा ही हुआ।

जो वास्तव में महापुरुष होते हैं वे जन्म लेते ही महान युग में स्थान ग्रहण करते हैं। अतीत में भी वे वर्तमान होते हैं और सुविस्तीर्ण भविष्य में भी विराजते हैं। यह बात मैंने उस दिन बुद्धगया के मंदिर में समझी। मैंने देखा कि दूर जापान से, समुद्र पार करके, एक निर्धन मछुआ मन्दिर में आया हुआ था, अपने किसी दुष्कर्म के लिए पश्चात्ताप व्यक्त करने। निर्जन, निःशब्द मध्य-रात्रि में एकाग्र मन से हाथ जोड़कर वह बार-बार कर रहा था : 'मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ।'

शताब्दियों पहले की बात है, शाक्य-कुल का राजपुत्र मनुष्य का दुःख दूर करने की साधना से आधी रात को राजमहल त्यागकर बाहर निकल पड़ा था। और उसी की शरण लेने जापान का वह दुःखी तीर्थयात्री उस दिन बुद्धगया के मन्दिर में आया था। उस पाप-परितप्त यात्री के लिए उस समय पृथ्वी की सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं की अपेक्षा बुद्धदेव अधिक निकट थे। उस मुक्तिकामी के जीवन में बुद्धदेव का जन्म-दिन व्याप्त हो गया था। उस दिन वह यात्री अपने मनुष्यत्व की गंभीर आकांक्षा के प्रकाश में अपने सम्मुख नरोत्तम बुद्ध को देख सका था।

जिस युग में भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था उसमें यदि वे प्रतापशाली राजा के रूप में, या विजयी वीर के रूप में, दुनिया के सामने आते तो उस युग को अभिभूत करके आसानी से सम्मान-लाभ कर सकते। लेकिन वह सम्मान अपनी संकुचित काल-सीमा के बीच लुप्त हो जाता। प्रजा राजा को बड़ा मानती है, निर्धन के लिए धनी महान् है, दुर्बल के लिए प्रबल। लेकिन महामानव की अभ्यर्थना तो वही मानव कर सकता है जिसने मनुष्यत्व की साधना की है, पूर्णता की साधना की है। मानव द्वारा महामानव की स्वीकृति ही महायुग का आधार होता है। आज भगवान् बुद्ध को हम देखते हैं मानव-मन के महासिंहासन पर, महायोग की वेदी पर, जहाँ अतीत का प्रकाश वर्तमान का अतिक्रमण कर रहा है। अपने चित्त-विकार से और अपने चरित्र की अपूर्णता से पीड़ित मनुष्य आज भी उन्हीं के पास आकर कहता है : 'मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ।' चिरकाल तक प्रसारित मानव-चित्त की इस घनिष्ठ उपलब्धि में ही बुद्धदेव का यथार्थ आविर्भाव है।

हम साधारण लोग एक-दूसरे के द्वारा अपना परिचय देते हैं। यह परिचय विशेष श्रेणी का, विशेष जाति का, विशेष समाज का परिचय होता है। पृथ्वी पर ऐसे बहुत कम लोग हुए हैं जो अपने-आप प्रकाशवान् हैं, जिनका आलोक प्रतिबिंबित आलोक नहीं है, जो केवल अपनी महिमा और सत्य से ही संपूर्ण रूप से प्रकाशित हैं। प्रकाश का अंश तो हम बहुत-से बड़े लोगों में देखते हैं—वे ज्ञानी हैं, विद्वान् हैं, वीर हैं, राष्ट्र-नेता हैं; उन्होंने मनुष्य को अपनी इच्छानुरूप चलाया है; उन्होंने अपने संकल्प के आदर्श से इतिहास को संगठित किया है। लेकिन यह तो आंशिक प्रकाश है। पूर्ण मनुष्यत्व का प्रकाश तो केवल उन्हीं का है जिन्होंने सभी देशों, युगों और लोगों पर अधिकार किया है, जिनकी चेतना राष्ट्र, जाति या देश-काल की सीमाओं से खंडित नहीं हुई।

सत्य ही मनुष्य का प्रकाश है। इस सत्य के विषय में उपनिषद् का कहना है : 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।' जिन्होंने जीव-मात्र को अपने समान समझा है उन्होंने ही सत्य को समझा है। जिन्होंने इस तरह अपने-आपमें सत्य को जाना है उनमें ही मनुष्यत्व प्रकाशित हुआ है। वे अपनी मानव-महिमा से देदीप्यमान हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
आत्मनः सर्वभूतेषु न ततो विजुगुप्सते।

अपने बीच सभी को और सभी के बीच अपने-आपको जो देख सके हैं वे छिपे नहीं रह सकते, प्रत्येक युग में वे प्रकाशित हैं।

मनुष्यत्व का यह प्रकाश आज दुनिया के अधिकांश लोगों में व्याप्त है। कहीं वह स्पष्ट है, कहीं ओझल। पृथ्वी की जब सृष्टि हुई उस समय भूमंडल वाष्प के घने आवरण से ढका हुआ था। उस समय केवल थोड़े-से पर्वत-शिखर इस आवरण से ऊपर उठकर आलोकित थे। आज भी इसी तरह अधिकतर लोग अपने स्वार्थ से, अहंकार से और अवरुद्ध चैतन्य से प्रच्छन्न हैं। जिस सत्य में सर्वत्र आत्मा का प्रवेश है, उस सत्य का विकास अधिकतर लोगों में अपरिणत आस्था में है। मनुष्य की सृष्टि आज भी असंपूर्ण है। असमाप्ति के इस घने आवरण के बीच हमें मनुष्य का परिचय कैसे मिलता यदि प्रकाशवान् महापुरुषों के रूप में मानवता का सहसा

आविर्भाव न होता? मनुष्य का यह महाभाग्य था कि भगवान् बुद्ध में मनुष्य का सत्यस्वरूप देदीप्यमान हुआ। उन्होंने मानव-मात्र को अपने विराट हृदय में ग्रहण किया और मानवता को प्रकाशित किया। 'न ततो विजुगुप्सते'—उन्हें गोपन कौन रख सकता है? देश-काल की कौन-सी सीमा, प्रयोजन-सिद्धि की कौन-सी प्रलुब्धता, उन्हें छिपा सकती है?

तपस्या के आसन से उठकर भगवान् बुद्ध ने अपने-आपको प्रकाशित किया। इस आलोक की सत्यदीप्ति से भारतवर्ष का प्रकाशन हुआ। मानव इतिहास में उनका चिरंतन आविर्भाव भारत की भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करके देश-देशांतर में व्याप्त हुआ। भारत तीर्थ बन गया, अन्य सभी देशों द्वारा वह स्वीकृत हुआ, क्योंकि बुद्ध की वाणी से उस दिन भारत ने सभी मानव-जाति को स्वीकार किया था। उसने किसी की अवज्ञा नहीं की, इसलिए वह स्वयं गोपन नहीं रहा। सत्य के तूफान ने वर्ण की दीवार को गिरा दिया, और देश-विदेश की सभी जातियों तक भारत का आमंत्रण पहुँचा। चीन और ब्रह्मदेश ने जापान, तिब्बत और मंगोलिया ने इस आमंत्रण को स्वीकार किया। अमोघ सत्य के संदेश ने दुस्तर गिरि-समुद्र के बीच पथ ढूँढ़ लिया। दूर-दूर तक मनुष्य की यह आवाज़ सुनाई दी: 'मानव का प्रकाशन हुआ, हमने देखा है—महानतम् पुरुषम् तमसः परस्तात्।' इस घोषणा वाक्य को अक्षय रूप मिला मरु-प्रांत की प्रस्तर-मूर्तियों में। अद्‌भुत अध्यवसाय के साथ मनुष्य ने मूर्ति, चित्र और स्तूप द्वारा बुद्धदेव का वंदन किया। लोगों ने कहा—इस अलौकिक पुरुष के प्रति दुःसाध्य साधनों से ही भक्ति प्रदर्शित करनी होगी। उनके मन को अपूर्व शक्ति की प्रेरणा मिली। अँधेरी गुफाओं की दीवारों पर उन्होंने चित्र बनाये, भारी-से-भारी पत्थरों को पहाड़ की चोटियों पर ले जाकर उन्होंने मन्दिर बनाये। शिल्प-प्रतिभा ने समुद्र पार करके अपरूप शिल्प-संपदा का निर्माण किया। शिल्पी ने अपना नाम भुला दिया, शाश्वत काल के लिए वह केवल यह मन्त्र छोड़ गया: 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि'। जावा द्वीप में बोरोबुदुर के वृहत् स्तूप की प्रदक्षिणा करते हुए मैंने शत-शत मूर्तियाँ देखी हैं जिनमें जातक-कथाओं की वर्णना है। उनमें से प्रत्येक मूर्ति के शिल्पी का नैपुण्य प्रतिबिंबित है, कहीं लेश-मात्र भी आलस्य नहीं है, अनवधान नहीं है। इसको कहते हैं शिल्प की तपस्या, और साथ-ही-साथ यह भक्ति की तपस्या भी है। यहाँ ख्यातिलोभहीन, निष्काम, कष्टमय साधना है। शिल्पी ने अपनी श्रेष्ठ शक्ति का उत्सर्ग किया चिस्मरणीय के नाम, चिरवरणीय के नाम। लोगों ने कठिन दुःख स्वीकार करते हुए अपनी भक्ति को सार्थक किया। उन्होंने सोचा—मानव-मात्र की जो चिरंतन भाषा है उसके द्वारा यदि हम अकृपण रूप से अपनी प्रतिभा को व्यक्त न करें तो यह कैसे कह सकेंगे: 'बुद्धदेव समस्त मानव-जाति के लिए आये थे, युग-युगांतर के लिए आये थे?' बुद्धदेव ने मानव से ऐसी अभिव्यक्ति माँगी थी जो दुःसाध्य हो, चिर-जागरूक हो, जो बन्धनों पर विजयी हो। इसीलिए पूर्व महादेश के दुर्गम स्थानों में उनकी जय-ध्वनि पूजा के आकार में प्रतिष्ठित हुई—पर्वत-शिखर पर, मरुभूमि में, निर्जन गुहा में। भगवान बुद्ध को इससे भी महान् अर्घ्य उस दिन मिला जब राजाधिराज अशोक ने शिलालेख द्वारा अपना पाप स्वीकार किया, अहिंसा-धर्म की महिमा को घोषित किया, अपने प्रमाण को शिला-स्तंभ पर अंकित करके महाकाल के प्रांगण में सुरक्षित रखा।

इतना बड़ा सम्राट् पृथ्वी ने और भी कोई देखा है? इस सम्राट् को जिस गुरु ने माहात्म्य दान

किया उसका आह्वान करने की आवश्यकता जैसी आज है वैसी उस दिन भी नहीं थी जब उसने इसी भारत में जन्म ग्रहण किया था। वर्ण-वर्ण में, जाति-जाति में, आज धर्म के नाम पर अपवित्र भेद-बुद्धि की निष्ठुर मूढ़ता पृथ्वी को रक्तरंजित कर रही है। परस्पर हिंसा से भी अधिक सांघातिक परस्पर घृणा मनुष्य को पग-पग पर अपमानित कर रही है। भ्रातृ-द्वेष से कलुषित इस अभागे देश में आज हम उत्कंठापूर्वक उन्हें स्मरण करते हैं जिन्होंने सभी जीवों के प्रति मैत्री का मुक्तिपथ बताया था। उन्हीं की वाणी आज भी सुनता चाहते हैं। मानव की श्रेष्ठता का उद्धार करने के लिए वह श्रेष्ठ मानव पूजा-वेदी पर आविर्भूत है। सबसे बड़ा दान श्रद्धा-दान होता है, और इस दान से बुद्धदेव ने किसी मनुष्य को वंचित नहीं रखा। जिस दया को, जिस दान को उन्होंने धर्म कहा, वह दूर से दिया हुआ अर्थदान नहीं, वह अपने आपका दान है। वह धर्म कहता है: 'श्रद्धापूर्वक दान करो!' डर यही है कि अपनी श्रेष्ठता, पुण्य या धन के अभिमान से हमारा दान अपमानित न हो, अधर्म में परिणत न हो। इसीलिए उपनिषद् में कहा है 'भ्रिया देयम्'— भय करते हुए दान दो। किसका भय? धर्म-कर्म के द्वारा मनुष्य के प्रति श्रद्धा खो देने की जो आशंका है उसी से हमें डरना चाहिए। आज भारत में धर्मविधि की प्रणाली से चारों ओर मनुष्य के प्रति अश्रद्धा प्रसारित हुई है। इसकी भयानकता केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के क्षेत्र में भी देश के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है। इस बात को आज हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं। राजनीति के पथ से, या किसी बाह्य उपाय से, क्या इस समस्या का कभी समाधान हो सकता है?

एक दिन भगवान् बुद्ध राज्य-सम्पदा का त्याग करके तपस्या करने बैठे थे। उसके पीछे समस्त मानव-जाति के दुःख-मोचन का संकल्प था। उस तपस्या मे क्या कोई अधिकार-भेद था? उनके लिए कोई म्लेच्छ था? कोई अनार्य था? उनका सर्वस्व-त्याग दीनतम, मूढ़तम मनुष्य के लिए भी था। उनकी तपस्या के बीच सभी देशों के, सभी लोगों के प्रति श्रद्धा थी। उनकी इतनी बड़ी तपस्या आज क्या भारत से विलीन होगी?

मैं पूछता हूँ, एक-दूसरे के बीच दीवार खड़ी करके हम आखिर किस चीज की रक्षा कर पाये हैं? एक दिन हमारे पास धन से परिपूर्ण भंडार था। क्या वह बाहर के आघात से टूट नहीं गया? क्या उसका कोई चिह्न बाक़ी है? आज एक के बाद एक प्राचीर बनाकर हमने मनुष्य के प्रति आत्मीयता को अवरुद्ध कर दिया है। देवता के मंदिर-द्वार पर पहरा लगा दिया है। देवता पर अपने अधिकार को भी कृपण की तरह हमने छिपा रखा है। दान और व्यय द्वारा जो धन गया उसे तो हम बचा नहीं सके। लेकिन जिस धन की दान द्वारा क्षति नहीं बल्कि वृद्धि होती है उस धन को—मनुष्य के प्रति श्रद्धा को—हमने साम्प्रदायिकता के संदूक में ताला लगाकर बन्द कर दिया। पुण्य का भंडार हमारे लिए विषयी का भंडार हो गया। एक दिन जिस भारत ने मनुष्य के प्रति श्रद्धा द्वारा समस्त पृथ्वी में अपना मनुष्यत्व उज्ज्वल किया था, आज वही देश अत्यन्त संकुचित रूप से अपना परिचय देता है। मनुष्य के प्रति अश्रद्धा दिखाकर वह स्वयं मनुष्य की अश्रद्धा का भागी हो गया है। आज मनुष्य-मनुष्य में विरोध है, क्योंकि आज मनुष्य सत्यभ्रष्ट हो गया है, उसका मनुष्यत्व प्रच्छन्न हो गया है तभी आज सारी पृथ्वी पर एक-दूसरे के प्रति इतना संदेह, इतना आतंक, इतना आक्रोश है। आज वह दिन आ गया है। जब हम महामानव को

पुकारकर प्रार्थना करें—'तुम अपने प्रकाश द्वारा फिर मानव को प्रकाशित करो !'

भगवान् बुद्ध ने कहा था, 'अक्रोध के द्वारा क्रोध पर विजय लाभ करो !' आज से कुछ वर्ष पहले पृथ्वी पर महायुद्ध हुआ था। एक पक्ष विजयी हुआ—वह विजय बाहुबल की विजय थी। लेकिन बाहुबल तो मनुष्य का चरम बल नहीं। इसलिए मानव-इतिहास की दृष्टि से वह विजय निष्फल है। उसने केवल नये युद्ध के बीज बोये हैं। मनुष्य के अंदर अभी तक 'पशु' जीवित है। वही पशु हमें यह समझने नहीं देता कि मुनष्य की वास्तविक शक्ति अक्रोध में है, क्षमा में है। इसीलिए मानव-सत्य के प्रति श्रद्धा रखते हुए मानव ने गुरु ने कहा—'अपने क्रोध को और दूसरों के क्रोध को अक्रोध द्वारा पराजित करो !' यदि ऐसा न किया तो जिसके लिए मनुष्य मनुष्य हुआ है वह व्यर्थ हो जायेगा। बाहुबल की सहायता से यदि हम क्रोध पर और प्रतिहिंसा पर विजय प्राप्त करें तो हमें शांति नहीं मिल सकती। क्षमा में ही शान्ति है। यह बात जब तक मनुष्य अपनी राजनीति और समाजनीति में स्वीकार नहीं कर सकेगा, तब तक अपराधी का अपराध बढ़ता जायगा; राष्ट्रीय विरोध की अग्नि नहीं बुझेगी; कारागृह की दानविक निष्ठुरता से, और सशस्त्र सैन्य-शिविर के भृकुटि-विक्षेप से, पृथ्वी की मार्मांतक पीड़ा उत्तरोत्तर दुःसह होती जायगी, कहीं उसका अंत नहीं दिखाई पड़ेगा। पाशविकता की सहायता से सिद्धि-लाभ की दुराशा मनुष्य में है। जिन्होंने इस दुराशा से मनुष्य को मुक्त करना चाहा था उनके शब्द थेः 'अक्रोधेन जिनेत् कोधः।' मनुष्यत्व के जगद्व्यापी अपमान के इस युग में आज वह दिन आ गया है कि हम उस महापुरुष को स्मरण करें और और कहें : 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि'। हम उन्हीं की शरण लेंगे जिन्होंने अपने बीच मानव को प्रकाशित किया। उन्होंने जिस मुक्ति की बात कही वह सकारात्मक है, नकारात्मक नहीं; वह मुक्ति कर्मत्याग से नहीं मिलती, साधुकर्म से और आत्मत्याग से मिलती है; उस मुक्ति का आधार केवल राग-द्वेष-वर्जन नहीं है, बल्कि सभी जीवों के प्रति अपरिमित मैत्री-साधना है। आज के दिन जबकि हम चारों और स्वार्थ-क्षुधा से अंध वैश्य-वृत्ति देखते हैं, निर्मम निःसीम लुब्धता देखते हैं, हम उसी बुद्ध से शरण माँगते हैं जिसके आविर्भाव में विश्व-मानव का सत्य रूप प्रकाशित हुआ।

[१८ मई, १९३५ को महाबोधि सोसाइटी, कलकत्ता में बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर दिया गया अध्यक्षीय सम्भाषण। 'प्रवासी' में (आषाढ़ १३४२ बाङ्ला संवत्) जून, १९३५ में प्रकाशित ।]

१४

बंकिमचंद्र

बंकिम की नयी प्रतिमा जब लक्ष्मी के रूप में सुधापात्र हाथ में लेकर बंगाल के सम्मुख आविर्भूत हुई तब उस समय के पुराने लोगों ने बंकिम की रचना का सम्मानपूर्वक आनंद के साथ स्वागत नहीं किया।

तब बंकिम को बहुत उपहास, विद्रूप, ग्लानि सहनी पड़ी थी। उन पर लोगों के एक दल का तीव्र विद्वेष था और जो क्षुद्र लेखक-संप्रदाय उनका अनुकरण करने की विफल चेष्टा करता था वही अपना ऋण छिपाने के प्रयास में उनको सबसे अधिक गाली देता था।

और फिर आजकल जो पाठकों और लेखकों के नये संप्रदाय उत्पन्न हुए हैं उन्हें भी बंकिम के समग्र प्रभाव को हृदय में अनुभव करने का अवकाश नहीं मिला। वे बंकिम की गढ़ी हुई साहित्य-भूमि पर ही भूमिष्ठ हुए हैं, बंकिम के निकट वे कितने रूपों में कितने प्रकार से ऋणी हैं इसका हिसाब अलग करके वे देख नहीं पा रहे हैं।

लेकिन वर्तमान लेखक के सौभाग्य से, हमारे साथ जब बंकिम का प्रथम साक्षात्कार हुआ तब तक साहित्य आदि के संबंध में कोई पूर्वग्रह हमारे मन में बद्धमूल नहीं हुआ था और वर्तमान काल का नूतन भाव-प्रवाह भी हमारे निकट अपरिचित, अनभ्यस्त था। जिस तरह उस समय बाङ्ला-साहित्य में प्रभात और संध्या का मिलन हो रहा था उसी तरह हमारे लिए भी वह वयःसंधि काल था। बंकिम ने बाङ्ला-साहित्य के प्रभात का सूर्योदय किया, हमारा हृदय-कमल वहीं पहली बार प्रस्फुटित हुआ।

पहले क्या था और बाद को क्या मिला यह हमने युगों के संधिस्थल पर खड़े होकर एक क्षण में ही अनुभव कर लिया। कहाँ गया वह अंधकार, कहाँ गयी वह एकरूपता, वह निद्रा—कहाँ गया वह 'विजय बसंत', वह 'गुलेबकावली', वह लड़कों को बहलाने की कहानियाँ—कहाँ से आया इतना प्रकाश, इतनी आशा, इतना संगीत, इतना वैचित्र्य ! बंग-दर्शन तब जैसे आषाढ़ की प्रथम वर्षा के समान 'समागतो राजवदुन्नतध्वनिः हो। और मूसलाधार भावों की वर्षा में बाङ्ला-साहित्य की पूर्व-वाहिनी, पश्चिम-वाहिनी सब नदी-निर्झरिणियाँ एकाएक भर उठीं और यौवन के आनंद वेग से दौड़ने लगीं। कितने काव्य, नाटक, उपन्यास, कितने लेख, कितनी समालोचनाएँ, कितने मासिक पत्र, कितने समाचार-पत्र—सबने बंगभूमि को जाग्रत प्रभात-कलरव से मुखरित का दिया। बाङ्ला भाषा देखते-देखते बचपन से यौवन में पहुँच गयी।

हमने किशोरावस्था में बाङ्ला-साहित्य में भावों के उस नये समागम का महोत्सव देखा था, सारे देश को अपने भीतर समेटकर जो आशा का आनंद नया-नया हिलोरें ले रहा था उसको अनुभव किया था, इसलिए आज रह-रहकर निराशा होती है। ऐसा लगता है कि उस दिन हृदय

में जिस अपरिमेय आशा का संचार हुआ था उसके अनुरूप फल की प्राप्ति नहीं हो सकी, जीवन का वह वेग अब नहीं है। लेकिन यह निराशा बहुत-कुछ निर्मल है। पहले समागम का प्रबल उच्छ्वास कभी स्थायी नहीं हो सकता। उस नये आनंद और नयी आशा की स्मृति के साथ वर्तमान की तुलना करना ही अन्याय है। विवाह के पहले दिन वंशी की ध्वनि जिस रागिनी में बजती है वह रागिनी सदा नहीं रहती। उस दिन तो केवल शुद्ध आनंद और आशा होती है, उसके बाद से शुरू होते हैं तरह-तरह के कर्तव्य, मिले-जुले दुःख-सुख, छोटे-मोटे बाधा-विघ्न, विरह-मिलन का चक्र फिर तो यों ही गहरे गंभीर ढंग से तरह-तरह के रास्तों से होकर तरह-तरह के शोक-ताप झेलकर संसार-पथ पर अग्रसर होगा, सब दिन वह नौबत नहीं बजेगी। तो भी उस एक दिन के उत्सव की स्मृति कठोर कर्तव्य-पथ पर सदा आनंद का संचार करती रहती है।

बंकिमचंद्र ने अपने हाथ से जिस दिन बाङ्ला भाषा के साथ नवयौवन प्राप्त भावों का परिणय कराया था उस दिन की सर्वव्यापी प्रफुल्लता और आनंद-उत्सव हमारे मन में है। वह दिन अब नहीं है। आज तरह-तरह की रचनाएँ, तरह-तरह के मत, तरह-तरह की आलोचनाएँ आकर उपस्थित हो गयी हैं। आज किसी दिन भावों का स्रोत मंद हो जाता है और किसी दिन थोड़ा सबल हो उठता है।

ऐसा ही होता रहता है और ऐसा ही होना जरूरी है। लेकिन किसके प्रसाद से ऐसा होना संभव हुआ यह बात याद रखनी होगी। हम अपने अभिमान में सदा यह भूल जाते हैं।

भूल जाते हैं इसका पहला प्रमाण यह है कि हम राममोहन राय को अपने वर्तमान बंग-देश के निर्माता के रूप में नहीं जानते। क्या राजनीति, क्या विद्या-शिक्षा, क्या समाज, क्या भाषा आधुनिक बंगाल में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका सूत्रपात राममोहन राय ने अपने हाथ से नहीं किया। यहाँ तक कि आज देश में प्राचीन शास्त्रालोचना के प्रति जो एक नया उत्साह दिखायी पड़ रहा है, उसके भी पथ-प्रदर्शक राममोहन राय हैं। जब नयी शिक्षा के अभिमान में स्वभावतः प्राचीन शास्त्रों के प्रति अवज्ञा उत्पन्न होने की संभावना थी तब राममोहन राय ने साधारण लोगों के लिए दुर्बोध, विस्मृतप्राय वेद, पुराण, तंत्र से सार लेकर प्राचीन शास्त्रों का गौरव उज्ज्वल रखा था।

बंगाल आज उसी राममोहन राय के निकट किसी तरह हृदय से कृतज्ञता नहीं स्वीकार करना चाहता। राममोहन ने बाङ्ला साहित्य को ग्रैनाइट के धरातल पर स्थापित करके उसे डूब जाने की स्थिति से उबार लिया था, बंकिमचंद्र उसी के ऊपर प्रतिभा का प्रवाह डालकर उपजाऊ गीली मिट्टी की तहें जमा गये हैं। आज बाङ्ला भाषा मजबूत घर बनाने के योग्य ही नहीं है बल्कि उर्वरा शस्यश्यामला हो उठी है। रहने की भूमि सच्चे अर्थों में मातृभूमि बन गयी है। अब हमारे मन का आहार प्रायः घर के द्वार पर ही फल रहा है।

मातृभाषा की फलहीन दशा को मिटाकर जिन्होंने उसे इतनी गौरवशालिनी बनाया है उन्होंने बगाली जाति का कितना बड़ा और कैसा चिरस्थायी उपकार किया है, यह बात अगर किसी को समझाने की ज़रूरत पड़े तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और कुछ नहीं हो सकता। उससे पहले कोई बाङ्ला को आदर की दृष्टि से न देखता था। संस्कृत पंडित उसे ग्राम्य और अंग्रेज़ी पंडित उसे बर्बर समझते थे। बाङ्ला भाषा में अभी कीर्ति उपार्जित की जा सकती है, यह वे सपने में भी न

सोच सकते थे। इसीलिए वे बड़ी कृपा करके केवल स्त्रियों और बच्चों के लिए देशीय भाषा में सरल पाठ्य पुस्तकों की रचना करते। जो लोग उन सब पुस्तकों की सरलता और पाठ्य-योग्यता के संबंध में जानना चाहें वे रेवेरण्ड कृष्णमोहन बंद्योपाध्याय-रचित एन्ट्रेंस-पाठ्य बाङ्‌ला ग्र न्थ में दाँत गड़ाने का प्रयत्न करके देखें। असम्मानित बाङ्‌ला भाषा भी तब अत्यंत दीन-मलिन भाव से काल-यापन कर रही थी; उसमें कितना सौन्दर्य, कितनी महिमा छिपी हुई है यह उसी दरिद्रता को भेदकर प्रकट न हो पाता था। जहाँ मातृभाषा की इतनी अवहेलना होती हो, वहाँ कोई मानव-जीवन की शुष्कता, शून्यता, दीनता दूर नहीं कर सकता।

ऐसे समय में तब तक के शिक्षितों में श्रेष्ठ बंकिमचंद्र ने अपनी सारी शिक्षा, सारा अनुराग, सारी प्रतिभा, उसी दिन-हीन बाङ्‌ला भाषा के चरणों में भेंट चढ़ा दी । उस समय उन्होंने यह जो असाधारण काम किया, उसका हम आज पूरी तरह अनुमान भी जो नहीं कर पाते, यह भी उन्हीं का प्रसाद है।

तब उनकी तुलना में अनेक अर्धशिक्षित प्रतिभाहीन व्यक्ति अंग्रेज़ी में दो सतरें लिखकर घमंड से फूल उठते थे। वे अंग्रेजी के समुद्र में ऊदबिलाव की तरह बालू का बाँध बना रहे हैं, यह समझने की शक्ति भी उनके अंदर न थी।

बंकिमचंद्र ने जो उस अभिमान और ख्याति की संभावना को निर्भय-निस्संकोच त्याग दिया और जो विषय उस समय के विद्वानों के लिए उपेक्षित था उसमें जिस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगा दी, उससे बड़ा वीरता का परिचय और क्या हो सकता है? सारी क्षमता रहते हुए अपने समकक्ष लोगों के उत्साह और इसकी प्रशंसा के प्रलोभन को छोड़कर एक अपरीक्षित, अपरिचित, अनाहत अँधेरे रास्ते पर अपने नये जीवन की समस्त आशा, उद्यम, क्षमता को ले जाना कितने विश्वास और साहस के बल पर ही हो सकता है, इसका हिसाब लगाना आसान नहीं।

इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी शिक्षा के गर्व में बाङ्‌ला भाषा के प्रति अनुग्रह नहीं दिखलाया, श्रद्धा और केवल श्रद्धा व्यक्त की। जितनी कुछ आशा, आकांक्षा, सौन्दर्य, प्रेम, महत्त्व, भक्ति, देशानुराग था, शिक्षित परिणत बुद्धि के जितने कुछ शिक्षा से प्राप्त और चिंतन से उत्पन्न धनरत्न थे, सब-कुछ उन्होंने निस्संकोच बाङ्‌ला भाषा के हाथों में अर्पित कर दिया । उस अनादर से मलिन भाषा के मुखमंडल पर इस परम सौभाग्य के गर्व से देखते-देखते अपूर्व लक्ष्मी-श्री प्रस्फुटित हो उठी।

और वे लोग जिन्होंने पहले अवहेलना की थी, बाङ्‌ला-साहित्य के यौवन-सौंदर्य से आकृष्ट होकर एक-एक करके पास आने लगे । बाङ्‌ला-साहित्य प्रतिदिन गौरव से परिपूर्ण होने लगा ।

बंकिम ने जो भारी बोझ अपने कंधों पर उठाया था वह और किसी के बस का न था। पहली बात तो यह कि बाङ्‌ला भाषा तब जिस स्थिति में थी उसमें वह शिक्षित व्यक्तियों के सब तरह के भावों को व्यक्त कर सकती है, यह विश्वास करना और खोज निकालना ही विशेष क्षमता का काम था । दूसरे, जहाँ पर साहित्य में कोई आदर्श न हों, जहाँ पाठक असाधारण उत्कर्ष की आशा ही न करता हो, जहाँ लेखक उपेक्षापूर्वक लिखता हो और पाठक अनुग्रहपूर्वक पढ़ता हो, जहाँ थोड़ा-सा भी अच्छा लिख लेने से वाहवाही मिलती हो और बुरा लिखने पर भी कोई निंदा करना ज़रूरी न समझता हो, वहाँ केवल अपने मन में स्थित उन्नत आदर्श को सदैव अपने आगे

रखे हुए, सामान्य परिश्रम से सुलभ ख्याति पाने के प्रलोभन को दबाते हुए, अथक परिश्रम से अप्रतिहत उद्यम से दुर्गम परिपूर्णता के रास्ते पर आगे बढ़ना असाधारण गौरव का कार्य है। चारों ओर फैली हुई उत्साहहीन जीवनहीन जड़ता के समान भारी बोझ दूसरा नहीं है, उसकी प्रबल गुरुत्वाकर्षण-शक्ति को लाँघकर ऊपर उठना कितनी अथक चेष्टा और बल का काम है, यह आज के साहित्य-व्यवसायी भी थोड़ा-बहुत समझ सकते हैं, और तब यह और भी कितना कठिन था इसका अनुमान करना भी कष्टकर है। जब सभी जगह शिथिलता हो और उस शिथिलता की निंदा न होती हो तब अपने को नियमव्रत में बाँधना बड़े पुरुषार्थी लोगों का ही काम है।

बंकिम ने अपने हृदय के उस आदर्श का सहारा लेकर प्रतिभा के बल से जो कार्य किया वह बड़ा अद्भुत है। बंगदर्शन के पूर्ववर्ती और उसके परवर्ती बाङ्ला-साहित्य में ऊँचे-नीचे का अपरिमित अन्तर है। जिन्होंने दार्जिलिंग से कांचनजंघा की शिखरमाला देखी है वे जानते हैं कि उस अभ्रभेदी शैल-सम्राट् का उदयरविरश्मिसमुज्ज्वल तुषार-किरीट चारों ओर की निस्तब्ध चोटियों से कितने ऊपर उठा हुआ है। बंकिमचंद्र के परवर्ती बाङ्ला-साहित्य ने भी उस प्रकार आकस्मिक उन्नति प्राप्त की है, एक बार उसी का निरीक्षण करने और हिसाब लगाकर देखने से बंकिम की प्रतिभा का विराट् बल सहज ही अनुमान किया जा सकेगा।

बंकिम ने स्वयं बाँङ्ला भाषा को जो श्रद्धा अर्पित की थी, दूसरों से भी वे उसी श्रद्धा की प्रत्याशा रखते थे। पुराने अभ्यासवश कोई अगर साहित्य के साथ खिलवाड़ करने को आता तो बंकिम उसको ऐसा दंड देते कि फिर उसे ऐसी धृष्टता करने का साहस न होता।

तब समय और भी कठिन था। बंकिम ने स्वयं एक देशव्यापी भावना का आन्दोलन उपस्थित किया था। उस आन्दोलन के प्रभाव में कितने हृदय चंचल हो उठे थे और अपनी क्षमता की सीमा को न समझते हुए कितने लोगों ने एक छलाँग में लेखक बन जाने की चेष्टा की थी, इसकी गिनती नहीं। लिखने का प्रयास जाग उठा था, लेकिन उसका कोई उच्च आदर्श तब तक नहीं स्थापित हो पाया था। उस समय सव्यसाची बंकिम ने एक हाथ गठन-कार्य में और एक हाथ निवारण-कार्य में लगा रखा था, एक ओर आग जलाये रख रहे थे और दूसरी ओर धुआँ और राख दूर करने का भार भी स्वयं ही ले रखा था।

बंकिम ने अकेले ही रचना और समालोचना दोनों कार्यों का भार अपने ऊपर ले लिया था इसीलिए बाङ्ला-साहित्य इतनी जल्दी ऐसी द्रुतगति से प्रौढ़ता को प्राप्त करने में सफल हुआ।

इस दुष्कर व्रत-अनुष्ठान का फल भी उन्हींको भोगना पड़ा था। मुझे याद है कि जब वे बंग-दर्शन में समालोचक के पद पर आसीन थे तब उनके नीचे शत्रुओं की संख्या कम न थी। सैकड़ों अयोग्य लोग उनसे ईर्ष्या करते और उनकी श्रेष्ठता का खण्डन करने की चेष्टा किये बिना न रहते।

काँटा कितना ही छोटा हो, उसमें चुभ जाने की क्षमता रहती है। और कल्याण-प्रवण लेखकों का वेदना-बोध भी साधारण लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक होता है। यह नहीं कि छोटे-छोटे दंश बंक्रिम को लगते न हों लेकिन वे किसी तरह अपने कर्तव्य से विमुख नहीं हुए। उनमें अजेय बल था, कर्तव्य के प्रति निष्ठा थी और अपने प्रति विश्वास था। वे जानते थे कि वर्तमान का कोई उत्पात उनकी महिमा को ढक न सकेगा—सारे नीच शत्रुओं के व्यूह से वे

अनायास बाहर निकल सकेंगे। इसीलिए वे सदा प्रफुल्ल-वदन वीरतापूर्वक आगे बढ़े, किसी दिन उन्हें अपने रथ का वेग कम करने की जरूरत नहीं हुई।

साहित्य में भी दो प्रकार के योगी दिखाई पड़ते हैं, ध्यानयोगी और कर्मयोगी। ध्यानयोगी एकांत में बैठकर एकाग्रभाव से भावों की चर्चा करते हैं, उनकी सूचनाएँ संसारी लोगों के लिए जैसे अतिरिक्त लाभ हैं—जिसको जितना लेना हो।

लेकिन बंकिम साहित्य में कर्मयोगी थे। उनकी प्रतिभा अपने-आप में स्थिर भाव से पर्याप्त न थी। साहित्य में जहाँ भी जो भी अभाव था सभी जगह वे अपना विपुल बल और आनन्द लेकर दौड़ पड़ते। क्या काव्य, क्या विज्ञान, क्या इतिहास, क्या धर्मतत्त्व, जहाँ पर जब कभी उनकी ज़रूरत पड़ती वहाँ पर तभी वे पूरी तरह प्र स्तुत दिखायी पड़ते । नये बाङ्ला-साहित्य में, सब विषयों में ही आदर्श स्थापित कर जाना उनका उद्देश्य था । विपन्न बाङ्ला भाषा ने आर्त-स्वर में जहाँ भी उन्हें पुकारा है वहीं पर उन्होंने चतुर्भुज रूप में दर्शन दिया है ।

लेकिन वे केवल अभय देते हों, सान्त्वना देते हों, अभाव पूर्ण करते हों ऐसी बात न थी, वे दर्प-हरण भी करते थे। आज जो लोग बाङ्ला साहित्य के सारथी बनना चाहते हैं वे दिन-रात बंगाल को अत्युक्तिपूर्ण स्तुति-वाक्यों से प्रसन्न रखने की चेष्टा करते हैं। लेकिन बंकिम की सरस्वती केवल स्तुतिवादिनी न थी, खड्गधारिणी भी थी। बंग देश यदि जड़ और प्राणहीन न होता तो कृष्ण-चरित को लेकर वर्तमान पतित हिन्दू-समाज और विकृत हिन्दू धर्म के ऊपर जो अस्त्र-घात उन्होंने किया है उससे उसको पीड़ा पहुँचती और शायद कुछ चेतना भी मिलती। बंकिम के समान तेजस्वी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को छोड़कर दूसरा कोई भी लोकाचार देशाचार के विरुद्ध इतने निर्भीक, स्पष्ट ढंग का अपना मत व्यक्त करने का साहस न करता। यहाँ तक कि बंकिम ने प्राचीन हिन्दू शास्त्र के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि रखते हुए उसके सारवान् और निस्सार भावों को अलग किया है, उसके प्रामाणिक और अप्रामाणिक अंगों का विश्लेषण इतने निस्संकोच भाव से किया है कि आज उसकी तुलना मिलनी कठिन है।

उन्हें विशेषतः दो शत्रुओं के बीच में अपना रास्ता बनाते हुए चलना पड़ा। एक ओर जो लोग अवतार नहीं मानते वे श्रीकृष्ण के ऊपर देवत्व का आरोप करने से विपक्षी हो गये। दूसरी ओर वे लोग जो शास्त्र के प्रत्येक अक्षर और लोकाचार की प्रत्येक प्रथा को अभ्रांत समझते हैं वे भी विचार लोहास्त्र द्वारा शास्त्र के बीच से कांट-छाँटकर छील-छालकर मनुष्य के महान्तम आदर्श के अनुसार देवताओं को गढ़ने की क्रिया से बहुत प्रसन्न नहीं हुए। ऐसी स्थिति में दूसरा कोई होता तो किसी एक पक्ष को पूरी तरह अपने दल में समेट लेने की इच्छा करता। लेकिन साहित्य-महारथी बंकिम दाएँ-बाएँ दोनों पक्षों के ऊपर तीर चलाते हुए बेधड़क आगे बढ़े हैं—उनकी अपनी प्रतिभा ही उनकी एकमात्र सहायिका थी। उन्होंने अपने विश्वासों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है—वाक्-चातुर्य द्वारा अपने को या दूसरे को ठगने की कोशिश नहीं की।

कल्पना और काल्पनिकता दोनों में बड़ा भारी अन्तर है। सच्ची कल्पना युक्ति, संयम और सत्य के द्वारा सुनिर्दिष्ट आकार में बँधी होती है—काल्पनिकता में सत्य का आभास-मात्र होता है लेकिन वह अद्‌भुत अतिरंजना से असंहत रूप में फूली हुई होती है। उसमें जो थोड़ा-बहुत प्रकाश होता है उससे सौ गुना ज़्यादा धुआँ होता है। जिसमें क्षमता कम होती है वे प्रायः साहित्य

की इस धुआँ देती हुई काल्पनिकता का सहारा लेते हैं, क्योंकि वह देखने में विराट् होती है लेकिन सचमुच बहुत छोटी होती है। पाठकों का एक दल इस प्रकार की प्रकाण्ड, कृत्रिम काल्पनिकता की निपुणता देखकर मुग्ध और अभिभूत हो जाता है और दुर्भाग्य से बाङ्ला में इस श्रेणी के पाठक कम नहीं हैं।

इस प्रकार की अपरिमित, असंयत कल्पना के देश में बंकिम के समान आदर्श हमारे लिए अत्यन्त मूल्यवान है। कृष्ण-चरित्र में, उद्दाम भावों के आवेग में उनकी कल्पना कहीं उच्छृंखल नहीं होने पायी। शुरू से लेकर आखिर तक सब जगह वे पग-पग पर अपने को संयत करते हुए युक्ति का सुनिर्दिष्ट पथ पकड़े-पकड़े चले हैं। जो कुछ उन्होंने लिखा है उसमें उनकी प्रतिभा व्यक्त हुई है, जो नहीं लिखा उसमें भी उनकी क्षमता कम नहीं प्रकट हुई।

विशेषतः यह विषय ऐसा है कि किसी साधारण बंगाली लेखक के हाथ में पड़ने पर वह इस सुयोग का लाभ उठाकर 'हरि-हरि' 'मरि-मरि' 'हाय-हाय' का खूब शोर मचाता, आँसू बहाता, भाव बदलने के लिए खूब-खूब अंगों को तोड़ता-मरोड़ता और कल्पना के उच्छ्वास, भावों के आवेग और हृदय की अतिशय भावुकता को प्रकट करने का ऐसा अनुकूल अवसर कभी हाथ से न जाने देता, सुविचारित तर्क द्वारा, कठिन सत्य-निर्णय के आग्रह से पग-पग पर अपनी लेखनी पर रोक न लगाता, सबके लिए सुगम सरल पथ को छोड़कर अपने एक कपोल-कल्पित नये आविष्कार को ही सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सबसे अधिक प्रधानता देकर वाक्-प्राचुर्य और कल्पना के कुहासे से ढक देता और यथाशक्ति अपने विश्वास और भाषा का लंबा-चौड़ा ताना-बाना बुनकर अधिक-से-अधिक लोगों को अपने मत के जाल में खींचने की चेष्टा करता।

वस्तुतः हमारे शास्त्रों से इतिहास के उद्धार का कठिन भार केवल बंकिम ले सकते थे। एक ओर हिन्दू शास्त्रों के वास्तविक मर्म को समझने में यूरोपीय लोगों की अक्षमता, दूसरी ओर शास्त्रगत प्रमाणों के निरपेक्ष विचार के सम्बन्ध में हिन्दू लोगों का संकोच—एक ओर ठीक-ठीक परिचय का अभाव, दूसरी ओर अतिपरिचयजनित अभ्यास और संस्कारों का अंधापन—यथार्थ इतिहास को इन दोनों संकटों के बीच से उबारना होगा। देशानुराग की सहायता से शास्त्रों के मर्म में पैठना होगा और सत्यानुराग की सहायता से उसके निर्मूल अंशों को छोड़ना होगा। जिस वल्गा के इंगित से लेखनी को वेग देना होगा, उसी वल्गा को खींचकर सदैव लेखनी को संयत करना होगा। इस सब क्षमताओं का सामंजस्य बंकिम के अंदर था। इसीलिए जब वे मृत्यु से कुछ पहले प्राचीन वेद-पुराणों का संग्रह करने के लिए बैठे थे तो बाङ्ला साहित्य को उनसे बड़ी आशा थी लेकिन मृत्यु ने उस आशा को सफल नहीं होने दिया और हमारे भाग्य से जो असम्पन्न रह गया वह कब सम्पन्न होगा, यह कोई नहीं कह सकता।

यह बंकिम की प्रतिभा का एक स्वाभाविक गुण है कि वे सब तरह के अतिरेक और असंगति से अपनी रक्षा कर सके। जिन लोगों ने उनकी रचनाएँ पढ़ी हैं वे जानते हैं कि बंकिम हास्यरस के अच्छे रसिक थे। जिस परिष्कृत बुद्धि का आलोक सभी अतिरेकों और असंगतियों का पर्दा खोल देता है, हास्यरस उसी किरण की एक रश्मि है। कहाँ पहुँचकर कोई चीज़ हास्यास्पद हो उठती है यह सब लोग अनुभव नहीं कर पाते, लेकिन जो हास्य-रस के रसिक होते हैं उनके अन्तःकरण में एक बोधशक्ति होती है जिसके द्वारा वे सदा अपनी ही नहीं दूसरे की बातचीत,

आचार-व्यवहार और चरित्र की सुसंगति की सूक्ष्म सीमा तक का सहज ही निर्णय कर लेते हैं।

बंकिम ही सबसे पहले बाङ्ला-साहित्य में निर्मल, शुभ्र, संयत हास्य लेकर आये। उसके पहले बाङ्ला-साहित्य में हास्य-रस को दूसरे रसों के साथ एक पंक्ति में नहीं बैठाया जाता था। वह नीचे आसन पर बैठकर श्राव्य-अश्राव्य भाषा में भँडेती करके सभाजनों का मनोरंजन करता था। शृंगार-रस के साथ जैसे उसका छेड़छाड़ का कोई ख़ास रिश्ता था और उसी रस को सब तरह से खींच-तानकर, जगाकर उसका अधिकांश परिहास-विद्रूप प्रकट होता था। यह प्रगल्भ विदूषक चाहे कितना ही प्रिय पात्र क्यों न हो, सम्मान का अधिकारी वह कभी न था। जहाँ किसी विषय की गम्भीर आलोचना होती वहाँ हास्य की चपलता को अलग करने की पूरी चेष्टा की जाती।

बंकिम ने सबसे पहले हास्य-रस को साहित्य की ऊँची श्रेणी में स्थान दिलाया। उन्होंने सबसे पहले यह दिखाया कि हास्य-रस केवल प्रहसन की सीमा में आबद्ध नहीं है, उज्ज्वल, शुभ्र हास्य सब विषयों को आलोकित कर सकता है। उन्होंने सबसे पहले दृष्टांत के द्वारा प्रमाणित कर दिया कि इस हास्य-ज्योति के संस्पर्श से किसी विषय की गहराई का गौरव कम नहीं होता, हाँ, उसका सौंदर्य और रमणीयता बढ़ ज़रूर जाती है; उसका सब प्राण और गति जैसे स्पष्ट होकर चमक उठती है। जिन बंकिम ने बाङ्ला-साहित्य की गहराई से अश्रुओं का उन्मुक्त किया था उन्हीं बंकिम के आनंद के उदय-शिखर से नवजाग्रत बाङ्ला-साहित्य के ऊपर हास्य का प्रकाश बिखेर दिया।

केवल सुसंगति, सुरुचि और शिष्टता की सीमा का निर्णय करने के लिए भी एक स्वाभाविक सूक्ष्म बोध-शक्ति आवश्यक होती है। कभी-कभी अनेक बलिष्ठ प्रतिभाओं में इस बोध-शक्ति का अभाव देखा जाता है। लेकिन बंकिम की प्रतिभा में बल और सुकुमारता का एक सुन्दर सम्मिश्रण था। सच्चे अर्थों में वीर पुरुष के मन में नारी-जाति के प्रति जैसा एक संभ्रमपूर्ण सम्मान का भाव रहता है वैसी ही सुरुचि और शील के प्रति बंकिम की बलिष्ठ बुद्धि की एक भद्रजनोचित, वीरोचित, प्रीतिपूर्ण श्रद्धा थी। बंकिम की रचना इसकी साक्षी है। इस लेखक ने किसी दिन पहली बार बंकिम को देखा था उस दिन एक घटना घटी, जिससे बंकिम की इस स्वाभाविक सुरुचिप्रियता का प्रमाण मिलता है।

उस दिन लेखक के आत्मीय पूज्यपाद श्रीयुत शौरीन्द्रमोहन ठाकुर महोदय के निमंत्रण पर उनके मरकत कुंज में कॉलेज-रियूनियन नामक एक मिलन-सभा बैठी थी। यह कितने दिनों की बात है, ठीक-ठीक मुझे याद नहीं, पर तब मैं लड़का था। उस दिन वहाँ पर मेरे अपरिचित बहुत-से यशस्वी लोगों का समागम हुआ था। विद्वानों की उसी मण्डली में एक दुबला-पतला-लम्बा विनोदी, हँस-मुख मूँछ वाला प्रौढ़ व्यक्ति चपकन पहने सीने पर दोनों हाथ बाँधे खड़ा था। देखकर ही ऐसा लगा कि जैसे वे सबसे अलग और अपने में डूबे हुए हों। और सब जनता का अंश थे, केवल वे जैसे अकेले एक हों। उस दिन और किसी का परिचय जानने की कोई अभिलाषा मेरे मन में नहीं जगी, लेकिन उनको देखते ही मैं और मेरा एक आत्मीय संगी हम दोनों एक-साथ कुतूहल से भर उठे। पता लगाने पर मालूम हुआ कि वही लोकविश्रुत बंकिम बाबू हैं जिनके दर्शन की अभिलाषा हमारे मन में बहुत दिनों से थी। मुझे याद है पहले दर्शन में ही उनकी मुख-मंडल की प्रतिभा की प्रखरता और बलिष्ठता तथा सब लोगों से दूर और सबसे

अलग होने का उनका वह भाव मेरे मन पर अंकित हो गया था। उसके बाद बहुत बार मैंने उनका साक्षात्कार किया है, उनसे बहुत उत्साह और उपदेश प्राप्त किया है और उनकी मुखश्री को स्नेह के कोमल हास्य से अत्यन्त कमनीय होते देखा है लेकिन प्रथम दर्शन में उनके मुख पर मैंने जो उठी हुई तलवार के समान एक उज्ज्वल, सुतीक्ष्ण प्रबलता देखी थी, वह आज तक मैं भूल नहीं सका।

उस उत्सव के उपलक्ष्य में एक संस्कृतज्ञ पण्डित एक कमरे में अपने रचे हुए देशानुरागमूलक संस्कृत श्लोक पढ़कर उनकी व्यवस्था कर रहे थे। बंकिम एक किनारे खड़े सुन रहे थे। पण्डित महाशय ने सहसा एक श्लोक में पतित भारत-संतान को लक्ष्य करके उन दिनों के ढंग का एक अत्यन्त पण्डिताऊ हास्य का प्रयोग किया, पर वह रस कुछ वीभत्स हो उठा। बंकिम फ़ौरन बहुत शरमाकर दाहिनी हथेली से अपना चेहरा ढँके हुए बगल के दरवाज़े से आनन-फानन दूसरे कमरे में भाग गये।

बंकिम का वह संकोचपूर्ण पलायन-दृश्य आज तक मेरे मन पर अंकित है।

विचार करके देखा होगा, ईश्वर गुप्त जब साहित्य-गुरु थे तब बंकिम उनके शिष्यों में थे। उस समय का साहित्य अन्य किसी प्रकार की शिक्षा चाहे दे सके, सुरुचि की शिक्षा के लिए बहुत उपयोगी न था। उस समय के असंयत वाक्‌युद्ध और आंदोलन के बीच पलटकर बड़े होकर नीचता के प्रति क्षोभ, सुरुचि के प्रति श्रद्धा और शिष्टता के सम्बन्ध में अक्षुण्ण वेदना-बोध की रक्षा करना कितना अद्‌भुत काम था, यह सब लोग समझ सकेंगे। दीनबंधु भी बंकिम के समसामयिक और उनके मित्र थे लेकिन उनकी रचनाओं में अन्य क्षमताएँ रहते हुए बंकिम की प्रतिभा की यह ब्राह्मणोचित शुचिता उनमें नहीं दिखायी पड़ती । उनकी रचनाओं से ईश्वर गुप्त के समय की छाप धुल नहीं सकी।

हममें से जो लोग साहित्य-व्यवसायी है उन्हे यह कभी न भूलना चाहिए कि वे बंकिम के निकट कितने चिर ऋणी हैं । एक दिन हमारी बाङ्‌ला भाषा केवल इकतारे के समान एकतारे से बँधी हुई थी, वह केवल सहज सुर में धर्म-संकीर्तन के लिए उपयोगी थी, बंकिम ने अपने हाथ से उसमें एक-एक करके तार चढ़ाये और इस तरह आज उसे वीणा का रूप दे दिया। पहले जिसमें केवल स्थानीय ग्राम्य सुर बजता था वही आज विश्व-सभा में सुनाने के उपयुक्त ध्रुपद अंग की कलावती रागिनी का आलाप करने के योग्य हो उठा है। वही उनकी अपने हाथ से गढ़ी हुई, स्नेहपालित, क्रोड़संगिनी बाङ्‌ला भाषा आज बंकिम के लिए बिलख-बिलखकर रो रही है। लेकिन वे इस शोकोच्छ्‌वास से परे शांतिधाम में, दुष्कर जीवन-यज्ञ को समाप्त करके निरामय विश्राम कर रहे हैं। मृत्यु के बाद उनके चेहरे पर एक कोमल प्रसन्नता, एक दुःख-ताप-हीन गहरी शांति उद्‌भासित हो उठी थी—कि जैसे मृत्यु उनको जीवन की दोपहरी से तपे हुए, कठोर संसार से स्नेह-शीतल माँ की गोद में ले गयी हो। आज हमारा विलाप-परिताप उनको नहीं छूता, हमारे भक्ति के उपहार को ग्रहण करने के लिए वह प्रतिभा-ज्योतिर्मय सौम्य प्रसन्न मूर्ति यहाँ पर उपस्थित नहीं है। हमारा यह शौक़, यह भक्ति केवल हमारे अपने कल्याण के लिए है। बंकिम साहित्य-क्षेत्र में जो आदर्श स्थापित कर गये हैं वही आदर्श प्रतिभा इस शौक़ और भक्ति के द्वारा हमारे मन में उज्ज्वल और स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो। पत्थर की मूर्ति स्थापित करने का अर्थ और सामर्थ्य

अगर हममें न हो तो एक बार उनके महत्त्व को पूरी तरह से अपने मन में उपलब्ध करके हम उन्हें अपने बंगाली हृदय में स्मरण-स्तंभ में स्थायी बनाकर रखें। अंग्रेज़ और अंग्रेज़ का कानून चिरस्थायी नहीं है, राजनीतिक, धर्मनीतिक, समाजनीतिक मतामत हज़ारों बार परिवर्तित हो सकते हैं; जो सब घटनाएँ, जो सब अनुष्ठान आज सबसे प्रधान जान पड़ रहे हैं और जिनके उन्माद के कोलाहल में समाज के ख्यातिहीन, शब्दहीन कर्तव्यों को नगण्य समझा जा रहा है, हो सकता है कल उनकी स्मृति का चिह्न भी न बचे, लेकिन जिन्होंने हमारी मातृ-भाषा को सब तरह के भावों की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया है उन्होंने इस अभागे दरिद्र देश को एक अमूल्य सम्पदा दी है, जिसका कभी अन्त न होगा। वे स्थायी जातीय उन्नति का एक-मात्र मूल उपाय स्थापित कर गये हैं। उन्होंने हम लोगों के सामने सच्चे अर्थों में शोक के बीच सान्त्वना, अवनति के बीच आशा, श्रांति के बीच उत्साह और दारिद्र्य की शून्यता के बीच चिर-सौन्दर्य का अक्षय आगार उद्घाटित कर दिया है। हम लोगों में जो कुछ अमर है और जो कुछ हमको अमर करेगा उस सब महाशक्ति को धारण करने का, पोषण करने का, व्यक्त करने का और सब जगह प्रचारित करने का एक-मात्र उपाय जो मातृ-भाषा है उसी को उन्होंने बलवती और महीयसी बनाया है।

रचना विशेष की समालोचना भ्रांत हो सकती है—हमारे निकट जो प्रशंसित है कालांतर में शिक्षा, रुचि और स्थिति के परिवर्तन के अनुसार हमारे उत्तरवर्तियों के निकट वह निंदित और उपेक्षित हो सकती है लेकिन बंकिम ने बाङ्ला भाषा की क्षमता और बाङ्ला-साहित्य की समृद्धि बढ़ा दी है, उन्होंने भगीरथ के समान साधना करके बाङ्ला-साहित्य में भावमंदाकिनी को उतारा है और उसी पुण्य स्रोत के स्पर्श से जड़ता के शाप को काटकर हमारी प्राचीन भस्मराशि में जीवन फूँक दिया है—यह केवल सामयिक मत नहीं, यह बात किसी विशेष तर्क या रुचि से ऊपर निर्भर नहीं है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है । इस बात की छाप स्मृति पर लगाकर मैं इस बाङ्ला-लेखकों के गुरु बाङ्ला-पाठकों के सुजला-सुफला-मलयजशीतला बंगभूमि की मातृ-वत्सल प्रतिभाशाली संतान से विदा लेता हूँ, जो जीवन की साँझ आने के पहले ही, नये अवकाश और नये उद्यम से नये काम में हाथ डालने के पहले ही अपनी अम्लान प्रतिभारश्मि को बटोरकर और बाङ्ला साहित्याकाश की क्षीणतर ज्योतिष्क-मण्डली के हाथों समर्पित करके पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्ष में पश्चिम दिगंत-सीमा पर अपने समय से पहले ही अस्त हो गये।

[८ अप्रैल, १८९९ को बंकिमचंद्र का स्वर्गवास हो गया। रवीन्द्रनाथ ने चैतन्य लायब्रेरी में बंकिम पर यह निबन्ध पढ़ा जो मई १८९९ (वैशाख १३०१) में 'साधना' में प्रकाशित हुआ।]

१५

महात्मा गाँधी

भारतवर्ष की अपनी एक सम्पूर्ण भौगोलिक प्रतिभा है। पूर्व-प्रान्त से लेकर पश्चिम-प्रान्त तक, उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक भारत की जो एक विशिष्ट पूर्णता है उसका चित्र हृदय में ग्रहण करने की इच्छा देश में प्राचीन काल से रही है। विभिन्न युगों और स्थानों में जो विच्छिन्न है, उसे एक करके देखने का प्रयत्न 'महाभारत' में स्पष्ट और जागृत रूपों में दिखायी पड़ता है ।

भारत के भौगोलिक स्वरूप को हृदय में उपलब्ध करने का किसी समय एक अच्छा साधन था। यह साधन था तीर्थ-यात्राओं की परंपरा। देश के पूर्वी अंचल से लेकर पश्चिमी किनारे तक, और हिमालय से लेकर समुद्र तक, पवित्र पीठ-स्थान थे। यहाँ तीर्थ स्थापित हुए जिनके द्वारा शक्ति के ऐक्यजाल में समस्त भारतवर्ष को लाने का एक सहज उपाय निर्मित हुआ।

भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। इस बात को सम्पूर्ण रूप से समझना प्राचीन काल में संभव नहीं था। आज हम 'सर्वे-रिपोर्टों', मानचित्रों और भौगोलिक विवरणों द्वारा भारत के वास्तविक विस्तार को अच्छी तरह देख सकते हैं। प्राचीन काल में ये साधन नहीं थे, और एक तरह से उनका न होना अच्छा ही था। जो चीज़ बहुत आसानी से मिलती है उसका मन पर गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। तरह-तरह के कष्ट सहकर भारत-परिक्रमा करते हुए जो अभिज्ञता प्राप्त की जाती थी वह गम्भीर होती थी और मन से उनका दूर होना कठिन था।

प्राचीन काल के इस समन्वय-तत्त्व का उज्ज्वल स्वरूप 'गीता' में मिलता है। कुरुक्षेत्र की भूमि में यह जो अचानक दार्शनिक चर्चा की जाती है वह काव्य की दृष्टि से असंगत-सी लगती है। यह भी कहा जा सकता है कि मूल 'महाभारत' में यह विवेचन नहीं था। जिन्होंने बाद में इसकी रचना की वे जानते थे कि काव्य-परिधि के बीच—भारत की चित्त-भूमि में—इस तात्त्विक चर्चा का प्रवेश आवश्यक था। उस समय भारत को अन्दर-बाहर से पूरी तरह उपलब्ध करने का प्रयास धार्मिक अनुष्ठान द्वारा ही संभव था। महाभारत-पाठ हमारे देश में धार्मिक कर्मों में गिना जाता था—केवल तात्त्विक दृष्टि से नहीं, वरन् देश की सम्पूर्ण उपलब्धि करने की दृष्टि से भी। और तीर्थयात्री भी दूर-दूर तक घूमते हुए, देश के विभिन्न भागों को स्पर्श करते-करते, भारत के ऐक्यरूप को आंतरिक भाव से ग्रहण करते थे।

यह तो हुई प्राचीन काल की बात। लेकिन अब युग बदल गया है। आज देश के लोग अपने-अपने अलग कोनों में बैठकर प्रादेशिक संकीर्णता में आबद्ध हो गये हैं। संस्कार और लोकाचार के जाल में हम जकड़ गये हैं। लेकिन 'महाभारत' के विस्तृत क्षेत्र में हम मुक्ति की

वायु का अनुभव करते हैं। इस महाकाव्य के विराट् प्रांगण में मानव-मन की तरह-तरह से परीक्षाएँ हुई हैं। जिसे हम प्रायः निन्दनीय कहते हैं उसे भी वहाँ स्थान मिला है। यदि हमारा मन इस बात के लिए प्रस्तुत हो तो हम अपराध और दोष का अतिक्रमण करते हुए 'महाभारत' की वाणी को ग्रहण कर सकते हैं। 'महाभारत' में एक उदात्त शिक्षा है। वह शिक्षा निषेधात्मक नहीं, सकारात्मक है; उसमें 'हाँ' का स्वर सुनाई पड़ता है। दोष और त्रुटियाँ तो उन बड़े-बड़े वीर पुरुषों में भी रही हैं जो अपने माहात्म्य से उन्नतमस्तक हैं। उन त्रुटियों को आत्मसात् करके ही वे बड़े हुए हैं। मनुष्य का यथार्थ रूप से मूल्यांकन करने की यही महान् शिक्षा हमें 'महाभारत' में मिलती है, पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने से कुछ और चिन्तनीय विषय हमारे सामने आये हैं जो पहले नहीं थे। प्राचीन भारत में जो लोग स्वभाव या कार्य की दृष्टि से पृथक् थे उन्हें अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित किया गया था। लेकिन इस तरह खण्डित होने पर भी लोगों में ऐक्य साधना का प्रयास था। सहसा पश्चिम के दरवाज़े से शत्रु आ पहुँचा। एक दिन आर्यों ने भी इसी पथ से आकर पाँच नदियों के प्रदेश में उपनिवेश स्थापित किये थे, और फिर विन्ध्याचल पार करके धीरे-धीरे वे सारे भारत में फैल गये थे। उस समय भारत, गांधार और समीपवर्ती प्रदेशों के साथ, एक समग्र संस्कृति से परिवेष्टित था; इसलिए बाहर के आघात से उसकी क्षति नहीं हुई। उसके बाद एक दिन फिर हमारे ऊपर बाहर से आघात हुआ। लेकिन यह आघात विदेशियों द्वारा हुआ, जिनकी संस्कृति बिलकुल भिन्न थी। जब वे आये तब हमने देखा कि हम एक साथ रहने पर भी एक नहीं हुए थे। इसलिए सारा भारतवर्ष विदेशी आक्रमण की बाढ़ में निमग्न हुआ। तब से हमारे दिन दुःख और अपमान में कटे हैं।

विदेशी आक्रमण का अवसर पाकर कुछ लोग तो अलग-अलग दल बनाकर देश में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न करने लगे, और अन्य लोग अपने निजी स्वातन्त्र्य की रक्षा करने के लिए अलग-अलग स्थानों पर विदेशियों का विरोध करने लगे। इनमें से किसी को भी सफलता नहीं मिली। राजपूताना, महाराष्ट्र और बंगाल मे आपसी लड़ाई बहुत दिनों तक चलती रही। जितना बड़ा हमारा देश था उस परिमाण में हमारी एकता नहीं थी। दुर्भाग्य झेलकर हमने सबक़ सीखे, लेकिन सदियों बाद। हमारी आपसी फूट में ही विदेशी आक्रमणकारियों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। पहले तो हमारे निकटवर्ती शत्रुओं ने हमला किया, और फिर दूर समुद्र पार से विदेशी शत्रु अपनी वाणिज्य-नौका के साथ हमारे ऊपर टूट पड़े। पुर्तगाली आये, डच आये, फ्रांसीसी और अँग्रेज़ आये। सबने ज़ोर से धक्के लगाये और सबने देखा कि उनके रास्ते में कोई दुर्जेय बाधा नहीं थी। हम अपनी समस्त शक्ति-सम्पदा विदेशियों को देने लगे, हमारी विद्या-बुद्धि क्षीण हुई, हमारा चित्त दुर्बल और खोखला हो गया। बाहर की दीनता अपने साथ आन्तरिक दीनता भी लाती है।

ऐसे दुर्दिन में हमारे साधकों के मन मे जिस विचार का उदय हुआ वह यह था कि परमार्थ का लक्ष्य सामने रखकर भारत को स्वातंत्र्य की ओर ले जाने की आध्यात्मिक चेष्टा करना आवश्यक है। तब से हमारा मन पूर्ण रूप से पारमार्थिक पुण्य की ओर झुका है। हमारी जो पार्थिव सम्पदा है उसका प्रयोग दैन्य और अज्ञान के दूर करने में नहीं होता। पारमार्थिक वैभव के लोभ से हम अपनी पार्थिव सम्पदा ख़र्च करते हैं, और वह जा पहुँचती है महन्तों और पंडों के

गर्व से फूले हुए पेट में। इससे भारत की क्षति ही हो सकती है, उसका लाभ नहीं हो सकता। भारतवर्ष के विशाल जन-समाज में एक और भी श्रेणी के लोग हैं। ये लोग जप-तप और ध्यान करने के लिए मनुष्य-मात्र का परित्याग करते हैं, और संसार को दैन्य तथा दुःख हवाले करके चल देते हैं। संसार के प्रति उदासीन मोक्षकामी हमारे देश में असंख्य हैं, और उनके लिए जो लोग अन्न जुटाते हैं, उन्हें वे मोह-ग्रस्त तथा संसारासक्त कहते हैं। एक बार किसी गाँव में ऐसे ही एक संन्यासी के साथ मेरी भेंट हुई थी। मैंने उनसे पूछा था, 'गाँव में जो दुराचारी, दुखी और कष्ट-ग्रस्त लोग हैं, उनके लिए आप कुछ क्यों नहीं करते?' मेरा प्रश्न सुनकर संन्यासी महोदय विस्मित भी हुए और अप्रसन्न भी। उन्होंने कहा, क्या जो लोग सांसारिक मोह में जकड़े हुए हैं उनके विषय में मुझे सोचना होगा? मैं साधक हूँ। विशुद्ध आनन्द प्राप्त करने के लिए जिस संसार को छोड़ आया हूँ फिर उसीमें जाकर आबद्ध हो जाऊँ!' ऐसी बातें करने वाले संसार के प्रति उदासीन लोगों को बुलाकर यह पूछने की इच्छा होती है कि उनके शरीर को चिकना बनाये रखने के लिए सामग्री कौन जुटाता है? ये संन्यासी जिन्हें पापी और हेय समझकर ठुकराते हैं वे 'संसारी' लोग ही उनके लिए अन्न का प्रबन्ध करते हैं। परलोक की ओर दृष्टि जमाकर हम अपनी शक्ति का जो अपव्यय करते हैं उसकी कोई सीमा नहीं है। सदियों से भारत ने इस दुर्बलता को स्थान दिया है। और विधाता ने हमें इसके लिए दण्ड भी दिया है। ईश्वर ने हमें आदेश दिया है कि हम सेवा और त्याग द्वारा संसार के लिए उपयुक्त सिद्ध हों। इस आदेश की हमने उपेक्षा की है, इसलिए हमें दण्ड भोगना ही होगा।

पिछले दिनों योरोप में स्वातन्त्रय- प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न किये गये हैं। इटली किसी दिन विदेशियों के पंजे में था और अपमानित होकर जीवन व्यतीत करता था। लेकिन मेज़िनी-गैरीबाल्डी जैसे वीर और त्यागी इटली में हुए। उन्होंने प्राधीनता के जाल से मुक्ति दिलाकर अपने देश को स्वातंत्र्य -दान दिया। अमेरिका के युक्त-राष्ट्र में लोगों ने कितने दुःख सहे, उन्हें कितना प्रयत्न और संघर्ष करना पड़ा, यह भी हम इतिहास में देखते हैं। मनुष्य को मानवोचित अधिकार दिलाने के लिए पाश्चात्य देशों में कितने ही लोगों ने अपना बलिदान दिया है। आदमी-आदमी में भेद निर्माण करके एक-दूसरे का जो अपमान किया जाता है उसके विरुद्ध पच्शिम में आज भी विद्रोह चल रहा है। उन दोनों में जन-साधारण को मानवीय गौरव का अधिकारी माना गया है, इसलिए राष्ट्रीय प्रशासन के सभी अधिकार सर्वसाधारण तक पहुँच गये हैं। वहाँ विधान के सामने धनी और निर्धन में, या ब्राह्मण और शूद्र में, कोई भेद नहीं है। पाश्चात्य जगत् क इतिहास से हमें यह शिक्षा मिलती है कि एकताबद्ध होकर स्वतंत्रता को जैसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है। आज सभी भारतवासी यह चाहते हैं कि अपने देश को नियंत्रित करने का अधिकार उन्हें मिले। यह इच्छा हमने पश्चिम से ही प्राप्त की है। इतने दिनों तक हम अपने गाँव और पड़ोसियों को छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित करते आये हैं। अत्यन्त क्षुद्र परिधि के भीतर हम सोचते और काम् करते रहे हैं। गाँव में तालाब और मन्दिर बनवाकर ही हमने अपना जीवन सार्थक समझा है, और गाँव ही हमारे लिए जन्मभूमि या मातृभूमि रही है। भारत को मातृभूमि के रूप में स्वीकार करने का हमें अवकाश ही नहीं मिला। प्रादेशिकता के जाल में फँसकर और दुर्बलता से पराजित होकर जब हमारा पतन हुआ था, उस समय रानाडे, गोखले, और

सुरेन्द्रनाथ-जैसे लोग जनसाधारण को गौरव प्रदान करने के लिए, महान् उद्देश्यों को लेकर आये। उनके द्वारा आरम्भ की गयी साधना को आज एक महापुरुष ने अपनी प्रबल शक्ति से, बड़ी तेज़ी के साथ, सफलता के मार्ग पर बढ़ाया है। उसी महापुरुष की—अर्थात् महात्मा गाँधी की—बातों को स्मरण करने के लिए हम आज यहाँ एकत्रित हुए हैं।

बहुत-से लोग पूछ सकते हैं, क्या यही पहले-पहल आये हैं? इसके पहले भी क्या कांग्रेस के अन्दर अनेक लोगों ने काम नहीं किया? काम तो बहुत-से लोगों ने किया, लेकिन उनके नाम गिनाते ही हम देख पाते हैं कि उनका साहस बहुत ही सीमित था और उनकी आवाज़ धीमी थी।

इसके पहले कांग्रेस के लोग या तो शासकों के सामने आवेदन-पत्रों की डाली ले जाते थे, या अपनी आँखें लाल करके कृत्रिम रूप से अपना क्रोध व्यक्त करते थे। उनका विचार था कि कभी कठोर और कभी कोमल वाक्य-बाणों का प्रयोग करके ही वे मेज़िनी-गैरीबाल्डी के समगोत्रीय बन सकेंगे। उस क्षीण, अवास्तविक 'वीरता' में ऐसा कुछ भी नहीं था जिस पर आज हम गर्व कर सकें। आज जो हमारे सामने आये हैं वे राष्ट्रीय स्वार्थ के कलंक से मुक्त हैं। राजनीति में अनेक पाप और दोष होते हैं लेकिन उनमें से सबसे बड़ा दोष है स्वार्थपरता। हो सकता है कि राष्ट्रीय स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ से बहुत बड़ा हो, फिर भी है तो वह भी स्वार्थ। इसलिए वह भी कीचड़ से अलिप्त नहीं है । 'पॉलिटिशियन' लोगों की एक अलग जाति होती है । उनका आदर्श मानव के महान् आदर्श से मेल नहीं खाता। वे बड़े-से-बड़ा झूठ बोल सकते हैं। वे इतने निष्ठुर होते हैं कि अपने देश को स्वातंत्र्य दिलाने के बहाने से दूसरे देशों पर अधिकार जमाने का लोभ उनसे छोड़ा नहीं जाता। पाश्चात्य देशों में हम देखते हैं कि जो लोग देश के लिए प्राण तक दे सकते हैं वही लोग देश के नाम पर घोर अन्याय को प्रश्रय भी दे सकते हैं।

पाश्चात्य देशों ने एक दिन जिस मूसल का निर्माण किया था वही आज योरोप का सिर कुचलने के लिए प्रस्तुत है। आज दशा यह है कि हमें संदेह होता है, योरोपीय सभ्यता कल तक टिकेगी या नहीं। जिसे वे लोग पेट्रिऑटिज़्म कहते हैं। उसी पेट्रिऑटिज़्म से उनका विनाश होगा। लेकिन जब उनकी अन्तिम घड़ी आयेगी तब वे हमारी तरह निर्जीव होकर नहीं मरेंगे। भयानक आग भड़काकर भीषण प्रलय में प्राण त्यागेंगे।

हमारे बीच भी असत्य का पदार्पण हुआ है। पॉलिटिशियन लोगों ने गुटबंदी का विष फैलाया है। इस पॉलिटिक्स से निकला हुआ दलबन्दी का विष छात्रों में भी प्रवेश कर चुका है। पॉलिटिशियन लोग अत्यंत व्यावहारिक होते हैं। वे सोचते हैं कि अपना कार्य संपन्न करने के लिए मिथ्या का अवलंबन करना ज़रूरी है। किंतु विधाता का विधान ऐसा है कि इस छल-चातुर्य का परिणाम एक दिन उन्हें भोगना पड़ेगा। पॉलिटिशियन लोगों की चतुराई के लिए हम उनकी प्रशंसा कर सकते हैं, लेकिन भक्ति नहीं कर सकते। भक्ति तो हम कर सकते हैं महात्मा गाँधी की, जिनकी साधना सत्य की साधना है । मिथ्या के साथ समझौता करके उन्होंने सत्य की सार्वभौम धर्मनीति को अस्वीकार नहीं किया। भारत की युग-साधना के लिए परम सौभाग्य का विषय है। महात्मा गाँधी ही एक ऐसे पुरुष हैं जिन्होंने प्रत्येक अवस्था में सत्य को माना है, चाहे वह सुविधाजनक हो या न हो। उनका जीवन हमारे लिए एक महान् उदाहरण है। दुनिया में स्वाधीनता-लाभ का इतिहास रक्त की धारा से पंकिल है, अपहरण और दस्यु-वृत्ति से कलंकित

है। लेकिन महात्मा गाँधी ने यह दिखाया है कि हत्याकांड को आश्रय दिये बग़ैर भी स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है। देश के नाम पर लोग लूट-मार कर सकते हैं, विज्ञान डाका डाल सकता है। लेकिन देश के नाम पर किये गये कामों पर आज लोगों को जो गर्व है वह टिक नहीं सकता। हमारे बीच ऐसे लोग बहुत कम हैं जो हिंसा को अपने मन से दूर हटाकर किसी बात को देख सकें। क्या वास्तव में हमारा यह विश्वास है कि बिना हिंसा-प्रवृति को स्वीकार किये भी हमारी विजय हो सकती है?

महात्मा गाँधी यदि केवल एक वीर योद्धा होते तो हम उन्हें इस तरह स्मरण न करते जैसे आज कर रहे हैं। रणभूमि में वीरता दिखानेवाले बड़े-बड़े सेनापति दुनिया में बहुत हुए हैं। मनुष्य का युद्ध धर्मयुद्ध है, नैतिक युद्ध है। धर्मयुद्ध में भी निष्ठुरता सम्भव है, जैसा कि हम 'गीता' और 'महाभारत' में देखते हैं। उसमें बाहुबल के लिए स्थान है या नहीं, इस विषय पर मैं शास्त्रार्थ नहीं करूँगा। लेकिन वह अनुशासन बहुत बड़ी चीज़ है जिससे प्रेरित होकर हम कह सकें : 'चाहे जान चली जाय हम आघात नहीं करेंगे, और इसी तरह विजयी होंगे।' यह गम्भीर वाणी है। इसमें चातुर्य नहीं है, कार्यसिद्धि के लिए व्यावहारिक परामर्श नहीं है। धर्मयुद्ध बाहर से जीतने के लिए नहीं होता, हारकर भी विजय प्राप्त करने के लिए होता है। अधर्म-युद्ध में जो मरता है उसका वास्तविक अंत होता है, लेकिन धर्मयुद्ध मे मरने के बाद भी कुछ शेष रहता है—यहाँ पराजय के अन्दर विजय और मृत्यु के अन्दर अमरत्व होता है। इस सत्य को जिन्होंने अपने जीवन में उपलब्ध करके स्वीकार किया है, उनका उपदेश हमें सुनना ही होगा।

इसकी जड़ में एक शिक्षा-धारा है। स्वाधीनता का कलुषित रूप और स्वादेशिकता का विषैला पक्ष हमने योरोप में देखा है। यह मानना पड़ेगा कि इससे वहाँ के लोगों को काफ़ी लाभ हुआ और ऐश्वर्य मिला। पाश्चात्य देशों में ईसाई-धर्म को केवल मौखिक भाव से ग्रहण किया गया। उस धर्म में मानव-प्रेम का एक महान् उदाहरण है। उसके अनुसार भगवान् ने मनुष्य होकर, मानवीय देह का दुःख-पाप अपनाकर, मनुष्य की रक्षा की—और वह भी इहलोक में, परलोक में नहीं। जो अत्यन्त दीन हैं उन्हें वस्त्र देना चाहिए, जो क्षुधित हैं, उनको अन्न देना चाहिए—यह बात ईसाई धर्म में जिस स्पष्टता से कही गयी है वैसी और किसी धर्म में नहीं कही गयी।

महात्माजी ऐसे ही एक ईसाई-साधक से मिले थे। इस साधक की नित्य यही चेष्टा थी कि मानव को न्याय-अधिकार प्राप्त करने में बाधाओं से मुक्ति मिले। सौभाग्य-क्रम से इसी योरोपीय ऋषि—टॉलस्टाय—से महात्मा गाँधी ने ईसाई धर्म की अहिंसा-वाणी को यथार्थ रूप में उपलब्ध किया। और यह भी सौभाग्य का विषय है कि यह एक ऐसे मनुष्य की वाणी थी जिसने संसार की विविध अभिज्ञताओं के फलस्वरूप अहिंसा-नीति के तत्त्व को अपने चरित्र में ढाला था। मिशनरी अथवा व्यवसायी प्रचारकों से उन्हें मानव-प्रेम के सम्बन्ध में रूढ़िगत उपदेश नहीं सुनने पड़े थे। ईसा की वाणी का यह महान् दान भारत के लिए आवश्यक था। मध्य युग में मुसलमानों से भी हमने इसी तरह का दान प्राप्त किया था। दादू, कबीर, रज्जब और अन्य साधु-संतों ने इस सत्य का प्रचार किया था कि जो निर्मल और मुक्त है, जो आत्मा की श्रेष्ठ सामग्री है, वह समस्त मानव-जाति की सम्पदा है; वह ऐसी चीज़ नहीं है जिसे मन्दिर के रुद्ध द्वार के पीछे किसी विशेष

अधिकारी के लिए सुरक्षित रखा जाय। युग-युग में यही होता आया है। महापुरुष समस्त पृथ्वी के दान को अपने माहात्म्य द्वारा ग्रहण करते हैं, और ग्रहण करने की क्रिया में ही उस दान को सत्य में परिणत करते हैं। अपने माहात्म्य से ही राजा पृथु ने पृथ्वी का दोहन किया था, रत्न-संचय करने के लिए। श्रेष्ठ महापुरुष वही होते हैं जो सारे धर्म, इतिहास और नीति से पृथ्वी के श्रेष्ठ दान को ग्रहण करते हैं।

ईसा का श्रेष्ठ संदेश है कि जो विनम्र है उसी की विजय होती है। लेकिन ईसाई देश कहते हैं कि निष्ठुर धृष्टता द्वारा विजय प्राप्त होती है। इन दोनों प्रवृत्तियों में कौन-सी सफल होगी, यह कहना कठिन है। लेकिन धृष्टता का परिणाम हम योरोप में देख सकते हैं, जहाँ आज जीवन रोग-ग्रस्त हो गया है। महात्माजी ने नम्र अहिंसा-नीति ग्रहण की है, और चारों ओर उसकी विजय हो रही है। उन्होंने अपने समस्त जीवन द्वारा जिस नीति को प्रमाणित किया है उसे हमें स्वीकार करना ही होगा, चाहे हम उस पर पूरी तरह न चल सकें। हमारे अन्तःकरण और आचरण में रिपु[१] और पाप का संग्राम चल रहा है, फिर भी हमें सत्यव्रत महात्मा से पुण्य-तपस्या की दीक्षा लेनी होगी। आज का दिन स्मरणीय है क्योंकि राष्ट्रीय मुक्ति की दीक्षा और सत्य की दीक्षा जनसाधारण के हृदय में एक हो गयी है।

[सितम्बर, १९३७ में आरोग्य-लाभ करने के उपरांत गुरुदेव ने शांतिनिकेतन मंदिर में २ अक्तूबर, १९३७ को गांधी जन्म-जयन्ती मनायी। यह लेख उसी अवसर के लिए लिखा गया था।
नवम्बर-दिसम्बर, १९३७ (अग्रहायण, १३४४ बाङ्ला संवत्) में 'प्रवासी' में प्रकाशित।]

१. काम-क्रोध-लोभादिक छः विकार, जो मानव के शत्रु कहलाते हैं।

१६

विश्वविद्यालयों का रूप

अपरिचित आसन से एक अनभ्यस्त कर्तव्य पूरा करने के लिए कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने मुझे आमंत्रित किया है। इसके प्रत्युत्तर में मैं अपना सादर अभिवादन व्यक्त करता हूँ।

ऐसे मौक़ों पर अपनी त्रुटियों का उल्लेख करना एक आडम्बर-सा हो गया है। लेकिन यह प्रथा और उसके अलंकार वस्तुत. शोभनीय नहीं है— और न उसमें कोई काम निकलता है। कर्तव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले ही क्षमा-याचना करने से लोगों का मन अपने अनुकूल बनाया जा सकता है, यह आशा व्यर्थ है। और ऐसे व्यर्थ विचार से मैं अपने-आपको भुलावा नहीं देना चाहता। क्षमा-प्रार्थना से अयोग्यता में संशोधन नहीं हो सकता, केवल उसे स्वीकार किया जा सकता है। अनुदार लोग उसे विनय नहीं समझते, आत्मग्लानि ही समझते हैं।

जिस काम के लिए मुझे आमंत्रित किया गया है उसके संबंध में मेरी कितनी क्षमता है, यह तो सभी को विदित है। इसलिए मैं समझता हूँ, विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने इस कार्य के लिए मेरी उपयुक्तता के बारे में पहले ही विचार कर लिया होगा। इस व्यवस्था में कुछ नयापन है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि विश्वविद्यालय में आजकल किसी नवीन संकल्प का प्रस्ताव हुआ है। संभवत. यह नया संकल्प बड़ा महत्त्वपूर्ण है और मैं स्पष्ट रूप से उसको उपलब्ध करना चाहता हूँ।

दीर्घकाल से साधारण लोगों की दृष्टि में मेरा परिचय एक विशेष रूप में होता आया है। मैं साहित्यिक हूँ, इसलिए साहित्यिक की हैसियत से ही मुझे यहाँ बुलाया गया है, यह बात माननी ही पड़ेगी। 'साहित्यिक' की उपाधि मेरे लिए कोई उद्वेगहीन विषय नहीं है, यह बात बहुत दिनों की कठोर अभिज्ञता से मैं जान गया हूँ। साहित्यिकों को जो आदर मिलता है वह रुचि पर निर्भर होता है, युक्ति पर नहीं। यह बुनियाद कहीं मज़बूत है तो कहीं कच्ची, सभी स्थानों पर वह समान बोझ नहीं उठा सकती। कवि की कीर्ति स्तंभ की तरह नहीं, नौका की तरह होती है। भँवरों को पार करते हुए काल-स्रोत की सभी परीक्षाओं और संकटों से यदि वह नौका उत्तीर्ण हो सके, और अन्त में यदि उसे लंगर डालने के लिए अच्छा-सा घाट मिल जाय, तभी साहित्य के स्थायी इतिहास-ग्रंथ के किसी पृष्ठ पर उसका नाम अंकित होता है। तब तक अनुकूल-प्रतिकूल हवा के आघात सहते-सहते उसे लहरों पर चलते रहना है। महाकाल के दरबार में अन्तिम सुनवाई का क्षण बार-बार नहीं आता। वैतरणी पार करने के बाद ही न्याय-सभा में प्रवेश मिलता है।

विश्वविद्यालय विद्वानों का आसन है, यह बात चिरप्रसिद्ध है। पांडित्य के इस गंभीर आसन पर अचानक एक साहित्यिक को बिठाया गया है। इस रीति-विपर्यय ने निश्चय ही सबका

ध्यान आकृष्ट किया होगा। बहुत-से लोगों की तीक्ष्ण दृष्टि मुझ पर है। ऐसे कठिन मार्ग पर चलना मुझसे कहीं अधिक साहसी व्यक्तियों के लिए दुःसाध्य होगा। यदि मैं विद्वान् होता तो लोगों की सम्मति-असम्मति के द्वंद्व के बावजूद पथ की बाधाएँ मुझे कठिन न लगतीं। लेकिन स्वभाव और अभ्यास दोनों से मेरा व्यवहार 'अव्यवसायी' है। मै बाहर से आया हुआ आगंतुक हूँ, इसलिए प्रश्रय की आशा नहीं कर पाता।

लेकिन मुझे दिये गये आमंत्रण मे ही अभयदान प्रच्छन्न है, और इससे मुझे आश्वास मिला है। निस्सन्देह मैं यहाँ ऐसे समय आया हूँ जब ऋतु-परिवर्तन के लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं। पुरातन के साथ मेरी असंगति हो सकती है, लेकिन नवोद्यम शायद मुझे अपने अनुचरों में स्वीकार करते हुए अप्रसन्न न होगा।

विश्वविद्यालय के कर्मक्षेत्र मे पदार्पण करते हुए इस बात की चर्चा करना दूसरों के लिए चाहे आवश्यक न हो, विषय का स्पष्टीकरण मेरे अपने लिए जरूरी है। मुझको साथ लेकर जो व्रत आरंभ हुआ है उसकी भूमिका को स्थिर कर लेना मैं आवश्यक समझता हूँ।

विश्वविद्यालय एक विशेष साधना का क्षेत्र है। साधारण रूप से इसे विद्या की साधना कहा जा सकता है। इतना कहने मे ही बात स्पष्ट नहीं हो जाती, क्योंकि 'विद्या' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है और विद्या की साधना वैचित्र्यपूर्ण है।

हमारे देश के विश्वविद्यालयो का एक विशिष्ट आकार क्रमशः परिणत हुआ है। इस आकार का मूल भारत के आधुनिक इतिहास मे छिपा है और इसकी विस्तृत चर्चा यहाँ अप्रासंगिक न होगी। बाल्यकाल मे जो लोग विद्यालय के निकट संपर्क मे रहे है उनके लिए अपने अभ्यास और ममता के वेष्टन से बाहर निकलकर एक विशाल कालखंड की पृष्ठभूमि मे विद्यालय को देखना कठिन हो जाता है। लेकिन मेरे साथ यह व्यक्तिगत कठिनाई नही है, क्योंकि मेरा विद्यालयों के साथ सामीप्य या अभ्यास का सम्बन्ध नही रहा। मेरे अनासक्त मन मे विश्वविद्यालय का जो स्वरूप प्रतिभासित हुआ है वह सबके लिए चाहे स्वीकरणीय न हो, विचारणीय अवश्य होगा।

यह कहना न होगा कि जिसे योरोप मे 'यूनिवर्सिटी' कहा जाता है वह विशेष रूप से योरोप की ही चीज है। यूनिवर्सिटी के जिस रूप के साथ हम आधुनिक काल मे परिचित हैं, और जिसके साथ आधुनिक शिक्षित-समाज का व्यावहारिक सम्पर्क है, वह पूर्णतया विदेशी है—उसकी जड़े भी विलायती हैं और शाखाएँ भी। अपने देश के बहुत-से फलवृक्षों को हम विलायती कहते हैं, लेकिन देशी पेड़ो के साथ उनका केवल 'पारिवारिक' भेद होता है, प्रकृतिगत भेद नहीं होता। लेकिन विश्वविद्यालयों के बारे मे हम यह नहीं कह सकते। उनका नामकरण और रूपकरण देश की परंपराओं के अनुगत नही हुआ है। इस देश की जलवायु के साथ उसका स्वभाविकरण नहीं घटा।

फिर भी यूनिवर्सिटी का प्रथम प्रतिरूप किसी दिन भारत मे ही देखा गया था। नालन्दा, विक्रमशिला और तक्षशिला के विद्यालयों की स्थापना कब हुई, इस बात का निश्चित काल-निर्णय अभी तक नही किया गया, लेकिन यह तो स्पष्ट है कि योरोप की यूनिवर्सिटियों के बहुत पहले उनका आविर्भाव हुआ था। उनका उद्‌गम भारत की आन्तरिक प्रेरणा में था, भारतीय स्वभाव

के अनिवार्य आवेग में था। उनके पूर्ववर्ती काल में भी विद्या की साधना और शिक्षा भारत में व्याप्त थी; इस साधना के विविध रूप थे, विविध प्रणालियाँ थीं। समाज की यह सर्वत्र-प्रसारित साधना ही केन्द्रीभूत होकर जगह-जगह पर ये विद्यापीठ बने थे।

इनके बारे में सोचते-सोचते हमें वेदव्यास का युग—महाभारत का युग—स्मरण हो उठता है। किसी दिन देश के मन में यह आग्रह जगा था कि दूर-दूर तक बिखरी हुई विद्या, मननधारा और इतिहास-परंपरा को संगृहीत और संहत किया जाय। अपने चित्त के युगव्यापी ऐश्वर्य का यदि स्पष्ट रूप से अवलोकन न किया गया तो धीरे-धीरे उसका अनादर होने लगता है और फिर वह जीर्ण तथा अपरिचित होकर लुप्त हो जाता है। किसी समय इस आशंका के विषय में देश सचेत था, वह अपने विच्छिन्न रत्नों को सूत्रबद्ध करना चाहता था, उनको सर्वलोक और सर्वकाल के व्यवहार में प्रयुक्त करना चाहता था। अपनी विराट्, चिन्मयी प्रकृति को प्रत्यक्ष रूप से समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए भारत उत्सुक था। जो चीज़ कुछ पंडितों के अधिकारों में आबद्ध थी उसे सर्वसाधारण तक पहुँचाने का यह एक आश्चर्यजनक अध्यवसाय था। इसमें एक प्रबल चेष्टा थी, अथक साधना थी, समग्र ग्रहिणी दृष्टि थी। 'महाभारत' के नाम से ही प्रमाणित होता है कि इसी गौरवमय उद्योग को देश की शक्तिशाली प्रतिभा ने अपना लक्ष्य बनाया था। भारत का महान् समुज्ज्वल रूप जिन्होंने ध्यानपूर्वक देखा था, उन्होंने ही 'महाभारत' का नामकरण किया। वह रूप विश्वव्यापी होते हुए भी आन्तरिक था—महाभारत-कर्ताओं ने भारत के मन को अपने मन से देखा था। इस विश्वदृष्टि मे आनन्दित होकर उन्होंने भारत मे चिरकाल के लिए शिक्षा के योग्य भूमि प्रशस्त की। वह शिक्षा धर्म, कर्म, राजनीति, समाजनीति और तत्त्वज्ञान मे व्याप्त थी। बाद मे भारत को अपने निष्ठुर इतिहास के हाथों आघात-पर-आघात मिले हैं, उसकी मर्मग्रन्थियाँ बार-बार विश्लिष्ट हुई हैं, दैन्य और अपमान से वह जर्जर हुआ है। फिर भी उस इतिहास-विस्मृत युग की कीर्ति ने इतने दिनों तक लोक-शिक्षा की धाराओं को परिपूर्ण और सचल रखा है। गाँव-गाँव और घर-घर मे आज भी उसका प्रभाव विद्यमान है। उस मूल प्रसारण से शिक्षा की धारा यदि लगातार प्रवाहित न हुई होती तो दुःख, दारिद्र्य और अपमान से पीड़ित देश ने बर्बरता के लिए अन्धकूप मे अपना मनुष्यत्व खो दिया होता। उस प्राचीन युग मे भारत के अपने सज़ीव और यथार्थ विश्वविद्यालयों की सृष्टि हुई थी। उसकी जीवनीशक्ति का वेग कितना प्रबल था, इसका स्पष्ट आभास हमे मिलता है। जब हम देखते है कि दूर सागर-पार जावाद्वीप मे उसी शक्ति ने सर्वसाधारण के समस्त जीवन को व्याप्त करके कैसे अद्‌भुत कल्पजगत् का निर्माण किया। जावा की अनार्य-जाति के चरित्र मे, उसकी कल्पना और रूप-रचना में वह शक्ति निरंतर सक्रिय रही है।

ज्ञान का एक पक्ष वैषयिक होता है। यहाँ पांडित्य का अभिमान और ज्ञान का विषय-संग्रह करने का लोभ होता है। यह पक्ष कृपण के भाण्डार की तरह है; उसके सम्मुख किसी महान् प्रेरणा को उत्साह नहीं मिलता। जिस महाभारतकालीन विश्वविद्यालय-युग का मैंने उल्लेख किया वह तपस्या का युग था। भाण्डार जमा करना उसका लक्ष्य नहीं था; उसका उद्देश्य था सर्वसाधारण के चित्त का उद्दीपन, उद्‌बोधन, चरित्र-सृष्टि। भारत के मन में परिपूर्ण मनुष्यत्व का जो आदर्श ज्ञान-कर्म-हृदयभाव द्वारा जागृत हो रहा था, उसी को सर्वसाधारण के जीवन मे संचारित

करना—यही उद्योग उस युग में चल रहा था। यह प्रयास केवल बुद्धि तक सीमित नहीं था, आर्थिक और पारमार्थिक सद्‌गति की ओर भी उसकी दृष्टि थी।

नालन्दा-विक्रमशिला विद्यालयों के संबंध में यही कहा जा सकता है। उस युग में विद्या के मूल्य को देश के लोगों ने गंभीर रूप से उपलब्ध किया था। इसमें संदेह नहीं कि इस मूल्य को सम्पूर्णता से केन्द्रीभूत करके सार्वजनीन ज्ञानसत्र स्थापित करने के लिए भारत का मन उद्यत था। भगवान् बुद्ध का धर्म अपने विविध तत्त्वों को लेकर, अनुशासन और साधन की विविध प्रणालियों को लेकर साधारण चित्त के आन्तरिक स्तर तक प्रवेश कर चुका था। इस बहुशाखायित, परिव्याप्त जलधारा को सर्वसाधारण के स्नान, पान और कल्याण के लिए किसी सुनिर्दिष्ट केन्द्रस्थल की ओर बढ़ाना—यही थी देश की प्रबल कामना।

यह इच्छा कितनी सत्य थी, कितनी उदार और वेगवान् थी, इसका प्रमाण हमारे प्राचीन विद्यापीठों के अनुष्ठानों में, उसके अकृपण ऐश्वर्य में मिलता है। विख्यात चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग ने विस्मयभरी भाषा में उन विद्या-निकेतनों का वर्णन किया है, वहाँ के ऐश्वर्य का चित्र खींचा है। इस शब्दचित्र में हम देखते हैं अलंकारजड़ित स्तंभश्रेणी, अभ्रभेदी प्रासाद-शिखर, धूप-सुगन्धित मन्दिर, छायादार आम्रवन, नीले कमलों से सुशोभित सरोवर। इन विद्यापीठों के ग्रंथागार तीन बड़े-बड़े भवनों में विभाजित थे—'रत्न सागर', 'रत्नोदधि' और 'रत्नरंजक'। 'रत्नोदधि' की नौ मंजिलें थीं। यहाँ प्रज्ञापारमितासूत्र और अन्य शास्त्र-ग्रन्थ सुरक्षित थे। बहुत-से राजाओं ने क्रमश इस संघ को विस्तृत बनाया था। चारों ओर उन्नत चैत्य थे, जिनके बीच शिक्षाभवन और तर्क-सभा-गृह थे। प्रत्येक सरोवर के किनारों पर वेदियाँ और मन्दिर थे। जगह-जगह शिक्षकों-प्रचारकों के लिए चार मंज़िलों के निवास-स्थान थे। उस युग के गृह-निर्माण के सम्बन्ध में डॉक्टर स्पूनर ने लिखा है कि आजकल जिस तरह की ईंटों और गारे का प्रयोग होता है उससे कहीं अच्छे उपकरण उन दिनों प्रयुक्त हुए, और उस समय की योजना-पद्धति भी श्रेष्ठतर थी। ईत्सिंग ने लिखा है कि एक विद्यालय की ज़रूरतों को पूर्ण करने के लिए दो सौ से अधिक गाँव अलग कर दिये गये थे। कई हज़ार छात्रों और अध्यापकों के भोजन का प्रचुर प्रबन्ध इन गाँवों के अधिवासी नियमित रूप से करते थे।

इन विद्यापीठों में विद्या का केवल संचय ही नहीं होता था—विद्या का गौरव भी प्रतिष्ठित था। ह्वेनसांग कहता है कि यहाँ पढ़ानेवाले आचार्यों का यश दूर-दूर के देशों तक फैल चुका था। उनका चरित्र विशुद्ध और अनिन्दनीय था। वे धर्म का अनुशासन अकृत्रिम श्रद्धा के साथ निभाते थे। जिस विद्या के प्रचार का भार उन पर था उसके प्रति सारे देश का और विदेशी छात्रों का आदर था। अध्यापकों का दायित्व था इस आदर और सम्मान को बनाये रखना—केवल बुद्धि द्वारा नहीं, जनश्रुतियों द्वारा नहीं, बल्कि चरित्र द्वारा, कठोर तपस्या द्वारा। यह इसीलिए सम्भव हो सका कि सारे देश की श्रद्धा को उनसे इस सात्विक आदर्श की प्रत्याशा थी। आचार्यगण जानते थे कि दूर-दूर के देशों तक ज्ञान पहुँचाने का भार उन पर था; समुद्रों और पर्वतों को पार करके, कठिन दुःख स्वीकार करके विदेशी छात्र उनके पास अपनी ज्ञान-पिपासा लेकर आते थे। सारे देश की श्रद्धा जिस विद्या पर हो उसके वितरण करनेवाले अपनी योग्यता के प्रति उदासीन

नहीं रह सकते थे। देश की कला-प्रतिभा ने भी अपनी श्रद्धा का अर्घ्य इन विद्यालयों में अर्पित किया था। देश की शिल्प-कला का उत्कर्ष इन विद्यामन्दिरों की दीवारों पर अंकित है। यहाँ भारत की कला ने भारत की विद्या को प्रणाम किया है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने योग्य है। उस समय राजाओं ने अपने महलों या विलासभवनों को विशेष समारोहों द्वारा इतिहास में स्मरणीय बनाने का यत्न नहीं किया। मैं यह नहीं कहता कि ऐसा प्रयास निन्दनीय है। साधारणतः देश का ऐश्वर्य और गौरव राजा के जीवन को केन्द्र बनाकर ही व्यक्त किया जाता है, प्रजा का सम्मान राजप्रासाद में ही कलानैपुण्य और शोभाप्राचुर्य द्वारा उज्ज्वल हो उठता है। कारण जो कुछ भी रहा हो, प्राचीन भारत में हम ऐसी चेष्टा नहीं देखते। शायद राज्यासन के ही अस्थिर होने से यहाँ विनाश के धूमकेतु ने सब-कुछ धो डाला है ! लेकिन नालन्दा और विक्रमशिला-जैसे स्थानों पर स्मृतिरक्षा का प्रयास बराबर किया गया। उनके प्रति देश की भक्ति थी, देश के हृदय में प्रबल वेदना थी।

अपनी सर्वश्रेष्ठ विद्या के लिए सर्वसाधारण की उदार, अकुंठित, अकृत्रिम श्रद्धा ही स्वदेशी विश्वविद्यालय का यथार्थ प्राण-स्रोत थी।

इस बात की आसानी से कल्पना की जा सकती है कि ज्ञान-साधना की इस विराट् यज्ञ-भूमि में मानव-मनों का कैसा निविड़ सम्पर्क रहा होगा, कैसा संघर्ष चलता होगा। इस सम्पर्क से बुद्धि की अग्निशिखा निरन्तर उज्ज्वल रहती थी। छपे हुए टैक्स्टबुक से 'नोट' प्रदान करके नहीं, अन्तः करण के अविश्राम उद्यम से ही धी शक्ति का संचार होता था।विद्या,बुद्धि और ज्ञान में सर्वक्षेष्ठ लोग दूर-दूर से आकर यहाँ सम्मिलित होते थे। छात्रगण भी तीक्ष्ण बुद्धि, श्रद्धावान् और योग्य थे; कठिन परीक्षा के बाद ही उन्हें प्रवेशाधिकार मिलता था। ह्वेनसांग कहता है कि इस परीक्षा में दस छात्रों के बीच दो-तीन ही उत्तीर्ण हो पाते—अर्थात् तत्कालीन मैट्रिक्यूलेशन की छलनी के छिद्र बड़े-बड़े नहीं थे ! सारी पृथ्वी के सम्मुख आदर्श को विशुद्ध और उन्नत रखने का दायित्व-बोध जागरूक था। लोग सचेत थे, कहीं अयोग्य छात्रों को प्रश्रय देने से विद्या का अधःपतन न हो, देश की मानसिक क्षति न हो। विविध मनोप्रवृत्तियों के लोग यहाँ जमा होते—वे न तो एकजातीय थे, न एकदेशीय। एक ही लक्ष्य को सामने रखकर, एक ही जीवन-प्रणाली में वे परस्पर घनिष्ठ ऐक्य-लाभ करते। विद्या के मिलन-क्षेत्र में इस ऐक्य का मूल्य कितना था, यह भी ध्यान में रखना चाहिए। उस समय पृथ्वी में और भी बहुत-सी बड़ी सभ्यताओं का उद्‌भव हो चुका था; लेकिन ज्ञान की तपस्या के लिए मानव-मन का ऐसा विशाल समवाय कहीं और सम्भव हुआ हो, यह बात सुनने में नहीं आती।

इस सफलता का मूल कारण यह था कि जिनके मन में विश्वजनीन मनुष्यत्व के प्रति गम्भीर श्रद्धा थी, जिन्हें विद्या के प्रति गौरव-बोध था, वे अपनी चित्त-सम्पदा को देश-विदेश में दान करना चाहते थे—इस दान में उन्हें परम आनन्द मिलता था, और इसे वे अपना दायित्व भी समझते थे। आज, जबकि अपने प्रति, मानव के प्रति और अपनी साधना के प्रति आलस्य और अश्रद्धा की भावना है, हमें यह बात विशेष रूप से स्मरण करनी चाहिए कि मानव-इतिहास में सबसे पहले भारत में ही ज्ञान का विश्वदानयज्ञ उदारतापूर्वक प्रवर्तित हुआ था। बंगाल के पक्ष में एक और बात स्मरणीय है—नालन्दा में ह्वेनसांग का गुरु एक बंगाली था, उसका नाम था

शीलभद्र। पहले वह बंगाल के किसी प्रदेश का राजा था, राज त्यागकर नालन्दा जा पहुँचा था। नालन्दा के अध्यापकों में केवल शीलभद्र ही ऐसा था जो सभी शास्त्रों और सूत्रों की पूर्ण व्याख्या कर सकता था।

बौद्धकालीन भारत में जगह-जगह संघ थे। इन संघों में साधक, शास्त्रज्ञ तत्त्ववेत्ता, शिष्यगण मिलकर ज्ञान के आलोक को प्रज्ज्वलित रखते थे, विद्या की पुष्टि-साधना करते थे। नालन्दा और विक्रमशिला में हम इसी साधना की स्वाभाविक परिणति देखते हैं, इस साधना का विश्वरूप देखते हैं।

उपनिषदों के युग में भी भारत में इसी तरह के विद्याकेन्द्र स्थापित हुए थे, इसका थोड़ा बहुत प्रमाण मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है—'आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल देश की 'परिषद्' में जैवालि प्रवाहण के पास गया'। इस 'परिषद्' में देश-देश के बड़े-बड़े ज्ञानी एकत्रित होते थे। यहाँ प्रतियोगिता में विजय प्राप्त करने से बड़ी प्रतिष्ठा मिलती थी। अनुमान किया जा सकता है कि सारे पांचाल देश में उच्चतम शिक्षा की सम्मिलित व्यवस्था के लिए एक प्रतिष्ठान था, जहाँ दूर-दूर से आये हुए लोगों की विद्या-परीक्षा होती थी। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उपनिषद्-युग में आलोचना, ज्ञान-संग्रह और तर्क-वितर्क के लिए जगह-जगह पर विद्या के आश्रय-केन्द्र बने थे।

योरोप के इतिहास में भी यही हुआ। वहाँ ईसाई धर्म के आरम्भ-काल में पुराने और नये धर्म में द्वंद्व चलता रहा और नवदीक्षितों की भक्ति की निष्ठुर उत्पीड़न की परीक्षा से गुज़रना पड़ा। बाद में जब धीरे-धीरे नया धर्म सर्वस्वीकृत हुआ तब पूजा-अनुष्ठानों के साथ-ही-साथ तत्त्व-परम्परा की धारा भी प्रभावित हुई। यदि इस तरह तात्त्विक बाँध न बनाया जाय तो व्यक्ति की विशेष प्रकृति से भक्ति का रूप विचित्र और विकृत हो सकता है। इसलिए तर्क और विचार-समीक्षा की आवश्यकता सामने आती है। बुद्धि और ज्ञान की सहायता से ही विश्वास अपने लिए स्थायी और विशुद्ध आधार ढूँढ़ता है। फिर प्रश्न उठता है— 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। भक्ति केवल पूजा का विषय न रहकर विद्या का विषय बन जाती है। ऐसी अवस्था में योरोप में विविध स्थानों पर आचार्यों तथा छात्रों के संघ निर्मित हुए। इनमें से अच्छे-बुरे संघों का चुनाव करना जरूरी हो गया। कहाँ की शिक्षा वास्तव में श्रद्धा के योग्य और प्रामाणिक थी, यह स्थिर करने का भार रोम के प्रधान धर्मसंघ पर पड़ा। साथ-ही-साथ राज्य-शासन भी इस प्रश्न के प्रति उदासीन नहीं था।

सभी जानते हैं कि उस समय की विद्या—तर्कशास्त्र को प्रमुख स्थान प्राप्त था। उन दिनों पण्डितों ने स्वीकार किया था कि 'डायलेक्टिक' ही मूल विज्ञान है। इसका कारण स्पष्ट है। शास्त्रों के उपदेश वाक्यों में आबद्ध होते हैं। इन आप्तवाक्यों के सर्वमान्य अर्थ तक पहुँचने के लिए शाब्दिक तर्क अनिवार्य हो जाता है। मध्ययुगीन योरोप में यह युक्तिजाल कैसा सूक्ष्म और जटिल हो उठा, सर्वविदित है। शास्त्रज्ञान की विशुद्धता के लिए ही यह न्यायशास्त्र विकसित हुआ। समाज-रक्षा के लिए और दो विद्याएँ आवश्यक मानी गयीं—विधान और चिकित्सा। तत्कालीन योरोपीय विश्वविद्यालयों में इन्हीं सब विषयों को प्राधान्य मिला। नालन्दा में हेतुविद्या, चिकित्साशास्त्र पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। साथ-ही-साथ तन्त्र भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण विषय था।

योरोप में मनुष्य के आन्तरिक और बाह्य परिवर्तन के साथ वहाँ के विश्वविद्यालयों में भी दो दिशाओं में मूलगत परिवर्तन हुआ। मनुष्यत्व का धर्मशास्त्र पर अवलम्बन धीरे-धीरे कम हुआ। किसी दिन वहाँ ज्ञान का क्षेत्र धर्मशास्त्र के पूर्णतया अन्तर्गत नहीं तो कम-से-कम उसके अधीन अवश्य था। लम्बे संघर्ष के बाद धर्मशास्त्र के हाथ से यह अधिकार छीन लिया गया। जहाँ विज्ञान के साथ शास्त्र-वाक्य का विरोध है वहाँ आज शास्त्र पराजित है, विज्ञान अपनी स्वतन्त्र वेदी पर प्रतिष्ठित है। भूगोल, इतिहास आदि शिक्षणीय विषय वैज्ञानिक युक्तिपद्धति के अनुगत होकर धर्मशास्त्र के बन्धनों से मुक्त हो चुके हैं। विश्व के सभी ज्ञातव्य-मन्तव्य विषयों के बारे में मानवीय जिज्ञासा आज विज्ञान-प्रवण है। 'आप्तवाक्यों' का मोह दूर हो गया है।

दूसरा परिवर्तन भाषा के सम्बन्ध में हुआ है। एक दिन लैटिन भाषा ही सारे योरोप में शिक्षा की भाषा थी, उसी पर सारी विद्या आधारित थी। उसमें सुविधा यह थी कि सभी योरोपीय देशों के छात्र एक स्थिर और कभी न बदलनेवाली भाषा की मदद से शिक्षा-लाभ कर सकते थे। लेकिन उससे नुकसान यह होता था कि विद्या का आलोक पाण्डित्य की दीवारों को पार करके बाहर बहुत कम पहुँच पाता था। जब योरोप के विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी भाषा को शिक्षा के वाहन के रूप में स्वीकार किया तब शिक्षा सर्वसाधारण के बीच व्याप्त हुई। तब विश्वविद्यालय का देश के चित्त से आन्तरिक योग सम्भव हुआ। सुनने में यह बात स्वतः विरोधी लग सकती है, लेकिन वास्तव में भाषा-स्वातंत्र्य से ही योरोपीय विद्या में सहकारिता का आरम्भ हुआ। इस स्वातत्र्य ने योरोप के चित्त को खण्डित नहीं बल्कि संयुक्त किया है। स्वदेशी भाषाओं द्वारा विद्या को जब मुक्ति मिली, योरोप में ज्ञान का ऐश्वर्य वृद्धिगत हुआ, पड़ोसियों और दूर देशों की ज्ञान-साधना से उसका योग स्थापित हुआ—मानो अलग-अलग खेतों का शस्य योरोप के साधारण भाण्डार में एकत्रित हुआ हो। आज वहाँ के विश्वविद्यालय उदार भाव से सभी देशों के होते हुए भी विशेष रूप से अपने-अपने देश के है। यह मानव-प्रकृति के अनुगत ही है, क्योंकि मनुष्य यदि सत्यभाव से अपने-आपको उपलब्ध नहीं करता तो अपना उत्सर्ग भी नहीं कर सकता। यदि व्यक्ति-स्वातंत्र्य का उत्कर्ष न हो तो विश्वजनीनता का वास्तविक दाक्षिण्य असम्भव है। मध्ययुगीन एशिया में तिब्बत, चीन और मंगोलिया ने बौद्ध धर्म को ग्रहण अवश्य किया, लेकिन अपनी भाषाओं मे ही उन्होंने इस धर्म को अपनाया। इसीलिए बौद्ध धर्म इन देशों की जनता का आन्तरिक धर्म बन सका और मोह के अन्धकार से उनका उद्धार कर सका।

'यूनिवर्सिटी' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। मैं मोटे तौर से यही कहना चाहता हूँ कि देश को विद्या के प्रति जिस विशेष स्नेह, गौरव और दायित्व का बोध होता है उसी की रक्षा और प्रचार के लिए विश्वविद्यालय का निर्माण होता है। उसका उद्भव सारे देश की इच्छाशक्ति से होता है—इच्छा ही सृष्टि का मूल है। और इच्छा के पीछे शक्ति का ऐश्वर्य रहता है जो अदमनीय है, जो उदारता से अपने-आपको व्यक्त करना चाहता है।

सभी सभ्य देशों में ज्ञान मिलता है। अतिथि को विश्वविद्यालयों मे अवारित आतिथ्य मिलता है। अतिथि को वही बुलाता है जिसके पास अतिरिक्त सम्पदा हो। गृहस्थ अपनी अतिथिशाला में सारे विश्व को स्वीकार करता है। नालन्दा में भारत ने अपने ज्ञान का अन्न-सत्र खोला, स्वदेश-विदेश के सभी अभ्यागतों के लिए। उस दिन भारत ने अनुभव किया था कि

उसके पास ऐसी पर्याप्त सम्पदा है जो सारी मानव-जाति को दान किए जाने पर ही चरम सार्थकता लाभ कर सकती है । पश्चिम के अधिकांश देशों में भी ऐसी अतिथिशालाएँ है। वहाँ स्वदेशी-विदेशी का भेद नहीं है। वहाँ ज्ञान के विश्व-क्षेत्र में मनुष्य-मात्र को अपनाया जाता है। समाज के दूसरे विभागों में भेद की प्राचीरें उठती रहती हैं; केवल ज्ञान ने महातीर्थ में ही मानव-जाति के लिए आमंत्रण है, क्योंकि यहाँ दैन्य- स्वीकार या कृपणता किसी भी भद्र जाति के लिए सबसे अधिक आत्मलघव की बात होती है। भाग्यशाली देशों के ज्ञान-प्रांगण सारे विश्व के लिए खुले होते हैं।

हमारे देश में यूनिवर्सिटी का सूत्रपात बाहर से मिले हुए दान से हुआ। इस दान में दाक्षिण्य कम था; उसकी राजानुचित कृपणता से देश आज तक दुखी है। इंग्लैंड के राजद्वार पर लंदन यूनिवर्सिटी की जो अतिथिशाला है, उसी की छोटी-सी शाखा हमारे ग़रीब देश में खोली गयी ! यहाँ शुरू सी ही बात स्वीकार नहीं की गयी कि भारतीय विद्या नाम की भी कोई चीज़ है। इसका स्वभाव पृथ्वी की दूसरी सभी यूनिवर्सिटियों के विपरीत रहा है। यहाँ दान का विभाग अवरुद्ध रहता है और ग्रहण विभाग का क्षुधित केवल सर्वदा खुला रहता है। लेकिन जहाँ आदान और प्रदान दोनों न चलते हों वहाँ 'प्राप्त करना' असम्पूर्ण रहता है। इसलिए हमारे विश्वविद्यालय ठीक तरह से कोई चीज ग्रहण भी नहीं कर पाते।

आधुनिक युग में जीवन-यात्रा सभी दिशाओं में जटिल हो गयी है। तरह-तरह की नयी समस्याओं से मन सर्वदा क्षुब्ध रहता है। इन विविध प्रश्नों के विविध उत्तर, वेदनाओं की विविध अभिव्यक्तियाँ समाज में तरंगित रहती हैं, साहित्य में विचित्र रूप धारण करती हैं। विश्वविद्यालयों में युग-युग के स्थायी आदर्शों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जाता है, लेकिन प्रचलित साहित्य में प्रवहमान चित्त की चंचलता प्रकाशित होती रहती है। पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में चित्तमंथन के इस बाह्य स्वरूप के साथ भी योग बना रहता है—वहाँ मानवीय शिक्षा की ये दो धाराएँ गंगा-यमुना की तरह मिल जाती हैं। यह इसलिए सम्भव होता है कि वहाँ समस्त देश का एक ही चित्त देश की विद्या का अविच्छिन्न रूप से निर्माण करता है, जिस तरह पृथ्वी पर जो सृजन-क्रिया चलती रहती है वह जल और स्थल दोनों में सक्रिय होती है।

शायद अधिकतर लोग जानते होंगे कि आजकल इंग्लैंड के विश्वविद्यालय में शिक्षा-विस्तार का विशेष रूप से प्रयास चल रहा है जिससे वर्तमान युग की उन्नति में विश्वविद्यालय भी अपने कदम मिलाकर आगे बढ़ सकें। पिछले योरोपीय महायुद्ध के बाद ऑक्सफ़ॉर्ड में दर्शन, राजनीति और अर्थनीति की आधुनिक धाराओं की चर्चा की जाने लगी है। यूनिवर्सिटी का प्रयत्न है कि उन लोगों की सहायता की जाय जो अच्छी तरह यह जानना चाहते हैं कि चारों ओर क्या हो रहा है, समाज किस दिशा में जा रहा है। मैन्चेस्टर यूनिवर्सिटी में आधुनिक अर्थशास्त्र और इतिहास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। वर्तमान युग में चिन्तन तथा कर्म दोनों ही क्षेत्रों में जो द्वंद्व और संघात चल रहा है उसको देखते हुए इस तरह की आधुनिक शिक्षा अत्यंत उपयुक्त है। इसके फलस्वरूप छात्र-छात्राएँ अपने कर्तव्य और जीवन-स्थितियों की लिए प्रस्तुत हो पाते हैं।

भारत में विदेश से प्राप्त विश्वविद्यालयों के साथ देश का इस तरह आन्तरिक मिलन हो ही नहीं सकता। इसके अलावा योरोपीय विद्या भी हमारे देश में अचल जलाशय की तरह है, उसका गतिशील रूप हम देख नहीं पाते। जिन मतवादों में बहुत ही शीघ्र परिवर्तन आने वाला

है, वे भी हमारी दृष्टि में अटल सिद्धान्त हैं। हमारा सनातन मुग्ध मन चन्दन और पुष्प चढ़ाकर उनकी पूजा करता है। योरोपीय विद्या को हम स्थावर रूप में प्राप्त करते हैं, उसमें से कुछ वाक्यो का चयन करके उनकी आवृत्ति करते रहने को ही हम आधुनिक पाण्डित्य की पद्धति मानते हैं। तभी उस विद्या के सम्बन्ध में नवीन चिन्तन का साहस हममें नहीं होता। देश की जनता के सारे दुरूह प्रश्नों से महत्त्वपूर्ण प्रयोजनों और तीव्र वेदनाओं से हमारे विश्वविद्यालय विच्छिन्न हैं। यहाँ दूर की विद्या पर हम अधिकार करना चाहते हैं—उसका जड़ पदार्थ की तरह विश्लेषण करके, समग्र की उपलब्धि द्वारा नहीं। हम अलग-अलग वाक्यों को कण्ठस्थ करते हैं और ऐसी खण्डित विद्या के आधार पर परीक्षाएँ पास करके निष्कृति पाते हैं। टैक्स्ट-बुकों से चिपका हुआ हमारा मन पराश्रित प्राणियों की तरह अपना खाद्य अपने-आप संगृहीत करने की शक्ति खो चुका है।

अंग्रेज़ी हमारी प्रयोजन-सिद्धि की भाषा है, इसीलिए हमारी शिक्षा इस विदेशी भाषा के प्रति हमारे लोभ पर केन्द्रित है। यह प्रेमी की प्रीति नहीं, कृपण की आसक्ति है। हम जब अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ते हैं, हमारा मुख्य उद्देश्य होता है अंग्रेज़ी भाषा पर अधिकार प्राप्त करना—अर्थात् हमारा मन फूल के कीड़े की तरह है, मधुकर की तरह नहीं। भीख माँगकर जो दान प्राप्त करते हैं उसकी सूची बनाकर हम इम्तहान में बैठते हैं। यह परीक्षा परिमाणात्मक होती है, गुणात्मक नहीं। ऐसी परीक्षा के लिए वज़न के हिसाब से हम शिक्षार्जन करते हैं। यदि विद्या को बाह्य वस्तु के रूप में देखा जाय तो उसे चित्त की सम्पदा समझना अनावश्यक हो जाता है। ऐसी विद्या को न तो दान में गौरव है, न ग्रहण में। लेकिन इस दैन्यावस्था में कभी-कभी ऐसे शिक्षक देखने में आते हैं जिनके लिए शिक्षादान स्वभावसिद्ध होता है। वे अपने गुण से ही ज्ञान-दान करते हैं, अपने अन्तःकरण से शिक्षा को निजी सामग्री बनाते हैं; उनकी प्रेरणा से छात्रों में मनन-शक्ति का संचार होता है। विश्वविद्यालय के बाहर, जीवन के क्षेत्र में, उनके छात्रों की विद्या फलवती होती है।

सार्थक विश्वविद्यालय वही है जो ऐसे शिक्षकों को आकर्षित करता है,जहाँ शिक्षा की सहायता से मनोलोक की सृष्टि होती है। यह सृष्टि ही सभ्यता का मूल है। लेकिन हमारे विश्वविद्यालयों में इस श्रेणी के शिक्षक न होने से भी काम चलता है—शायद और भी अच्छी तरह चलता है। यहाँ परीक्षा-पद्धति की दृष्टि आहरण पर होती है, फलन पर नहीं। दैन्य की निष्ठुर बाध्यता से ऐसी शिक्षा के प्रति देश का मोह है, भक्ति नहीं। इसलिए शिक्षकों-छात्रों के उद्यम को परिपूर्ण रूप से सतर्क रखने का कोई प्रयोजन ही यहाँ नहीं देखा जाता। देश की प्रत्याशा उच्च नहीं है; बाज़ार-भाव के हिसाब से परीक्षा में जितने अंकों की माँग की जाती है उनकी कीमत सत्य के निकष पर बहुत सामान्य उतरती है। अमूल्य विद्या को सत्य बनाने के लिए जो श्रद्धा चाहिए उसकी रक्षा करना कठिन हो जाता है, और विश्वविद्यालय की मज्जा में शैथिल्य प्रवेश करता है।

देश के अभाव को दूर करने के लिए विश्वविद्यालयों की प्रतिष्ठा की जाती है। इस सम्बन्ध में जापान का उल्लेख किया जा सकता है। जापान ने स्पष्ट रूप से समझ लिया कि आधुनिक योरोप जिस विद्या के प्रभाव से विश्व-विजयी हुआ है उस पर अधिकार प्राप्त न किया गया तो पराजय अनिवार्य है। यह बात समझते ही जापान ने प्राणपण से प्रयत्न करके अपने नवप्रतिष्ठित

विश्वविद्यालय को योरोपीय विद्या का पीठस्थान बनाया। उसकी एकमात्र आकांक्षा यही थी कि विद्या-साधना की दृष्टि से आधुनिक मानव-समाज में वह पीछे न रहे। देश के शिक्षा-दान-कार्य की सिद्धि के आदर्श को छोटा, बनाकर अपने-आपको वंचित रखने की कल्पना जापान के लिए असह्य थी। हमारे देश में विद्या की सफलता का आदर्श कृत्रिम है और वह भी बड़े अंश तक परकीयों के हाथ में है। विदेशी शासक अपने उपस्थित प्रयोजनों के हिसाब से शिक्षा के प्रश्न पर थोड़ा-बहुत ध्यान देकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

जापान में विद्या को सत्य बनाने की तीव्र इच्छा इसी से व्यक्त होती है कि स्वदेशी भाषा को शिक्षा-क्षेत्र में स्वीकार करने में विलम्ब नहीं किया गया। सर्वसाधारण की भाषा के आधार पर जापान ने विश्वविद्यालय को सबके लिए उपयुक्त संस्था बनाया। इससे शिक्षित और अशिक्षित लोगों के बीच चित्त-प्रसारण का मार्ग प्रशस्त हुआ। तभी आज वहाँ देश-भर में बुद्ध की ज्योति दीप्तिमान है।

हमारे देश में जब मातृभाषा को शिक्षा के आसन पर प्रतिष्ठित करने का सुझाव दिया गया तब अंग्रेजी जाननेवाले विद्वान् बेचैन हो उठे। उन्हें आशंका थी कि जिन थोड़-से लोगों को अंग्रेजी भाषा का व्यवहार करने का सुयोग प्राप्त है उनका अधिकार कम न हो जाय। दरिद्र की आकांक्षा भी दरिद्र ही होती है !

यह मानना पड़ेगा कि जापान स्वाधीन देश है; वहाँ के लोगों ने विद्या का जो मूल्य स्थिर किया है उसे चुकाने में वहाँ कृपणता नहीं दिखायी जाती । और हमारे अभागे देश में पुलिस और सेना विभागों के भोज की बची हुई उच्छिष्ट सामग्री से ही विद्या का किसी तरह समाधान किया जाता है। हमे अपने कपड़े के छिद्रों को जोड़ लगाकर ढाँकना पड़ता है। गौरव का प्रश्न ही नहीं उठता, बड़ी मुश्किल से लज्जा-निवारण होता है। लोगों के सामने मान-रक्षा करने भर के लिए हमारे पास आवरण है। जीर्ण ही सही, लेकिन कपड़ा है अवश्य !

यह बिलकुल सच बात है। लेकिन इसके विषय में शिकायत करते रहना बेकार है। यदि हम पराधीनता को कोसते रहे और निश्चेष्ट हो जायें तो इससे कोई काम नहीं निकलेगा। तूफान आने पर जहाज के कर्ण को और भी अधिक सावधानी से सँभालना होता है। जिस विद्या को आज तक हमने विदेशी नीलाम में सस्ते दाम पर खरीदे हुए टूटे-फूटे बेंच पर बिठाये रखा है उसे अब स्वदेश की चित्तदेवी पर आदर का स्थान देना होगा। विश्वविद्यालय को जब हम सही अर्थ में स्वदेशी की सम्पदा बना सकेंगे तभी इस विषय में देश का यह कर्त्तव्य पूर्ण होगा—'श्रद्धा देयम्', श्रद्धा के साथ दान करना चाहिए। श्रद्धा का अन्न प्राण-शक्ति को जागृत करता है।

बहुत दिनों तक अंग्रेजी भाषा का पिंजरा स्थायी रूप से हमारे राजद्वार पर सुरक्षित था। इसका द्वार खोलकर देश की चित्त शक्ति के लिए नीड़ प्रस्तुत करना होगा। इस बात को सर्वप्रथम समझा आशुतोष ने। अपनी शक्ति से इस जड़त्व को विचलित करने का साहस उनमें था। सनातनपन्थी देश में विश्वविद्यालय की पुरानी प्रथा को छोड़कर बाङ्ला भाषा को स्थान देने का प्रस्ताव उनके ही मन में पहले-पहल उठा। भीरु और लोभी लोगों के तर्क तथा विरोध का सामना उन्हें करना पड़ा। यह सच है कि बाङ्ला अभी तक सम्पूर्ण रूप से शिक्षा की भाषा बनने योग्य नहीं हुई; क्योंकि उसमें उतनी परिपक्वता नहीं है। लेकिन आशुतोष जानते थे कि इस

अपरिपक्वता का कारण बाङ्ला का अपना दैन्य नहीं, वरन् उसकी वर्तमान अवस्था का दैन्य है। श्रद्धा और साहस के साथ यदि उसे शिक्षा का आसन दिया गया तो वह अपने-आपको इस आसन के योग्य बना लेगी। इसे यदि हम बिलकुल ही असम्भव मानें, तब तो विश्वविद्यालय सदा के लिए विलायती 'टब' का पौधा बना रहेगा—वह टब मूल्यवान् हो सकता है, अलंकृत हो सकता है, लेकिन पेड़ को तो वह भारत की मिट्टी से पृथक् ही रखेगा। ऐसी हालत में विश्वविद्यालय देश के लिए एक शौक़ की चीज बनेगी, प्राण की चीज नहीं।

इसके अतिरिक्त आशुतोष ने, विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ाने के लिए, परीक्षाओं की अन्तिम सीढ़ी से भी ऊपर अन्वेषण विभाग स्थापित किया—विद्या की फ़सल जमा करने का नहीं बल्कि उगाने का विभाग ! सहायकों की कमी, अर्थ का अभाव, अपने-पराये अनेक लोगों की प्रतिकूलता—कोई बाधा उन्हें रोक न सकी। विश्वविद्यालय में आत्म-श्रद्धा का आविर्भाव हुआ। आशुतोष को विश्वविद्यालय के प्रति आन्तरिक लगाव था, उस पर उन्हे गर्व था। इसी गर्व से उनमें यह विश्वास जागृत हुआ कि सारा देश इस विश्वविद्यालय को अपनी निजी वस्तु समझेगा।

विश्वविद्यालय और देश के बीच जो दीवार थी उसमें से आवागमन का मार्ग निकालने के लिए आशुतोष प्रयत्नशील थे। उसी प्रवेश-पथ से आज मेरे-जैसे आदमी के लिए यहाँ अकुंठित मन से आना सम्भव हुआ है। मेरा परम सौभाग्य यह है कि विश्वविद्यालय को स्वदेशी भाषा की दीक्षा देने के पुनीत अनुष्ठान मे मेरा भी थोड़ा-बहुत हाथ रहा है, और मेरा नाम इसके साथ जुड़ा रहेगा। स्वदेश और विश्वविद्यालय के बीच मिलन-सेतु के रूप में ही मुझे यहाँ आमंत्रित किया गया है। स्वदेशी भाषा की मैंने जो आजीवन साधना की है उसके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए ही विश्वविद्यालय ने आज मुझे अपने आसन पर स्थान दिया है। दो युगों के संधिस्थल पर मुझे एक चिह्न की तरह रखा गया है। मै देखता हूँ कि मुझे यथारीति 'अध्यापक' की पदवी दी गयी है। यह पदवी आदरणीय है, लेकिन मुझे यह पदवी प्रदान करना असंगत लगता है। इसका एक दायित्व है, जिसे मैं स्वीकार नहीं कर पाता। साहित्य की प्राचीन समस्याएँ, शब्दों की उत्पत्ति और विश्लिष्ट उपादान—ये सब बातें मेरी अभिज्ञता से बाहर है। मै केवल साहित्य के अखण्ड रूप का, उसकी गति और इंगित का, अध्ययन करता हूँ।

जब मैं सत्रह वर्ष का था, अंग्रेज़ी भाषा की जटिल गुहा में बड़ी मुश्किल से राह टटोल पाता था। फिर लगभग तीन मास के लिए लन्दन यूनिवर्सिटी में साहित्य की क्लास में भर्ती हुआ। हमारे अध्यापक थे शुभ्रकेश, सौम्यमूर्ति हेनरी मॉर्ले। वे साहित्य पढ़ाते थे, उसके अन्तरतम रस का दान करने के लिए। शेक्सपियर का 'कोरायोलेनस' टॉमस ब्राउन का 'बेरियल अर्न' और मिल्टन का 'पेरॅडाइज़ रीगेण्ड' हमारे पाठ्यक्रम में थे। नोट्स की सहायता से मैं स्वयं इन पुस्तकों को पढ़कर तब क्लास में आता जिससे अर्थ ग्रहण करना सरल हो सके। अध्यापक क्लास में बैठकर नोटबुक की मूर्ति नहीं बन जाते थे। जिस काव्य की चर्चा करते उसका चित्र उनकी बातों से खिंच जाता, वे अत्यन्त सरस भाव से कविता पाठ करते। कविता मे शब्दार्थ से कहीं अधिक जो मर्म होता है वह उनके कठ से व्यक्त होता। बीच-बीच मे कठिन पंक्तियों को

भी जल्दी-जल्दी समझा देते, पठन-धारा खंडित न हो पाती।

साहित्य-शिक्षा का एक आनुषंगिक लक्ष्य यह भी होता है कि छात्रों में रचनाशक्ति का विकास हो। यह दायित्व भी वे निभाते। साहित्य-शिक्षा का मुख्य कार्य भाषा-तत्त्व सिखाना नहीं, साहित्य के जटिल प्रश्नों का विवेचन नहीं, बल्कि रस का परिचय देना और रचना में भाषा का व्यवहार समझाना है। आर्ट शिक्षा का कार्य आर्कियालॉजी—आइकोनोग्राफ़ी नहीं, आर्ट के आन्तरिक स्वरूप की व्याख्या करना है। सप्ताह में एक दिन हेनरी मार्ले अपने छात्रों की रचनाओं की समीक्षा करते—पदच्छेद, पॅरॅग्रॅफ-विभाग, शब्द-प्रयोग की सूक्ष्म त्रुटियाँ और सुन्दरता, इन सबकी आलोचना करते। साहित्य और भाषा का स्वरूप-बोध—उसके 'टेकनीक' का परिचय और विवेचन—साहित्य-शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है। यह बात मैंने उन्हीं की क्लास में समझी।

आज यदि मेरी आयु इतनी अधिक न होती, और मैं साहित्य-शिक्षा के कार्य पर नियुक्त होता, तो इसी आदर्श के अनुसार काम करने का मेरा प्रयास होता। संभव है, मेरे प्रयत्नों का परिणाम दु:खद होता—मेरे प्रति न तो अधिकारी बहुत दिनों तक सहिष्णु रह पाते, न छात्रगण। लेकिन अब यह संभावना नहीं रही।

आज मेरे जीवन के अन्तिम पर्व में मुझसे किसी रीतिमत कर्म-पद्धति की प्रत्याशा करना अधर्म होगा, उससे अनिष्ट होगा। इस आयु में मुझे बाङ्ला अध्यापक के सुलभ संस्करण के रूप में प्रयुक्त किया गया तो उससे क्षति होगी। मेरे लिए भी वह स्वास्थ्यप्रद न होगा। मैं जानता हूँ, आज कलकत्ता विश्वविद्यालय की बंगवाणी—सरस्वती के मंदिर-द्वार तक ले जाने का भार मुझ पर है। यह बात ध्यान में रखकर मैं उसका अभिवादन करता हूँ। मेरी कामना है कि आज, जब धूम्र मलिन निशीथ-प्रदीप के बुझने का समय आ गया है, बंगदेश के चित्ताकाश में नव सूर्योदय के आगमन को यथार्थ स्वदेशी विश्वविद्यालय भैरव राग से घोषित करे, और बंगदेश की प्रतिभा को नवसृष्टि के पथ पर निदेशित करके उसे अक्षय कीर्तिलोक तक पहुँचा दे।

[बंगला के प्रोफ़ेसर के रूप मे दिसंबर, १९३२ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय मे दिया गया भाषण। कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा जनवरी, १९३३ मे प्रकाशित। 'शिक्षा' (विश्वभारती संस्करण) पुस्तक मे समाविष्ट।]

१७

हिन्दू-विश्वविद्यालय

आधुनिक काल मे पृथ्वी के अलग-अलग भाग एक-दूसरे के निकट आ गये हैं। विभिन्न देश कई कारणों से एक-दूसरे का परिचय-लाभ कर रहे हैं। इसलिए यह विचार मन में उठ सकता है कि अलग-अलग देशों के स्वतंत्र न रहकर उनके मिल जाने का समय आ गया है ।

लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि जैसे-जैसे बाहर का दरवाज़ा खुलता है और बीच की दीवारें टूटती हैं उसी मात्रा में देशों और जातियों का स्वातंत्र्यबोध भी प्रबल होता जाता है। किसी समय यह सोचा जाता था कि विभिन्न लोगों के परस्पर-मिलन का उपाय न होने से ही मानव-मानव मे पार्थक्य है। लेकिन आज हम देखते हैं कि मिलन के मार्ग की बाधाएँ दूर होने पर भी पार्थक्य दूर नहीं होता।

योरोप के छोटे-छोटे देश, जो कभी सम्मिलित थे, आज अपना स्वतंत्र आसन ग्रहण करने के लिए आतुर हैं। नार्वे और स्वीडन अलग हो गये हैं। आयरलैंड अपने स्वतंत्र अधिकारों को प्राप्त करने के लिए बहुत दिन से अथक प्रयत्न कर रहा है; यहाँ तक कि अपनी विशेष भाषा और साहित्य में जागृति निर्माण करने का प्रयास भी आयरिश लोगों में है। वेल्स निवासियों मे भी यही चेष्टा देखी जाती है। बेल्जियम मे इतने दिनों तक फ्रेंच भाषा का प्राधान्य था, लेकिन आज फ्लेमिश लोगों मे अपनी भाषा के स्वातंत्र्य के लिए उत्साह है। ऑस्ट्रियन राज्य में बहुत-से छोटे-छोटे देश साथ-साथ रहते आये हैं लेकिन अब यह स्पष्ट हो गया है कि भविष्य में उन देशों को साथ रखना असम्भव है। । रशिया फ़िनलैंड निवासियों को आत्मसात् करने के लिए काफ़ी शक्ति का प्रयोग कर रहा है लेकिन वह यह भी देखता है कि निगलना जितना आसान है पचाना उतना आसान नहीं। तुर्की साम्राज्य की विभिन्न जातियों मे काफी रक्तपात हो चुका है, फिर भी उनके भेद चिह्न विलुप्त नहीं हुए।

इंग्लैंड में किसी दिन इम्पीरियलिज़्म की लहर उठी थी। समुद्र-पार के उपनिवेशों को एक साम्राज्य-तंत्र में बाँधकर एक विराट् कलेवर धारण करने की प्रबल इच्छा इंग्लैड के चित्त में थी। लेकिन हाल में उपनिवेशों के शासकों की महासमिति इंग्लैंड में बुलायी गयी थी, और उसमें जितने बन्धन प्रस्तावित किये गये उनमें से कोई भी स्वीकृत नहीं हुआ। साम्राज्य के एकीकरण से उपनिवेशों का स्वातंत्र्य कम होने की जहाँ भी लेशमात्र आशंका थी वहाँ उनकी ओर से प्रबल आपत्ति व्यक्त की गयी।

केवल मिलन में ही शक्ति है और बृहत् होने ही में महत्ता है, यह विचार आज के युग का विचार नहीं है। जहाँ पार्थक्य वास्तविक होता है वहाँ केवल सुविधा के लिए, या एक बड़ा दल

निर्माण करने के प्रलोभन से, उस पार्थक्य का दमन करने का प्रयत्न सत्य के विरुद्ध है। दबाया हुआ पार्थक्य एक भयानक वस्तु होती है। किसी-न-किसी समय उत्तेजित होकर वह अचानक फूट निकलता है और विप्लव का निर्माण करता है। जो सत्ताएँ सचमुच अलग हैं उनके पार्थक्य का सम्मान करने में ही मिलन की रक्षा का सदुपेय है। मनुष्य जब अपने पार्थक्य को यथार्थ रूप से उपलब्ध करता है तभी वह महान् होने का प्रयत्न करता है। अपने पार्थक्य के प्रति जिसे कोई ममता नहीं है वही हिम्मत हारकर दस लोगों में अपने-आपको विलीन कर देता है। निद्रित मनुष्यों में आपसी भेद नहीं होते, लेकिन जब वे लोग जाग उठते हैं तब प्रत्येक की भिन्नता अलग-अलग तरह से अपने को घोषित करती है। विकास का अर्थ है ऐक्य के बीच पार्थक्य की वृद्धि। बीज में वैचित्र्य नहीं होता। कली में सारी पंखुड़ियाँ एक होकर रहती हैं; जब उनमें भेद-निर्माण होता है तभी फूल विकसित होता है। जब प्रत्येक पंखुड़ी अपने-आपको पूर्ण करती है तभी फूल सार्थक होता है। आज परस्पर संघात से पृथ्वी के देशों में जागृति का संचार हुआ है और इसीलिए, विकास के अनिवार्य नियम से, मनुष्य समाज का स्वाभाविक पार्थक्य आत्मरक्षा के लिए सचेष्ट है। अपने को सम्पूर्ण रूप से विलुप्त करके दूसरों के साथ एक होने मे कोई भी जागृत सत्ता महत्ता का अनुभव नहीं करती। जो छोटा है वह भी जब अपने स्वातंत्र्य के विषय में सचेत हो जाता है तब उस स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए प्राणपण से प्रयत्न करता है। वह छोटा होकर जीवित रहना चाहता है, बड़ा होकर मरना नहीं चाहता।

यदि फ़िनलैंड रूस का अंग बन जाय तो बहुत-सी अशान्तियों से उसका परित्राण हो सकता है, एक बड़े देश मे शामिल होकर छोटेपन का सारा दुःख दूर हो सकता है। किसी जाति में यदि किसी प्रकार की द्विविधा हो तो उसकी शक्ति का क्षय होता है, इस आशंका से फ़िनलैंड को बलपूर्वक रूस मे मिलाने की इच्छा रूसियों मे है। लेकिन फ़िनलैंड की भिन्नता भी एक सत्य पदार्थ है। रूस की सुविधा के लिए वह अपने-आपको बलिदान करना नहीं चाहता। इस भिन्नता को यथोचित उपायों से वश में करने की चेष्टा न्यायसंगत हो सकती है। लेकिन उसे ज़बरदस्ती एक करने की चेष्टा हत्या के ही बराबर अन्याय है। आयरलैंड के संबंध मे इंग्लैंड के सामने भी वही संकट है। वहाँ सुविधा और सत्य का संघर्ष चल रहा है। जगह-जगह पर आज यह समस्या दिखायी पड़ती है, और उसका एक-मात्र कारण यह है कि समस्त पृथ्वी में एक नया प्राण संचारित हो रहा है।

हमारे बंगाल के समाज मे इधर जो छोटी-मोटी क्रान्तियाँ दिखाई पड़ी हैं उनका मूल कारण भी यही है। अब तक व्यापक रूप से समाज के दो ही भाग थे—ब्राह्मण और शूद्र। ब्राह्मण ऊपर थे, अन्य सब लोग नीचे के स्तर पर पड़े हुए थे। विविध कारणों से देश में जब नया उद्बोधन हुआ तब अब्राह्मण जातियों के लोग शूद्रों के साथ हीन स्तर पर रहने से इंकार करने लगे। आज कायस्थ अपना विशेषत्व अनुभव कर रहे हैं, वे अपने-आपको शूद्रत्व में विलुप्त नहीं कर सकते। उनकी हीनता सत्य नहीं है; तो फिर वे सामाजिक श्रेणी-बन्धन की अति प्राचीन सुविधा को सदा के लिए क्यों मानेंगे? देशाचार यदि उनकी नयी भावना के विरुद्ध है तो देशाचार को ही पराभूत होना पड़ेगा। हमारे देश की सभी जातियों में इस तरह की क्रांति अपरिहार्य है। मूर्च्छित अवस्था मे बाहर निकलते ही मनुष्य सत्य का अनुभव करता है। और फिर वह किसी

कृत्रिम सुविधा का दासत्व बन्धन स्वीकार नहीं कर सकता। ऐसा करने की अपेक्षा वह असुविधा और अशान्ति को श्रेयस्कर समझता है।

इसका तात्पर्य क्या है? तात्पर्य यही है कि स्वातंत्र्य का गौरव-बोध उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने-आपको 'बड़ा' बनाना चाहता है, चाहे उसे दुःख स्वीकार करना पड़े। और इसी तरह परस्पर मिलन की वास्तविक सामग्री का निर्माण हो सकता है। दीनता का मिलन, अधीनता का मिलन, विशुद्ध मिलन नहीं हो सकता।

मुझे याद है कि मेरे किसी प्रबन्ध को लेकर साहित्य परिषद् की सभा में यह कहा गया था कि बाङ्ला भाषा को यथासम्भव संस्कृत की तरह बना देना चाहिए, जिससे गुजरात, महाराष्ट्र इत्यादि प्रदेशों के लोगों के लिए बाङ्ला भाषा सुगम हो जाय। यह बात माननी पड़ेगी कि बाङ्ला भाषा की जो विशेषत्व है वही अन्य देशवासियों के लिए बाङ्ला समझने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। लेकिन इसी विशेषत्व में भाषा की शक्ति है, उसका सौन्दर्य है। आज भारत के पश्चिमतम प्रान्तवासी गुजराती बाङ्ला पढ़कर बाङ्ला-साहित्य का अपनी भाषा में अनुवाद करने लगे हैं। इसका कारण यह नहीं कि बाङ्ला भाषा विशेषत्वहीन है या संस्कृत के कृत्रिम साँचे में ढली है। संथाली लोग यदि बंगाली पाठकों की सुविधा के लिए अपनी भाषा से समस्त संथालीपन वर्जित करें तो क्या उनके साहित्य का हम अधिक सम्मान करेंगे? क्या हमारा मिलन विशेषत्व की बाधा दूर होने की ही प्रतीक्षा कर रहा है?

यदि बंगाली अपनी भाषा के विशेषत्व पर अवलम्बित होकर साहित्य को उन्नत बनायें तभी हिन्दीभाषियों के साथ उनका श्रेष्ठ मिलन होगा। यदि बंगाली हिन्दुस्तानियों के साथ सौदा करने के लिए हिन्दी-ढंग की बाङ्ला लिखने लगें तो बाङ्ला-साहित्य का अधःपात होगा और कोई हिन्दुस्तानी उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखेगा! मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि किसी दिन एक बुद्धिमान, शिक्षित सज्जन ने मुझसे कहा था: 'बाङ्ला-साहित्य की जो उन्नति हो रही है, वह हमारे राष्ट्रीय मिलन के रास्ते में रुकावट बन रही है। श्रेष्ठता लाभ करने पर यह साहित्य सर्वदा जीवित रहना चाहेगा; और फिर बाङ्ला भाषा अख़िरी दम तक अपना स्थान नहीं छोड़ेगी। ऐसी अवस्था में बाङ्ला भाषा भारत के ऐक्य-साधन में बाधा देगी। इसीलिए बाङ्ला-साहित्य की उन्नति भारत के लिए कल्याणकारी नहीं है।' उन दिनों लोग समझते थे कि सब प्रकार के भेद को कूटकर एक पिण्डाकार पदार्थ बनाना ही राष्ट्रीय उन्नति का चरम परिणाम है। लेकिन वास्तव में विशेषत्व का विसर्जन करके जो सुविधा मिलती है वह दो दिन की मरीचिका है। विशेषत्व को महत्त्व प्रदान करके जिस सुविधा का निर्माण होता है, वही सत्य है।

जब भारतीयों में राष्ट्रीय ऐक्य-लाभ की चेष्टा प्रबल हुई, जब अपनी सत्ता के सम्बन्ध में हमारी चेतना विशेष रूप से जागृत हुई, तब हमारे मन में इस इच्छा ने भी जन्म लिया कि सारे मुसलमानों को अपने साथ मिला लें। लेकिन इसमें हमें सफलता नहीं मिली। यदि हम मुसलमानों को अपने साथ एक कर लेते तो हमारे लिए सुविधा अवश्य होती। लेकिन सुविधा होने से ही ऐक्य स्थापित नहीं होता। हिन्दु-मुसलमानों में जो वास्तविक अन्तर है उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। प्रयोजन-साधन के आग्रह से यदि हम इस पार्थक्य को अस्वीकार करें तो वह पार्थक्य भी हमारे प्रयोजन को नहीं मानेगा।

•

हिन्दू-मुसलमानों में सभी दिशाओं में वास्तविक ऐक्य का निर्माण नहीं हुआ है, इसीलिए राजनीतिक क्षेत्र में उन्हें एक करने का प्रयास सन्देह और अविश्वास का कारण बन जाता है। इस सन्देह को भित्तिहीन कहकर अस्वीकार करने से काम नहीं चलेगा। हमने जब भी मुसलमानों को पुकारा है, अपने काम में सहायता प्राप्त करने के लिए पुकारा है, उन्हें अपना समझकर नहीं बुलाया। यदि कभी हम यह देखते हैं कि हमारी कार्यसिद्धि के लिए उनकी ज़रूरत नहीं है तो उन्हें बेकार समझकर पीछे हटाने में हमें संकोच नहीं होता। उन्हें हम अपना यथार्थ साथी नहीं समझते, बल्कि हमारी दृष्टि में उनका स्थान आनुषंगिक है। जब दो पक्षों में असामंजस्य होता है तब उनका मिलन उसी समय तक रहता है जब तक किसी बाह्य बाधा का अतिक्रमण करने के लिए उनका एकत्र रहना आवश्यक हो जाता है। आवश्यकता दूर होते ही बँटवारे के समय दोनों पक्ष एक-दूसरे की प्रतारणा करते हैं।

मुसलमानों के मन में ऐसा ही सन्देह है, इसीलिए वे हमारा नियन्त्रण स्वीकार करने में हिचकते हैं। यदि हम दोनों एकत्र रहें तो व्यापक रूप से लाभ ही होगा। लेकिन लाभ का अंश उनके पक्ष में यथेष्ट होगा, इस विषय में मुसलमानों के मन में शंका है। इसलिए मुसलमानों का यह कहना असंगत नहीं है कि 'हम अलग रहकर ही आगे बढ़ सकते हैं और इसीमें हमारा लाभ है।'

कुछ दिन पहले तक हिन्दू-मुसलमानों के बीच इस तरह की तीव्र पार्थक्यानुभूति नहीं थी। हम दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे में मिल गये थे और हमारी दृष्टि भिन्नता पर नहीं जाती थी। लेकिन पार्थक्यानुभूति का अभाव एक 'अभाव' ही है। वह भावात्मक नहीं है। अर्थात् हम आपसी भेद के विषय में अचेतन थे— इसलिए नहीं कि इसमें वास्तविक ऐक्य था बल्कि इसलिए कि हममें प्राण-शक्ति का अभाव था और हम दोनों ही चैतन्यहीनता से अभिभूत थे। एक ऐसा दिन आया जब हिन्दू अपने हिन्दुत्व को लेकर गौरव करने लगे। उस समय यदि मुसलमान हिन्दुओं का गौरव स्वीकार करके स्वयं चुपचाप पड़े रहते तो हिन्दू बहुत खुश होते, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन जिस कारण से हिन्दुओं का हिन्दुत्व उग्र हो उठा उसी कारण से मुसलमानों के मुस्लिमत्व ने अपना सिर उठाया। आज वे मुसलमानों के रूप में ही प्रबल होना चाहते हैं, हिन्दुओं में विलीन होकर नहीं।

आज दुनिया-भर में समस्या पारस्परिक भेदों को दूर करने की नहीं, वरन् उनकी रक्षा करते हुए मिलन स्थापित करने की है। यह काम कठिन है; क्योंकि उसमें किसी तरह की चतुराई नहीं चल सकती। इस काम में एक-दूसरे के लिए जगह छोड़ देनी होती है। ऐसा करना सहज नहीं, लेकिन जो साध्य है वह सर्वदा सहज नहीं होता। परिणाम की ओर देखने से कठिन काम भी सहज हो जाता है।

आज हमारे देश में मुसलमान स्वतन्त्र रहकर अपने उन्नति-साधन की चेष्टा कर रहे हैं। हमारे लिए वह चाहे जितना अप्रिय हो, इस समय हमें इससे जो कुछ भी असुविधा हो, भविष्य में यथार्थ मिलन-साधन का यही स्वाभाविक उपाय है। बिना धनवान बने दान करना कष्टकर होता है। मनुष्य जब अपने-आपको महान् बनाता है तभी त्याग कर पाता है। जब तक उसमें अभाव और क्षुद्रता है तब तक ईर्ष्या और विरोध दूर नहीं हो सकते। तब तक यदि मनुष्य किसी से मिलता है तो बाध्य होकर मिलता है। ऐसा मिलन कृत्रिम होता है। छोटा होकर आत्मबोध करने में

अकल्याण है, महान् होकर आत्म-विसर्जन करने में ही श्रेय है। आधुनिक शिक्षा के प्रति मनोयोग न रखने से भारत के मुसलमान अनेक विषयों में हिन्दुओं से पीछे रह गये हैं। इस विषमता को दूर करने के लिए मुसलमानों ने सभी दिशाओं में हिन्दुओं से अधिक अधिकार माँगना शुरू कर दिया है। उनके इस दावे के प्रति हमारी आन्तरिक सम्मति होना ही उचित है। पद, मान और शिक्षा में उनका हिन्दुओं के समान स्तर पर उठना स्वयं हिन्दुओं के लिए मंगलप्रद है।

वास्तव में जो चीज बाहर से प्राप्त की जाती है, दूसरों की प्रार्थना करके प्राप्त की जाती है, उसकी एक सीमा होती है। वह सीमा हिन्दू-मुसलमानों के लिए प्रायः एक-सी है। जब तक मन उस सीमा तक नहीं पहुँच जाता तब तक उसकी यह आशा बनी रहती है कि यही परमार्थ लाभ का पथ है। और तब तक उस पथ का पाथेय किसने अधिक जमा किया है और किसने कम, इस विवाद को लेकर आपस में घोर ईर्ष्या और विरोध चलते रहते हैं।

लेकिन ज़रा दूर से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अपने गुण और शक्ति से ही हम अपना स्थायी मंगल अर्जन कर सकते हैं। योग्यता-लाभ के अतिरिक्त अधिकार-लाभ का दूसरा कोई पथ नहीं है। यह बात जितनी जल्दी समझी जाय उतना ही श्रेयस्कर है। इसलिए दूसरों की अनुकूलता लाभ करने का कोई स्वतंत्र-सीधा रास्ता यदि मुसलमान ढूँढ़ लें तो उस रास्ते पर उनकी अव्याहत प्रगति होती रहे, यही अच्छा है। यदि उनकी प्राप्ति हमसे अधिक हो तो इस विषय में कलह करने की क्षुद्रता हममें नहीं होनी चाहिए। मुसलमानों के लिए पद-सम्मान का मार्ग सुगम होना ही उचित है। इस मार्ग के अन्तिम गम्यस्थान तक पहुँचने में उन्हें विलम्ब न हो, यही कामना हमें प्रसन्न चित्त से करनी चाहिए।

लेकिन बाह्य अवस्था की विषमता पर मैं अधिक ज़ोर नहीं देना चाहता। इस विषमता का दूर होना कठिन नहीं है। इस निबन्ध में मैं जिस बात की चर्चा करना चाहता हूँ वह है आंतरिक स्वातंत्र्य का प्रश्न। इस स्वातंत्र्य का लोप आत्महत्या के समान होगा।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्वतंत्र विश्वविद्यालय की स्थापना और इस तरह के दूसरे प्रयासों के लिए मुसलमानों में जो उत्साह है उसमें यदि प्रतियोगिता का भाव हो तो वह भाव उनके प्रयास का स्थायी और सत्य पक्ष नहीं है। स्वातंत्र्य की उपलब्धि ही सत्य पदार्थ है। अपनी प्रकृति के अनुसार महान् हो उठने की इच्छा ही मुसलमानों की सत्य इच्छा है।

इस तरह का स्वातंत्र्य प्रबल होते देखकर हमारे मन में पहले तो भय उत्पन्न होता है। हम सोचते हैं, स्वातंत्र्य के जिस पक्ष मे आज विरोध दिखायी पड़ता है उसी को प्रश्रय मिलेगा और वही विकसित होगा, जिससे मनुष्य में परस्पर प्रतिकूलता उग्र हो उठेगी।

एक ऐसा समय था जब यह आशंका निराधार नहीं थी। उस समय प्रत्येक देश अपने ही बीच आबद्ध रहकर अपने विशेषत्व को अपरिमित रूप से बढ़ा रहा था। समस्त मानव-जाति के लिए यह बात एक व्याधि बन गयी थी और उसने अकल्याणकर रूप धारण किया था। लेकिन आज ऐसा नहीं हो सकता। आज प्रत्येक मनुष्य सारी मानव-जाति के बीच आ पहुँचा है। आज एक कोने में बैठकर असंगत रूप से अद्‌भुत सृष्टि करना किसी के लिए सम्भव नहीं है। आधुनिक युग की जो दीक्षा है उसमें प्राच्य और पाश्चात्य सभी देशों का योग है। केवल अपना ही शास्त्र पढ़कर पण्डित होने की आशा कोई नहीं कर सकता। आज मानव-प्रयास की गति जिस दिशा

में है वहाँ ज्ञान एक विश्वयज्ञ हो चला है और समस्त मानव-जाति के चित्त-मिलन के लिए क्षेत्र प्रस्तुत कर रहा है। मनुष्य की इसी वृहत् चेष्टा ने आज मुसलमानों और हिन्दुओं के द्वार पर आघात किया है। हम बहुत दिनों तक पूरी तरह से पाश्चात्य शिक्षा की प्राच्य विद्या के प्रति उसने अवज्ञा प्रदर्शित की। उसी अवज्ञा के बीच आज तक हमारा विकास हुआ है। इससे सरस्वती माता के घर में विच्छेद उत्पन्न हुआ है। उसके जो बच्चे पूर्व में रहते हैं वे अपने घर की पश्चिम की ओर खुलनेवाली खिड़कियाँ बन्द रखते हैं; और जो पश्चिम में रहते हैं वे पूर्व से बहनेवाली हवा को अस्वास्थ्यकर समझते हैं और उसका स्पर्श तक सहन नहीं करते।

लेकिन अब समय बदल रहा है। प्राच्य विद्या का अब अनादर नहीं किया जाता। प्रतिदिन इस बात का परिचय प्राप्त होता है कि मानवीय ज्ञान के विकास में प्राच्य विद्या का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। फिर भी हमारी शिक्षा-व्यवस्था पहले की तरह ही चल रही है। हमारे विश्वविद्यालयों में हमारी ही विद्या के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। हिन्दुओं या मुसलमानों के धर्मशास्त्रों के अध्ययन के लिए किसी जर्मन छात्र को जो सुविधा प्राप्त है वह हमारे छात्रों को नहीं है। ऐसी असम्पूर्ण शिक्षा से हमारी क्षति हो रही है, और इस बात का बोध आज के युग-धर्म ने ही हमारे मन में जागृत किया है। हम यदि केवल पश्चिम के पढ़ाये हुए पक्षी बनकर सिखायी हुई बातों को दोहराते रहें तो इससे रास्ते के लोगों में कुछ देर के लिए विस्मय और कौतुक-निर्माण हो सकता है, लेकिन इससे किसी का लाभ नहीं हो सकता। हम अपनी वाणी को उपलब्ध करेंगे, यही प्रत्याशा समस्त मानव-जाति को हमसे है। यह आशा यदि हम पूर्ण न कर सके तो मनुष्य-मात्र के सामने हमारा सम्मान नहीं हो सकता। इस सम्मान-लाभ के लिए प्रस्तुत होने का आह्वान आज हमें मिला है। उसी के आयोजन के लिए आज हमें उद्योग करना है। कुछ दिनों से हमारे देश में शिक्षा के उपायों और उसकी प्रणाली में परिवर्तन करने का जो प्रयत्न चल रहा है उसके पीछे भी यही आकांक्षा है। और यह प्रयत्न यदि अच्छी तरह सफल नहीं हो रहा है तो उसका कारण है हमारी आज तक की असम्पूर्ण शिक्षा। जो चीज़ हमने ठीक से प्राप्त नहीं की उसको देने का चाहे जितना प्रयत्न करें, हम दे नहीं सकेंगे।

अपने देश में कोई भी ऐसी विशिष्टता नहीं है जिसका कोई मूल्य हो, ऐसा सोचनेवाले लोग भी हैं। लेकिन उनके विषय में मैं कुछ नहीं कह रहा हूँ। विशिष्टता को स्वीकार करते हुए प्रत्यक्ष व्यवहार में उसे अग्राह्य समझनेवाले लोगों की संख्या भी छोटी नहीं है। उनमें से अनेक शास्त्रार्थ में निपुण भी हो सकते हैं और कर्मकाण्ड भी निभा सकते हैं; लेकिन जातीय आदर्श को वे अत्यन्त आंशिक भाव से ग्रहण करते हैं; और जितना मुँह से स्वीकार करते हैं उतना भी कार्यान्वित नहीं करते। ऐसे लोग विद्यालय में कंठस्थ की हुई विद्या से आगे बहुत दूर जाना नहीं चाहते।

अन्य एक दल ऐसे लोगों का है जो स्वजाति की विशिष्टता का गौरव करते हैं, लेकिन इस विशिष्टता को अत्यन्त संकीर्ण रूप से देखते हैं। जो प्रचलित है उसी को वे उच्च स्थान देते हैं, जो चिरंतन है उसे नहीं। हमारी दुर्गति के दिन जो विकृतियाँ जमा हुई हैं, जिनसे हमारे और अन्य देशों के बीच विरोध उत्पन्न हुआ है, जिन्होंने हमें खण्डित और दुर्बल बनाया है और इतिहास में बार-बार जिनके कारण हम लज्जित हुए हैं, उन विकृतियों को ही वे विशेषत्व कहते हैं और उनमें

तरह-तरह के काल्पनिक गुण देखते हैं। काल-प्रवाह ने जिसका परित्याग किया है उसी में वे देश का सत्य परिचय प्राप्त करना चाहते हैं और उसी को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि में चन्द्र-सूर्य की अपेक्षा दूषित वाष्प का वह आलोक ही अधिक सनातन है जो पथिकों को भ्रम में डाल देता है।

हिन्दू और मुसलमानों के लिए स्वतंत्र विश्वविद्यालयों की स्थापना करते हुए बहुतों को जो डर मालूम होता है, वह निराधार नहीं है। लेकिन फिर भी इस बात पर ज़ोर देना होगा कि जिस शिक्षा में समस्त प्राच्य और पाश्चात्य विद्या का समावेश हो रहा है वह शिक्षा सदा के लिए आतिशय्य की ओर नहीं जा सकती। जो स्वतंत्र हैं, वे यदि एक-दूसरे के पास आकर खड़े हों तभी उनका एकांगीपन दूर होता है और उनका यथार्थ सत्य व्यक्त होता है। अपने घर में बैठकर हम अपने लिए चाहे जितना बड़ा आसन बनायें, दूसरों के बीच आते ही अपने-आप हमारे लिए उपयुक्त आसन मिल जाता है। हिन्दू या मुस्लिम विश्वविद्यालय में यदि सारे विश्व को स्थान दिया जाय तो फिर साथ-साथ निजी स्वातंत्र्य को स्थान देने में भी कोई विपद नहीं है। वस्तुतः, इसी तरह स्वातंत्र्य का यथार्थ मूल्य निर्धारित होगा।

अब तक हम लोग पाश्चात्य शास्त्रों का जिस वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और युक्तिमूलक दृष्टि से अध्ययन करते आये हैं, वैसा अध्ययन हमारे अपने शास्त्रों का नहीं किया गया; मानो दुनिया में सर्वत्र अभिव्यक्ति का नियम काम करता है परन्तु भारत में वह प्रवेश नहीं कर पाता; मानो भारत में सब-कुछ अनादि और इतिहास के परे है। यहाँ किसी देवता ने व्याकरण की सृष्टि की है, किसी ने रसायन की, किसी ने आयुर्वेद की। किसी देवता के मुख-हस्त-पद के चारों वर्ण बाहर निकले हैं। सब-कुछ ऋषियों और देवताओं ने मिलकर अचानक उपस्थित किया है, इस पर और किसी की कोई बात नहीं चल सकती। इसीलिए भारत का इतिहास लिखते समय अद्‌भुत अनैसर्गिक घटनाओं का वर्णन करते हुए हमारी लेखनी को संकोच नहीं होता। शिक्षित लोगों में भी हम यह बात प्रतिदिन देख सकते हैं। हमारे सामाजिक आचार-व्यवहार के क्षेत्र में भी बुद्धि का कोई अधिकार नहीं है; क्योंकि किसी कार्य को हम करें या न करें, उसके कारण की जिज्ञासा करना असंगत माना जाता है। कार्य-कारण का नियम विश्व ब्रह्माण्ड में केवल भारत पर ही लागू नहीं होता; सभी कारण शास्त्रों में निहित हैं। इसलिए समुद्र-यात्रा उचित है या अनुचित, इस बात का निर्णय शास्त्र खोलकर ही किया जाता है। किसी व्यक्ति के घर में आने से पवित्र जल का छिड़काव करना चाहिए, यह भी पण्डित महाशय ही निश्चित करते हैं। किसी विशेष व्यक्ति का स्पर्श किया हुआ पानी पीना ही अपराध है लेकिन उसी का स्पर्श किया हुआ दूध, खजूर या गुड़ सेवन करना अपराध नहीं। यवन का दिया हुआ अन्न खाने से जाति भ्रष्ट होती है लेकिन उसकी दी हुई मदिरा को पान करने से नहीं होती। यदि इन सबका कारण कोई पूछे तो उसके लिए धोबी-नाई की सेवा बन्द हो जाय, और उसे चुप रहना पड़े।

शिक्षित समाज में भी जो इस तरह का असंगत व्यवहार चलता है उसका एक कारण यह है कि जहाँ पाश्चात्य शास्त्र का हम विद्यालय में अध्ययन करते हैं, प्राच्य शास्त्रों को किसी अन्य अवस्था में पढ़ते हैं। इसीलिए दोनों के सम्बन्ध में हमारे मन में अलग-अलग भावना होती है। अनायास ही हम यह मान लेते हैं कि बुद्धि का नियम इनमें से एक ही स्थान पर लागू होता है दूसरे

स्थान पर केवल व्याकरण का नियम चल सकता है। दोनों को यदि हम एक ही विद्यालय में पढ़ें, एक ही शिक्षा का अंग मानें, तो यह धारणा दूर हो सकती है।

यह प्रश्न उठता है कि आधुनिक शिक्षित समाज में इस भावना का विकास क्यों हो रहा है। मैं यह नहीं मानता कि शिक्षा पाने से बुद्धि के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है। इस भावना के कारण की मैं पहले ही समीक्षा कर चुका हूँ। आज शिक्षित लोगों में स्वातंत्र्य का अभिमान प्रबल हो रहा है। इस अभिमान के विकास में पहले-पहल विचार नहीं होता, केवल उत्साह होता है। हमारा अपना जो कुछ है उसका आज तक निर्विचार रूप से अवज्ञा की गयी है। अब इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो रही है। अब हम कभी-कभी वैज्ञानिक विचार-धारा का दिखावा करते हैं जो निर्विकार से भी बुरा है। इस तीव्र अभिमान की कालिमा सदा के लिए नहीं रह सकती। जब क्रिया-प्रतिक्रिया का घात-प्रतिघात शान्त होगा तो घर में और बाहर से सत्य को ग्रहण करना हमारे लिए सम्भव होगा।

हिन्दू समाज के पूर्ण विकास की मूर्ति हमारे सामने स्पष्ट रूप से नहीं आती। हिन्दुओं ने क्या किया है और वे क्या कर सकते हैं, इसके विषय में हमारी धारणा धुँधली है। हम जो अपने सामने देखते हैं उसीको प्रबल मानते हैं। लेकिन जो हमारे सामने है वह हिन्दू जाति की यथार्थ प्रकृति और शक्ति को आच्छन्न करके उसका विनाश कर रहा है, यह बात समझना हमारे लिए कठिन है। हमारी दृष्टि में हिन्दू-सभ्यता की मूर्ति वैसी ही है जैसा हमारे पंचांगों में अंकित संक्रांति का चित्र होता है। वह केवल स्नान और जप करती है, व्रत-उपवास से कृश हो गयी है, दुनिया की प्रत्येक वस्तु का संस्पर्श त्यागकर अत्यन्त संकोच के साथ एक कोने में खड़ी है। लेकिन एक दिन यही हिन्दू सभ्यता सजीव थी, उसने समुद्र पार किया था, उपनिवेश बसाये थे, दिग्विजय की थी। दूसरों को कुछ दिया था और दूसरों से ग्रहण किया था। उस समय उसका अपना शिल्प था, वाणिज्य था। उसका कर्म-प्रवाह व्यापक और वेगवान था। उसके इतिहास में नये-नये मतों का अभ्युत्थान होता था, उसमें सामाजिक और धार्मिक क्रांति के लिए स्थान था। उस समय स्त्री-समाज में भी वीरत्व, विद्या और तपस्या थी। महाभारत के पृष्ठ-पृष्ठ पर इस बात का परिचय मिलता है कि उस समय आचार-व्यवहार लोहे के साँचे में ढली हुई अचल वस्तु नहीं थी। हिन्दू-समाज एक वृहत्, विचित्र और जागृत चित्तवृत्ति की ताड़ना से नये-नये अध्यवसायों में प्रवृत्त था। वह भ्रांतियों के बीच से गुजरते हुए सत्य की ओर यात्रा करता था; परीक्षा के बीच, सिद्धान्त और साधना के बीच, पूर्णता लाभ करता था।। वह श्लोक-संहिता की जटिल रस्सियों से बँधकर कठपुतली की तरह एक निर्जीव नाट्य की पुनरावृत्ति नहीं करता था। बौद्ध और जैन उस समाज के अंग थे। मुसलमान और ईसाई भी उसमें सम्मिलित हो सके थे। उस समाज के एक महापुरुष ने अनार्यों को मित्र रूप में ग्रहण किया था, एक अन्य महापुरुष ने कर्म के आदर्श को वैदिक याग-यज्ञ की संकीर्णता से निकालकर उदार मनुष्यत्व के क्षेत्र में मुक्ति-दान दिया था, और धर्म को बाह्य अनुष्ठान के विधि-निषेध के बीच आबद्ध न करके उसे भक्ति तथा ज्ञान के प्रशस्त मार्ग पर जनसाधारण के लिए सुगम बनाया था। लेकिन ऐसे समाज को आज हम हिन्दू-समाज नहीं कहते। जो अचल है, गतिहीन है, उसीको हम हिन्दू-समाज कहते हैं। प्राण के धर्म को हम हिन्दू-समाज का धर्म नहीं मानते, क्योंकि वह विकास का धर्म है, परिवर्तन का धर्म है, निरन्तर ग्रहण-वर्जन का धर्म है।

इसलिए मन में यह आशंका होती है कि जो लोग हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहते हैं वे हिन्दुत्व की कौन-सी धारणा लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त हुए हैं ? लेकिन केवल इस आशंका से हिम्मत हारना उचित नहीं है। हमें हिन्दुत्व की धारणा को नष्ट नहीं करना है, बल्कि उसे विशाल बनाना है । उसे चलित करने से वह अपने-आप बड़ी होगी; बाँधकर रखने से ही उसका क्षुद्र तथा विकृत होना अनिवार्य है । विश्वविद्यालय ऐसा ही संचालन-क्षेत्र है । वहाँ बुद्धि क्रियाशील है और चित्त को सचेतन बनाने का आयोजन है। चेतना-स्रोत यदि प्रवाहित हो तो वह अपने-आप धीरे-धीरे जड़ संस्कार का बन्धन तोड़कर अपने लिए एक प्रशस्त मार्ग तैयार कर लेगा। मानव-मन पर मेरा सम्पूर्ण विश्वास है। हमें प्रयास करना है, चाहे आरम्भ में ग़लतियां ही क्यों न हों। जिस समाज में अचलता को हमी परमार्थ समझा जाता है वह समाज अचेतनता को अपना सहायक जानता है और मानव-मन को हम सबसे पहले ज़हर खिलाकर निश्चेष्ट बनाता है। उस समाज में ऐसी व्यवस्था की जाती है जिससे मन बाधा-नियमों में जकड़ा रहे, वह किसी तरह बाहर न निकल सके, उसे सन्देह करने में भय का अनुभव हो। लेकिन किसी विशेष विश्वविद्यालय का उद्देश्य कुछ भी हो वह मन को बांधकर नहीं रख सकता, क्योंकि मन को गतिशील बनाना ही उसका काम है। इसलिए यदि हिन्दू सचमुच यह समझते हैं कि शास्त्रों के द्वारा सदा के लिए जकड़े रहना और निश्चल होना ही हिन्दू प्रकृति का विशेषत्व है, तब तो उन्हें विश्वविद्यालय की कल्पना को बहुत दूर रखना चाहिए। विचारहीन रूढ़ियों के पालन-पोषण का भार विद्यालय को देना पुत्र को राक्षसी के हाथ में देने के बराबर है।

कुछ लोगों का यह विश्वास है कि हिन्दुत्व में कोई गतिविधि नहीं है, वह स्थावर पदार्थ है। वर्तमान युग के आघात से कहीं वह विचलित न हो, उसके स्थावर धर्म को चोट न पहुँचे, इस विचार से उसे कसकर बाँध रखना ही वे हिन्दुओं का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य मानते हैं। ऐसे लोग भी मानव-चित्त को दीवारों से घेरने के बदले उसे विश्व-विद्या की मुक्तवायु के सम्पर्क में लाना चाहते हैं। वे भ्रम या अविवेचना के कारण ऐसा नहीं करते। वास्तव में मनुष्य मुँह से जो कहता है उसी पर उसका सत्य विश्वास सर्वदा नहीं हुआ करता। उसका आन्तरिक सहज बोध कभी-कभी बाह्य विश्वास के विरुद्ध होता है। विशेषतः ऐसे समय जब देश के प्राचीन संस्कारों का नूतन उपलब्धि के साथ संघर्ष चल रहा है, ऋतु-परिवर्तन के सन्धि-काल मे हम मुँह से जो कहते हैं उसी को अपने हृदय का प्रकृत सत्य समझकर ग्रहण नहीं कर सकते। फाल्गुन के महीने में कभी-कभी अचानक उत्तर से हवा बहने लगती है। ऐसा भ्रम होता है मानो पौष मास वापस लौटा है। फिर भी हम यह निश्चयपूर्वक कहते हैं कि उत्तर की हवा फाल्गुन की अपनी विशेषता नहीं है। आम में जो बौर लगा है, नव-किसलयों में जो मृदुलता और यौवन है, उसी में फाल्गुन का आन्तरिक सत्य व्यक्त होता है। हमारे देश में भी प्राण-समीर बह रहा है। इसलिए हमारी जड़ता दूर हुई है और हम ज़ोर-ज़ोर से कहते हैं कि हमारा जो कुछ है उसको सुरक्षित रखेंगे। हम यह भूल जाते हैं कि जो कुछ है उसे बिलकुल वैसा रखना हो तो पूर्णतया निश्चेष्ट हो जाना ही हमारे लिए उचित•होगा। खेत में झाड़-झंखाड़ उगाने के लिए किसी को हल नहीं चलाना पड़ता। अपने बीच जिस संजीवनी-शक्ति का हम अनुभव करते हैं उसके प्रयोग से मृत की रक्षा करना चाहते हैं। लेकिन जीवन-शक्ति का धर्म यह है कि वह अपना प्रयोग वहीं करती है जहाँ जीवन का

आभास मिले। किसी वस्तु को अचल बनाकर रखना उसका काम नहीं है। जो वर्धनशील है उसे वह आगे बढ़ाती है और जिसका विकास समाप्त हो चुका है उसका नाश करके उसे दूर हटा देती है। इसीलिए मैंने कहा कि आज के युग का सबसे बड़ा सत्य हमारे बीच जीवन-शक्ति का आविर्भाव है, जो हमें विविध प्रयासों में प्रवृत्त रखती है। यह शक्ति कभी-कभी मृत वस्तु को चिरस्थायी करना चाहती है लेकिन यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह हमारी शक्ति की क्षणिक लीला-मात्र है।

श्री गोखले ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा-संबंधी जो बिल पेश किया था उसके विषय में कुछ लोगों ने कहा—'आधुनिक शिक्षा से हमारा सिर तो फिर ही गया है, अब क्या देश की जनता पर भी यह आफ़त आयेगी?' लेकिन ऐसी बातें करनेवाले लोग अपने ही बच्चों को निःसंकोच आधुनिक विद्यालयों में भेजते हैं। ऐसा विचित्र आत्मविरोध हमें क्यों दिखायी पड़ता है? इसका कारण कपट भाव नहीं। असल बात तो यह है कि हृदय में नव-विश्वास का वसन्त आने पर भी मुँह से पुरातन संस्कारों की साँस चल रही है इसलिए हम जो उचित है वही करते हैं, फिर भी बीते हुए युग की बातें करते हैं। आधुनिक शिक्षा ने चंचलता को जन्म दिया है, लेकिन इसके बावजूद उसमें मंगल है और उस मंगल को हमने मन में उपलब्ध किया है। उसमें जो विपद् है उसे भी हमने स्वीकार किया है। निरापद मृत्यु को वरण करने के लिए अब हम राज़ी नहीं हैं। जीवन की सारी ज़िम्मेदारी और सारे कष्ट को हम वीरतापूर्वक स्वीकार करते हैं। हम जानते हैं कि जीवन में उलट-फेर होगा, हमसे बहुत-सी ग़लतियाँ होंगी, प्राचीन व्यवस्था को विच्छिन्न करने से हमें विश्रृंखलता का दुःख भोगना होगा। चिरसंचित धूल से घर को मुक्ति दिलाने के लिए जब हम सफ़ाई करेंगे तो पहले कुछ देर काफ़ी धूल उड़ेगी। लेकिन असुविधा और विपत्ति की आशंका होते हुए भी हमारे हृदय में जो नये प्राण का आवेग है वह हमें निश्चल नहीं रहने देता। हम कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करेंगे, अचल होकर पड़े नहीं रहेंगे—यह है हमारा आन्तरिक भाव जो बार-बार हमारे मौखिक विचारों से आगे निकल जाता है।

जागरण के प्रथम क्षण में हम अपने-आप को अनुभव करते हैं और उसके बाद अपने परिवेश का अनुभव हमें होता है। जातीय उद्‌बोधन की पहली मंज़िल में यदि हम अपने पार्थक्य को ही प्रबलता से उपलब्ध करें तो इसमें डरने की कोई बात नहीं है। उसी जागरण से चारों ओर के बृहत् जगत् की उपलब्धि भी हमें होगी। अपने-आपको पाने के साथ-ही साथ समस्त को प्राप्त करने की आकांक्षा हममें जागेगी।

आज दुनिया-भर में प्रत्येक देश अपने स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए प्राणपण से यत्न कर रहा है। किसी तरह अन्य देशों में विलीन नहीं होना चाहता। लेकिन साथ-ही-साथ हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक देश बृहत् मानव-समाज से अपना योग अनुभव करता है। इसी अनुभूति की शक्ति से आज दुनिया के सभी देश उन विशेषताओं का त्याग कर रहे हैं जिनसे मनुष्य की बुद्धि, रुचि और धर्म पर आघात होता है, जो कारागृह की प्राचीरों की तरह हैं, जिनके पास विश्व को ओर जाने का या विश्व में प्रवेश करने का कोई पथ नहीं है। आज प्रत्येक देश अपनी निजी सम्पदा को विश्व के बाज़ार में मूल्यांकन के लिए ला रहा है। आँखें बन्द करके अपने निजत्व का गौरव करने में उसकी तृप्ति नहीं होती। अपने ही घर में उच्च-स्वर से अपने विशेषत्व की घोषणा

करने में उसे गौरव-बोध नहीं होता। अपने निजत्व को समस्त पृथ्वी का अलंकार बनाने की ही इच्छा प्रत्येक देश के हृदय में है। आज वह दिन आ गया है जब हममें से कोई भी ग्राम्यता को राष्ट्रीयता कहकर उस पर गर्व नहीं कर सकता। हमारे व्यवहार के जिन संस्कारों ने हमें क्षुद्र बनाकर दूसरों से पृथक् किया है, जिनके कारण हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चिन्तन, कर्म, दान, भ्रमण, ग्रहण—सभी में बाधाएँ निर्माण हुई हैं, उन कृत्रिम विघ्नों को दूर करना ही होगा, अन्यथा मानवता की राजधानी में हमारी लांछन की सीमा नहीं रहेगी। इस बात को हम मुँह से स्वीकार करें या न करें, हमारे हृदय ने इसे समझ लिया है। हम विविध उपायों से अपनी उसी वस्तु को ढूँढ़ रहे हैं जिसे विश्व का आदर प्राप्त है, जो केवल अपने ही घर में बना हुआ आचार-अनुष्ठान नहीं है। उस वस्तु को उपलब्ध कराने से ही हमारी रक्षा होगी। क्योंकि तब सारी दुनिया अपनी ही आवश्यकता से हमारी रक्षा करेगी। यह इच्छा हमारे हृदय में जागृत है इसीलिए आज हम एक कोने में बैठे नहीं रह सकते। आज हम जिन संस्थाओं की स्थापना कर रहे हैं उनमें हमारा स्वातंत्र्य-बोध और विश्व-बोध साथ-साथ व्यक्त होता है। अब से पचास वर्ष पहले हिन्दू-विश्वविद्यालय की कल्पना भी हमें विचित्र लगती। इस समय भी ऐसे लोग हैं जिन्हें इसकी असंगति कष्टमय लगती है। वे सोचते हैं कि हिन्दू-जाति और विश्व के बीच विरोध है, तभी हिन्दू तरह-तरह से विश्व के सम्पर्क से दूर रहना चाहते हैं; इसीलिए हिन्दू पाठशाला हो सकती है, लेकिन हिन्दू-विश्वविद्यालय नहीं हो सकता। लेकिन इस दल के लोगों की संख्या कम हो रही है। यही नहीं, इनका अपना निजी आचरण देखने से पता चलता है कि जिस बात को वे अपना दृढ़ मत समझते हैं वह वास्तव में, गम्भीर भाव से उनका आन्तरिक विश्वास नहीं है।

जो कुछ भी हो, अपने देश के उच्चतम देवता को हम सदा से लिए मन्दिर के अँधेरे कोने में बिठाकर नहीं रख सकते। आज रथयात्रा का दिन आ गया है। विश्व के राजपथ पर, मानवीय सुख-दुःख और आदान-प्रदान की वीथिका में, हमारा देवता निकल पड़ा है। आज हमें अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार रथ तैयार करना है। किसी का रथ मूल्यवान वस्तुओं से बनेगा, किसी का मामूली होगा। किसी का रथ बीच रास्ते में ही टूट जायगा, किसी का बरसों तक बना रहेगा। लेकिन महत्त्व तो इस बात का है कि रथयात्रा का शुभ मुहूर्त आ गया है। कौन-सा रथ कहाँ तक पहुँचेगा, इसका हिसाब हम नहीं लगा सकते। लेकिन उत्सव हमारे सामने है। हमारे लिए जो सबसे अधिक मूल्यवान है वह पदार्थ आज पुरोहितों के विधि-निषेध में आबद्ध धूप-दीप के वाष्प में छिपा नहीं रह सकता। आज विश्व के आलोक में हमारे लिए जो 'वरेण्य' है वह सबके सामने गोचर होगा। उसका रथ निर्माण करना है। इसका परिणाम क्या होगा हम ठीक नहीं कह सकते, लेकिन सब से अधिक आनन्द की बात यह है कि यह रथ विश्व के पथ पर चल रहा है, प्रकाश के मार्ग पर निकला है। इसी आनन्द के आवेश से हम सब मिलकर, जय-जयकार करते हुए, इस रथ की बागडोर पकड़ने के लिए आगे बढ़ रहे हैं।

लेकिन मैं अच्छी तरह देख पाता हूँ कि व्यावहारिक लोग इन सब बातों से अप्रसन्न होते हैं। वे कहते हैं : 'हिन्दू विश्वविद्यालय के नाम से जो चीज़ तैयार हो रही है उसे प्रत्यक्ष परिणाम की दृष्टि से देखना चाहिए। हिन्दू नाम देने से ही हिन्दुत्व का गौरव नहीं होता। और विश्वविद्यालय के नाम से ही विश्वविद्या का फ़व्वारा नहीं छूटता। हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा हमारी विद्या का

कोई विशेष विस्तार होगा इस बात का प्रमाण अभी तक हम नहीं देखते। दफ़्तर की मेज़ के कौन-से छिद्र से हिन्दुत्व का शतदल कमल खिलेगा, इसका भी अनुमान लगाना कठिन है। '

इस सम्बन्ध में मुझे यही कहना है कि कुंभकार मूर्ति बनाने से पहले मिट्टी को सानकर जो पिण्ड तैयार करता है उसी को देखकर हमें निराश नहीं होना चाहिए। कोई भी चीज़ क्षण-भर में बिलकुल हमारी इच्छा के अनुरूप नहीं हो सकती। यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि यदि कोई चीज हमारी इच्छानुरूप नहीं है तो इसमें मुख्य दोष मन का ही है, उपकरणों का नहीं। जिसमें क्षमता नहीं होती वह सोचता है कि सुयोग के अभाव से ही वह अक्षम है। लेकिन जब अवसर मिलता है तो वह देखता है कि इच्छा-शक्ति की कमज़ोरी ही उसकी अक्षमता का कारण है। जिसकी इच्छा जोरदार है वह ज़रा-सा मौक़ा पाते ही अपनी इच्छा को सार्थक बनाता है। हमारे अभागे देश में हम प्रतिदिन ऐसी बातें सुनते है : 'यह जगह हमें पसन्द नहीं है, इसलिए हम इसका त्याग करेंगे; वह वस्तु हमारे मन के अनुरूप नहीं इसलिए हम उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखेंगे। ' विधाता के लाड़ले बच्चे बनकर हम रुपये में सोलह आने इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं; कहीं ज़रा व्यत्यय हुआ तो रूठ जाते हैं। जिसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल और संकल्प अपरिस्फुट है उसकी दुर्गति होती है। हममें यह कहने की शक्ति नहीं है : 'जो अवसर मिलेगा उसी को हम अपनी इच्छा के जोर से अपने मन के अनुकूल बना लेंगे—आज नहीं तो कुछ दिन बाद, अकेले नहीं तो दूसरों से मिलकर, जीवन के मध्य में नहीं तो अन्त मे। ' हम ऐसा नहीं कह पाते इसीलिए प्रत्येक उद्योग के आरम्भ में ही असन्तुष्ट होकर बैठ जाते हैं। अपनी आन्तरिक दुर्बलता के पाप को बाह्य परिस्थिति पर आरोपित करके हम दूर खड़े रहते हैं और अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। जो मिला है वही यथेष्ट है, बाक़ी सब-कुछ प्राप्त करना हमारे हाथ मे है— यह है पुरुषोचित बात। यदि वास्तव में हमें विश्वास है कि हमारा ही मत सत्य है तो फिर शुरू से ही उसके सर्वग्राह्य न होने पर हमें कोपभवन में जाकर द्वार बन्द करके नहीं बैठना है, बल्कि अपने मत को सत्य सिद्ध करने के लिए कमर कसनी है। किसी विशेष प्रतिष्ठान के द्वारा हम परमार्थ-लाभ नहीं कर सकते। मनुष्य मशीन से नहीं बनता। यदि हममें मनुष्यत्व हो तभी प्रतिष्ठान की सहायता से हमारा मनोरथ सिद्ध हो सकता है। हिन्दू के हिन्दुत्व को यदि हम स्पष्ट रूप से नहीं देखते तो हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित होने से ही हम उसे नहीं देखेंगे। और यदि हिन्दुत्व हमारी दृष्टि में स्पष्ट है तो बाह्य प्रतिकूल चाहे जितनी प्रबल हो हम हिन्दुत्व की कल्पना को उपलब्ध करेंगे और कार्यान्वित करेंगे। इसलिए हिन्दू-विश्वविद्यालय का किस तरह से आरम्भ हो रहा है, और वह कैसा रूप धारण कर रहा है, इन प्रश्नों को लेकर मैं अपने मन में संशय नहीं रखना चाहता। यदि संशय हो सकता है तो अपने ही बारे में, यदि सावधान होना है तो अपने आन्तरिक पक्ष की ही ओर से।

लेकिन मेरे मन में कोई द्विधा नहीं है, क्योंकि मैं यह नहीं समझता कि अलादीन का चिराग़ मिल गया है और न मुझे यह आशा है कि बहुत ही अल्प समय में कोई बड़ी सफलता मिलेगी। मैं देख रहा हूँ कि हमारा चित जागृत हो चुका है। मनुष्य के इसी चित्त पर मेरा विश्वास है। या यदि यह भूल करे तब भी मैं इसे अचूक यंत्र से बड़ा मानता हूँ। यह जागृत चित्त जिस काम में भी प्रवृत्त हो रहा है वह हमारे लिए यथार्थ कार्य है।

चित्त के विकास के साथ-ही-साथ कार्य का विकास भी सत्य हो उठेगा। ये सभी काम

हमारे जीवनसंगी हैं। जीवन के साथ-साथ ये बढ़ते चलेंगे। इनमें संशोधन होगा। इनका विस्तार होगा। बाधाओं के बीच से गुज़रकर ही ये प्रबल होंगे, संकोच के बीच ही विकसित होंगे और भ्रम से उत्तीर्ण होकर ही इनका सत्य सार्थक हो उठेगा।

[२९ सितम्बर, १९११ को रिपन (अब सुरेन्द्रनाथ) कॉलेज में प्रस्तावित बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में पढ़ा गया लेख। 'प्रवासी' (अग्रहायण, १३१८ बंगाब्द) नवम्बर, १९११ में प्रकाशित।]

१८

नारी

मनुष्य की सृष्टि में नारी पुरातनी है। नर-समाज में नारी-शक्ति को आद्या-शक्ति कहा जा सकता है। यही वह शक्ति है जो जीवलोक मे प्राण को वहन करती है, उसका पोषण करती है।

पृथ्वी को जीवों के रहने योग्य बनाने के लिए कितने ही युगों तक मिस्त्री ढलाई-पिटाई करते रहे। यह कार्य पूरी तरह समाप्त होने से पहले ही प्रकृति ने जीव-सृष्टि शुरू कर दी। पृथ्वी पर वेदना ने पदार्पण किया। प्राण-साधना की वह आदिम वेदना प्रकृति ने नारी को दी है— वह नारी के हृदय में है, रक्त में है। जीव-पालन के प्रवृत्ति-जाल को प्रकृति ने नारी के देह-मन के तन्तुओं से जोड़ा है। इस प्रवृत्ति को स्वभावतः चित्त की अपेक्षा हृदय में ही अधिक गम्भीर और प्रशस्त रूप से स्थान मिला है। यह वही प्रवृत्ति है जो नारी के बीच बन्धन-जाल निर्माण करती है, अपने को और दूसरों को धारण करने के लिए—प्रेम द्वारा, स्नेह द्वारा, करुणामय धैर्य द्वारा। मानव-संसार की रचना इसी आदिम शृंखला से हुई है—यही समाज और सभ्यता का मूल आधार है। संसार में यदि यह बन्धन न होता तो मनुष्य आकार-प्रकारहीन वाष्प की तरह छितर जाता, कहीं भी संहत होकर मिलन-केन्द्र स्थापित न कर पाता। समाज-बन्धन का यह प्रथम कार्य नारी का ही है।

प्रकृति की सृष्टि-प्रक्रिया एक गम्भीर रहस्य है, उसकी स्वतः प्रवर्त्तना द्विधाहीन है। नारी के स्वभाव में ही इस आदिप्राण का सहज प्रवर्त्तन है। इसीलिए नारी-स्वभाव को मनुष्य सर्वदा रहस्यमय कहता आया है। तभी नारी के जीवन में संवेगों का उच्छ्वास, जो अचानक दिखायी पड़ता है, तर्क से परे है। वह प्रयोजन के अनुसार विधिपूर्वक बनाया हुआ जलाशय नहीं है; उस झरने की तरह है जिसका कारण अपने ही अहैतुक रहस्य में छिपा होता है।

प्रेम और स्नेह का रहस्य अति प्राचीन है, दुर्गम है, वह अपनी सार्थकता के लिए तर्क पर निर्भर नहीं होता। अपनी प्रत्येक समस्या का वह अविलम्ब समाधान चाहता है। तभी घर में नारी गृहिणी का प्रवेश होता है और शिशु गोद में आते ही माता उसके लिए सदैव प्रस्तुत रहती है। जीव-राज्य में परिणत बुद्धि का आगमन दीर्घकाल के बाद होता है। संघर्ष और संधान के बाद बुद्धि अपना स्थान प्राप्त करती है। द्विधा को मिटाने में उसे समय लगता है। द्विधा के साथ उसका तीव्र विरोध है, और इस विरोध में ही बुद्धि शक्ति-लाभ करती है, सफलता-लाभ करती है। द्विधा तरंग का यह उतार-चढ़ाव सदियों चलता रहता है, सांघातिक भ्रम जमा होकर बार-बार मानव-इतिहास को विपर्यस्त कर देता है। पुरुष की सृष्टि विनाश की धूल में मिल जाती है, उसकी

कीर्ति का शिलान्यास फिर से करना होता है। मुड़-मुड़कर नयी परीक्षाओं के बीच पुरुष का कर्म परिवर्तित होता रहता है। अभिज्ञता का यह नित्य परिक्रमण यदि उसे आगे की ओर ले जाता है तो उसकी रक्षा होती है; लेकिन यदि उसे त्रुटि-संशोधन का अवकाश नहीं मिलता तो जीविका-निर्वाह की खाई बढ़ती जाती है और उसे विलुप्ति के ग्रास में पहुँचा देती है। पुरुष-रचित सभ्यता में बनने-बिगड़ने की यह क्रिया आदिकाल से चली आ रही है। और इसी के बीच प्रकृति की दूरी बनकर नारी प्रेयसी तथा जननी के रूप में अपना काम करती आयी है। कभी-कभी वह अपने प्रबल आवेग से संसार-क्षेत्र में अग्निकाण्ड भी लाती है। यह आवेग विश्व-प्रकृति की प्रलय-लीला-जैसी ही है—तूफ़ान की तरह, दावानल की तरह, आकस्मिक, आत्म-घातक।

पुरुष अपनी ही दुनिया में बार-बार अपने को आगन्तुक के रूप में पाता है। आज तक कितनी ही बार वह अपना विधि-विधान निर्माण कर चुका है। विधाता ने उसके जीवन का पथ निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया। कितने देशों में, कितने युगों में, उसे अपना मार्ग तैयार करना पड़ा है। एक युग का पथ दूसरे युग के लिए विपथ सिद्ध हुआ है और उसके इतिहास की धारा उलट गयी है। उसका पथ बार-बार विलुप्त हो गया है।

लेकिन नयी-नयी सभ्यताओं के उलट-फेर में नारी-जीवन की मूल धारा अपने प्रशस्त पथ पर चलती रही है। प्रकृति ने उसे जो हृदय-सम्पदा प्रदान की है उसे कौतूहल-प्रवण बुद्धि की नित नयी परीक्षाओं का सामना नहीं करना पड़ा। पुरुष को कितने दफ़्तरों के दरवाज़े खटखटाने पड़ते हैं, कितने स्थानों पर उम्मीदवारी करनी पड़ती है। अधिकतर पुरुषों को जीविका के लिए ऐसे कार्य स्वीकार करने पड़ते हैं जो उनकी इच्छा या क्षमता के अनुकूल नहीं होते। उन्हें कठिन परिश्रम से तरह-तरह के काम सीखने होते हैं, और अधिकांश लोगों को इन कामों में यथोचित सफलता नहीं मिलती। लेकिन माता और गृहिणी की हैसियत से स्त्रियों के काम स्वभावसंगत होते हैं, वे उनके अपने काम होते हैं।

विविध कठिनाइयों का सामना करते हुए, प्रतिकूल अवस्थाओं में, पुरुषों को अपनी हिम्मत से महत्त्व-लाभ करना पड़ता है। इस कठोर परीक्षा मे उत्तीर्ण होने वाले थोड़े ही होते हैं। लेकिन ऐसी स्त्रियों को हम घर-घर में देख सकते हैं जो हृदय की रसधारा से अपने संसार को शस्यशाली बनाती हैं। प्रकृति से उन्होंने सहज ही एक निपुणता प्राप्त की है, माधुर्य के ऐश्वर्य पर उनका स्वाभाविक अधिकार है। यदि किसी स्त्री के हृदय में दुर्भाग्यवश यह रस नहीं है तो शिक्षा द्वारा, या किसी कृत्रिम उपाय से, वह संसार-क्षेत्र में सार्थकता-लाभ नहीं कर सकती।

जो शक्ति अनायास ही मिलती है उसमें विपद् भी होती है। एक तो, यह शक्ति दूसरों के लिए लोभनीय बन जाती है। ऐश्वर्यशाली देश को बलवानों का आक्रमण सहना पड़ता है—अपने प्रयोजन के लिए वे उस देश पर अधिकार करना चाहते हैं। लेकिन जो देश उर्वर नहीं है वह आसानी से स्वाधीन रह सकता है। जिस पक्षी के पंख सुन्दर हैं और कंठ-स्वर मधुर है उसे पिंजरे में बन्द करके मनुष्य एक विशेष गर्व का अनुभव करता है। सम्पत्तिलोलुप मानव यह भूल जाता है कि विहंग का॰सौन्दर्य सारे अरण्य का है। स्त्रियों के हृदय-माधुर्य और सेवा-नैपुण्य को पुरुष ने सदा अपने व्यक्तिगत अधिकार के कड़े पहरे में बन्द रखा है। और यह बात आसानी से सम्भव भी हुई है, क्योंकि स्त्री-स्वभाव में बन्धनों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति है।

वस्तुतः जीवपालन का कार्य व्यक्तिगत होता है। वह किसी व्यक्ति-निरपेक्ष तत्त्व के अधीन नहीं है, और इसलिए उसमें जो आनन्द मिलता है वह किसी महान सिद्धान्त का आनन्द नहीं है । स्त्रियों की निपुणता से रस तो उत्पन्न हुआ है, लेकिन वह, निपुणता सृष्टि के कार्य में आज भी यथेष्ट मात्रा में सार्थक नहीं हुई।

नारी की बुद्धि, उसके संस्कार और आचरण युग-युग से निर्दिष्ट सीमाओं में आबद्ध रहे हैं। उसकी शिक्षा और उसके विश्वास को बाह्य जगत् की विशाल अभिज्ञता के बीच सत्यता-लाभ करने का सुयोग नहीं मिला। इसीलिए तरह-तरह के अपकृष्ट देवताओं को नारी के भय और भक्ति का अर्घ्य मिला। यदि हम सारे देश की ओर दृष्टिपात करें तो यह बात सामने आती है कि इस मोहमुग्धता से देश को गहरी चोट पहुँची है।

इस मुग्धता का भार वहन करके उन्नति के दुर्गम पथ पर आगे बढ़ना बहुत ही कठिन सिद्ध हुआ है। मूढ़मति पुरुषों की देश में कमी नहीं है। बाल्यकाल से वे स्त्रियों की सहायता से बड़े हुए हैं, लेकिन उन्हीं के द्वारा स्त्रियों पर सबसे अधिक अत्याचार किये गये हैं। देश के चारों ओर पनपने वाले ये जो कलुषित मन के केन्द्र हैं उनका आधार नारी की अन्ध विचार-बुद्धि ही है। इस तरह चित्त के कारागृह से देश व्याप्त होता जा रहा है, और प्रतिदिन इस कारागृह की नींव सुदृढ़ होती जा रही है ।

आजकल पृथ्वी के प्रायः सभी देशों में स्त्रियाँ अपने व्यक्तिगत संसार की सीमाओं को पार करके बाहर निकल रही हैं। आधुनिक एशिया में भी इसके लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि आज सर्वत्र सीमाओं को तोड़ने का युग आ पहुँचा है। जो देश अपने भौगोलिक और राजनैतिक प्राचीरों से आबद्ध थे उन्हें पहले की तरह घेरकर रखना आज सम्भव नहीं है। आज वे एक-दूसरे के सामने अपने-आपको प्रकाशित कर रहे हैं। इससे अभिज्ञता का क्षेत्र प्रशस्त हुआ है, दृष्टि-सीमा अभ्यस्त दिगन्त को पीछे छोड़ गयी है। बाह्य जगत् से जो संघर्ष हुआ है उससे अवस्था में परिवर्तन हुआ है, नये-नये प्रयोजनों के साथ-ही-साथ अनिवार्य रूप से आचार-विचार भी बदले हैं।

हमारे बाल्यकाल में जब घर से बाहर निकलना होता था तो स्त्रियों के लिए पालकी में बैठना अनिवार्य था। प्रतिष्ठित परिवारों में पालकी के ऊपर पर्दा डाल दिया जाता था। बेथ्यून स्कूल में जो लड़कियाँ सबसे पहले भर्ती हुई थीं, उनमें मेरी बड़ी बहन अग्रणी थी। वह खुले दरवाज़े की पालकी में स्कूल जाती थी। उस समय के श्रेष्ठवंशीय आदर्श को इससे काफ़ी धक्का पहुँचा था। 'शेमीज' पहनना उन दिनों निर्लज्जता का लक्षण माना जाता था। शालीनता की प्रचलित धारणाओं की रक्षा करते हुए रेलगाड़ी की यात्रा आसान नहीं थी।

बन्द पालकी का वह युग आज बहुत दूर चला गया है—वह धीरे-धीरे नहीं गया, उसने बड़ी तेज़ी से प्रस्थान किया है। बदलते हुए परिवेश के साथ-साथ ही यह परिवर्तन आया है। उसके लिए किसी को सभा-समिति का आयोजन नहीं करना पड़ा। लड़कियों के विवाह की आयु देखते-ही-देखते आगे बढ़ गयी है; यह भी स्वाभाविक रूप से ही हुआ है। जब प्राकृतिक कारणों से नदी की धारा बढ़ जाती है तो तटभूमि की सीमा अपने-आप ही पीछे हटती है। नारी-जीवन

में आज सभी दिशाओं से तट की सीमा अपने-आप पीछे हट रही है। जीवन की नदी महानदी हो उठी है।

बाह्य व्यवहार में जो परिवर्तन होता है उसका प्रभाव बाहर तक ही सीमित नहीं रहता। अन्तःप्रकृति में भी वह काम करता है। स्त्रियों का जो मनोभाव बद्ध संसार में उपयुक्त है वह मुक्त संसार में अचल होकर नहीं रह सकता। जीवन के प्रशस्त मार्ग पर खड़े होकर नारी का मन नये सिरे से विचार करने लगता है, पुराने संस्कारों को जाँचने का काम अपने-आप आरम्भ हो जाता है। इस अवस्था में वह तरह-तरह की ग़लतियाँ कर सकती है, लेकिन बाधाओं के धक्के खाते-खाते वह ग़लतियों को सुधार भी लेती है। संकीर्ण सीमाओं मे विचार करने की आदत को यदि न छोड़ा जाय तो चारों दिशाओं में पग-पग पर असामंजस्य का सामना करना पड़ता है। अभ्यास-परिवर्तन में दुःख है, विपद् भी है। लेकिन उसके डर से आधुनिक युग की धारा को पीछे नहीं मोड़ा जा सकता।

घर-बार की छोटी परिधि में जब तक स्त्रियों का जीवन आबद्ध था तब तक नारी-मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से सहज ही उनके सब काम सम्पन्न हो जाते थे। गृहस्थी के काम के लिए किसी विशेष शिक्षा की ज़रूरत नहीं थी। इसीलिए एक दिन स्त्री-शिक्षा का इतना विरोध और उपहास किया गया। उस समय पुरुष स्वयं जिन संस्कारों की उपेक्षा करने लगे थे, जिन विचारों पर उन्हें सन्देह होने लगा था, जिस तरह के आचरण का अब वह पालन नहीं करते थे। उन सबको नारी-जीवन में वे सुरक्षित रखना चाहते थे। इस व्यवहार का मूल एक ऐसी मनोवृत्ति में है जो एकेश्वर शासकों की मनोवृत्ति होती है। वे जानते हैं कि अज्ञान और अन्ध-संस्कार की जलवायु निरंकुश शासन के लिए अनुकूल होती है। मानवोचित अधिकारों से वंचित होकर भी सन्तुष्ट रहना ऐसी ही अवस्था मे सम्भव होता है। हमारे देश के अनेक पुरुषों के मन में आज भी वही भाव है। लेकिन समय के विरुद्ध संग्राम में आख़िर हार माननी होगी।

समय के प्रभाव से स्त्रियों का जीवन-क्षेत्र अपने-आप विस्तृत होता जा रहा है, मुक्त संसार में उनका पदार्पण हो रहा है। ऐसा होने से आत्मरक्षा और आत्मसम्मान के लिए विद्या और बुद्धि का विकास आवश्यक हो गया है। आज भद्र समाज की स्त्रियों के लिए निरक्षरता सबसे बड़ी लज्जा है। किसी समय छाते और जूते का व्यवहार उनके लिए लज्जास्पद था, लेकिन आज उसकी अपेक्षा निरक्षर होना कहीं अधिक लज्जास्पद है। पीसने और कूटने की क्रियाओं में यदि नैपुण्य न हो तो आज वह अख्याति का कारण नहीं है। आज तो विवाह के बाज़ार में भी यह बात पूरी नहीं मानी जाती कि गृहस्थी के भाव से ही लड़कियों का मूल्याकन किया जाय। आज वधू-परीक्षा में उस विद्या की ओर ध्यान दिया जाता है जिसका मूल्य सार्वभौमिक है और जो केवल गृहस्थी के प्रयोजनों की सिद्धि तक ही सीमित नहीं है। इस अवस्था में हमारे देश की आधुनिक स्त्रियों का मन घर से बाहर निकलकर विश्व-समाज में प्रवेश कर रहा है।

किसी दिन पृथ्वी अपने तप्त श्वासों के वाष्प से अवगुण्ठित थी। उस समय विराट् आकाश की ग्रह-मण्डली में उसने अपना स्थान उपलब्ध नहीं किया था। लेकिन एक समय ऐसा आया जब सूर्य-किरणों ने उसमें प्रवेश करने का पथ ढूँढ़ा। उस मुक्ति-क्षण से ही पृथ्वी का गौरव-युग आरम्भ हुआ। उसी तरह एक दिन आर्द्रता के घने वाष्पावरण से भारत की स्त्रियों का

चित्त आच्छन्न था, निकटवर्ती संसार से उसका सम्पर्क नहीं था। आज उस आवरण को भेदकर मुक्त आकाश की आलोक-रश्मि उनके मन में प्रवेश कर रही है। जिस संस्कार-जाल से युग-युग तक उनका चित्त आबद्ध था वह अभी पूरी तरह दूर नहीं हुआ, लेकिन उसमे बहुत-से छिद्र हो गये हैं।

आज पृथ्वी पर सर्वत्र स्त्रियाँ घर की चौखट को पार करके विश्व के उन्मुक्त प्रांगण में प्रवेश कर रही हैं। इस वृहत् संसार का दायित्व आज उन्हें स्वीकार करना ही होगा। ऐसा न करने में ही उनकी अकृतार्थता है। मैं सोचता हूँ आज दुनिया में नया युग आ पहुँचा है। दीर्घकाल तक मानव-सभ्यता की व्यवस्था पुरुषों के हाथ में थी। इस सभ्यता की राजनीति, अर्थनीति और समाज-शासन-तंत्र की रचना पुरुषों ने की। स्त्रियाँ प्रकाशहीन अन्तराल में रहकर घर का काम करती रहीं। यह सभ्यता एकांगी थी, इसमें मानव-चित्त की सम्पदा को क्षति पहुँची है। चित्त की सम्पदा नारी-हृदय के भाण्डार में बन्द पड़ी थी। आज उस भाण्डार का द्वार खुला है।

अति-प्राचीन युग में मनुष्यहीन पृथ्वी पर अरण्य-ही-अरण्य थे। लाखों वर्षों तक यह अरण्य अपने वृक्षों की मज्जा में सूर्य का तेज संचित करते रहे। ये सब अरण्य भूगर्भ में जाकर रूपान्तरित अवस्था में युग-युग तक प्रच्छन्न रहे। लेकिन एक दिन पाताल का द्वार खुला। जो सूर्य-तेज सदियों तक बेकार पड़ा था उसे मनुष्य ने अकस्मात् पत्थर और कोयले के रूप में फिर से प्राप्त किया और अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया। उसी समय नये बल का संचार हुआ और विश्व-विजयी आधुनिक युग का आरम्भ हुआ।

सभ्यता की बाह्य सम्पदा के विषय में किसी दिन जो हुआ था वही आज आन्तरिक सम्पदा के विषय मे हो रहा है। एक विशेष खान से चिरसंचित भाण्डार बाहर निकल रहा है। घर की स्त्रियाँ प्रतिदिन बाहर निकलकर विश्व-जीवन में सम्मिलित हो रही हैं। इस नये चित्त के योगदान से मनुष्य की सृष्टिशीलता को तेज मिला है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से यह क्रिया आज चल रही है। केवल पुरुष की बनाई हुई सभ्यता में जो विनाशकारी असामंजस्य था वह आज समता की ओर झुक रहा है। पुरानी सभ्यता को बार-बार भूकम्प के धक्के लगे हैं। इस सभ्यता में बहुत दिनों तक विपत्ति के कारण संचित हुए थे। उसे तोड़ने की क्रिया को कोई रोक नहीं सकता। समाधान की बात तो यह है कि नयी सभ्यता के रचना-कार्य में दुनिया के प्रत्येक भाग में स्त्रियाँ भी प्रस्तुत हो रही हैं। केवल उनके ललाट से ही घूँघट दूर नहीं हुआ है— उनके मन पर जो आवरण पड़ा हुआ था, जिससे वे बहिर्जगत् से दूर हो गयी थीं, वह भी दूर हो रहा है। जिस मानव-समाज में उनका जन्म हुआ उस समाज के सभी विभाग आज स्पष्ट रूप से उनकी आँखों के सामने हैं। अन्धसंस्कार के कारख़ानों में बनी हुई गुड़ियों को लेकर मग्न रहना आज उन्हें शोभा नहीं देता। उनकी स्वाभाविक जीवपालिनी बुद्धि आज केवल घर के लोगों के ही लिए नहीं बल्कि सारी मानव-जाति की रक्षा के लिए प्रवृत्त है।

आदिकाल से पुरुष ने अपने सभ्यता-दुर्ग की ईंटों को नरबलि के रक्त से जोड़ा है। किसी भी साधारण नीति को प्रतिष्ठित करने के लिए व्यक्ति का निर्ममता से विनाश किया-गया है। धनिकों का धन श्रमिकों के प्राणशोषण से उत्पन्न हुआ है; प्रतापशाली लोगों की प्रतापाग्नि दुर्बलों की आहुति से ज्वलन्त रही है; राष्ट्रीय स्वार्थ का रथ प्रजा को रज्जुबद्ध करके चलाया गया है। क्षमता

से ही इस सभ्यता का निर्देशन हुआ, यहाँ ममता का स्थान बहुत अल्प रहा है। शिकार के आमोद की ख़ातिर सभ्यता ने असंख्य निःसहाय प्राणियों का वध किया है। इस सभ्यता ने मनुष्य को मनुष्य के प्रति, और अन्य जीवों के प्रति, अत्यन्त निर्मम बनाया है। बाघ के भय से बाघ उद्विग्न नहीं होता, लेकिन इस सभ्यता में मनुष्य के भय से मनुष्य काँपता है। इस तरह की अस्वाभाविक अवस्था में सभ्यता अपने विनाश की गदा आप ही निर्माण करती है। आज यही क्रिया शुरू हुई है। इसके साथ-ही-साथ भयभीत मानव शान्ति का उपाय ढूँढ़ रहा है। लेकिन जिसके अंतःकरण में शान्ति के उपकरण नहीं हैं उसे यान्त्रिक रूप से तैयार की गयी शान्ति-व्यवस्था से सन्तोष नहीं मिल सकता।

हम यह आशा कर सकते हैं कि सभ्यता का नया युग आरम्भ होगा। यह आशा यदि सफल हो तो इस नयी सृष्टि में नारी का कार्य पूरी तरह सम्पन्न होगा, इसमें सन्देह नहीं। नवयुग का यह आह्वान यदि हमारी स्त्रियों के मन तक पहुँचे तो उस रक्षणशील मन के लिए यही उचित है कि युग-युग की अस्वास्थ्यकर आवर्जना के प्रति वह अपनी आसक्ति का त्याग करे। नारी अपने हृदय को उन्मुक्त करे, बुद्धि को उज्ज्वल करे, निष्ठा को ज्ञान की तपस्या में प्रयुक्त करे। वह सदा इस बात को ध्यान में रखे कि निर्विचार, अन्ध रक्षणशीलता सृजन-शक्ति की विरोधी होती है। नवीन सृष्टि का युग हमारे सामने है। उस युग का अधिकार प्राप्त करना है तो मन को मोहमुक्त और श्रद्धायोग्य बनाना होगा। अज्ञान की जड़ता और सभी तरह के काल्पनिक और वास्तविक भय के निम्नगामी आकर्षण से बचकर अपने-आपको ऊपर उठाना होगा। फल-लाभ का प्रश्न बाद में उठेगा—हो सकता है वह न भी उठे— लेकिन योग्यता-लाभ हमारी प्रथम आवश्यकता है।

[अखिल बंगीय महिला श्रमिक सम्मेलन, अक्तूबर, १९३६ के लिए लिखित। 'प्रवासी' नवम्बर-दिसम्बर, १९३६ (अग्रहायण १३४३ बं.सं.) में प्रकाशित।]

१९

स्वदेशी समाज

'सुजला सुफला' बंगभूमि आज प्यासी है। चातक पक्षी की तरह वह आकाश की ओर ताक रही है। सरकारी अधिकारीगण यदि जल की व्यवस्था न करें तो उसका परित्राण नहीं।

मेघगर्जन की धीमी आवाज़ सुनायी पड़ने लगी है—सरकार का ध्यान समस्या की ओर खिंचा है। तृष्णा-निवारण का कुछ-न-कुछ उपाय तो होगा ही। इसलिए इस विषय पर मैं उद्वेग व्यक्त नहीं कर रहा हूँ। मुझे चिन्ता तो इस बात की है कि हमारे समाज में पहले जो व्यवस्था थी, जिससे हम अत्यन्त सहज रूप से अपने अभाव मिटाया करते थे, क्या उसका लेश-मात्र भी अब बाक़ी नहीं रहा।

हमारे देश में विदेशियों ने जिन त्रुटियों का निर्माण किया है, और आज भी कर रहे हैं, उनके निवारण का भार वही सँभालें। भूखे भारतवर्ष मे चाय की प्यास जगाने का प्रयत्न कर्ज़न साहब कर रहे हैं तो खुशी से करें; अथवा एण्डर्यूल सम्प्रदाय ही हमारी चाय की प्याली भर दे। चाय से अधिक ज्वालामय जो तरल रस है उसकी तृष्णा भी, प्रलय-काल की सूर्यास्त-छटा की तरह, उत्तरोत्तर हमें प्रलुब्ध कर रही है। यह पश्चिम की सामग्री है, और पश्चिम की देवी ही उसके वितरण का भार स्वीकार करे। लेकिन जल की तृष्णा तो देश की विशुद्ध सनातन चीज़ है। ब्रिटिश सरकार के आगमन से पहले भी हमें प्यास लगती थी और उसे बुझाने की क्षमता भी हमारे पास यथोचित थी। इसके लिए शासकों के राजदण्ड को कभी चंचल नहीं होना पड़ा था।

हमारे यहाँ युद्ध, राज्य-रक्षा और विचार-कार्य का दायित्व राजाओं पर था। लेकिन विद्यादान से लेकर जलदान तक सभी काम समाज में आसानी से सम्पन्न होते थे। कितनी सदियाँ गुज़रीं, कितने राजाओं का शासन देश पर तूफ़ान की तरह आया और चला गया, परन्तु किसी ने हमारा धर्म नष्ट करके हमें निःसहाय नहीं बनाया। राजाओं में कितने युद्ध हुए; लेकिन हमारे वेणुकुंजों में, आम और कटहल के बाग़ों में मन्दिर बनते रहे, अतिथिशालाएँ स्थापित होती रहीं, तालाब खोदे जाते रहे, गुरु महाशय गणित का पाठ रटाते रहे, संस्कृत पाठशालाओं में शास्त्र-शिक्षा चलती रही, चण्डी-मण्डपों मे रामायण-पाठ कभी बन्द नहीं हुआ, गाँव के आँगन सर्वदा कीर्तन-ध्वनि से मुखरित रहे। समाज ने न तो कभी बाहर से सहायता माँगी, और न बाहर के उपद्रव से उसकी अवनति हुई।

देश में यह जो लोकहितकर मंगल कर्म और आनन्दोत्सव अव्याहत रूप से धनी-दरिद्र सभी के यहाँ चले आ रहे हैं, उनके लिए न तो उत्साही लोगों को चन्दे की रसीद-कापियाँ लेकर घर-घर की ठोकरें खानी पड़ी हैं, न राजपुरुषों को लम्बे-चौड़े आदेश जारी करने पड़े हैं। जिस तरह साँस लेने की लिए हमें किसी के पाँव पकड़ने नहीं पड़ते, और रक्त-संचालन के लिए

टाउन-हाल में मीटिंग नहीं करनी पड़ती, उसी तरह समाज के सभी आवश्यक काम अत्यन्त स्वाभाविक नियम से होते आये हैं।

आज हमारे देश में जल की कमी है और इसके लिए हम शोक कर रहे हैं। लेकिन यह एक मामूली बात है। इससे कहीं अधिक शोक का विषय यह है कि समाज का मन समाज के अन्दर नहीं है। हमारे समस्त मनोयोग बाहर की दिशा में हैं।

गाँव के किनारे बहनेवाली नदी यदि किसी दिन अचानक गाँव को छोड़कर अपने स्रोत के लिए दूसरा पथ ढूँढ़े तो उस गाँव में जल की कमी होगी, फ़सल नष्ट होगी, स्वास्थ्य गिरेगा, वाणिज्य पर आघात लगेगा। उस गाँव के बगीचों में जंगल उगने लगेगा, उसकी बीती हुई समृद्धि के भग्नावशेष अपनी टूटी दीवारों में बरगद-पीपल की जड़ों को आश्रय देंगे। वह गाँव चमगादड़ों का विहारस्थल बन जायगा।

मनुष्य का चित्त-स्रोत भी नदी की तरह है। चिरकाल तक उस चित्त-प्रवाह ने बंगाल के छाया-शीतल गाँवों को स्वास्थ्य और आनन्द प्रदान किया है। लेकिन आज बंगालियों की चित्तधारा गाँवों से दूर हट गयी है। इसीलिए यहाँ के मन्दिर आज जीर्णप्राय हैं, कोई उनकी मरम्मत करने वाला नहीं है। जलाशय दूषित हो गये हैं, कोई उनमें से कीचड़ निकालनेवाला नहीं है। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ परित्यक्त हैं, वहाँ उत्सव की आनन्द-ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। आज जलदान का भार सरकार बहादुर पर है, स्वास्थ्यदान का भार सरकार बहादुर पर है और विद्यादान की व्यवस्था के लिए भी सरकार बहादुर के दरवाजे पर जाना पड़ता है। जो पेड़ अपने फूल आप ही खिलाता था वह आज अपनी शीर्ण शाखाओं को ऊपर उठाकर आकाश से पुष्प-वृष्टि की प्रार्थना कर रहा है। अगर उसकी प्रार्थना स्वीकृत हो भी जाय तो इन आकाश-कुसुमों को लेकर उसकी क्या सार्थकता हो सकती है?

अंग्रेज़ी में जिसे हम 'स्टेट' कहते हैं उसे हमारे देश की आधुनिक भाषा में 'सरकार' कहा जाता है। यह 'सरकार' प्राचीन भारत में राजशक्ति के रूप में थी। लेकिन विलायत के 'स्टेट' और हमारी 'राजशक्ति' में बहुत अन्तर है। विलायत में देश ने सारे कल्याणकर्म का भार 'स्टेट' के हाथ में सौंप दिया है। भारतवर्ष ने केवल आंशिक मात्रा में वैसा ही किया था।

देश में जो पूज्य स्थान पर थे, जो बिना वेतन विद्या और धर्म की शिक्षा देते थे, उनका पालन-पोषण करना और उन्हें पुरस्कृत करना राजा का कर्तव्य अवश्य समझा जाता था—लेकिन केवल आंशिक भाव से। साधारणतः यह कर्तव्य प्रत्येक गृही का था। राजा यदि सहायता बन्द कर देता, देश में यदि सहसा अराजकता फैल जाती, तो भी समाज में विद्यार्जन और धर्म-शिक्षा का लोप न होता। प्रजा के लिए राजा तालाब अवश्य खुदवाते थे, लेकिन इसमें कोई विशेष बात नहीं थी। समाज के धनी लोग जो करते थे वही राजा भी करते थे। राजा के औदासीन्य से देश का जल-पात्र कभी रिक्त नहीं होता था।

विलायत में प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ-साधन और आराम के क्षेत्र में स्वाधीन है। वहाँ लोग कर्तव्य के भार से आक्रान्त नहीं हैं, क्योंकि सभी बड़े-बड़े कर्तव्य राजशक्ति ने स्वीकार किये हैं। हमारे देश में राजशक्ति अपेक्षाकृत स्वाधीन थी, और प्रजा सामाजिक कर्तव्यों में आबद्ध थी। राजा चाहे युद्ध करें या शिकार खेलें, शासन पर ध्यान दें या आमोद-प्रमोद में दिन बितायें—इन

सबके लिए उन्हें धर्म के सामने जवाब देना पड़ता था। लेकिन जनता अपने मंगल के लिए उन पर निर्भर नहीं थी। समाज-कार्य का आश्चर्यजनक सफलता से विभाजन किया गया था। इसके फलस्वरूप समाज में सर्वत्र उस शक्ति का संचार था जिसे हम धर्म कहते हैं। हमारे समाज में प्रत्येक व्यक्ति को संयम और आत्मत्याग करना पड़ता था और धर्मपालन अनिवार्य था।

इससे हम स्पष्ट देख सकते हैं कि विभिन्न सभ्यताओं की प्राणशक्ति विभिन्न स्थानों पर प्रतिष्ठित होती है। जनता के कल्याण का भार जहाँ केन्द्रित होता है वही देश का मर्मस्थान है, उस पर आघात करने से सारे देश को प्राणान्तक चोट पहुँचती है। विलायत में राजशक्ति यदि विपर्यस्त हो तो सारा देश विनाश की ओर जाता है, इसीलिए योरोप में पॉलिटिक्स को इतना महत्त्व दिया जाता है। हमारे देश में यदि समाज पंगु हो जाय तभी देश में संकट की अवस्था उत्पन्न होती है। इसलिए हमने इतने दिनों तक राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्राणपण से यत्न नहीं किया, लेकिन सामाजिक स्वाधीनता की हम सब प्रकार से रक्षा करते रहे। निर्धन को भिक्षा देने से लेकर जनता को धर्म-शिक्षा देने तक सभी बातों में विलायत की जनता स्टेट के ऊपर निर्भर रहती है। हमारे देश में ये बातें जनसाधारण की धर्मव्यवस्था पर छोड़ दी जाती हैं। इसीलिए जहाँ अंग्रेज़ स्टेट की रक्षा को ही अपनी रक्षा समझते हैं वहाँ हम धर्मव्यवस्था की रक्षा को ही सब-कुछ जानते हैं।

इंग्लैण्ड में स्टेट को जागृत और सचेष्ट रखने के काम में जनता सर्वदा जुटी रहती है। आजकल हम अंग्रेज़ी स्कूलों में पढ़कर यह समझने लगे हैं कि किसी भी अवस्था में सरकार की आलोचना करके उसका ध्यान आकर्षित कराना ही जनसाधारण का प्रधान कर्तव्य है। हम यह नहीं देखते कि दूसरों के शरीर में लेप लगाते रहने से अपने रोग की चिकित्सा नहीं होती।

हमें तर्क करने में आनन्द मिलता है। इसलिए यहाँ यह बहस खड़ी हो सकती है कि जनता का कर्मभार जनता के ही शरीर पर पड़ना चाहिए या 'सरकार' नाम के एक विशिष्ट स्थान पर। मेरा कहना यह है कि इस तरह की बहस कॉलेज के डिबेटिंग क्लब में की जा सकती है, लेकिन इस समय ऐसे तर्क से हमारा कोई काम नहीं निकल सकता।

हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि विलायत में स्टेट सारे समाज की सम्मति पर अविच्छिन्न रूप से प्रतिष्ठित है। उसकी अभिव्यक्ति उस समाज के स्वाभाविक नियम से ही हुई है। केवल तर्क द्वारा हम उसे प्राप्त नहीं कर सकते। चाहे वह कितनी ही अच्छी चीज़ हो, हमारे लिए अगम्य है।

हमारे देश में सरकार बहादुर का समाज से कोई सम्पर्क नहीं है, वह समाज से बाहर है। इसलिए किसी भी विषय में यदि हम उससे कुछ आशा करते हैं तो स्वाधीनता का मूल्य चुकाकर ही हमारी कामना पूर्ण हो सकती है। समाज जो कर्म सरकार द्वारा कराता है उसके सम्बन्ध में वह अपने-आपको अकर्मण्य बनाता है। ऐसी अकर्मण्यता आज तक हमारे देश के लिए कभी स्वभावसिद्ध नहीं रही। हमने नाना जातियों और शासकों का अधीनतापाश ग्रहण किया है, परन्तु समाज सर्वदा अपने सारे काम सम्पन्न करता रहा है; छोटे-बड़े किसी विषय में समाज ने बाहर से किसी को हस्तक्षेप नहीं करने दिया। इसीलिए जब कभी देश से राजश्री निर्वासित हुई है उस समय भी समाज-लक्ष्मी ने विदा नहीं माँगी।

आज हम समाज के सारे कर्तव्य अपनी ही चेष्टा से एक-एक करके समाज के बाहर स्टेट के हाथ में सौंपने के लिये उद्यत हैं। यहाँ तक कि अपनी सामाजिक प्रथाओं को भी अंग्रेज़ी कानून द्वारा हमने अचल रूप से बँधने दिया है— इस बारे में हमने कोई आपत्ति नहीं की। अब तक हिन्दू-समाज के भीतर रहकर कितने ही नये-नये सम्प्रदायों ने अपने विशेष आचार-विचारों का प्रवर्त्तन किया है; हिन्दू-समाज ने उन्हें कभी तिरस्कृत नहीं किया। लेकिन आज सारे आचार-विचार अंग्रेज़ी विधान-प्रणाली में आबद्ध हो रहे हैं; उनमें ज़रा भी परिवर्तन करना हो तो अपने-आपको अहिन्दू घोषित करना पड़ता है। इससे हम देख सकते हैं कि जो हमारा मर्मस्थल है, जिसकी हमने आन्तरिक रूप से इतने दिनों तक रक्षा की है, वही मर्मस्थल आज अनावृत्त हो गया है और उस पर विकलता आक्रमण कर रही है। वास्तव में यही सबसे बड़ी विपत्ति है, जलकष्ट नहीं।

जो लोग शाही दरबार में प्रभावशाली थे और जिनकी मंत्रणा तथा सहायता की उम्मीद नवाबों को भी लगी रहती थी, वे लोग भी बादशाह के अनुग्रह को यथेष्ट नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में समाज का प्रसाद राजप्रसाद से उच्चतर था। वे प्रतिष्ठा और सम्मान-लाभ के लिए समाज की ओर ताकते थे। राजराजेश्वर की राजधानी दिल्ली उन्हें जो सम्मान नहीं दे सकती थी उसके लिए वे किसी अख्यात गाँव के कुटीर-द्वार पर आकर खड़े होते थे। देश के सामान्य लोग यदि उन्हें महान् व्यक्ति समझते तो यह बात उनके लिए 'राजा', 'महाराजा' जैसी सरकारदत्त उपाधि से कहीं बड़ी थी। जन्मभूमि के सम्मान का मूल्य उन्होंने आन्तरिक रूप से समझा था। राजधानी का माहात्म्य और राजसभा के गौरव से उनका मन अपने गाँव से दूर नहीं हटा था। इसीलिए देश के मामूली गाँव में भी जल की कमी नहीं हुई। प्रत्येक गाँव में जीवन की मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने की व्यवस्था सदा बनी रही।

देश के लोग हमारी प्रशंसा करेंगे, यह विचार आज हमें सुख नहीं पहुँचाता, क्योंकि देश की ओर हमारे प्रयास की स्वाभाविक गति नहीं है। अब हमें या तो सरकार से भिक्षा माँगनी पड़ती है, या तगादा करना पड़ता है। देश के जलकष्ट-निवारण के लिए सरकार हमारे ऊपर उल्टा दबाव डालती है। दोनों तरफ़ से स्वाभाविक माँगें बन्द हो गयी हैं। लोगों में सुयश अर्जन करने को अब महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता। हमारे हृदय ने अंग्रेज़ों की दासता स्वीकार कर ली है, और हमारी रुचि गोरे साहब की दुकान में बिक चुकी है।

लेकिन मेरी बातों का ग़लत अर्थ लगाया जा सकता है। मैं यह नहीं कर रहा हूँ कि सबको अपने-अपने गाँव में ही चुपचाप पड़े रहना चाहिए। विद्या और धन-मान-अर्जन के लिए बाहर निकलने की ज़रूरत नहीं है। जो आकर्षण आज बंगाली जाति को बाहर खींच रहा है उसके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए। उससे बंगालियों की शक्ति उद्‌बोधित हो रही है, उनका कर्म-क्षेत्र व्यापक और चित्त विस्तीर्ण हो रहा है। लेकिन साथ-ही-साथ बंगालियों को बार-बार यह भी स्मरण कराना ज़रूरी है कि घर और बाहर का जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह बना रहना चाहिए। बाहर से हम अर्जन इसीलिए करते हैं कि घर में संचय हो। शक्ति का व्यय हम बाहर करें लेकिन हृदय को घर में ही रखना होगा। बाहर से हमें शिक्षा मिल सकती है, लेकिन उसका प्रयोग घर में ही करना है। परन्तु आजकल हम—

घर कइनु बाहिर, बाहिर कइनु घर,
पर कइनु आपन, आपन कइनु पर।

घर को हमने 'बाहर' बना दिया है और 'बाहर' को घर; पराये को अपना बना दिया है और अपने को पराया। इसीलिए हम कविवर्णित 'स्रोत के शैवाल' की तरह बहते चले जा रहे हैं।

लेकिन बंगालियों का चित्त आज फिर घर की ओर अभिमुख हुआ है। अलग-अलग दिशाओं से इस बात के प्रमाण हमें मिल रहे हैं। स्वदेश के शास्त्र को हमारी श्रद्धा प्राप्त हो रही है, स्वदेशी भाषा साहित्य से अलंकृत हो रही है। स्वदेश का शिल्प हमें आकर्षित कर रहा है, स्वदेश का इतिहास हमारी अन्वेषण-वृत्ति को जागृत कर रहा है। राजद्वार की भिक्षा-यात्रा के लिए हमने जो पाथेय जमा किया था यह आज हमें अपने गृहद्वार तक वापस पहुँचने में सहायता दे रहा है।

ऐसी अवस्था में हमें यह कहना होगा कि आज देश का वास्तविक कार्य प्रकृत रूप से आरम्भ हुआ है। लेकिन अभी तक बहुत-सी असंगतियों पर हमारी दृष्टि पड़ेगी और उनका संशोधन करना होगा। प्रॉविंशियल कॉन्फ्रेन्स इस बात का एक उदाहरण है। यह कॉन्फ़्रेन्स देश को मंत्रणा देने के लिए बुलाई गयी है, फिर भी इसकी भाषा विदेशी है। हम अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त लोगों को ही अपने निकट के लोग समझते हैं। यह विचार हमारे मन में नहीं उठता कि साधारण लोगों को यदि हम अपने साथ आन्तरिक रूप से एक न कर सकें तो हमारी अपनी भी कोई हस्ती नहीं है। जनसाधारण के साथ हमने एक दुर्भेद पार्थक्य निर्माण किया है। अपने समस्त वार्तालाप-क्षेत्र से उन्हें निर्वासित किया है। विदेश का हृदय आकर्षित करने के लिए हमने कोई छल-बल-कौशल या साज-सरंजाम बाक़ी नहीं रखा। लेकिन हम यह नहीं सोचते कि अपने देश का हृदय उससे कहीं अधिक मूल्यवान है और उसे आकर्षित करने के लिए भी बड़ी साधना जरूरी है।

पोलिटिकल साधना का चरम उद्देश्य है सारे देश के हृदय को एक करना। लेकिन देश की भाषा और प्रथा को छोड़कर विदेशियों का मन बहलाने के विविध आयोजनों को ही हम महोपकारी पोलिटिकल शिक्षा समझते हैं। हमारे ही हतभाग्य देश में ऐसा हो सकता है।

देश के हृदय-लाभ को ही हम यदि चरमलाभ समझें तो अपने साधारण कार्यकलाप में जिन बातों को आजकल हम अत्यावश्यक समझते हैं उन्हें दूर करना होगा। हमें उन मार्गों पर ध्यान देना होगा जिनके द्वारा हम वास्तव में देश के निकट पहुँच सकते हैं। यदि प्रॉविंशियल कॉन्फ़्रेन्स को हम देश को मंत्रणा देने के कार्य में यथार्थ रूप से नियुक्त करते तो हम उसे विलायती ढर्रे की सभा न बनाकर एक बहुत बड़ा स्वदेशी मेला बताते। वहाँ गाना-बजाना होता, आमोद-आह्लाद के आयोजन होते और दूर-दूर से लोग एकत्रित होते। वहाँ देशी व्यवसाय और कृषि-सम्बन्धी प्रदर्शनी होती, कत्थक और कीर्तन-मण्डलियों को पुरस्कार दिया जाता। मैजिक लैण्टर्न इत्यादि उपकरणों की मदद से साधारण लोगों को स्वास्थ्य के विषय में उपदेश दिया जाता। और वहाँ हमें जो कुछ कहना है उसे हम छोटे-बड़े सब मिलकर सहज बाङ्ला भाषा में कहते।

हमारे देश के अधिकतर लोग गाँवों में रहते हैं। जब कभी-कभी गाँव की नाड़ी में बाह्य जगत् के रक्त-संचालन का अनुभव प्राप्त करने की उत्सुकता जागृत होती है तब उसके समाधान का एक-मात्र उपाय मेला ही है। हमारे देश के मेलों में बाह्य जगत् को घर के भीतर आमन्त्रित किया जाता है। ऐसे उत्सव में गाँव अपनी सारी संकीर्णता भूल जाता है। उसका हृदय उन्मुक्त

होकर ग्रहण करने तथा दान करने के लिए उद्यत होता है। जिस तरह वर्षा ऋतु में सरोवर भर जाते हैं उसी तरह गाँव के हृदय को विश्व-बोध से भरने का अवसर मेलों में ही मिलता है।

मेला देश के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। किसी सभा में यदि साधारण लोगों को बुलाया जाय तो वे अपने साथ संदेश की भावना लेकर आयँगे, उनके मन का द्वार खुलने में समय लगेगा। लेकिन जो लोग मेलों में एकत्रित होते हैं उनका हृदय अवरुद्ध नहीं होता। इसलिए देश के मन को समझने का अवसर हमें मेले में मिलता है।

बंगाल में ऐसा कोई ज़िला नहीं है जहाँ विविध स्थानों पर वर्ष में कई बार मेले न लगते हों। ऐसे मेलों की तालिका और विवरण-संग्रह करना हमारा पहला कर्तव्य है। उसके बाद इन मेलों द्वारा जनता के साथ यथार्थ परिचय प्राप्त करने के उपाय हमें अपनाने हैं। प्रत्येक ज़िले के शिक्षित लोग यदि वहाँ के मेलों को नये प्राण से सजीव कर सकें; यदि वहाँ वे हिन्दू-मुसलमानों के बीच सद्भाव स्थापित कर सकें; निष्फल राजनीति से अलग रहकर यदि वे उस ज़िले की प्रत्यक्ष ज़रूरतों को पूरी करने के विषय में परामर्श दे सकें, तो शीघ्र ही स्वदेश को यथार्थ रूप में सचेष्ट बनाना सम्भव होगा।

मेरा विश्वास है कि घूम-घूमकर बंगाल में मेलों का आयोजन करने के लिए यदि कुछ लोग प्रस्तुत हों, यदि वे जात्रा, कीर्तन,.कत्थक इत्यादि की व्यवस्था करे और बाइस्कोप, मैजिक लैण्टर्न, जादू के खेल इत्यादि सामग्री साथ लेकर जगह-जगह जायँ तो उन्हें इस काम में द्रव्य का अभाव नहीं होगा। यदि प्रत्येक मेले के लिए वे ज़मींदार से एक नियमित धनराशि प्राप्त करें और दुकानदार को बिक्री के मुनाफ़े का एक अंश देने पर राज़ी करा लें तो समस्त आयोजन को वे लाभप्रद बना सकेंगे। जो रकम उनके हाथ लगेगी इसमें से पारिश्रमिक और अन्यान्य ख़र्च चुकाकर बचे हुए धन को यदि वे देशहित के कार्य में लगायँ तो मेले का आयोजन करनेवालों के साथ देश के हृदय का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होगा। वे देश को अत्यन्त निकट से जान सकेंगे और उनके द्वारा देश के कितने ही उपयोगी कार्य सिद्ध हो सकेंगे।

हमारे देश मे चिरकाल से आनन्दोत्सव के माध्यम से लोगों को साहित्यरस और धर्मशिक्षा का दान दिया गया है। आज विभिन्न कारणों से अधिकांश जमींदार शहर की ओर आकृष्ट हुए हैं। लड़के-लड़कियों के विवाह और अन्य आयोजनों में आमोद-आह्लाद की व्यवस्था की जाती है। इन दिनों शहर के धनवान मित्रों को थिएटर और नाच-गाना दिखाकर ही यह काम सम्पन्न किया जाता है। अनेक जमींदार क्रिया-कर्म के लिए चन्दा लेने में संकोच नहीं करते। उस समय 'इतरेजनाः' मिष्टान्न के लिए सामग्री प्रस्तुत करते हैं। लेकिन 'मिष्टान्नम्' का कण-मात्र उपभोग करने का अवसर 'इतरेजनाः' को क्यों नहीं मिलता? भोग करते हैं केवल 'बान्धवाः' और 'साहेबाः'। इससे बंगाल के गाँव निरानन्द होते जा रहे हैं और जिन साधनों से देश के आबाल-वृद्ध नर-नारी का मन सरस होता था वे अब साधारण लोगों के लिए दुर्लभ हैं। जिस तरह के मेलों की हमने अभी कल्पना की उनसे यदि हमारे गाँव में आनन्दस्रोत फिर से प्रवाहित हो तो इस शस्य-श्यामला बंगभूमि का अन्तःकरण शुष्क मरुभूमि नहीं बनेगा, जैसा कि वह आज बन रहा है।

हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि जो बड़े-बड़े जलाशय अब तक जलदान और स्वास्थ्यदान देते थे उनके दूषित हो जाने से केवल जल का ही अभाव नहीं होता बल्कि हमारे बीच रोग और मृत्यु का वितरण होता है। उसी तरह हमारे देश में धर्म के नाम पर जो मेले प्रचलित हैं उनमें से अधिकांश दूषित होकर आज लोकशिक्षा के लिए बेकार ही नहीं हो गये हैं; बल्कि कुशिक्षा का आधार बन गये हैं। उपेक्षित खेत में धान उगना तो बन्द हो ही गया है, काँटे भी पनप रहे हैं। ऐसी अवस्था में कुत्सित आमोद-प्रमोद के स्तर पर गिरे हुए इन मेलों का यदि हम उद्धार न करें तो अपने देश और धर्म के सम्मुख हम अपराधी सिद्ध होंगे।

मेरी यह बात सुनते ही कुछ लोग उत्तेजित होकर कह उठेंगे : 'मेलों के प्रति गवर्नमेंट अत्यन्त उदासीन है, इसलिए हमें सभा करनी चाहिए, अख़बारों में लिखना चाहिए, प्रबल वेग से सरकार को हिलाना चाहिए। जैसे ही मेलों के ऊपर पुलिस कमिश्नर दल-बल सहित टूट पड़ेंगे वैसे ही सब ठीक हो जायगा।' लेकिन हमें उत्तेजित नहीं होना चाहिए। हमें धैर्य रखना चाहिए— विलम्ब हो सकता है, बाधाएँ भी हैं, लेकिन काम तो हमारा अपना है। चिरकाल से हमारे घरों की सफ़ाई गृहलक्ष्मी ने ही की है, म्युनिसिपॅलिटी के मज़दूरों ने नहीं। म्युनिसिपॅलिटी का सरकारी ब्रश मकान को साफ़ कर सकता है, लेकिन गृहलक्ष्मी की झाड़ू ही उसे पवित्र कर सकती है, यह बात हम न भूलें।

हमारे 'देशी' लोगों का पारस्परिक मिलन किस तरह के आयोजनों द्वारा हो सकता है, इसका मैंने एक उदाहरण-मात्र दिया है। और पहले जो कुछ कहा गया है उससे इस बात का भी आभास मिलता है कि ऐसे आयोजनों को यदि नियमित रूप दिया गया तो देश का कितना बड़ा मंगल हो सकता है।

जो लोग राजद्वार पर भीख माँगने में देश का मंगल नहीं देखते उन्हें 'पेसिमिस्ट' या निराशावादी कहनेवाले लोग भी हैं। जब हम हताश्वास होकर कहते हैं कि राजा से हमें कोई आशा नहीं रखनी चाहिए, तब यह लोग हमारे 'नैराश्य' को निराधार बताते हैं।

मैं एक बात स्पष्ट कहना चाहता हूँ। राजा बीच-बीच में हमें अपने सिंहद्वार से दूर हटाता है इसीलिए बाध्य होकर यदि हम आत्मनिर्भर होना चाहें तो यह सच्ची आत्मनिर्भरता नहीं है। यह तो 'अंगूर खट्टे हैं'-जैसी परिस्थिति है और इससे जो सान्त्वना मिलती है उसका आश्रय मैंने कभी नहीं लिया। दूसरों के अनुग्रह की भीख माँगना ही 'पेसिमिस्ट' का लक्षण है। मैं कभी यह बात स्वीकार नहीं कर सकता कि गले में चादर लटकाकर भिक्षा के लिए निकले बग़ैर हमारी गति नहीं है। मेरा स्वदेश पर विश्वास है, मैं आत्मशक्ति का आदर करता हूँ। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि किसी-न-किसी उपाय से जिस स्वदेशीय एकता को प्राप्त करने के लिए आज हम उत्सुक हैं उसे यदि हम विदेशियों की क्षणिक प्रसन्नता पर प्रतिष्ठित करें, तो वह भारत की अपनी चीज़ नहीं होगी, वह बार-बार व्यर्थ होगी। भारत के यथार्थ पथ को हमें ढूँढ़ निकालना है।

मनुष्य-मनुष्य में आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करना, यही भारत का मुख्य प्रयास चिरकाल से रहा है। दूर के नातेदारों से भी सम्बन्ध रखना चाहिए, सन्तानों के वयस्क होने पर भी उनसे सम्बन्ध शिथिल नहीं होने चाहिएँ, गाँव के लोगों के साथ वर्ण या अवस्था का विचार किये बग़ैर, आत्मीयता की रक्षा करनी चाहिए— यही हमारी परम्परा रही है। गुरु-पुरोहित, अतिथि-भिक्षुक

भूस्वामी-प्रजाभृत्य, सबके साथ यथोचित सम्बन्ध निर्धारित किये गये हैं। ये केवल शास्त्रोक्त नैतिक सम्बन्ध नहीं, ये हृदय के सम्बन्ध हैं। गाँव में किसी को हम पितातुल्य मानते हैं, किसी को पुत्रतुल्य—कोई हमारे लिए भाई के समान है। जिस किसी के भी साथ हमारा यथार्थ सम्पर्क होता है, उसे हम अपना नातेदार बना लेते हैं। इसीलिए किसी भी अवस्था में हम किसी मनुष्य को अपने कार्य-साधन के लिए उपयुक्त मशीन या मशीन का एक अंग नहीं समझते । इस बात के अच्छे-बुरे दोनों ही पक्ष हो सकते हैं, लेकिन यह हमारी स्वदेशीय परम्परा है—भारत ही नहीं, यह सारे पूर्वी जगत् की परम्परा है।

जापान-युद्ध का दृष्टान्त देकर इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। युद्ध में यान्त्रिकता है, इसमें सन्देह नहीं। सैनिकों को यन्त्रवत् बनना पड़ता है, यन्त्र की तरह चलना पड़ता है। लेकिन इसके बावजूद जापान की सेना यान्त्रिकता के ऊपर उठ सकी है। उसके सैनिक अन्ध, जड़वस्तु-जैसा व्यवहार नहीं करते, और न वे रक्तोन्मत्त पशुओं की तरह हैं। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति 'मिकाडो' से साथ, और इसी सूत्र से अपने देश के साथ, एक विशिष्ट सम्बन्ध का अनुभव करता है। इसी सम्बन्ध के नाम पर वह अपना बलिदान करने के लिए प्रस्तुत है। इसी तरह प्राचीन भारत में सैनिक अपने राजा या स्वामी के नाम पर शास्त्र-धर्म निभाते हुए आत्मोत्सर्ग करते थे। रणभूमि में वे शतरंज के प्यादों की मौत नहीं मरते थे; मनुष्य की तरह मरते थे— हृदय के सम्बन्ध लेकर, धर्म का गौरव लेकर। इससे युद्ध अक्सर एक विराट आत्महत्या का रूप ले लेता था, और पश्चिम के लोग इसे देखकर कह उठते थे : 'यह एक अद्‌भुत चीज़ है—पर यह युद्ध नहीं।' युद्ध में ऐसा ही अद्‌भुत व्यवहार दिखाकर जापान दुनिया-भर में धन्य हुआ है।

जो कुछ भी हो, हमारी प्रवृत्ति ऐसी ही है। हृदय-सम्बन्ध द्वारा हम प्रयोजन-सम्बन्ध को संशोधित कर लेते हैं, तभी हमारा व्यवहार चलता है। इससे हमें अनावश्यक दायित्व भी ग्रहण करना पड़ता है। प्रयोजन का सम्बन्ध संकीर्ण होता है—ऑफ़िस तक ही सीमित। यदि दो व्यक्तियों में केवल प्रभु और भृत्य का सम्बन्ध हो तो काम करने और तनखाह बाँटने से ही वह पूरा हो जाता है। लेकिन यदि आत्मीयता का सम्बन्ध भी स्वीकार किया जाय तो उसका दायित्व विवाह-श्राद्ध जैसे निजी कामों तक पहुँचता है।

जो बात मैं कहना चाहता हूँ उसका एक और आधुनिक दृष्टान्त देखिए। मैं राजशाही और ढाका की प्रादेशिक कॉन्फ़रेन्सों में उपस्थित था। मैं इन कॉन्फ़रेन्सों को काफ़ी महत्त्वपूर्ण समझता हूँ, लेकिन मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि इनमें काम की अपेक्षा अतिथि-सत्कार का भाव ही अधिक स्पष्ट था। ऐसा लगता था कि मैं बारात मे गया हूँ—आहा-विहार और मनोविनोद के लिए लोगों का इतना तकाज़ा था कि बेचारे निमन्त्रणकर्त्ता पेरशान हो उठे। यदि वे कहते : 'तुम देश-कार्य के लिए आए हो, हमारा सिर खाने नहीं। आख़िर खाने-पीने-सोने के बारे में, लेमनेड-सोडावाटर-घोड़ागाड़ी के बारे में, हमसे इतनी अधिक माँग क्यों करते हो', तो अन्याय न होता। लेकिन काम की दुहाई देकर खाली बैठे रहना हमारे-जैसे लोगों की प्रकृति के विरुद्ध है। हम शिक्षित होने के नाते चाहे जितने व्यस्त हो जायँ, आमन्त्रणकर्ताओं को काम के अलावा और भी बहुत-सी बातों पर ध्यान देना पड़ता है। काम को भी हम हृदय के सम्बन्ध से वंचित नहीं रखना चाहते। वस्तुतः कॉन्फ़रेन्स के कायपक्ष ने हमारे चित्त को उतना आकर्षित नहीं किया जितना

आतिथ्य पक्ष ने। कॉन्फ़रेन्स अपने विलायती शरीर से इस देशी हृदय को दूर न रख सकी। कॉन्फ़रेन्स में आने वाले लोगों की आतिथ्यभाव से, आत्मीयभाव से, संवर्द्धना करना आमन्त्रणकारी अपना कर्तव्य समझते थे। इससे उनका परिश्रम, कष्ट और अर्थव्यय कितना बढ़ गया,यह वही लोग समझ सकते हैं जिन्होंने स्वयं अपनी आँखों से सब-कुछ देखा। कांग्रेस में भी जो आतिथ्य का पक्ष है वही स्वदेशी है, और वही देश को प्रभावित करता है। जो काम का पक्ष है वह तो बस तीन दिन की चीज है, साल-भर उसका आभास ही नहीं मिलता। अतिथि के प्रति सेवा-सम्बन्ध विशेष रूप से भारतीय प्रकृति के अनुगत होते हैं। इन सम्बन्धों को बड़े पैमाने पर कार्यान्वित करने का जब कोई अवसर मिलता है तो हमारे देश के लोग बहुत खुश होते हैं। जो आतिथ्य घर-घर के व्यवहार-आचार में बरता जाता है उसी को बड़े परिमाण में परितृप्त करने के लिए प्राचीन काल में बड़े-बड़े यज्ञ-अनुष्ठान होते थे। बहुत दिनों से वे सब लुप्त हो गये हैं, लेकिन भारत उन्हें भूला नहीं है, इसलिए जब भी किसी देश-कार्य के उपलक्ष्य में लोग एकत्रित होते हैं, भारतलक्ष्मी अपनी अव्यवहृत अतिथिशाला का द्वार खोलकर अपना प्राचीन आसन ग्रहण करती है। कांग्रेस-कॉन्फ़रेन्स में विलायती वक्तृताओं की धूम और तालियों के निनाद में— ऐसे कठिन सभास्थल में भी—हमारी माता भारतलक्ष्मी स्मितमुख से अपने घर की सामग्री वितरित करती है। इधर-उधर जो कुछ हो रहा है वह उसके ठीक समझ में भी नहीं आता; वह अपने हाथ से बनाया मिष्टान्न सबको खिलाकर चल देती है। माँ का मुख और भी प्रफुल्लित होता, यदि वह देख सकती कि प्राचीन यज्ञ की तरह इस आधुनिक यज्ञ में भी सब तरह के लोग हैं; केवल पढ़े-लिखे, घड़ी-चैनधारी नहीं; निमन्त्रित-अनिमन्त्रित, छोटे-बड़े सभी एकत्रित हुए हैं। यदि ऐसा होता तो शायद आडम्बर कम हो जाता, सबसे हिस्से में भोज्य कम भी पड़ता, लेकिन आनन्द से, मंगल से, माता के आशीर्वाद से. समस्त यज्ञ परिपूर्ण हो जाता।

जो कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष जब काम करने बैठता है तब भी मानव-सम्बन्ध के माधुर्य को भूल नहीं पाता; मानव-सम्बन्ध का सारा दायित्व वह स्वीकार करता है। इस तरह की अनावश्यक ज़िम्मेदारी लेकर ही भारत ने घर-घर में ऊँच-नीच, गृहस्थ और आगन्तुक, सबके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध-व्यवस्था स्थापित की है। इसीलिए हमारे देश में तालाब, सराय, मन्दिर,अन्धों-लँगड़ों के प्रतिपालन-गृह इत्यादि के लिए कभी किसी को चिंतित नहीं होना पड़ा, ये चीज़ें सदा उपलब्ध रही हैं। यदि आज ये सामाजिक सम्बन्ध विश्लिष्ट हो जायँ, यदि अन्नदान, जलदान, आश्रयदान, स्वास्थ्यदान और विद्यादान-जैसे सामाजिक कर्त्तव्य समाज से स्खलित हो जायँ, तो भी हम बिलकुल निःसहाय नहीं होंगे।

घर और गाँव के क्षुद्र सम्बन्धों से ऊपर उठकर प्रत्येक व्यक्ति का विश्व के साथ योग सम्पादन करने के लिए हिन्दूधर्म ने पथ दिखाया है। प्रतिदिन पंच-यज्ञ के द्वारा हिन्दूधर्म ने समाज के प्रत्येक सदस्य को इस बात का स्मरण कराया है कि देवता, ऋषि, पितृ-पुरुष, समस्त मानवजाति और पशु-पक्षी के साथ उसका मंगलमय सम्बन्ध है। यदि इस सम्बन्ध का यथार्थ रूप से पालन किया गया तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए और सारे विश्व के लिए यह कल्याणप्रद होगा।

हमारे समाज में आज क्या यह सम्भव नहीं कि इसी उच्च भावना से प्रत्येक व्यक्ति का सारे देश के साथ प्रात्यहिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय? क्या प्रत्येक व्यक्ति देश को स्मरण करके रोज़

एक पैसा, या उससे भी कम—आधी मुट्ठी चावल—नहीं दे सकता? हिन्दूधर्म क्या हम सबको प्रतिदिन इस भारत के साथ—हमारे देवताओं के विहारस्थल, हमारे प्राचीन ऋषियों के इस तपस्याश्रम के साथ—भक्ति के बन्धन से नहीं बाँध सकता? स्वदेश के साथ हमारा मंगलमय सम्बन्ध क्या प्रत्येक व्यक्ति की अपनी चीज़ नहीं होगा? विद्यादान, जलदान इत्यादि मंगल-कर्म विदेशियों के हाथ में सौंपकर हम उन्हें अपने प्रयास से, अपनी चिंता और अपने हृदय से बिलकुल ही विच्छिन्न कर देंगे? सरकार आज बंगाल में जलकष्टनिवारण के लिए पचास हज़ार रुपये दे रही है। मान लीजिये, आन्दोलन के दबाव से सरकार पचास लाख देती है, और जलकष्ट दूर हो जाता है। परिणाम क्या होगा? यही कि सहायता-लाभ, कल्याण-लाभ का सूत्र, जिससे देश के हृदय ने इतने दिनों समाज में काम करके तृप्ति पायी थी, विदेशी के हाथ में समर्पित कर दिया जायगा। जहाँ देश का उपकार होता है वहाँ देश अपना हृदय स्वभावतः अर्पित करता है। हम निरन्तर शिकायत करते रहते हैं कि देश का रुपया विभिन्न मार्गों से विदेश जा रहा है। लेकिन देश का हृदय यदि जाय, देश के साथ हमारे कल्याण-सम्बन्ध एक-एक करके विदेशी गवर्नमेंट के हाथ में पहुँच जायँ, हमारे पास उनमें से कुछ न रहे, तो क्या यह विदेशगामिनी सम्पत्ति-धारा से कम आपत्तिजनक विषय होगा? हम सभा करते हैं, दरख़ास्त भेजते हैं—लेकिन देश को इस तरह सम्पूर्ण रूप से दूसरे के हाथ सुपुर्द कर देने के प्रयास को क्या हम देश-हितैषिता कह सकते हैं? इसमें देश-कल्याण कभी नहीं हो सकता। इसको देश का प्रश्रय स्थायी रूप से नहीं मिल सकता, क्योंकि यह भारत का धर्म नहीं है। हमने अपने दूर के सम्पर्कियों को, अपने ग़रीब-से-ग़रीब नातेदारों को भी कभी परभिक्षावलम्बित नहीं होने दिया; उन्हें दूर नहीं किया; अपनी सन्तानों की तरह उन्हें आदर का स्थान दिया; बड़े कष्ट से उत्पन्न किये हुए अन्न में हमने सर्वदा दूर कुटुंबियों का हिस्सा लगाया है—इसे हमने कभी असामान्य बात नहीं माना। फिर भी क्या आज हम यह कहेंगे कि जननी-जन्मभूमि का भार हम वहन नहीं कर सकते? क्या विदेशी ही सदा हमारे देश को अन्न-जल और विद्या की भीख देंगे, और हमारा कर्त्तव्य इतना ही है कि भिक्षा की मात्रा कम हो तो चीत्कार करते रहें? कदापि नहीं। स्वेदश का भार हममें से प्रत्येक को प्रतिदिन ग्रहण करना है—इसी में गौरव है, यही हमारा धर्म है। आज वह समय आ गया है जबकि भारतीय समाज एक विशाल स्वदेशी समाज हो उठेगा और प्रत्येक व्यक्ति समझेगा कि वह अकेला नहीं है; क्षुद्र होने पर भी उसकी कोई उपेक्षा नहीं करेगा और क्षुद्रतम की भी उपेक्षा वह स्वयं नहीं कर सकता।

यह तर्क उठ सकता है कि व्यक्तिगत हृदय का सम्बन्ध एक विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त नहीं हो सकता। किसी छोटे गाँव को हम प्रत्यक्ष रूप से अपना सकते हैं, उसका सारा दायित्व स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन यदि परिधि विस्तीर्ण हो तो 'मशीन' की ज़रूरत पड़ेगी। सारे देश को हम उस तरह अपना नहीं सकते जैसे कि गाँव को। अव्यवहित भाव से देश-कार्य नहीं किया जा सकता, उसके लिए यंत्र का सहारा लेना ही पड़ेगा; और चूँकि यंत्र हमारी अपनी चीज़ नहीं है इसलिए उसे विदेश से ही लाना होगा। कारख़ाने का सारा साज-समान, सारे क़ानून, ग्रहण किये बग़ैर यंत्र नहीं चल सकता।

यह बात असंगत नहीं है। यंत्रों की स्थापना तो करनी ही होगी, और फिर यंत्र के नियम भी मानने होंगे—चाहे वे किसी भी देश के हों—अन्यथा सब-कुछ व्यर्थ होगा। यह बात पूर्ण

रूप से स्वीकार करते हुए भी कहना पड़ेगा कि भारतवर्ष केवल यंत्र से नहीं चल सकता। जहाँ हमारे व्यक्तिगत हृदय-सम्बन्ध का हमें प्रत्यक्ष रूप से अनुभव न मिले वहाँ हमारी समस्त प्रकृति आकर्षित नहीं हो सकती। इसे हम अच्छा कहें या बुरा, इसकी निंदा करें या प्रशंसा, यह सत्य है। और यह बात हमें ध्यान में रखनी ही होगी, यदि किसी काम में सफलता प्राप्त करनी है।

हम स्वदेश को किसी विशेष व्यक्ति के बीच उपलब्ध करना चाहते हैं। हम चाहते हैं, कोई ऐसा आदमी हो जिसमें हमें सारे समाज की प्रतिभा दिखायी पड़े। हम सोचते हैं, उसी पर अवलम्बित होकर अपने बृहत् स्वदेशीय समाज की भक्ति करेंगे; सेवा करेंगे; और उसके संयोग से ही समाज के प्रत्येक सदस्य के साथ हमारे योग की रक्षा होगी। किसी समय, जब राष्ट्र और समाज एक-दूसरे से अविच्छिन्न थे, राजा का पद ऐसा ही था। जब राजा समाज के बाहर है, इसलिए समाज शीर्षहीन हो गया है। दीर्घकाल तक गाँवों को खंडित रूप से अपना काम अपने-आप सम्पन्न करना पड़ा है। स्वदेशी समाज का उचित संघटन या विकास नहीं हो सका। हमारे कर्त्तव्य का तो किसी तरह पालन हो रहा है, और इसीलिए आज भी हममें मनुष्यत्व बाक़ी है—लेकिन हमारा कर्त्तव्य क्षुद्र हो गया है और इसीसे हमारे चरित्र में संकीर्णता ने प्रवेश किया है। संकीर्ण पूर्णता में सदा के लिए आबद्ध रहना स्वास्थ्यकर नहीं होता। जो टूट चुका है उसके लिए हम शोक नहीं करेंगे। बल्कि जिसकी रचना करनी है उसी की ओर अपने समस्त चित्त को प्रयुक्त करेंगे। आजकल जड़भाव से—बाध्य होकर—जो कुछ किया जा रहा है, उसी को होने देना हमारे लिए कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

इस समय हमें एक समाज-नायक की ज़रूरत है। उसके साथ परिषद् होगी, सहायक होंगे, लेकिन प्रत्यक्ष रूप से वही हमारे समाज का अधिपति होगा। उसी के बीच प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक एकता का बोध होगा। आज यदि किसी से समाज-कार्य करने को कहा जाता है तो 'कैसे करूँ' 'कहाँ करूँ', 'किसके साथ क्या करना होगा'—इन सब प्रश्नों से उसका सिर चकरा जाता है। एक तरह से हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि अधिकांश लोग अपना कर्त्तव्य स्वयं निर्धारित नहीं करते। ऐसी दशा में व्यक्तिगत प्रयासों को निर्दिष्ट पथ पर ले जाने के लिए एक केन्द्र की ज़रूरत है। हमारे समाज में कोई ऐसा दल नहीं है जो इस केन्द्र का स्थान ले सके। हम कितने ही दलों को देखते हैं, सबकी वही हालत है। उत्साह के पहले धक्के से वे कुछ आगे बढ़ते हैं। उनके कार्यवृक्ष में फूल खिलते हैं, लेकिन फल नहीं लगते। इसके बहुत-से कारण हो सकते हैं; लेकिन मुख्य कारण यही है कि दल का प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में दल के ऐक्य को दृढ़ भाव से अनुभव नहीं कर पाता, ऐक्य की रक्षा नहीं कर पाता। दायित्व शिथिल होता है, प्रत्येक के कंधे पर से गिर जाता है और अन्त में दायित्व कोई आश्रय स्थान नहीं ढूँढ़ पाता।

अब इस तरह से हमारा समाज नहीं चल सकेगा। बाहर से जो शक्ति समाज पर बराबर अधिकार करती जा रही है वह दृढ़ है, ऐक्यबद्ध है। उसने विद्यालय से लेकर दुकान तक हमारी प्रत्येक वस्तु पर कब्ज़ा करके सर्वत्र अपने एकाधिपत्य का प्रत्यक्ष परिचय दिया है—कभी स्थूल रूप से, तो कभी सूक्ष्म रूप से। यदि समाज को उससे अपनी रक्षा करनी है तो अत्यन्त निश्चित रूप से अपने-आपको सँभालना होगा। इसका एक-मात्र उपाय है किसी ऐसे व्यक्ति का चुनाव करना जिसमें समाज का प्रत्येक सदस्य अपने-आपको प्रत्यक्ष कर सके। ऐसे व्यक्ति के

एकाधिपत्य को, शासन को, वहन करने में हमें अपमान का बोध नहीं होना चाहिए, बल्कि इस शासन को हमें अपनी स्वाधीनता का ही एक अंग समझना चाहिए। समाजपति कभी अच्छा हो सकता है, कभी बुरा। लेकिन यदि समाज जागृत रहे तो यह व्यक्ति स्थायी अनिष्ट का कारण कभी नहीं हो सकता। वास्तव में इस तरह के अधिपति का अभिषेक समाज को जागृत रखने का अच्छा उपाय है। समाज यदि एक विशेष केन्द्र-स्थान पर अपने ऐक्य को प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध करे तो उसकी शक्ति अजेय होगी। इस एकाधिपति के निर्देशन में देश के विभिन्न भागों में विभिन्न नायकों की नियुक्ति होगी। ये नायक समाज की सभी ज़रूरतें पूरी करेंगे, मंगल कार्य चलाना और व्यवस्था-रक्षा का भार इन पर होगा, और समाजपति के सामने ये सभी ज़िम्मेदार होंगे।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यह कुछ-न-कुछ स्वेदश के लिए देना चाहिए, चाहे वह कितने ही अल्प परिमाण में क्यों न हो। विवाह-जैसे शुभ कर्मों के लिए जिस तरह प्रत्येक परिवार में एक 'कोष' खोला जाता है, वैसे ही स्वदेशी समाज की रचना के लिए एक कोष स्थापित करना और उसके लिए धन जमा करना कोई कठिन काम नहीं है। ऐसा संग्रह यदि यथास्थान किया गया तो धन की कमी नहीं रहेगी। हमारे देश में स्वेच्छापूर्वक दिये हुए दान से बड़े-बड़े मठ-मन्दिर चल रहे हैं। क्या समाज अपना आश्रय-स्थान स्वयं नहीं बना सकता? विशेषतः जब यह स्पष्ट है कि ऐसे संग्रह से अन्न, जल, स्वास्थ्य और विद्या के सम्बन्ध में देश का भाग्य सुधारा जा सकता है, हमारी कृतज्ञता-भावना कभी निश्चेष्ट नहीं रहेगी।

इस समय मेरी दृष्टि केवल बंगाल पर ही है। यहाँ समाज का अधिनायक चुनकर यदि हम सामाजिक स्वाधीनता को उज्ज्वल और स्थायी बना सकें, तो भारत के अन्यान्य प्रदेश भी हमारा अनुसरण करेंगे। और इस तरह जब भारत का प्रत्येक भाग अपने-आपमें सुनिर्दिष्ट ऐक्य उपलब्ध करेगा, तब सभी विभागों का पारस्परिक सहयोग भी आसान होगा। ऐक्य का नियम जब किसी स्थान पर प्रतिष्ठित होता है, तो उसका प्रसारण भी होता है। लेकिन विच्छिन्नता का ढेर बढ़ते-बढ़ते कितना ही बड़ा क्यों न हो, उसमें ऐक्य निर्माण नहीं होता।

जापान इस बात का दृष्टान्त हमारे सामने रखता है कि युग के साथ उदय का सामंजस्य केसे स्थापित हो, राजा के साथ स्वदेश का संयोग-साधन कैसे हो; इस दृष्टान्त पर ध्यान देकर हम अपने स्वदेशी समाज के संगठन और संचालन के लिए समाजपति और समाजतंत्र दोनों के काम का समन्वय करा सकते हैं—एक विशेष व्यक्ति के बीच स्वेदश का प्रत्यक्षीकरण हो सकता है, और उस व्यक्ति का शासन स्वीकार करके समाज की यथार्थ सेवा भी की जा सकती है।

आत्मशक्ति को एक विशेष स्थान पर संचित करना, इस विशेष स्थान को उपलब्ध करना, और इसके आधार पर ऐसी व्यवस्था-निर्माण करना जिसका सर्वत्र प्रयोग हो सके, हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है। यह बात तो थोड़ा-सा विचार करने पर स्पष्ट देखी जा सकती है। अपनी कार्य-सुविधा के लिए, या किसी और कारण से, गवर्नमेंट बंगाल को दो हिस्सों में बाँटना चाहती है। हमें आशंका है कि इससे बंगदेश दुर्बल होगा। इस आशंका को व्यक्त करने के लिये काफ़ी रोना-पीटना हो चुका है। लेकिन हमारा विलाप यदि वृथा सिद्ध हो तो क्या हमने विलाप करके ही अपना कर्तव्य चुका दिया? देश के विभाजन से जो अमंगल घटेगा उसके प्रतिकार के लिए देश में कहीं कोई व्यवस्था नहीं की जायगी? व्याधि का बीज बाहर से शरीर में प्रवेश न करे

तो अच्छा ही है, लेकिन यदि वह अन्दर पहुँच जाय तो क्या शरीर में व्याधि को रोकने की, स्वास्थ्य को फिर से प्रतिष्ठित करने की कोई शक्ति नहीं रहेगी? ऐसी शक्ति को यदि हम समाज में सुदृढ़ और सुस्पष्ट बनाएँ, तो बाहर से बंगाल को कोई निर्जीव नहीं कर सकेगा। सारे जख़्मों को भरना, ऐक्य की रक्षा करना, मूर्छित को सचेतन करना, इसी शक्ति का काम है। आज विदेशी राजपुरुष 'सत्कर्म' के पुरस्कार-स्वरूप हमें उपाधियाँ देते हैं। लेकिन सत्कर्म का आशीर्वाद स्वदेश के हाथों मिले, तभी हम धन्य होंगे। यदि समाज में ऐसी शक्ति स्थापित न की गयी जिससे वह हमें भारतीय की हैसियत से पुरस्कृत करे तो हम सदा के लिए अपनी विशेष सार्थकता से वंचित रहेंगे। हमारे देश में कभी-कभी मामूली कारणों से हिन्दू-मुसलमानों में संघर्ष होता है। इस विरोध को मिटाकर दोनों पक्षों में प्रीति और शांति स्थापित करने की क्षमता, दोनों पक्षों के अधिकार नियमित करने की क्षमता, यदि किसी के पास न हो तो समाज बार-बार क्षत-विक्षत होगा और उत्तरोत्तर दुर्बल होगा।

इसलिए किसी एक व्यक्ति का आश्रय लेकर समाज को एक जगह अपना हृदय स्थापित करना होगा, ऐक्य को प्रतिष्ठित करना होगा, वर्ना शैथिल्य और विनाश से बचने का कोई उपाय दिखायी नहीं पड़ता।

बहुत-से लोग मेरी बात को साधारण भाव से स्वीकार करते हुए भी सोचेंगे कि जो मैंने सुझाया है वह असाध्य है। वे पूछेंगे : 'इस समाज-नायक का निर्वाचन कैसे होगा, और निर्वाचित व्यक्ति को सभी लोग स्वीकार क्यों करेंगे? पहले सम्पूर्ण व्यवस्था-तंत्र को स्थापित करना पड़ेगा, तभी समाजपति की प्रतिष्ठा सम्भव होगी' इत्यादि।

मेरा कहना यह है कि इस तरह की बहस छोड़कर आदि-अन्त की विवेचना करने बैठें, तो कार्य-क्षेत्र में कभी उतर ही नहीं सकेंगे। ऐसे किसी व्यक्ति का नाम लेना कठिन है जिससे कोई भी आदमी या कोई भी दल अप्रसन्न न हो। देश के सभी आदमियों का परामर्श लेकर निर्वाचन करना असम्भव है।

हमारा पहला काम है—जैसे भी हो सके एक समाजनायक चुनना, उसका आदेश स्वीकार करना, और फिर धीरे-धीरे उसके चारों ओर व्यवस्था-तंत्र की रचना करना। यदि यह मान लिया गया कि समाजपति चुनने का प्रस्ताव समयोचित है और राजा समाज के अन्तर्गत न होने से अधिनायक का अभाव खटकता है, यदि विदेशियों से चल रहे संघर्ष में अधिकारच्युत समाज अपने-आपको फिर से संगठित करने के लिए उत्सुक है, तो फिर किसी योग्य व्यक्ति को खड़ा करके कुछ लोग उसके निर्देशन में काम में जुट जायँ। देखते-ही-देखते समाज-राजतंत्र प्रस्तुत होगा। पहले से हिसाब लगाकर जिसकी हम आशा तक नहीं कर सकते थे वह भी हम प्राप्त करेंगे। समाज की अन्तर्निहित बुद्धि इस क्षेत्र का संचालन-भार अपने-आप ग्रहण कर लेगी।

समाज में सदा ही शक्तिमान् लोग नहीं होते लेकिन देश की शक्ति अलग-अलग स्थानों पर जमा होकर ऐसे लोगों की प्रतीक्षा करती है। जो शक्ति योग्य अधिनायक के अभाव से कार्यशील नहीं हो पाती उसे यदि सुरक्षित स्थान भी न मिले तब तो समाज फूटे घड़े की तरह खाली हो जायेगा। यदि समाजपति में पूर्ण योग्यता न भी हो, उस पर अवलम्बित होकर समाज की शक्ति और आत्मचेतना संगठित होगी। बाद में जब सौभाग्यवश इस शक्ति-संचय के साथ

योग्यता का मिलन होगा, देश का मंगल आश्चर्यजनक शक्ति के साथ अपने-आपको सर्वत्र विस्तारित करेगा। हम छोटे दूकानदार की तरह समस्त नफ़ा-नुकसान तुरन्त देखना चाहते हैं, लेकिन बड़े रोज़गार का हिसाब ऐसे नहीं चलता। देश में कभी-कभी ऐसे क्षण आते हैं जब महान् लोग साल-भर का हिसाब तलब करते हैं, और सारा हिसाब एक बहुत बड़े खाते में लिखकर उनके सामने प्रस्तुत किया जाता है। सम्राट् अशोक के राज्यकाल में बौद्ध-समाज का हिसाब प्रस्तुत किया गया था। इस समय हमें दफ़्तर खुला रखना है, काम चलाते रहना है; जब महापुरुष हिसाब माँगेगा हम अप्रस्तुत न हों, हमें सिर न झुकाना पड़े, हम दिखा सकें कि ख़ज़ाना बिलकुल ही ख़ाली नहीं है।

ऐसा व्यक्ति, जिसे हम समाज में सर्वोच्च स्थान दे सकें, इच्छा करने से ही नहीं मिल जाता। राजा प्रजा से स्वभावतः बड़ा नहीं होता, राज्य ही उसे महान् बनाता है। जापान का मिकाडो जापान के सारे विद्वानों, साधकों और वीरों के ही द्वारा बड़ा हुआ है। हमारा समाजपति भी समाज की महत्ता से ही महान होगा, समाज के सब बड़े आदमी ही उसे बड़ा बनायँगे। मन्दिर का स्वर्ण-शिखर अपने-आप ही ऊँचा नहीं होता, मन्दिर की ऊँचाई से ही वह ऊँचा होता है।

मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे प्रस्ताव को चाहे बहुत-से लोग स्वीकार करें, इसके कार्यान्वित होने में बाधाएँ हैं। प्रस्तावकर्ता की अयोग्यता, और अन्य बहुत-सी प्रासंगिक-अप्रासंगिक त्रुटियों के सम्बन्ध में बहुत-सी स्पष्ट बातें और बहुत-से अस्पष्ट संकेत—यदि सुनाई पड़ें तो आश्चर्य की बात न होगी। मेरा नम्र निवेदन है कि आप मुझे क्षमा कर दें। 'आज की सभा में मैं आत्म-प्रचार के लिए नहीं आया हूँ', यह बात कहने से भी अहंकार व्यक्त होता है ! इसीलिए मैं कुंठित हूँ। मैं आज जो कर रहा हूँ उसे कहने के लिए सारे देश ने मुझे उद्यत किया है। यह मेरी अपनी बात नहीं, अपनी सृष्टि नहीं—यह बात केवल मुझसे उच्चरित हुई है। आपके मन में यह सन्देह नहीं होना चाहिए कि मैं अपने अधिकार और योग्यता की सीमाओं को भूलकर स्वदेशी समाज के मंगल-कार्य में अपने-आपको उच्च स्थान पर खड़ा कराने का प्रयत्न करूँगा। मैं तो केवल यही कहूँगा—आओ, हम सब अपने मन को देश के लिए प्रस्तुत करें; क्षुद्र दलबन्दी, कुतर्क, परनिन्दा, संशय और धूर्तता से हृदय को मुक्त करके आज मातृभूमि के विशेष प्रयोजन के दिन जननी के आह्वान के दिन—चित्त को उदार बनायें, कर्म के प्रति अनुकूल बनायें। लक्ष्यहीन, अतिसूक्ष्म युक्तिवाद की व्यर्थता का हम परित्याग करें; आत्माभिमान की शत-सहस्र रक्ततृषार्त्त जड़ों का हृदय की अँधेरी गुहा से उच्चाटन करें; समाज के शून्य आसन पर विनम्र भाव से अपने समाजपति का अभिषेक करें; आश्रयच्युत समाज को सनाथ बनायें। शंख बज उठे, धूप की पवित्र गन्ध प्रसारित होती रहे, देवता की अनिमेष कल्याण-दृष्टि से सारा देश अपने-आपको सर्वतोभाव से सार्थक समझे।

इस अभिषेक के बाद समाजपति किस-किसको अपने पास आकर्षित करेगा, किस तरह से समाज को कार्य-प्रवृत्त करेगा, इस विषय में मुझे कुछ नहीं कहना। निस्सन्देह ऐसी ही व्यवस्था का अवलम्बन करना होगा जो हमारी चिरन्तन समाज-प्रकृति के अनुगत हो। स्वदेश की पुरातन प्रकृति के आधार पर ही वह समाजपति 'नूतन' को यथास्थान यथायोग्य आसन देगा। इसमें भी संदेह नहीं कि हमारे देश में उसे विशिष्ट व्यक्तियों और दलों का विरोध सहना पड़ेगा। लेकिन

महान् पद कभी आराम का स्थान नहीं होता। सारे कोलाहल के बीच उसे दृढ़तापूर्वक, अपने गौरव की रक्षा करते हुए अविचलित रहना होगा।

इसलिए जिसे हम समाज के सर्वोच्च सम्मानित स्थान के लिए चुनेंगे वह एक दिन के लिए भी हमसे सुख-स्वच्छन्दता की आशा नहीं कर सकेगा। हमारा उद्धत आधुनिक समाज किसी की हृदय से श्रद्धा नहीं करता और अपने-आप को प्रतिदिन अश्रद्धेय बनाता जाता है। ऐसे समाज के कंटकखचित, ईर्ष्या-संतृप्त आसन पर जो बैठेगा उसे विधाता प्रचुर शक्ति और सहिष्णुता प्रदान करे ! अपने अंतःकरण में ही वह शांति-लाभ कर सके, अपने कर्म में ही उसे पुरस्कार मिले!

अपनी शक्ति पर आप विश्वास रखें, आप निश्चय समझ सकेंगे कि कुछ करने का समय आ गया है; आप निश्चय जानेंगे कि भारत में एक रचनात्मक धर्म सदा से चला आ रहा है। कितनी ही प्रतिकूल अवस्थाओं में पड़कर भी भारत ने सदा एक व्यवस्था का निर्माण किया है जो आज भी सुरक्षित है। इसी भारत पर हम विश्वास करें— अभी, इसी समय, यह भारत नूतन-पुरातन में आश्चर्यजनक सामञ्जस्य स्थापित कर रहा है, इसमें हम सब योग दें सकें— जड़तावश या विद्रोह की ताड़ना से इसका विरोध न करें !

बाहर के साथ हिंदू-समाज का जो संघात चल रहा है, वह नया नहीं है। भारत में प्रवेश करते ही आर्यों का यहाँ के आदिम निवासियों से तीव्र संघर्ष हुआ था। इस संघर्ष में आर्यों को विजय मिली; लेकिन अनार्यों का ऑस्ट्रेलिया-अमेरिका के आदिम निवासियों की तरह अवसान नहीं हुआ। आर्यों के उपनिवेशों से वे बहिष्कृत नहीं हुए। आचार-विचार से सारे पार्थक्य के बावजूद उन्हें समाजतंत्र में एक स्थान मिला। उनको साथ लेकर आर्य-समाज ने वैचित्र्य प्राप्त किया।

और एक बार यह समाज दीर्घकाल तक विश्लिष्ट हुआ था। बौद्ध युग में बौद्ध धर्म के आकर्षण से भारतीयों का विदेशियों से घनिष्ठ संपर्क स्थापित हुआ। विरोध के संपर्क से मिलन का संपर्क कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। विरोध में आत्मरक्षा का प्रयास सदा जागृत रहता है, मिलन की असतर्क अवस्था में सहज ही एकीकरण होता है। बौद्धयुगीन भारत में वैसा ही हुआ। एशियाव्यापी धर्म-विस्तार के समय विविध देशों के आचार-व्यवहार-क्रिया-कर्म ने हमारे देश में प्रवेश किया, किसी को रोका नहीं गया।

लेकिन इस विशाल उच्छृंखलता के बीच भारत ने अपनी व्यवस्था-स्थापन की प्रतिभा नहीं छोड़ी। जो अपना था, और जो बाहर से आया, दोनों को एकत्रित करके भारत ने फिर समाज को संगठित किया, पहले से भी अधिक वैचित्र्य का लाभ किया। इस विपुल वैचित्र्य में अपना विशिष्ट ऐक्य सर्वदा बनाये रखा। आत्मविरोध और आत्मखंडन के होते हुए भी हिंदू-समाज और हिंदू-धर्म में जो ऐक्य है उसका क्या आधार है, इसका स्पष्ट उत्तर देना कठिन है। हिंदू-समाज की विशाल परिधि का केंद्र ढूँढ़ निकालना कठिन है—लेकिन केंद्र तो कहीं-न कहीं है ही। किसी छोटी गोलाकार वस्तु का गोलत्व स्पष्ट दिखाई पड़ता है, लेकिन गोल पृथ्वी को जो खंडशः देखता है वह अनुभव करता है कि पृथ्वी सपाट है। इसी तरह हिंदू-समाज ने परस्पर त्रिरोधी बातों का समन्वय करके अपने ऐक्य सूत्र को मज़बूत बनाया है। इस ऐक्य की ओर निर्देश करना कठिन है—लेकिन सारे विरोधों के बीच वह है अवश्य, और उसकी हम उपलब्धि कर सकते हैं।

इसके बाद भारत में मुसलमान आये और उनमें भी संघात हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि इस संघात ने समाज पर कोई आक्रमण नहीं किया। लेकिन हिंदू-समाज में सामंजस्य साधन की क्रिया आरंभ हुई। हिंदू और मुसलमान समाजों के बीच एक ऐसे संयोगस्थल की सृष्टि हुई जहाँ दोनों की सीमाएँ एक-दूसरे से आ मिलीं। नानकपंथ, कबीरपंथ और निम्न श्रेणी के वैष्णव समाज इसके दृष्टान्त हैं। हमारे देश में साधारण लोगों के जीवन में धर्म और आचार में जो सब परिवर्तन होते रहते हैं उनकी ख़बर भी शिक्षित संप्रदाय नहीं रखता। यदि शिक्षित लोग इन परिवर्तनों से बेख़बर न होते तो देख पाते कि आज भी सामंजस्य साधन की सजीव प्रक्रिया बन्द नहीं हुई है।

हाल में और एक प्रबल विदेशी सत्ता, और एक धर्म, अपने आचार-व्यवहार और शिक्षा-दीक्षा के साथ हमारे देश में उपस्थित हुआ है। इस तरह पृथ्वी के जिन चार प्रमुख धर्मों पर आधारित चार बृहत् समाज हैं—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और ईसाई—उन सबका भारत की भूमि पर मिलन हुआ है। विधाता ने मानो एक विशाल सामाजिक मिलन के लिए भारत में बड़ा रासायनिक कारख़ाना खोला हो।

यहाँ हमें एक बात स्वीकार करनी होगी—बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव-काल में समाज में जिस मिश्रण और विपर्यस्तता ने प्रवेश किया उससे परवर्ती हिन्दू-समाज में भय के लक्षण रह गये हैं। नूतनत्व और परिवर्तन के प्रति आत्यन्तिक सन्देह का भाव समाज की मज्जा में घर कर गया है। इस तरह के चिरस्थायी भय की अवस्था में समाज आगे नहीं बढ़ पाता। बाह्य प्रतियोगिता में वह विजयी नहीं हो पाता। जिस समाज की शक्ति केवल आत्मरक्षा में ही प्रयुक्त होती है वह चलने-फिरने की व्यवस्था आसानी से नहीं कर सकता। बीच-बीच में विपत्ति और आघात की आशंका को स्वीकार करते हुए भी प्रत्येक समाज को स्थिति के साथ गति की भी व्यवस्था करनी चाहिए अन्यथा वह पंगु हो जाता है, संकीर्णता में आबद्ध हो जाता है; यह तो एक तरह से जीवित मृत्यु है।

बौद्ध-परवर्ती हिन्दू-समाज ने अपना जो कुछ है या था,उसे बचाने के लिए और दूसरों के सम्पर्क से अपने को अलग रखने के लिए, एक जाल में अपने-आपको बन्द कर रखा। इससे भारतवर्ष ने दुनिया में अपना महान् स्थान गँवा दिया। किसी समय भारत को पृथ्वी पर गुरु का आसन प्राप्त था। धर्म, विज्ञान और दर्शन में भारत के चित्त में असीम साहस था। उसका चित्त चारों ओर दुर्गम और दूरवर्ती प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करता था। इस गुरु-सिंहासन से आज भारत को नीचे उतरना पड़ा है, उसे छात्र बनना पड़ा है। इसका कारण है—हमारा मानसिक भय। समुद्र-यात्रा हमने भयभीत होकर बन्द कर दी है—चाहे वह जलमय समुद्र हो या ज्ञानमय समुद्र। कभी हम विश्व के थे, आज हम अपने गाँव के हैं। संचय और रक्षा की जो भीरु-स्त्री-शक्ति समाज में है उसने कौतूहल पर, परीक्षारत, साधनशील पुरुष-शक्ति को पराजित करके एकाधिपत्य प्राप्त किया है। इसीलिए ज्ञानराज्य में भी हम संस्कारबद्ध स्त्रैण प्रकृति के अधीन हैं। ज्ञान का वाणिज्य, जिसे भारत ने आरम्भ किया था और जिससे बढ़ते-बढ़ते जागतिक ऐश्वर्य को उन्नत किया था, आज अन्तःपुर में आभूषणों के सन्दूक़

में है और अपने को निरापद समझता है। वह अब बढ़ता नहीं। जो हम खो रहे हैं वह कहीं से पूरा नहीं होता।

वास्तव में गुरु का पद ही हम खो चुके हैं। राज्याधिकार को कभी हमारे देश में चरम सम्पदा नहीं माना गया। उसने कभी देश की जनता के हृदय पर अधिकार नहीं किया; उसका अभाव हमारे लिए प्राणांतक अभाव नहीं रहा। लेकिन ब्राह्मणत्व का अधिकार—अर्थात् ज्ञान, धर्म और तपस्या का अधिकार—समाज के यथार्थ प्राण का आधार रहा है। जब से आचार-पालन ने तपस्या का स्थान लिया; जब से अपनी ऐतिहासिक मर्यादा को भुलाकर ब्राह्मणेतर लोगों ने शूद्र कहलाना स्वीकार किया; जब से ब्राह्मण—जिन पर नये-नये ऐश्वर्य और नये-नये तपस्याफल के वितरण का भार था—अपना वास्तविक माहात्म्य विसर्जित करके समाजद्वार पर पहरेदार बन गये, तभी से हम दूसरों को कुछ दे नहीं पाते और अपना जो कुछ था उसे भी विकृत करते हैं।

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक देश विश्व-मानव का अंग है। विश्व-मानव को दान देने की, उसकी सहायता करने की कौन-सी सामग्री वह उत्पन्न करता है, इसी पर प्रत्येक देश की प्रतिष्ठा निर्भर है। जब यह उद्भावन-शक्ति कोई देश खो देता है, तब वह विराट् मानव-कलेवर का पक्षाघातग्रस्त अंग बन जाता है और केवल एक अनावश्यक बोझ के रूप में रहता है। केवल टिके रहने में गौरव नहीं है।

भारत ने राज्य के लिए मार-काट नहीं मचायी,वाणिज्य के लिए छीना-झपटी नहीं की। आज तिब्बत, चीन, जापान योरोपीय अभ्यागतों के डर से खिड़की-दरवाज़े बन्द करना चाहते हैं। लेकिन इन्हीं देशों ने भारत को गुरु समझकर आदरपूर्वक अपने बीच आमंत्रित किया था। भारत ने सैन्य या धन के ज़ोर से सारी पृथ्वी की अस्थिमज्जा को कष्ट नहीं दिया, सर्वत्र शान्ति, सान्त्वना और धर्म-व्यवस्था स्थापित करके मानव-मात्र की भक्ति का अधिकार प्राप्त किया। यह गौरव उसने तपस्या द्वारा उपलब्ध किया, और राजचक्रवर्ती के गौरव से वह कहीं बड़ा था।

इस गौरव को खोकर जब हम अपनी गठरी लेकर भयभीय चित्त से एक कोने में बैठे थे उस समय अंग्रेजो का आगमन प्रयोजनीय ही था। अँग्रेजों के प्रबल आघात से इस भीरु, पलातक समाज की क्षुद्र प्राचीर कई स्थानों पर टूटी। हम 'बाहर' से जितना डरते थे, दूर रहते थे उसी मात्रा में 'बाहर' हमारी गर्दन पर सवार हो गया है। अब उसको दूर कौन रख सकता है ? इससे हमारी प्राचीर जब टूटी, हमने दो बातों का आविष्कार किया—हमने देखा कि हमारे पास कैसी आश्चर्यजनक शक्ति थी, और यह देखने में भी हमें विलम्ब नहीं हुआ कि आज हमारी दुर्बलता कैसी आश्चर्यजनक है।

आज हम अच्छी तरह समझ गये हैं कि अपना शरीर ढाँककर अलग पड़े रहने को ही आत्मरक्षा नहीं कहते। अपनी अन्तर्निहित शक्ति को जागृत और संचालित करना ही आत्मरक्षा का प्रकृत उपाय है, यह विधाता का नियम है। जब तक हमारा चित्त जड़ता का त्याग करके अपनी उद्यमशक्ति का प्रयोग नहीं करता तब तक अँग्रेज़ हमारे मन को पराभूत करते रहेंगे। एक कोने में बैठकर 'हाय,लुट गये' कहते हुए हाहाकार करने से कुछ लाभ नहीं। सभी विषयों में अँग्रेजों का अनुसरण करके, छद्मवेश पहनकर अपनी रक्षा करने का प्रयत्न भी बेकार है—अपने

को भुलावा देना है। हम असली अंग्रेज़ नहीं बन सकते, नकली अंग्रेज़ बनकर हम अंग्रेज़ को धोखा भी नहीं दे सकते।

हमारी बुद्धि, रुचि, हृदय—सब-कुछ आज पानी के भाव से बिक रहा है। इसका प्रतिकार करने का एक ही उपाय है—हम वास्तव में जो हैं वही बनें। ज्ञानपूर्वक, सरल और सचल भाव से, सम्पूर्ण रूप से हम अपने-आपको प्राप्त करें।

हमारी आबद्ध शक्ति विदेशियों के विरोध से आघात पाकर ही मुक्त होगी, क्योंकि आज पृथ्वी में उसका काम आ पड़ा है। देश के तपस्वियों ने जिस शक्ति का संचय किया है वह बहुमूल्य है। विधाता उसे निष्फल नहीं होने देगा। इसीलिए उचित समय पर उसने निश्चेष्ट भारत को कठोर पीड़ा देकर जागृत किया है।

बहुलता में ऐक्य की उपलब्धि, वैचित्र्य के बीच ऐक्य-स्थापन—यही भारतवर्ष का अन्तर्निहित धर्म है। भारत पार्थक्य को विरोध नहीं समझता, परकीय को शत्रु नहीं समझता; बिना किसी का विनाश किये, एक बृहत् व्यवस्था में सभी को स्थान देना चाहता है। सभी पन्थों को वह स्वीकार करता है, अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक का माहात्म्य वह देख पाता है।

भारत का यही गुण है, इसलिए किसी समाज को हम अपना विरोधी समझकर भयभीत नहीं होंगे। प्रत्येक नये संघात से अन्ततः हम अपने विस्तार की ही प्रत्याशा करेंगे। हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और ईसाई भारत की भूमि पर युद्ध करके मरेंगे नहीं; यहाँ वे सामंजस्य ढूँढ़ सकेंगे। वह सामंजस्य अहिन्दू नहीं, बल्कि विशेष रूप से हिन्दू होगा। उसके अंग-प्रत्यंग चाहे देश-विदेश के हों, उसका प्राण, उसकी आत्मा भारतीय होगी।

यदि हम भारत के इस विधाता-निर्दिष्ट नियोग को स्मरण करें, तो हमारी लज्जा दूर होगी, लक्ष्य स्थिर होगा; भारत में जो मृत्युहीन शक्ति है उसका संधान हमें मिलेगा। हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि योरोपीय ज्ञान-विज्ञान को हमे सदा छात्र की तरह नहीं ग्रहण करना है। ज्ञान-विज्ञान के सभी पंथों को भारत-सरस्वती एक ही शतदलपद्म में विकसित करेगी, उसकी खंडितावस्था दूर करेगी। हमारे भारतीय मनीषी डॉक्टर जगदीशचन्द्र ने वस्तुतत्त्व, उद्भिदतत्त्व और जन्तुतत्त्व को एक ही क्षेत्र की सीमाओं में लाने का प्रयत्न किया है। हो सकता है, किसी दिन मनस्तत्त्व को भी वे इन्हीं के बीच लाकर खड़ा कर दें। यह ऐक्य-साधन ही भारतीय प्रतिभा का मुख्य कार्य है। भारत किसी का त्याग करने के, किसी को दूर रखने के पक्ष में नहीं है। वह एक दिन इस विवादरत व्यवधान-संकुल पृथ्वी के सामने ऐक्य-पथ रखेगा जिसके द्वारा सबको स्वीकार और ग्रहण किया जा सके, विराट् ऐक्य के बीच सबकी अपनी-अपनी प्रतिष्ठा उपलब्ध की जा सके।

उस महान् क्षण के आने से पहले 'एक बार तुम सब माँ कहकर पुकारो,' भारतमाता प्रत्येक को अपने पास बुलाने के लिए, अनैक्य को मिटाने के लिए सबकी रक्षा करने के लिए सर्वदा व्यस्त है। उसने अपने चिरसंचित ज्ञानधर्म को विविध रूपों से, विविध अवसरों पर, हम सबके अन्तःकरण में संचारित किया है और हमारे चित्त को पराधीनता की अँधेरी रात में विनाश से बचाया है। ऐसी माता को मदोद्धत धनिक की यज्ञशाला के एक कोने में स्थान दिलाने के लिए प्राणपण से यत्न करो! देश के बीचोंबीच, सन्तानों से परिवेष्टित यज्ञशाला में, माता को प्रत्यक्ष

रूप से उपलब्ध करो। जननी के जीर्णगृह का क्या हम संस्कार नहीं कर सकेंगे? कहीं साहब का बिल चुकाने में हमें परेशानी न हो, कहीं हमारे आडम्बर में कोई कमी न रह जाय, इस विचार से क्या हम माता की भोजन-व्यवस्था दूसरे की पाकशाला के द्वार पर करेंगे—उस माता की भोजन-व्यवस्था, जो स्वयं किसी दिन अन्नपूर्णा थी।

हमारे देश ने तो एक दिन धन को तुच्छ समझा था, दारिद्र्य को शोभनीय तथा महिमान्वित करना सीखा था। आज क्या हम धन के सामने साष्टांग धूलिलुंठित होकर स्वधर्म का अपमान करेंगे? क्या आज फिर हम अपनी पवित्र, संयत, स्वल्पोपकरण जीवन-यात्रा ग्रहण करके तपस्विनी जननी की सेवा में नियुक्त न हो सकेंगे? हमारे देश में केले के पत्ते पर खाना कभी लज्जास्पद नहीं माना गया। अकेले-अकेले खाने में ही हमें सदा लज्जा का बोध हुआ। क्या वह लज्जाबोध हमें फिर से नहीं होगा? क्या आज हम सारे देश की ख़ातिर अपने किसी आराम या आडंबर का परित्याग नहीं करेंगे? जो हमारे लिए किसी दिन सहज था वह क्या आज असाध्य है? कदापि नहीं। आत्यंतिक दुःख के समय भी भारत का निःशब्द, प्रकाण्ड प्रभाव धैर्यपूर्वक विजयी हो सका है। मुझे विश्वास है कि हमारी चार दिन की मुखस्थ विद्या उस चिरंतन प्रभाव का उल्लंघन नहीं कर सकेगी। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि भारतवर्ष का गम्भीर आह्वान हमारे हृदय की गहराइयों में ध्वनित हो रहा है। हम धीरे-धीरे, अनजाने ही, उसी भारत की ओर जा रहे हैं। आज जहाँ रास्ता हमारे मंगल दीपोज्ज्वल-गृह की ओर चला गया है वहीं खड़े होकर 'एक बार तुम सब माँ कहकर पुकारो!', एक बार स्वीकार करो, माता की सेवा अपने हाथ से करने के लिए आज हम प्रस्तुत हैं; एक बार स्वीकार करो, देश के लिए पूजा का नैवेद्य हम प्रतिदिन उत्सर्ग करेंगे; एक बार प्रतिज्ञा करो, जन्म-भूमि के कल्याण को पराये के हाथ बेचकर हम निश्चिन्त मन से अधःपात की सीढ़ियाँ उतरते-उतरते चरम लांछन के गढ़े में नहीं पहुँचेंगे।

[प्रथम बंग-भंग के समय मिनर्वा थियेटर हॉल में २२ जुलाई, १९०४ को पठित लेख। पुनः ३१ जुलाई को कर्ज़न थियेटर में पठित। बंग-भंग १६ अक्तूबर, १९०५ को हुआ। लेख के परिशिष्ट के रूप में प्रथम रचनात्मक कार्यक्रम का समावेश हुआ।]

२०

स्वराज-साधन

हमारे देश में विज्ञ लोग संस्कृत भाषा में उपदेश दे गये हैं कि 'जो चाहो सो कहो, लेकिन लिखो मत।' मैं यह उपदेश नहीं मानता, इस बात का यथेष्ट प्रमाण है। किसी हद तक मैंने यह उपदेश माना भी है—लेकिन केवल उत्तर लिखने के सम्बन्ध में। जो मुझे कहना है कह जाता हूँ लेकिन जब विरोध में कुछ लिखा जाता है मैं कलम को रोक देता हूँ। छन्द और गद्य के जितने प्रकार हैं, सबका मुझ पर असर हुआ है—केवल उत्तर-लेखन की विद्या मुझे कभी प्रभावित न कर सकी।

हमारे पास 'मत' नाम की जो चीज़ होती है वह अधिकतर विशुद्ध युक्तिवाद पर आधारित नहीं होती—उसका एक बड़ा हिस्सा हमारे मिज़ाज पर निर्भर होता है। तर्क की प्रेरणा से विश्वास का उत्पन्न होना कम देखने में आता है—अधिकतर क्षेत्रों में विश्वास पहले होता है, तर्क बाद में प्रस्तुत किया जाता है। केवल वैज्ञानिक मत शुद्ध प्रमाण-पथ पर चलकर सिद्धान्त तक पहुँचता है—दूसरे प्रकार का मत राग-विराग के आकर्षण से व्यक्तिगत इच्छा की ही प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

यह बात और भी अधिक सत्य होती है जब मत की प्रतिष्ठा फल-लोभ पर हो, और जब वह लोभ बहुसंख्यक लोगों के मन पर अधिकार कर ले। बहुत-से लोगों के लोभ को उत्तेजित करके उन्हें किसी पथ पर प्रवृत्त करने में युक्ति आवश्यक नहीं होती—पथ सहज होना चाहिए, और शीघ्र ही फल-लाभ मिलने की आशा होनी चाहिए। कुछ दिन से देश के मन को इस बात का खुमार है कि स्वराज आसानी से मिल सकता है, और शीघ्र मिल सकता है। जनता के मन की जब ऐसी अवस्था हो, इस विषय में किसी प्रश्न पर वाद-प्रतिवाद या उत्तर-प्रत्युत्तर छेड़ने से केवल शब्दों का 'साइक्लोन' उत्पन्न होता है—और इस 'साइक्लोन' की हवा में पाल फैलाकर किसी मत को किसी बन्दरगाह तक पहुँचाना कठिन है। बहुत दिनों तक हमारी धारणा थी कि स्वराज-प्राप्ति दुर्लभ है, आज सुना जाता है वह बिलकुल सहज और थोड़े-से समय में सम्भव है। इस सम्बन्ध में प्रश्न पूछने या विचार करने की ओर लोगों की रुचि नहीं है। ताँबे के पैसे को संन्यासी सोने की मुहर बना सकता है, इस बात से जो लोग उत्तेजित होते हैं वो बुद्धिहीन नहीं होते, बल्कि लोभ में पड़कर बुद्धि का उपयोग नहीं करना चाहते।

कुछ दिन हुए, लोग इस धारणा से उत्तेजित हुए थे कि स्वराज बिलकुल पास आ पहुँचा है। लेकिन जब मियाद पूरी हुई और स्वराज नहीं मिला तो यह कहा गया कि हमने अपनी शर्त पूरी नहीं की इसीलिए हम स्वराज से वंचित रह गये हैं। बहुत कम लोगों ने शांतिपूर्वक यह सोचा कि शर्त पूरी करना ही तो हमारी समस्या है। 'स्वराज पाने की शर्त का हमने पालन नहीं किया

इसीलिए हम नहीं मिला', यह बात तो स्वतःसिद्ध है। हिन्दू-मुसलमान यदि आत्मीयता के भाव से आपस में मिल जायँ तो स्वराज-प्राप्ति की सीढ़ी तैयार होगी, यह कहना अनावश्यक है। मुश्किल तो यह है कि हिन्दू-मुसलमानों का मिलन नहीं हुआ—यदि होता तो वर्ष में जो ३६५ दिन हैं सब-के-सब शुभ दिन होते। यह बात सच है कि पंचांग में किसी विशेष दिन को स्वराज-प्राप्ति के लिए स्थित करने से मन को नशा-सा होता जाता है—लेकिन केवल नशा हो जाने पर ही पथ सहज नहीं हो जाता।

कैलेण्डर में स्थिर किया हुआ दिन कब का बीत चुका, लेकिन अभी तक नशा दूर नहीं हुआ। नशे का विषय यह है कि स्वराज्य-साधन को सहज-साधन समझ लिया गया है। इसके केवल एक या दो संकीर्ण मार्ग हैं। इस मार्ग के अन्तर्गत ही चर्खा भी है।

यह प्रश्न पूछना पड़ता है, स्वराज आख़िर क्या चीज़ है? हमारे देश के नेताओं ने स्वराज की स्पष्ट व्याख्या नहीं की। 'स्वाधीनता' शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है। अपने चर्खे पर अपने लिए सूत कातने की स्वाधीनता हमारे पास है—यदि हम नहीं कातते तो इसका कारण यह है कि चर्खे का सूत मशीन के सूत की बराबरी नहीं कर सकता। शायद बराबरी कर भी सकेगा, यदि भारत के कोटि-कोटि लोग अपना अवकाश-काल सूत कातने में बितायें,जिससे चर्खे के सूत का दाम कम हो जाय। लेकिन यह सम्भव नहीं है, जैसा कि बात से सिद्ध होता है कि इस बंगाल में जो लोग चर्खे के पक्ष में कलम चलाते हैं उनमें से अधिकतर चर्खा नहीं चलाते।

दूसरी बात यह है कि देश में सब लोग मिलकर यदि चर्खा चलायें तो इससे आर्थिक कठिनाई कुछ कम हो सकती है, लेकिन यह भी स्वराज नहीं है। कुछ लोग कहते हैं, नहीं है तो नहीं हो! धन तो मिलेगा। दरिद्र के लिए यही क्या कम है? देश के किसान अपना अवकाश-काल बेकार गँवा देते हैं—यदि वे सूत कातने लगें तो उनका दैन्य बहुत-कुछ दूर होगा।

मान लिया कि यह एक विशेष समस्या है। किसानों के ख़ाली समय को काम में लाना होगा। लेकिन बात उतनी आसान नहीं है जितनी सुनने में लगती है। यदि इस समस्या के समाधान का भार लेना है तो बुद्धि की दुरूह साधना आवश्यक है। इतना ही कह देने से काम नहीं चलेगा कि 'उन्हें चर्खा चलाना चाहिए।'

किसान ने खेती के निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने मन और देह को एक विशेष प्रवणता दी है। उसके लिए खेती का मार्ग ही सहज मार्ग है। जब वह खेती करता है तभी काम करता है, जब खेती नहीं करता तब काम नहीं करता। आलस्यवश काम नहीं करता, यह दोष उस पर नहीं लगाया जा सकता। यदि साल-भर खेती चल सकती तो वह साल-भर काम करता।

खेती-जैसे शारीरिक श्रम की प्रकृति यह है कि उससे मन निश्चेष्ट हो जाता है—सक्रियता के अभाव से। एक अभ्यस्त कार्य से किसी भिन्न प्रकार के कार्य तक पहुँचने के लिए मन को सक्रिय होना पड़ता है। लेकिन खेती-मजदूरी का काम लाइन में बँधा हुआ काम है। वह ट्राम-गाड़ी की तरह चलता है। हज़ार कोशिश करने पर भी लाइन के बाहर नये पथ पर वह नहीं चल सकता। किसान को खेती के बाहर कोई काम करने के लिए कहा जाय तो उसका मन 'डिरेल' हो जाता है। उसे ज़बरदस्ती काम में लगाया जा सकता है, लेकिन ऐसा करने से शक्ति का अपव्यय होगा।

बंगाल के दो ज़िलों के किसानों से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अभ्यास का बन्धन उनके लिए कितना कठिन है इसकी मुझे अभिज्ञता है। इन दो ज़िलों में से एक ऐसा है जहाँ एक ही फ़सल होती है। चावल उत्पादन करने के लिए किसान अत्यन्त कठिन परिश्रम करते हैं। उसके बाद अपने घर के अहाते में वे सब्ज़ियाँ भी उगा सकते थे। मैंने बहुत प्रोत्साहन दिया, लेकिन कोई फल नहीं मिला। जो लोग धान की खेती के लिए प्राण की बाज़ी लगा सकते हैं वही लोग सब्ज़ी उगाने के लिए हाथ-पाँव हिलाना तक नहीं चाहते। धान की लाइन से सब्ज़ी की लाइन तक उनके मन को ले जाना कठिन है।

दूसरे ज़िले में किसान चावल, सरसों, गन्ना, पटसन सभी कुछ उगाते हैं। लेकिन जहाँ ये चीजें आसानी से नहीं होतीं, वहाँ वह ज़मीन बेकार पड़ी रहती है। हर साल पश्चिमी ज़िलों से लोग आकर इस ज़मीन में तरबूज, खरबूजे, ककड़ी वगैरा की खेती करते हैं और काफ़ी लाभ प्राप्त करके लौट जाते हैं। लेकिन स्थानिक किसान इस अनभ्यस्त खेती से लाभ उठाना नहीं चाहते। उनका मन उधर नहीं झुकता। जो किसान केवल पटसन की ही खेती करता है उसे यह कहकर बदनाम नहीं किया जा सकता कि वह स्वभावतः आलसी है। सुना है पृथ्वी पर और भी ऐसे स्थान हैं जहाँ पटसन पैदा करना कठिन नहीं है, लेकिन वहाँ के लोग पटसन उगाने का दुःसाध्य कष्ट स्वीकार नहीं करते। बंगाल को यदि पटसन पर एकाधिकार है तो इसका श्रेय केवल यहाँ की ज़मीन को ही नहीं है, यहाँ के किसान को भी है। फिर भी मैंने देखा है कि यही किसान दूसरों को बालू में तरबूज की लाभदायक खेती करते हुए देखकर भी, स्वयं उस अनभ्यस्त मार्ग पर जाना नहीं चाहता।

जब हम किसी समस्या का विचार करते हैं तो हमें इस बात पर ध्यान देना होता है कि मनुष्य के मन को एक पथ से दूसरे पथ पर किस तरह ले जाया जा सकता है। मैं नहीं सोचता कि किसी सहज उपाय से, बाह्य रूप से समझा-बुझाकर, काम निकल सकेगा। पहले तो मानव-मन से निपटना है। 'हिन्दू-मुसलमान मिल जायँ।'—यह फ़रमान बाहर से जारी करना कठिन नहीं है। इस सम्बन्ध में हिन्दू ख़िलाफ़त-आन्दोलन में योग दे सकते हैं—इस तरह का योगदान सहज है। यही नहीं, अपनी आर्थिक सुविधाओं का भी वे मुसलमानों के लिए किसी हद तक त्याग कर सकते हैं; यह मुश्किल अवश्य है, परन्तु फिर भी 'एह बाह्य'। लेकिन हिन्दू-मुसलमानों के मिलन की खातिर अपने-अपने मन के चिरागत संस्कार बदलना सहज नहीं है। समस्या वहीं विकट हो जाती है। हिन्दू के लिए मुसलमान अपवित्र है, मुसलमान की दृष्टि में हिन्दू काफ़िर। यह बात दोनों में से कोई पक्ष, स्वराज-प्राप्ति के लोभ से भी, भूल नहीं सकता।

मैं अंग्रेज़ी भाषा के एक पंडित को जानता था, जिसे होटल में जाकर खाना खाने का बड़ा शौक़ था। वह और सब चीज़ें तो रुचिपूर्वक खाता था, लेकिन 'ग्रेट ईस्टर्न होटल' में पकाये चावल छोड़ देता था—कहता था: 'मुसलमान के हाथों से बने चावल किसी तरह गले से नहीं उतरते।' जिस संस्कारगत कारण से भात खाने में रुकावट है, उसी कारण से मुसलमान के साथ अच्छी तरह मिलने-जुलने में भी रुकावट होगी। धर्म-नियम के आदेश को लेकर हमारे मन में जो अभ्यास अन्तर्निहित है; उन्हीं अभ्यासों के बीच हिन्दू-मुलसमान-विरोध ने अपना दुर्ग बनाया है। ख़िलाफत का समर्थन या आर्थिक त्याग उस दुर्ग के अन्दर नहीं पहुँचा।

हमारे देश की ये समस्याएँ आन्तरिक हैं, इसीलिए इतनी दुरूह हैं। बाधा तो हमारे मन में है, जब उसको दूर करने की बात उठती है तो हमारा मन विद्रोह करता है। इसीलिए जब कोई अत्यन्त सहज बाह्यप्रणाली सामने आती है तो हम छुटकारा पाते हैं। जिसका अन्तःकरण धन कमाने का उचित मार्ग स्वीकार नहीं कर पाता वही आदमी जुआ खेलकर रातों-रात अमीर होने की दुराशा को स्थान देता है, और इसके लिए अपना सर्वनाश करने को भी प्रस्तुत होता है।

यदि वास्तव में साधारण लोगों की दृष्टि में चरखा चलाना ही स्वराज-साधन का प्रधान अंग है, तब तो मानना पड़ेगा कि जनसाधारण के लिए स्वराज एक बाह्य फल-लाभ है। देश की मंगल-साधना में जो चरित्रगत और सामाजिक प्रथागत बाधाएँ हैं, उनसे हमारा ध्यान हट जाता है और चर्खे पर केन्द्रित हो जाता है। इससे लोग विस्मित नहीं होते, बल्कि आराम पाते हैं। ऐसी अवस्था में यही मान लिया जाय कि यदि किसान अपना अवकाश-काल लाभदायक कार्य में व्यतीत करें तो स्वराज के रास्ते की एक मुख्य बाधा दूर होगी। और यह भी मान लिया जाय कि इस तरह का बाह्य व्यवहार ही आज देश के सामने सबसे अधिक महत्वपूर्ण चिंतनीय विषय है।

देशनायकों को सोचना होगा कि किसानों के ख़ाली समय का सम्यक् रूप से कैसे उपयोग किया जाय। यह कहना न होगा कि उसे खेती के काम में लगना ही सही रास्ता है। मुझे यदि कठिन दैन्यसंकट झेलना पड़े तो मेरे हितैषियों और परामर्शदाताओं को सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना ही होगा कि मैं दीर्घकाल तक साहित्य-रचना करता आया हूँ, उसी का मुझे अभ्यास है। यदि उन्हें मेरा उपकार करना है तो वे इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते, चाहे वाक्-व्यवसाय के प्रति उन्हें श्रद्धा न हो। हो सकता है, वे हिसाब लगाकर मुझे दिखा सकें कि यदि मैं कॉलिज के पास छात्रों के लिए चाय की एक दुकान खोलूँ तो मुझे पंद्रह प्रतिशत मुनाफ़ा मिलेगा। हिसाब से यदि मानव-मन को अलग रख दिया जाय तो मुनाफ़े के आँकड़े को बढ़ाकर दिखाना आसान है। चाय की दुकान करके मेरा सर्वस्व समाप्त होगा—इसलिए नहीं कि योग्य चाय वाले से मेरी बुद्धि कम है, बल्कि इसलिए कि मेरा मन चाय वाले के मन-जैसा नहीं है। यदि मेरे हितैषी मित्र मुझसे डिटेक्टिव-कहानियाँ या स्कूल-कॉलेज के पाठ्य विषयों पर 'नोट्स' लिखने की सलाह दें, तो शायद मेरे लिए यह चेष्टा बिलकुल ही असंभव न हो। मेरा विश्वास है, चाय की दुकान खोलने की अपेक्षा इसमें मेरे सर्वनाश की आशंका कुछ कम है। लाभ के विषय में संदेह हो सकता है, लेकिन यह तो निश्चित है कि किसी साहित्यिक के मन को काव्य की लाइन से हटाकर डिटेक्टिव-कहानी की लाइन पर ले जाना दुःसाध्य नहीं है।

ज़िन्दगी-भर किसान के देह-मन को जो अभ्यास मिला है और जो शिक्षा मिली है उससे अचानक हटाकर उसे सुखी या धनी बनाना सहज नहीं। पहले ही कह चुका हूँ, जिसमें मनोयोग कम हो वह सामान्य नूतनत्व को भी सहन नहीं कर सकता। अपने प्लान की सरलता के आकर्षण से यदि इस नियम का ज़बरदस्ती उल्लंघन किया गया तो मनस्तत्त्व ज्यों-का-त्यों रहेगा और प्लान की भी क्षति होगी।

दूसरे कृषि-प्रधान देशों में यह प्रयास चल रहा है कि किसान को खेती के ही मार्ग पर उत्तरोत्तर अधिक सफलता दिलाई जाय। वहाँ वैज्ञानिक बुद्धि के प्रयोग से मनुष्य खेती को उन्नत कर रहा है। यदि हमारे देश के साथ तुलना की जाय तो हम देखते हैं कि वहाँ की ज़मीन में यहाँ

से दुगुनी-चौगुनी फ़सल उत्पन्न होती है। यह ज्ञानालोकित पथ सहज पथ नहीं, सत्य-पथ है। इस पथ के आविष्कार में मनुष्यत्व प्रमाणित होता है। खेती के उत्कर्ष द्वारा किसान के उद्यम को पूर्णतया सार्थक करने के बदले उसे चर्खा घुमाने का आदेश देने से शक्तिहीनता का परिचय मिलता है। हम किसान को आलसी कहकर दोष देते हैं, लेकिन जब अपनी अवस्था की उन्नति-साधना के लिए चर्खा चलाने की सलाह देते हैं तो हमारा ही मानसिक आलस्य प्रमाणित होता है।

अब तक जो कहा गया वह मैंने इस बात को मानकर कहा है कि सूत और खद्दर का देश में पड़े पैमान पर उत्पादन होने से श्रमिकों के एक दल का अर्थ-कष्ट दूर होगा। लेकिन यह भी बिना प्रमाण के मानी हुई बात है। इस सम्बन्ध में जिन्हें अभिज्ञता है वे इस पर सन्देह भी कर सकते हैं, मेरे-जैसे अनाड़ी को इस बहस में नहीं पड़ना चाहिए। मेरी शिकायत केवल यही है कि स्वराज के साथ चर्खे को जोड़कर स्वराज के बारे में जनसाधारण की बुद्धि को विभ्रान्त किया जाता है।

देश-कल्याण की धारणा से हमारा क्या अर्थ है, इस बात को स्पष्ट करना आवश्यक है। इस धारणा को अत्यन्त संकीर्ण और बाह्य बनाने से हमारी शक्ति में छोटापन आ जाता है। मन के ऊपर जो दायित्व है उसे घटा देने से मन आलसी और निर्जीव हो जाता है। देश की कल्याण-साधना में चर्खे को प्रधान स्थान देना मन की अवमानना करना है, उसे निश्चेष्ट बनाना है। देश-कल्याण का विश्व-रूप मन के सामने उज्ज्वल किया जाय तो लोगों की शक्ति-धारा उसकी ओर जाने का पथ हृदय और बुद्धि द्वारा तैयार कर सकेगी। यदि देश-कल्याण का रूप छोटा हो तो हमारी साधना भी छोटी होगी। दुनिया में जिन्होंने देश और मानवजाति के लिए दुःसाध्य त्याग स्वीकार किया है उन्होंने देश और मानव की कल्याण छवि को उज्ज्वल आलोक द्वारा, ध्यान-मग्न नेत्रों से, विराट् रूप में देखा है। यदि हम मनुष्य से त्याग चाहते हैं तो उस ध्यान की सहायता करनी होगी। सूत और खद्दर के ढेर का चित्र देश-कल्याण का विशाल चित्र नहीं है। यह हिसाब करनेवालों का चित्र है—यह उस अपरिमित शक्ति को नहीं जगा सकता जो बृहत्-उपलब्धि के आनन्द की ख़ातिर केवल दुःख और मृत्यु को स्वीकार करने के लिए ही प्रस्तुत नहीं है, वरन् विरोध और व्यर्थता से भी विचलित नहीं होती।

शिशु आनन्द से भाषा सीखता है, क्योंकि वह अपने माँ-बाप के मुख से भाषा का समग्र रूप प्राप्त करता है। जब वह स्पष्ट समझ नहीं पाता उस समय भी यह रूप उसे आकर्षित करता है। इस प्रकाशन के पूर्णता-लाभ के लिए उसकी आनन्दमय चेष्टा सर्वदा जागृत रहती है। शिशु-मन को घेरकर यदि यह परिपूर्ण भाषा न विराजती, यदि उसके चारों ओर व्याकरण के सूत्र ही घूमते रहते, तो बेंत के प्रहार से रुलाकर शिशु को मातृभाषा सिखानी पड़ती—और फिर भी उसे सीखने में बहुत समय लगता।

इसीलिए मैं सोचता हूँ कि यदि देश को सत्य भाव से स्वराज-साधना की दीक्षा देनी है तो स्वराज की समग्र मूर्ति को प्रत्यक्ष रूप से गोचर कराने का प्रयत्न आवश्यक है। मैं यह नहीं कहता कि थोड़े से ही समय में इस मूर्ति का आकार बहुत बड़ा हो सकेगा—लेकिन यह माँग तो की जा सकती है कि वह संपूर्ण हो, सत्य हो। प्राणमय वस्तु की परिणति पहले से ही समग्रता का रास्ता पकड़कर होती है। ऐसा न होता तो शिशु केवल पैर का अँगूठा बनकर जन्म लेता, धीरे-धीरे

बढ़कर जाँघ समेत पाँव बनता, और उन्नीस-बीस वर्ष की अवस्था तक उसका पूरा मानवीय देह दिखाई पड़ता। शिशु की समग्रता का आदर्श पहले से ही है, इसीलिए हम उसके जीवन से इतना आनन्द प्राप्त करते हैं। इस आनन्द के लिए शिशु के पोषण का कठिन दुःख माँ-बाप स्वीकार कर लेते हैं। यदि केवल पैर बनकर ही उसे चार-पाँच वर्ष बिताने पड़ते, तो आंशिकता का दासत्व असह्य हो उठता।

ऐसी ही दशा हमारी भी होगी यदि स्वराज को एक लम्बे प्राथमिक काल में हम केवल चर्खे से कते हुए सूत के आकार में देखें। इस तरह की अन्ध-साधना में महात्मा गाँधी-जैसे व्यक्ति कुछ दिनों तक देश के एक वर्ग के लोगों को प्रवृत्त कर भी सकते हैं, क्योंकि उनकी व्यक्तिगत महानता पर लोगों की श्रद्धा है। उनका आदेश पालन करने को ही बहुत-से लोग फल-लाभ मानते हैं। मैं सोचता हूँ, इस तरह की मति स्वराज-लाभ के लिए अनुकूल नहीं है।

स्वदेश के दायित्व को केवल सूत कातकर नहीं बल्कि सम्यक् भाव से ग्रहण करने की साधना को छोटे-छोटे आकार में देश के विविध स्थानों पर प्रतिष्ठित करना मैं आवश्यक समझता हूँ। जनसाधारण का मंगल बहुत-सी बातों के समन्वय से ही होता है। इन बातों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है, इनमें से किसी एक को पृथक् करने से फल-लाभ असम्भव है। स्वास्थ्य, बुद्धि, ज्ञान, कर्म और आनन्द के साथ यदि हम मनुष्य के किसी विशेष कल्याण को मिला सकें, तभी वह पूर्ण रूप से कल्याणप्रद हो उठता है। स्वदेश-कल्याण के रूप को हम अपनी आँखों से देखना चाहते हैं। ऐसे प्रत्यक्षीकरण से सहस्रों उपदेशों की अपेक्षा अधिक काम निकल सकता है। जहाँ-जहाँ जनसाधारण के कल्याण का दायित्व किसी-न-किसी रूप में ग्रहण करके एक स्वस्थ, श्रीसम्पन्न प्राणधारा प्रवाहित की गयी है, वहाँ की सफलताओं के दृष्टान्त लोगों के सामने रखने होंगे। सिर्फ़ सूत कातकर, खद्दर पहनकर और उपदेश सुनाकर स्वराज का अर्थ हम किसी को समझा नहीं सकेंगे। जो चीज़ हम सारे भारत के लिए चाहते हैं उसे यदि देश के किसी छोटे अंश में भी स्पष्ट रूप से देख सकें तो उसकी सार्थकता के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होगी। आत्म-निर्भरता का मूल्य हम समझ सकेंगे—'न मेधया न बहुना श्रुतेन', साक्षात् दर्शन करके हम उसे समझेंगे। भारत के गाँव में भी यदि लोग आत्म-शक्ति द्वारा सारे गाँव को पूरी तरह अपना सकें तो देश के वास्तविक स्वदेश रूप-लाभ करने का काम आरम्भ होगा। जीवित प्राणी किसी विशेष स्थान पर जन्म ग्रहण करता है, लेकिन इसी से वह स्थान उसका नहीं हो जाता। मनुष्य अपने देश की सृष्टि स्वयं करता है। इस सृष्टि में और उसकी रक्षा के कार्य में देशवासियों में परस्पर सम्बन्ध घनिष्ठ हो जाते हैं, और उन स्वनिर्मित देश को वे प्राण से भी अधिक चाहने लगते हैं। लेकिन हमारे यहाँ मनुष्य देश में केवल जन्म ग्रहण करता है, देश की सृष्टि नहीं करता। इसलिए लोगों के परस्पर मिलन का कोई गम्भीर आधार नहीं है, देश के अनिष्ट से प्रत्येक व्यक्ति को अनिष्ट बोध नहीं होता। देश की सृष्टि करते हुए ही देश को उपलब्ध करने की साधना हमें शुरू करनी होगी। इस सृष्टि-कार्य में मानव की वैचित्र्यपूर्ण शक्ति आवश्यक है। विविध मार्गों से एक लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई शक्ति के प्रयोग द्वारा ही हम अपने-आपको देश के बीच उपलब्ध करते हैं। देश-सृष्टि की इस साधना को धीरे-धीरे दूर तक प्रसारित करके ही हमें फल मिल सकता है। इस उद्योग की हम यदि उपेक्षा करें—केवल इसलिए कि इसका आयतन छोटा है—तो गीता के

ये शब्द ध्यान में रखने उचित होंगे: 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' सत्य का बल आयतन में नहीं, स्वयं अपने में होता है।

सम्मिलित आत्मकर्तृत्व का परिचय और उसके विषय में गौरव-बोध यदि जन-साधारण में व्याप्त हो, तो इस पक्की बुनियाद पर स्वराज्य सत्य हो उठेगा। गाँव-गाँव में इस आत्मकर्तृत्व का जब तक अभाव है तब तक देश की जन-संगठन में जो चित्तदैन्य है उससे ऊपर उठकर किसी बाह्य अनुष्ठान के ज़ोर से स्वराज स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मकर्तृत्व का अभाव ही अन्न, शिक्षा, स्वास्थ्य, ज्ञान और आनन्द के अभाव का मूल कारण है। अंग्रेज़ी में कहावत है, सिद्धि ही सिद्धि को आकर्षित करती है, उसी तरह स्वराज ही स्वराज को बुला लाता है। विश्व में विधाता का जो अधिकार है, वही है उसका स्वराज, अर्थात् विश्व की सृष्टि करने का अधिकार। हमारा स्वराज भी वैसा ही है। अर्थात् अपने देश को स्वयं निर्माण करने का अधिकार। सृष्टि से ही वह प्रमाणित होता है। उसका उत्कर्ष साधन होता है। हम जीवित रहते हैं, तभी यह बात प्रमाणित होती है कि हमारे पास प्राण है। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि सूत कातना भी सृष्टि है। लेकिन चर्खा घुमाने से मनुष्य चर्खे का ही अंग बन जाता है, वही करता है जो मशीन से भी किया जा सकता है। यन्त्र के पास मन नहीं है, इसीलिए वह एकाकी है, अपने से बाहर उसका कुछ भी नहीं। इसी तरह सूत कातता हुआ आदमी अकेला है—उमके चर्खे का सूत किसी और के साथ उसका योग नहीं कराता। उसके लिए यह जानने की ज़रूरत ही नहीं है कि उसका कोई पड़ोसी भी है। रेशम का कीड़ा जिस तरह अपने चारों ओर रेशम के धागे बुनता रहता है वैसा ही काम चर्खा चलाने का है। वह यंत्र है—एकाकी, विच्छिन्न। जब कोई कांग्रेस-सदस्य सूत कातता है, वह साथ-साथ देश के आर्थिक स्वगराज का ध्यान भी कर सकता है; लेकिन इस ध्यानमंत्र की दीक्षा जो उसे किसी अन्य उपाय से मिली है, चर्खे में उस मंत्र का बीज नहीं है। इसके विपरीत जो व्यक्ति गाँव से महामारी दूर करने के उद्योग में व्यस्त है वह यदि दुर्भाग्य से बिलकुल अकेला हो तब भी उसके कार्य के आदि-अन्त से समस्त गाँव की चिन्ता का संयोग है। इस कार्य द्वारा ही वह अपने-आपमें सारे गाँव को उपलब्ध करता है। ग्राम की सृष्टि में ही उसका सज्ञान आनन्द है। उसी के काम में स्वराज-साधना का वास्तविक आरम्भ है। बाद में यदि उस व्यक्ति के काम में गाँव के सभी लोग योगदान करे तो यह दिखाई देगा कि अपनी सृष्टि करके ही गाँव अपने-आपको यथार्थ रूप में प्राप्त करने की दिशा मे अग्रसर हो रहा है—इस प्राप्ति को ही स्वराज-लाभ कहते हैं; परिणाम मे कम होने पर भी यह सत्य मे कम नहीं है। सौ प्रतिशत लाभ न सही, एक प्रतिशत लाभ तो अवश्य होगा, और यह लाभ सौ प्रतिशत लाभ का सगोत्र है, बल्कि सहोदर है। जिस गॉव के लोग शिक्षा-स्वास्थ्य-अन्नोपार्जन में हॅसी-खुशी मिल-जुलकर काम करते हैं वह गांव सारे भारत के स्वराज-लाभ के पथ पर दीप जलाता है। एक दीप से दूसरे दीप की शिखा को जलाना कठिन नहीं। स्वराज स्वयं अपने-आपको बढ़ायेगा—चर्खे की यान्त्रिक प्रदक्षिणा के मार्ग पर नहीं, प्राण की आत्म-प्रवृत्त समग्र वृद्धि के मार्ग पर।

[दक्षिण अमरीका की यात्रा के उपरान्त लिखित। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम समस्या गहन होती जा रही थी। रवीन्द्रनाथ का कहना था कि गाँधीजी का चर्खा-कार्यक्रम समस्या को हल नहीं कर सकेगा। 'सबुज पत्र' (कार्तिक १३३२ अक्तूबर १९२५ में 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित।]

२१

सभ्यता का संकट

आज मेरे जीवन के अस्सी वर्ष पूर्ण हुए। अपने जीवन-क्षेत्र का दीर्घ विस्तार आज मेरे सामने आता है। जिस तट से जीवन आरम्भ हुआ था उसे आज दूसरे तट से देखता हूँ— निर्लिप्त दृष्टि से देखता हूँ—और अनुभव करता हूँ कि मेरी और समस्त देश की मनोवृत्ति में जो परिणति हुई है उसमें विच्छिन्नता है, द्विखण्डिता है। इस विच्छिन्नता से बड़ा दुःख होता है।

वृहत् मानव-संसार के साथ हमारा प्रत्यक्ष परिचय अंग्रेज़-जाति के तत्कालीन इतिहास से शुरू हुआ। भारत में आये हुए इस आगंतुक के चरित्र को हमने एक महान् साहित्य के उच्च शिखर पर देखा। उन दिनों हमारे विद्यार्जन की सामग्री में न प्राचुर्य था, न वैचित्र्य। आजकल विद्या और ज्ञान के विविध केन्द्रों में विश्व-प्रकृति का परिचय मिलता है, उसकी शक्ति का रहस्य नयी-नयी दिशाओं से दृष्टिगोचर होता है। लेकिन इसमें से अधिकांश उन दिनों नेपथ्य में था। प्राकृतिक विज्ञानों में विशेषज्ञों की संख्या बहुत कम थी। अँग्रेज़ी भाषा सीखकर अग्रेजी साहित्य का ज्ञान प्राप्त करना—यही उस समय परिष्कृत मन की रसिकता और विद्वत्ता का लक्षण माना जाता था। बर्क के वक्तृत्व और मेकॉले के भाषा-प्रवाह की चर्चा दिन-रात सुनायी पड़ती थी। शेक्सपियर के नाटक, बायरन की कविता और तत्कालीन राजनीति में साधारण मानव की विजय-घोषणा—इन सब विषयों पर निरन्तर बहस चलती थी। देश की स्वाधीनता के लिए साधना आरम्भ हो चुकी थी, फिर भी मन-ही-मन हमें अँग्रेज़-जाति के औदार्य पर विश्वास था। यह विश्वास बहुत गहरा था, और देश के अनेक साधक यह समझते थे कि विजेताओं के सौजन्य से ही विजित देश का स्वातन्त्र्य-पथ प्रशस्त हो सकता है। इस भावना का कारण यह था कि किसी समय इंग्लैंड अत्याचार से पीड़ित लोगों का आश्रय-स्थान रह चुका था। जिन्होंने अपने देश के सम्मान के लिए जान की बाज़ी लगायी थी उन्होंने इंग्लैंड में ही अकुंठित होकर अपना आसन जमाया था। अंग्रेज़ों के चरित्र में मानवीय मैत्री का विशुद्ध रूप दिखायी पड़ा था। इसलिए हमने आन्तरिक श्रद्धा के साथ अग्रेजों को अपने हृदय में बड़ा ऊँचा स्थान दिया था। तब तक साम्राज्य-सुरा के उन्माद से उनके स्वभाव का दाक्षिण्य कलुषित नहीं हुआ था।

जब मैं पहले इंग्लैंड गया मेरी आयु बहुत कम थी। उस समय पार्लियामेंट में, और पार्लियामेंट के बाहर सभाओं में, जॉन ब्राइट के भाषण मैंने सुने। उनमें मुझे अंग्रेज़ों की चिरन्तन वाणी सुनायी पड़ी थी। संकीर्ण जातिगत सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए इन भाषणों ने हृदय को कैसे प्रभावित किया था, मुझे अब तक याद है। आज के इस दुर्दिन में भी वे स्मृतियाँ हैं। निश्चय ही यह पर-निर्भरता हमारे लिए गर्व की बात नहीं थी। लेकिन उसमें एक प्रशंसनीय अंश भी था। हमारे बदलते हुए युग की अनभिज्ञता के बावजूद मनुष्यत्व का महान् रूप हमने देखा

था, और यद्यपि यह रूप विदेशियों द्वारा अप्रकाशित हो रहा था फिर भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने की शक्ति हममें थी। इस सम्बन्ध में हमारे मन में कोई कुंठा नहीं थी। मानव में जो कुछ भी श्रेष्ठ है वह किसी देश के संकीर्ण दायरे में आबद्ध नहीं होता। वह ऐसी सम्पत्ति नहीं होती जो कृपण के भाण्डार में बन्द पड़ी हो। इसलिए जिस अंग्रेज़ी-साहित्य से उन दिनों हम लोगों के मन पुष्ट हुए थे उसका विजय-शंख आज भी मेरे अन्तर में निनादित होता है।

'सिविलज़ेशन' के लिए हम 'सभ्यता' शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन वास्तव में 'सिविलज़ेशन' का प्रतिशब्द हमारी भाषा में ढूँढ़ निकालना कठिन है। सभ्यता का जो रूप हमारे देश में प्रचलित था उसे मनु ने 'सदाचार' कहा। सामाजिक नियमों के बन्धन का ही वह दूसरा नाम था। इन नियमों के बारे में प्राचीन काल में जो धारणाएँ थीं वे भी एक संकीर्ण भूखण्ड तक सीमित थीं। सरस्वंती और दृशद्वती नदियों के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त ने नाम से प्रसिद्ध था, और वहाँ जो आचार-प्रणाली परम्परागत रूप से चली आ रही थी उसी को सदाचार कहा गया। इस आचार की दीवार प्रथा के ऊपर खड़ी थी, चाहे उस प्रथा में कितनी ही निष्ठुरता क्यों न हो, कितना ही अविचार क्यों न हो। इसीलिए प्रचलित संस्कार— जिनमें आचार-व्यवहार को ही प्राधान्य प्राप्त था—हमारे चित्त के स्वातंत्र्य का अपहरण कर चुके थे। सदाचार के जिस आदर्श को मनु के एक दिन ब्रह्मावर्त में प्रतिष्ठित देखा उसी आदर्श से लोकाचार को आश्रय मिला। मेरे जीवन के प्रारम्भिक काल में इस तरह के बाह्य आचार के विरुद्ध देश के शिक्षित लोगों में विद्रोह की भावना फैली थी : अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव ही इस भावना के पीछे था। यह बात उस विवरण को पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है जिसमें राजनारायण बाबू ने तत्कालीन शिक्षित संप्रदाय के व्यवहार का वर्णन किया है। अंग्रेज़ों के चरित्र से सम्बन्ध स्थापित करके इस सदाचार के बदले सभ्यता का आदर्श हमने ग्रहण किया था। न्याय-बुद्धि के अनुशासन से प्रेरित होकर हमारे परिवार ने, धर्म-मत और लोक-व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में, यह परिवर्तन पूर्ण रूप से स्वीकार किया था। इसी भाव के वातावरण में मेरा जन्म हुआ था। मेरे स्वाभाविक साहित्य-प्रेम ने भी अंग्रेज़ों को उच्चासन पर बिठाया। इस तरह जीवन का प्रथम भाग व्यतीत हुआ। उसके बाद जो अध्याय शुरू हुआ वह कठिन दुःख का अध्याय था। बार-बार मैंने देखा कि जो लोग चरित्र के मूल स्रोत से सभ्यता को ग्रहण करते हैं वे भी प्रतिद्वंद्वियों के सामने आते ही बड़ी आसानी से सभ्यता का अतिक्रमण कर सकते हैं।

एकान्त में किये गये साहित्य-रसभोग के वेष्टन से एक दिन मुझे बाहर आना पड़ा। उस दिन भारतीय जनता का दारुण और हृदय-विदारक दारिद्र्य मेरे सामने आया। खाने-पहनने के साधनों का और शिक्षा तथा आरोग्य की सुविधाओं का जैसा आत्यन्तिक अभाव भारत में है वैसा शायद पृथ्वी के किसी दूसरे ऐसे देश में न होगा जहाँ आधुनिक शासन-व्यवस्था विद्यमान है। फिर भी यही देश दीर्घकाल तक अंग्रेज़ो के ऐश्वर्य का संवर्धन करता आया है। जब मैं सभ्य जगत् की महिमा का एकान्त-चित्त से ध्यान करता था उस दिन कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सभ्य कहलानेवाले मानव-आदर्श का ऐसा निष्ठुर और विकृत रूप भी सम्भव है। अन्त में मैंने इसी विकृति के बीच कोटि-कोटि जन-साधारण से प्रति सभ्य देशों का असीम, अवज्ञापूर्ण औदासीन्य देखा।

यह निःसहाय देश उस यान्त्रिक शक्ति से वंचित है जिसके आधार पर अँग्रेज़ अपने विश्वव्यापी कर्तृत्व की रक्षा करते आये हैं। लेकिन मेरे सामने जापान का भी चित्र है। देखते-ही-देखते उसी यान्त्रिक शक्ति की सहायता से जापान सभी तरह से सम्पन्न हो उठा है। जापान की समृद्धि मैंने अपनी आँखों से देखी है। वहाँ मैंने एक स्वाधीन जाति के सभ्य शासन का रूप भी देखा है। और मैंने यह भी देखा है कि रूस के मास्को नगर में जनता के बीच शिक्षा-विस्तार और आरोग्य-साधन के क्षेत्रों में कैसा असाधारण अध्यवसाय है। इस अध्यवसाय के प्रभाव से उस विशाल साम्राज्य की सीमाओं से मूढ़ता, दैन्य और अवमानना निर्वासित हो चुके हैं । उस सभ्यता में जातिभेद नहीं है। विशुद्ध मानवीय सम्बन्ध का प्रभाव सर्वत्र दिखायी देता है। रूस की आश्चर्यजनक परिणति देखकर मैंने एक ही समय ईर्ष्या और आनन्द का अनुभव किया है। जब मैं मास्को गया, रूसी शासन-व्यवस्था की एक विशेषता ने मेरे अन्तःकरण को स्पर्श किया—मैंने देखा कि वहाँ राष्ट्रीय अधिकारों में मुसलमान भी हिस्सेदार हुए, और इस बात का ग़ैर मुसलमानों के पक्ष से कोई विरोध नहीं हुआ। दोनों ने मिल-जुलकर कल्याणकारी सम्बन्ध जोड़े, और यही वहाँ की शासन-व्यवस्था की यथार्थ भूमिका है। बहुसंख्यक परकीय जातियों को इतना प्रभावित कर सके, ऐसी राष्ट्रीय शक्ति आज मुख्यतः केवल दो देशों के हाथों में है—एक इंग्लैंड और दूसरा सोवियत रूस। अँग्रेज़ों ने इस शक्ति के द्वारा परकीय जातियों के पौरुष को दलित करके उन्हें सदा के लिए निर्जीव कर दिया है। सोवियत रूस के साथ रेगिस्तान के मुसलमानों की बहुसंख्यक जातियों का राष्ट्रीय जीवन में सम्बन्ध जुड़ा है—और मैं स्वयं इस बात का साक्षी हूँ कि उन्हें सभी तरह से शक्तिमान् बनाने का रूस ने निरन्तर प्रयत्न किया है। सभी विषयों में उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए सोवियत सरकार ने जो चेष्टाएँ की हैं उनके प्रमाण मैं देख चुका हूँ, और उनके बारे में मैंने पढ़ा भी है। इस तरह का सरकारी प्रभाव अपमानजनक नहीं होता, उससे मनुष्यत्व की हानि नहीं होती। वहाँ का शासन ऐसी विदेशीय शक्ति का शासन नहीं है जो एक कठोर यन्त्र की तरह जनता को पीसती रहे। मैं देख आया हूँ कि वही फ़ारस जो एक दिन योरोपीय देशों के जाँते में पिस रहा था आज उस निष्ठुर आक्रमण से अपने-आपको मुक्त कर चुका है। यह नवजागृत देश अपनी शक्ति को परिपूर्ण करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। मैंने यह भी देखा है कि ज़रथुस्तवादियों और मुसलमानों के बीच जो संघर्ष और प्रतियोगिता थी उसे वर्तमान सभ्य शासन ने बिलकुल समाप्त कर दिया है। फ़ारस के सौभाग्य का मुख्य कारण यही है कि योरोपीय देशों के चक्र से उसे छुटकारा मिला है। आज फ़ारस के कल्याण के लिए मैं अन्तःकरण से कामना करता हूँ। हमारे पड़ोसी देश अफ़गानिस्तान में शिक्षा और समाज-नीति में इस तरह का सर्वव्यापी उत्कर्ष अभी तक नहीं हुआ। लेकिन ऐसे उत्कर्ष की सम्भावना आज बनी हुई है। और इसका भी एक-मात्र कारण यही है कि सभ्यता के गर्व में चूर कोई योरोपीय देश उसे आज आक्रान्त नहीं कर रहा है। देखते ही देखते ये लोग चारों दिशाओं में उन्नति और मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होते जा रहे हैं।

अंग्रेज़ों के 'सभ्य' शासन का भारी पत्थर अपने सीने पर लिये हुए हमारा देश निरुपाय निश्चलता की धूल में पड़ा रहा। चीन के इतने बड़े इस प्राचीन सभ्य देश को अंग्रेजों ने जातीय स्वार्थ-साधना के विषैले दंश से जर्जरित कर दिया। उसके कुछ ही दिन बाद चीन का एक हिस्सा

भी उहोंने हड़प लिया। अतीत की यह घटना हम भूल चले थे जब हमने यकायक देखा कि चीन का उत्तरी भाग अपने गले के नीचे उतारने के लिए जापान प्रस्तुत है। इंग्लैड के प्रवीण राजनीतिज्ञों ने तिरस्कारपूर्ण और उद्धत शब्दों में जापान की निन्दा की और उसकी नीति को 'तुच्छ दस्यु वृत्ति' ठहराया ! बाद में स्पेन की प्रजातन्त्रवादी सरकार के साथ इंग्लैड ने कैसा व्यवहार किया, और किस कौशल के साथ उस सरकार की जड़ें काटी गयीं, यह भी हमने दूर से देखा। लेकिन उस समय यह भी देखने में आया कि इंग्लैड में ऐसे लोगों का एक दल अवश्य था जिसने विपद्ग्रस्त स्पेन के लिए आत्म-बलिदान किया। यद्यपि इंग्लैड की यह उदारता उस समय जागरित नहीं हुई जब एक प्राच्य देश—अर्थात् चीन—संकट में था, फिर भी एक योरोपीय देश की स्वातंत्र्य-रक्षा के लिए जब कुछ वीरों को प्राणाहुति देते देखा तब यह स्मरण हो आया कि उसी दिन इंग्लैड को हमने मानव-हितैषी के रूप में देखा था और विश्वास के साथ उसकी भक्ति में हम लगे थे। योरोपीय देशों की स्वभावगत सभ्यता के प्रति हमारा विश्वस धीरे-धीरे क्यों जाता रहा, यह समझाने के लिए ही यह शोचनीय इतिहास आज मुझे दोहराना पड़ा। सभ्य शासन की अधीनता में भारत की जो सबसे बड़ी दुर्गति हुई है वह यह नहीं है कि यहाँ अन्न, वस्त्र, शिक्षा और आरोग्य-साधनों का दुखद अभाव है। सबसे बड़ी दुर्गति तो यह है कि आज भारतवासियों के बीच अतिनृशंस आत्मविच्छेद उत्पन्न हो गया है। इस तरह का आत्म-विच्छेद भारत के बाहर किसी भी स्वाधीन मुसलमान देश में दिखाई नहीं पड़ता। और मुश्किल यह है कि इस परिस्थिति के लिए हमें अपने ही समाज को उत्तरदायी ठहराना पड़ता है। किन्तु इस दुर्गति का रूप क्रमशः अत्यन्त उत्कट होता जा रहा है। शासन-यन्त्र के ऊपरी भाग में यदि इस आत्मविच्छेद को गुप्त रूप से प्रश्रय न मिलता तो भारतीय इतिहास में जो इतनी बड़ी अपमानजनक और असभ्य बातें हुईं, वह न होतीं। बुद्धि-सामर्थ्य में भारत के लोग जापानियों से किसी तरह कम हैं, यह बात मानी नहीं जा सकती। इन दो प्राच्य देशों में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ भारत अँग्रेज़ी शासन से अधिकृत और आक्रान्त रहा, जापान पाश्चात्य देशों की छाया के आवरण से मुक्त रहा। यह विदेशी सभ्यता—यदि इसे सभ्यता कहा जाय—हमसे क्या कुछ छीन चुकी है, हम जानते हैं। उसके हाथ में वह दण्ड है जिसे 'विधि और व्यवस्था' (Law and Order) का नाम दिया गया है। यह पूर्णतया बाहर की चीज़ है। यह तो 'दरबानी' है।

पाश्चात्य जातियों को अपनी सभ्यता पर जो गर्व है उसके प्रति श्रद्धा रखना अब असम्भव हो गया है। वह सभ्यता हमें अपना शक्ति-रूप दिखा चुकी है लेकिन मुक्ति-रूप नहीं दिखा सकी। मनुष्य का मनुष्य के साथ वह सम्बन्ध, जो सबसे अधिक मूल्यवान है और जिसे वास्तव में सभ्यता कहा जा सकता है, यहाँ नहीं मिलता। इसके अभाव से भारत का उन्नति-पथ अवरुद्ध हो गया है। फिर भी मेरा यह व्यक्तिगत सौभाग्य रहा है कि बीच-बीच में मैं महान् अन्तःकरण के अंग्रेजों के साथ मिलता रहा हूँ। ऐसी महानता मैं अन्य किसी देश या सम्प्रदाय में नहीं देख पाया। इन लोगों ने अंग्रेज़ों के प्रति मेरे विश्वास को आज भी बनाये रखा है। उदाहरण के लिए मैं एण्ड्रयूज़ का उल्लेख कर सकता हूँ। यह मेरा सौभाग्य था कि मित्र के रूप में एण्ड्रयूज़ को मैंने बहुत समीप से देखा। उनमें मुझे एक यथार्य अँग्रेज़, यथार्थ ईसाई और यथार्थ मानव का दर्शन हुआ। कई कारणों से हमारा देश एण्ड्रयूज़ के प्रति कृतज्ञ है, किन्तु एक विशेष कारण

ऐसा है जिससे मैं व्यक्तिगत रूप से उनका अत्यन्त ऋणी हूँ। अंग्रेज़ी-साहित्य के परिवेश में मैंने अपनी तरुण अवस्था में अँग्रेज़-जाति को सम्पूर्ण चित्त से निर्मल श्रद्धा अर्पित की थी। एण्ड्रयूज़ की सहायता से आज जीवन के अन्तिम दिनों में इस श्रद्धा को जीर्ण या कलंकित होने से मैं बचा सका हूँ। उनकी स्मृति के साथ अँग्रेज़-जाति की मर्मगत महानता मेरे मन में अटल रहेगी। एण्ड्रयूज़-जैसे लोगों को मैं अपने निकटतम मित्रों में गिनता हूँ और उन्हें समस्त मानव-जाति का सुहृद मानता हूँ। उनका परिचय मेरे जीवन में एक श्रेष्ठ सम्पदा के रूप में सञ्चित है। मैं सोचता हूँ, उनके द्वारा अग्रेज़ों की महत्ता का सब तरह की विपत्तियों से उद्धार हो सकेगा। उन्हें यदि मैं न देखता और न जानता तो पाश्चात्य देशों के प्रति मेरा नैराश्य ज्यों-का-त्यों बना रहता।

इसी बीच मैंने देखा कि योरोप में मूर्तिमन्त बर्बरता अपने नखदन्त बाहर निकालकर विभीषिका की तरह बढ़ती जा रही है। मानव-जाति को पीड़ित करनेवाली इस महामारी का पाश्चात्य सभ्यता की मज्जा में जन्म हुआ। वहाँ से उठकर आज उसने मानव-आत्मा का अपमान करते हुए दिग्‌दिगन्तर के वातावरण को कलुषित कर दिया है। हमारे अभागे, निःसहाय, जकड़े हुए देश की दरिद्रता में क्या हमें आभास नहीं मिलता ?

एक-न-एक दिन भाग्यचक्र पलटा खायगा, और अग्रेज़ों को अपना भारतीय साम्राज्य छोड़कर चला जाना होगा। लेकिन किस तरह के भारत को वे पीछे छोड़ जायेंगे? वह कैसी दारुण दीनता और मलिनता होगी? एक शताब्दी से अधिक काल तक जो शासन-धारा चली आ रही है वह जब शुष्क होगी तो उसकी विस्तृत पंक-शय्या इस दुःसह निष्फलता का भार कैसे वहन कर सकेगी? जीवन के प्रथम भाग में मेरा हार्दिक विश्वास था कि सभ्यता-दान ही योरोप की आन्तरिक सम्पत्ति है। आज जब जीवन से विदा होने का दिन समीप आ रहा है मेरे इस विश्वास का दिवाला निकल चुका है। आज मेरी यही आशा है कि हमारी इस दारिद्र्य-लांछित कुटिया में कोई परित्राता जन्म ग्रहण करेगा। मैं यह भी उम्मीद करता रहूँगा कि वह परित्राता पूर्व-दिगंत से ही आयगा, सभ्यता की देववाणी साथ लाकर मनुष्य को मनुष्यत्व के चरम आश्वास की वार्ता सुनायगा। आज नदी-पार यात्रा कर रहा हूँ। जिन घाटों से गुज़रा हूँ वहाँ मैंने क्या-क्या देखा है, वहाँ क्या-क्या छोड़ आया हूँ! इतिहास के जुठारे हुए सभ्यताभिमान के कैसे भग्न स्तूप ! लेकिन मनुष्य के प्रति विश्वास खो देना पाप है। अन्तिम क्षण तक इस विश्वास की रक्षा करूँगा। आशा करूँगा कि महाप्रलय के बाद, वैराग्य के मेघमुक्त आकाश में, इसी पूर्वांचल के इतिहास का नया आत्मप्रकाशन आरम्भ होगा और एक दिन अपराजित मानव, अपनी खोई हुई मर्यादा फिर से प्राप्त करने के लिए, सभी बाधाओं का अतिक्रमण करते हुए जय-यात्रा के लिए अग्रसर होगा। मनुष्यत्व के पराभव को अन्तहीन, प्रतिकारहीन और चरम समझना मेरी दृष्टि में अपराध है।

आज यही बात कहकर विदा होता हूँ कि जो लोग प्रबल और प्रतापशाली हैं उनकी शक्ति, गर्व और आत्माभिमान अजेय नहीं हैं। इस बात के स्पष्ट होने का दिन आज हमारे सम्मुख है। निश्चय ही इस सत्य का हमें प्रमाण मिलेगा कि—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति।।

महामानव का आगमन है।
दिशा-दिशा में घास का तिनका-तिनका रोमाञ्चित है।
देवलोक में शंख बज उठा—
महाजन्म की शुभ घड़ी आ पहुँची।
आज अमावस्या के तोरण टूट कर धूलि-धूसरित हुए।
उदय के शिखर पर 'मा भैः मा भैः' के शब्द निनादित होते हैं,
उनमें नवजीवन का आश्वास है।
'जय-जय-जय रे मानव अभ्युदय'—
इस मन्द्र-ध्वनि से आकाश गूँज उठा।

[बाङ्ला नव-वर्ष-दिवस (वैशाख १३४५ बंगाब्द) १४ मई, १९४१ को शान्तिनिकेतन में पढ़ा गया रवीन्द्रनाथ का अन्तिम सन्देश। द्वितीय विश्वयुद्ध १९३९ में प्रारम्भ हुआ था। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'क्राइसिस इन सिविलाइज़ेशन' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।]

२२

केकाध्वनि

अचानक पालतू मोर की आवाज़ सुनकर मेरे मित्र बोल उठे, ' मैं इस मोर की बोली नहीं सह पाता; मैं समझ नहीं पाता कि कवियों ने क्यों केकाध्वनि को अपने काव्य में स्थान दिया है। '

कवि जब वसंत के कुहू स्वर और वर्षा की केकाध्वनि दोनों को समान आदर देते हैं तो किसी को एकाएक ऐसा लग सकता है कि शायद कवि कैवल्य-दशा को प्राप्त हो गया है—उसके निकट अच्छे और बुरे, ललित और कर्कश का भेद लुप्त हो गया है।

मोर ही क्यों, मेंढक की टर्र-टर्र और झिल्ली की झंकार को भी कोई मधुर नहीं कह सकता। तो भी कवियों ने इन स्वरों की उपेक्षा नहीं की। प्रेयसी के कंठस्वर से इनकी तुलना करने का साहस उन्हें नहीं हुआ, लेकिन षट् ऋतु के महासंगीत का प्रधान अंग कहकर उन्होंने इनका सम्मान किया है।

एक तरह की मिठास होती है जो निःसंशय मीठी होती है, बहुत ही मीठी होती है। उसे अपना लालित्य प्रमाणित करने में क्षण-भर समय नहीं लगता। इंद्रिय का असंदिग्ध साक्ष्य लेकर मन उसके सौन्दर्य को स्वीकार करने में रंच मात्र तर्क नहीं करता। वह हमारे मन का आविष्कार नहीं होता, इंद्रिय की उपलब्धि होती है; इसीलिए मन उसकी अवज्ञा करता है, कहता है—बहुत मीठा है, बस मीठा है। अर्थात् उसकी मिठास को समझने के लिए अंतःकरण की अपेक्षा नहीं होती, उसे केवल इंद्रियों के द्वारा समझा जाता है। जो गाने की समझ रखने वाले हैं वे इसीलिए बड़ी उपेक्षा से कहते हैं कि अमुक आदमी मीठा गीत गाता है। कहने का भाव यह होता है कि मीठा गानेवाला गाने को हमारी इंद्रिय सभा में ले आकर नितांत सुलभ प्रशंसा के द्वारा गाने को अपमानित करता है, मार्जित रुचि और शिक्षित मन के दरबार में वह प्रवेश नहीं करता। जो आदमी पाट का जानकार ख़रीदार है वह भीगा पाट नहीं चाहता; वह कहता है, ' हमको सूखा पाट दो, तभी मैं उसका ठीक वज़न समझ सकूँगा। ' गाने की समझ रखनेवाला कहता है, ' झूठा रस लेकर गाने का झूठा गौरव मत बढ़ाना; हमको सूखा माल दो तभी मैं ठीक वज़न पाऊँगा और खुश होकर ठीक दाम चुका दूँगा। ' बाहर की झूठी मिठास असली चीज़ का मोल गिरा देती है।

जो सहज ही मीठा है उससे मन में बहुत जल्दी आलस्य आ जाता है, ज़्यादा देर तक मनोयोग नहीं रहता। जल्दी ही उसकी सीमा को पार करके मन कहता है, ' अब बस, बहुत हुआ। '

इसीलिए जिस व्यक्ति ने जिस विषय में विशेष शिक्षा पायी है वह उसके नितान्त सहज और ललित आरंभिक अंश की क़द्र नहीं करता। क्योंकि उतने की सीमा उसने जान ली है; उतने की दौड़ ज़्यादा दूर तक नहीं है। वह यह समझता है, इसीलिए उसका अंतःकरण उससे नहीं

जागता। अशिक्षित उसे थोड़े से अंश को ही समझ पाता है लेकिन तब भी उसकी सीमा उसे नहीं मिलती, इसीलिए उस अंश में ही, जो कि गहरा नहीं है, उसको एक-मात्र आनंद मिलता है। समझदार के आनंद को वह एक न जाने क्या चीज़ समझता है; बहुत बार वह उसको चपलता का आडंबर भी समझ लेता है।

इसीलिए सब प्रकार की कला-विद्याओं में शिक्षितों और अशिक्षितों का आनंद अलग-अलग रास्तों पर चला जाता है। तब एक पक्ष कहता है, 'तुम क्या समझोगे!' और दूसरा पक्ष नाराज़ होकर कहता है, 'क्यों नहीं, जो समझने की चीज़ है वह बस तुम्हीं तो समझते हो, और कोई समझने वाला थोड़े ही है दुनिया में!'

एक गहरे सामंजस्य का आनंद, स्थान-समावेश का आनंद, दूरवर्ती के साथ योग-संयोग का आनंद, निकटवर्ती के साथ वैचित्र्य-साधन का आनंद—यही मानसिक आनंद है। भीतर प्रवेश किये बिना, समझे बिना इस आनंद का उपभोग नहीं किया जा सकता। ऊपर-ही-ऊपर चट से जो सुख मिलता है उसकी अपेक्षा यह सुख स्थायी और गहरा होता है।

और एक प्रकार से उसकी अपेक्षा व्यापक थी। जो गहरा नहीं है, वह लोगों में शिक्षा फैलने के साथ-साथ, अभ्यास के साथ-साथ धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है और उसका रीतापन प्रकट हो जाता है। जो गहरा है वह शुरू में चाहे बहुत-से लोगों के लिए सुगम न हो तो भी उसकी आयु बहुत दिनों की होती है, उसमें श्रेष्ठता का एक जो आदर्श होता है वह सहज ही जीर्ण नहीं होता।

जयदेव का 'ललित लवंगलता' अच्छा ज़रूर लगता है लेकिन बहुत दिनों तक नहीं। इंद्रिय उसको मन-महाराज के सम्मुख निवेदित करती है, मन उसको एक बार स्पर्श करके ही रख देता है और तब इंद्रिय के उपभोग में ही वह समाप्त हो जाती है। 'ललित लवंगलता' के बगल में 'कुमारसम्भव' का एक श्लोक रखकर देखा जाय—

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणांकरागम्।
पर्याप्त पुष्पस्तबकावनम्रा
संचारिणी पल्लविनी लतेव॥

छंद में वैसी लय नहीं है, शब्द संयुक्ताक्षर-बहुल हैं लेकिन तो भी यह श्लोक कान को भी 'ललित लवंगलता' की अपेक्षा ज़्यादा मीठा लगता है। लेकिन वह भ्रम है। मन अपनी सृजन-शक्ति के द्वारा इंद्रिय-सुख को पूरा किये दे रहा है। जहाँ पर लोलुप इंद्रियाँ भीड़ लगाकर खड़ी नहीं होतीं वहीं पर मन को इस प्रकार के सृजन का अवसर मिलता है। 'पर्याप्त पुष्पस्तबकावनम्रा' में लय का जो उत्थान-पतन है, कठोर और कोमल दोनों ने मिलकर ठीक-ठीक मात्रा में छंद को जो लय दी है वह जयदेवी लय के समान अति-प्रत्यक्ष नहीं है— वह निगूढ़ है। मन उसे आलस्य के साथ पढ़ नहीं जाता, स्वयं ढूँढ़-ढूँढ़कर-पाकर खुश होता है। इस श्लोक में भाव का जो एक सौन्दर्य है वह भी हमारे मन के साथ षड्यंत्र करके एक अश्रुतिगम्य संगीत की रचना करता है, वह संगीत समस्त शब्द-संगीत को पीछे छोड़ जाता है, ऐसा लगता है कि जैसे कान जुड़ा गये—लेकिन कान जुड़ाने की बात नहीं है, मानसी माया कान को ठगती है।

हमारे इस मायावादी मन को सृजन का अवकाश न दिया जाय तो वह किसी मिठास को ज्यादा देर तक मीठा नहीं समझता। वह उपयुक्त उपकरण पाने पर कठोर छंद को ललित, कठिन शब्द को कोमल बना लेता है। उसी शक्ति को अवसर देने के लिए वह कवियों से अनुरोध करता है।

केकारव सुनने में कान को मीठा नहीं लगता लेकिन विशेष अवस्था में विशेष समय में मन उसको मीठा बनाकर सुन पाता है, मन में वह क्षमता है। वह मिठास कोयल की बोली की मिठास से अलग है; नववर्षागम में, पहाड़ के नीचे, लताजटिल प्राचीन महारण्य में जो पागलपन छा जाता है मोर की बोली उसी का गान है। आषाढ़ में हरित-श्याम तमाल तालीवन के दुगुने घने अँधेरे में माँ के स्तन के प्यासे शत-सहस्र ऊर्ध्वबाहु शिशुओं के समान अगणित शाखाओं के आन्दोलित मर्मर-मुखर महोल्लास के बीच मयूर रह-रहकर अपने स्वर में जो एक काँसे के बजने-जैसी बेकार-ध्वनि उठाता है उससे प्रवीण वनस्पति-मंडली में अरण्य-महोत्सव का प्राण जाग उठता है। कवि का केकारव उसी वर्षा का गान है; कान उसके माधुर्य को नहीं जानता, बस, मन जानता है। इसीलिए उससे मन ही अधिक मुग्ध होता है। मन उसके साथ और भी बहुत कुछ पाता है—समस्त मेघावृत आकाश, छायावृत अरण्य, नीलिमाच्छन्न गिरिशिखर, विराट् पागल प्रकृति अव्यक्त अंधी आनंदराशि।

इसीलिए कवि का केकारव विरहिणी की विरह-वेदना के साथ जुड़ा रहता है। श्रुति-मधुर होने के नाते पथिक-वधू को व्याकुल नहीं करता—वह समस्त वर्षा का मर्मोद्घाटन कर देता है। नर-नारी के प्रेम में एक अत्यन्त आदिम भाव है, वह बाह्य प्रकृति के बहुत पास है, जल-स्थल-आकाश से संलग्न है। षट् ऋतुएँ अपने फूलों के साथ-साथ इस प्रेम को भी भाँति-भाँति के रंगों से रँग जाती है। जो पल्लव को स्पंदित करता है, नदी को तरंगित करता है, धान की बाली हो हिल्लोलित करता है, वही इसको भी अपूर्व चंचलता से आंदोलित करता रहता है। पूर्णिमा का प्रहरी उसको शुद्ध करता है और संध्या के बादलों की रक्तिमा से लज्जामंडित वधूवेश पहना देता है। एक-एक ऋतु जब अपनी सोने की छड़ी से प्रेम को छूती है तब उसका शरीर रोमांचित हुए बिना नहीं रह सकता। वह अरण्य के पुष्प-पल्लव के ही समान प्रकृति के रहस्यमय स्पर्श के अधीन है। इसीलिए यौवनावेश-विधुर कालिदास ने इसका वर्णन किया है कि छः ऋतुओं के छः तारों में नर-नारी का प्रेम किन-किन सुरों में बजता है; उन्होंने समझ लिया है कि जगत् में ऋतु-आवर्त्तन का सबसे प्रधान कार्य प्रेम को जगाना है; फूल खिलाना आदि अन्य सब आनुषंगिक हैं, इसीसे वर्षा ऋतु के निषादस्वर केकारव का आघात ठीक विरह-वेदना के ऊपर जाकर पड़ता है।

विद्यापति ने लिखा है—

मत्त दादुरी, डाके डाहुकी,
फाटि जावत छतिया।

यह मेंढक की बोली नववर्षा के मत्त भाव के साथ नहीं, घनी वर्षा के निगूढ़ भाव के साथ खूब मेल खाती है। मेघ में आज कोई वर्षा-वैचित्र्य नहीं है, स्तर-विन्यास नहीं है, शची की किसी प्राचीन किंकरी ने आकाश के प्रांगण को मेघों से एक-बराबर लीप दिया है। सब-कुछ

कृष्ण-धूसर-वर्ण है। नाना शस्य विचित्रा पृथ्वी के ऊपर उज्ज्वल आलोक की तूलिका नहीं पड़ी इसीलिए उसमें कोई विविधता नहीं प्रस्फुटित हुई। धान की कोमल चिकनी हरियाली, पटसन का गाढ़ा रंग और ईख की पीली आभा एक विश्व-व्यापी कालिमा में मिली हुई है। हवा नहीं है, आसन्न सृष्टि की आशंका से लोग कीचड़-भरे रास्ते पर नहीं निकलते। बहुत दिन पहले ही खेत के सब काम समाप्त हो गये। पानी ने तालाब का पाट बराबर कर दिया है। इस प्रकार के ज्योतिहीन, गतिहीन, कर्महीन, वैचित्र्यहीन कालिमा-लिप्त एकाकार के दिन में मेंढक की बोली ठीक सुर लगाती है। उसका सुर उसी वर्णहीन मेघ के समान, इसी दीप्तिशून्य आलोक के समान निस्तब्ध घनी वर्षा में फैल जाता है; वर्षा के घेरे को वह भी घना करके पर्दे की तरह चारों ओर खींच देता है। वह नीरवता से भी अधिक एक स्वर है। वह निभृत कोलाहल है। उसके साथ झिल्ली की झंकार ठीक से मेल खाती है, क्योंकि जैसे मेघ,जैसी छाया वैसी ही झिल्ली की झंकार भी एक और आच्छादन विशेष है—वह स्वरमंडल में अंधकार का प्रतिरूप है, वह वर्षा-निशीथिनी को सम्पूर्णता देती है।

['बंग दर्शन' अगस्त-सितम्बर १९०१ (भाद्र १३०८) में प्रकाशित।]

२३

मन

यह जो दोपहर में नदी के किनारे स्थित गाँव के एक तितल्ले में बैठा हूँ, टिक-टिकी (छिपकली) कमरे के कोने में बैठी टिकटिक कर रही है, दीवार के पंखा खींचने के छेद में गौरैया का एक जोड़ा घोंसला बनाने के लिए बाहर से तिनके ला-लाकर चूँ-चूँ करते हुए अत्यन्त व्यस्त भाव से बराबर आ-जा रहा है, नदी में नाव बही जा रही है, ऊँचे कगारों के बीच से नीले आकाश में उनके मस्तूल और फूले हुए पालों का थोड़ा-सा अंश दिखाई पड़ रहा है, हवा में स्निग्धता है, आकाश स्वच्छ है, बहुत दूर दूसरे किनारे की रेखा से लेकर मेरे बरामदे के सामने वाले घिरे हुए बगीचे तक सारा दृश्य उस तेज़ धूप में तस्वीर के टुकड़े-जैसा दिखाई पड़ रहा है—बड़ा मज़ा आ रहा है। जिस तरह बच्चे को माँ की गोद में एक गर्मी, एक आराम, एक स्नेह मिलता है, उसी तरह इस पुरातन प्रकृति की गोद में बैठे हुए एक जीवनपूर्ण स्नेहपूर्ण कोमल गर्मी चारों ओर से मेरे सारे शरीर मे प्रवेश कर रही है। क्या बुरा है अगर मैं इसी तरह रहा आऊँ। काग़ज़-कलम लेकर बैठने के लिए कौन तुमको कोंच रहा था। किस विषय पर तुम्हारा क्या मत है, किस बात में तुम्हारी सहमति या असहमति है, इस बात को लेकर एकाएक धूमधाम से कमर बाँधकर बैठने की क्या ज़रूरत थी। वह देखो मैदान के बीचों-बीच, कहीं कुछ भी नहीं, एक बवंडर थोड़ी-सी धूल और सूखे पत्तों की ओढ़नी उड़ाते हुए कैसे मज़े से नाच गया। बस पैर की उँगली के सहारे सरलता की कैसी भंगिमा से क्षण-भर खड़ा रहा और फिर हुश-हाश करके सब-कुछ उड़ाकर बिखराकर कहाँ चला गया कुछ ठिकाना नहीं। पूँजी तो बड़ी है। थोड़ा-सा खर-पतवार, थोड़ी धूल-बालू जो सुविधा से हाथ आ जाय उसी को लेकर मज़े से बड़ी भावभंगी के साथ उसने कैसा एक खेल खेल लिया। इसी तरह सूनी दोपहरी में वह सारे मैदान में नाचता फिरता है। न तो उसका कोई उद्देश्य है और न कोई दर्शक—न तो उसका कोई मत है न कोई तत्त्व, न समाज और इतिहास के संबंध में कोई अत्यन्त समीचीन उपदेश—पृथ्वी पर जो सबसे अधिक अनावश्यक है उन्हीं सब विस्मृत-परित्यक्त, पदार्थों में एक गर्मी फूँककर उन सबको थोड़ी देर के लिए जीवित, जागृत सुन्दर बना देता है।

मैं भी अगर इसी तरह नितांत सहज भाव से एक साँस में जैसी-तैसी कुछ चीज़ें खड़ी करके, अच्छी तरह घुमाकर, उड़ाकर, लट्टू नचाकर चला जा सकता। इसी तरह अनायास सृजन करता, इसी तरह फूँक मारकर तोड़ फेंकता चिन्ता नहीं, चेष्टा नहीं, लक्ष्य नहीं, बस एक नृत्य का आनन्द, बस एक सौन्दर्य का आवेग, बस एक जीवन की भँवर। अबाध भूमि, अनावृत आकाश, सब ओर फैला हुआ सूर्य का आलोक—उन्हीं के बीच मुट्ठी-मुट्ठी-भर धूल लेकर इन्द्रजाल बनाना, यह केवल पागल हृदय के उदार उल्लास के द्वारा सम्भव है।

ऐसा हो तो बात समझ में आये। लेकिन बैठे-बैठे पत्थर के ऊपर पत्थर जमाकर, पसीना-पसीना होकर, कुछ थोड़े-से निश्चल मतामत ऊँची आवाज़ में घोषित करना। उसमें न तो गति है, न प्रीति, न प्राण। बस एक कठिन कृतित्व। उसको कोई अच्छी नज़र से देखता है और कोई पैर से ठेल देता है—जिसकी जैसी योग्यता हो।

लेकिन इच्छा करने पर भी मैं कब इस काम से निवृत्त हो सकता हूँ। सभ्यता की ख़ातिर मनुष्य ने मन नामक अपने एक अंश को अपरिमित प्रश्रय देकर बहुत बड़ा बना दिया है, अब अगर तुम उसे छोड़ना भी चाहो तो वह तुमको नहीं छोड़ता।

लिखते-लिखते मैं बाहर की ओर ताक रहा हूँ, वह एक आदमी धूप से बचने के लिए सिर पर चादर रखे दाहिने हाथ में शाल के पत्ते के दौने में थोड़ा-सा दही लिये रसोईघर की ओर जा रहा है। वह मेरा नौकर है, उसका नाम नारायण सिंह है। खूब हट्टा-कट्टा निश्चिन्त, खुशमिज़ाज, अच्छी खूराक पाने वाले और खूब पत्तों से भरे हुए चिकने कटहल के पेड़-जैसा। इस तरह का आदमी इस बाह्य प्रकृति के साथ ठीक मेल खाता है। प्रकृति और इसके बीच कोई वैसी दूरी नहीं है। इस जीवधारी शस्यशालिनी वसुन्धरा के अंग से लगा-लिपटा यह आदमी बड़े सहज ढंग से जी रहा है, इसके भीतर अपना कोई रंचमात्र विरोध-विसंवाद नहीं है। वह पेड़ जिस तरह जड़ से लेकर पत्तियों की नोक तक बस एक शरीफ़े का पेड़ है, उसको और किसी चीज़ के लिए कोई सिरदर्द नहीं है, उसी तरह मेरा हृष्ट-पुष्ट नारायण सिंह आद्योपांत केवल-मात्र एक प्रकृत नारायण सिंह है।

कोई नटखट शिशु देवता अगर शरारत से उस शरीफ़े के पेड़ में बस एक बूँद मन डाल दे। तो फिर देखो उस समय, श्यामल वृक्ष के जीवन में कैसा एक विषम उपद्रव खड़ा हो जाता है। तब मारे चिन्ता के उसके चिकने हरे पत्ते भोजपत्र के समान पीले पड़ जाएँ और तने से लेकर शाखा तक बुड्ढे आदमी के माथे की तरह झुर्रियाँ पड़ जायें। तब क्या फिर इस तरह बसंत में, दो-चार दिनों में ही उसका सारा शरीर नये-नये हरे-हरे पत्तों के रूप में पुलकित हो सकेगा? उन गोल-गोल गुच्छा-गुच्छा फलों से प्रत्येक शाखा भर उठेगी? तब तो वह सारा दिन एक पैर पर खड़े-खड़े बस यही सोचता रहेगा, मेरे पास बस यह थोड़े-से पत्ते क्यों हुए, पंख क्यों नहीं हुए! मैं जी-जान से इतना तनकर, इतना ऊँचा होकर खड़ा हूँ तो भी काफ़ी देख क्यों नहीं पाता! क्षितिज के उस पार क्या है? वह आकाश के तारे जो पेड़ की शाखा में खिले हुए हैं, उस पेड़ के पास मैं कैसे पहुँचूँ? मैं कहाँ से आया, कहाँ जाऊँगा, यह बात जब तक स्थिर न होगी तब तक मैं इसी तरह ध्यान-मग्न खड़ा रहूँगा और मेरे पत्ते इसी तरह झरते रहेंगे, डालें सूखती रहेंगी, मैं काठ होता रहूँगा! मैं हूँ या नहीं हूँ या हूँ भी और नहीं भी हूँ, जब तक इस प्रश्न की मीमांसा नहीं होती तब तक मेरे जीवन में कोई सुख नहीं है। लम्बी वर्षा के बाद जिस दिन सवेरे-सवेरे पहली बार सूरज निकलता है उस दिन मेरी मज्जा में जो एक पुलक जागता है उसे मैं ठीक-ठीक कैसे व्यक्त करूँगा और जाड़े के अंत में फागुन के बीचों-बीच जिस दिन एकाएक साँझ को दखिनी हवा चलती है उस दिन इच्छा होती है—क्या इच्छा होती है यह मुझे कौन समझायेगा।

यही सब तो बखेड़ा है। गया उस बेचारे का फूल खिलाना, रस से भरा हुआ शरीफ़ा पकाना। जो है उसकी अपेक्षा अधिक होने की चेष्टा में, जैसा है उससे अलग कुछ होने की चेष्टा में, कभी इधर कभी उधर। आखिरकार एक दिन सहसा अंतर्वेदना के मारे तने से लेकर अगली

शाखा तक फटकर बाहर निकल पड़ता है एक सामयिक पत्र का लेख, एक समालोचना, अरण्य-समाज के संबंध में एक असामयिक तत्त्वोपदेश। फिर उसमें नहीं रह जाता वह पल्लव-मर्मर, वह छाया, वह सर्वांग-व्याप्त सरस सम्पूर्णता।

यदि कोई प्रबल शैतान, सरीसृप के समान चोरी-चोरी मिट्टी के नीचे प्रवेश करके, हजारों-लाखों टेढ़ी-मेढ़ी जड़ों के भीतर से पृथ्वी के समस्त तरु-लता, तृण-गुल्म में मन का संचार कर दे तो फिर पृथ्वी पर अंग जुड़ाने का स्थान कहाँ रहेगा। सौभाग्य से, बाग़ में आने पर पक्षी के गाने में कोई अर्थ नहीं मिलता और अक्षरहीन सबुज पत्र ? (हरे पत्तों) के बदले शाखा-शाखा पर सूखे-सफ़ेद मासिक पत्र, समाचार-पत्र और विज्ञापन झूलते नहीं दिखाई पड़ते।

सौभाग्य से, पेड़ों में विचारशीलता नहीं होती। सौभाग्य से, धतूरे का पेड़ कामिनी के पेड़ की समालोचना करके यह नहीं कहता कि ' तुम्हारे फूलों में कोमलता है पर ओजस्विता नहीं है, और बेर कटहल से नहीं कहता कि "तुम अपने को बड़ा समझते हो लेकिन मैं कुम्हड़े को तुमसे बड़ा समझता हूँ। ' केला नहीं कहता, ' मैं सबसे कम मूल्य में सबसे बड़ा पत्र (पत्ता)[1] प्रचारित करता हूँ।' और कंद उससे होड़ लगाकर उसने कम मूल्य में, उससे बड़े पत्र का आयोजन नहीं करता।

तर्क-प्रताड़ित चिंता-तापित वक्तृता-श्रांत मनुष्य उदार उन्मुक्त आकाश के चिन्तारेखाहीन ज्योतिर्मय प्रशस्त ललाट को देखकर, अरण्य की भाषा का मर्मर और तरंग का अर्थहीन कलरव सुनकर, इस मनोविहीन अगाध प्रशान्त प्रकृति में डूबकर ही कुछ स्निग्ध और संयत हो सका है। मनःस्फुलिंग की उस ज़रा-सी दाह-निवृत्ति के लिए ही यह अनन्त-प्रसारित अमनःसमुद्र की प्रशान्त-नील जलराशि आवश्यक हो उठी है।

असल बात मैं आगे ही कह आया हूँ, हमारे भीतर के कुल-सामंजस्य को नष्ट करके हमारा मन अत्यंत विशाल हो उठा है। अब वह कहीं समा नहीं पाता। खाने-पहनने के लिए, जीवन-धारण के लिए, सुख से स्वच्छन्दता से रहने के लिए जितना ज़रूरी है, मन उससे कहीं ज़्यादा बड़ा हो गया है। इसलिए सारे ज़रूरी काम एक तरफ़ सरकाकर भी चारों ओर बहुत-कुछ मन बाक़ी रह जाता है। इसीलिए वह बैठा-बैठा डायरी लिखता है, बहस करता है, समाचारपत्र का संवाददाता बनता है, जो चीज़ आसानी से समझ में आती है उसे मुश्किल बना देता है। जिससे एक तरह से समझना चाहिए उसे दूसरी तरह से खड़ा कर देता है, जो कभी किसी काल में किसी तरह समझा नहीं जा सकता, दूसरी सब चीज़ों को फेंक-फाँककर उसी में लगा रहता है, यहाँ तक कि इससे भी अधिक गर्हित कार्य करता है।

लेकिन मेरे इस असभ्य नारायण सिंह का मन उसके शरीर की आवश्यकता के अनुसार ठीक नाप से फ़िट होकर लगा हुआ है। उसका मन उसके जीवन को सर्दी-गर्मी, हारी-बीमारी और बेइज़्ज़ती से बचाता है। लेकिन जब देखो तब उनन्चास पवन के वेग से चारों ओर उड़ता नहीं रहता। एकाध बटन के छेद से बाहर की हवा चोरी-चोरी उसके मानव-आवरण के भीतर प्रवेश करके उसको कभी-कभी फुला नहीं देती, यह मैं न कह सकूँगा, लेकिन मन की उतनी चंचलता उसके जीवन के स्वास्थ्य के लिए ही आवश्यक है।

['साधना', जून १८९२ (ज्येष्ठ १३००) में प्रकाशित।]

---

१. संभव है इस पद में श्लेष हो और लेखक ने इसी नाम के मासिक पत्र पर भी हल्का व्यंग्य किया हो।

२४

कौतुक-हास्य की मात्रा

उस दिन मैंने यह मोटा प्रश्न उठाया था कि जिस प्रकार दुःख का रोना होता है उसी प्रकार सुख की हँसी होती है लेकिन बीच में यह कौतुक की हँसी कहाँ से आ गयी। कौतुक कुछ रहस्यमय चीज है। जानवर भी सुख-दुःख अनुभव करते हैं लेकिन कौतुक अनुभव नहीं करते। अलंकार-शास्त्र में जितने रसों का उल्लेख है वे सभी रस जानवरों के अपरिणत, अपरिस्फुट साहित्य में हैं, केवल हास्य-रस नहीं है। हो सकता है कि बन्दर की प्रकृति में रस का थोड़ा-बहुत अभास दिखायी पड़ता हो, लेकिन बन्दर के साथ मनुष्य का और अनेक विषयों में सादृश्य है ।

जो असंगत है उससे मनुष्य का दुःख पाना उचित था, हँसी आने का कोई मतलब ही नहीं होता। पीछे जब चौकी न हो तब अगर कोई आदमी यह सोचकर कि मैं चौकी पर बैठ रहा हूँ ज़मीन पर गिर पड़े तो उससे दर्शकों के सुख अनुभव करने का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं दिखायी पड़ता। ऐसा एक उदाहरण क्यों, कौतुक मात्र में ऐसा एक पदार्थ है जिससे मनुष्यों को सुख न होकर दुःख होना ही उचित है।

हम लोगों ने बात-बात मे उस रोज़ इसके एक कारण की ओर निर्देश किया था। हम कह रहे थे कि कौतुक की हँसी और हमारी हँसी एकजातीय है— दोनों हास्यों में एक प्रबलता है। इसी से हमको संदेह हुआ था कि हो सकता है आमोद और कौतुक में एक प्रकृतिगत सादृश्य हो; उसी का पता पाने पर कौतुक-हास्य के रहस्य को खोला जा सकता है।

साधारण भाव से सुख और आमोद में एक अन्तर है। नियम-भंग में जो थोड़ी-सी पीड़ा है, वह पीड़ा न रहने पर आमोद नहीं हो पाता। आमोद ऐसी चीज़ है जो नित्य-नैमित्तिक सहज नियम-संगत नहीं होती; वह कभी कुछ होती है कभी कुछ, उसमें प्रयास आवश्यक होता है। इसी पीड़न और प्रयास के संघर्ष में मन को जो एक उत्तेजना होती है वही उत्तेजना आमोद का प्रधान उपकरण है।

हम कह रहे थे कि कौतुक में भी नियम-भंग-जनित एक पीड़ा है; वह पीड़ा बहुत अधिक मात्रा को अगर न पहुँच जाय तो वह हमारे मन में जो एक सुखकर उत्तेजना जगाती है उसी आकस्मिक उत्तेजना के आघात से हम हँस पड़ते हैं। जो सुसंगत है वह हमेशा से नियम-सम्मत होता है, जो असंगत है वह क्षण-भर का नियम-भंग है। जहाँ पर जो होना चाहिए वहाँ उसके होने से हमारे मन में कोई उत्तेजना नहीं होती। अचानक न होने पर या और किसी रूप में होने पर उसी आकस्मिक हल्के उत्पीड़न से मन एक विशेष चेतना का अनुभव करके सुख पाता है और हम हँस पड़ते हैं।

उस दिन हम यहीं तक गये थे, इसके आगे नहीं गये। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि और आगे नहीं जाया जा सकता। कहने के लिए और भी बातें हैं।

श्रीमुती दीप्ति ने प्रश्न किया कि हमारे चार पण्डितों का सिद्धान्त अगर सच हो तो चलते-चलते अचानक हल्की-सी ठोकर खाने पर या रास्ते में गुज़रते हुए एकाएक हल्की-सी दुर्गन्ध नाक में लगने पर हमारा हँसना, अंततः उत्तेजनाजनित सुख अनुभव करना उचित होगा।

इस प्रश्न के द्वारा हमारी मीमांसा खण्डित नहीं होती, केवल सीमित होती है। इससे केवल इतना समझ में आता है कि पीड़न मात्र कौतुकजनक उत्तेजना जन्म नहीं देता। इसलिए अभी यही देखना ज़रूरी है कि कौतुक-पीड़न का विशेष उपकरण क्या है।

जड़ प्रकृति में करुण रस भी नहीं है। हास्यरस भी नहीं है। एक बड़ा पत्थर छोटे पत्थर को चूर-चूर कर दे तो भी हमारी आँखों में आँसू नहीं आते और समतल मैदान पर चलते-चलते अचानक एक बे-मेल पहाड़ की चोटी देखकर हमें हँसी नहीं आती। नदी, निर्झर, पर्वत, समुद्र में यहाँ-वहाँ आकस्मिक असामंजस्य दिखायी पड़ता है—वह बाधाजनक, विरक्तिजनक, पीड़ाजनक हो सकता है लेकिन कभी कौतुकजनक नहीं होता। सचेतन पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाला बेमेलपन ही हमारे भीतर हँसी जगा सकता है, शुष्क जड़ पदार्थ का नहीं।

क्यों, यह ठीक-ठीक बतलाना मुश्किल है, लेकिन विचार करके देखने में कोई बुराई नहीं।

हमारी भाषा में कौतुक और कौतूहल शब्दों में अर्थ का सम्बन्ध है। संस्कृत-साहित्य में अनेक स्थलों पर एक ही अर्थ में इन दोनों शब्दों का प्रयोग होता है। इससे मैं अनुमान करता हूँ कि कौतूहल-वृत्ति के साथ कौतुक का विशेष सम्बन्ध है।

कौतूहल का एक प्रधान अंग नवीनता की लालसा है, कौतुक का भी एक प्रधान उपादान नवीनता है। असंगत में जैसी एक विशुद्ध नवीनता होती है वैसी संगत में नहीं होती।

लेकिन प्रकृत असंगति इच्छा-शक्ति के साथ मिली हुई है, वह जड़-पदार्थ में नहीं होती। मुझे अगर साफ़-सुथरे रास्ते पर चलते-चलते अचानक दुर्गन्ध मिले तो मै निश्चयणूर्वक समझ जाऊँगा कि पास ही कहीं पर कोई दुर्गन्ध वाली वस्तु है इसलिए ऐसा हुआ; इसमें किसी प्रकार का कोई नियम का व्यतिक्रम नहीं है, यह अवश्यम्भावी है। जड़-प्रकृति जो कुछ जिस कारण से हो रहा है उसके अलावा और कुछ नहीं हो सकता, यह निश्चित है।

लेकिन अगर मैं रास्ते में चलते-चलते अचानक यह देखूँ कि एक बुड्ढा खेमटा नाच रहा है तो वह सचमुच असंगत जान-पड़ता है क्योंकि वह अनिवार्य नियम-संगत नहीं। हम उस बुड्ढे से किसी तरह ऐसे आचरण की आशा नहीं करते क्योंकि वह इच्छा-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति है, अपनी इच्छा से नाच रहा है; जड़ इच्छा करता तो भी नहीं नाच सकता था। जड़ पदार्थ में अपनी इच्छा-जैसी कोई चीज़ नहीं होती इसलिए जड़ पदार्थ के लिए कुछ भी असंगत या कौतुकजनक नहीं हो सकता। इसीलिए अनपेक्षित ठोकर या बदबू हास्यजनक नहीं होती। चाय का चम्मच अगर संयोग से चाय के प्याले से गिरकर दावात की स्याही में पड़ जाय तो वह चम्मच के लिए कोई हास्यकर बात नहीं है—गुरुत्वाकर्षण के नियम का उल्लघंन नहीं हो सकता। लेकिन अन्यमनस्क लेखक यदि अपनी चाय का चम्मच दावात में डुबोकर चाय पीने की चेष्टा करे तो यह निश्चय ही कौतुक का विषय है। जड़ पदार्थ में जिस प्रकार नीति नहीं होती उसी प्रकार असंगति भी नहीं

होती। मनःपदार्थ ने प्रवेश करके जहाँ पर दुविधा को जन्म दिया है वहीं पर उचित और अनुचित, संगत और असंगत दिखायी पड़ता है।

कौतूहल जो चीज़ है वह अनेक स्थलों पर निष्ठुर होती है; कौतूहल में भी निष्ठुरता है। ऐसा सुनते हैं कि सिराजुद्दौला दो लोगों की दाढ़ी एक-दूसरे से बाँधकर दोनों की नाक में सुँघनी भर देते थे—दोनों जब छींकना शुरू करते तो सिराजुद्दौला को बहुत मज़ा आता। इसमें असंगति कहाँ पर है? नाक में सुँघनी देने पर छींक तो आयगी ही। लेकिन वहाँ भी इच्छा और कार्य में असंगति है। जिनकी नाक में सुँघनी दी जा रही है उनकी इच्छा नहीं है कि वे छींकें, क्योंकि छींकते ही उनकी दाढ़ी खिंचेगी लेकिन तो भी उन्हें छींकना ही पड़ता है।

इस प्रकार इच्छा और स्थिति में असंगति, उद्देश्य और उपाय में असंगति, कथनी और करनी में असंगति—इन सबमें निष्ठुरता है। बहुत बार हम जिसको लेकर हँसते हैं वह अपनी स्थिति को हास्य का विषय नहीं समझता । इसीलिए पाँच भौतिक सभा में व्योम ने कहा था कि कॉमिडी और ट्रैजेडी में उत्पीड़न का केवल मात्रा-भेद है। कॉमिडी में जितनी निष्ठुरता प्रकट होती है उससे हमको हँसी आती है और ट्रैजेडी में जितनी दूर तक जाती है उससे हमारी आँखों में आँसू आ जाते हैं। बहुत-सी टाइटेनिया अपूर्व मोहवश गर्दभ के निकट जो आत्मविर्सजन करती है वह मात्रा-भेद और पात्र-भेद से मर्मभेदी शोक का कारण हो उठता है।

असंगति कॉमिडी का भी विषय है, ट्रैजेडी का भी। इच्छा और स्थिति की असंगति प्रकट होती है। फाब्स्टाफ विन्डसरवासिनी रंगिणियों की प्रेम-लालसा में विश्वस्त चित्त से आगे बढ़े लेकिन अपनी दुर्गति कराकर बाहर चले आये; रामचन्द्र जब रावण-वध करके, वनवास की प्रतिज्ञा पूरी करके, राज्य में लौटकर दाम्पत्य-सुख के चरम शिखर पर चढ़ते हैं उसी समय अकस्मात् बिना मेघ के वज्राघात हुआ—गर्भवती सीता को जंगल में निर्वासित करने के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा। दोनों स्थलों पर आशा के साथ फल की इच्छा के साथ स्थिति की असंगति प्रकट हो रही है। अतः स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि असंगति दो प्रकार की होती है—एक हास्यजनक और दूसरी दुःखजनक। विरक्तिजनक, विस्मयजनक, रोषजनक को भी हम बाद वाली श्रेणी में डालते हैं।

अर्थात् असंगति जब हमारे मन के ऊपरी स्वर पर आघात करती है तब हमको कौतुक जान पड़ता है, गहरे स्तर पर आघात करती है तो हमको दुःख होता है। शिकारी जब बड़ी देरी तक ताक लगाये रहने के बाद बत्तख़ के भ्रम में एक दूर की सफ़ेद चीज़ पर गोली चलाता है और फिर उसके पास दौड़कर जाने पर देखता है कि वह एक फटा हुआ कपड़ा है तब उसकी उस निराशा में हमको हँसी आती है। लेकिन कोई व्यक्ति जिस चीज़ को अपने जीवन का परम पदार्थ समझकर एकाग्र चित्त से एकांत चेष्टा मे आजीवन उसके पीछे लगा रहा है और अंततोगत्वा सिद्ध काम होकर उसको हाथ में पाते ही यह देखता है कि वह केवल एक तुच्छ प्रवंचना है तो उसके इस नैराश्य से अन्तःकरण व्यथित होता है।

दुर्भिक्ष में जब दल-के-दल आदमी मर रहे हों तब कोई उसे प्रहसन का विषय नहीं समझता। लेकिन हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि यह एक मसखरे शैतान के लिए बड़े कौतुक का दृश्य है। वह उस समय इन सब अमर आत्मधारी जीर्ण कलेवरों के प्रति हास्यपूर्वक कटाक्ष करके कह सकता है, 'वह रहा तुम्हारा षड्दर्शन, तुम्हारे कालिदास का काव्य; वह रहे

तुम्हारे तैंतीस करोड़ देवता, दो मुट्ठी चावल भी नहीं है, ऐसी हैं, तुम्हारी अमर आत्माएँ, तुम्हारे जगत्-विजयी मनुष्य का प्राण एकदम कंठ के पास आकर धुक-धुक कर रहा है।'

मोटी बात यह है कि असंगति धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते विस्मय से हँसी और हँसी से आँसू में बदलती जाती है।

['साधना' मार्च १८९१ (फाल्गुन १३०१) में प्रकाशित।]

सौजन्य : रवीन्द्र भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

खण्ड पाँच
विविधा

१

छिन्न पत्र

लंदन
१० अक्तूबर १८९०

आदमी क्या लोहे की मशीन है जो ठीक नियम के अनुसार चलेगा? आदमी का मन इतना विचित्र है। और उसका कारख़ाना इतना फैला हुआ है, इतनी दिशाओं में उसकी गति है और इतनी तरह के उसके अधिकार हैं कि उसे इधर-उधर होना ही पड़ेगा। वही उसके जीवन का लक्षण है, उसके मनुष्यत्व का चिह्न, उसकी जड़ता का प्रतिवाद । यही दुविधा, यही दुर्बलता जिसमें नहीं है उसका मन अत्यंत संकीर्ण, कठोर और जीवन-विहीन होता है। जिस चीज़ को हम लोग प्रवृत्ति कहते हैं और जिसके प्रति हम सदा कटु भाषा का प्रयोग करते हैं वही तो हमारे जीवन की गति-शक्ति है—वही अनेक प्रकार के सुख-दुःख, पाप-पुण्य के बीच से हमें अनंत की ओर विकसित करती रहती है। नदी अगर पग-पग पर कहे, 'समुद्र कहाँ है, यह तो मरुभूमि है, वह तो जंगल है, वह तो बालू का मैदान है, मुझे जो शक्ति ठेले लिये जा रही है वह शायद मुझे भुलावा देकर और कहीं लिये जा रही है'—ऐसा होने पर जिस प्रकार का भ्रम उसे होगा बहुत-कुछ वैसा ही भ्रम हमें भी प्रवृत्ति पर बिलकुल अविश्वास करने से होता है। हम लोग भी प्रतिदिन विचित्र संशयों के बीच होकर बहते चले जाते हैं, अपना अंत हम लोग नहीं पाते, लेकिन जिन्होंने हमारे अनंत जीवन में प्रवृत्ति नाम की प्रचण्ड गति-शक्ति दी है वही जानते हैं कि उसके माध्यम से वह हमें किस तरह चलायेंगे। हमसे सदा यही एक बड़ी भूल होती है कि हम लोग समझते हैं कि हमारी प्रवृत्ति जिस जगह पर हमें ले आयी है वहीं हमें छोड़कर चली जायगी, उस समय हम नहीं जान पाते कि वह उन सब चीज़ों के बीच से हमें खींचकर निकाल लेगी। जो शक्ति नदी को मरुभूमि के बीच ले आती है वही शक्ति उसे समुद्र में ले जाती है,—जो भ्रम में डालती है वही भ्रम से निकाल भी लेती है—इसी तरह हम लोग चलते हैं। जिसमें यह प्रवृति अर्थात् जीवनी-शक्ति की प्रबलता नहीं है, जिसके मन का रहस्यमय विचित्र विकास नहीं हुआ है, वह सुखी हो सकता है, सज्जन हो सकता है और उसकी उस संकीर्णता को लोग मनोबल कह सकते हैं, लेकिन अनंत जीवन का पाथेय उसके पास अधिक नहीं है।

पतिसर
१८९१

अपनी बोट कचहरी से बहुत दूर ले आकर एक सूनी जगह में बाँध दी है। यहाँ कहीं शोर-गुल नहीं है, चाहे भी तो नहीं मिल सकता, संभव है कि दूसरी फुटकर चीज़ों के साथ बाज़ार में मिल जाता हो। मैं इस वक्त जहाँ हूँ वहाँ पर लोगों के चेहरे बहुत नहीं दिखायी पड़ते। चारों तरफ बस धू-धू करता हुआ मैदान; खेतों की फ़सल कट गयी है, सिर्फ़ कटे धान की खूँटियों से सारा मैदान भरा पड़ा है। कल एक बार सारे दिन के बाद सूर्यास्त के समय इन खेतों में घूमने के लिए निकला था। सूर्य लाल होते-होते पृथ्वी के क्षितिज में जाकर डूब गया। चारों ओर कैसा सुन्दर लग रहा था, कैसे बतलाऊँ तुम्हें! बहुत दूर पर दिगंत की सीमा-रेखा के पास पेड़-पौधों का एक घेरा था; वह जगह ऐसी मायामयी हो उठी, नीला और लाल रंग मिलकर सब-कुछ ऐसा धुँधला-धुँधला-सा दिखायी देने लगा कि ऐसा जान पड़ा मानो यहीं संध्या का घर है, यहीं पहुँचकर वह शिथिल भाव से अपना रंगीला आँचल उतार देती है, बड़े यत्न से अपने संध्यातारे को बाल लेती है, अपनी निभृत निर्जनता में माँग में सेंदूर डालकर दुल्हन की तरह किसी की प्रतीक्षा में बैठी रहती है, बैठी-बैठी पैर से पैर जोड़कर तारों की माला गूँथती रहती है और गुन-गुन स्वर में सपने बुनती रहती है। समस्त अपार मैदान पर एक छाया फैली पड़ी है—एक कोमल विषाद, आँसू उसे नहीं कह सकते, निर्निमेष आँख के बड़े-बड़े कोयों के नीचे जैसे एक गहरा डबडबाया हुआ-सा भाव। ऐसा सोचा जा सकता है—धरती माँ संसार में अपने बच्चे-कच्चे, कोलाहल और गृहस्थी के काम लिये बैठी है; जहाँ जरा-सी दरार है, थोड़ी-सी निस्तब्धता है, थोड़ा-सा खुला हुआ आकाश है, वहीं उसके विशाल हृदय का अंतर्निहित वैराग्य और विषाद फूट पड़ता है, वहीं उसका दीर्घ निश्वास सुनायी पड़ता है। भारत में जैसा बाधाहीन स्वच्छ आकाश मिलता है, दूर-दूर तक फैली हुई समतल भूमि मिलती है, ऐसी यूरोप में कहीं मिलती है या नहीं, मुझे संदेह है। मानो इसीलिए हमारी जाति विशाल पृथ्वी के उस असीम वैराग्य को खोज सकी है; इसीलिए हमारी पूरबी में हाठोड़ीं में समूचे विशाल जग्त के हृदय का हाहाकार जिस प्रकार व्यक्त हुआ है, वह सबके घर की चीज़ नहीं। पृथ्वी का जो अंश है जो कर्मपटु है, स्नेहशील है, सीमाबद्ध है; उसका भाव हमारे मन में अपना प्रभाव फैलाने का वैसा अवसर नहीं पाता। पृथ्वी का जो भाव निर्जन है, विरल है, असीम है, उसी ने हमें उदासीन कर दिया है। इसीलिए सितार में जब भैरवी की मीड़ खींची जाती है तो हमारा भारतीय हृदय भी जैसे उसके साथ मसोस उठता है। कल शाम के वक्त सूने मैदान में पूरबी बज रही थी पाँच-छः कोस में अकेला मैं प्राणी घूम रहा था और एक और प्राणी पगड़ी बाँधे हाथ में लाठी लिये बड़े संयत भाव से बोट के पास खड़ा था। मेरी बाईं तरफ़ छोटी-सी नदी दोनों तरफ़ के ऊँचे कगारों के बीच होकर टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई थोड़ा आगे जाकर ही आँख से ओझल हो गयी है, पानी में लहर की रेखा तक नहीं है, केवल संध्या की आभा भरती हुई-सी हँसी की तरह ज़रा देर के लिए दिखायी पड़ी। जैसा लम्बा-चौड़ा मैदान है वैसी ही लम्बी-चौड़ी निस्तब्धता, केवल

एक चिड़िया है जो मिट्टी में रहती है, वही चिड़िया जैसे-जैसे अँधेरा घना होने लगा वैसे-वैसे मुझे अपने सूने स्थान के पास बराबर आते-जाते देखकर व्याकुल संदेह के स्वर में टी-टी करके चीखने लगी। धीरे-धीरे यहाँ के कृष्ण पक्ष के चाँद का प्रकाश हल्का-सा फैलने लगा। बराबर नदी के किनारे-किनारे खेत में से होकर एक सँकरी पगडण्डी चली गयी है, वहीं मैं सिर झुकाये चलता-चलता सोच रहा था।

सिलाइदह,
अक्तूबर १८९१

आज बड़ा अच्छा दिन है। घाट पर एक-एक दो-दो करके नावें लग रही हैं, बाहर से प्रवासी पूजा की छुट्टी में अपना पोटला-पोटली, बोरिया-बक्का लादकर तरह-तरह की उपहार-सामग्री लिये हुए एक वर्ष के बाद अपने घर लौट रहे है। मैंने देखा, एक बाबू ने घाट के पास नाव के आते ही पुराने कपड़े बदलकर एक नयी चुन्नटदार धोती पहनी, कुर्ते के ऊपर सफेद रेशम का एक चाइना कोट पहना और एक तह की हुई चादर बड़े जतन से कंधे के ऊपर डालकर, छाता कंधे पर रख कर गाँव की तरफ़ चले । धान के खेत थर-थर काँप रहे हैं । आकाश में उजले-उजले बादलों के स्तूप हैं, उन्हीं के ऊपर आम और नारियल के पेड़ सिर उठाये खड़े हैं, नारियल के पत्ते हवा में सरसरा रहे हैं, मैदान में दो-एक काँस फूलने लगे हैं—सब मिलाकर बड़ा सुख देने वाला दृश्य है। बाहर से जो आदमी अभी-अभी अपने गाँव लौटा है उसके मन का भाव, घर के लोगों से मिलने की उसकी उत्कंठा और शरद का यह आकाश, यह पृथ्वी, सवेरे की यह हल्की-सी ठंडी हवा—और पेड़-पौधे, तृण-गुल्म, नदी की तरंग, सबके भीतर का एक अविश्राम सघन कंपन सब-कुछ मिलकर झरोखे में बैठे हुए इस अकेले युवक को सुख-दुःख से प्रायः विभोर किये दे रहा था । खिड़की के पास अकेले बैठकर आँख खोलकर देखने पर मन में नयी-नयी साधें जगती हैं—नयी साध उन्हें कहना ठीक नहीं, पुरानी साधें नयी-नयी आकृति धारण करने लगती हैं। परसों मैं इसी तरह बोट की खिड़की के पास चुपचाप बैठा था, डोंगी में एक माँझी गाना गाते-गाते निकल गया, बहुत अच्छे स्वर में गा रहा हो, ऐसा भी नहीं। अचानक मुझे याद आया कि बहुत दिन हुए बचपन में हम लोग बोट से पद्मा नदी में आ रहे थे। एक बार रात के प्रायः दो बजे नींद टूट जाने से बोट की खिड़की उठाकर मुँह निकालकर मैंने देखा कि शान्त नदी पर चाँदनी फैली हुई है, छोटी डोंगी में एक छोकरा अकेला डाँड चला रहा है, ऐसे मीठे गले से वह गा रहा था जैसा मीठा गाना मैंने और कभी नहीं सुना। यकायक मेरे मन में इच्छा जागी, काश कि एक बार फिर ठीक उसी दिन से मुझे जीवन मिल जाय! और एक बार परीक्षा करके देखा जाय, इस बार उसको शुष्क अतृप्ति करके किनारे न रखूँगा- -कवि का गान गले में लेकर एक छप-छप करती

हुई डोंगी में बैठे ज्वार के समय कूद पड़ूँ, गीत गाऊँ, जाकर देख आऊँ कहाँ क्या है. अपने को भी एक बार जनाऊँ और दूसरों को भी एक बार फिर जानूँ, एक बार जीवन में यौवन से उच्छ्वसित होकर हवा की तरह हू-हू करते हुए घूम आऊँ, और फिर घर लौटकर अपना परिपूर्ण, प्रफुल्ल वार्धक्य कवि के समान व्यतीत करूँ। कोई बहुत ऊँचा आइडियल यह नहीं है। संसार का हित करना इससे कहीं बड़ा आइडियल हो सकता था, लेकिन मैं सब कुछ मिलाकर जिस तरह का आदमी हूँ वह चीज़ मेरे मन में जागती ही नहीं। उपवास करके बिना सोये, आकाश की ओर निहारते हुए, सदा मन-ही-मन वितर्क करते हुए अपनी बात-बात में पृथ्वी को और मानव-हृदय को वंचित करते हुए अपनी इच्छा से रचे हुए इस दुर्भिक्ष के लिए मैं इस दुर्लभ जीवन का त्याग नहीं करना चाहता। पृथ्वी सृष्टिकर्ता की एक चाल और शैतान का एक फन्दा है, इस बात को ध्यान में न लाकर पृथ्वी को विश्वासपूर्वक प्यार करके, प्यार पाकर, मनुष्य की तरह जीकर मैं अगर मनुष्य की तरह मर सकूँ तो मेरे लिए यही बहुत है—देवता के समान हवा हो जाने की चेष्टा करना मेरा काम नहीं है।

बोलपुर
शनिवार २ मई, १८९२

दुनिया में बहुत-से पैराडॉक्स हैं। उन्हींमें एक यह भी है कि जहाँ भी विराट् दृश्य है, असीम आकाश है, निविड़ मेघ है, गहरा भाव है अर्थात् जहाँ भी अनन्त का आविर्भाव है वहीं उसका उपयुक्त संगी एक आदमी है—बहुत-से आदमी बड़े क्षुद्र और बकवादी होते हैं। असीमता और एक अकेला आदमी दोनों परस्पर समकक्ष हैं, दोनों अपने-अपने सिंहासन पर आमने-सामने बैठने के अधिकारी हैं। बहुत-से आदमी एक जगह जुटने पर वह सब एक-दूसरे को छाँट-छूँटकर बहुत छोटा कर देते हैं। एक आदमी अगर अपनी समस्त अंतरात्मा को विस्तृत करना चाहे तो उसके लिए इतनी अधिक जगह की ज़रूरत होती है कि आस-पास पाँच-छः लोगों की गुंजाइश नहीं रहती। बहुत-से लोगों को जुटाने पर एक-दूसरे के अनुरोध से अपने को छोटा करना होता है, जहाँ जितनी बड़ी दरार होती है वहाँ उतना ही सिर नीचा करना पड़ता है। भीड़ में आदमी दोनों बाँहें फैलाकर अंजुली जोड़कर प्रकृति के इस अगाध-अनंत विस्तार को ग्रहण नहीं कर पाता।

सिलाइदह
२० अगस्त १८९२

रोज़ सवेरे आँख खुलते ही मैं अपनी बाईं ओर पानी और दाहिमी ओर नदी का किनारा सूरज की किरणों में नहाया हुआ देखता हूँ। बहुधा तस्वीर देखने पर मन में यह जो बात आती है 'अहा, यहाँ अगर मैं रह पाता!' ठीक वही इच्छा यहाँ आकर तृप्त होती

है, ऐसा लगता है कि मैं एक दमकती हुई तस्वीर के बीच रह रहा हूँ, यथार्थ जगत् की कोई कठोरता यहाँ पर मानो नहीं है। बचपन में रॉबिन्सन क्रूसो, पाल वर्जिनी आदि पुस्तकों में पेड़-पालों-समुद्र की तस्वीर देखकर मन बहुत उदास हो जाता है—यहाँ की धूप में मेरी वही बचपन की स्मृति जाग उठती है। इसका ठीक मतलब क्या है, मैं पकड़ नहीं पाता; इसके साथ कौन-सी एक आकांक्षा जुड़ी हुई है, मैं ठीक से समझ नहीं पाता। यह जैसे इसी विराट् धरती के प्रति रंगों का एक खिंचाव है। कभी जब मैं इस पृथ्वी के साथ एकाकार हुआ था, जब मेरे ऊपर हरी घास उगती, शरद् का प्रकाश पड़ता, सूरज की किरणों में मेरे दूर-दूर तक फैले हुए हरे-भरे अंग से एक-एक रोम-कूप से यौवन की सुगंधित गर्मी उठती रहती, मैं दूर-दूरांतर, देश-देशांतर के जल-स्थल-पर्वत को समेटे हुए उज्ज्वल आकाश के नीचे निस्तब्ध भाव से लेटा रहता—तब शरद् के सूर्य का आलोक मेरे बृहद् सर्वांग में जो एक आनंद-रस, एक जीवनी-शक्ति, अति-अव्यक्त अर्ध-चेतन और महा-प्रकांड भाव से संचारित होती रहती, वही कुछ-कुछ याद आता है। मेरे मन का यह जो भाव है सो जैसे इसी सतत् अंकुरित, मुकुलित, पुलकित सूर्य-सनाथा आदिम पृथ्वी का भाव है । जैसे मेरी इसी चेतना का प्रवाह पृथ्वी की प्रत्येक घास और पेड़ की एक-एक जड़ और शिरा-शिरा में धीरे-धीरे प्रवाहित हो रहा है, समस्त शस्य-क्षेत्र रोमांचित हो रहे हैं और नारियल के पेड़ की एक-एक पत्ती जीवन के आवेग से थर-थर काँप रही है। इस पृथ्वी के ऊपर मेरा जो एक आंतरिक आत्मीय वत्सलता का भाव है, इच्छा होती है कि उसे ठीक से व्यक्त करूँ—लेकिन लगता है कि उसे बहुतेरे ठीक-ठीक समझ न पायेंगे, उन्हें न जाने कैसा अटेपटा-सा मालूम होगा।

नाटोर
२ दिसम्बर १८९२

कल मैं माँ के यहाँ गया था। सवेरे-शाम हम सब साथ-साथ घूमने गये। दोनों ओर खेत, बीच में से रास्ता, मुझे बहुत अच्छा लगा था। बंगाल के साँय-साँय करते हुए सूने खेत और उसके आस-पास के पेड़-पालों के बीच सूर्यास्त—कैसी एक विशाल शांति और कोमल करुणा। हमारी और आपकी इस पृथ्वी और उस बहुत दूर के आकाश के साथ कैसा एक स्नेह-भार-विनत मौन-म्लान मिलन। अनंत में जो एक विराट् चिर विरह का विषाद है वह इस साँझ की परित्यक्ता पृथ्वी के ऊपर पड़ते हुए उदास आलोक में थोड़ा सा व्यक्त कर देता है; समस्त जल, स्थल, आकाश में कैसी एक मुखर नीरवता है। बड़ी देर तक चुपचाप संकट के देखते रहने से मन में आता है कि अगर यह चराचर-व्याप्त नीरवता अपने-आपको और धारण न कर सके, यदि सहसा उसकी अनादि भाषा विदीर्ण होकर व्यक्त हो पाय तो कैसा एक गहरा, गंभीर, शांत, सुन्दर, करुण संगीत पृथ्वी से लेकर नक्षत्र-लोक तक बज उठे। सत्रमुच यही हो रहा है। हम थोड़ा-सा ध्यान लगाकर, स्थिर होकर चेष्टा करें तो संसार के सपूर्ण संकलित आलोक और रंगों की बृहद् 'हारमनी'

को मन-ही-मन एक विपुल संगीत के रूप में अनूदित कर सकते हैं। इस जगत्-व्यापी दृश्य-प्रवाह की अविरल कंपन-ध्वनि को केवल एक बार आँख मूँदकर मन के कान से सुनने की ज़रूरत है। लेकिन मैं इस सूर्योदय और सूर्यास्त के बारे में कितनी बार लिखूँगा! नित्य नये रूप में अनुभव तो किया जा सकता है, लेकिन नित्य नये रूप में मैं उसे व्यक्त कैसे करूँ ?

कटक
मार्च १८९३

ऐसे भी लोग होते हैं जो कुछ न करके भी आशातीत फल देते हैं; सु—ऐसा ही आदमी है। वह अच्छी तरह पास करेगा, प्राइज़ पायगा, लिखेगा, बड़ा काम करेगा या अच्छी नौकरी करेगा, यह सब जैसे उतना आवश्यक नहीं जान पड़ता—ऐसा लगता है कि जैसे कुछ न करके भी उसमें एक चरितार्थता है। अधिकांश लोगों के लिए अकर्मण्य रहना शोभा नहीं है। उनकी अपदार्थता फूट उठती है, लेकिन सु—चाहे कुछ भी न करे लेकिन कोई उसे अयोग्य कहकर उससे घृणा न कर सकेगा। काम-काज की व्यस्तता मनुष्य के लिए आवरण के समान है। सभी 'कामनप्लेरा' लोगों के लिए वह अत्यंत आवश्यक है—उससे उनका दैन्य, उनकी असमर्थता ढक जाती है—लेकिन जो स्वभावतः परिपूर्ण प्रकृति के लोग होते हैं वे कर्म के आवरण से मुक्त होने पर भी एक प्रकार की शोभा और संभ्रम की रक्षा कर पाते हैं। सु—के जैसी सोलह आना शिथिलता और किसी लड़के में देखने पर निश्चय ही असह्य जान पड़ती, लेकिन सु—के आलस्य में एक मिठास है। वह इसलिए नहीं कि मैं उसे प्यार करता हूँ—उसका प्रधान कारण यह है कि चुपचाप बैठे रहकर भी उसका मन काफ़ी परिणत होता जा रहा है और अपने आत्मीय स्वजनों के प्रति उसमें तनिक भी उदासीनता नहीं है। जिस आलस्य में मूढ़ता और दूसरे के प्रति अवहेलना धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते गोल-गोल गाल और चिपचिपे तेल की जैसी ही उठती है वही असल में घृणा के योग्य है। सु—एक सहृदय और सजग आलस्य के चलते जैसे मीठे रस में पगा जा रहा है। जिस पेड़ में सुगंधित फूल खिलते हैं उसमें अगर खाने योग्य फल न भी लगें तो कोई बात नहीं। सु—को जो सब लोग प्यार करते हैं वह उसके किसी काम के कारण नहीं, क्षमता के कारण नहीं, चेष्टा के कारण नहीं—उस सामंजस्य और सौन्दर्य के कारण जो उसकी प्रकृति में है।

सिलाइदह
८ मई १८९३

कविता मेरी बहुत दिनों की प्रेयसी है—शायद जब मैं रथी की उम्र का था तभी से मेरे संग उसकी मँगनी हुई थी। तब से हमारे तालाब के किनारे वाले बरगद की छाँह, हवेली के भीतर का बाग़, भीतर वाले इकतल्ले के अनजाने कमरे और बाहर की सारी

दुनिया, नौकरानियों के मुँह से सुनी हुई परी-कहानियाँ और लोक-गीतों की कड़ियाँ मेरे मन में एक विराट् माया-लोक रच रही थीं। तब के मन के उस धुँधले-धुँधले भाव को व्यक्त करना बहुत कठिन है लेकिन इतना अच्छी तरह कह सकता हूँ कि तभी से कवि-कल्पना के साथ माला की अदला-बदली हो गयी थी। लेकिन वह लड़की सुलक्षणा नहीं है, यह स्वीकार करना ही होगा, और चाहे जो हो सौभाग्य लेकर वह नहीं आती। सुख नहीं देती, यह तो न कह सकूँगा लेकिन हाँ स्वस्ति से उसका निश्चय ही कोई सम्पर्क नहीं है। वह जिसका वरण करती है उसको घना आनन्द देती है लेकिन कभी-कभी अपने कठोर आलिंगन में लेकर वह हृत्पिंड का सारा लहू निचोड़ लेती है। जिस आदमी को वह चुनती है उस अभागे के लिए संसार में जड़ जमाकर, गृहस्थ होकर, स्थिर होकर निश्चिन्त होकर बैठना बिलकुल असंभव कर देती है। लेकिन मेरा असली जीवन उसी के हाथ बंधक रखा हुआ है। मैं चाहे 'साधना' लिखूँ, चाहे ज़मींदारी देखूँ, जैसे ही मैं कविता लिखना शुरू करता हूँ वैसे ही मैं अपने चिरंतन वास्तविक 'स्व' के भीतर् प्रवेश करता हूँ—मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि यही मेरा स्थान है। जीवन में ज्ञात रूप से और अज्ञात रूप से बहुधा मिथ्याचार किया जाता है, लेकिन कविता मे कभी मैंने झूठ का सहारा नहीं लिया—यही मेरे जीवन के सभी गहरे सत्यों का एक-मात्र आधार है।

कलकत्ता

३१ जून १८९३

इस बार की डायरी में प्रकृति का गुण-गान नहीं करूँगा—मन-नामक एक उद्भ्रान्त चंचल पदार्थ को किसी प्रकार हमारे शरीर में प्रविष्ट कराने से कैसा एक उत्पात मच गया है, इसी पर मैंने विचार किया है। सच तो यह है कि पहले इतनी ही बात थी कि हम खायेंगे, पहनेंगे, ज़िन्दा रहेंगे—हम जो विश्व का आदि कारण खोजते हैं, अपनी इच्छा से अत्यंत कठिन किसी एक भाव को व्यक्त करने का प्रयास करते हैं और उसके साथ ही यह ज़रूरत भी अनुभव करते हैं कि उसके हर पद में मेल हो, तुक हो, सिर से पैर तक क़र्ज़ मे डूबे रहकर भी महीने-महीने घर की कौड़ी ख़र्च करके 'साधना' प्रकाशित करते हैं, इसकी क्या ज़रूरत थी? उधर नारायण सिंह को देखो, खूब मोटे-मोटे टिक्कड़ बनाकर, घी चुपड़कर, उसके साथ दही मिलाकर प्रेमपूर्वक भोजन करके, दो-एक चिलम तम्बाकू खींचकर दोपहर में कैसा निश्चिंत सो रहा है और सवेरे-शाम दुनिया के छोटे-मोटे दो-चार ठो काम करके रात में चैन से आराम करता है। जीवन व्यर्थ हुआ, विकल हुआ, स्वप्न में भी उसे कभी इसका विचार नहीं आता, संसार की उन्नति काफ़ी तेज़ी से नहीं हो रही है इसके लिए वह कभी अपने को जिम्मेदार नहीं समझता। जीवन की सफलता की बात का कोई मतलब नहीं है—प्रकृति का एक-मात्र आदेश है 'ज़िंदा रहो'। नारायण सिंह उसी आदेश को अपना लक्ष्य बनाकर निश्चिन्त है। और जिस अभागे के वक्ष में मन नाम का जन्तु गड्ढा खोदकर घुसा बैठा है, उसके लिए कहीं आराम नहीं है, उसके लिए कभी

कुछ भी काफ़ी नहीं होता, अपने चारों ओर की स्थिति से साथ उसका सामंजस्य नष्ट हो गया है—वह जब पानी में रहता है तब धरती के लिए लालायित रहता है और जब धरती पर रहता है तब पानी में तैरने के लिए उसके भीतर 'असीम आकांक्षा' जागती है। इस हठीले असंतुष्ट मन को प्रकृति की अगाध शांति में विसर्जित करके अगर थोड़ी देर स्थिर होकर बैठा जा सके तभी त्राण है, असल बात यही है।

साजादपुर
३० आषाढ़ १८९३

आजकल कविता लिखना मेरे लिए गोपन—निषिद्ध सुख-संभोग-जैसा हो गया है—इधर आगामी मास की 'साधना' के लिए एक लाइन भी नहीं लिखी गयी, उधर बीच-बीच में सम्पादक कोंचता रहता है, निकट ही आश्विन-कार्तिक की 'साधना' का युग्म अंक खाली हाथ मेरे मुँह की ओर ताककर मुझको खरी-खोटी सुना रहा है और मैं हूँ कि अपनी कविता के अंतःपुर में भागा फिर रहा हूँ। रोज़ सोचता हूँ, आज का दिन गया तो क्या—इसी तरह कितने ही दिन कट गये। मैं ठीक से समझ नहीं पाता कि मेरा असली काम क्या है। कभी-कभी सोचता हूँ कि मैं छोटी-छोटी कहानियाँ बहुत-सी लिख सकता हूँ और बुरा भी नहीं लिखता—लिखते समय सुख भी मिलता है। कभी-कभी सोचता हूँ कि मेरे दिमाग़ में ऐसे बहुत-से भाव उदित होते हैं जो कविता में ठीक ढंग से व्यक्त करने के योग्य नहीं होते उन सबको डायरी आदि नाना रूपों में लिखकर रख देना अच्छा है, शायद उसमें फल भी है, आंनद भी। कभी-कभी सामाजिक विषयों को लेकर अपने देशवासियों के साथ झगड़ा करना बहुत ज़रूरी हो जाता है, जब दूसरा कोई नहीं करता तो मुझी को इस अप्रिय कर्तव्य का निर्वाह करना पड़ता है—और फिर कभी-कभी यह विचार मन में आता है, 'चूल्हे में जाय! दुनिया खुद अपने चर्खे में तेल दे लेगी, तुक बैठाकर, छंद जोड़कर छोटी-छोटी कविता लिखना ही मेरे लिए ठीक है, सब छोड़-छाड़कर अलग अपने कोने में बैठकर यही काम किया जाय।' मदगर्विता युवती जिस प्रकार अपने बहुत-से प्रणयी-जनों को लेकर किसी को अपने हाथ से नहीं जाने देना चाहती, मेरी भी कुछ-कुछ वैसी ही स्थिति है। म्यूज़ो में से किसी को मैं निराश नहीं करना चाहता—लेकिन उससे काम बहुत बढ़ जाता है औग शायद 'लंबी-दौड़' में किसी को भी मैं पूरी तरह अपने अधिकार में नहीं ला पाता। साहित्य-विभाग में भी कर्तव्य-बुद्धि का अधिकार है, लेकिन अन्य विभागों की कर्तव्य-बुद्धि में और उसमें कुछ अंतर है। किससे दुनिया का सबसे ज्यादा उपकार होगा, साहित्य के कर्तव्य-ज्ञान में यह सोचने की ज़रूरत नहीं है, सोचने की चीज़ इतनी ही है कि मैं कौन-सी चीज़ सबसे अच्छी तरह कर सकता हूँ। कदाचित् जीवन के सब विभागों में यही बात है। मेरी समझ में जितना कुछ आता है उससे मुझको तो यही लगता है कि कविता पर ही मेरा सबसे अधिक अधिकार है। लेकिन मेरी भूख की आग विश्व-राज्य और मनोराज्य सब जगह अपनी लपटें फैलाना

चाहती है। जब मैं गीत-रचना शुरू करता हूँ तो ख़याल आता है कि अगर इसी काम में लगा रहूँ तो क्या बुरा है और जब किसी अभिनय में लगता हूँ तो ऐसा नशा धर दबाता है कि सोचता हूँ, और क्या चाहिए, इसमें भी तो एक आदमी अपना जीवन लगा सकता है। और जब 'बाल-विवाह' या 'शिक्षा का हेर-फेर'-जैसी चीज़ों में पड़ता हूँ तो ख़याल होता है कि यही जीवन का सर्वोच्च कार्य है। और अगर लाज-शर्म को किनारे रख कर बात कहनी हो तो यह भी स्वीकार करना होगा कि वह जो चित्र-विद्या नाम की एक विद्या है उसके प्रति भी मैं सदा हताश प्रेमी की तरह लुब्ध आँखों से देखता रहता हूँ—लेकिन उसे पाने की आशा अब नहीं है, साधना करने की उम्र निकल गयी। अन्य विद्याओं की तरह उसको भी सहज ही पा लेने का ढंग नहीं है—बिलकुल धनुष तोड़ने-जैसी शर्त है उसकी—तूलिका घसीट-घसीटकर हैरान हुए बिना उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। अकेले कविता को लेकर बैठे रहना ही मेरे लिए सबसे अच्छा है—लगता है कि उन्होंने अपने-आपको सबसे ज्यादा मेरी पकड़ में आने दिया है, मेरी बचपन की पुरानी अनुरागिनी संगिनी।

सिलाइदह
९ अगस्त १८९४

नदी बिलकुल किनारे तक भर उठी है। दूसरा पाट प्रायः दिखायी नहीं देता। पानी कहीं कल-कल करके बह रहा है और कहीं जैसे कोई चंचल जल को दोनों हाथों से दाब-दाबकर सबको समान रूप से फैलाये दे रहा है। आज मैंने देखा, छोटा-सा एक मरा हुआ पक्षी लहर से साथ बहता चला आ रहा है—उसकी मृत्यु का इतिहास खूब समझ में आ रहा है। किसी गाँव के किनारे बाग़ में आम की शाखा पर उसका घोंसला था। शाम के वक्त अपने घोंसले में लौटकर अपने संगियों के नरम-गरम पंखों के साथ पंख मिलाकर वह अपनी थकी देह लिये सो रहा था। एकाएक रात में पद्मा ने ज़रा-सा अपना रास्ता बदला और पेड़ के नीचे की मिट्टी धँसी। नीड़-च्युत पक्षी हठात् एक क्षण के लिए जागा और फिर उसे जागना नहीं पड़ा। मैं जब शहर से दूर क़स्बे में रहता हूँ तब मुझे लगता है कि एक विराट् सर्वग्रासी रहस्यमयी प्रकृति के लेखे मुझमें और दूसरे जीवों में कोई विशेष अंतर नहीं होता! शहर में मनुष्य-समाज अत्यंत प्रधान हो उठता है; वहाँ पर निष्ठुर होकर अपने सुख-दुःख के आगे दूसरे किसी प्राणी के सुख-दुःख को गिनता ही नहीं। यूरोप में भी मनुष्य इतना जटिल और इतना प्रधान है कि वह जन्तु को और भी बड़ा जन्तु समझता है। भारतीय लोग मनुष्य से जन्तु और जन्तु से मनुष्य होने को कुछ भी नहीं समझते, इसीलिए हमारे शास्त्रों में सब प्राणियों के प्रति दया एक असंभव अतिरंजना कहकर त्यागी नहीं गयी। क़स्बे में विश्व-प्रकृति के साथ देह का घनिष्ठ संस्पर्श

होने से मेरा वही भारतीय स्वभाव जाग उठता है। एक पक्षी के कोमल पंखों से घिरे स्पन्दित क्षुद्र वक्ष में भी जीवन का आनंद कितना प्रबल है, यह मैं अचेतन रूप से भी भूल नहीं पाता।

[१८८५ और १८९५ के बीच लिखे गये पत्र। प्रथम आठ पत्र कवि ने अपने मित्र श्रीशचन्द्र मजुमदार को लिखे थे। बाकी संख्या ९ से १५२ तक के पत्र कवि की भानजी इन्दिरा देवी को सम्बोधित थे। पुस्तक रूप में इनका प्रथम प्रकाशन सन् १९११ में हुआ। इसका नवीन संस्करण 'छिन्न पत्रावली' नाम से सन् १९६१ में हुआ है, जिसमें २५२ पत्र हैं। इस संग्रह के अंश अंग्रेज़ी में 'ग्लिम्सैज़ फ्रॉम बैंगाल' नाम से अनूदित हुए हैं।]

२

जापान-यात्री

मैंने जितनी बार बंबई से यात्रा की है जहाज़ के चलने में कभी देर नहीं हुई। कलकत्ता की जहाज़ की यात्रा के लिए अगली रात से ही जाकर उसमें बैठना होता है। यह अच्छा नहीं लगता। क्योंकि यात्रा करने का मतलब ही है मन में चलने का वेग जुटाना। मन जब चलने की ओर होता है तब उसे खड़ा करके रखना उसकी एक शक्ति के साथ दूसरी शक्ति की लड़ाई लगाना है। आदमी जब घर में जमकर बैठा होता है तब इसीलिए विदाई का आयोजन कष्टकर होता है क्योंकि ठहरने और जाने का संधिस्थल मन के लिए मुश्किल की जगह होती है—वहाँ पर उसे दो उल्टी दिशाएँ सँभालनी पड़ती हैं जोकि एक तरह का कठिन व्यायाम है। घर के सब लोग जहाज़ पर चढ़ाकर घर लौट गये, मित्रों ने फूलों की माला गले में पहनाकर विदा दी, लेकिन जहाज़ नहीं चला। यानी जिन्हें रुकना था वही चले गये और जिसे चलना था वह खड़ा रहा, घर दूर हट गया और नाव खड़ी रही।

विदा लेने-मात्र में एक पीड़ा है, उस पीड़ा का प्रधान कारण यह है कि जीवन में जो कुछ सबसे ज्यादा जान-समझकर पाया गया है उसे अनजान के हाथों समर्पित करके जाना। उसके बदले में दूसरा कुछ न मिलने पर यही शून्यता मन के लिए बोझ बन जाती है। यह लाभ है अनिर्दिष्ट को निर्दिष्ट के भण्डार में उत्तरोत्तर पाते चलना, अपरिचय को धीरे-धीरे परिचय के कोठे के भीतर समेटते रहना। इसीलिए यात्रा में जो दुःख है, चलना ही उसकी दवा है, लेकिन यात्रा तो मैंने की पर चला नहीं, इसे सहना बहुत कठिन है।

अचल जहाज़ का केबिन क़ैद की दो अतिशा शराब है। जहाज़ चलता है इसीलिए हम लोग उनके कमरे की संकीर्णता को माफ़ कर देते हैं। लेकिन जहाज़ जब स्थिर रहता है तब केबिन में स्थिर रहना वैसा ही है जैसा मृत्यु के ढक्कन के नीचे क़ब्र के ढक्कन में बंद रहना।

डेक पर सोने की व्यवस्था की गयी। इसके पहले बहुत बार जहाज़ पर चढ़ा हूँ, बहुत से कप्तानों के साथ मेरा सम्बन्ध रहा है। हमारे इस जापानी कप्तान की एक विशेषता है मिलने-जुलने में बहुत अच्छा है कि इससे फ़ौरन ऐसा लगता है कि बड़ा मस्त आदमी है। लगता है कि इससे अनुरोध करके जो मन चाहे किया जा सकता है, लेकिन काम के समय दिखाई पड़ता है कि वह नियम से रत्ती-भर इधर-उधर नहीं होता। हमारे सहयात्री अंग्रेज़ी मित्रों ने डेक पर अपनी गद्दी ले आने की कोशिश की थी, लेकिन जहाज़ के

कर्ता-धर्ता लोगों ने सिर हिला दिया, वह बात नहीं हो सकी। सवेरे ब्रेकफ़ास्ट के वक्त वे लोग जिस टेबुल पर बैठे थे वहाँ पंखा नहीं था, हमारी टेबुल पर जगह थी यह देखकर उन्होंने हमारी टेबुल पर बैठने की इच्छा जतलायी। यह एक सामान्य अनुरोध था, लेकिन कप्तान ने कहा, इस समय का बंदोबस्त हो गया, डिनर के वक्त देखा जायगा। हमारी टेबुल पर चौकी खाली रही, लेकिन नियम में हेर-फेर नहीं हुआ। अच्छी तरह समझ में आ रहा है कि ज़रा भी ढील-ढाल न चलेगी।

रात को बाहर सोया गया, लेकिन इसे बाहर कैसे कहें? जहाज़ के मस्तूलों की वजह से आकाश ऐसा दिखायी पड़ता था कि जैसे भीष्म शर-शय्या पर लेटे हुए मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हों। शून्य के राज्य में कहीं भी व्यवधान न था। लेकिन वस्तु-राज्य की स्पष्टता भी न थी। जहाज़ की रोशनियाँ एक बड़े आयतन की सूचना दे रही थीं, पर किसी आकार को न देखने देती थीं।

मैंने किसी कविता में लिखा था कि मैं निशीथ-रात्रि का सभा-कवि हूँ। मेरे मन में बराबर यह बात आती है कि दिन का समय मर्त्य-लोक का होता है और रात का समय देवलोक का। आदमी डरता है, आदमी काम-काज करता है, आदमी अपने पैर के पास का रास्ता साफ़-साफ़ देखना चाहता है, इसीलिए इतनी बड़ी-सी एक रोशनी जलानी पड़ी। देवताओं को डर नहीं लगता, देवताओं का काम-काज गुप्त रूप से चुपचाप होता है, देवताओं के चलने और न चलने में कोई विरोध नहीं इसलिए असीम अंधकार देव-सभा का गलीचा है। देवता रात को ही हमारे झरोखे में आकर दर्शन देते हैं।

लेकिन आदमी का कारख़ाना जब रोशनी जलाकर उस रात पर भी अपना अधिकार करना चाहता है तब वह केवल आदमी को ही क्लेश पहुँचाता हो ऐसी बात नहीं है, देवताओं को भी क्लेश पहुँचाता है। हम लोगों ने जब से बत्ती जलाकर रात को जागकर इम्तहान पास करना शुरू किया है तभी से हम सूरज की रोशनी की अपनी सुस्पष्ट निर्दिष्ट सीमा का उल्लंघन करने लगे हैं और तभी से देवताओं और मनुष्यों में युद्ध छिड़ गया है। आदमी के कारख़ाने-घर की चिमनियाँ फूँ-फूँ करके अपने भीतर की कालिख स्वर्गलोक फैलाती हैं, लेकिन यह अपराध उतना बड़ा नहीं है—क्योंकि दिन आदमी की अपनी चीज़ है, उसके मुँह में वह कालिख पोत दे तो भी देवता इस बात को लेकर उस पर नालिश नहीं करेंगे। लेकिन जब आदमी रात्रि के अखण्ड अंधकार को अपने प्रकाश के टुकड़े-टुकड़े कर देता है तब वह देवताओं के अधिकार में हस्तक्षेप करता है, कि जैसे वह अपनी सीमा को लाँघकर प्रकाश की खूँटी गाड़कर देवलोक पर अधिकार करना चाहता हो! उस दिन रात को मैंने गंगा पर इसी देव-विद्रोह का विपुल आयोजन देखा। इसीसे मनुष्य की क्लांति पर देवलोक की शांति का आशीर्वाद नहीं दिखाई पड़ा। आदमी कहना चाहता है, 'मैं भी देवताओं-जैसा हूँ, मैं भी थकना नहीं जानता।' लेकिन यह सब झूठ बात है। इसीलिए वह चारों ओर की शांति नष्ट कर रहा है। इसीलिए वह अंधकार को अपवित्र किये दे रहा है।

दिन प्रकाश से भरा हुआ है, अंधकार ही परम निर्मल है, अँधेरी रात समुद्र जैसी होती है, अंजन की तरह काली, लेकिन तो भी निरंजन। और दिन नदी जैसा होता है, काला नहीं पंकिल। रात्रि के इस अतल-स्पर्श अंधकार को भी उस दिन मैंने खिदिरपुर की जेटी पर मलिन देखा। मन में आया, देवताओं ने स्वयं अपना चेहरा मलिन कर लिया है।

ऐसा ही ख़राब लगा था एडेन के बंदरगाह पर। वहाँ पर मनुष्य के हाथ बंदी होकर समुद्र भी कलुषित हो गया है। पानी पर तेल तैरता है, मनुष्य के कूड़े-करकट को स्वयं समुद्र भी डुबा नहीं पाता। उस रात जहाज़ के डेक पर सोये-सोये जब मैंने रात को भी कलंकित देखा तो मेरे मन में आया कि एक दिन इन्द्रलोक ने दानवों के आक्रमण से पीड़ित होकर ब्रह्मा के पास जाकर शिकायत की थी—आज आदमियों के अत्याचार से कौन रुद्र देवताओं की रक्षा करेंगे।

कप्तान ने कह रखा है आज शाम को आँधी आयगी बैरोमीटर गिर रहा है; लेकिन शांत आकाश में सूर्य अस्त हुआ। हवा में जितना वेग रहने से उसको मन्द पवन कहते हैं अर्थात् कवि लोग उसकी तुलना युवती के मन्दगमन से कर सकते हैं, यह उससे ज्यादा है, लेकिन लहरों को लेकर रुद्र ताल की करताल बजाने-जैसी महफ़िल नहीं जमी। जहाज़ जितना बोल दे रहा है उससे तो यह तूफ़ान की गौर चंद्रिका भी नहीं जान पड़ती। मैंने सोचा कि आदमी के राशि-चक्र की तरह हवा के राशि-चक्र की गणना का मेल ठीक नहीं बैठता, इस यात्रा में आँधी का मृत्यु-योग कट गया है। इसी से मैं पाइलट के हाथ में अपनी ज़मीन के काग़ज़ात देकर प्रसन्न समुद्र की अभ्यर्थना के लिए डेक-चेयर खींचकर पच्छिम की ओर मुँह करके बैठ गया।

होली की रात को मधेसिया दरबानों की धमाचौकड़ी की तरह हवा की लय धीरे-धीरे तेज़ होने लगी। पानी के ऊपर सूर्यास्त के अल्पना-अंकित आसन को ढाँककर नीलाम्बरी घूँघट डाले हुए संध्या आ बैठी। आकाश में अब भी बादल न थे। छायापथ आकाश-समुद्र के फेन की तरह चमकने लगा।

डेक पर बिस्तर बिछाकर जब लेटा उस वक्त हवा और पानी में अच्छा-ख़ासा 'कवियों का दंगल' छिड़ा हुआ था, एक ओर सौं-सौं की आवाज़ तान लगा रही थी और दूसरी ओर छल-छल की आवाज जवाब दे रही थो, लेकिन ऐसा नहीं लगा कि तूफ़ान आने वाला है। आकाश के तारों के साथ आँखें मिलाते-मिलाते न जाने कब मेरी आँखें झिप गयीं।

रात को सपना देखा, मैं मृत्यु के सम्बन्ध में कोई वेद-मत्र दुहराकर किसी को समझा रहा हूँ। अद्‌भुत उसकी रचना है कि जैसे एक विपुल आर्त्तस्वर, लेकिन तो भी उसमें मरण का एक विराट् वैराग्य है।

इसी मंत्र के बीच में जागकर मैंने देखा कि आकाश और पानी दोनों उस समय पागल हो रहे हैं। समुद्र काली के समान फेन की जीभ निकाले प्रचण्ड अट्टहास के साथ नाच रहा है।

आकाश की ओर ताककर मैंने देखा बादल जान पर खेलने के लिए तैयार हो रहे

हैं कि जैसे उन्हें अपने भले-बुरे का कुछ भी ज्ञान न रह गया हो और कह रहे हों, 'होगा जो तक़दीर में लिखा होगा।' और पानी की भावना भी सुनायी न पड़ रही हो। मल्लाह लोग छोटी-छोटी लालटेनें हाथ में लेकर परेशान इधर-उधर आ-जा रहे थे। लेकिन चुपचाप। बीच-बीच में इंजिन के लिए कर्णधार को संकेत-घंटाध्वनि सुनाई पड़ रही है।

इस बार बिस्तरे पर लेटकर सोने की कोशिश की। लेकिन बाहर पानी और हवा का गर्जन और मेरे मन में वही सपने वाला मरण-मंत्र बारी-बारी से बजने लगा। मेरे सोने और जागने का ठीक वही हाल था जो उस तूफ़ान और उन लहरों का था, दोनों पागलों की तरह एक-दूसरे से गुत्थम-गुत्था कर रहे थे और मैं समझ न पाता था, सो रहा हूँ या जाग रहा हूँ।

क्रोधी आदमी जैसे बात न कह पाने पर फूल उठता है, सवेरे से बादल भी वैसे ही लगे। हवा केवल श ष स और पानी केवल बाकी अंत्यस्थ वर्ण य र ल व ह लेकर ज़ोर-ज़ोर से चण्डी-पाठ करने लगा और बादल जटा फटकारते हुए भृकुटी ताने इधर-उधर घूमने लगे। आख़िरकार मेघ की वाणी ने जलधारा का रूप ले लिया। गंगा की धारा में एक बार विष्णु नारद की वीणा-ध्वनि से विगलित हुए थे, मुझे वही पौराणिक कथा याद आ रही थी। लेकिन यह कौन नारद प्रलयवीणा बजा रहा है—इसके साथ नंदी-भृंगी का मेल जो देख रहा हूँ और उधर विष्णु के साथ रुद्र का अंतर मिट गया।

अब तक जहाज की नित्य-क्रिया ही चली जा रही है, यहाँ तक कि हमारे नाश्ते में भी व्याघात नहीं हुआ। कप्तान के चेहरे पर कोई परेशानी नहीं है। उन्होंने कहा, इस तरह का थोड़ा-बहुत होता ही रहता है, जिस तरह हम लोग यौवन की चंचलता को देखकर कहा करते हैं, 'यह तो उम्र का तकाज़ा है।'

केबिन में रहने पर झुनझुने के भीतर वाली कौड़ियों की तरह धक्के खाना होगा, हिलते रहना होगा, इससे तो अच्छा है आमने-सामने तूफ़ान से मुक़ाबला करना। मैं अपना शाल-कम्बल सिर के ऊपर उठाकर जहाज़ के डेक पर बैठा। आँधी का जोर पश्चिम की ओर से आ रहा था। इसीलिए पूरब की ओर डेक पर बैठना कठिन न था।

धीरे-धीरे आँधी बढ़ने लगी। बादलों और लहरों में कोई अंतर न रहा। समुद्र का रंग भी वैसा नहीं रहा, चारों ओर एक-सा मटमैला फीका। बचपन में अरबी उपन्यासों में पढ़ा था कि माँझी के जाल में जो घड़ा फँस गया था उसका ढक्कन खोलते ही उसके भीतर से धुएँ की तरह लाखों दैत्य एक-दूसरे को ठेलते-ठालते आकाश की ओर उठने लगे।

जापानी मल्लाह दौड़-भाग कर रहे हैं लेकिन उनके चेहरे पर हँसी ज्यों-की-त्यों है। उनके भाव को देखकर लगता है कि जैसे समुद्र अट्टहास करके जहाज के साथ सिर्फ़ ठिठोली कर रहा है। पश्चिम की ओर के डेक, दरवाज़े आदि सब बंद हैं, लेकिन तो भी उन सब बाधाओं को तोड़कर, रह-रहकर पानी की लहरें हरहराती हुई अंदर आ जाती हैं और यही देखकर वे लोग हो-हो कर उठते हैं। कप्तान ने बार-बार हम लोगों से कहा है कि यह छोटा तूफ़ान है, मामूली तूफ़ान है। एक बार हमारे स्टुअर्ड ने आकर मेज़ के ऊपर उँगली से खींचकर हमें यह समझाने की कोशिश की कि तूफ़ान की वजह से जहाज़

को किस तरह अपना रास्ता बदलना पड़ा है। इसी बीच पानी की बौछार से मेरा शाल-कम्बल सब-कुछ भीग गया और मैं सर्दी के मारे काँपने लगा। और कहीं सुविधा न देखकर मैंने कप्तान के कमरे में जाकर पनाह ली। कप्तान को किसी तरह की उद्विग्नता है, बाहर से इसका कोई लक्षण मैं न देख सका।

कमरे के भीतर मैं और ठहर न सका। भीगा हुआ शाल सिर पर रखे मैं फिर बाहर आ बैठा। इतने तूफ़ान में भी लोग डेक पर जो इधर-उधर धक्का खाकर गिर नहीं पड़ते उसका कारण यही है कि जहाज़ ठसाठस भरा हुआ है। भीतर से जो रीते हैं उसकी-जैसी हिलती-डुलती हालत हमारे जहाज़ की नहीं है। मृत्यु की बात बहुत बार मन में आयी। चारों ओर ही तो मृत्यु हैं, दिगंत से लेकर दिगंत तक मृत्यु, उनके बीच इतना ही-सा तो हमारा प्राण है। सारी आस्था क्या इसी नन्हीं-सी चीज़ पर रखूँगा और इतनी बड़ी-सी जो चीज़ है उसका बिलकुल विश्वास न करूँगा? —बड़े के ऊपर भरोसा रखना ही ठीक है।

डेक पर अब बैठा नहीं जाता। नीचे उतरने लगा तो मैंने देखा कि सीढ़ी तक सारे डेक के पैसेंजर ठसाठस रास्ते में बैठे हुए हैं। बड़ी मुश्किल से उनके बीच से रास्ता बनाकर मैं केबिन में जाकर लेट रहा। इस बार सारा तन-मन चक्कर खाने लगा। मन में आया कि देह और प्राणों में अब बन नहीं रही है, दूध मथने से जिस तरह मक्खन अलग हो जाता है प्राण का भी वैसा ही हाल हो रहा है। जहाज़ के ऊपर का हिलना-डुलना सहा जा सकता है, जहाज के भीतर का हिलना-डुलना सहना कठिन है। कंकड़ के ऊपर चढ़ना और जूते के भीतर कंकड़ लेकर चलना इन दोनों में जो अंतर है यह भी वैसी ही चीज़ है न, एक में मार तो है बंधन नहीं है, और दूसरा बाँधकर मारता है।

केबिन में लेटे-लेटे मुझे सुनाई पड़ा कि डेक पर न जाने कौन-कौन-सी चीज़ें गिर-गिरकर टूट रही हैं। केबिन में हवा आने के लिए जो फनेल डेक पर खुलकर गहरी साँस लेते हैं, उनके मुँह को ढक्कन से बंद कर दिया गया है लेकिन लहरों की ज़बरदस्त चोट से पानी उनके भीतर से भी रह-रहकर केबिन में आ रहा है। बाहर उनचासों पवन का नाच हो रहा है, लेकिन केबिन के भीतर हवा का नाम नहीं है एक बिजली का पंखा चल रहा है, जिससे गर्मी मानो घूम-घूमकर अपनी पूँछ से शरीर पर चोट मारने लगी।

एकाएक मेरे मन में आया कि यह बिलकुल असह्य है; लेकिन मनुष्य में शरीर, मन और प्राण से बड़ी एक सत्ता है। आँधी के आसमान के ऊपर भी जैसे शांत आकाश है, तूफ़ान के समुद्र के नीचे भी जैसे शांत समुद्र है, जिस तरह वह आकाश और वही समुद्र बड़ा है वैसे ही मनुष्य के हृदय के भीतर और उससे ऊँचा उसी तरह का एक विराट् शांत पुरुष है—विपत्ति और दुःख के भीतर से देखने पर वह मिलता है—दुःख उसके पैर के नीचे होता है और मृत्यु उसे छू नहीं पाती।

शाम के वक्त आँधी रुक गयी। ऊपर जाकर मैंने देखा कि इतनी देर में जहाज़ को समुद्र की जो चोटें लगी हैं उनके अनेक चिह्न हैं। कप्तान के कमरे की एक दीवार टूट जाने से उनका माल-असबाब सब भीग गया। एक बँधी हुई लाइफ़बोट ज़ख्मी हो गयी।

डेक पर पैसेंजरों का एक कमरा और भण्डार का एक हिस्सा टूट गया है। जापानी मल्लाह ऐसे तमाम कामों में लगे हुए थे जिनमें ज़ान-ज़ोखिम था। जहाज़ जिस तरह बराबर आसन्न संकट के साथ लड़ाई करता रहा है उसका एक स्पष्ट प्रमाण मिला—जहाज के डेक पर कॉर्क के बने हुए तैरने के कपड़े कायदे से रखे थे। इन सबको बाहर निकालने की बात एक बार कप्तान के मन में आयी थी। लेकिन आँधी के वक्त की सब चीज़ों में जो चीज़ सबसे ज्यादा स्पष्ट रूप से मेरे मन पर अंकित है, वह है जापानी मल्लाहों की हँसी।

शनिवार के रोज़ आकाश प्रसन्न था, लेकिन समुद्र का क्षोभ अब भी कम नहीं हुआ। आश्चर्य इसी बात का है कि आँधी के समय जहाज़ इस तरह नहीं हिला था जैसा कि अब हिल रहा था, कि जैसे काल-मयूर के उत्पात को वह किसी तरह क्षमा न कर पा रहा हो और रह-रहकर फुंकार उठता हो। शरीर की भी बहुत-कुछ वैसी ही हालत है, आँधी के वक्त उसमें एक तरह की शक्ति थी लेकिन उसके अगले दिन वह भूल न पा रहा था कि उसके ऊपर आँधी गुज़र चुकी है।

आज रविवार है। पानी का रंग फीका हो गया है। इतने दिन बाद आज मैंने आसमान में एक चिड़िया देखी—यही चिड़ियाँ पृथ्वी का संदेश आकाश में ले जाती हैं, आकाश उन्हें आलोक देता है, पृथ्वी उन्हें अपना गान देती है। समुद्र में जो कुछ गान है वह केवल अपनी लहरों का—उसकी गोद में प्राणी बहुत-से हैं, पृथ्वी से कहीं अधिक, लेकिन उनमें से किसी के कंठ में स्वर नहीं है, उन अंसख्य गूँगे प्राणियों की ओर से खुद समुद्र ही अपनी बात कह रहा है, स्थल के जीव प्रधानतः शब्दों के द्वारा ही अपने मन के भावों को व्यक्त करते हैं, जलचरों की भाषा है गति। समुद्र नृत्य-लोक है और पृथ्वी शब्द-लोक।

आज तीसरे पहर चार-पाँच बजे तक रंगून पहुँचने की बात है। मंगलवार से लेकर शनिवार तक पृथ्वी पर अनेक ख़बरें आती-जाती रहीं, हम लोगों के लिए वह सब जैसे बर्फ़ होकर एक जगह जमी रहीं, व्यापार के धन के समान नहीं जिसका हिसाब हर रोज़ होता है, कम्पनी के काग़ज़ों की तरह अगोचर रूप से जिनका सूद जमा होता रहता है।

२४ बैसाख १३२३ (बंगाब्द)

उस दिन एक धनी जापानी ने चाय पीने के लिए मुझे अपने घर आमंत्रित किया था। तुम लोगों ने ओकाकूरा की Book of Tea पढ़ी है, उसमें यह अनुष्ठान वर्णित है। उस दिन यह अनुष्ठान देखकर स्पष्ट रूप से समझ में आया कि जापानियों के लिए यह एक धार्मिक अनुष्ठान के बराबर होता है। यह उन लोगों की एक जातीय साधना है। इस चीज़ से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि कौन-सा आदर्श उनका लक्ष्य है।

कोबे से लंबा रास्ता मोटर से तय करके हम लोग सबसे पहले एक बाग़ में गये, उस बाग़ में छाया, सौंदर्य और शांति बहुत घने रूप में छायी हुई थी। बाग़ किस चीज को कहते हैं यह लोग खूब जानते हैं। थोड़े-से कंकड़ बिछाकर और पेड़ लगाकर मिट्टी

पर ज्योमेट्री की लाइनें खींच देना ही बाग़ लगाना नहीं है, यह बात जापानी बाग़ में घुसते ही समझ में आ जाती है। जापानी आँखों और हाथों दोनों को प्रकृति से सौंदर्य की दीक्षा मिली है। वह लोग जिस तरह देखना जानते हैं उसी तरह गढ़ना जानते हैं। ढके हुए रास्ते से होकर जाने पर एक जगह पेड़ के नीचे पत्थर का एक गड्ढा खोदकर उसमें साफ़ पानी रखा हुआ है, उसी पानी से हम लोगों ने हाथ-मुँह धोया। फिर एक छोटे-से कमरे में ले जाकर उन्होंने बेंच पर छोटे-छोटे गोल-गोल घास के आसन बिछा दिये—और हम लोग उस पर बैठ गये। यहाँ पर थोड़ी देर चुपचाप बैठना होगा, ऐसा ही क़ायदा है। जाते ही गृहस्वामी से मुलाकात नहीं होती। मन को शांतिपूर्वक स्थिर करने के लिए एक के बाद एक बुलाकर ले जाया जाता है। धीरे-धीरे दो-तीन कमरों में आराम करते-करते आख़िरकार हम लोग असल जगह पर पहुँचे। सारा कमरा निस्तब्ध था कि जैसे चिरप्रदोष की छाया से ढका हुआ हो, कोई कुछ न बोल रहा था। मन पर इस घनी छाया वाली निःशब्द निस्तब्धता का सम्मोहन निरंतर गहन होता जाता है। आख़िरकार धीरे-धीरे गृहस्वामी ने आकर नमस्कार करके हमारी अभ्यर्थना की।

यह कहना ठीक होगा कि कमरे में साज-सामान नहीं था, लेकिन तो भी लगता था कि जैसे कमरा भरा हुआ हो, गमगमा रहा हो। बस कहीं-कहीं एक अकेली तस्वीर या एक कोई पात्र रखा हुआ है। निमंत्रित लोग उसी को ध्यान से देखकर चुपचाप तृप्ति-लाभ कर रहे हैं। जो चीज़ सचमुच सुन्दर है उसके चारों ओर काफ़ी-सी ख़ाली जगह होनी चाहिए। अच्छी चीज़ों को बहुत ठूँस-ठाँसकर रखना उनका अपमान करना है—वह तो ऐसा ही है कि जैसे पतिव्रता स्त्री और उसकी सौत दोनों को एक ही कमरे में ठूँस दिया जाय। थोड़ी-थोड़ी देर इंतज़ार करके, स्तब्धता और निस्तब्धता से मन की भूख को जगाकर फिर इस तरह एक-दो अच्छी चीज़ें दिखाने से वह कितनी चमक उठती हैं, यहाँ आकर मैं इस बात को साफ़-साफ़ समझ सका। मुझे याद आया कि शांतिनिकेतन के आश्रम में जब मैं एक-एक दिन एक-एक गीत लिखकर सबको सुनाता तब वह गीत अपने हृदय को उनके आगे भरपूर खोल देता। लेकिन उन्हीं सब गीतों को एक-साथ जोड़कर जब मैं कलकत्ता ले आया और वहाँ मित्रों की गोष्ठी में सुनाया तब उनकी अपनी यथार्थश्री जैसे ढक गयी। इसका मतलब यही है कि कलकत्ता के मकान में गीत के चारों ओर खाली जगह न थी--तमाम नौकर-चाकर, घर-गृहस्थी, काम-काज, शोर-गुल सब-कुछ उन गीतों के सिर पर जाकर बैठ गये। जिस आकाश के बीच उनका ठीक अर्थ समझ में आता है, वह आकाश वहाँ नहीं है। फिर गृहस्वामी ने आकर कहा, चाय तैयार है और परिवेशन का भार उन्होंने विशेष कारण से अपनी लड़की के ऊपर रखा। उनकी लड़की ने आकर नमस्कार किया और चाय तैयार करने लगी। उसके आने से लेकर चाय तैयार करने तक की हर विधि जैसे छंद के समान थी। धोना, पोंछना, आग जलाना, चायदानी का ढक्कन खोलना, गर्म पानी का बर्तन उतारना, प्याली में चाय ढालना, अतिथि के आगे उसको बढ़ाना, सबमें इतना संयम और सौंदर्य था कि उसे देखे बिना समझा नहीं जा सकता। इस चाय-पान का हर उपकरण दुर्लभ और सुन्दर था। अतिथि का

कर्त्तव्य है इन पात्रों को एकांत मनोयोग से देखना। प्रत्येक पात्र का स्वतंत्र नाम और इतिहास है। उसके पीछे कितना यत्न है, कहा नहीं जा सकता।

सारी बात यही है। शरीर को, मन को संयत करके निरासक्त-प्रशांत मन से सौंदर्य को अपनी प्रकृति के बीच ग्रहण करना। यह भोगी का भोगोन्माद नहीं है, कहीं भी लेश-मात्र उच्छृंखलता या अमिताचार नहीं है, मन के ऊपरी हिस्से में जहाँ सब समय अनेकानेक स्वार्थों के आघात और अनेकानेक आवश्यकताओं की हवा से केवल लहरें उठती रहती हैं वहाँ से दूर सौंदर्य की गहराई में अपने को डुबो देना ही इस चाय-पान के अनुष्ठान का तात्पर्य है।

इससे समझ में आता है कि जापान का सौंदर्य-बोध उनकी एक साधना है, एक प्रबल शक्ति है। विलास नाम की चीज़ भीतर-बाहर केवल ख़र्च करवाती है, इसी से दुर्बल कर देती है। लेकिन विशुद्ध सौंदर्य-बोध स्वार्थ और वस्तु की चोटों से मनुष्य की रक्षा करता है। इसीलिए जापानियों के मन में इस सौंदर्य-रस-बोध और पौरुष का मिलन हो सका है।

इस प्रसंग में और एक बात कहने की है। यहाँ पर स्त्रियों और पुरुषों के सामीप्य में मुझे कोई कुण्ठा नहीं दिखायी पड़ी, दूसरी जगहों में स्त्रियों और पुरुषों के बीच लज्जा और संकोच का जो एक प्रकार का कलुष रहता है वह यहाँ पर नहीं है। ऐसा लगता है कि जैसे इनके बीच मोह का एक आवरण कम हो गया है। उसका प्रधान कारण यह है कि जापान में स्त्री-पुरुषों के एकसाथ नंगे होकर नहाने की प्रथा है। इस प्रथा में तनिक भी कलुष नहीं है इसका प्रमाण यही है कि निकटतम आत्मीय भी इसमें कोई बाधा अनुभव नहीं करते। इस तरह यहाँ पर स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे की आँखों में, किसी तरह के माया-मोह को जगह नहीं मिलती। शरीर के सम्बन्ध में दोनों ही पक्षों का मन खूब स्वाभाविक है। अन्य देशों की कलुषित दृष्टि और दुष्ट बुद्धि के कारण आजकल शहरों से यह नियम उठता जा रहा है, लेकिन देहातों में अब भी चालू है। संसार में जितने सभ्य देश हैं उनमें केवल जापान मनुष्य के शरीर के सम्बन्ध में मोह-मुक्त है, यह मुझे एक बड़ी बात मालूम होती है।

और तो भी आश्चर्य की बात यह है कि जापान के चित्रों में नग्न स्त्री-मूर्ति कहीं दिखायी नहीं पड़ती। नग्नता की लुका-छिपी उनके मन में कोई रहस्य-जाल नहीं फैलाती इसीलिए यह संभव हो सका है। और भी एक चीज़ मैंने देखी। यहाँ की स्त्रियों के कपड़ों में अपने को स्त्री कहकर विज्ञापित करने की कोई चेष्टा नहीं होती। प्रायः सभी जगह स्त्रियों के कपडी में ऐसा कोई ढंग रहता है जिससे समझ में आता है कि वे विशेष रूप से पुरुषों की मोह-दृष्टि को अपनी ओर खींचना चाहती हैं। यहाँ की स्त्रियों के कपड़े सुन्दर हैं, लेकिन इन कपड़ों में शरीर के परिचय को इंगित के द्वारा दिखाने की कोई चेष्टा नहीं होती। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि जापानियों में चरित्र की दुर्बलता कहीं' नहीं मिलती; लेकिन स्त्री-पुरुष के संबंध को लेकर प्रायः सभी सभ्य देशों के मनुष्य जिस कृत्रिम मोह-आवरण की सृष्टि कर लेते हैं वह जापानियों में निश्चय ही कम लगा और अंततः

उसी अनुपात में यहाँ पर स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्वाभाविक और मोहमुक्त है।

और भी एक चीज़ मुझे बड़ा आनन्द देती है, वह है जापान के छोटे-छोटे लड़के-लड़कियाँ। रास्ते में घासों पर सभी जगह इतने ज्यादा छोटे-छोटे लड़की-लड़के दिखाई पड़ते हैं जितने मैंने और कहीं नहीं देखे। मुझे लगा कि जिस कारण से जापानी लोग फूलों को प्यार करते हैं उसी कारण से वह लोग बच्चों को प्यार करते हैं। बच्चों के प्यार में कोई कृत्रिम मोह नहीं होता; हम लोग उन्हें फूलों की तरह ही निःस्वार्थ, निरासक्त भाव से प्यार कर सकते हैं।

कल सवेरे ही हिन्दुस्तान की डाक जायगी और हम लोग टोकियो की यात्रा करेंगे। एक बात तुम लोग ध्यान में रखना—मैं जैसे-जैसे देख रहा हूँ वैसे-वैसे ही लिखता चल रहा हूँ। यह सिर्फ़ एक नये देश पर निगाह दौड़ाने का इतिहास-भर है। इसमें अगर तुममें से कोई कम-ज्यादा 'वस्तु-तंत्रता' पाना चाहे तो उन्हें निराशा होगी। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि पाठ्य-समिति मेरी इन चिट्ठियों को जापान के भूगोल के रूप में न चुनेगी। जापान में सम्बन्ध में मैं जो कुछ मतामत व्यक्त कर रहा हूँ उसमें थोड़ा-बहुत जापान है और थोड़ा-बहुत मैं भी हूँ, इस बात को अगर ध्यान में रखकर तुम लोग इन चिट्ठियों को पढ़ो तो न ठगे जाओगे। ग़लत बात नहीं कहूँगा, मेरी ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं है, मेरा मतलब सिर्फ़ इतना है कि मन में जो आयगा, वही कहूँगा।

कौबे

२२ ज्येष्ठ १३२३

मैं जब जापान में था तब एक बात बार-बार मेरे मन में आती थी। ऐसा लगता था कि जैसे भारतवर्ष में बंगालियों के साथ जापानियों का किसी जगह पर साम्य है। हमारे इस बृहत् देश में बंगाली ने ही सबसे पहले नवीन को ग्रहण किया था और अब भी नवीन को ग्रहण करने और उसकी उद्‌भावना करने-जैसा लचीलापन उनके चित्त में है।

उसका एक कारण है, बंगालियों में खून की बड़ी मिलावट है, ऐसा मिश्रण भारत में और भी कहीं हुआ है या नहीं मुझे संदेह है। इसके अलावा बंगाली भारत के जिस प्रान्त में रहता है वह बहुत दिनों से भारत के अन्य प्रदेशों से विच्छिन्न रहा है। बंगाल पाण्डवो का वर्जित देश था। किसी समय बंगाल लम्बे बौद्ध प्रभाव के कारण या चाहे जिस कारण से आचार-भ्रष्ट होकर बिलकुल जाति-च्युत हो गया था, इसीलिए उसे एक प्रकार की संकीर्ण स्वतंत्रता मिल गयी थी। इसी कारण से बंगाली का चित्त अपेक्षाकृत बंधनमुक्त है और नयी शिक्षा ग्रहण करना बंगालियों के लिए जितना सहज हुआ था उतना भारतवर्ष के किसी दूसरे प्रदेश के लिए संभव नहीं हुआ। यूरोपीय सभ्यता की पूर्ण दीक्षा हमारे लिए जापान के समान अबाध नहीं रही; दूसरे के कृपण हाथों से हमें जितना कुछ मिलता है उससे ज्यादा हमारे लिए दुर्लभ है। लेकिन अगर यूरोपीय शिक्षा हमारे देश में पूरी तरह सुगम होती तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि बंगाली सब दिशाओं से उसे पूरी

तरह अपने अधिकार में कर लेता। आज कई दिशाओं से विद्या-शिक्षा हमारे लिए क्रमशः दुर्मूल्य होती जा रही है तो भी बंगाल का लड़का प्रतिदिन विश्वविद्यालय के संकीर्ण प्रवेश-द्वार से सिर टकराकर मर रहा है। वस्तुतः भारत के दूसरे सब प्रदेशों से अधिक बंगाल में असंतोष का जो एक अत्यंत प्रबल लक्षण दिखायी पड़ता है उसका एक-मात्र कारण है—हमारी रुद्धगति । जो कुछ अंग्रेज़ी में है उसकी ओर बंगाली का जागा हुआ चित्त बड़े प्रबल वेग से दौड़ा था, अंग्रेज़ी के बहुत पास पहुँचने के लिए हम प्रस्तुत हुए थे—इस सम्बन्ध में संस्कारों की सब तरह की बाधाओं को लाँघने के लिए बंगाली ही सबसे पहले तैयार हुआ था । लेकिन इसी जगह अंग्रेज़ के पास पहुँचने में जब बाधा हुई तो बंगाली के मन में जो प्रचण्ड क्षोभ जाग उठा वह उसके अनुराग का ही विकार था।

यही क्षोभ आज नवयुग की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बंगाली के मन की सबसे बड़ी बाधा बन गया है। आज हम लोग जिन सब कूट तर्कों और मिथ्या युक्तियों से पश्चिम के प्रभाव को पूरी तरह अस्वीकार करने की चेष्टा करते हैं वह हमारे लिए स्वाभाविक नहीं है। इसीलिए वह इतना तीव्र है, वह व्याधि के प्रकोप के समान पीड़ा द्वारा हमको इस तरह सचेत करता है।

बंगाली के मन के इस प्रबल विरोध में भी उसका गति-धर्म ही व्यक्त होता है। लेकिन विरोध कभी कोई सृष्टि नहीं करता। विरोध से दृष्टि कलुषित और शक्ति विकृत हो जाती है। हमारे मन में चाहे जितनी बड़ी पीड़ा क्यों न हो यह बात हमें हरगिज़ नहीं भूलनी चाहिए कि पूर्व और पश्चिम के मिलन का सिंहद्वार खोलने का भार बंगाली के ऊपर ही पड़ा है। इसीलिए बंगाल के नवयुग के प्रथम मार्गदर्शक राममोहन राय हैं। पश्चिम को पूरी तरह ग्रहण करने में उन्होंने भीरुता नहीं की, इसीलिए कि पूर्व के प्रति उनकी श्रद्धा अटल थी। उन्होंने जिस पश्चिम को देखा था वह तो शस्त्रधारी पश्चिम नहीं था, वाणिज्यजीवी पश्चिम भी नहीं था, वह तो ज्ञान के प्राण से उद्‌भासित पश्चिम है।

जापान ने यूरोप से कर्म की और अस्त्र की दीक्षा ली है। उनसे विज्ञान की शिक्षा भी लेना उसने शुरू किया है। लेकिन मैंने जितना कुछ देखा है उससे मुझे लगता है कि भीतर जाकर किसी जगह पर यूरोप के साथ जापान का एक बड़ा अन्तर है। जिस गूढ़ आधार पर यूरोप का महत्त्व प्रतिष्ठित है वह आध्यात्मिक है। वह केवल कर्म-निपुणता नहीं है, उनका नैतिक आदर्श है। इसी जगह पर जापान के साथ यूरोप का मौलिक भेद है । मनुष्यत्व की जो साधना अमृतलोक को मानती है और उसी ओर चलती रहती है, जो साधना केवल सामाजिक व्यवस्था का अंग नहीं है, जो साधना सांसारिक प्रयोजन और अपने जातिगत स्वार्थ का अतिक्रमण करके भी अपने लक्ष्य की स्थापना करती है, उस साधना के क्षेत्र में भारत के साथ यूरोप का मेल जितना सहज है जापान के साथ उनका मेल उतना सहज नहीं है। जापानी सभ्यता का भवन इकहरा है—वही उसकी समस्त शक्ति और दक्षता का निवास-स्थान है। वहाँ के भण्डार में सबसे बड़ी जो चीज़ संचित होती है वह है कृतकर्मता, वहाँ के मन्दिर का सबसे बड़ा देवता है अपने देश का

स्वार्थ। इसी से जापान सारे यूरोप में आधुनिक जर्मनी के शक्ति के उपासक नये दार्शनिकों से सहज ही मंत्र ग्रहण कर सका है, उनके निकट नीत्शे के ग्रंथ सबसे अधिक समाहित हैं। इसी से आज तक जापान ठीक से यह बात ही तय न कर सका कि उसे किसी धर्म की आवश्यकता है या नहीं और अगर है तो वह कौन-सा धर्म है। कुछ दिनों तक उनका ऐसा भी संकल्प था कि वे ईसाई-धर्म ग्रहण कर लेंगे। तब उनका विश्वास था कि यूरोप ने जिस धर्म का आसरा लिया है शायद उसी धर्म ने उनको शक्ति दी है अतः तोप-बंदूक़ के साथ ईसाई-धर्म को भी समेट लेने की ज़रूरत है। लेकिन आधुनिक यूरोप में शक्ति की उपासना के साथ-साथ कुछ दिनों से यह बात फैल गयी है कि ईसाई-धर्म स्वभाव से दुर्बल लोगों का धर्म है, वह वीरों का धर्म नहीं है। यूरोप ने कहना शुरू किया था कि जो मनुष्य दुर्बल है उसी का स्वार्थ इसमें है कि वह नम्रता, क्षमा और त्याग के धर्म का प्रचार करे। संसार में जो पराजित हैं उस धर्म में उन्हीं को सुविधा है, संसार में जो विजयी हैं उस धर्म में उनको बाधा है। यह बात स्वभावतः जापान के मन में जँची। इसीलिए जापान की राजशक्ति आज मनुष्य की धर्मबुद्धि की अवज्ञा कर रही है। यह अवज्ञा और किसी देश में चल न पाती। लेकिन जापान मे चल पा रही है उसका कारण यही है कि जापान में इस चेतना का विकास नहीं हुआ था और इस चेतना के अभाव को लेकर ही जापान आज गर्व अनुभव कर रहा है—वह जानता है कि परलोक की चिंता से वह मुक्त है, इसीलिए इस लोक में वह विजयी होगा।

जापान के कर्ता-धर्ता जिस धर्म को विशेष रूप से प्रश्रय देते रहते हैं वह है शिन्तो धर्म। उसका कारण यह है कि यह धर्म केवल संस्कार-मूलक है, आध्यात्मिकता-मूलक नहीं। यह धर्म राजा को और पूर्वजों को देवता मानता है। इसलिए अपने देश की आसक्ति को तीव्र करने के साधन के रूप मे इस संस्कार का उपयोग किया जा सकता है।

लेकिन यूरोपीय सभ्यता मंगोली सभ्यता की तरह इकहरी नहीं है। उसका एक भीतरी हिस्सा भी है। बहुत दिनों से Kingdom of Heaven को स्वीकार करती आ रही है। वहाँ पर जो नम्र है वही विजयी है, जो अन्य है वही अपने से अधिक महत्त्व वाला है। वहाँ पर कृतकर्मता नहीं परमार्थ ही सबसे बड़ी सम्पदा है। वहाँ पर संसार अपना असली मूल्य भीतर के क्षेत्र में पाता है।

यूरोपीय सभ्यता के इस भीतर वाले हिस्से का दरवाज़ा कभी-कभी बन्द हो जाता है, कभी-कभी वहाँ का दीया नहीं जलता। मगर उससे क्या, इस भवन की भीत पक्की है, बाहर के तोप के गोले इसकी दीवार तोड़ न सकेंगे, आख़िरकार यही टिकी रहेगी और इसी जगह सभ्यता की सब समस्याओं का समाधान होगा।

हमारे साथ यूरोप का और कहीं मेल न भी हो तो भी इस बड़ी जगह पर मेल है। हम भीतर के मनुष्य को मानते हैं—उसे बाहर के मनुष्य से अधिक मानते हैं। जो जन्म मनुष्य का दूसरा जन्म है उसके लिए हम पीड़ा अनुभव करते हैं। इसी जगह पर मनुष्य के इस भीतरी हिस्से में यूरोप के साथ यातायात का थोड़ा बहुत पदचिह्न मुझे दिखायी

पड़ता है। इस भीतरी हिस्से में अन्तःपुर से मनुष्य का जो मिलन है वही सच्चा मिलन है। इस मिलन का द्वार तोड़ने के लिए बंगालियों का आवाहन हो रहा है, इसके अनेक चिह्न बहुत दिनों से दिखायी पड़ रहे हैं।

[सन् १९१६ में अमरीका जाते समय रवीन्द्रनाथ ने कुछ महीने जापान में बिताये थे। ये पत्र तभी (३ मई से ७ सितम्बर १९१६ तक) लिखे गये थे। पत्र मई १९१६ से मई १९१७ तक (बैसाख १३२३ से बैसाख १३२४ तक) **सबुजपत्र** मासिक में प्रकाशित हुए। जुलाई १९१९ में इनका पुस्तकाकार प्रकाशन रामानन्द चटर्जी को समर्पित किया गया था।]

३

रूस के पत्र

(उपसंहार)

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सोवियत शासन के प्रथम परिचय से ही मेरा मन बहुत आकर्षित हुआ। इसके कुछ विशेष कारण हैं जो विचारणीय हैं। वहाँ का जो चित्र मेरे मन में है उसके पीछे भारतवर्ष की दुर्गति की काली पट-भूमिका है। इस दुर्गति का मूल जिस इतिहास में है उसमें से एक तत्त्व निकलता है, और उस तत्त्व पर विचार करने से मेरे मन का भाव स्पष्ट होगा।

भारत में मुसलमान-शासन का जो विस्तार हुआ उसके पीछे राज-महिमा की आकांक्षा थी। उन दिनों राज्य पर अधिकार जमाने के लिए लगातार जो संघर्ष होता रहता था उसका मूल कारण इसी इच्छा में था। ग्रीस के सिकन्दर ने धूमकेतु की ज्वलन्त शिखा की तरह अपनी सेना लेकर विदेशों को पादाक्रांत किया। इसमें भी उसका उद्देश्य अपने प्रताप का प्रदर्शन ही था। रोमन लोगों मे भी यही प्रवृत्ति थी। लेकिन फ़िनीशियावासी दूर-दूर के समुद्र-तट पर केवल वाणिज्य के लिए गये; राज्य के लिए उन्होंने संघर्ष नहीं किया।

जिस दिन योरोप से वणिकों की नौका पूर्व महादेश के समुद्र-तट पर पहुँची तब से पृथ्वी पर मानवीय इतिहास का एक नया पर्व शुरू हुआ। क्षत्रिय-युग का अन्त होकर वैश्य-युग आरम्भ हुआ। इस युग में व्यापारियों के दल विदेशों में गये और बाज़ार के दरवाज़े से प्रवेश करके अपना राज्य स्थापित करने लगे। उनका प्रधान लक्ष्य मुनाफ़ा था, वीरता द्वारा सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा उनमें नहीं थी। मुनाफ़े के लिए तरह-तरह के कुटिल मार्गों का अवलम्बन करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ, क्योंकि वे सफलता चाहते थे, कीर्ति नहीं।

उस समय भारत अपने विपुल ऐश्वर्य के लिए दुनिया-भर में प्रसिद्ध था। तत्कालीन विदेशी इतिहास-लेखकों ने इस बात का बार-बार उल्लेख किया है। यहाँ तक कि स्वयं क्लाइव के शब्द हैं: 'भारतवर्ष के ऐश्वर्य पर जब मेरी दृष्टि जाती है तो अपने अपहरण-नैपुण्य के संयम पर मुझे आश्चर्य होता है।' ऐसा विपुल धन सहज ही प्राप्त नहीं होता, लेकिन भारत इस धन को उत्पन्न कर सका था। विदेश से आकर जिन लोगों ने भारत पर राज्य किया, उन्होंने इस धन का उपयोग किया, उसे नष्ट नहीं किया। वे भोगी थे, वणिक् नहीं थे।

उसके बाद वाणिज्य का पथ सुगम करने के लिए विदेशी वणिकों ने व्यवसाय की गद्दी के ऊपर राज़सिंहासन स्थापित किया। समय अनुकूल था। मुग़लों का राज्य टूट रहा

था, सिख और मरहठे इस साम्राज्य की ग्रंथियाँ शिथिल करने में लगे थे। अंग्रेज़ों के हाथों से वे छिन्न-भिन्न हो गये और उनका विनाश हुआ।

इसके पहले जब लोग राज-गौरव की लालसा से इस देश में राज करते थे उस समय यहाँ अत्याचार, अविचार या अव्यवस्था नहीं थी, यह कोई नहीं कहेगा। लेकिन वे शासक इस देश के अंग बन गये थे। उनसे देश को जो चोट पहुँची वह त्वचा तक ही सीमित थी,—रक्तपात बहुत हुआ, लेकिन देश के अस्थिबन्धन नहीं टूटे। धन-उत्पादन का कार्य अव्याहत चलता रहा, नवाबों-बादशाहों से उसे प्रश्रय भी मिला। यदि ऐसा न होता तो यहाँ विदेशी सौदागरों की भीड़ लगने का कोई कारण ही न होता; मरुभूमि में टिड्डी-दल क्यों आने लगा ?

भारत में वाणिज्य और साम्राज्य के अशुभ संगमकाल में वणिक्-शासकों ने देश के धनकल्पतरु की जड़ें काटना आरम्भ किया। इस इतिहास को सैकड़ों बार दोहराया जा चुका है और वह अत्यन्त कटु है, लेकिन यह बात पुरानी है, केवल इसीलिए उस पर विस्मृति का पर्दा डालने से काम नहीं चलेगा। हमारे वर्तमान दारिद्र्य की उपक्रमणिका उसी इतिहास में है। भारत में जो विपुल धन था वह किस तरह द्वीपान्तरित हुआ है, यह यदि हम भूल जायँ तो आधुनिक इतिहास का एक प्रमुख तत्त्व हम समझ नहीं सकेंगे। आधुनिक राजनीति की प्रेरणा-शक्ति वीर्याभिमान नहीं, धन का लोभ है—यह तत्त्व हमें ध्यान में रखना ही होगा। राजगौरव के साथ प्रजा का एक मानवीय सम्बन्ध होता है; धन-लोभ के साथ वैसा सम्बन्ध रहना असम्भव है। धन निर्मम और निर्वैयक्तिक होता है। जो मुर्गी सोने के अण्डे देती है उसके अण्डे ही नहीं छीने जाते, लोभी मनुष्य उसकी जान ही ले लेता है।

वणिक् शासकों के लोभ ने भारत की वैचित्र्यपूर्ण धनोत्पादन-शक्ति को पंगु बना दिया है। केवल खेती बाक़ी रह गयी है; वह भी इसलिए कि कच्चे माल की अव्याहत धारा कहीं बन्द न हो और विदेशी बाज़ारों में हमारे शासकों की शक्ति कहीं कम न हो जाय। भारत की पतनशील जीविका आज खेती की अति क्षीण डाल पर किसी तरह सँभली हुई है।

यह स्वीकार करना होगा कि पुराने ज़माने में जिस निपुणता से और जिन उपायों के योग से, हस्तकलाएँ चलती थीं और शिल्पी रोज़ी कमाते थे, उनका विनाश यन्त्रों की प्रतियोगिता से अपने-आप हो गया है। प्रजा को बचाने के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि लोगों को यंत्र-कुशल बनाने का प्रयत्न किया जाता। वर्तमान युग में ऐसा प्रयत्न सभी देशों में किया गया है। जापान ने अल्पकाल में ही यंत्रों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है; वह ऐसा न करता तो यन्त्रवान् योरोप के षड्यन्त्र से उसके धन और प्राण दोनों का ही नाश होता। हमारे भाग्य में यन्त्र-कुशल बनने का सुयोग नहीं था, क्योंकि लोभ ईर्ष्यालु होता है। प्रकाण्ड लोभ के कारण शासकों ने हमारा धन-प्राण लूटा और हमें इन शब्दों से सान्त्वना दी : 'अभी तक तुम्हारे पास जो धन-प्राण बाक़ी है, उसकी रक्षा के लिए क़ानून और चौकीदार की व्यवस्था करने का भार हम लेते हैं।' अपना अन्न-वस्त्र,

विद्या-बुद्धि सब गिरवी रखकर हम बड़ी मुश्किल से चौकीदार की वर्दी का ख़र्च चुकाते हैं। हमारे प्रति यह जो भयंकर उदासीनता है उसका मूल कारण लोभ ही है। जहाँ ज्ञान और कर्म के क्षेत्रों में शक्ति का पीठस्थान है, वहाँ से बहुत नीचे के स्तर पर खड़े होकर हम इतने दिनों तक ऊपर ताकते रहे हैं, और ऊपर वालों की यह आश्वासवाणी सुनते आये हैं : 'यदि तुम्हारी शक्ति का क्षय हो तो इसमें डरने की क्या बात है? हमारे पास शक्ति है, हम तुम्हारी रक्षा करेंगे।'

जिसके साथ लोभ का सम्बन्ध होता है उससे मनुष्य अपनी ज़रूरतें पूरी करता है, लेकिन उसका सम्मान कभी नहीं करता और जिसका सम्मान नहीं करता उसके अधिकारों को मनुष्य यथासम्भव कम कर देता है। अन्त में दूसरे का जीवन इतना सस्ता हो जाता है कि उसके आत्यन्तिक अभाव को पूरा करना भी अखरने लगता है। हमारी प्राण-रक्षा और लज्जा-रक्षा के लिए कितना कम रुपया निर्धारित किया गया है, यह तो सब जानते हैं। हमारे पास अन्न नहीं, विद्या नहीं, पीने का पानी कीचड़ छानकर मिलता है; लेकिन चौकीदारों का अभाव नहीं। मोटी तनख़्वाह वाले अफ़सर भी हैं; उनका वेतन, 'गल्फ़ स्ट्रीम' की तरह सीधे ब्रिटेन के शीत-निवारण के लिए चला जाता है, उनकी पेंशन का धन हम उपस्थित करते हैं अपने अन्त्येष्टि-संस्कार के ख़र्च में बचत करके। इसका एकमात्र कारण यही है कि लोभ अन्धा होता है, निष्ठुर होता है; और भारतवर्ष भारतेश्वर के लोभ की सामग्री है।

फिर भी, कठिन वेदना की अवस्था में भी, मैंने इस बात को कभी अस्वीकार नहीं किया कि अंग्रेज़ों के स्वभाव में औदार्य है। विदेशी शासन-कार्य में, अन्य योरोपीयों के व्यवहार में और अधिक कृपणता और निष्ठुरता है। अंग्रेजों और उनकी शासन-नीति के बारे में हमने अपने मुँह से या आचरण से जितना विरोध व्यक्त किया है उतना विरोध अन्य किसी शासनकर्ता का हम न कर पाते। उसकी दण्डनीति और भी अधिक दुःसह होती; योरोप और अमेरिका में इसके यथेष्ट प्रमाण हैं। खुलेआम विद्रोह घोषित करते हुए भी हम शासकों के दमन पर विस्मय प्रकट करते हैं, इसी से सिद्ध होता है कि इंग्लैड के प्रति हमारी जो गूढ़ श्रद्धा है वह मार खाते-खाते भी मरना नहीं चाहती। अपने स्वदेशी राजाओं-ज़मींदारों से हमारी प्रत्याशा अपेक्षाकृत कम है।

जब मैं इंग्लैड में था मैंने अच्छी तरह देखा कि भारतवर्ष के दण्ड-विधान से सम्बन्धित ग्लानिजनक घटनाओं की वार्ताएँ वहाँ के अख़बारों में नहीं छपतीं। इसका कारण यही है कि अंग्रेज़ नहीं चाहते कि ऐसे समाचार पढ़कर योरोप या अमेरिका के लोग उनकी निन्दा करें। वस्तुतः अंग्रेज़ शासनकर्ता स्वदेश की शुभबुद्धि से भी डरता है। 'हमने जो कुछ किया ठीक ही किया,' 'बहुत अच्छा किया', 'दमन करना ज़रूरी हो गया था'—इत्यादि बातें आत्मविश्वास के साथ अंग्रेज़ों के सामने कहना इन शासकों के लिए आसान नहीं है, क्योंकि उनमें भी विशाल मन के लोग हैं। भारत के बारे में वास्तविक घटनाएँ अंग्रेज़ बहुत कम जानते हैं। जिन कामों के लिए शासकों को पछताना पड़ता है, वे काम ब्रिटिश जनता के सामने नहीं आते। यह बात भी सच है जिन्होंने भारत का नमक दीर्घकाल तक

खाया है उनका अंग्रेज़ी कलेजा और हृदय कलुषित हो जाता है, और हमारे भाग्य-क्रम से उन्हीं को भारत के बारे में 'अथॉरिटी' माना जाता है।

भारत की वर्तमान क्रान्ति में लोगों को जो दण्ड दिया गया है उसके विषय में अधिकारियों ने कहा है कि 'न्यूनतम मात्रा में दमन किया गया है।' इस बात को मानने की हमारी इच्छा नहीं होती; लेकिन अतीत और वर्तमानकाल की शासननीति से तुलना करने पर उनके दावे को अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता। हम पर मार पड़ी है, अन्यायपूर्वक मार पड़ी है। इससे भी बड़ा कलंक यह है कि गुप्त रूप से हमें पीटा गया है। यह भी कहूँगा, बहुत-से स्थानों पर जिन्होंने मार खायी है उन्हीं को माहात्म्य मिला है, और मारनेवालों की मानहानि हुई है। फिर भी प्रचलित शासन-नीति को देखते हुए दमन की मात्रा 'न्यूनतम' ही है। हमारे और अंग्रेज़ों के बीच कोई आत्मीयता का आकर्षण तो है ही नहीं। सारे भारत को जलियाँवाला बाग़ बना देना उनके लिए असम्भव नहीं था—बाहु-बल की कमी नहीं थी। अमेरिका में यदि सारी नीग्रो-जाति संयुक्त राज्य से अलग होने का प्रयत्न करती तो वहाँ कैसा वीभत्स रक्तपात होता इसका अनुमान लगाने के लिए अधिक कल्पना-शक्ति की आवश्यकता नहीं है और इटली प्रभृति देशों में जो हुआ है उसकी तो बात ही अलग है।

लेकिन इससे मुझे सांत्वना नहीं मिलती। जो लाठी से मारता है वह कुछ समय बाद थक जाता है ; उसका लज्जित होना भी असम्भव नहीं। लेकिन आन्तरिक रूप से जब मारा जाता है तब परिस्थिति अलग होती है। कुछ लोगों के सिर फोड़कर फिर क्लब की 'ब्रिज़ पार्टी' में अन्तर्धान हो जाना, इसी से बात समाप्त नहीं हो जाती। सारे देश को अन्दर-ही-अन्दर बर्बाद किया जाता है, उसका सर्वनाश होता है; शताब्दियों तक इस क्रिया को विराम नहीं मिलता। क्रोध की मार कहीं जाकर रुकती है, लोभ की मार का अन्त नहीं मिलता।

'टाइम्स' के साहित्यिक क्रोड़पत्र में मॅके नामक एक लेखक महोदय कहते हैं कि भारत के दारिद्र्य का मूल कारण— root cause—निर्विचार विवाह और उसके फलस्वरूप अति प्रजनन ही है। मतलब यह हुआ कि बाहर से जो शोषण चल रहा है वह दुःसह न होता यदि थोड़े-से लोग थोड़ा-सा अन्न लेकर अपनी हँडिया पकाते। इंग्लैंड में सन् १८७१ से सन् १९२१ तक आबादी में ६६ प्रतिशत वृद्धि हुई है। भारत में पिछले पचास वर्षों में ३३ प्रतिशत प्रजा-वृद्धि हुई है। एक ही जैसी परिस्थिति के अलग-अलग परिणाम क्यों? हम देख सकते हैं कि root cause प्रजावृद्धि नहीं, बल्कि अन्न-व्यवस्था का अभाव है और इस अभाव का root कहाँ है?

शासकों और शासितों का भाग्य यदि एक-जैसा होता तो अन्न के अभाव की हम शिकायत न करते; विपुलता हो या दुर्भिक्ष, दोनों के हिस्से बराबर होते। लेकिन जहाँ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के बीच महासमुद्र का और महा-लोभ का व्यवधान है वहाँ विद्या-स्वास्थ्य-सम्मान की सम्पदा अमावस्या के प्रति कृपणता दिखाती है, फिर भी निशीथ रात्रि के चौकीदार के हाथ में लालटेन का आयोजन बढ़ता जाता है। एक सौ साठ वर्षों

से भारत का सर्वांगीण दारिद्र्य और इंग्लैड का सर्वांगीण ऐश्वर्य साथ-साथ बढ़ते रहे हैं, इस बात का हिसाब लगाने के लिए 'स्टॅटिस्टिक्स' की आवश्यकता बहुत कम है। इस परिस्थिति का सम्पूर्ण चित्र अंकित करना हो तो पटसन उत्पन्न करनेवाला बंगाल का किसान और सुदूर डाण्डी में पटसन के मुनाफ़े का उपभोग करनेवाला अंग्रेज़, इन दोनों की जीवन-यात्रा को पास-पास रखकर देखना होगा। दोनों के बीच सम्बन्ध लोभ का है, विच्छेद भोग का है—यह विभाजन डेढ़ सौ वर्षों तक बढ़ता ही रहता है, कम नहीं हुआ।

जब से यांत्रिक उपायों द्वारा प्राप्त अर्थ-लाभ का गुणगान करना सम्भव हुआ है तब से मध्य युग की 'शिवलरी' अर्थात् वीरधर्म को वाणिज्यधर्म की दीक्षा मिली है। समुद्र-यान द्वारा सारी पृथ्वी का जब आविष्कार आरम्भ हुआ तभी इस निदारुण वैश्ययुग की प्रथम सूचना मिली। वैश्ययुग की आदिम भूमिका दस्युवृत्ति में है। दास-हरण और धन-हरण की वीभत्सता के उस दिन धरती रो उठी थी। इस निष्ठुर व्यवसाय को विशेष रूप से दूसरों के देशों में चलाया गया। उस दिन स्पेन ने मैक्सिको में केवल स्वर्ण-संचय ही नहीं किया, वहाँ की सम्पूर्ण सभ्यता को रक्त से धो डाला। उस रक्त-मेघ की आँधी पश्चिम से बढ़ती हुई भारत में आ पहुँची—इस इतिहास का विवरण यहाँ अनावश्यक है। धन-सम्पदा का स्रोत पूर्व से पश्चिम की ओर बहने लगा।

तब से पृथ्वी पर कुबेर का सिंहासन सुदृढ़ हो गया है। विज्ञान ने घोषित किया कि यंत्र का नियम ही विश्व का नियम है, बाह्य सिद्धिलाभ के अलावा कोई अस्थायी सत्य नहीं है। प्रतियोगिता उग्र और सर्वव्यापी हो गयी, दस्युवृत्ति ने भद्र वेश धारण करके सम्मान प्राप्त किया। लोभ के खुले और छिपे रास्तों से कारख़ानों में, बड़ी-बड़ी बस्तियों में, खानों में मिथ्याचार और निर्दयता ने कैसे हिंस्र रूप लिये हैं इसका भयावह वर्णन आज के योरोपीय साहित्य में मिलता है। पाश्चात्य जगत् में रुपया 'पिसनेवालों' और उसके लिए परिश्रम करने वालों में तीव्र संघर्ष उत्पन्न हो गया है। मानव के सबसे बड़े धर्म—समाज धर्म—पर लोभ निर्मम आघात करता है। आज के युग में लोभ-प्रवृत्ति ने समाज को आलोड़ित करके उसके सारे बन्धन शिथिल और विच्छिन्न कर दिये हैं।

प्रत्येक देश में धनार्जन के क्षेत्र में इस तरह समाज विभक्त हो गया है। यह विभाजन चाहे जितना दुःखप्रद हो, यदि वह देश के अन्दर की ही बात होकर रहे तो सबके लिए अवसर खुला रहता है। शक्ति में विषमता अवश्य होती है, लेकिन अधिकार बने रहते हैं; धन के जाॅत में जो आज 'पीसनवालों' के वर्ग में है वह कल कमानेवालों के वर्ग में पहुँच सकता है। यही नहीं, धनवान् लोग जो सम्पत्ति कमाते हैं उसका एक अंश—चाहे वह कितना ही छोटा अंश हो—किसी-न-किसी रूप में समाज को मिलता है, उसका बँटवारा हो जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का किसी-न-किसी सीमा तक राष्ट्रीय सम्पत्ति का दायित्व लिये बग़ैर रह ही नहीं सकती। जनसाधारण की शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन के लिए उस सम्पत्ति का व्यय थोड़ा-बहुत होता ही है। धनियों की इच्छा हो या न हो, एक मात्रा में वे देश के विविध प्रयोजन पूर्ण करने के लिए अपने धन को लगाते ही हैं।

लेकिन भारत में ऐसा भी नहीं होता। विदेशी वणिकों और राज्यशासकों के धन का

उच्छिष्ट मात्र भारत के हिस्से में पड़ता है। पटसन की खेती करनेवाले किसानों की शिक्षा या स्वास्थ्य के लिए कोई व्यवस्था नहीं है, विदेश जानेवाले मुनाफ़े का कोई भाग इस काम के लिए लौटकर नहीं आता। जो कुछ जाता है पूर्णतया जाता है। पटसन से यथेष्ट मुनाफ़ा कमाने के लिए गाँव के जलाशयों को नष्ट कर दिया जाता है; इस से जो असह्य जलकष्ट होता है उसके निवारण के लिए विदेशी महाजनों से एक पैसा भी नहीं मिलता। यदि जल की व्यवस्था करनी है तो टैक्स का सम्पूर्ण भार ग़रीब किसानों के ही खून पर पड़ता है। जनसाधारण की शिक्षा के लिए राजकोष में रुपया नहीं है। क्यों नहीं है? इसका मुख्य कारण यही है कि धन बड़ी मात्रा में भारत को त्याग कर बाहर जाता है—यह लोभ का धन है; रुपये में सोलहों आने पराये का हो जाता है। समुद्र के इस पार जलाशय का जल सूखता है, और पानी बरसता है समुद्र के उस पार। वहाँ के अस्पतालों-विद्यालयों का ख़र्च दीर्घकाल तक भारतवर्ष प्रस्तुत करता आया है—अभागा, अशिक्षित, अस्वस्थ, मरणप्राय भारतवर्ष।

मैं अपने देशवासियों की शारीरिक और मानसिक अवस्था के दुःखमय दृश्य बहुत दिनों से देखता आया हूँ। दारिद्र्य से मनुष्य का विनाश तो होता ही है, वह अपने-आपको अवज्ञा का विषय भी बना डालता है Sir John Simon कहते हैं:

'In our view the most formidable of the evils from which India is suffering have their roots in social or economic customs of long standing which can only be remedied by the action of the Indian people themselves.'

यह है अवज्ञा का उदाहरण। भारत की ज़रूरतों को Sir John Simon ने जिस मापदण्ड से देखा है वह उनके देश का अपना मापदण्ड नहीं है। प्रचुर धनोत्पादन के लिए जो शिक्षा, सुयोग और स्वाधीनता उनके पास है, जिन सुविधाओं से उनकी जीवन-यात्रा का आदर्श ज्ञान-कर्म-भोग सभी क्षेत्रों में परिपुष्ट हो सका है, उन सुविधाओं की कल्पना भी वे नहीं कर सकते जब जीर्णवस्त्र, कृशकाय, रोगपीड़ित, शिक्षा-वंचित भारत के विषय में सोचते हैं। हम अपने दिन किसी तरह बिताते रहें, ख़र्च कम करके और लोकसंख्या घटाकर और उनकी जीविका का विस्तृत आदर्श कार्यान्वित करने के लिए हम अपने जीवन का स्तर गिराते रहें—इससे अधिक उन्हें कुछ सोचना नहीं है । इसलिए 'रेमेडी' की ज़िम्मेदारी हमारे ही हाथ में है; जो लोग 'रेमेडी' को दुःसाध्य बनाते हैं उन्हें कुछ भी नहीं करना है।

मनुष्य और विधाता के विरुद्ध इन सब शिकायतों को बन्द करके, आंतरिक दिशा से हमारे निर्जीव गाँवों में प्राण-संचार करने के लिए कुछ समय से अपनी अतिक्षुद्र शक्ति का प्रयोग किया है। इस कार्य में सरकार के समर्थन की मैंने उपेक्षा नहीं की, बल्कि उसकी इच्छा की है। लेकिन फल कुछ भी नहीं मिला। इसका कारण है वेदना का अभाव। समवेदना का अस्तित्व इस परिस्थिति में सम्भव ही नहीं है—हमारी अक्षमता और सर्वांगीण दुर्दशा से हमारे अधिकार क्षीण हो गये हैं। आख़िर मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी

यथार्थ कल्याण कार्य में सरकार के साथ हमारे कार्यकर्त्ताओं का उपयुक्त सहयोग नहीं हो सकता। चौकीदार की वर्दी का ख़र्च चुकाकर जो कौड़ियाँ बचती हैं उन्हीं से काम चलाना होगा।

राजकीय लोभ—और परिणामस्वरूप औदासीन्य से जब मेरे मन में निराशा का अन्धकार छा गया था, उसी समय मैंने रूस की यात्रा की। योरोप के अन्य देशों में ऐश्वर्य का आडम्बर मैंने काफ़ी देखा है वह इतना उत्तुंग है कि दरिद्र देश की ईर्ष्या भी उसके शिखर तक नहीं पहुँच सकती। रूस में यह भोग-समारोह नहीं है; शायद इसीलिए उस देश का आंतरिक रूप देखना सरल सिद्ध हुआ।

जिन चीज़ों से भारत बिलकुल वंचित है उन्हींके आयोजन को सर्वव्यापी बनाने का प्रबल प्रयास मैंने रूस में देखा। यह कहना आवश्यक नहीं है कि मेरी बहुत दिनों की प्यासी आँखों ने सब-कुछ देखा। पाश्चात्य जगत् के किसी अन्य स्वाधीन, भाग्यशाली देश के किनारे को रूस के दृश्य कैसे लगते, यह मैं नहीं कह सकता। मैं इस बात को लेकर भी तर्क करना नहीं चाहता कि भारत से कितना धन ब्रिटेन चला गया है और आज भी प्रतिवर्ष विविध मार्गों से कितनी सम्पत्ति वहाँ जा रही है। लेकिन यह तो मैं स्पष्ट देख सकता हूँ—और बहुत-से अंग्रेज़ लेखक भी इसे स्वीकार करते हैं कि हमारे देश के रक्तहीन शरीर में मानसिक शक्ति आच्छन्न हो गयी है, जीवन में आनन्द नहीं, हमारा आंतरिक और बाह्य दोनों दिशाओं में विनाश हो रहा है और इसका root cause भारतवासियों के ही मर्मगत अपराध से संलग्न है—कोई सरकार इसका प्रतिकार कर ही नहीं सकती—यह बात हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

यह विचार मेरे मन में सदा रहा है कि भारत के साथ जिन विदेशी शासन-कर्त्ताओं का स्वार्थ-सम्बन्ध प्रबल है, और वेदना का सम्बन्ध नहीं है, उन्होंने केवल अपनी ही गरज़ से विधान और व्यवस्था की रक्षा में इतना उत्साह दिखाया है। लेकिन जिन मामलों में गरज़ हमारी है, जहाँ धन-मन-प्राण से हमारे देश को बचाना आवश्यक है, वहाँ यथोचित शक्ति का प्रयोग करने में सरकार उदासीन है अर्थात् इस सम्बन्ध में अपने देश के प्रति शासनकर्त्ताओं में जितनी सचेष्टता है, जितना वेदना-बोध है, उसका छोटा-सा अंश भी हमारे देश के प्रति होना सम्भव नहीं है। लेकिन हमारा धन-प्राण उन्हीं के हाथ में है; जिन उपायों और उपादानों से हमारी रक्षा हो सकती है, उन पर हमारा अधिकार नहीं।

यदि यह सच है कि समाज-विधि के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान ही हमारी अवनति का कारण है, तो जिस शिक्षा द्वारा यह अज्ञान दूर हो सकता है वह भी विदेशी सरकार की मर्ज़ी पर और ख़ज़ाने पर अवलम्बित है। देशव्यापी अशिक्षा से जो विपत्ति उत्पन्न होती है उसे किसी कमीशन के परामर्श से दूर नहीं किया जा सकता। इसके लिए सरकार को वैसी तत्परता दिखानी होगी जैसी तत्परता ब्रिटिश सरकार दिखाती, यदि इंग्लैड के सामने ऐसी समस्या होती। साइमन कमीशन से हम पूछते हैं: भारत के अज्ञान और अशिक्षा में ही इतना बड़ा मृत्युशूल इतने दिनों तक निहित रहा है और रक्तपात करता रहा है, यह बात यदि सच है तो एक सौ साठ वर्ष के ब्रिटिश शासन में उनके विषय में कोई उपाय

क्यों नहीं किया गया? क्या कमीशन ने आँकड़े जमा करके देखा है, पुलिस के डंडों पर ब्रिटिश राज जितना ख़र्च करता है उसकी तुलना में इतने लंबे अर्से में शिक्षा पर कितना व्यय हुआ है? दूर देश में रहनेवाले धनी शासक पुलिस के डंडे को आवश्यक समझते हैं लेकिन उस डंडे से जिनके सिर फूटते हैं उनकी शिक्षा पर ख़र्च करना शताब्दियों तक स्थगित रखकर भी उनका काम चल जाता है।

रूस में पहुँचते ही मैंने देखा कि वहाँ के किसान और श्रमिक, जो आठ वर्ष पूर्व भारतीय जनसाधारण की तरह निःसहाय, निरन्न और निरक्षर थे, जिनका दुःख-भार कई विषयों में हमारे भार से कम नहीं वरन् अधिक ही था, आज थोड़े ही समय में इतनी शिक्षा प्राप्त कर सके हैं जितनी हमारे देश के उच्च श्रेणी के लोग भी डेढ़ शताब्दियों में प्राप्त कर सके। हमारे 'दरिद्राणां मनोरथाः' स्वदेश की शिक्षा के सम्बन्ध में जो चित्र मरीचिका के पट पर भी अंकित करने का साहस नहीं कर सके उसका प्रत्यक्ष रूप मैंने रूस में एक दिगन्त से दूसरे दिगन्त तक फैला हुआ देखा।

मैंने अपने-आपसे अनेक बार पूछा है : ऐसी आश्चर्यजनक सफलता कैसे सम्भव हुई? मेरे मन ने यही उत्तर दिया कि लोभ की बाधा कहीं नहीं थी, इसीलिए यह हो सका। शिक्षा के द्वारा सभी मनुष्य यथोचित क्षमता प्राप्त कर सकते हैं, इस बात को रूस में सर्वत्र बेखटके माना जाता है। दूर-एशिया में तुर्कमानिस्तान-वासियों को भी पूरी तरह शिक्षा प्रदान करने में इन्हें कोई आशंका-बोध नहीं होता, बल्कि इसके लिए इनके मन में प्रबल आग्रह है। 'तुर्कमानिस्तान का प्रथागत अज्ञान ही वहाँ के लोगों के दुःखों का कारण है', इस तरह की बात रिपोर्ट में लिखकर रूस के शासक उदासीन नहीं हुए।

कोचीन-चायना में शिक्षा-विस्तार के सम्बन्ध में फ्रांस के किसी पांडित्य व्यवसायी ने कहा है—'भारत में अंग्रेज़ी राज ने देशी लोगों को शिक्षा प्रदान करके जो भूल की है उससे फ्रांस को बचना चाहिए'। यह मानना पड़ता है कि अंग्रेज़ी चरित्र में एक ऐसी महानता है जिससे विदेशी शासन-नीति में अंग्रेज़ कभी-कभी भूल कर बैठते हैं; शासन-वस्त्र को बुनने में कहीं-कहीं उनके टाँके ढीले पड़ जाते हैं। ऐसा न होता तो हमारे मुँह से आवाज़ निकलने में शायद एक शताब्दी और लगती !

यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि शिक्षा के अभाव से दुर्बलता अटल हो जाती है; इसलिए अशिक्षा पुलिस के डंडे से कम बलवान नहीं है। शायद लॉर्ड कर्ज़न इस बात को थोड़ा-बहुत समझते थे। शिक्षा-दान के सम्बन्ध में फ्रांसीसी विद्वानों ने स्वदेश के लिए जो आदर्श स्थिर किया है वह शासित देशों के लिए नहीं किया, इसका एक-मात्र कारण लोभ है। जो उनके लोभ के शिकार होते हैं ऐसे लोगों का मनुष्यत्व भी लोभियों की दृष्टि में अस्पष्ट हो जाता है, उनके अधिकारों को वे काट-छाँटकर छोटा बना देते हैं। जिनके साथ भारत का शासन-सम्बन्ध रहा है उनकी दृष्टि में पिछले डेढ़ सौ वर्षों तक भारत के अधिकार बहुत छोटे रहे हैं। इसीलिए देश के मर्मगत प्रयोजनों के प्रति वे उदासीन रहे हैं। हम क्या खाते हैं, हमारी प्यास किस तरह बुझती है, हमारा चित्त निरक्षरता के घने अँधेरे से किस तरह आच्छन्न हो गया है, ये सब बातें उन्होंने आज तक ठीक से

देखी ही नहीं। हम स्वयं उनके प्रयोजन-साधन की वस्तु बन गये हैं, हमारे अपने भी प्रयोजन हो सकते हैं, यह बात वे नहीं समझते। इसके अलावा हम इतने नगण्य हो गये हैं कि हमारे प्रयोजनों का सम्मान भी नहीं किया जा सकता।

भारत की जो कठिन समस्या है, जिसके कारण इतने दिनों तक हमारे धन-मन प्राण का विनाश होता रहा, पाश्चात्य देशों में कहीं नहीं है। समस्या यह है कि भारत के सारे अधिकार दो भागों में बँट गये हैं, और इस सर्वनाश-विभाजन का एक-मात्र आधार लोभ ही है। इसलिए रूस में जब मैंने लोभ को तिरस्कृत देखा, मुझे इतना अधिक आनन्द हुआ जितना शायद किसी अन्य देश के निवासी को न होता। लेकिन मूल तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता; केवल भारत में ही नहीं, समस्त पृथ्वी पर जहाँ भी विपत्तियों का जाल फैलाया गया, वहाँ लोभ की ही प्रेरणा ने काम किया है—लोभ के साथ भय और संशय रहे हैं, और लोभ के पीछे अस्त्र-सज्जा रही है, मिथ्या और निष्ठुर राजनीति रही है।

'डिक्टेटरशिप' का प्रश्न भी उठता है। मैं व्यक्तिगत रूप से किसी विषय में नेताशाही पसन्द नहीं करता। क्षति या दंड का भय दिखाकर या भाषा-भंगिमा-व्यवहार से अपनी ज़िद व्यक्त करके मत-प्रचार का मार्ग प्रशस्त करने की चेष्टा मैं अपने कर्मक्षेत्र में कभी नहीं कर सकता। इसमें सन्देह नहीं कि अधि-नायकत्व में बहुत-सी विपत्तियाँ हैं। उसकी एकरूपता और नित्यता अनिश्चित होती हैं ; चालकों और चालितों की इच्छा में योग-साधन न होने से क्रान्ति की सम्भावना सदा बनी रहती है। इसके अलावा किसी दूसरे से चलाये जाने का अभ्यास चित्त और चरित्र को दुर्बल बनाता है। अधि-नायकत्व से बाह्य सफलता मिल सकती है—दो-चार फ़सलें अच्छी हो सकती हैं, लेकिन अन्दर-ही-अन्दर जड़ें कट जाती हैं।

जनता का भाग्य यदि उसी की इच्छा से निर्मित और पोषित न हो तो एक पिंजरा तैयार हो जाता है। उसमें दाना-पानी काफी मिल भी सकता है, लेकिन उसे हम घोंसला नहीं कह सकते ; वहाँ रहते-रहते पंख निर्जीव हो जाते हैं। अधि-नायकत्व जहाँ भी हो—शास्त्र में, गुरु में, या राष्ट्र-नेता में, उससे मनुष्यत्व की हानि होती है।

हमारे समाज में यह दुर्बलता-सृष्टि युग-युग में होती रही है, इसका परिणाम मैं प्रतिदिन देखता आया हूँ। महात्माजी ने जब विदेशी कपड़ों को अपवित्र कहा था, मैंने उनकी बात का विरोध किया था; मैंने कहा था विदेशी कपड़ा आर्थिक दृष्टि से हानिप्रद हो सकता है, अपवित्र नहीं हो सकता। 'हमारे शास्त्र-चालित, अन्धचित्त को खुश रखना होगा अन्यथा हमारा काम नहीं निकलेगा'—क्या मनुष्यत्व के प्रति इस कथन से अधिक अपमानजनक कुछ हो सकता है? नायक-चालित देश इसी तरह मोहाच्छन्न हो जाता है। जब एक जादूगर उससे विदा लेता है तो कोई और जादूगर किसी और मन्त्र की सृष्टि करता है।

डिक्टेटरशिप' एक बड़ी विपत्ति है, यह बात मैं मानता हूँ। उसने रूस में बहुत-से अत्याचार किये हैं, यह भी मानता हूँ। यह नकारात्मक पक्ष है—बल प्रयोग का पक्ष—जिसमें पाप है। लेकिन मैंने सकारात्मक पक्ष भी देखा है; वह है शिक्षा, जो 'ज़बरदस्ती' के बिलकुल विपरीत है।

देश के भाग्यनिर्माण में यदि जनसाधारण का चित्त सम्मिलित हो तो निर्माण-क्रिया सजीव और स्थायी हो जाती है। जो अपने अधि-नायकत्व से लुब्ध है वह दूसरों के चित्त को अशिक्षा द्वारा जड़ बनाना चाहता है—यही उसकी प्रयोजन-सिद्धि का उपाय होता है। ज़ार के राज्यकाल में निरक्षरता के कारण जनता मोहान्वित थी; सर्वव्यापी धर्ममूढ़ता ने उसके चित्त को अजगर की तरह सैकड़ों पाशों में जकड़ रखा था। उस मूढ़ता को अपने काम में लगाना सम्राट् के लिए आसान था। यहूदियों का ईसाइयों से, मुसलमानों का आर्मीनियन धर्म वालों से संघर्ष होता था—धर्म के नाम पर बीभत्स उत्पात कराये जाते थे। ज्ञान और धर्म के मोह से देश अपनी शक्ति खो चुका था। उसकी ग्रंथियाँ शिथिल हो गयी थीं, वह विभक्त था और बाह्य-शक्ति से अभिभूत था। अधि-नायकत्व के चिराधिपत्य के लिए इससे अधिक अनुकूल परिस्थिति नहीं हो सकती थी।

क्रान्ति के पूर्व रूस में जो परिस्थिति थी वह हमारे देश में बहुत दिनों से रही है। आज हमारे देश ने महात्माजी का निर्देशन माना है; कल जब वह नहीं रहेंगे नेतृत्व का दावा करनेवाले बहुत-से लोग अचानक दिखायी पड़ेगे, जैसे धर्माभिभूत लोगों के सामने नये-नये अवतार और गुरु उपस्थित होते रहते हैं। चीन में आज नेतृत्व के लिए कुछ अधिकार-लोभी लोगों में प्रबल संघर्ष चल रहा है, क्योंकि अशिक्षित जनता अपनी सम्मिलित इच्छा द्वारा देश का भाग्य निर्धारित नहीं कर पाती। सारा देश क्षत-विक्षत हो गया है। हम यह नहीं कह सकते कि हमारे देश में भी नायक-पद के लिए दारुण संघर्ष नहीं होगा; यदि हुआ तो जनता पददलित होगी, क्योंकि वह घास की तरह है, वटवृक्ष की तरह नहीं।

रूस में भी आजकल नेता का प्रबल शासन देखा जाता है। लेकिन इस शासन ने अपने-आपको चिरस्थायी बनाने का मार्ग नहीं अपनाया। एक दिन रूस में बल-प्रयोग, अशिक्षा और धर्म-मोह द्वारा जनसाधारण के मन को अभिभूत किया गया था, कोड़े की चोट से उसका पौरुष क्षीण कर दिया गया था। वर्तमान रूस में शासन-दंड निश्चल है, यह मैं नहीं कहता। लेकिन शिक्षा-प्रचार की प्रबलता असाधारण है, क्योंकि यहाँ व्यक्तिगत या दलगत अधिकार-पिपासा या अर्थलोभ नहीं है। एक विशेष आर्थिक मतवाद की दीक्षा सारी जनता को देकर, वर्ण-जाति श्रेणी के भेदों की उपेक्षा करते हुए, सबको विकास-मार्ग पर ले जाने की उत्कट इच्छा है। यदि ऐसा न होता तब तो एक फ्रांसीसी विद्वान् के शब्द मानने पड़ते : 'शिक्षा देना बहुत बड़ी भूल है।'

यह आर्थिक मतवाद पूर्णतया ग्राह्य है या नहीं, इसका निर्णय करने का समय अभी नहीं आया, क्योंकि अब तक यह पुस्तकों तक ही सीमित था, इतने बड़े क्षेत्र में इतने साहस के साथ कार्यान्वित नहीं हुआ था। जिस लोभ-वृत्ति ने इसका शुरू से विरोध किया उसे ही इस मतवाद ने दूर हटा दिया है। परीक्षाओं के बीच परिवर्तित होते-होते उसका हिस्सा बचेगा, और वह कहाँ पहुँचेगा, आज कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता। लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि रूस की जनता इतने दिनों बाद जो प्रचुर शिक्षा प्राप्त कर रही है उससे लोगों के मनुष्यत्व ने स्थायी उत्कर्ष और सम्मान-लाभ किया है।

वर्तमान रूसी शासन की निष्ठुरता के बारे में बहुत-सी जनश्रुतियाँ हैं। हो सकता है, वे सही हों। निष्ठुर शासन की धारा वहाँ चिरकाल से बहती आ रही है, उसका एकदम लुप्त हो जाना ही असम्भव लगता है। लेकिन वहाँ चित्रों द्वारा, सिनेमा द्वारा, इतिहास की नयी व्याख्या द्वारा सोवियत सरकार प्राचीन शासनविधि के अत्याचारों पर प्रकाश डालती है। यह सरकार स्वयं यदि वैसा ही निष्ठुर पथ-अवलम्बन करे, तो निष्ठुरता के प्रति इतनी तीव्र घृणा जगाने का उसका प्रयत्न एक बहुत बड़ी भूल होगी। सिराजुद्दौला के 'ब्लैक होल' के अत्याचार को यदि सिनेमा और अन्य माध्यमों से सर्वत्र लांछित किया जाय, तो इस प्रचार के साथ-साथ जलियाँवाला बाग़ में जो व्यवहार किया गया उसे मूर्खता ही कहा जायगा। इस क्षेत्र में विमुख अस्त्र लौटकर अस्त्र चलानेवाले पर ही चोट करता है।

सोवियत रूस में मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में सर्वसाधारण की विचार-बुद्धि को एक साँचे में ढालने का प्रबल प्रयास स्पष्ट देखा जाता है। इस मतवाद की ज़िद से स्वाधीन आलोचना का पथ अवरुद्ध कर दिया गया है, इस अभियोग को मैं सही मानता हूँ। योरोपीय युद्ध के समय इसी तरह लोगों का मुँह बन्द कर दिया गया था; सरकारी नीति के विरोधियों को जेलख़ाने में डालकर या फाँसी पर लटकाकर स्वातंत्र्य को दबाने का यत्न किया गया था।

जहाँ तुरन्त फल प्राप्त करने का लोभ प्रबल होता है वहाँ राष्ट्रनायक मत-स्वातंत्र्य के अधिकार को स्वीकार नहीं करना चाहते। रूस की अवस्था युद्धकाल जैसी है। उसके अन्दर और बाहर शत्रु हैं। उसके सारे प्रयोगों को विफल बनाने के लिए चारों ओर षड्यंत्र रचे जा रहे हैं। इसलिए निर्माण-कार्य की नींव शीघ्रातिशीघ्र पक्की बनाने के लिए वहाँ के शासक बल-प्रयोग करने में नहीं हिचकते। लेकिन चाहे जितनी बड़ी ज़रूरत हो, बल एकांगी वस्तु है। वह तोड़ता है, सृष्टि नहीं करता। सृष्टि-कार्य के दो पक्ष होते हैं। उपादान को अपने हाथ में लाना आवश्यक है—लेकिन ज़बरदस्ती नहीं, उसके नियम को स्वीकार करके।

रूस जिस काम में लगा है वह है युगान्तर का मार्ग बनाने का काम। पुरातन विधि-विश्वास की जड़ें उसे ज़मीन से उखाड़नी हैं, अभ्यासगत आराम को सर्वतिरस्कृत बनाना है। ऐसे विध्वंसक उत्साह के आवर्त्त में पड़कर मनुष्य को नशा-सा लग जाता है। वह भूल जाता है कि मानव-प्रकृति को साधना द्वारा वश में करना ज़रूरी है; वह सोचता है मानव-मन को उसके आश्रय-स्थान से खींचकर लाया जा सकता है। धीरे-धीरे स्वभाव के साथ मेल करने में जो विलम्ब लगता है वह उसके लिए असह्य हो जाता है, क्योंकि उत्पात पर उसका विश्वास है। आख़िर जल्दी-जल्दी, ठोक-पीटकर वह जो कुछ तैयार करता है वह एक अस्थायी चीज़ होती है, उस पर निर्भर नहीं किया जा सकता।

जहाँ मनुष्य का नहीं, मतवाद का निर्माण होता है वहाँ के प्रचण्ड दण्डनायकों पर मैं विश्वास नहीं करता। प्रथमतः अपने ही मत को अटल सत्य मानना सुबुद्धि नहीं; उसे कार्य में लगाकर उसके सत्य का परिचय प्राप्त करना चाहिए। वहाँ जो नेतागण धर्मतत्त्व के क्षेत्र में शास्त्र-वाक्य नहीं मानते वही लोग अर्थतत्त्व के क्षेत्र में शास्त्र को स्वीकार करके

अचल हो जाते हैं। किसी-न-किसी तरह से बाल खींचकर, गला दबाकर—वे आदमी का उस शास्त्र के साथ मिलन कराना चाहते हैं। वे यह नहीं समझते कि यदि इस तरह ज़बरदस्ती लोगों को शास्त्र से मिलाया गया 'तो उस शास्त्र का सत्य प्रमाणित नहीं होता। वस्तुतः जिस मात्रा में बल का प्रयोग होता है उसी मात्रा में शास्त्र असत्य प्रमाणित होता है।

योरोप में जब क्रिश्चियन शास्त्र-वाक्यों पर अटल विश्वास था, मनुष्य की हड्डियाँ तोड़कर, उसे ज़िन्दा जलाकर, धर्म को सत्य प्रमणित करने की चेष्टा की गयी। आज बोल्शेविक मतवाद को लेकर उसके मित्र और शत्रु दोनों ही उद्दाम असहिष्णुता के साथ बहस करते हैं। दोनों पक्ष एक-दूसरे पर अभियोग लगाते हैं कि मनुष्य के मत-स्वातंत्र्य का अधिकार छीन लिया गया है। आज पश्चिमी जगत् में मानव-प्रकृति को दोनों ओर से पत्थर लगते हैं। मुझे यह बाउल-गीत याद आता है :

अरे निठुर गरज़ी,
तू क्या मानस-मुकुल को आग में भूनेगा ?
या कि तू फूल खिलायगा,
ऊषाकाल में परिमल वितरित करेगा ?
देख, मेरे परम गुरु साँई को देख!
वह युग-युगांतर फूल खिलाता है, उसे कोई जल्दी नहीं है।
तेरा लोभ प्रचण्ड है, तेरा भरोसा लाठी पर है—
इसका क्या उपाय है, अरे गरज़ी ?
कहे मदन दुःख न दे, निवेदन सुन...
उस श्रीगुरु के मन में सहज धारा आत्म-विस्मृत होकर,
भगवान् की वाणी सुनती है, रे गरज़ी !

सोवियत रूस में लोक-शिक्षा की उन्नति के बारे में मैंने कुछ कहा। वहाँ की राजनीति मुनाफ़ाख़ोरों के लालच से कलुषित नहीं है, इसलिए रूस ने राष्ट्र के अन्तर्गत सभी जातियों और वर्णों के लोगों को समान अधिकार देकर और शिक्षा का सुयोग देकर सम्मानित किया है—इस बात का भी उल्लेख मैंने किया। मैं ब्रिटिश भारत का नागरिक हूँ, इसीलिए इन दोनों बातों से मुझे गम्भीर आनन्दबोध हुआ है।

मैं सोचता हूँ, एक अन्तिम प्रश्न का भी उत्तर मुझे देना पड़ेगा। बोल्शेविक अर्थनीति के विषय में मेरा निजी मत बहुतों ने पूछा है। हमारा देश सर्वदा शास्त्रों और पण्डों से निर्देशित हुआ है, इसलिए विदेश से आये हुए सिद्धान्तों को वेदवाक्य समझने की ही प्रवृत्ति हममें है, क्योंकि हमारा मन आसानी से मुग्ध हो जाता है। गुरुमंत्र के मोह से बचकर हमें यह कहना चाहिए कि प्रत्यक्ष प्रयोग के आधार पर ही किसी मतवाद की समीक्षा की जा सकती है । बोल्शेविक अर्थनीति अभी पयोगाधीन है। जिस मतवाद का सम्बन्ध मानव-जीवन से हो, उसका प्रधान अंग मानव-प्रकृति ही है—मानव-प्रकृति के साथ उसका सामंजस्य कहाँ तक है, यह काफ़ी समय बीतने पर ही दिखायी पड़ता है।

तत्त्व को पूर्णतया ग्रहण करने से पहले हमें प्रतीक्षा करनी होगी। फिर भी उसका विवेचन करने का अधिकार हमें है—केवल तर्कशास्त्र या आँकड़ों द्वारा नहीं बल्कि मानव-प्रकृति को सामने रखते हुए।

मनुष्य के दो पक्ष हैं—एक ओर वह स्वतंत्र है, दूसरी ओर सबसे संयुक्त। एक पक्ष को अलग करने से जो बाक़ी रहता है वह अवास्तविक है। जब किसी आकर्षण से मनुष्य एक ही तरफ़ मुड़ता चला जाता है तब सन्तुलन खोकर वह विपत्ति में पड़ जाता है। ऐसे समय उसके परामर्शदाता संकट दूर करने के लिए यह सलाह देते हैं कि स्वार्थ से 'स्व' को बिलकुल उड़ा देना चाहिए—सब ठीक हो जाएगा। हो भी सकता है कि इससे उत्पात कम हो जाये ; लेकिन चलना-फिरना बन्द हो जाने की भी आशंका है। बे-लगाम घोड़ा गाड़ी को गड्ढे में ले जाता है। लेकिन कोई यह नहीं सोचता कि घोड़े को गोली मारने से गाड़ी ठीक चलेगी—लगाम के विषय में चिन्ता करना ही आवश्यक हो जाता है। मनुष्यों के शरीर अलग-अलग होते हैं, इसीलिए यह सम्भव होता है कि वे आपस में झगड़ा करें, उनमें संघर्ष हो। लेकिन सब मनुष्यों को एक ही रस्सी से बाँधकर, पृथ्वी पर एक ही विशाल कलेवर निर्माण करने का प्रस्ताव बलोन्मत्त ज़ार को ही शोभा देता है। विधाता के नियम को समूल नष्ट करने के प्रयत्न में साहस से अधिक परिमाण में मूर्खता आवश्यक होगी।

किसी दिन भारतीय समाज प्रधानतः ग्रामीण समाज था। इस घनिष्ठ ग्राम-समाज में व्यक्तिगत संपत्ति का समाजगत संपत्ति के साथ सामंजस्य था। लोकमत इतना प्रभावशाली था कि धनी अपने धन को केवल अपने उपभोग में ख़र्च करने से लज्जित होता था। समाज जब उसकी सहायता स्वीकार करता तो वह कृतार्थ होता था—जिसे अंग्रेज़ी में 'चैरिटी' कहते हैं वह बिलकुल अलग चीज़ है—हमारे गाँव के धनी जो करते थे उसमें 'चैरिटी' का रूप नहीं था। धनी का स्थान वहीं था जहाँ निर्धन का। उस समाज में अपनी मर्यादा रखने के लिए धनी को बहुत-से अप्रत्यक्ष तरीक़ों से काफ़ी रुपया ख़र्च करना पड़ता था। विशुद्ध जल, देवालय, वैद्य और पंडित, यात्रा, गान, कथा—इन सबको सुरक्षित रखने के लिए राज्यकोष से नहीं बल्कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के समाजोन्मुख प्रवाह से धन मिलता था। यहाँ स्वेच्छा और समाज की इच्छा का मिलन हो सका था। यह आदान-प्रदान किसी राजनैतिक यंत्र के योग से नहीं, मनुष्य की इच्छा से होता था ; इसमें धर्म-साधना की क्रिया थी—इससे केवल नियम के पालन में बाह्य फल नहीं मिलता था, बल्कि आन्तरिक दिशा में व्यक्तिगत उत्कर्ष होता था। ऐसा व्यक्तिगत उत्कर्ष ही मानव-समाज का स्थायी, कल्याणमय और प्राणवान आश्रय होता है।

वणिक् सम्प्रदाय—जिसका व्यवसाय रुपया लगाकर मुनाफ़ा प्राप्त करना था—समाज के निम्न स्तर पर था। धन का विशेष सम्मान नहीं होता था, इसलिए धनी और निर्धन में तीव्र भेद नहीं था। धनी वृहत् संचय द्वारा नहीं, अपने महान् दायित्व को पूर्ण करके समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे। सम्मान धर्म का था, धन का नहीं। इस सम्मान का त्याग करने में किसी के आत्म-सम्मान की हानि नहीं होती थी । आज वह समय बीत चुका है। धन

पर सामाजिक दायित्व नहीं है और उसके प्रति असहिष्णुता के लक्षण दिखायी पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि आज धन मनुष्य को अर्घ्य नहीं देता, उसे अपमानित करता है।

योरोपीय सभ्यता ने आरम्भ से ही नगरों में संहत होने का मार्ग ढूँढ़ा। नगरों में मनुष्य की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं, लेकिन मानवीय सम्बन्ध छोटे हो जाते हैं। नगर बहुत बड़ा होता है, वहाँ लोग बिखर जाते हैं, व्यक्ति-स्वातंत्र्य एकांगी हो जाता है, प्रतियोगिता से समाज का मंथन होता है। ऐश्वर्य वहाँ धनी-निर्धन के विभाजन को बढ़ा देता है, और 'चैरिटी' से जो योग-साधन होता है उसमें न सान्त्वना है, न सम्मान। धन के अधिकारी और धन के वाहक, इन दोनों में केवल आर्थिक सम्पर्क होता है, उनके सामाजिक सम्बन्ध या तो विच्छिन्न होते हैं या विकृत।

इस अवस्था में यंत्रयुग आया, मुनाफ़े की मात्रा बहुत बढ़ गयी। जब लाभ की महामारी सारी दुनिया में फैलने लगी, जो दूरवासी अनात्मीय थे उन पर आफ़त आयी। चीन को अफ़ीम खानी पड़ी; भारत को अपना सर्वस्व खोना पड़ा; अफ्रीका—जो सदा से ही पीड़ित रहा है—और भी अधिक कष्ट भोगने लगा। यह तो रही योरोप के बाहर की बात। पश्चिमी जगत् के अन्दर भी आज धनी-निर्धन का विभाजन अत्यन्त कठोर हो गया है—जीवन-यात्रा का स्तर ऊँचा और उपकरण-बहुल होने से दोनों पक्षों में तीव्र प्रभेद देखा जाता है। प्राचीन काल मे, विशेषतः हमारे देश में, ऐश्वर्य का आडम्बर मुख्यतः सामाजिक दान और कर्म में था, आज वह व्यक्तिगत भोग में है। वह अचम्भा पैदा कर सकता है, आनन्द नहीं पहुँचा सकता; ईर्ष्या जगा सकता है, प्रशंसा नहीं। प्राचीन युग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि समाज में धन का व्यवहार केवल दाता की इच्छा पर ही निर्भर नहीं था, सामाजिक इच्छा का भी प्रबल प्रभाव था। दाता को नम्रतापूर्वक दान करना पड़ता था; 'श्रद्धया देयम्'—यह उपदेश माना जाता था।

लेकिन आधुनिक काल में व्यक्तिगत धन-संचय से धनी को जो प्रबल शक्ति मिलती है उसमें जनसाधारण का सम्मान या आनन्द नहीं रह सकता। एक पक्ष में असीम लोभ है, दूसरे पक्ष में ईर्ष्या, और दोनों के बीच तीव्र पार्थक्य। समाज में सहयोगिता की अपेक्षा प्रतियोगिता बहुत बढ़ गयी है। देश के अन्दर, वर्ग-वर्ग में प्रतियोगिता है, बाहर देश-देश में। तभी चारों ओर भीषण अस्त्रों में धार लगायी जा रही है; किसी उपाय से अस्त्रों की संख्या को घटाया नहीं जा सकता और जो परदेशी इस दूरस्थित राक्षस की क्षुधा मिटाते हैं उनकी कृशता लगातार बढ़ती ही जाती है। इस कृशता के बीच विश्व-व्यापी अशान्ति है—जो लोग शक्ति के अहंकार से यह नहीं समझते वे अपने ही अज्ञान के अन्धकार में हैं। जो निरन्तर दुःख सहते हैं वे अभागे ही दुःख-विधाता के दूतों के मुख्य सहायक हैं—उनके उपवास में प्रलय की आग संचित हो रही है।

वर्तमान सभ्यता की इस अमानवीय अवस्था में बोल्शेविज्म का अभ्युदय हुआ। वायुमंडल के एक हिस्से में जब 'विरलन' होता है, तब आँधी अपने विद्युद्दंत निकालकर विनाशकारी रूप धारण करती है। मानव-समाज का सामंजस्य टूट जाने से ही इस अप्राकृतिक क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ है। समष्टि के प्रति व्यष्टि की उपेक्षा क्रमशः बहुत

बढ़ गयी थी। तभी आज समष्टि के नाम पर व्यष्टि को बलि देने का आत्मघातक प्रस्ताव किया जा रहा है। किनारे पर ज्वालामुखी फूट पड़ी है, इसलिए सागर को एकमेव मित्र घोषित किया जा रहा है। जब अनन्त समुद्र की विपत्तियों से परिचय मिलेगा तब फिर किनारे पर पहुँचने के लिए बेचैनी का अनुभव होगा। व्यष्टिवर्जित समष्टि की अवास्तविकता मनुष्य चिरकाल के लिए नहीं सहेगा। समाज में लोभ के दुर्ग पर विजय पानी होगी; लेकिन व्यक्ति को वैतरणी के पार पहुँचा दिया गया तो समाज की रक्षा कौन करेगा ? सम्भव है कि वर्तमान रुग्ण युग में बोल्शेविज़्म की चिकित्सा ही उचित सिद्ध हो, लेकिन चिकित्सा तो नित्य नहीं हो सकती—जिस दिन डॉक्टर का शासन बन्द होता है वही रोगी के लिए शुभ दिन होता है।

हमारे देश में गाँव-गाँव में धनोत्पादन और धन-परिचालन के कार्य में सहकारिता की विजय हो, यही मेरी कामना है ; क्योंकि इस नीति में सहयोगियों की इच्छा और विचार का तिरस्कार नहीं किया जाता ; इसमें मानव-प्रकृति को स्वीकार किया जाता है। इस प्रकृति के विरुद्ध यदि बलप्रयोग किया गया तो वह निष्फल होगा।

इसके साथ एक बात विशेष रूप से कहना ज़रूरी है। मैं चाहता हूँ कि देश के गाँवों की रक्षा हो; लेकिन मेरी यह इच्छा कदापि नहीं है कि ग्राम्यता वापस लौटे। ग्राम्यता उस बुद्धि, विद्या, संस्कार, विश्वास और कर्म में है जो गाँव की सीमा में आबद्ध हैं, बाहर की दुनिया से विच्छिन्न। वर्तमान युग की प्रकृति से इसका पार्थक्य ही नहीं, विरोध है। आधुनिक विद्या और बुद्धि की भूमिका विश्वव्यापी है, यद्यपि उसकी हृदय-वेदना उस परिमाण में व्यापक नहीं हुई है। गाँव में ऐसे प्राण को संचारित करना होगा जिसके उपादान तुच्छ या संकीर्ण न हों जिसके द्वारा मानव-प्रकृति को किसी दिशा में हीन या आच्छन्न न बनाया जाय।

मैं एक बार इंग्लैड के किसी गाँव में एक किसान के घर गया था। मैंने देखा, उस घर की स्त्रियाँ लन्दन जाने के लिए अधीर थीं। नगर के सर्वांगीण ऐश्वर्य की तुलना में गाँव का सम्बल इतना कम होता है कि गाँव का चित्त स्वभावतः नगर की ओर झुकता है। देश में रहते हुए भी गाँव निर्वासित-से लगते हैं। रूस में मैंने देखा कि गाँव और नगर के विरोध को मिटाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि यह प्रयास सफल हो तो नगर की अस्वाभाविक अति वृद्धि का निवारण होगा। देश की प्राण-शक्ति और चिन्तन-शक्ति सर्वत्र व्याप्त होकर अपना काम कर सकेगी।

मेरी कामना है कि हमारे देश के गाँव भी शहरों के उच्छिष्ट-भोजी न हों, मनुष्यत्व का पूर्ण सम्मान और सम्पदा उन्हें मिले। मेरा विश्वास है कि सहकारिता द्वारा ही हमारे गाँव अपनी सर्वांगीण शक्ति को उन्मुक्त कर सकेंगे। शिकायत तो इसी बात की है कि आज तक बंगाल में सहकारिता केवल रुपया उधार देने तक ही सीमित रही है, महाजन की ग्राम्यता को ही उसने, कुछ संशोधन करके, स्वीकार किया है। सम्मिलित प्रयास से जीविका उत्पादन और उपभोग करने के लिए सहकारिता ने कुछ नहीं किया।

इसका कारण यह है कि जिस शासन-यंत्र के आश्रय से हमारे देश में कर्मचारी-ग्रस्त सहकारिता का आविर्भाव हुआ है, वह यांत्रिक है; अन्ध, बधिर और उदासीन है। यह भी लज्जा के साथ मानना पड़ेगा कि सहकारिता के लिए जो चारित्रिक गुण आवश्यक होते हैं वे हमारे पास नहीं हैं। दुर्बल लोगों का पारस्परिक विश्वास भी दुर्बल होता है। अपने प्रति अश्रद्धा से ही दूसरों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती है। दीर्घकाल तक पराधीन रहकर जिन्होंने आत्म-सम्मान खो दिया है उनकी ऐसी ही दुर्गति होती है। उच्चवर्ग के लोगों का शासन वे सिर झुकाकर स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन अपने ही वर्ग के लोगों से निर्देशन प्राप्त करना उनके लिए असह्य होता है। अपने वर्ग के लोगों की वंचना करना, उनके साथ निष्ठुर व्यवहार करना, उन्हें सरल लगता है।

रूसी कथा-सहित्य पढ़ने से पता चलता है कि वहाँ के चिर-पीड़ित किसानों की भी यही दशा थी। काम कितना ही दुःसाध्य हो, दूसरा कोई रास्ता नहीं है—शक्ति और मन को सम्मिलित करके किसानों की प्रकृति में संशोधन करना होगा। सहकारिता-प्रणाली में केवल क़र्ज़ देकर नहीं, वरन् एकत्र काम करके ग्रामवासियों के चित्त को ऐक्य-प्रवण बनाना होगा। तभी हम अपने गाँवों को बचा सकेंगे।

[दिसम्बर १९३० मे न्यूयॉर्क से रामानन्द चट्टोपाध्याय, सम्पादक 'प्रवासी' को 'सोवियत नीति' शीर्षक से प्रेषित। 'प्रवासी' (वैशाख १३३८ बंगाब्द) अप्रैल, १९३१ मे प्रकाशित।]

"बंगाल से बाहर हममें से अधिकांश लोगों के लिए, रवीन्द्रनाथ का नाम लगभग बाङ्ला साहित्य के उत्कर्ष का पर्याय हो गया है। मेरी पीढ़ी के लोग उनके विराट् व्यक्तित्व के प्रभाव में बड़े हुए हैं और सचेत या अचेत रूप से उनके हाथों गढ़े गये हैं। वह एक ऐसा व्यक्तित्व था, जो भारत के किसी प्राचीन ऋषि के सदृश हमारे प्राचीन विवेक में गहराई तक गया था। साथ ही, वर्तमान समस्याओं से जूझ रहा था और भविष्य की ओर देख रहा था। उन्होंने बाङ्ला में लिखा, परन्तु उनके मानस की व्यापकता को भारत के किसी भाग तक परिसीमित नहीं किया जा सकता। वह तत्त्वतः भारतीय था और इसके साथ ही सम्पूर्ण मानवता को घेरे हुए था। वह एक साथ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय था। उनके साथ मिलने पर या उनका लिखा हुआ पढ़ने पर, ऐसी अनुभूति होती थी, मानो हम मानवीय अनुभव और विवेक के उच्च पर्वत-शिखर के सामने खड़े हों। यह अनुभूति अत्यन्त विरल थी। अपनी महानता के बावजूद, रवीन्द्रनाथ एकान्त में रहनेवाले व्यक्ति न थे। उन्होंने जीवन को स्वीकार किया था और वे उसे पूरी तरह जीना चाहते थे, और एक अर्थ में, उनके सभी क्रिया-कलापों का संबंध किसी-न-किसी रूप में जीवन से था। उन्होंने एक मित्र को लिखा भी था, सत्य तभी शुभ और हितकर होता है जबकि वह मनुष्य के जीवन से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध हो।" —*जवाहरलाल नेहरू*

"मनुष्य के प्रति रवीन्द्रनाथ का प्रेम अनजाने तथा अपरिहार्य रूप से भगवान् के प्रति प्रेम का रूप ले लेता है। उनकी कल्पना में जीवन की अभिरुचि का जो विकसन हुआ है, उसमें प्रकृति और मानव एकाकार हो गये हैं। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि भगवान् मनुष्य के जीवन से दूर और अलग है, उनके लिए प्रेम ही भगवान् था। सन्तान के प्रति माता का वात्सल्य अथवा प्रेमिका के प्रति प्रेमी का प्रेम उस महत् प्रेम के उदाहरण-मात्र हैं और यह प्रेम ही परमात्मा है। यह प्रेम केवल रहस्यवादी भाव-विह्वलता में ही नहीं बल्कि साधारण मनुष्य की नित्य-प्रति की जीवन-यात्रा में भी प्रकट होता है। रवीन्द्रनाथ ने बार-बार कहा है कि भगवान् को जीवन के सहज-साधारण सम्बन्धों में और नित्य-प्रति की उस कार्यावली में प्रत्यक्ष करना चाहिए जिस पर संसार टिका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ वैष्णव काव्य और सूफ़ी रहस्यवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। उनकी कविता और उनके गीत ऐसे भाव-चित्रों से भरे हैं तथा उनका वक्तव्य विषय कुछ इस प्रकार का है कि हमें रहस्यवादियों के भावोल्लास की याद आ जाती है; लेकिन साथ ही उनमें दिन-प्रतिदिन की जीवन-यात्रा की वास्तविकताओं के प्रति भी एक तीव्र जागरूकता है। संसार के काव्य-साहित्य में ऐसा चित्रण कम ही देखने को मिलता है। —*हुमायुन कबिर*

"रवीन्द्रनाथ अपनी सृजनात्मक-चिन्तनात्मक प्रतिभा के बल से भारतीय नवजागरण की चेतना को निरन्तर विकसित और पुष्ट करते रहे। उन्होंने 'साधना' तथा अन्य निबंधों के माध्यम से उस चिन्तन को प्रभावी ढंग से रूपस्थापित किया, जिसकी जड़ें एक ओर तो उपनिषदों की भावमयी ज्ञान-धारा में हैं—तो दूसरी ओर जिसमें यूरोप के मानवतावादी रंग प्रबलता से उभरते रहे हैं। प्राचीन भारतीय गाथाओं-मिथकों के कथा-सूत्रों को उन्होंने नये सन्दर्भों से परिपूर्ण बनाया है। भरत तथा उनके परवर्ती भारतीय सौंदर्यवादियों ने निर्वैयक्तिक आनन्द की प्रतिष्ठा के लिए जो संकल्प किया था—उसकी एक अत्यंत फलप्रद स्थिति गुरुदेव में रचनात्मक शक्ति से प्रस्फुटित होती है। उन्होंने आत्मालोचन और आत्मचैतन्य की शक्ति से जो सृजन और चिन्तन किया है—उसमें नवीन विषय-वस्तु का सौन्दर्य, अभिव्यंजक काव्य-भाषा, नादयोजना और अर्थापत्ति में नयी लय की अनुगूँजें निष्पन्न हुई हैं। कवि, चिन्तक, नाटककार, कथाकार, निबन्धकार, आलोचक आदि सभी के वे संगम तीर्थ थे। फलतः उनके बहुआयामी व्यक्तित्व ने साहित्य की सभी नयी विधाओं पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है।" — **विनायक कृष्ण गोकाक**